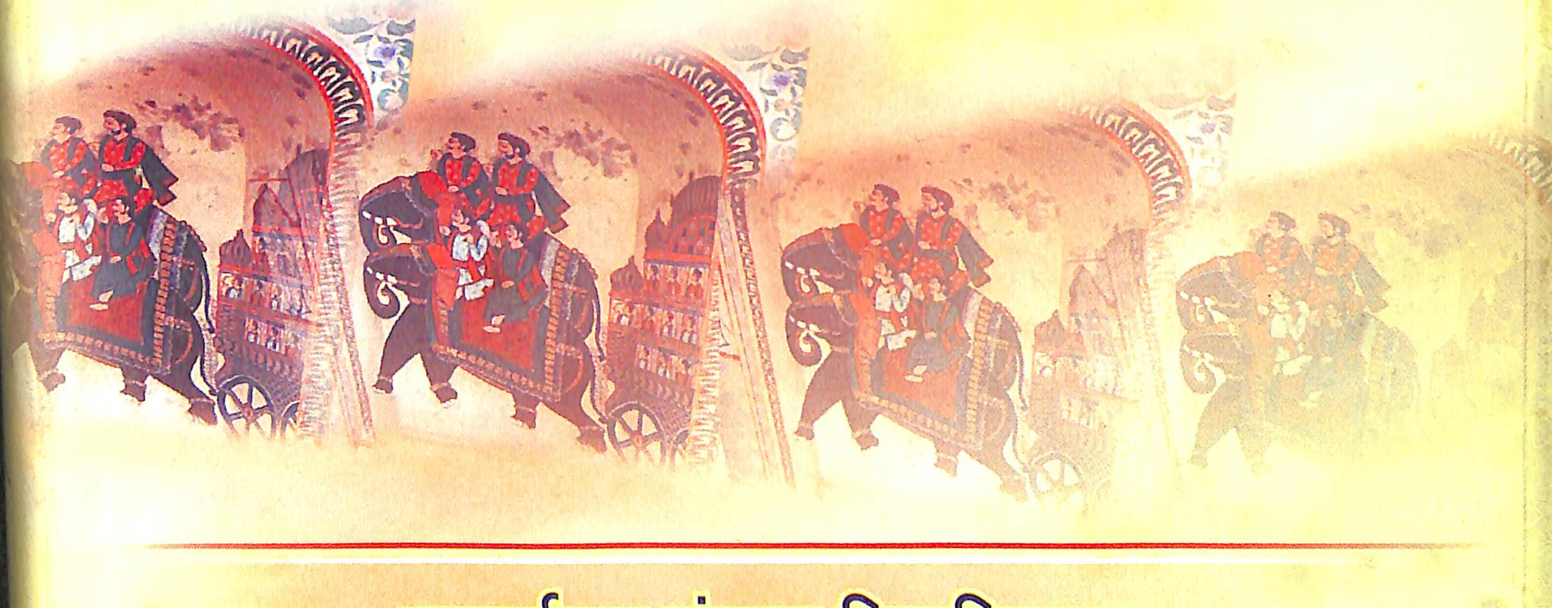
पण्डितराज जगन्नाथ शेमुषीसमुन्मीलन

कुलपति प्रो. राजेन्द्र मिश्र की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका एवं सम्पादिका

डॉ. मनुलता शर्मा



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[४०]

पण्डितराज जगन्नाथ शेमुषीसमुन्मीलन

कुलपति प्रो. राजेन्द्र मिश्र की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका एवं सम्पादिका

डॉ. मञ्जुलता शर्मा

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय

श्रुतम् मे गोपाय

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 40]

PAṆḌITARĀJA JAGANNĀTHA ŚEMUṢĪSAMUNMĪLANA

FOREWORD BY
PROF. RAJENDRA MISHRA
VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY

DR. MANULATĀ ŚARMĀ
Head of the Sanskrit Department
Āryamahilā Mahāvidyālaya
Varanasi

VARANASI
2003

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-119-5

❒

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 680.00

❒

Printed by—
Shreejee Computer Printers
Nati Imli, Varanasi-221 002

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[४०]

पण्डितराज जगन्नाथ शेमुषीसमुन्मीलन

कुलपति प्रो. राजेन्द्र मिश्र की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका एवं सम्पादिका

डॉ. मनुलता शर्मा

अध्यक्षा, संस्कृत-विभाग

आर्यमहिला महाविद्यालय, वाराणसी

वाराणसी

२०६० वैक्रमाब्द १९२५ शकाब्द २००३ खैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक —
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-119-5

❐

प्रकाशक—
डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथम सस्करण – ५०० प्रतियाँ
मूल्य – ६८०.०० रूपये

❐

मुद्रक—
श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी-२२१ ००२

नान्दीवाक्

पण्डितराज जगन्नाथ का काव्य उनके जीवन का पर्याय है। शायद ही किसी अन्य संस्कृत कवि ने अपने सांगोपांग जीवन को, पण्डितराज की तरह, कविता में रूपान्तरित किया हो। चाहे विविध मानवीय संवेदनाओं से जुड़ी अन्योक्तियाँ हों, चाहे देवस्तुतियों में ढली लहरियाँ, या फिर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मानसिकता में लिखे गये काव्यशास्त्रात्मक ग्रन्थ। पण्डितराज जगन्नाथ के सम्पूर्ण वाङ्मय में उनका समग्र व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित दीखता है दर्पण में उभरी मुखच्छवि के समान।

शृङ्गार एवं करुण रस के दो मिथः प्रतिगामी ध्रुवों में आबद्ध पण्डितराज की कविता निथरे बादल-सी है, जो स्मरण कराता है अपनी धारासार वृष्टि का। जैसे अपने व्यक्तिगत जीवन में महाकवि जगन्नाथ, अपने आश्रयदाता शहंशाह शाहजहाँ के उत्थान-पतन से जुड़े-जुड़े, स्वयं भी सम्पत्ति-विपत्ति के अथाह सिन्धु में डूबे रहे, ठीक उसी प्रकार उनकी काव्यसाधना भी उन्मद यौवन एवं प्रीतिमाधुरी की **नान्दी** गाती-गाती दैन्य एवं अकिञ्चनता, करुणा एवं अवसाद की घनी पर्तों में विलीन-सी हो गई। शहंशाह शाहजहाँ का पराभव तथा अपनी विद्या के अनन्योपासक शहजादा दाराशिकोह का निर्मम अन्त उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था। औरंगजेब का वर्चस्व स्थापित होते ही सारे दरबारी, सारे मौलवी-मुल्ले और मंसबदार उसी का गुण गाने लगे। परन्तु बूढा, जर्जर, असहाय सम्राट् कहाँ जाता? उसकी स्थिति तो शुष्क सरोवर के मीन जैसी थी :

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

अपने जीवनकाल में ही पण्डितराज जगन्नाथ एक पौराणिक व्यक्तित्व (Legendary Personality) बन चुके थे। युवावस्था में ही, सार्वभौम मुगलसम्राट् का संरक्षण, अकुण्ठ वैदुषी एवं विलक्षण प्रातिभ कवित्व! उनके इन सारे वैभवों ने तद्युगीन संस्कृत-कवियों, समीक्षकों एवं धर्माचार्यों को उद्भ्रान्त बना दिया था। मान-सम्मान, वह भी राजकीय? भला कौन नहीं चाहता था? वैभव-समृद्धि किसे प्रिय नहीं थी? और यह सब पण्डितराज के लिये सुखोपनत था। उनके इस सौभाग्य में चाहे उनका प्रखर पाण्डित्य कारण रहा हो, चाहे राजा जयसिंह का सहयोग, या फिर उनका जन्म-जन्मान्तरार्जित अदृष्टभोग! परन्तु यह सच था कि महाकवि जगन्नाथ को राजोचित वैभव-सम्मान प्राप्त था। बड़े-बड़े सामन्तों एवं राजनयिकों में उनकी पैठ थी। संभवतः मुगल दरबार का ही प्रभाव था कि वह राणा जगत् सिंह एवं कामरूपनरेश प्राणनारायण सिंह के भी आदरपात्र थे। किसी **'नेपालेन्द्र'** की ओर भी उन्होंने संकेत किया है एक श्लोक में :

स्पृशति त्वयि यदि चापं स्वापं प्रापन्न केऽपि नरपालाः।
शोणे तु नयनकोणे को नेपालेन्द्र! तव सुखं स्वपितु॥

समसामयिक आचार्यों, पण्डितों, कवियों एवं कोविदों के लिए सर्वथा दुर्लभ एवं स्वप्नदृष्ट यह सांसारिक वैभव जब युवा जगन्नाथ को मिला होगा, तो यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि उनके विरुद्ध ईर्ष्या-द्वेष, चरित्रहनन, तुरुष्कशासकाश्रयमूलक धिक्कार तथा नाना प्रकार के अन्यान्य अकारण दुष्प्रचारों की आँधी-सी खड़ी हो गई होगी। यदि यही सम्मान आचार्य **अप्पय दीक्षित** अथवा जगन्नाथविरोधी किसी भी अन्य विद्वान् को मिलता, तो शायद शहंशाह शाहजहाँ के तुरुष्क होने की उन्हें स्मृति भी न आती। सब के सब दौड़ पड़ते राजाश्रय पाने को। परन्तु वह स्पृहणीय सम्मान युवा जगन्नाथ को क्या मिला, सब को साँप सूँघ गया। उनके मुगल दरबार में जाते ही सब 'पङ्क्तिपावन' निष्ठावान् ब्राह्मण बन गये और पण्डितराज जगन्नाथ उनके लिये 'परमनिन्द्य गर्ह्य एवं त्याज्य' बन गये। संभवत: इसी कुत्सित मनोभावना की दुष्परिणति के रूप में उभरा परमभागवत महाकवि जगन्नाथ का **यवनीसंसर्ग**-प्रसंग, जिसकी सच्चाई आज तक सिद्ध नहीं हो सकी है।

वस्तुत: कविकुलगुरु कालिदास एवं पण्डितराज के बीच, उस प्रतिभा का कोई अन्य कवि दीखता ही नहीं। भवभूति, माघ, श्रीहर्ष एवं जयदेव पर दृष्टि ठहरती अवश्य है, क्षण भर के लिये, परन्तु विश्रान्त नहीं होती। एक ही पद्य यदि **दसों** बार पढने की इच्छा होती है, तो वह पद्य कविकुलगुरु कालिदास अथवा पण्डितराज जगन्नाथ का ही हो सकता है, यह मेरी निश्चित धारणा है। **'शब्दपरिवृत्त्यसहत्व'** कालिदास के अनन्तर, मात्र पण्डितराज की कविता में ही दृष्टिगोचर होता है। सौशब्द्य एवं विनिश्चितार्थता का विलक्षण सामञ्जस्य है जगन्नाथ की कविता में। जैसी संवेदना वैसी ही पदशय्या। पदबन्ध मानो वशवर्ती हैं पण्डितराज के—**'अयि दलदरविन्द! स्यन्दमानं मरन्दम्'** आदि पद्य इसके साक्षी हैं।

पण्डितराज की सारस्वतसाधना स्वतःप्रामाण्येन लोकविदित है। आज प्राय: चार सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी, जब हम उनके **रसगंगाधर** का पारायण करते हैं, तो उनकी शास्त्रीय वैदुषी, भाषोत्कर्ष एवं चिन्तनगाम्भीर्य की तुलना में समसामयिकों के हल्केपन का सहज बोध हो जाता है। पण्डितराज की गर्वोक्तियों में, मूर्खों को, उनका दुरभिमान अथवा असहिष्णु निसर्ग दीखता है। परन्तु शब्दार्थशिल्पी विपश्चित् ही जानता है कि उनकी गर्वोक्तियों में उनकी **सिद्धसरस्वती** बोलती है, उनका दुर्धर्ष **पाण्डित्यपरिपाक** बोलता है, उनकी स्वयंप्रभा समुज्ज्वला **साधना** बोलती है। अन्यथा कौन कह पायेगा कि,

मद्वाणि! मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमग्नमनसां सहसा खलानाम्।
काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना-
मास्येषु धास्यसितमां कति नो विलासान्॥

अथवा,

ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः॥

यथा वा—

वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते-
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः॥

पण्डितराज की गृहिणी चाहे ब्राह्मणकन्या रही हो अथवा यवनकन्या (लवंगी); परन्तु थी वह अग्निसाक्षिक प्राजापत्य विधि से वरण की गई। वह पण्डितराज की प्राणभूता थी, उनके कवित्व का प्रेरणास्रोत थी, जिसका बिछोह प्राप्त होते ही उनका कवित्व ही संशयापन्न हो उठा—

तामन्तरेण रमणीरमणीयशीले!
चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः॥

ऐसा प्रतीत होता है कवि के अन्तःप्रामाण्य से कि वह पण्डितराजप्रिया यथाकथञ्चित् भीषण अग्निकाण्ड में जल मरी। पत्नीविषयक उस प्रगाढ अनुराग तथा तद्वियोगजन्य अपने मर्मान्तक अवसाद को जगन्नाथ व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

यथा यथा तामरसेक्षणा मया पुनस्सरागं नितरां निषेविता।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो विकृष्य मामेकरसं चकार सा॥

मन्दस्मितेन सुधया परिषिच्य या मां नेत्रोत्पलैर्विकसितैरनिशं समीजे।
सा नित्यमङ्गलमयी गृहदेवता मे कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति॥

लावण्यमुज्ज्वलमपास्ततुलञ्च शीलं लोकोत्तरं विनयमर्थमयं नयञ्च।
एतान् गुणानशरणानथ माञ्च हित्वा हा हन्त सुन्दरि! कथं त्रिदिवं गतासि॥

कान्त्या सुवर्णवरया परया च शुद्ध्या नित्यं स्विकाः खलु शिखाः परितः क्षिपन्ती।
चेतोहरामपि कुशेशयलोचने! त्वां जानामि कोपकलुषो दहनो ददाह॥

(करुणविलासः, १२-१५)

विद्याविनयमण्डित उनका युवा पुत्र भी सहसा दिवगंत हो उठा, ऐसा प्रतीत होता है। पुत्रशोक को व्यक्त करते हुए पण्डितराज लिखते हैं—

अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्।
हा तनय! विनयशालिन्! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः॥

अथवा,

रे रे मनो मम, मनोभवशातनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम्।
किम्मां निपातयसि संसृतिगर्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः॥

इस प्रकार, अपनी जीवनयात्रा के उत्तरार्ध में, वैभव-विलासरूपी सागर की तरंग-भंगों से लालित जगन्नाथ मरुवण में निपट अकेले खड़े **शाखोटक** की भाँति असहाय हो उठे थे। अवलम्ब बचा था तो एकमात्र नन्दनन्दन कृष्ण का :

अयि दीनतरं दयानिधे! दुरवस्थं सकलैः समुज्झितम्।
अधुनापि न मां निभालयन् भजसे हा कथमश्मचित्तताम्॥

नितरां विनयेन पृच्छ्यते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम्॥

क्षुधितस्य नहि त्रपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णतः कणान्।
अकलङ्क! यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति॥

यह सब मैंने सविस्तर, सविमर्श कहीं अन्यत्र स्वोपज्ञ निबन्ध में समुपन्यस्त किया है (शास्त्रालोचनम् : पण्डितराजजगन्नाथकाव्ये राष्ट्रियभावना, पृ. ११२-१२६)।

अस्तु। **डॉ. मनुलता शर्मा** की **दशाध्यायी** महनीय कृति भी उसी युगजीवी महाकवि जगन्नाथ की शेमुषी का समुन्मीलन करती है। मैंने इस शोधपरक ग्रन्थ को बड़ी तन्मयता एवं उत्कण्ठा के साथ पढ़ा है; क्योंकि पण्डितराज मेरे अत्यन्त प्रिय एवं आत्मीय कवि हैं। वह मेरे काव्यादर्श भी हैं :

श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः॥

(जानकीजीवनम्, पुष्पिका)

मनुलता जी अर्वाचीन संस्कृत-कविता के क्षेत्र में यशस्विनी कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने राष्ट्रव्यापी शोधसंगोष्ठियों में भी अपने अनुसन्धानपरक आलेखों से विपुल कीर्ति अर्जित की है। स्वोपज्ञ ग़ज़लसंग्रह **मत्तवारणी** की मनुलता द्वारा की गई गहन समीक्षा देखकर तो मैं विस्मित ही हो उठा। भावयित्री के साथ ही साथ कारयित्री प्रतिभा का ऐसा मणिकाञ्चन-योग कम ही मिल पाता है। इस शोधप्रबन्ध द्वारा पण्डितराज के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की सांगोपांग समीक्षा कर सुधी लेखिका ने सहृदय-जगत् को महाकवि जगन्नाथ के विषय में पूर्ण आश्वस्त कर दिया है। एतदर्थ मैं **डॉ. मनुलता** को हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ अपनी ओर से तथा शुभाशंसाएँ संस्कृत-जगत् की ओर से।

सौभाग्य से इस महनीय ग्रन्थ को प्रकाशित करने का श्रेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रकाशन-संस्थान को प्राप्त हो रहा है। एतदर्थ संस्थान के यशस्वी निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** तथा उनके समस्त सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। पूर्ण विश्वास है कि लेखिका का यह सुचिन्तित सारस्वत-श्रम सहृदय-जगत् को अनेक दृष्टियों से अनुरञ्जित एवं लाभान्वित करेगा।

वाराणसी
मार्गशीर्ष-शुक्ल-पञ्चमी
वि.सं. २०६०

सहृदयवशंवद
अभिराज राजेन्द्र मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रणतिनिवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में सारस्वत-यज्ञ में अहर्निश आहुति देने वाले जिन गुरुजनों का मार्गदर्शन, साहाय्य एवं संवर्द्धन मुझे प्राप्त हुआ, स्नेह, सद्भाव एवं सौमनस्य के प्रतीक जिन शुभेच्छु मित्रजनों एवं पारिवारिक सदस्यों की सतत प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन मेरा सम्बल बने रहे, उनके प्रति प्रणतिनिवेदन मेरा प्रथम कर्तव्य है।

लेखनयात्रा का प्रारम्भ हुआ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्कृत विभाग की शोधच्छात्रा के रूप में पञ्जीकरण से। कुछ गम्भीर अध्ययन एवं नवीन विषय पर काम करने की ललक लिए मैंने शोधविषय पर सोचना प्रारम्भ किया। विद्वज्जनों से मिली, उनके परामर्श लिए, स्वविवेक का प्रयोग कर नाना विषयों पर चिन्तन किया, वैचारिक-मन्थन का क्रम जारी रहा; इसी सन्दर्भ में धर्मागमशास्त्र के गहन अध्येता, भरतनाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान्, मूर्धन्य गवेषक प्रो. डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी, पूर्व सङ्कायाध्यक्ष, संस्कृतविद्या धर्म-विज्ञानसङ्काय से मिलना हुआ। प्रो. त्रिपाठी के भीतर निहित गम्भीर गवेषक ने सहज ही विषय सुझाया— '**पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यग्रन्थों का साहित्यिक अनुशीलन**'। मन हठात् आकर्षित हो गया। रसगङ्गाधर के अनुशीलन से सम्बद्ध कुछ शोधग्रन्थ तो तब तक प्रकाश में आ चुके थे; लेकिन उनके समग्र व्यक्तित्व, कर्तृत्व, जीवनवृत्त, पाण्डित्यादि से समन्वित काव्यग्रन्थों का अनुशीलन किसी लेखनी के लिए प्रतीक्षारत था। अत: सर्वप्रथम मैं श्रद्धेय गुरुवर प्रो. डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी जी के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिन्होंने इस विषय को शोध हेतु न केवल सुझाया, वरन् मेरी अल्पज्ञता को ध्यान में रखकर इसकी प्रारम्भिक रूपरेखा का भी लेखाङ्कन किया।

साहित्य, प्राकृत एवं जैनदर्शन के विशिष्ट अध्येता पूज्य गुरुवर प्रो. डॉ. सुदर्शनलाल जैन, संस्कृतविभाग, कलासङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति भी मैं प्रणत हूँ, जिन्होंने इस विषय को स्वीकृति प्रदान कर मुझे अपने निर्देशन में शोधकार्य करने का अवसर प्रदान किया तथा समय-समय पर सुझाव एवं साहाय्य प्रदान कर मेरा मार्गदर्शन किया।

पण्डितराज के ग्रन्थों के बोध में सहायक, अद्वितीय शब्दशिल्प के धनी, उद्भट वैयाकरण पण्डित मनुदेव जी भट्टाचार्य, उपाचार्य, व्याकरणविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का ज्ञानपूरित मार्गदर्शन मेरे लिए अविस्मरणीय रहेगा, जिनके सहयोग के बिना मेरा श्रम ग्रन्थाकार न ले पाता।

इसी क्रम में अद्भुत कारयित्री प्रतिभासम्पन्न, सरल, सहज, मिष्टहृदय डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी, रीडर, साहित्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञानसङ्काय की भी मैं ऋणी रहूँगी, जिनका स्नेहोच्छ्वसित अध्यापन मेरे ग्रन्थावबोधन में सहायक बना।

सम्भवत: अपने किन्हीं सुकृत कर्मों के फलस्वरूप साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान्, राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित, अहर्निश अध्ययन-अध्यापन में संलग्नमना पूज्य गुरुवर डॉ० वायुनन्दन पाण्डेय, पूर्व उपाचार्य, साहित्यविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अन्तेवासित्व में आने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। उनका ज्ञानगाम्भीर्यपूर्ण अध्यापन रसगङ्गाधर के बोध में सहायक बना; जिसका सुपरिणाम नवम अध्याय में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में सामने आया है। इसके लेखन में जो कुछ मैं उचितरूप में प्रस्तुत कर सकी, इसके लिए हेतुभूत है, श्रद्धेय गुरुवर की निष्ठा एवं जो कमियाँ रहीं, उसके लिए उत्तरदायी है, मेरी अक्षमता।

मैं प्रणत हूँ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के निवर्तमान कुलपति, विश्रुत दार्शनिक प्रो. डॉ. राममूर्ति शर्मा जी के प्रति, जिनके कार्यकाल में मेरे श्रम को ग्रन्थाकार में प्रकाशन की संस्तुति प्राप्त हुई।

अद्भुत कारयित्री प्रतिभा के निधिभूत प्रो. डॉ. राजेन्द्र मिश्र, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय मेरे हार्दिक अभिनन्दन के अधिकारी हैं, जिनकी यशोमण्डिता लेखनी से विनिस्सृत विचारराशि से मेरा यह प्रयास विभासित है।

मैं हार्दिक आभारी हूँ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी, अध्यवसायी एवं कर्म को ही जीवनपर्याय समझने वाले प्रकाशन निदेशक डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी जी की, जिनकी सहज प्रेरणा, सतत उत्साहवर्धन एवं निर्व्याज स्नेह मेरी लेखनयात्रा का सम्बल बना।

इसके साथ ही मैं हार्दिक कृतज्ञ हूँ, प्रकाशन समिति के माननीय सदस्यों के प्रति जिनकी संस्तुति से ग्रन्थ परिष्कृत व परिवर्धित हो सका। नामान्तर हुआ, **'पण्डितराज जगन्नाथ; शेमुषीसमुन्मीलन'**।

त्रैपौरुषी वेदविद्या के अधिष्ठानभूत, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वेदविभागाध्यक्ष प्रो. डॉ. युगलकिशोर मिश्र, रचनाधर्मिता के निदर्शनभूत, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के पुराणेतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ. इच्छाराम द्विवेदी एवं वैदिक ज्ञानराशि को गम्भीरता से सँजोए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर डॉ. श्रीकिशोर मिश्र जी द्वारा समय-समय पर दिए गए सहयोग, सत्परामर्श एवं साहाय्य की मैं सदैव आभारी एवं आकांक्षी रहूँगी।

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री अनूपकुमार नागर जी की कार्यदक्षता, व्यावसायिक कुशलता एवं संलग्नमना अध्यवसाय मुझे सतत स्मरण रहेगा, जिनकी दक्षता से इस ग्रन्थ का मुद्रण इतने सुन्दररूप में आकार ले सका।

सभी उत्तरदायित्वों को स्वत: सम्भालकर पठन-पाठन का समुचित वातावरण देने वाले, मेरी वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेखन कार्य में आगत बाधाओं का यथासम्भव निवारण करने वाले मेरे पूज्य माता-पिता, पितृव्य, स्नेही भाई-भाभी, बहनें व समस्त आत्मीयजन मेरे हार्दिक आभार के पात्र हैं।

अन्त में प्रणत हूँ, उस जगदाराध्य के प्रति, नमन करती हूँ उस अनादि, अनन्त एवं अचिन्त्य सर्वान्तर्यामी का, जिसके नाना नाम व रूप हैं, जिनकी प्रेरणा से सृष्टि का कण-कण संचालित होता है, जिनकी इच्छा ही सृष्टि के संहार का हेतु बनती है एवं जिनकी कृपा ही सृष्टि के उल्लास का कारण है। उन्हीं के अहैतुकी अनुग्रह से पण्डितराज की शेमुषी समुन्मीलन का यह प्रयास सम्यक्तया समुल्लासित हो इस कामना के साथ—

मनुलता शर्मा
रीडर, संस्कृतविभाग
आर्यमहिला डिग्री कॉलेज
वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

समीक्षा, काव्यहेतु काव्यहेतु विषयक पण्डितराजीय मत की समीक्षा, काव्यप्रभेद, उत्तमोत्तम काव्य, उत्तम काव्य, मध्यम काव्य, अधम काव्य, रसमीमांसा—रसनिष्पत्तिविषयक विवेचन, विभावादिकों की साक्षिभास्यता; शङ्का एवं समाधान, रस की नित्यता : शङ्का एवं समाधान, तन्मयीभवन के माध्यम से रस की व्याख्या, रसचर्वणा की विलक्षणता एवं लौकिक सुखों से भिन्नता, रस की सुखात्मक प्रतीति में प्रमाण, रसप्रतीति; शाब्दी अपरोक्षात्मिका, रसविषयक अन्य मत, भट्टनायक का मत, दार्शनिक चिन्तन एवं रसप्रतीति, नव्यमत, करुणादि रसों की आनन्दानुभूति, अपर नव्यमत, भावविवेचन—भावध्वनि के प्रकार, भावशान्ति एवं भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, भावध्वनियों की महत्ता, भावध्वनि के व्यञ्जकत्व, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, सञ्चारी भावों के लक्षण, निर्वेद की सञ्चारिभावता, सञ्चारीभावों की संख्या, गुणविवेचन-पण्डितराजीय मत, गुणों की व्यञ्जकता, ध्वनि—अभिधामूलध्वनि-असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि, संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि, रसादिध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता विषयक विवेचन, साक्ष्यप्रस्थापन में काठिन्य, काठिन्यनिवारण, नागेशभट्ट द्वारा प्रस्तुत उपपत्ति, नागेशभट्ट कृत आपत्ति का समाधान, नानार्थस्थलीय चिन्तन—प्रथममत—अनेकार्थ-निरूपिका अनेक अभिधा की स्वीकृति, द्वितीयमत—द्वितीय मत के अनुसार व्यञ्जना की आवश्यकता, द्वितीयमत विषयक शङ्काएँ एवं समाधान, अन्यमत, तात्पर्यनिर्णयकारणता एवं अभिधा व्यापार, नानार्थक स्थल में क्वचित् व्यञ्जनाविलास, व्यञ्जनास्वीकृति की अनिवार्यता बाधित नानार्थक स्थल में, व्यञ्जनास्वीकृति की अनिवार्यता बाधित नानार्थकस्थल में, शब्दशक्तिमूल ध्वनि एवं पण्डितराज, निष्कर्ष, शब्दशक्ति विवेचन—अभिधा, अभिधा विषयक मान्यताएँ, अभिधा के प्रभेद, पदों की अखण्डता विषयक सिद्धान्त, शङ्का एवं समाधान, अभिधेय अर्थ के प्रकार, **लक्षणा**—लक्षणा के कारण, लक्षणा के भेद, लक्षणा षट्प्रकारिका क्यों? लक्षणाविषयक पण्डितराजीय मौलिक उद्भावनाएँ,

संकेतिका

अमृत ल.	:	अमृतलहरी
अव.अन्यो.	:	पण्डितराजकाव्यसंग्रह में 'अवशिष्टान्योक्तयः' शीर्षक से संकलित पद्य
आ.वि.	:	आसफविलास
करुण वि.	:	करुणविलास
करुणा ल.	:	करुणालहरी
का.प्र.	:	काव्यप्रकाश
गङ्गा ल.	:	गङ्गालहरी
जगदा.	:	जगदाभरण
ध्वन्या.	:	ध्वन्यालोक
पं.का.सं.	:	पण्डितराजकाव्यसंग्रह
प्राणा.	:	प्राणाभरण
प्रास्ता.वि.	:	प्रास्ताविकविलास
भामि.वि.	:	भामिनीविलास
रसगङ्गा.	:	रसगङ्गाधर
रसगङ्गा.उप.प.	:	पण्डितराजकाव्यसंग्रह में 'उपक्रमांशपद्यानि' शीर्षक से संकलित रसगङ्गाधर के उपक्रमांश पद्य।
रसगङ्गा.उदा.श्लो.	:	पण्डितराजकाव्यसंग्रह में 'उदाहरणपद्यानि' शीर्षक से संकलित रसगङ्गाधर के उदाहरण श्लोक।
रसगङ्गा.अव.श्लो.	:	पण्डितराजकाव्यसंग्रह में 'अवशिष्टांशः' शीर्षक से संकलित रसङ्गाधर के अवशिष्ट उदाहरण श्लोक।
री.हि.तु.अ.	:	रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन।
लक्ष्मी ल.	:	लक्ष्मीलहरी
सुधा ल.	:	सुधालहरी
शान्त वि.	:	शान्तविलास
शृङ्गा.वि.	:	शृङ्गारविलास
हिन्दी रसङ्गा.	:	हिन्दीरसगङ्गाधर

प्राक्कथन

यस्य श्रोत्रमनोभिरामरचनानिःस्यन्दमानामृतं
तृप्नोति प्रतिभाजुषः सहृदयान् शास्त्रार्थवैपश्चिती।
शास्त्रज्ञाननुरञ्जयत्यविरतं निर्धूय गाढं तमः
विद्यावेदिनरेन्द्रपण्डितजगन्नाथं वयं तं नुमः॥

यः काव्यं कवते सुधारसमयं निर्दूषणं कोमलं
शृङ्गारादिरसानुरूपघटनाजाग्रत्कलाकौशलम्।
यत्रालङ्कृतयश्चमत्कृतिचयं सन्तन्वते निर्मलं
तं वन्दे कविकोविदेन्द्रमनिशं दुर्बोधदावानलम्॥

अलौकिक वैदुषी तथा विलक्षण शेमुषी से सम्पन्न, अद्वैतवेदान्त, न्याय, मीमांसा व व्याकरण में विशेष प्रौढ़ि प्राप्त, काव्य के प्रणयन एवं काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचन, विश्लेषण एवं स्वकीय मतस्थापन में अतिशय प्रावीण्य प्राप्त, पाण्डित्योदधि पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत वाङ्मय की ऐसी विशिष्ट विभूति हैं; जिनके ज्ञानराशि से दीप्त, यशोविभा से विभासित महनीय व्यक्तित्व एवं प्राणवान् कर्तृत्व की वैचारिक ऊष्मा, आनन्ददायिनी क्षमता, मानसतोषिणी प्रतिभा एवं विस्मयोद्बोधिनी प्रज्ञा अनन्तकाल तक अपना वैशिष्ट्य बनाए रखेगी। दर्शन की सुदृढ़ भित्ति पर काव्यशास्त्रीय विषयों की गम्भीर पकड़ के चलते अपने अप्रतिम वैदुष्य के विलक्षण मानदण्ड स्थापित करने वाले पण्डितराज संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों की उस पीढ़ी में है; जिनके बाद इस प्रकार के परिनिष्ठित पाण्डित्य, विलक्षण वैदुष्य एवं तलस्पर्शी शास्त्रावगाही सामर्थ्य का दर्शन दुर्लभ हो जाता है। संस्कृत वाङ्मय में एक ओर वे काव्यशास्त्र की उत्तरवर्ती महनीय उपलब्धि रसगङ्गाधर के विद्वान् प्रणेता के रूप में विख्यात हैं तो दूसरी ओर उनकी पञ्चलहरियाँ एवं भामिनीविलासादि कृतियाँ उन्हें साहित्य के भी प्रतिभाशाली कवि के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

काव्यशास्त्री के रूप में एक सिद्धान्तप्रतिपादक की दृढ़ता एवं कवि के रूप में काव्यानुभूतियों की कोमलता उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अङ्ग है। उनके भक्तिपूर्ण विनिवेदनों में एक ओर जहाँ अपने आराध्य के प्रति उत्कट आसक्ति, कृपाप्राप्ति की उछाह भरी ललक, इष्ट के प्रति प्रबलनिष्ठा एवं अनुग्रह प्राप्ति हेतु विनम्रतापूर्ण आकुलता विद्यमान है, वहीं शृङ्गारिक मुक्तकों में रसराज शृङ्गार की मधुवासित मृदुता एवं मादकता सुरम्य संसार की सृष्टि करती दिखाई देती है। प्रशस्तिपरक मुक्तकों में आश्रयदाताओं की प्रशंसा में पलक पाँवड़े बिछाने, धरती-

आकाश एक करने एवं आकाशकुसुम की सर्जना करने की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, तो नीतिश्लोकों में जीवन व जगत् के अत्यन्त क्रियात्मक अनुभवों से प्राप्त अन्तर्दृष्टि, गुणावगुण, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सत्-असत् व उचित-अनुचित का निर्धारण कर सकने की क्षमता देने वाले नीतिकथनों के रूप में अभिव्यक्त हुई है।

सत्रहवीं शती के इस प्रतिभाशाली मनीषी का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व सम्यक्रूपेण समीक्षित हो, अभी तक कम ही प्रकाश में आया है। उनका व्यक्तित्व किंवदन्तियों के आलवाल में सिमटा है तो कर्तृत्व के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं। इनमें उनकी काव्यशास्त्रीय कृति 'रसगङ्गाधर' को आधार बनाकर तो कुछ शोधकार्य हुए हैं, जो प्रकाशित ग्रन्थ रूप में सामने आए हैं; परन्तु उनकी काव्यकृतियों, जीवनादि से सम्बन्धित पक्षों एवं उनकी काव्यशास्त्रीय स्थापनाओं के समग्र आकलन से सम्बद्ध कोई प्रामाणिक समीक्षात्मक अनुशीलन मेरी उपलब्ध जानकारी के अनुसार प्रकाश में नहीं आया है। प्रस्तुत ग्रन्थ '**पण्डितराज जगन्नाथ; शेमुषीसमुन्मीलन**' उनके अप्रतिम वैदुष्य एवं जीवनादि के समग्र अनुशीलन की दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है। इसमें पण्डितराज के काव्यग्रन्थों के मूलपाठ हेतु उस्मानियां विश्वविद्यालय, हैदराबाद से संस्कृत-अकादमी सीरीज नं. २ के अन्तर्गत डॉ. आर्येन्द्र शर्मा द्वारा 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' नाम से सम्पादित पुस्तक को आधार बनाया गया है।

प्रस्तुत अनुशीलन दस अध्यायों में विभक्त है। समापन निष्कर्षात्मक बिन्दुवों को समेटे उपसंहार से संवलित है। परिशिष्टान्तर्गत पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त छन्दों की सूची, महत्त्वपूर्ण सुभाषितों एवं समीक्षण में साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से सहायक ग्रन्थों की सूची दी गई है।

प्रथम अध्याय पण्डितराज के जीवनवृत्त से सम्बन्धित है। इसमें उनके जीवनफलक के विविध रङ्गों तथा देशकालादि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इस प्रसङ्ग में उनके जीवन से सम्बद्ध विभिन्न किंवदन्तियों की प्रस्तुति एवं उनमें सत्यांश की सम्भावनाएँ तलाशने तथा मिथ्या तुषकणों को दूर उड़ा देने की दृष्टि से उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है।

द्वितीय अध्याय में पण्डितराज के व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं पाण्डित्य का विवेचन किया गया है। इसमें उनके व्यक्तित्व की बहून्मुखता तथा पाण्डित्य की बहुशास्त्रावगाहिता के सम्यक् स्वरूप के निदर्शनार्थ उनकी काव्यकृतियों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय कृति रसगङ्गाधर तथा व्याकरणशास्त्र विषयक अन्य कृतियों को आधार बनाया गया है। इन सभी कृतियों में प्रतिबिम्बित वैयक्तिक विशिष्टताओं व पाण्डित्य के आधार पर उनके व्यक्तित्व के विविध रूपों व पाण्डित्य के विविध पक्षों

का यहाँ विवेचन किया गया है। कर्तृत्व के अन्तर्गत उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन किया गया है। भ्रमनिवारणार्थ जगन्नाथ नाम से प्रसिद्ध कुछ अन्य कवियों तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

तृतीय अध्याय में पण्डितराज की स्तुतिपरक रचनाओं (पञ्चलहरियों) की समीक्षा की गई है। प्रारम्भ में स्तुति काव्य के स्वरूप, स्तुति काव्यों में लहरी काव्य, लहरीकाव्यों की उत्पत्ति एवं विकास परम्परा, काव्यरूप की दृष्टि से लहरी काव्य के स्वरूप तथा विशेषताओं का विवेचन कर तत्पश्चात् पण्डितराज की पञ्चलहरियों क्रमशः गङ्गालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी व सुधालहरी का अनुशीलन साहित्यिक समीक्षा के आवश्यक उपादानों वर्ण्यविषय, भावाभिव्यक्ति, भाषा, शैली, रस, गुण, अलङ्कार, छन्दादि के आधार पर किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में पण्डितराज द्वारा विभिन्न नरेशों की प्रशस्ति में विरचित प्रशस्तिपरक रचनाओं (१) प्राणाभरण, (२) जगदाभरण एवं (३) आसफ-विलास की साहित्यिक समीक्षा की गई है। समीक्षा को पूर्णता देने के उद्देश्य से प्रारम्भ में इन काव्यों के चरितनायकों के विषय में विचार करते हुए ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार इनके व्यक्तित्व एवं स्थितिकालादि का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में पण्डितराज की मुक्तक रचनाओं का अनुशीलन किया गया है। इस अध्याय को खण्ड 'क' और खण्ड 'ख' इन दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत पण्डितराज के मुक्तक श्लोकों के संकलन 'भामिनीविलास' का समीक्षण किया गया है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत 'पण्डितराज-काव्यसङ्ग्रह' में 'अवशिष्टान्योक्तयः' शीर्षक से संकलित अन्योक्तियों, अन्य पद्यों तथा रसगङ्गाधर के उदाहरण श्लोकों की समीक्षा की गई है।

षष्ठ अध्याय में पण्डितराज की समस्त काव्यकृतियों के अनुशीलन के पश्चात् आगत निष्कर्षों के आधार पर उनकी भाषा एवं शैलीगत सामान्य विशेषताओं का विवेचन किया गया है। पण्डितराज की विशिष्ट मान्यता के अनुसार गुण रस के धर्म नहीं, अपितु शब्द, अर्थ, रस व रचना सभी के धर्म हैं। गुणसम्बन्धिनी उनकी इसी विशिष्ट मान्यता को ध्यान में रखकर गुण विवेचन को पृथक् अध्याय का रूप न देकर भाषा की ही एक विशेषता के रूप में उनके काव्यों में प्रयुक्त गुणों का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में पण्डितराज के काव्यों में आगत रसों तथा भावों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। यह विवेचन स्वयं उनके द्वारा रसगङ्गाधर में प्रतिपादित रस एवं भाव विषयक मान्यताओं के मानदण्डों के अनुसार किया गया है।

अष्टम अध्याय में पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त अलङ्कारों का सोदाहरण निरूपण है। इस प्रकरण में भी अलङ्कारों के स्वरूप तथा लक्षणादि का विवेचन, रसगङ्गाधर में प्रतिपादित उनकी विभिन्न अलङ्कार विषयक मौलिक मान्यताओं के अनुसार किया गया है।

नवम अध्याय रसगङ्गाधर में ही प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण से सम्बद्ध है। यद्यपि रसगङ्गाधर का समग्र विवेचन एक पृथक् ग्रन्थ लेखन की अपेक्षा रखता है; तथापि इस अध्याय के अन्तर्गत अलङ्कारनिरूपण को छोड़कर यथासम्भव सभी प्रमुख काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को समाहित किया गया है। रसगङ्गाधर का अलङ्कारप्रकरण पूर्वपक्षियों के खण्डन-मण्डन एवं सप्रभेद निरूपण के कारण अत्यन्त विस्तार लिए हुए है, जिसे एक अध्याय में बाँध पाना दुष्कर है। इसी कारण अलङ्कारनिरूपण नामक अष्टम अध्याय में पण्डितराज कृत लक्षणों को लिया गया है व लक्षण विवेचन, अन्यान्य आचार्यों के मत व विविध प्रभेदों के विस्तार को समेटने की चेष्टा नहीं की गई है।

दशम अध्याय पण्डितराज के पूर्वापर प्रभाव का अनुशीलक है।

उपसंहार में समस्त अनुशीलन से प्राप्त निष्कर्षों का सिंहावलोकन कर पण्डितराज के महत्त्व का मूल्याङ्कन किया गया है।

पण्डितराज की अलौकिक वैदुषी एवं विलक्षण शेमुषी के समुन्मीलन एवं समुल्लासन का यह प्रयास विद्वज्जनों के समीक्षणार्थ प्रस्तुत है। इस प्रयास में अनेक त्रुटियाँ व भ्रान्तियाँ सम्भाव्य हैं, जिन्हें विद्वज्जन मेरी अल्पज्ञता समझ क्षमा करेंगे। मेरी यह कृति यदि विबुधजनों के स्वल्प मनस्तोष में सफल हो सकेगी, उनकी अध्ययनयात्रा में अपनी उपादेयता सिद्ध कर सकेगी, तो मेरे प्रयास की सार्थकता, साफल्य व सिद्धिसम्पूर्ति हो सकी; ऐसा मैं मानूगीं। अन्ततः समर्पित है, यह कृति साहित्यानुरागी सुधीजनों एवं जिज्ञासु गवेषकों को—

पण्डितराज शेमुषी, रसगङ्गाधरमहीयसी लोके।
गङ्गालहरीविशदा, सत्काव्यसुधामयी जयति।।
पण्डितराजकवित्वं, नूनं मोदकरं यदस्ति विद्वद्भ्यः।
तन्मनुलतयाऽपिहितं, समर्पितं शेमुषीकोषात्।।

●

प्रथम अध्याय

जीवनवृत्त

आचार्यत्व की गरिमा से प्रदीप्त एवं कवित्व की कम्र कल्पनाओं से कमनीय पण्डितराज अपनी अपार सर्जनात्मक क्षमताओं एवं विशद शास्त्रावगाहनत्व के कारण समुत्सुक पाठकों व गम्भीरमना गवेषकों को चिरकाल से अभिभूत करते रहे हैं। साहित्याराधकों की दृष्टि में वे चिन्तन व भावना दोनों ही स्तरों पर भासमान विभूति हैं। उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर साहित्यशास्त्र जहाँ अतिशय प्रौढ़ व परिष्कृत हो उठा है, वहीं काव्यजगत् सुमधुर पदशय्या से समन्वित एवं सरस भावोर्मियों से स्पन्दित कविता के शिञ्जन से सुतरां सुमनोहर।

पण्डितराज का जीवनवृत्त जिज्ञासुजनों के आकर्षण का सतत केन्द्र रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय चिन्तकों, कवियों एवं शास्त्रकारों का जीवनक्रम प्राय: अनुमान का ही विषय रहा है। आलोचनाशास्त्र के आधुनिक मानदण्डों की दृष्टि से यह उनकी ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव का सूचक भी है, पर सूक्ष्म वैचारिक अन्तर्दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि मनीषियों का यह कार्य जीवन व कर्म के महत्त्व का प्रतिपादक है, यशोलिप्सा, आत्मप्रचार व आत्मविज्ञापन का नहीं। प्राचीनकाल में रचे गये ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये, व्याख्याएँ व वृत्तिभाग निस्सृत हुए, टीकाएँ-टिप्पणियाँ, आलोचना-प्रत्यालोचना, खण्डन-मण्डन सबका प्रणयन हुआ; किन्तु किसी भी व्याख्याकार, टीकाकार या खण्डन-मण्डनकार ने अपना ध्यान इस ओर केन्द्रित नहीं किया कि उस विशिष्ट ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का प्रणयन कब किया? उसने केवल यही देखा कि उस विशिष्ट ग्रन्थकार ने क्या लिखा व क्यों लिखा? भारतीय ग्रन्थकारों की यही परिपाटी रही है। जिस किसी ने अपना परिचय दिया भी है तो अत्यन्त सूक्ष्म। पण्डितराज भी इसके अपवाद नहीं हैं। सौभाग्य से वे इतिहास प्रसिद्ध राजवंशों से सम्बद्ध रहे हैं और अपने पूर्ववर्ती सभी काव्याचार्यों की प्राय: उन्होंने आलोचना की है। अत: उनके विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करने के साधन अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हैं।

वंशपरिचय

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे।[१] इनका जातीय उपनाम 'वेङ्गिनाडु'

---

१. (क) 'तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालित:', (प्राणा.जगदा. श्लो.५३)
   (ख) 'तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेन', (आसफ वि. अन्तिम गद्यांश)

अथवा 'वेल्लनाडु' था, जिसे 'वेल्लनाटीय' या 'वेङ्गिनाटीय' भी कहा जाता है।[१] श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार यह उपनाम श्रीमद्वल्लभाचार्य के सजातीय उत्तरभारतीय तैलङ्गों का अब तक का उपनाम है।[२] काशी में इनकी व इनके पिता की शिक्षा-दीक्षा हुई थी[३] तथा काशी की सारस्वत-साधना में संलग्न विद्वानों की सूची में इनका नाम है।[४] अतः काशी में ही इनका पैतृक निवासस्थान होना सिद्ध होता है। एक अन्य प्रमाणानुसार डॉ. कृष्णमाचारी, डॉ. भाम्बुरकर आदि विद्वानों ने इनका पारिवारिक नाम 'उपद्रष्टा' बताया है तथा आन्ध्रप्रदेश के गोदावरी जिले के 'मुगुंडा' नामक गाँव को इनका मूल निवास (निकास) स्थान माना है।[५] इसी प्रमाण के अनुसार इनका गोत्र 'कौण्डिन्य' व शाखा 'आश्वलायन ऋग्वेदी' थी।[६] मुगल इतिहासकारों[७] तथा इनके शिष्य व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र ने इन्हें 'जगन्नाथ त्रिशूली' नाम से वर्णित किया है।[८] इससे सिद्ध होता है कि या तो इनका व्यक्तिगत उपनाम 'त्रिशूली' था, अथवा त्रिशूली शङ्कर की नगरी काशी के वासी होने के कारण इन्हें मुगल दरबार में 'त्रिशूली' नाम से सम्बोधित किया जाता होगा।

पण्डितराज के पिता का नाम पेरुभट्ट अथवा पेरम भट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था।[९] पेरु भट्ट महान् विद्वान् थे। उन्होने ज्ञानेन्द्रभिक्षु नामक विद्वान् यति से

१. (क) 'श्री तैलङ्गवेङ्गिनाटीयकुलोद्भवश्रीपण्डितराजजगन्नाथविरचिता', (आसफ वि. समापिका पंक्ति)
(ख) 'तैलंग वेलनाटीय द्विज जगन्नाथ तिरशूलधर', संग्रामसार, १/५
(उद्धृत हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भू.पृ. ढ़)
२. हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ. ठ.
३. रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो.२
४. काशी की सारस्वत साधना, गोपीनाथ कविराज, पृ. ५०-५२.
५. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, कृष्णमाचारी, पृ. ३५३ एवं पण्डित जगन्नाथराय यांचे चरित्र आणि संगीत गंगालहरी, भाम्बुरकर, पृ.३.
६. वही, पृ. ३.
७. शाहजहाँनामा, सम्पा., रघुबीर सिंह, मनोहर सिंह राणावत, पृ. ३००
८. तैलंग वेलनाटीय द्विज जगन्नाथ तिरशूलधर।
शाहिजहाँ दिल्लीश किय पंडितराज प्रसिद्ध धर।।
संग्रामसार, कुलपति मिश्र, १/५
उद्धृत, हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका पृ. ढ़
९. (क) 'तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं विद्वल्ललाटं तपः, (प्राणा., श्लो. ५३;)
(ख) 'तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूरितनयो विद्वल्ललाटंतपः।', (जगदा., श्लो. ५०;)
(ग) 'तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्', (रसगङ्गाधर, १/३;)
(घ) भामिनीविलास के एक टीकाकार महादेव सूरि दीक्षित, जोकि स्वयं को पण्डितराज के पौत्र माधव दीक्षित सूरि का पुत्र बताते हैं, के अनुसार पण्डितराज के पिता का नाम जागेश्वर सूरि था। द्रष्टव्य, भामि.वि. बी.जी. बाल, भूमिका, पृ.१ एवं पृ.१२२.

वेदान्तशास्त्र, महेन्द्र पण्डित से न्याय और वैशेषिकशास्त्र, खण्डदेवोपाध्याय से पूर्वमीमांसाशास्त्र व शेषवीरेश्वर या शेषश्रीकृष्ण से व्याकरण महाभाष्य की शिक्षा प्राप्त की थी।[१] इसके अतिरिक्त वे अन्य सभी शास्त्रों व विद्याओं में भी प्रवीण थे, जैसा कि रसगङ्गाधर के 'सर्वविद्याधर' पद से सूचित होता है।[२] अपने पिता के प्रकाण्ड पाडित्य की प्रशंसा उन्होने उनके द्वारा स्वपाण्डित्य के बल पर पत्थरों से भी अमृत स्रावित करा सकने की क्षमता के रूप में वर्णित की है।[३]

शिष्यत्व

पण्डितराज ने अपने सर्वविद्याविशारद पिता से ही सभी विषयों का अध्ययन किया था और पिता की ही भांति सर्वशास्त्रनिष्णात हुए। इसलिये उन्होंने अपने पूज्य पितृचरणों का स्मरण 'महागुरुम्' कहकर किया है।[४] अपने ग्रन्थ 'मनोरमाकुचमर्दन' में 'अस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां' कह कर पंडित शेष वीरेश्वर को अपना गुरु बताया है,[५] अतः ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने पिता के अतिरिक्त शेषवीरेश्वर से भी व्याकरण की शिक्षा प्राप्त की थी।

विद्वत्ता व राजसम्मान

पण्डितराज स्वयं भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। वेद, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, व्याकरण, नीति, साहित्य आदि विविध शास्त्रों के वे प्रगाढ़ पण्डित थे।[६] उनकी कृतियाँ इसका प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें सङ्गीतशास्त्र का भी उत्तम ज्ञान था। मुगलकालीन इतिहासग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। मुगल इतिहासकारों ने उन्हें जगन्नाथ कलावंत व जगन्नाथराय महाकवि (त्रिशूली) नामों से अभिहित करते हुए 'कविराय' व 'कलावंत' अर्थात् कवि और संगीतकार

---

१. 'श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः॥' (रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो.२)

२. '....सर्वविद्याधरो यः', वही, श्लो.२

३. 'पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्॥' (वही, श्लो.३)

४. रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो.३

५. मनोरमाकुचमर्दिनी, पृ.१

६. इति महामहोपाध्यायपदवाक्यप्रमाणपारीणतैलङ्गकुलावतंस श्री पेरमभट्टसूरेस्तनयेन....।
प्राणा. जगदा. समापिका पंक्ति

दोनों के रूप में वर्णित किया है।[१] मुंशी देवीप्रसाद के 'शाहजहाँनामा' के अनुसार हिन्दुस्तानी शायरी व गानविद्या में उस समय उनकी बराबरी का हिन्दुस्तान में कोई नहीं था।[२] इसी विद्वत्ता के कारण उन्हें शाही आश्रय प्राप्त हुआ था और शाहजहां से 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त हुई थी।[३] एक अन्य अवसर पर इन्होंने बारह नये पद्य बादशाह शाहजहाँ के ऊपर रचे व २२ रबीउस्-सानी पर इन्हें सम्राट् को भेंट किया।[४] इससे बादशाह इतना प्रसन्न हुआ कि ये रुपयों से तौले गये और जो ४५०० रु. उनके बराबर तुले, वे रुपये उन्हें भेंट दे दिये गये।[५] एक अन्य अवसर पर इनके द्वारा रचित एक काव्य बादशाह को बहुत पसंद आया, जिसके इनामस्वरूप इन्हें हाथी इनायत किया गया।[६]

इससे स्पष्ट होता है कि बादशाह शाहजहाँ इन पर बहुत कृपालु था व ये उनके राजसम्मानप्राप्त प्रियपात्र थे।

वैवाहिक सम्बन्ध

'करुणविलास' के श्लोकों को कवि का व्यक्तिगत शोकोद्गार मानने पर यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज की परिणीता पत्नी सुन्दरी व विदुषी थीं, किन्तु उनकी इस पत्नी का शीघ्र ही देहान्त हो गया था। पुनः लवङ्गी विषयक बहुचर्चित श्लोकों को सत्य मानने पर यह सम्भावना की जा सकती है कि मुगलदरबार में स्थायी होने से पहले इनकी परिणीता पत्नी का देहान्त हो चुका था। तत्पश्चात् ही उनका किसी मुगल सुन्दरी से प्रणय सम्पर्क हुआ होगा।

कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि पण्डितराज को पत्नी-विरह के साथ पुत्र शोक भी सहना पड़ा। इसके प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया जाता है—

---

१. शाहजहाँनामा, सम्पा. सिंह, राणावत, पृ.९२; मुगलसम्राट शाहजहाँ, सक्सेना, पृ.२८०.

२. शाहजहाँनामा, सम्पा. सिंह, राणावत, पृ.९२

३. 'श्रीसार्वभौमसाहिजहानप्रसादाधिगतपण्डितरायपदवीविराजितेन......' आसफ वि. अन्तिम गद्यांश एवं शाहजहाँनामा, सम्पा. सिंह, राणावत, पृ.९२

४. शाहजहाँनामा, सिंह, राणावत, पृ.९२

५. वही, पृ.९९.

६. वही, पृ.९९.

''रे रे मनो मम मनोभवशातनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम्।
किं मां निपातयसि संसृतिगर्त्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः।''

हे मेरे मन, तू निरन्तर कामशत्रु शङ्कर के चरणकमल युगल को अच्छी तरह प्रणाम करते हुए मुझे संसार रूपी गड्ढ़े के बीच क्यों ढ़केल रहा है? इतने से तो तेरा पुत्रशोक नहीं मिट जायगा।

पर यह धारणा ठीक नहीं है। कारण, एक तो इस श्लोक का संग्रह 'करुणविलास' में न होकर 'शान्तविलास' में है। यदि इससे शोकजनकता सूचित करनी होती तो इसका संग्रह 'करुणविलास' में ही होता। दूसरे रसगङ्गाधर में यह श्लोक 'प्रत्यनीक' अलंकार के उदाहरण रूप में आया है।[१] प्रत्यनीक अलंकार वहाँ होता है, जहाँ शत्रु का तिरस्कार करने में असमर्थ होने पर उससे सम्बद्ध व्यक्ति अथवा वस्तु का तिरस्कार किया जाता है।[२] यहाँ भी इसका प्रकृत अर्थ यही है कि 'हे मन, तू तेरे पुत्र मनोभव को मारने वाले शिव का बदला मुझ शिवभक्त को संसार में डाल कर क्यों चुका रहा है? इससे तेरा पुत्रशोक जा नहीं सकता।' अतः इससे निज पुत्रशोक की बात उठाना व्यर्थ है।

गुरुत्व

सम्राट् शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह पण्डितराज का प्रिय शिष्य था। उसके संस्कृतानुरागी व संस्कृत पण्डित होने की बात तो सर्वप्रसिद्ध ही है। पण्डित जगन्नाथ दारा से व दारा उनसे अत्यधिक प्रभावित थे।[३] कहा जाता है कि पण्डितराज की प्रेरणा से ही उसने सूफी रहस्यवाद व हिन्दूदर्शन का समन्वय करते हुए 'मज्म उल् बहरैन' नामक पुस्तक लिखी, जिसका संस्कृत में 'समुद्रसंगम' नाम से अनुवाद प्राप्त होता है।[४] इस अनुवाद की शैली के आधार पर श्री भोलाशंकर व्यास जी का यह अनुमान है कि इस अनुवाद की

१,२. 'प्रतिपक्षसंबन्धिस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम्।' रसगङ्गा द्वि.आ.द्वि.भा, पृ. ६८६-८७

३. दाराशिकोह, लाइफ एण्ड वर्क्स, विक्रमजीत हसरत, पृ.२१३-१५

४. समुद्रसंगम, भोलाशंकर व्यास, परिचय, पृ.६-७

रचना दारा के नाम से पण्डितराज ने ही की।[१] दारा के अतिरिक्त 'संग्राम-सार' और 'रसरहस्य' आदि ग्रंथों के निर्माता, जयपुर-नरेश श्रीराम सिंह जी प्रथम के आश्रित, व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि माथुर चतुर्वेदी श्री कुलपति मिश्र भी इनके शिष्य थे।[२] इनकी पण्डितराज पर अत्यन्त श्रद्धा थी। इसके प्रमाणस्वरूप 'संग्रामसार' के निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत हैं, जिनमें उन्होंने पण्डितराज की भरपूर प्रशंसा की है—

'शब्द-जोग में शेष, न्याय गौतम कनाद मुनि।
सांख्य कपिल, अरु व्यास ब्रह्मपथ, कर्मनु जैमिनि ।।
वेद अंग-जुत पढ़ैं, शील-तप ऋषि वसिष्ठ सम।
अलंकार-रस-रूप अष्टभाषा-कविता-क्षम ।।
तैलंग वेलनाटीय द्विज जगन्नाथ तिरशूलधर।
शाहिजहाँ दिल्लीश किय पण्डितराज प्रसिद्ध धर ।।
उनके पग को ध्यान धरि इष्टदेव सम जानि।
उक्ति-जुक्ति बहु भेद भरि ग्रंथहि कहौं बखानि ।।'[३]

इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने संस्कृत भाषा के कवियों में सरस स्वाभाविक कविता के लिए वाल्मीकि, शास्त्रसम्मत ज्ञान के लिये व्यास, काव्यगौरव के लिये भारवि, रसध्वनि के लिये कालिदास, रसदीप्ति के लिये भवभूति और पदरचना सौन्दर्य के लिये जगन्नाथ को आदर्श माना है।[४]

पण्डितराज में उपर्युक्त सभी कवियों की काव्यगत विशेषताओं का समावेश मिलता है, फलतः मिश्र जी ने उन्हें ही अपना एकमात्र उपास्य स्वीकार किया है।[५]

---

१. समुद्रसंगम, भोलाशंकर व्यास, परिचय पृ.७
२. हिन्दी रसगङ्गाधर प्र.आ., भूमिका, पृ. ढ एवं आचार्य कुलपति मिश्र, व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. विष्णुदत्त शर्मा राकेश, पृ.६९-७०.
३. हिन्दी रसगङ्गाधर, प्र.आ, भूमिका, पृ. ढ.
४. युक्तितरंगिणी, कुलपति मिश्र, दोहा सं. १८, १९, २०, २१, २२, २३, उद्धृत, आचार्य कुलपति मिश्र, व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ.६९-७०.
५. 'बकस्यौ पण्डितराय को सरसुति निज भण्डार। जाकी पदरचना सुनत रीझि न रही संभार'।। युक्तितरंगिणी, दोहा २३, उद्धृत, वही, पृ.७०

पण्डितराज के एक दूसरे शिष्य का भी पता लगता है। वे पण्डितराज के सजातीय थे और उनका नाम नारायण भट्ट था। उनके विषय में उनके भतीजे हरिहर भट्ट ने, स्वनिर्मित 'कुलप्रबन्ध' नामक काव्य में यों लिखा है—

'लब्ध्वा विद्या निखिलाः पंडितराजाज्जगन्नाथात्।
नारायणस्तु दैवादल्पायुः स्वपुरीमगमत्।।'

अर्थात् पंडितराज जगन्नाथ से सब विद्याएँ प्राप्त करके नारायण भट्ट तो भाग्यवशात् थोड़ी ही अवस्था में स्वर्ग को सिधार गये।[१]

इसके अतिरिक्त भाषा कवि चिन्तामणि त्रिपाठी के छोटे भाई मतिराम और घनश्याम त्रिपाठी, मारवाड़ के राजा गजसिंह के पुत्र युवराज जसवन्तसिंह, राव छत्रसाल के पुत्र भावसिंह और राजा जयसिंह के पुत्र राजकुमार रामसिंह भी इनके शिष्य बताये जाते हैं।[२]

मुगल-दरबार में

पण्डित जगन्नाथ शाहजहाँ के आश्रित मुख्य हिन्दू संस्कृतज्ञ दरबारी कवि थे। उन्हें तत्कालीन युग के विद्वानों में सर्वाधिक भाग्यशाली कहा जा सकता है; क्योंकि अपनी युवावस्था में ही उन्होंने सकलशास्त्रसारावगाहिनी अपनी विमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के शक्रोपम वैभवशाली दरबार में सुरभारती के रसामृत को प्रवाहित कर उनकी कृपापात्रता प्राप्त कर ली थी[३] तथा उनसे पण्डितराज की उपाधि प्राप्त कर[४] उनके दरबारी कवि के रूप में, साहित्याराधना में रत रहते हुए अपनी अवस्था सुखपूर्वक व्यतीत की।

जहाँगीर का आश्रयत्व

रसगङ्गाधर में एक श्लोक है, जिसमें 'नूरदीन' का उल्लेख है।[५] नूरदीन शाहजहाँ के पिता 'नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर' का मूरा नाम था। इस श्लोक में

१. हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भू.प्र.आ, पृ.ण

२. समुद्रसंगम, व्यास, पृ.७२

३. 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः',शान्त वि.(भामि.वि.), श्लो.३२

४. '......श्री सार्वभौमसाहिजहाँनप्रसादाधिगतपण्डितरायपदवीविराजितेन', (आसफ वि, अन्तिम गद्यांश, पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह पृ.८५.)

५. 'श्यामं यज्ञोपवीतं तव किमिति मषीसंगमात् कुत्र जातः
सोऽयं शीतांशुकन्यापयसि कथमभूत्तज्जलं कज्जलाक्तम्
व्याकुप्यन्नूरदीनक्षितिरमणरिपुक्षोणिभृत्पक्ष्मलाक्षी-
लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरितां सर्वतः संगमेन।।' हिन्दी रसगङ्गाधर, तृ.भा, पृ.३६५

जहाँगीर के सैन्य व शौर्यबल की प्रशंसा की गई है। अतः इस आधार पर श्री वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, सुशील कुमार डे, आर्येन्द्र शर्मा, जे.बी. चौधरी, आदि विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि जगन्नाथ का दिल्ली-दरबार में प्रवेश तब हुआ, जब कि जहाँगीर दिल्ली का शासक था।[१]

यद्यपि जहाँगीर के राज्यकाल के कवियों की सूची में पण्डितराज जगन्नाथ का नाम नहीं मिलता[२] और डॉ. हरदत्त शर्मा के मतानुसार भी इस श्लोक में कवि ने अपने आश्रयदाता शाहजहाँ के पूर्वज (पिता) की प्रशंसा की है,[३] फिर भी श्लोक में वर्णित भाव के आधार पर व मुगल बादशाहों की स्वप्रशंसाकुल मनोवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसमें कवि ने अपने तत्कालीन आश्रयदाता जहाँगीर की प्रशंसा की है, शाहजहाँ की पूर्वज-प्रशंसा नहीं।

अतः इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि पण्डितराज ने आगरा में सर्वप्रथम किसी हिन्दू मनसबदार का संरक्षण प्राप्त किया होगा व उसी के माध्यम से जहाँगीर के राज्यकाल के अंतिम वर्षो में कुछ अवसरों पर दरबार में काव्य पाठ कर चुके होंगें, किन्तु बदलती राजनैतिक परिस्थितियों के कारण वहाँ पर स्थायी न हो पाये होंगें तथा उत्तराधिकार के लिए संघर्ष शुरू होने पर आगरा से प्रस्थान कर उदयपुरनरेश के यहाँ पहुँचे होंगें।

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट है कि पण्डितराज मुख्यतः शाहजहाँ के दरबारी कवि थे व उससे उन्हें पर्याप्त सम्मान भी प्राप्त हुआ; किन्तु जहाँगीर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षो में भी उन्हें मुगलदरबार में काव्यपाठ का अवसर मिला होगा।

आसफ खां की प्रियपात्रता

पण्डितराज को आसफ खां का भी आश्रय प्राप्त था; जो क्रमशः साम्राज्ञी नूरजहां के भाई व मुमताज महल के पिता, अतः जहाँगीर के साले व शाहजहाँ

---

१. जगन्नाथ पण्डित, रामास्वामी शास्त्री, पृ. १५ एवं २५; हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, एस.के.डे, पृ.२३१; पण्डितराजकाव्यसंग्रह, आर्येन्द्र शर्मा, भूमिका पृ.८-९; मुस्लिम पैट्रोनेज़ टू संस्कृत लर्निंग, जतीन्द्र विमल चौधरी, पृ.५१

२. बिब्लियोग्राफी ऑफ मुगल इण्डिया, श्रीराम शर्मा, अपेन्डिक्स३.

३. भामिनीविलास, हरदत्त शर्मा, भूमिका, पृ.८

के श्वसुर थे।[१] उनकी 'आसफविलास' आख्यायिका जो कि अपूर्ण रूप में उपलब्ध है, इसका प्रमाण है। आसफ खां स्वयं उत्कृष्ट विद्वान्, कलामर्मज्ञ व विद्वानों एवं कवियों का सम्मान करने वाले थे। जहाँगीर एवं शाहजहाँ दोनों के ही राज्यकाल में उन्हें शासनतन्त्र के परिचालन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[२] अत: एक आश्रयान्वेषी कवि का कलापारखी आसफ का आश्रय प्राप्त होना व उस कवि द्वारा अपने गुणी आश्रयदाता की प्रशंसा करना स्वाभाविक है। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के एक श्लोक में आसफ खाँ के निर्मल यश, विद्वत्ता तथा उदारता की भरपूर प्रशंसा भी की है।[३] पुनः 'आसफविलास' में इनकी प्रशंसा में साहित्यशास्त्रीय उपमानों की झड़ी लगा दी है।[४] अत: स्पष्ट है कि ये आसफ खां के भी प्रिय कृपापात्र रहे।

आसफ खाँ की मृत्यु सन् १६४१ में हुई।[५] उनकी मृत्यु पर भी पण्डितराज द्वारा उनकी प्रशस्ति में विरचित एक श्लोक रसगङ्गाधर में प्राप्त होता है।[६] इससे भी यही ज्ञात होता है कि इन्हें आसफ खाँ का आश्रय प्राप्त था।

आसफ खाँ की मृत्यु के उपरान्त भी ये मुगल दरबार में बने रहे व शाहजहाँ के राज्याश्रय का आनन्द उठाते रहे। उनकी अधिकांश साहित्यिक कृतियाँ 'रसगङ्गाधर', 'चित्रमीमांसाखण्डन', 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' इत्यादि सम्भवत: इसी समय रची गईं। पी.वी. काणे के अनुसार 'चित्रमीमांसाखण्डन' की एक प्राचीन पाण्डुलिपि की तिथि १६५२-५३ है।[७] इससे ज्ञात होता है

१-२. (क) मुगल सम्राट शाहजहाँ, पृ. ९, ४४, ६०-६१, २८८
(ख) मआसिरुल उमरा, भाग २, अनु. व्रजरत्नदास नागर, पृ. ४०२-४०८
(ग) हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर, बेनीप्रसाद, पृ. १६१-६२

३. 'सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्तिः।
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये॥' रसगङ्गाधर, द्वि.आ.प्र.भा, पृ. २४८

४. आसफ वि., चतुर्थ गद्यांश, पं.का.सं., पृ.८४

५. मुगल सम्राट शाहजहाँ, सक्सेना, पृ. ३३६ एवं शाहजहाँनामा, सम्पा., सिंह, राणावत, पृ. १७३

६. 'युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद्विनाशः।
इदं तु चित्रं भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्तिः॥' रसगङ्गाधर, द्वि.आ.द्वि. भा,पृ. ५३४

७. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे.पृ. ४००

कि रसगङ्गाधर व चित्रमीमांसा की रचना इससे पूर्व हो चुकी थीं; जबकि वे शाहजहाँ के दरबारी कवि के रूप में राज्याश्रय का आनन्दोपभोग उठा रहे थे।

उदयपुर-नरेश जगतसिंह का आश्रयत्व

पण्डितराज का एक काव्य 'जगदाभरणम्' उदयपुर के राणा जगत सिंह की प्रशंसा में विरचित है। इस आधार पर इनका इस राणा के राज्यकाल में कुछ दिन का निवास ज्ञात होता है। जगत सिंह का शासनकाल सन् १६२८ई. से १६५४ई. तक है। वह सन् १६२८ में गद्दी पर बैठा था।[१] अत: यह सम्भावना की जा सकती है कि जहाँगीर के पुत्रों में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ जाने पर पण्डित जगन्नाथ परिस्थितियों को सुचारु न समझ कर आगरा से प्रस्थान कर भ्रमण करते हुए उदयपुर-नरेश के यहाँ पहुँचे होंगें व वहाँ कुछ समय व्यतीत किया होगा। परिस्थितियों के अनुकूल होने पर मुगल दरबार में पुन: पहुँचे होंगें।

कूचबिहार (आसाम) प्रदेश में

पण्डितराज का एक खण्डकाव्य 'प्राणाभरणम्' है; जो कूचबिहार के राजा प्राणनारायण की प्रशस्ति में निबद्ध है। इसमें प्राणनारायण की शूरता, दयालुता, ओजस्विता, विद्वत्ता आदि की भरपूर प्रशंसा की गई है। इससे यह ज्ञात होता है कि इन्हें कुछ समय के लिए प्राणनारायण का भी राज्याश्रय प्राप्त था और ये उनके कृपापात्र रहे।

प्राणनारायण कूचबिहार के इतिहास में एक बहुत योग्य राजा के रूप में प्रसिद्ध है। उसने तैंतीस वर्षों तक सन् १६३३ से १६६६ई. तक शासन किया। वह बहुत महत्त्वाकांक्षी, बहादुर, नीतिनिपुण, योग्य व कुशल प्रशासक था। यह उसकी महत्त्वाकांक्षा का ही परिणाम था कि कूचबिहार करीब सात वर्षों तक स्वतन्त्र रह सका। यही कारण था कि सन् १६५७ में साम्राज्य पर भावी उत्तराधिकार के प्रश्न पर शाहजहाँ के पुत्रों में संघर्ष आरम्भ होने पर प्राण नारायण ने मुगल सत्ता से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपने राज्य को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था व कामरूप के मुगल फौजदार को, आक्रमण कर गौहाटी से बाहर खदेड़ दिया; लेकिन बंगाल का तत्कालीन गर्वनर मीरजुम्ला उसके इस विद्रोह से बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने प्राणनारायण पर आक्रमण किया, फलत: वह भूटान भाग गया। कुछ समय बाद लौटकर उसने मुगल सेना को राजधानी

१. मेवाड़ का इतिहास, प्रकाशक, हनुमन्त सिंह रघुवंशी, पृ. ३१३.

से भगा दिया व सन् १६६१ में पुनः राजा हो गया। उसने इस स्वतन्त्रता का उपभोग सन् १६६५ के लगभग तक किया।[१]

अतः उपर्युक्त सभी तथ्यों एवं तत्कालीन मुगल इतिहास व परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि सत्ता के संघर्ष में अपने हितैषी दारा के पराजित हो सैन्य संगठन व आश्रय के लिये इधर-उधर भटकने पर प्रतिकूल राजनैतिक परिस्थितियों के कारण वे दरबार से हट गये होंगें। पुनः दारा की हत्या कर व शाहजहाँ को कैद कर, औरंगजेब जब सिंहासनारूढ़ हो गया तो दारा के हितैषियों के प्रति उसकी कट्टरता स्वाभाविक थी। वैसे भी औरंगजेब हिन्दू धर्म, दर्शन व संस्कृति का कट्टर विरोधी था। इनके प्रति दारा के अनुराग से वह बहुत चिढ़ता था। पंडितराज दारा के हिन्दू गुरु व उसके परम हितैषी थे, अतः उनके प्रति उसकी कोपदृष्टि स्वाभाविक थी। फलतः यह सम्भावना की जा सकती है कि औरंगजेब के गद्दीनशीन होने पर वे उसकी कोपदृष्टि से बचने के लिए सुदूर आसाम पहुँचे होंगें व कूचबिहार के राजा प्राणनारायण का आश्रय लिया होगा। वहाँ से परिस्थितियों के अनुकूल होने पर बनारस लौटे होंगें।

अंतिम-अवस्था

पण्डितराज की अन्तिम अवस्था सम्भवतः बहुत सुखमय नहीं बीती। प्रतीत होता है कि प्राचीन वैभवमय राजसी आश्रय से दलित हमारे कवि को इसी समय अपने पैतृक नगर काशी के जातिवादी कट्टर ब्राह्मणों के द्वेष व तिरस्कार का भाजन होना पड़ा, जिसका कारण सम्भवतः उनका यवनीसंसर्ग रहा होगा। इसका प्रमाण हैं, उनकी वे दर्दभरी अन्योक्तियाँ, जिनमें इस विद्वेष या तिरस्कार की अभिव्यंजना हुई है। निम्नोद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्।'[२]

प्रारम्भ से ही मानसरोवर के, पूर्ण विकसित कमलपंक्तियों के गिरते हुए पराग से सुगन्धित जल में जिसने सारा जीवन बिताया, वही हंसकुलनायक आज

१. जगन्नाथपंडित, वी.ए.रामास्वामी शास्त्री, पृ. १८-१९
२. प्रास्ता.वि. श्लो. २

एकत्रित मेढ़कों की टर्र-टर्र कोलाहल से पूर्ण पोखरे के जल में कैसे रह सकता है? तुम्हीं कहो।

'कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलितानभिज्ञैः।
परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः।।'[१]

ऐ कमलिनी! (मकरन्द के मर्म से) अनभिज्ञ इन बगुलों द्वारा अपमानित होकर तू अपने चित्त को क्यों कलुषित कर रही है? परिपक्व मकरन्द के मर्म को समझने वाले वे भंवरे संसार में दीर्घजीवी हों (जो तेरा समादर करते हैं।)

'मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमग्नमनसां सहसा खलानाम्।
काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना-
मास्येषु धास्यसितमां कति नो विलासान्।।'[२]

ऐ मेरी वाणी! मात्सर्य में मग्नहृदय वाले दुष्टों के अचानक अपमान से दुःखी मत हो (क्योंकि) तू काव्यारविन्द के मकरन्द का पान करने वाले भौरों के मुख में कितने ही विलासों को नहीं धारण करेगी!

इसके अतिरिक्त अन्य कई अन्योक्तियों में भी इस अपमान की व्यंजना हुई है।[३] भामिनीविलास में भी उन्होंने कहा है कि दुराचारी जारजन्मा लोग चुरा लेगें, इस भय से मैंने अपने श्रेष्ठ पद्यों की यह मंजूषा बना दी है—

'दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा कृता मया।।'[४]

यह संग्रह भी उनकी अन्तिमावस्था का है, जबकि वे समस्त वासनाओं का परित्याग कर हरिचरणों की सेवा में रत थे।[५] स्पष्ट है कि उन्हें अपनी

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ८
२. शान्त.वि., श्लो. २८
३. प्रास्ता.वि., श्लो. ६, ९, ४४, ४९, ६० एवं शान्तवि., ४३, ४४
४. शान्त.वि., श्लो. ३३
५. वही, श्लो. ३२.

अन्तिमावस्था में अपने साहित्यिक विरोधियों के तिरस्कार व द्वेष का पात्र होना पड़ा।

किंवदन्तियाँ

पण्डितराज से सम्बन्धित कई किंवदन्तियाँ जनमानस में अत्यधिक प्रचलित हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे इन किंवदन्तियों के माध्यम से ही ज्यादा जाने जाते हैं। लेकिन प्रबुद्ध विद्वद्वर्ग में इनकी सत्यता और असत्यता को लेकर विभिन्न धारणाएँ प्रचलित हैं। अत: उनके जीवन परिचय के प्रसङ्ग में इन किंवदन्तियों की समीक्षा भी अनिवार्य है। इन किंवदन्तियों को प्रसङ्ग भेद से तीन वर्गों में विभक्त कर विवेचित किया जा सकता है—

१. मुगलसुन्दरी लवङ्गी से प्रणय-सम्बन्ध-विषयक किंवदन्तियाँ
२. अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित एवं हरि दीक्षित से सम्बन्धित वैमनस्य एवं समकालिकता विषयक किंवदन्तियाँ
३. विभिन्न नरेशों से सम्बन्धित किंवदन्तियाँ

१. मुगल-सुन्दरी लवङ्गी से प्रणयसम्बन्ध विषयक किंवदन्तियाँ

पण्डितराज के किसी लवङ्गी(लौंगी) नामक मुगल-सुन्दरी के प्रेमपाश में आबद्ध होने से सम्बन्धित कई किंवदन्तियाँ जनमानस में अत्यधिक प्रचलित हैं। विद्वानों में इनकी सत्यता को लेकर विभिन्न धारणाएँ हैं। कट्टर रूढ़िवादी पंडितों के अनुसार ये कथाएँ ऐतिहासिक सत्य मानी जाती हैं, जबकि आधुनिक विद्वान् इन्हें काल्पनिक कहकर अप्रामाणिक ठहराते हैं। ये किंवदन्तियाँ निम्नोद्धृत हैं—

(क) किंवदन्ती है कि पण्डित जगन्नाथ का विवाह भामिनी नामक एक अत्यन्त सुन्दरी व विदुषी कन्या से हुआ था। उनकी यह विदुषी पत्नी बहुत जल्दी ही रुग्ण होकर स्वर्ग सिधार गई। प्रिया पत्नी के शोकाघात से ये विक्षिप्त-से हो गये थे। उनकी ऐसी विक्षिप्त दशा देखकर उनके पिता पेरम भट्ट ने उन्हें 'बालात्रिपुरसुन्दरी' के षडक्षरी महामंत्र का उपदेश दिया और उनसे इस महामन्त्र का एक हजार पुरश्चरण करवाया। उनकी इस साधना से प्रसन्न होकर देवी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया तथा यह वर दिया—

'आकुरुदेशं विचरेः मा कुरु परिवादिनिर्जयेशशङ्काम् ।
स्वीकुरु वरमेकं मे व्याकुरु भो वत्स शास्त्राणि ॥'

शास्त्रार्थ में सर्वदा विजय प्राप्त करने के इस वर को प्राप्त कर उन्होंने यात्रा प्रारम्भ कर दी। सबसे पहले वे जयपुर पहुँचे। जयपुरपति राजा भगवानदास ने उनका बहुत सम्मान किया। वे अकबर की राजपूत रानी भानुमती के भाई थे। वहाँ उन्होंने एक विद्यालय खोला। उनके प्रबुद्ध शिष्यों के कारण उनकी व उनके विद्यालय की अत्यधिक ख्याति फैलने लगी। उस समय अकबर का राज्यकाल था। एक बार उनके दरबार में एक विद्वान् काजी आया। उसने इस्लाम की सर्वश्रेष्ठता घोषित करते हुए, सभी धर्मो के प्रतिनिधियों को इस पर शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। पण्डित जगन्नाथ की विलक्षण प्रतिभा को देखकर हिन्दू धर्म के प्रतिनिधित्व का उत्तरदायित्व उन पर सौंपा गया। उन्होंने अरबी, फारसी का अध्ययन कर इस्लाम धर्म के मूल तत्त्वों को भली-भांति समझ लिया।

शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ, जिसमें काजी ने इस्लाम का पक्ष लेते हुए उसे ही एकमात्र सही धर्म बतलाया—

इस्लाम ही मजहबे सही है। इस्लाम ही मजहबे कवी है।।
इस्लाम ही मजहबे इब्तदाई है। इस्लाम ही मजहबे आखरी है।।
इस्लाम ही मजहबे आम है। इस्लाम ही मजहबे काम है।।

पण्डित जगन्नाथ ने इस आक्षेप का उत्तर यह कहकर दिया कि यदु से यादव, अनु से म्लेच्छ व तुर्वसु से यवन पैदा हुए हैं। एक बार सगर ने अपने पिता का राज्य हरण करने वाले यवन को मारने की प्रतिज्ञा की। उस समय शक, यवन, काम्भोज, पारद, पल्लव आदि सभी एकत्र होकर कुलगुरु वशिष्ठ की शरण में गये। तब वशिष्ठ ने सगर से कहा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा सिद्ध करने के लिए मैंने यवनों से क्षात्रधर्म का परित्याग करा कर, उन्हें स्वतन्त्र धर्म में दीक्षित कर दिया है और हिन्दुओं तथा यवनों का पारस्परिक सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ दिया है; अत: उन्हें मत मारो। सगर ने वशिष्ठ की आज्ञा मान ली और उसी समय से यवनों ने इस्लामी धर्म की स्थापना करके अपने धर्मबन्धन स्वतन्त्र रूप से तय कर लिये। अत: सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म इस्लाम से प्राचीन है। पण्डितराज के इन प्रखर तर्कों के समक्ष काजी निरुत्तर हो गया और शास्त्रार्थ में उनकी जीत हुई। इससे समस्त भारत में उनका यश फैल गया। बादशाह अकबर भी उन पर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने पण्डितराज को अपना राज्याश्रय प्रदान किया। इस प्रकार पण्डितराज बादशाह अकबर के प्रशंसापात्र बन गये।

अकबर की भानुमती नामक राजपूत रानी से उत्पन्न लवङ्गी नामक कन्या थी। पण्डितराज की विद्वत्ता पर वह मुग्ध हो उठी थी। एक अवसर पर पण्डित

जगन्नाथ व बादशाह बैठकर बातें कर रहें थे, तभी बादशाह को प्यास लगी। बादशाह ने पानी मांगा। लवङ्गी ने सिर पर स्वर्ण झारी रखे हुए प्रवेश किया। मोहाविष्ट बादशाह ने उसका वर्णन करने के लिये पण्डितराज से कहा और पण्डितराज कह उठे—

'इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा कुसुम्भारुणं चारुचैलं दधाना ।
समस्तस्य लोकस्य चेतः प्रवृत्तिं गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति ॥
मुखं पङ्कजं लोचने खञ्जरीटौ कुचौ श्रीफले विद्युदेवाङ्गयष्टिः ।
यदि प्राणनाथेन हीना सुकेशी ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥'

इस वर्णन को सुनकर बादशाह बागबाग हो उठे। उन्होंने पण्डित जगन्नाथ से इच्छानुकूल याचना करने को कहा। मुगलसुन्दरी के रूपपाश में आबद्ध पण्डितराज उसे ही शहंशाह से माँग बैठे—

'न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी हस्तविन्यस्तकुम्भा लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गी करोतु॥
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता कुसुम्भारुणं चारु वासो वसाना।
अरं भासमानापि रम्भासमाना लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गी करोतु॥'

इस अप्रत्याशित याचना को सुनकर बादशाह आश्चर्य से स्तम्भित हो गये। उन्होंने उनके समक्ष एक साथ बैठकर भोजन करने की कठिन शर्त रखी। इस कठिन शर्त का निर्वाह करते हुए भी पण्डित जगन्नाथ ने अपनी काम्य वस्तु माँग ही ली और बादशाह ने वचनबद्ध होने के कारण अपनी उस कन्या को पण्डित जगन्नाथ को सौंप दिया।

रूढ़िग्रस्त कट्टर ब्राह्मण समाज इस बेमेल विवाह से अत्यन्त क्षुब्ध हुआ। उन्होंने इस दम्पत्ति का दाम्पत्य समाप्त करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में बनारस के वैयाकरण विद्वान् हरि दीक्षित का सहयोग लिया गया। अकबर की मृत्यु के बाद हरि दीक्षित दिल्ली पहुँचे। एक बड़ी सभा हुई, जिसमें जगन्नाथ को अपने विवाह को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए चुनौती दी गई। इसके अतिरिक्त उन्हें जाति बहिष्कृत भी कर दिया गया। अपने समाज के कट्टर विरोध से संत्रस्त कवि ने कई वर्ष दिल्ली के बाहर व्यतीत किये। इस अवधि में जहाँगीर ने उन्हें अपने दरबार में निमन्त्रित किया; किन्तु वे नहीं गये। इसके

बाद शाहजहाँ के राज्य-काल में उन्हें पुन: आमन्त्रित किया गया और एक बड़े दरबार में उन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि दी गई।[1]

समीक्षा

इस किंवदन्ती की समीक्षा करने पर इसमें आगत अधिकांश तथ्य तर्कसम्मत व विश्वसनीय नहीं लगते, जिनका विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

१. इस किंवदन्ती में पण्डितराज द्वारा 'बालात्रिपुरसुन्दरी' के महामन्त्र का जाप और देवी द्वारा उन्हें वरदान देने की बात कही गई है, किन्तु यह बात सत्य नहीं प्रतीत होती है। कारण, पण्डितराज ने अपने गुरु, पिता इत्यादि से विद्योपार्जन की बात स्वीकार की है, यदि उन्हें किसी देवी का वरदान प्राप्त होता, तो वे इसे अवश्य कहते; परन्तु उनकी रचनाओं में इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त एक तथ्य और द्रष्टव्य है कि पण्डितराज परम वैष्णव थे। वे भगवती भागीरथी और भगवान् कृष्ण के परम भक्त थे। उनकी लहरियाँ तथा शान्तविलास के कुछ श्लोक इसके प्रमाण हैं। यदि पण्डितराज को बालात्रिपुरसुन्दरी के प्रसाद से इतनी महनीय ख्याति प्राप्त हुई होती, तो इन लहरियों के समान वे अवश्य ही देवी की स्तुत्याराधना में प्रवृत्त होते व हमें बालात्रिपुरसुन्दरी की स्तुति में विरचित कुछ श्लोक या कोई स्तुतिलहरी अवश्य देखने को मिलती, किन्तु इस प्रकार की उनकी कोई रचना या इसका उल्लेख भी उनकी कृतियों में नहीं मिलता है। अत: यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि देवी द्वारा उन्हें वरदान प्रदान करने की बात केवल दन्तकथा मात्र है।

२. दूसरे, पण्डितराज को अकबर के काल में मानना उचित नहीं; क्योंकि उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि वे शाहजहाँ के राज्यकाल में थे और उन्हें मुख्यत: शाहजहाँ का राज्याश्रय प्राप्त था। इतिहास ग्रन्थ भी उनके शाहजहाँ का दरबारी कवि होने की पुष्टि करते हैं; जबकि अकबर के राज्याश्रय का उल्लेख न तो उन्होंने स्वयं किया है, न ही समसामयिक इतिहासकारों ने। यदि पण्डित जगन्नाथ अकबर के काल में इस्लाम मतानुयायी काजी को हरा, बादशाह की प्रशंसा प्राप्त करने वाले इतने प्रसिद्ध व्यक्ति थे

१. पण्डित जगन्नाथराय यांचे चरित्र आणि संगीत गंगालहरी, भाम्बुरकर के अध्ययन पर आधारित।

कि अकबर ने उन्हें अपनी कन्या सौंप दी, तो इस युगान्तरकारी घटना का 'आइने-अकबरी' में उल्लेख अवश्य होना चाहिए; किन्तु इस ग्रन्थ में भी इस घटना या जगन्नाथ पण्डितराज के बारे में कुछ जानकारी नहीं मिलती है। अतः पण्ड़ितराज का अकबर के राज्यकाल में होना असम्भव सिद्ध हो जाता है।

३. तीसरे, इस किंवदन्ती में अकबर के प्रशंसापात्र पण्डित जगन्नाथ को शाहजहाँ द्वारा 'पण्डितराज' की पदवी दिये जाने की बात वर्णित हुई है; किन्तु यह तथ्य भी सर्वथा अप्रामाणिक है। कारण, पण्डितराज के जीवन को इतना लम्बा कैसे माना जा सकता है कि वे अकबर के राज्यकाल (ई.सन् १५५६) से लेकर शाहजहाँ के राज्यकाल के उपरान्त (१६५८-७०ई.) तक जीवित रहे।

४. चौथे, मुस्लिम-संस्कृति प्रधान मुगल दरबार में किसी इस्लाम मतानुयायी के साथ किसी विधर्मी पण्डित के शास्त्रार्थ व उस शास्त्रार्थ में उस पण्डित के जीतने तथा बादशाह से सम्मान प्राप्त करने की घटना ऐतिहासिक है; किन्तु इस ऐतिहासिक घटना का इतिहासग्रन्थों में कोई विवरण नहीं मिलता है। अतः इस बात को भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता कि पण्डितराज का किसी काजी से शास्त्रार्थ हुआ था।

५. पाँचवें, यहाँ जयपुरपति राजा भगवानदास द्वारा पण्डितराज का सम्मान करने व उन्हें आश्रय देने की बात वर्णित है; किन्तु यह बात भी तर्कसंगत नहीं है। पण्डितराज ने अपने अन्य आश्रयदाताओं यथा दिल्लीश्वर जहाँगीर, शाहजहाँ व दाराशिकोह तथा प्राणनारायण व जगतसिंह की प्रशस्ति में काव्यरचना की है। यदि उन्हें जयपुरपति राजा भगवानदास का आश्रय प्राप्त होता, तो वे अपने इस प्रथम आश्रयदाता की प्रशस्ति में काव्यरचना अवश्य करते; किन्तु उनके द्वारा इस राजा की प्रशस्ति में रचित कोई प्रशस्ति छन्द नहीं मिलता है, अतः उनके द्वारा इस राजा का राज्याश्रय प्राप्त करने की बात काल्पनिक है।

६. इस किंवदन्ती में यह कहा गया है कि जयपुरपति राजा भगवानदास की बहन भानुमती अकबर की रानी थी, जिसकी पुत्री लवङ्गी थी; किन्तु यह बात भी इतिहाससम्मत नहीं है। ऐतिहासिक-ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आमेर के राजा राव भारमल कछवाह की पुत्री एवं युवराज भगवन्त दास की बहन के साथ बादशाह अकबर का विवाह ६ फरवरी, सन् १५६२ में हुआ था। इस राजकुमारी का नाम भानुमती नहीं वरन् हरखा(हरषा) था। इसी रानी के

गर्भ से शहजादा सलीम पैदा हुआ था, जो बाद में जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा।[१] यदि लवङ्गी को भी इसी रानी के गर्भ से उत्पन्न माना जाय, जैसा कि यहाँ वर्णित है, तो इस दृष्टि से शहजादी लवङ्गी शहजादा सलीम की सगी बहन सिद्ध होती है, जिसे स्वीकार करना सर्वथा असम्भव है। कारण, शाहजादे सलीम की कोई सगी बहन नहीं थी। वह अकबर का इकलौता पुत्र था।

७. सातवाँ तर्क यह है कि बादशाह अकबर ने मुगल शहजादियों का विवाह न करने की रीति चलाई थी। फलत: स्वयं उनके द्वारा अपनी कन्या लवङ्गी का किसी विधर्मी व्यक्ति से विवाह करना सर्वथा असंगत लगता है।

८. इन सबके अतिरिक्त इसमें वर्णित एक बात कुछ और विचित्र लगती है कि असीम वैभवशाली सम्राट् की पुत्री असंख्य दास-दासियों के रहने पर भी स्वयं मस्तक पर झारी रखकर एक अपरिचित व्यक्ति के समक्ष पानी लेकर आती और अकबर कैसा मदान्ध पिता था कि अपनी ही पुत्री की खूबसूरती पर कुछ सुनाने का आग्रह करता।

अत: उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि पण्डितराज अकबर के राज्यकाल में नहीं थे और न ही लवङ्गी किसी राजपूत रानी से उत्पन्न अकबर की कन्या थी; जिसका विवाह पण्डितराज के साथ हुआ था। इस आधार पर उपर्युक्त किंवदन्ती भी असत्य सिद्ध हो जाती है।

(ख) यही किंवदन्ती कुछ परिवर्तनों के साथ दूसरे प्रकार से भी प्रचलित है। इसमें अकबर बादशाह की जगह शाहजहाँ का नाम लिया जाता है व अनिंद्य सुन्दरी लवङ्गी को कहीं शाही कन्या और कहीं मुगल महलों के आश्रय में रहने वाली खास परिचारिका बताया जाता है। शेष कथा लगभग वही है कि पण्डितराज शहंशाह के साथ शतरंज खेल रहे थे; तभी बादशाह को प्यास लगी। जैसे ही उनके मुख से पानी शब्द निकला; उनकी खास परिचारिका लवङ्गी सिर पर झारी लिये उपस्थित हुई। पण्डितराज उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर हतप्रभ रह गये। वह बाला भी उन्हें मुग्ध हो निहारने लगी। तभी बादशाह की दृष्टि उस ओर गई और उन्होंने उसकी खूबसूरती पर कुछ सुनाने का आग्रह किया। पण्डितराज ने उसका सुन्दर चित्रण किया।[२] शहंशाह बाग-बाग हो उठे

---

१. राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास, सुखवीर सिंह गहलौत, पृ. ३५९

२. देखिये, प्रस्तुतग्रन्थ पृ. १५

और स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि पण्डितराज शहँशाह शाहजहाँ से लवङ्गी को ही मांग बैठे। बादशाह अवाक् रह गये। उनका ख्याल था कि काशी के संस्कृतज्ञ, विद्वान् ब्राह्मण पण्डितराज, मुगल महलों में लालित-पालित तथा मुस्लिम-संस्कृति से प्रभावित यवन कन्या लवङ्गी का छुआ जल तक न पियेंगें तो उसका वरण करने की बात ही दूर। बादशाह ने कई बातें पण्डितराज के सम्मुख रखीं व उन्होंने उसका उचित समाधान किया। कहा जाता है कि राजा की कोई जाति नहीं होती और ब्राह्मण को किसी की भी कन्या लेने का अधिकार है। अन्ततः शाहजहाँ ने अपने कौल के मुताबिक लवङ्गी पण्ड़ितराज को सौंप दी।[१]

इस मुगल कन्या के साथ उनके सम्बन्ध के उत्तरपक्ष को लेकर भी एक और किंवदन्ती अत्यधिक प्रचलित है, जो निम्नोद्धृत है—

शाहजहाँ के पुत्रों में सत्ता के लिए संघर्ष शुरू होने पर वैभवशाली सम्राट् स्वयं अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा बन्दी बना लिया गया और ज्येष्ठ शहज़ादे दारा की हत्या कर दी गई। औरंगजेब ने शासनसूत्र सम्भालते ही उस उदार नीति का अन्त कर दिया, जिसका प्रवर्तक सम्राट् अकबर था। अतः ऐसे माहौल में पण्डितराज के लिए शाही दरबार के दरवाजे बन्द हो गये। वे अपनी परिणीता यवनी पत्नी के साथ काशी लौटे। यहाँ कट्टर ब्राह्मण-समाज व अप्पय दीक्षित आदि उनके साहित्यिक विरोधियों ने यवनीसंसर्ग से दूषित कहकर उनका कड़ा विरोध किया। उन्हें लवङ्गी का परित्याग कर प्रायश्चित्त करने पर जाति में ले लेने का प्रस्ताव किया गया; किन्तु वे अपने समग्र यौवनकाल की सहचरी लवङ्गी का परित्याग किसी भी मूल्य पर करने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने म्लेच्छ तथा ब्राह्मण का भेद न स्वीकार करने वाली भगवती गङ्गा को साक्षी बनाकर अपनी पवित्रता की दुहाई दी। विद्वानों ने निर्णय दिया कि इस समय गंगा जी इस पञ्चगङ्गा घाट की ५२ पैढ़ियाँ नीचे बह रही है; यदि पण्डितराज अपने ब्राह्मणत्व के बल पर उन्हें ५२ सीढ़ी ऊपर बुला दें, तो उन्हें जाति में ले लिया जाय। पण्डितराज ने इसे स्वीकार कर लिया। लवङ्गी को गोद में बैठाकर उन्होंने भगवती गंगा को प्रणाम किया और उनकी स्तुति करनी आरम्भ की। उनके मुख से एक के बाद एक निकलते श्लोकों के साथ गंगा का नीर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ने लगा। असंख्य नर-नारी तट पर एकत्रित हो गये। बावन श्लोक समाप्त होने पर गङ्गा बावन सीढ़ियाँ चढ़ीं और उन्होंने कवि के चरण

१. 'विश्वमित्र' एवं 'सरिता' पत्रिका में प्रकाशित कथांश पर आधारित।

धो दिये। उसी समय कवि की यवनी नवनीत कोमलाङ्गी पत्नी ने अन्तिम तिरपनवाँ श्लोक कहा—

'सुरधुनि मुनिकन्ये पुण्यवन्तं पुनासि,
स तरति निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम्।
यदिह यवनजातां पापिनीं मां पुनासि,
तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम्॥'

श्लोक पूरा होते ही गङ्गा का नीर उमड़ने लगा और पण्डितराज तथा उनकी पत्नी को उसने सर्वाङ्गस्नान कराया। रुढ़िग्रस्त कट्टर ब्राह्मणों के मुँह काले पड़ गये।[1] कहीं यह भी कहा जाता है कि गङ्गा की लहरें पण्डितराज व उनकी पत्नी को अपने साथ बहा ले गईं।[2]

समीक्षा

इस किंवदन्ती के लवङ्गी याचना से सम्बन्धित अंश में सत्यांश सम्भव है, लेकिन गङ्गा के नीर को अपने ब्राह्मणत्व के बल पर ५२ सीढ़ियाँ ऊपर ले आने के, कवि के मानवेतर क्षमता के वर्णनपरक अंश को बिना किसी प्रमाण के बुद्धिगम्य व तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता।

(ग) इसी यवनी-संसर्ग से सम्बन्धित एक अन्य किंवदन्ती प्रचलित है। वह यह है कि पण्डितराज की यवनी पत्नी एक पुत्र को जन्म देने के बाद असमय स्वर्ग सिधार गईं। उसके विरह में अति दुःखित हो, वे दिल्ली छोड़कर काशी चले गये। वहाँ भी पण्डितों के अपमान से दुःखी होकर चैन नहीं पा सके और स्वरचित गङ्गालहरी का पाठ करते हुए, गंगा में कूद पड़े और डूब कर मर गये।[3] यह भी कहा जाता है कि उनका यह शोक अपने पुत्र की आकस्मिक मृत्यु से और द्विगुणित हो उठा था,[4] जिसके प्रमाणस्वरूप यह श्लोक उद्धृत किया जाता है—

'अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्
हा तनय! विनयशालिन्! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः॥'[5]

---

१. 'विश्वमित्र' एवं 'सरिता' पत्रिका में प्रकाशित कथांश पर आधारित।
२. भामि.वि., दादपे एवं आप्टे, परिचय, पृ. ७
३. जगन्नाथपण्डित, वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, पृ. १९-२०।
४. जगन्नाथपण्डित, वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, पृ. १९-२०.
५. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १५६.

समीक्षा

यह किंवदन्ती भी सत्य नहीं प्रतीत होती है। कारण, पण्डितराज जैसे स्वाभिमानी, पाण्डित्यगर्वी व दर्पोद्धत विद्वान् द्वारा आत्महत्या करने की बात सर्वथा असंगत व असत्य ही लगती है। पुनः पण्डितराज को पुत्रशोक होने के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसके समर्थन में जिस श्लोक को प्रस्तुत किया जाता है, वह 'रसगङ्गाधर' में 'करुणरस' के उदाहरण में आया हुआ श्लोक हैं,[१] उससे कवि के व्यक्तिगतशोकानुभव का पता नहीं चलता।

निष्कर्षात्मक समीक्षण

इन सभी किंवदन्तियों के वर्णन तथा इनके अतिवादी अंश की समीक्षा करने के उपरान्त इनके साररूप में मुख्य तत्त्व यह प्रकट होता है कि लवङ्गी नामक किसी यवनी के प्रणय से सम्बन्धित कुछ श्लोक पण्डितराज के नाम से प्रसिद्ध हैं।[२] इनके आधार पर यह कहा जाता है कि मुगल दरबार में निवास करते समय पण्डितराज का मुगल महलों में लालित-पालित लवङ्गी नामक किसी मुगलसुन्दरी से प्रणयसम्पर्क हो गया था; जिसके अनिंद्य सौन्दर्य से अभिभूत हो वे उसकी याचना कर बैठे, जिसके कारण कट्टर ब्राह्मण समाज ने इनका घोर तिरस्कार किया।

परन्तु विद्वानों को इन श्लोकों तथा इस आधार पर इस किंवदन्ती की प्रामाणिकता में सन्देह है। प्रो. पी. वी. काणे, डॉ. वी. राघवन् सरीखे विद्वानों ने तो उन पर इस प्रकार के आक्षेप को पूर्णतया काल्पनिक व झूठा बतलाया है। डॉ. काणे की धारणा है कि यह कथा 'उन लोगों ने उड़ाई है जो जगन्नाथ की तीव्र और कटु आलोचना से असन्तुष्ट थे।[३] इसी प्रकार डॉ. राघवन् ने इस प्रवाद को अप्रामाणिक व अविश्वसनीय बतलाते हुए तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं—

१. प्रथम तो, यवनी रमणी से सम्बन्धित ये श्लोक उनकी रचनाओं में नहीं पाये जाते;
२. दूसरे, 'करुणविलास' में संगृहीत श्लोक उनकी वैदिक विधि-विधानों से परिणीता वैध पत्नी की मृत्यु पर रचित प्रतीत होते हैं;

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १५६.
२. पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, आर्येन्द्र शर्मा, पृ. १९०.
३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ. ४००.

३. तीसरे, 'चिमनीचरित' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पण्डितराज के समय इस प्रकार का प्रेमसम्बन्ध शाहजहाँ के दरबार के एक सामन्त अलीवर्दी खान की पुत्री 'चिमनी' व एक अन्य ब्राह्मण पण्डित 'दयाराम' के साथ था।[1]

रामास्वामी शास्त्री के अनुसार भी चूँकि किसी मुस्लिम सौन्दर्य का प्रत्यक्ष उल्लेख उनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता, अत: उनका किसी यवन युवती से संसर्ग विषयक प्रवाद झूठा लगता है। उनकी धारणा है कि ये श्लोक उनके शत्रुओं द्वारा रचित हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. शास्त्री ने यह उल्लेख किया है कि शाहजहाँ ने कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम विवाहों पर रोक लगा दी थी; फलत: यह असम्भव लगता है कि उसने अपने आश्रित कवि जगन्नाथ का एक मुस्लिम युवती से विवाह करना सहन किया होगा।[2]

अत: उपर्युक्त विद्वानों के मतानुसार पण्डितराज का यवनी-संसर्ग मात्र लोकापवाद है। परन्तु उपर्युक्त सभी मतों का विश्लेषण करने पर ये सभी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते हैं। इनका विवेचन निम्नरूप में किया जा सकता है—

१. प्रथम, जहाँ तक यवनी-आसक्ति के अनुमापक श्लोकों का उनकी रचनाओं में पाये जाने का प्रश्न है, तो यह कोई दु:समाधेय बात नहीं है; क्योंकि सभी कवियों के सभी पद्य पुस्तकों में संगृहीत नहीं होते, उनके कुछ श्लोकों का फुटकर रह जाना भी स्वाभाविक है। फिर पण्डितराज की कुछ कृतियाँ आज भी सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं। 'आसफ-विलास' का मात्र सवा पृष्ठ का अत्यन्त संक्षिप्त गद्यांश व 'यमुना-वर्णन' की कुछ ही पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'रसगङ्गाधर' भी अपूर्ण है। पुन: डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में उनके नाम से रचित बताई जाने वाली ५६७ अन्योक्तियों व अन्य फुटकर श्लोकों का संकलन किया है। अत: इस आधार पर कि यवनी विषयक उल्लेख उनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता, इस किंवदन्ती को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता।

२. दूसरे, 'करुणविलास' में संगृहीत श्लोक उनकी वैदिक विधि-विधान से परिणीता पत्नी की ओर संकेत करते हैं, यह सत्य प्रतीत होता है; परन्तु इन श्लोकों को उनकी प्रथम पूर्व पत्नी की मृत्यु पर रचित शोकोद्गार माना जा सकता है। यहाँ उनकी जन्मतिथि का अनुमान सन् १५९०-९५ ई.

१. संस्कृत लिट्रेचर, वी. राघवन्, पृ. ९५.

२. जगन्नाथ पण्डित, वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, पृ. २१.

के मध्य किया गया है, जिसके अनुसार मुगल दरबार में प्रवेश के समय अर्थात् १६२२ ई. के आसपास वे २७-३२ वर्ष के मध्य रहे होंगे[१] व उस समय तक अवश्य ही उनका विवाह तथा प्रियाशोक हो चुका होगा। पत्नीशोक के अनन्तर ही इनका किसी यवन युवती से प्रणयसम्पर्क हुआ होगा। अतः 'करुणविलास' के श्लोकों के आधार पर भी इस किंवदन्ती के सार को नकारा नहीं जा सकता।

३. डॉ. राघवन् का यह कथन कि इस प्रकार का सम्बन्ध शाहजहाँ के सामन्त अलीवर्दी खान की पुत्री 'चिमनी' व एक अन्य ब्राह्मण पण्डित 'दयाराम' के साथ था, पण्डितराज के साथ नहीं, भी उचित नहीं प्रतीत होता है। कारण, यवनी-आसक्ति के अनुमापक जो श्लोक प्रसिद्ध हैं, उनमें स्पष्टतया लवङ्गी का नामोल्लेख है, चिमनी का नहीं। पुनः चिमनी शाहजहाँ के शक्तिशाली सामन्त 'अलहविर्दी खान तुर्कमान' के बड़े भाई 'मुखालिस खाँ' की पुत्री व 'अलहविर्दी खान' के बड़े पुत्र 'जफर खान' की वधू थी; 'अलहविर्दी खान' की पुत्री नहीं। उसका दयादेव शर्मा नामक ब्राह्मण से प्रणय सम्बन्ध था; पण्डित जगन्नाथ से नहीं।[२] पुनः परवधू होने के कारण 'न याचे गजालिं' कहकर उसकी याचना नैतिक दृष्टि से भी पण्डितराज जैसे उद्भट विद्वान् के लिये उचित नहीं थी। इसके अतिरिक्त इस प्रणय-सम्बन्ध को लेकर 'चिमनीचरित' नामक एक काव्यग्रन्थ की रचना भी हुई, जिसे सन् १६५९ में भट्टोजि दीक्षित के शिष्य एवं पण्डितराज के समकालीन नीलकण्ठ शुक्ल ने लिखा था,[३] जिनके साथ पण्डितराज का वैमनस्य गुरु-परम्परा को लेकर रहा होगा। यवनीसंसर्ग के कारण जनसामान्य ने नहीं, अपितु उनके साहित्यिक विरोधियों व कट्टर ब्राह्मण समाज ने उनका

---

१. देखिये, प्रस्तुतग्रन्थ, पृ. ५४,५५

२. (क) 'यासावासीदलहविरदीज्येष्ठबंधोस्तनूजा
भार्यात्वं चालहबिरदीज्येष्ठसूनोरयासीत्
याता ख्यातिं जगति चिमनीत्याख्यया या गवाक्षे
देवादेशात्क्वचिदथ दयादेवमेषा ददर्श।' चिमनीचरित, श्लो. ५२ उद्धृत, स्टडीज इन इण्डियन लिट्‌री हिस्ट्री, वाल्यूम सेकेन्ड, गोडे, पृ. ३३३

(ख) द हिस्टारिकल बैकग्राउण्ड ऑफ द चिमनीचरित, गोडे, वही, पृ. ३३०-३९

३. नीलकण्ठ शुक्ल, ए रोमान्टिक एण्ड पगनेशस् प्यूपिल ऑफ भट्टोजि दीक्षित एण्ड हिज वर्क्स, गोडे, स्टडीज इन इण्डियन लिट्‌री हिस्ट्री, वाल्यूम सेकेण्ड, पृ. ४६८-७५.

तिरस्कार किया था, जिसकी व्यंजना उनकी अन्योक्तियों[१] व श्लोकों[२] में दिखलाई पड़ती है। चिमनी व दयादेव के प्रेमसम्बन्ध का पता तो 'चिमनीचरित' से ही ज्ञात होता है। अतः पण्डितराज व लवङ्गी के प्रणय सम्पर्क को चिमनी व दयादेव के प्रेम का रूप देना उचित नहीं है।

४. डॉ. रामास्वामी शास्त्री का यह मत कि 'शाहजहाँ ने कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम विवाहों पर रोक लगा दी थी, अतः उनके द्वारा अपने आश्रयी कवि जगन्नाथ का किसी मुस्लिम युवती से विवाह करना पसंद नहीं किया गया होगा'; भी उचित नहीं लगता है। कारण, मुस्लिम युवतियों के साथ प्रणय सम्बन्ध १६वीं या १७वीं शती में भी कोई असामान्य बात नहीं थी। उदाहरणार्थ 'लोलम्बिराज', जो १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे, उनका 'रत्नकला' नामक मुस्लिम युवती से[३] तथा १७वीं शती में 'अलहविर्दी खान' की पुत्रवधू 'चिमनी' का 'दयादेव शर्मा' नामक ब्राह्मण से प्रणय सम्बन्ध था।[४]

इस समीक्षण के उपरान्त इन विद्वानों द्वारा दिये गये तर्कों के आधार पर इस किंवदन्ती के सार का पूर्णतया नकारा जाना असिद्ध हो जाता है।

डॉ. पी. के. गोडे ने इस किंवदन्ती में सत्यांश को खोजने की दृष्टि से दो विद्वतापूर्ण शोधनिबन्ध[५] लिखे हैं, जिनमें यवनीसंसर्ग विषयक किंवदन्ती की प्राचीनता का विवेचन किया गया है। उन्होंने 'गङ्गालहरी' पर शक संवत् १७५०=सन् १८२८ में लिखित सदाशिव की टीका की एक पाण्डुलिपि में इसका उल्लेख पाया है। चूँकि टीका की पाण्डुलिपि की तिथि सन् १८२८ है, तो इस आधार पर उनका अनुमान है कि यह किंवदन्ती निश्चय ही अठारहवीं शती के अन्त तक प्रचलित रही। पुनः इससे सम्बन्धित श्लोकों को उन्होंने 'गंगालहरी' पर लिखित दलपति राम की टीका की पाण्डुलिपि, जिसकी तिथि

---

१. प्रास्ता.वि. श्लो. २, ५, ६, ८, ९, ४४, ४९, ६०.

२. शान्त.वि. श्लो. २८, ३३, ४३, ४४.

३. लोलम्बिराज एण्ड हिज वर्क्स, पी.के. गोडे, स्टडीज इन इण्डियन लिट्ररी हिस्ट्री, वाल्यूम सेकेण्ड, पृ. ७९-९६.

४. द हिस्टारिकल बैकग्राउण्ड ऑफ द चिमनीचरित, वही, पृ. ३३०-३९

५. (क) द ट्रेडिशन एबाउट लीएजन् ऑफ जगन्नाथ पण्डितराज विथ ए मुस्लिम लेडी(यवनी) इज एट ए मिथ? स्टडीज इन इण्डियन लिट्ररी हिस्ट्री, वाल्यूम सेकन्ड, पृ. ४५२-५९; (ख) सम मोर रेफरेन्सेज टू जगन्नाथ पण्डितराज एण्ड हिज यवनी, राजस्थान भारती, भाग २, अंक १, पृ. ४५, सन् १९४८.

ई. सन् १८४३ है, में पाया है। दलपति राम की टीका की तिथि सन् १८०७ है। अतः इससे भी स्पष्ट है कि ये किंवदन्ती १८वीं शती के अन्त तक जनमानस में मुखर थीं।[1]

उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त उन्होंने सन् १८३१ में अच्युत राय द्वारा रचित 'साहित्यसार' पर लिखी गई 'सरसामोद' नामक टीका में भी पण्डितराज की यवनप्रेयसी का उल्लेख पाया है। पुनः सामराज अग्निहोत्रिन् की 'गंगालहरी' पर लिखी गई 'मोदिनी' नामक टीका की एक पाण्डुलिपि (रचनाकाल शक १७५८=ई. सन् १८३६) में भी पण्डितराज के यवनेशात्मजा संग का वर्णन है। इसी लेखक की एक अन्य कृति 'सहस्रचण्डीविधान' की एक पाण्डुलिपि की तिथि सन् १८१४ है, अतः इस आधार पर 'मोदिनी' नामक टीका में उल्लिखित किंवदन्ती तथा इस टीका की तिथि ई. सन् १८०० से पहले होनी सिद्ध होती है। हरिराम शिष्य की 'गंगालहरी' पर 'व्याख्यान' नामक टीका में (तिथि सन् १७८८ के बाद) भी ऐसा ही वर्णन है।[2]

डॉ. गोडे द्वारा अन्वेषित सभी उल्लेखों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज व लवङ्गी की प्रणयसम्बन्ध विषयक किंवदन्ती सन् १७८८ से वर्षों पहले ही प्रचलित हो चुकी थी। इस कारण इस किंवदन्ती को पूर्णतया काल्पनिक भी नहीं ठहराया जा सकता। कहा भी जाता है कि किंवदन्ती में सत्यांश अवश्य रहता है, चाहे उसकी मात्रा कितनी ही क्यों न हो।

प्राचीनता के आधार पर इस किंवदन्ती को सत्य सम्भव मानने के अतिरिक्त इस विषय में प्रचलित श्लोकों[3] की शैली से भी यही ज्ञात होता है कि ये श्लोक पण्डितराज द्वारा रचित हैं। पण्डितराज की शैली की एक बहुत बड़ी विशेषता उसका माधुर्य व प्रसाद गुण तथा सहज आनुप्रासिकता सम्पन्न व सङ्गीतात्मक ध्वनि से अनुपूरित होना है। यह आनुप्रासिकता भी अन्त्यानुप्रासमयी है। लवङ्गीविषयक इन श्लोकों की भाषा-शैली भी इन्हीं विशेषताओं से

---

१. द ट्रेडिशन एबाउट लीएजन् ऑफ जगन्नाथ पण्डितराज विथ ए मुस्लिम लेडी(यवनी) इज एट ए मिथ?, गोडे, उद्धृत, स्टडीज इन इण्डियन लिट्ररी हिस्ट्री, वाल्यूम सेकन्ड, पृ. ४५२-५९.

२. सम मोर रेफरेन्सेज टू जगन्नाथ पण्डितराज एण्ड हिज यवनी, राजस्थान भारती, भाग २, अंक १, पृ. ४५, सन् १९४८

३. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, पृ. १९०

संयुक्त है। फलतः ये श्लोक उनकी ही रचनाएँ सिद्ध होते हैं। इसके स्पष्ट विवेचन के लिये लवङ्गी विषयक इन श्लोकों की भाषा शैली व उनके द्वारा रचित अन्य श्लोकों की भाषा-शैली का निम्नोद्धृत तुलनात्मक विवेचन द्रष्टव्य है—

अन्य श्लोकों की भाषा-शैली

१. 'कलिन्दनगनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ॥'[१]

२. 'अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे
मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम् ॥'[२]

३. 'मृद्वीका रसिता सितासमशिता स्फीतं निपीतं पयः'[३]

४. 'तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरीगणे ॥'[४]

५. 'तव श्रोत्रे फुल्लोत्पलसकलसौभाग्यजयिनी।
सदैव श्रीनारायणगुणगणौघप्रणयिनी'[५]॥

६. 'सान्द्रामोदवतीः स्वकीयवसतीः पङ्केरुहाणां ततीः'[६]

७. 'सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा।
रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति'[७]॥

८. 'ततो मन्येऽरण्ये क्वचिदधिकपुण्येऽपि ललितां।
लवङ्गीमासङ्गी भजति नवभृङ्गीपरिवृढः'[८]॥

लवङ्गीविषयक श्लोकों की रचना-शैली

१. 'न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी हस्तविन्यस्तकुम्भा लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु ॥'[९]

२. 'इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता कुसुम्भारुणं चारुवासो वसाना।
अरं भासमानापि रम्भासमाना लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु ॥'[१०]

---

१. शान्त वि., श्लो. ३;
२. शान्त वि., श्लो. १।
३. वही, श्लो. ७;
४. प्रास्ता.वि., श्लो. ३।
५. लक्ष्मी लहरी, श्लो. ३६;
६. अव.अन्यो., श्लो. १७२।
७. करुण वि., श्लो. ६;
८. अव.अन्यो., श्लो. ४०।
९. वही, श्लो. ५८२;
१०. वही, श्लो. ५८३।

३. **'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीयं यदि नीयते कदाचित्।**
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः ॥'[१]

२. **'यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतमा नवनीतसमा।**
उहिऊहिवचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता ॥'[२]

पण्डितराज के भाषा उद्धरण के रूप में उद्धृत इन श्लोकों की भाषा-शैली में 'नन्दिनी-आलम्बिनी', 'चुम्बिनी-कादम्बिनी', 'रसिता-सिता-समशिता', 'स्फीतं-निपीतं', 'इन्दिरे-मन्दिरे-चन्दिरे', 'विलोचने-चकोरीगणे', 'जयिनी-प्रणयिनी', 'वती-वसती-तती', 'मनोऽभिरामा-रामा', 'लवङ्गी-आसङ्गी-नवभृङ्गी' में जैसा सानुप्रासिक भाषाप्रयोग व ध्वनिसाम्य दिखाई देता है; वैसा ही प्रयोग इन श्लोकों में 'गजालिं-वाजिराजिं', 'अरं भासमानापि-रम्भा-समाना', 'नवनी-माघवनी', 'यवनी-रमणी-शमनी', 'कमनीयतमा-नवनीतसमा', 'उहि-ऊहि', 'पूर्णमुखी-सुखी', 'लवङ्गी-कुरङ्गी-दृगङ्गी' में भी दिखाई देता है। अतः भाषा-शैली साम्य के आधार पर ये श्लोक इनकी ही रचना सिद्ध होते हैं। इस आधार पर इस किंवदन्ती के सत्य सिद्ध होने की सम्भावना अति प्रबल हो जाती है। इसके अतिरिक्त उनके कुछ श्लोकों से पण्डितों द्वारा उनका अपमान किये जाने की बात भी झलकती है।[३] इससे भी इस किंवदन्ती की पुष्टि होती है कि इस यवनी संसर्ग के कारण ही पण्डितराज को वृद्धावस्था में पण्डितों के तिरस्कार का भाजन होना पड़ा।

इस समस्त विवेचन के फलस्वरूप निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह सम्भव हो सकता है कि विलासिता के आगार मुगल दरबार में रहते हुए पण्डितराज का किसी मुगल रमणी से प्रणयसम्पर्क हो गया होगा और इसी सम्पर्क के फलस्वरूप उन्हें जातिवादी कट्टर ब्राह्मणों के आक्रोश का शिकार बनना पड़ा।

२. अप्पयदीक्षित,[४] भट्टोजि दीक्षित एवं हरि दीक्षित से सम्बन्धित वैमनस्य एवं समकालिकता विषयक किंवदन्तियाँ

पण्डितराज के अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित एवं हरि दीक्षित के वैमनस्य से सम्बन्धित कई किंवदन्तियाँ साहित्यिकों में अति प्रचलित हैं। इसके

---

१. अव.अन्यो., श्लो. ५८५; २. वही, श्लो. ५८६.

३. देखिये, पादटिप्पणी, पृ. १२(१-४)

४. लेखक का नाम विभिन्न रुपों में उपलब्ध होता है। यथा अप्प दीक्षित, अप्पय दीक्षित एवं अप्पय्य दीक्षित आदि। देखिए, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ. ३९३.

अतिरिक्त उन्होंने 'रसगङ्गाधर' एवं 'चित्रमीमांसाखण्डन' में अप्पय दीक्षित व 'मनोरमाकुचमर्दन' तथा 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' में भट्टोजि दीक्षित की कड़ी आलोचना की है। इस आलोचना में व्यक्तिगत आक्षेप तथा कटुता है। अतः इन सबको देखते हुए प्रायः यह सम्भावना की जाती है कि पण्डितराज व अप्पय दीक्षित तथा भट्टोजि दीक्षित समसामयिक थे, और इनमें परस्पर बड़ा कड़ा साहित्यिक विरोध था। इस कारण पण्डितराज के जीवन से सम्बन्धित इन किंवदन्तियों की समीक्षा तथा इन विद्वानों से उनके विरोध व समसामयिकता पर भी विचार करना आवश्यक है। इसे तीन भागों में बाँट कर विवेचित किया जा सकता है—

(क) अप्पय दीक्षित से वैमनस्य एवं समकालिकता विषयक किंवदन्तियाँ;

(ख) भट्टोजि दीक्षित से वैमनस्य व समकालिकता विषयक किंवदन्ती

(ग) हरि दीक्षित से वैमनस्य विषयक किंवदन्ती।

(क) अप्पय दीक्षित से वैमनस्य एवं समकालिकता विषयक किंवदन्तियाँ

कहा जाता है कि यवनीसंसर्ग के कारण अप्पय दीक्षित ने पण्डितराज का बड़ा तिरस्कार किया था और इन्हें जाति बहिष्कृत कर दिया था। इस किंवदन्ती की समीक्षा करने से पहले इस तथ्य का विवेचन आवश्यक है कि पण्डितराज अप्पय के समकालिक थे, अथवा नहीं। अप्पय के जीवनकाल के विषय में मुख्यतया दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। इनके अनुसार अप्पय का समय ई. सन् १५२० से १५९२ या १५५३ से १६२६ ई. के मध्य माना जाता है। इनमें प्रथम मान्यता के अनुसार तो अप्पय का पण्डितराज से किसी भी तरह का समकालत्व सिद्ध नहीं होता, इसके विपरीत द्वितीय मत स्वीकार करने पर यह ज्ञात होता है कि अप्पय जगन्नाथ से आयु में बहुत बड़े थे, फिर भी वे कुछ समय के लिये उनके समकालीन अवश्य रहे। किन्तु इस समकालिकता को वास्तविक सामयिकता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सामयिकता का वास्तविक तात्पर्य समान रचना काल से है। यहाँ पण्डितराज का प्रारम्भिक जीवन ई. सन् १५९० से १६२० ई. के मध्य निर्धारित किया गया है।[१] पुनः मुगल दरबार में उनका प्रवेश जहाँगीर के राज्यकाल के अन्तिम कुछ वर्षों में यानि सन् १६२२ के आस-पास सम्भव माना है। वहाँ भी वे स्थायी न हो पाये थे और कतिपय अवसरों पर ही उन्हें काव्यपाठ का अवसर मिला होगा। सन्

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ५४.

१६२७-२८ के लगभग वे उदयपुर के राणा के दरबार में स्थानान्तरित हो गये थे।[1] अत: उस समय तक उनका किसी यवनी से सम्पर्क होना सम्भव नहीं लगता। इस आधार पर अप्पय द्वारा पण्डितराज को यवनीसंसर्ग से दूषित कहकर जातिबहिष्कृत कर देने की बात भी स्वयमेव खण्डित हो जाती है।

इसके अतिरिक्त १६२०ई. तक विद्योपार्जन समाप्त करने वाले पण्डितराज के सन् १६२६ तक पूर्ण परिष्कृत विद्वान् के रूप में प्रस्थापित हो जाने तथा अप्पय के जीवित रहते ही रसगङ्गाधर की रचना कर उसमें उन पर कटाक्ष तथा साहित्यिक आलोचना करने के कारण में किसी पारस्परिक विरोध की कल्पना करने की बात भी असंगत लगती है। अत: इस आधार पर पण्डितराज व अप्पय दीक्षित के रचना काल की सामयिकता व उनमें किसी पारस्परिक विद्वेष की कल्पना तर्क व प्रमाणसम्मत नहीं है। किन्तु कुछ प्रमाण ऐसे प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर इन विद्वानों की परस्पर समकालिकता सिद्ध होती है। अत: इन प्रमाणों की सत्यता की परीक्षा आवश्यक है। इन्हें दो वर्गों में विभक्त कर विवेचित किया जा सकता है—

१. पण्डितराज व अप्पय की समकालीनता को सिद्ध करने वाले प्रमाण और २. इस समकालीनता को असिद्ध करने वाले प्रमाण।

१. पण्डितराज व अप्पय की समकालीनता को सिद्ध करने वाले प्रमाण

इस समकालिकता को सिद्ध करने वाले जो प्रमाण प्राप्त होते हैं; उन्हें निम्नलिखित रूप में विवेचित किया जा सकता है—

१. श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी जी ने 'हिन्दी रसगङ्गाधर' की भूमिका[2] में अप्पय दीक्षित के 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नामक ग्रन्थ के 'कुम्भकोण' वाले संस्करण की भूमिका में, भूमिका लेखक द्वारा उद्धृत दो ऐसे श्लोकों को प्रस्तुत किया है, जिससे पण्डितराज व अप्पय की समकालीनता पर प्रकाश पड़ता है। उनमें से पहला श्लोक जिसे उन्होंने काव्यप्रकाश की व्याख्या में नागेश भट्ट द्वारा लिखा बताया है, इस प्रकार है—

'दृप्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात्कुचं
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्यप्पयाद्यान् स्थितान्॥'

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ४९-५१; २. हिन्दी रसगङ्गाधर, भूमिका पृ. न-फ.

अर्थात् गर्वीले द्रविड़(अप्पय) के अत्यन्त दुराग्रह के कारण अति आवेश में आकर गुरुद्रोही भट्टोजि दीक्षित ने भरी सभा में बिना विचारे(पण्डितराज से) जो 'म्लेच्छ' यह शब्द कह दिया, उसे धैर्यनिधि पण्डितराज ने सत्य कर दिखाया; क्योंकि इतने अप्पयादिक विद्वानों के विद्यमान रहते हुए, उन्हें विवश करके उनकी मनोरमा(सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या) का कुचमर्दन(खण्डन) कर दिया। कहने का निष्कर्ष यह है कि जिसने उन्हें म्लेच्छ कहकर अपमानित किया, उसकी मनोरमा अर्थात् पत्नी का कुचमर्दन(स्तनमर्दन) कर सबके सामने उन्होंने अपनी म्लेच्छता का परिचय दे दिया।

दूसरा श्लोक 'बालकवि' द्वारा रचित बताया गया है, जिनको अप्पय दीक्षित के भाई के पौत्र नीलकंठ ने 'नलचरित' नामक ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित के समकालिक माना है। श्लोक निम्नोद्धृत है—

'यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता
भट्टोजिप्रमुखाः, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः।
पूर्वेऽर्धे चरमे द्विसप्ततितमस्याऽब्दस्य सद्विश्वजिद्
याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज्ज्योतिः सतां पश्यताम्॥'

अर्थात् अप्पयदीक्षित ने अपनी आयु के ७२वें वर्ष के पूर्वार्द्ध में, विश्वजित् यज्ञ करने के लिये, पृथ्वी के सब ओर घूमते समय भट्टोजि दीक्षित आदि सभी विद्वानों को पराजित किया और अन्त में उस ख्याति प्राप्त पण्डितराज जगन्नाथ का भी उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्द्ध में विश्वजित् नामक यज्ञ किया और चिदम्बर क्षेत्र में सभी सज्जनों के देखते हुए आप्तज्योति को प्राप्त हो गये।

इन श्लोकों से तो यही सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित व पण्डितराज समकालिक थे।

२. इसके अतिरिक्त पं. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय ने 'प्रास्ताविक अन्योक्ति-विलास' की अपनी भूमिका में पिंपुटकर के 'चितलेभट्टप्रकरण' के आधार पर अप्पय दीक्षित के समय के सम्बन्ध में एक सर्वथा नवीन प्रमाण दिया है। इसके अनुसार सन् १६५६ में काशी के 'मुक्तिमंडप' में सभा हुई, जिसमें महाराष्ट्र देवर्षि(देवरुखे) ब्राह्मणों को पंक्तिपावन सिद्ध किया गया और इस व्यवस्थापत्र पर अप्पय दीक्षित के हस्ताक्षर हैं, जो उस समय पंचद्राविड़ सभा के जातीय

सरपंच थे।[१] इस आधार पर भी अप्पय दीक्षित का सन् १६५६ तक जीवित होना सिद्ध होता है।

३. उपर्युक्त प्रमाणों के अलावा श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी ने 'हिन्दी रसगङ्गाधर'[२] एवं श्री जगदीश चन्द्र मिश्र ने 'चित्रमीमांसा'[३] की भूमिका में अप्पय दीक्षित के छोटे भाई अच्चन दीक्षित के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के कुछ ऐसे उद्धरणों को प्रस्तुत किया है, जिनसे अप्पय व पण्डितराज की समकालिकता पर प्रकाश पड़ता है। ये उद्धरण निम्नलिखित हैं—

(क) नीलकण्ठ दीक्षित ने स्वनिर्मित 'त्यागराजस्तव' में अप्पय दीक्षित के विषय में लिखा हैं—

'योऽतनुताऽनुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम्।।'

'जिन अप्पय दीक्षित ने छोटे भाई के पौत्र अर्थात् मुझको अनुग्रह करके, अपने समान ही प्रभावशाली बना दिया।'

इस उक्ति से यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ ने अप्पय दीक्षित से अध्ययन किया था।

(ख) नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने एक अन्य काव्य 'नीलकण्ठविजय' में अप्पय दीक्षित की वन्दना में वर्तमान काल का प्रयोग किया है—

'श्रीमानप्पयदीक्षितः स जयति श्रीकण्ठविद्यागुरुः'

इस काव्य को उन्होंने कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया बतलाया है—

'अष्टात्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम्।।'

ईसवी सन् के अनुसार यह समय १६३९ था, जो शाहजहाँ का राज्यकाल होने के साथ-साथ पण्डितराज का भी रचनाकाल है।[४] अतः ज्ञात होता है कि उस समय तक अप्पय दीक्षित जीवित थे।

---

१. प्रास्ताविक-अन्योक्ति विलास, जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, भूमिका, पृ. ४
२. हिन्दी रसगङ्गाधर, भूमिका, पृ. ब-भ
३. चित्रमीमांसा, भूमिका, पृ. १८-१९.
४. (क) चित्रमीमांसा, जगदीश चन्द्र मिश्र, भूमिका, पृ. १८-१९
(ख) हिन्दीरसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भू., पृ. ब-भ

२. पण्डितराज तथा अप्पय दीक्षित की समकालीनता को असिद्ध करने वाले प्रमाण

पण्डितराज तथा अप्पय दीक्षित की समकालीनता को सिद्ध करने वाले उपर्युक्त प्रमाणों के विपरीत डॉ. एन. रमेशन् ने अपनी पुस्तक 'श्री अप्पय्य दीक्षित' में इनकी समकालीनता को असिद्ध करने वाले कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं,[१] जिनसे इन विद्वानों की सामयिकता असत्य सिद्ध हो जाती है। इन्हें निम्नलिखित रूप में विवेचित किया जा सकता है—

१. डॉ. रमेशन् का पहला तर्क अप्पय दीक्षित के आश्रयदाता राजाओं की तिथियों के साक्ष्य पर आधारित है। अप्पय दीक्षित की कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें मुख्यत: चार राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। उनकी 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द' में करीब सात श्लोक ऐसे हैं, जिनमें राजा नरसिंह की प्रशस्ति वर्णित है। इसके अतिरिक्त श्री शिवानन्द यति ने 'अप्पय दीक्षितेन्द्रविजय' नामक ग्रन्थ में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि अप्पय दीक्षित द्वारा किये गये प्रथम वाजपेययज्ञ में राजा नरसिंह ने अपनी सेवाएँ प्रस्तुत की थीं। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि राजा नरसिंह का राज्यकाल १५४२ई. तक था। अत: इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि अप्पय का जन्म १५२०ई. के आसपास हुआ होगा। कारण, २० या २२ वर्ष की उम्र से पहले उनके द्वारा किसी यज्ञ की अधिष्ठातृता किये जाने की बात उचित नहीं लगती।[२]

उनके द्वितीय आश्रयदाता विजयनगर कर्नाटक के प्रसिद्ध राजपरिवार से सम्बन्धित 'चिन्नतिम्मराज' थे, जिन्होंने १५४२ई. से १५६८ई. तक शासन किया। इसने अप्पय को 'वेदान्तदेशिक' के 'यादवाभ्युदय' पर सन् १५५० के लगभग टीका लिखने को प्रेरित किया था। इसी ग्रन्थ की स्वरचित 'व्याख्यान' नामक टीका में अप्पय ने 'चिन्नतिम्म' के वंश की प्रशस्ति की है। उस समय अप्पय की अवस्था २५-३० वर्ष के मध्य रही होगी। इस आधार पर भी उनका जन्म १५२०ई. के लगभग सिद्ध होता है।[३]

अप्पय दीक्षित के तृतीय संरक्षक वेल्लूर के राजा 'चिन्नबोम्म' थे, जिनका शासनकाल १५४८ई. से १५७८ई. के मध्य है। इस राजा के संरक्षण में अप्पय

१. श्री अप्पय्य दीक्षित, डॉ. एन. रमेशन्, पृ. ११-३२.
२. वही, पृ. १८-१९.
३. वही, पृ. १९-२१.

ने अपने शैव ग्रन्थों का निर्माण किया और 'वेदान्तसूत्र' पर लिखे गये 'श्रीकण्ठाचार्य' के भाष्य पर 'शिवार्कमणिर्दीपिका' नामक टीका की रचना की, जिसके उपलक्ष्य में राजा द्वारा उनका कनकाभिषेक कराया गया।[१] उनके चतुर्थ संरक्षक वेङ्कटपति राय थे, जिनके संरक्षण में उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष बिताये और जिनका शासनकाल १५८५ई. से प्रारम्भ होता है।[२] इस तरह इन सभी राजाओं की तिथियों को देखते हुए डॉ. रमेशन् का अनुमान है कि अप्पय दीक्षित ने १५४०ई. से १५९०ई. या ९२ तक अपने जीवन के ५०या५२ वर्ष राज्याश्रय में व्यतीत किये। इसमें उनके विद्योपार्जन तक के अनुमानित २० वर्ष के समय को जोड़ने पर उनकी जन्मतिथि १५२०ई. के आस-पास सिद्ध होती है।[३]

नीलकण्ठ दीक्षित के अनुसार अप्पय ७२वर्ष तक जीवित रहे,[४] अतः उनका जीवन काल १५२०ई. से १५९२ई. के लगभग होना सिद्ध होता है, जो पण्डितराज के काल से पहले है।

२. डॉ. रमेशन् का दूसरा प्रमाण अप्पय दीक्षित के जन्मस्थान 'अद्यपालम्' में स्थित 'कालकण्ठेश्वर' मन्दिर में पाये गये शिलालेख पर आधारित है। इस शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि इस मन्दिर का निर्माण १५८२ई. में अप्पय दीक्षित द्वारा करवाया गया था। इसमें यह वर्णन है कि अप्पय दीक्षित के पिता महान् गुरु 'रंगराजमंखक' थे। अप्पय के कारण वेल्लूर के राजा 'चिन्नबोम्म' की ख्याति दूर-दूर तक फैली। उन्होंने 'श्रीकण्ठभाष्य' का पुनरुद्धार किया व शैवमत की पुनःस्थापना की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक टीका लिखी व करीब ५०० विद्वानों को इसे सिखाया। चिन्नाबोम्म ने उन्हें इस टीका की समाप्ति पर कनकाभिषेक(स्वर्ण स्नान) करवाया। उन्होंने 'न्यायरक्षामणि' व 'कल्पतरुपरिमल' सहित सौ से अधिक ग्रन्थ लिखे। इस शिलालेख पर अप्पय दीक्षित सहित छः अन्य साक्ष्यों के हस्ताक्षर हैं।[५]

---

१. श्री अप्पय्य दीक्षित, डॉ. एन. रमेशन्, पृ. २१-२२; २. वही, पृ. २२-२३।

३. वही, पृ. २३-२४।

४. कालेन शम्भुः किल तावतापि,
कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समाः प्रबन्धान्,
शतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः॥' वही, पृ. २५

५. वही, पृ. २५-२६।

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अप्पय दीक्षित १५८२ई. में जीवित थे व उस समय तक शैवाद्वैत से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिख चुके थे, सैकड़ों अनुयायियों को शिक्षित कर चुके थे, शैवसिद्धान्त की पुनः स्थापना व अद्वैत मत पर अत्यधिक जोर दे चुके थे। उन्होंने पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर ली थी व अपने आश्रयदाता की पर्याप्त कीर्ति का प्रचार कर चुके थे। इस प्रकार सन् १५८२ तक उनकी सत्ता शैवमत के पूर्ण परिष्कृत विद्वान् के रूप में स्थापित हो चुकी थी।

अतः डॉ. रमेशन् के अनुसार इस प्रमाण से भी अप्पय की जन्मतिथि १५२०ई. के लगभग प्रमाणित होती है; क्योंकि किसी व्यक्ति को पूर्ण ज्ञानार्जन करने में कम से कम २०वर्ष लगते हैं व उसके बाद ४० वर्ष उसे पूर्ण परिष्कृत विद्वान् के रूप में स्थापित होने में लगते हैं।[१]

३. डॉ. रमेशन् का तीसरा प्रमाण दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म व उसके आचार्यों के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तक 'प्रपन्नामृतम्' के विवरणांश पर आधारित है। इसके अनुसार ताताचार्य विजयनगर के राजा रामराय के धर्म गुरु थे; जिसने १५४२ई. से १५६७ई. तक शासन किया। एक बार रामराय गुरु को 'चन्द्रगिरि' नामक स्थान पर एकान्त में धार्मिक साधना हेतु ले गये। वहीं महाचार्य नामक धर्म गुरु ने आकर चित्रकूट 'चिदम्बरम्' मन्दिर में चोलराजा 'कृमिकंठ द्वितीय' के आदेश से बन्द कर दी गई भगवान् 'गोविन्दराज' की पूजा के पुनःस्थापन में, रामराय से सहायता माँगी। रामराय और ताताचार्य ने चिदम्बरम् के शैवों को हरा कर महाचार्य की प्रार्थना पूरी की। इस सम्बन्ध में पुस्तक में दो श्लोक भी उद्धृत हैं—

शैवशास्त्रविदां श्रेष्ठः श्रीमानप्पयदीक्षितः।
चित्रकूटे जितारातिरशोभत महायशाः॥
अद्वैतदीपिकाभिख्यं ग्रन्थमप्पयदीक्षितः।
चकार भगवद्वेषी शैवधर्मरतस्सदा॥
विधाय तातयाचार्यस्तत्पञ्चमतभञ्जनं।
श्रीरामानुजसिद्धान्तमव्याहतमपालयत्॥
महाचार्यो महातेजास्स कृत्वा चण्डमारुतम्।
अव्याहतं यतीन्द्रस्य तं सिद्धान्तमपालयत्॥

१. श्री अप्पय्य दीक्षित, डॉ. एन. रमेशन्, पृ. २५-२७.

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि महाचार्य व रामाचार्य दोनों ने अप्पय दीक्षित के कठोर तर्कों से रामानुज धर्म की रक्षा के लिये प्रत्युत्तर में प्रतिवाद लिखे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रामराय के समय अप्पय अपने तार्किक ग्रन्थों का प्रणयन कर चुके होंगे व शैवमत के प्रमुख स्तम्भ के रूप में जाने जाते होंगें। रामराय १५४२ई. से अपनी मृत्युपर्यन्त १५६५ई. तक शासक रहा और रामराय के गुरु ताताचार्य शताब्दी के ८०वें वर्ष में जीवित नहीं थे, क्योंकि सन् १५८५ में 'वेङ्कटपति' के अभिषेक समारोह में राजा का तिलक गुरु के पुत्र 'लक्ष्मीकुमार ताताचार्य' द्वारा किया गया था।[१]

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि रामराय जब विजयनगर का शासक था(१५४२ई.-१५६५ई.) उस समय अप्पय दीक्षित एक पूर्ण परिष्कृत विद्वान् के रूप में स्थापित हो चुके थे और यह समय उनकी मध्यायु का ही था। अत: इस साक्ष्य के आधार पर भी अप्पय का जन्मकाल १५२०ई. के लगभग सिद्ध होता है।

उपर्युक्त सभी साक्ष्यों के देखते हुए इन विद्वानों के रचनाकाल का सामयिक होना उचित नहीं लगता।

समीक्षा

पण्डितराज तथा अप्पय दीक्षित की समकालीनता को सिद्ध व असिद्ध करने वाले इन दोनों कोटियों के प्रमाणों को प्रस्तुत करने के पश्चात्, इनके विषय में विचार करने पर ज्ञात होता है कि इनमें प्रथम कोटि के प्रमाण प्रामाणिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इन्हें निम्नलिखित रूप में विवेचित किया जा सकता है—

१. 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' के कुम्भकोण वाले संस्करण के भूमिकाकार द्वारा प्रस्तुत किया गया वह श्लोक, जिसे उन्होंने काव्यप्रकाश की व्याख्या में आचार्य नागेश भट्ट द्वारा रचित बताया है और जिसमें भट्टोजिदीक्षित द्वारा पण्डितराज को म्लेच्छ कहने व पण्डितराज द्वारा स्वयं को म्लेच्छ कहने वाले की मनोरमा का कुचमर्दन कर अपनी म्लेच्छता को सिद्ध करने का वर्णन है, भी उचित नहीं प्रतीत होता है। कारण, इसमें प्रकारान्तर से पण्डितराज की ही प्रशस्ति वर्णित है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि नागेश भट्ट भट्टोजि दीक्षित की उस गुरु-परम्परा से सम्बद्ध थे, पण्डितराज जिसके कट्टर विरोधी थे। उन्होंने

१. श्री अप्पय दीक्षित, डॉ. एन. रमेशन्, पृ. २७-२८.

रसगङ्गाधर की टीका करते हुए अपनी इस गुरु-परम्परा के सम्मान को बनाये रखने हेतु यत्किंचित् प्रयत्न भी किया है। अत: उनके द्वारा अपनी गुरु-परम्परा के प्रवर्तक भट्टोजि दीक्षित को नीचा दिखाते हुए पण्डितराज की प्रशस्ति में श्लोक रचना किये जाने की बात असत्य लगती है। मुझे इस टीका को देखने का सुअवसर नहीं प्राप्त हुआ है, अत: मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि यह श्लोक इस टीका की सभी पाण्डुलिपियों में प्राप्त भी होता है या कि केवल उसी विशेष में, जिसका संकेत भूमिकाकार द्वारा किया गया है। जो कुछ भी हो, उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए इस श्लोक की सत्यता संदिग्ध लगती है।

२. इस सम्बन्ध में बालकवि द्वारा रचित बताये जाने वाले श्लोक के आधार पर इन विद्वानों की समकालीनता को सिद्ध करने वाला द्वितीय प्रमाण भी तर्कसंगत नहीं है। कारण, इसमें यह वर्णन है कि अप्पय दीक्षित ने विश्वजित् यज्ञ करने के लिये पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए भट्टोजि दीक्षित आदि विद्वानों पर विजय प्राप्त की। यहाँ यह तथ्य द्रष्टव्य है कि भट्टोजि दीक्षित अप्पय दीक्षित के प्रतिद्वन्द्वी नहीं अपितु उनके शिष्य थे। अपने ग्रन्थ 'तन्त्रसिद्धान्तदीपिका' में उन्होंने अप्पय की वन्दना भी की है,[१] अत: गुरु द्वारा शिष्य को पराजित करने की बात सर्वथा असंगत व अग्राह्य है। शिष्य तो गुरु की गुरुता से स्वयं ही नमित रहता है, उसे पराजित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुन: अप्पय की दिग्विजययात्रा उनकी आयु के ७२वें वर्ष में नहीं हुई थी।[२] अत: इस श्लोक के वर्ण्यभाव के ही गलत सिद्ध हो जाने पर श्लोक की प्रामाणिकता भी असत्य सिद्ध हो जाती है।

३. पिंपुटकर के 'चितलेभट्टप्रकरण' के आधार पर श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय की यह मान्यता कि अप्पय दीक्षित १६५०ई. तक जीवित थे, भी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती है। कारण, महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज ने 'काशी की सारस्वतसाधना' नामक ग्रन्थ में यह उल्लेख किया है कि 'वि. १६४० या सन् १५८३ई. में काशीस्थ पण्डितवर्ग ने देवरुख ब्राह्मणों के पंक्तिपावनत्व के विषय में व्यवस्थापत्र दिया था। इस व्यवस्थापत्र पर शेष श्रीकृष्ण के भी हस्ताक्षर थे।'[३] इस उल्लेख से तो यह स्पष्ट होता है कि देवरुख ब्राह्मणों के पंक्तिपावनत्व से सम्बन्धित सभा सन् १५८३ ई. में हुई थी, पिंपुटकर के

१. 'अप्पय्यदीक्षितेन्द्रानशेषविद्यागुरूनहं वन्दे।
यत्कृतिबोधाबोधौ विद्वदविद्वद्विभाजकोपाधी।।' उद्धृत, श्री अप्पय्य दीक्षित, एन. रमेशन्, पृ. ३०

२. वही, पृ. १३४-३६.

३. काशी की सारस्वतसाधना, गोपीनाथ कविराज, पृ. १४.

'चितलेभट्टप्रकरण' के अनुसार सन् १६५६ में नहीं। फलत: श्री शास्त्री द्वारा प्रस्तुत इस प्रमाण की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है।

४. जहाँ तक अप्पय दीक्षित के छोटे भाई अच्चन दीक्षित के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित द्वारा अप्पय दीक्षित का अनुग्रह प्राप्त करने व उनकी वन्दना में वर्तमान काल का प्रयोग करने का प्रश्न है, तो यह कोई दुःसमाधेय बात नहीं है। अप्पय दीक्षित का नश्वर शरीर जरूर विनष्ट हो चुका है, किन्तु उनका यश:शरीर अभी भी वर्तमान है, अत: उनके पोते द्वारा उनकी वन्दना में वर्तमान काल का प्रयोग किये जाने की बात कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। जहाँ तक नीलकण्ठ दीक्षित पर अप्पय द्वारा अनुग्रह किये जाने की बात है, तो इस विषय में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि नीलकण्ठ जब १२ वर्ष के थे, उस समय ७० वर्ष के वृद्ध अप्पय ने उन पर अनुग्रह किया था।[१] इससे ज्ञात होता है कि नीलकण्ठ दीक्षित अपनी अल्पायु में अप्पय द्वारा अनुगृहीत हुए। इससे पण्डितराज व अप्पय की समकालीनता पर प्रकाश नहीं पड़ता।

प्रथम कोटि के प्रमाणों के विपरीत इन विद्वानों की सामयिकता को असत्य सिद्ध करने हेतु डॉ. रमेशन् द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाण ऐतिहासिक व साहित्यिक साक्ष्यों पर आधारित होने के कारण अधिक विश्वसनीय हैं। इनमें आश्रयदाता राजाओं की तिथियों के आधार पर अप्पय के जीवन व रचनाकाल को निर्धारित करने वाला तथ्य सर्वाधिक प्रामाणिक है। पुन: 'अद्यपालम्' में मिले शिलालेख से भी स्पष्ट हो जाता है कि अप्पय सन् १५८२ई. तक एक पूर्ण परिष्कृत विद्वान् के रूप में प्रस्थापित हो चुके थे और उस समय तक उन्होंने सैकड़ों अनुयायियों को शिक्षित कर लिया था।

निष्कर्ष

इन ऐतिहासिक साक्ष्यों व शिलालेख के प्रमाण के आधार पर हम अप्पय्य की जन्मतिथि १५२०ई. के लगभग मानने पर बाध्य हो जाते हैं। पुन: साहित्यिकों में प्रचलित धारणा के अतिरिक्त नीलकण्ठ दीक्षित ने भी अप्पय्य का जीवनकाल ७२वर्ष का बताया है[२]। इसे देखते हुए उनके जीवनकाल को

१. श्री अप्पय्य दीक्षित, डॉ. रमेशन्, पृ. १३४

२. 'कालेन शम्भुः किल तावतापि
कलाश्चतुष्षष्टिमिता: प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समा: प्रबन्धान्
शतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः।।
(शिवलीलार्णव, नीलकण्ठ दीक्षित, उद्धृत, अप्पय दीक्षित, रमेशन्, पृ. २५)

१५२०-२२ ई. से १५९०-९२ के मध्य अनुमित किया जा सकता है और इसे स्वीकार करने पर पण्डितराज तथा अप्पय के प्रत्यक्ष विरोध की बात ही नहीं उठती है। फलत: यह किंवदन्ती खण्डित हो जाती है कि अप्पय ने पण्डितराज का तिरस्कार कर उन्हें जातिबहिष्कृत कर दिया था।

अन्य किंवदन्ती

पण्डितराज जगन्नाथ और अप्पय्य दीक्षित के विषय में एक अन्य किंवदन्ती प्रचलित है कि पण्डितराज वृद्धावस्था में अपनी यवनी प्रेयसी के साथ काशीवास कर रहे थे। एक समय गंगातट पर वह अपनी प्रिया के साथ चादर ओढ़े सो रहे थे। उनकी श्वेत शिखा शय्या के नीचे लटक रही थी। प्रभातकाल का समय था, संयोगवश अप्पय दीक्षित गंगास्नान के निमित्त उधर से निकले। एक वृद्ध मनुष्य को ऐसी स्थिति में देख कर उनके मुख से निकल पड़ा— ''किं नि:शङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ' अर्थात् अब तो मृत्यु निकट आ चुकी है, अत: इस शेष वय में निडर होकर क्यों सो रहे हो? इस पद्यांश को सुनते ही पण्डितराज ने मुँह खोलकर उनकी तरफ देखा तब पण्डितराज को पहचान कर अप्पय दीक्षित ने तुरन्त कहा—'अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी भवत:' अथवा सुख से सोओ, तुम्हारी रक्षा में भगवती जाह्नवी स्वयं विद्यमान हैं।[1]

समीक्षा

इस किंवदन्ती में सत्यांश का लेश भी नहीं है। कारण, यह श्लोक अप्पय दीक्षित का नहीं; अपितु स्वयं पण्डितराज द्वारा विरचित है। यह रसगङ्गाधर में 'आक्षेप' अलङ्कार के उदाहरण के रुप में उद्धृत है।[2] वहाँ दूसरी पंक्ति में 'अथवा सुखं शयीथा जननी जागर्ति जाह्नवी निकटे' यह पाठान्तर है। शान्तविलास में भी यह श्लोक संगृहीत है।[3] रसगङ्गाधर के प्रारम्भ में उन्होंने परकृत उदाहरणश्लोकों का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा भी की है।[4] भामिनीविलास में भी कहा है कि दूसरे दुष्ट जारजन्मा लोग इन श्लोकों को चुरा लेंगें, इस शङ्का से उन्होंने अपने पद्यों की मञ्जूषा बनाई है।[5] अत: सिद्ध हो जाता है कि—

१. हिन्दीरसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ. य-द

२. रसगङ्गाधर. द्वि.आ., पृ. ३९३

३. शान्त वि., श्लो. १९

४. रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो. ६, पृ. ७

५. शान्त वि., श्लो. ३३

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्'[१] की उद्घोषणा करने वाला व दूसरों के पद्यों को चुराने वालों को दुर्वृत्त और जारजन्मा कहने वाला, दूसरे के रचित श्लोक को अपने संग्रह में संगृहीत करे या उद्धृत करे यह सर्वथा अमान्य है। इस आधार पर यह किंवदन्ती भी असत्य हो जाती है।

(ख) भट्टोजि दीक्षित से वैमनस्य व समकालिकता विषयक किंवदन्ती

पण्डितराज ने 'मनोरमाकुचमर्दन' व 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' में भट्टोजि दीक्षित की कड़ी आलोचना की है। इसके अतिरिक्त किंवदन्ती भी है कि भट्टोजि दीक्षित ने विद्वानों की सभा में यवनीसंसर्ग के कारण पण्डितराज को 'म्लेच्छराज' की उपाधि दी थी। पण्डितराज ने इस अपमान का बदला लेने के लिये व उनके द्वारा दी गई इस उपाधि की सत्यता दिखाने के लिये भट्टोजि की मनोरमा(प्रौढ़ मनोरमा) का कुचमर्दन(खण्डन) किया।[२]

समीक्षा

इस किंवदन्ती के विषय में विचार करने पर यह सत्य सिद्ध नहीं होती। कारण, पण्डितराज ने 'मनोरमाकुचमर्दन' के प्रास्ताविक श्लोक में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि इस ग्रंथ की रचना उन्होंने गुरुद्रोहियों का द्रोह शान्त करने के लिये की है।[३] उनका यह भी स्पष्टीकरण है कि यद्यपि उनके गुरु शेषवीरेश्वर के पुत्र अर्थात् शेष श्रीकृष्ण के पौत्र द्वारा इस द्रोह का शमन किया जा चुका है; फिर भी वे अपनी बुद्धि के परीक्षार्थ उसका पुनर्निरीक्षण कर रहे हैं।[४] उनकी इस स्वीकारोक्ति से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना पण्डितराज द्वारा अपनी गुरु परम्परा के द्रोहियों का गर्व शान्त करने के निमित्त

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो. ६

२. हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ. न-प

३. 'लक्ष्मीकान्तपदाम्भोजं प्रणम्य श्रेयसां पदम्।
पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम्।।'

४. इह खलु केचिन्निखिलविद्वन्मुकुटमणिमयूखमालालालितचरणकमलानां गीर्वाणगुरुगौरवग्रा-समांसलमहिममण्डिताखण्डमहीमण्डलानां शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णाख्यपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनाः तेषु च पारमेश्वरपदं प्रयातेषु कलिकालवंशवदी भवन्तः तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशमाशयानवबोधनिबन्धनैः दूषणैः स्वयं निर्मितायां मनोरमायामाकुल्यकार्षुः। सा च प्रक्रियाप्रकाशकृतां पौत्रैरखिल-शास्त्रमहार्णवमन्थाचलायमानमानसानामस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां तनयैर्दूषिता अपि स्वमति-परीक्षार्थं पुनरस्माभिरपि निरीक्ष्यते। ....मनोरमाकुचमर्दन, पृ. १

हुई है, भट्टोजि दीक्षित द्वारा मलेच्छ की पदवी दिये जाने पर उस म्लेच्छता को सत्य सिद्ध करने के लिये नहीं। 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' की रचना का कारण भी उन्होंने अप्पय के दुराग्रह से मूर्च्छित बुद्धि वाले गुरुद्रोहियों के गर्व का शमन बतलाया है—

'अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान्'[१]

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों के निर्माण का कारण पण्डितराज व भट्टोजि दीक्षित का कोई परस्पर विरोध न होकर भट्टोजि दीक्षित द्वारा उस गुरुपरम्परा के प्रति द्रोह करना रहा है, जिससे पण्डितराज सम्बन्धित थे।

अब उपर्युक्त उद्धरणों में चर्चित गुरुद्रोह के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। इसका विवेचन निम्नलिखित है—

शेष श्रीकृष्ण काशी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। उनके शेषवीरेश्वर नामक पुत्र थे और भट्टोजि दीक्षित उनके शिष्य थे। शेष श्रीकृष्ण ने 'प्रक्रियाकौमुदी' पर 'प्रक्रियाप्रकाश' नामक टीका की रचना की थी। भट्टोजि दीक्षित ने भी 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा व उस पर 'प्रौढ़मनोरमा' नामक टीका लिखी। इस टीका में उन्होंने अपने गुरु शेष श्रीकृष्ण के 'प्रक्रियाप्रकाश' में उद्धृत विचारों की आलोचना की व इस गुरुपरम्परा का त्याग कर दक्षिण यात्रा के समय अप्पय का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था। पण्डितराज व उनके पिता उसी गुरुपरम्परा से सम्बद्ध थे, जिसका परित्याग भट्टोजि ने किया था। फलतः गुरु-अपमान से क्रुद्ध जगन्नाथ ने भट्टोजि की अच्छी खबर ली व उन्हें गुरुद्रोही कहकर ही सम्बोधित किया। इस प्रकार पण्डितराज का भट्टोजि के प्रति वैमनस्य का कारण उनका गुरुद्रोह ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अप्पय दीक्षित की भी कटु आलोचना की है, अतः इस आलोचना के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि भट्टोजि के इस गुरुद्रोह का परिणाम उनके पश्चाद्वर्ती गुरु अप्पय को भी भोगना पड़ा।

इस सम्बन्ध में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि उस समय शेष श्रीकृष्ण की इस गुरुपरम्परा व भट्टोजि दीक्षित की शिष्यमण्डली द्वारा परस्पर खण्डन प्रतिखण्डनात्मक ग्रन्थ लिखे जाते रहे। भट्टोजि दीक्षित द्वारा 'प्रौढ़मनोरमा' में शेष श्रीकृष्ण कृत 'प्रक्रियाप्रकाश' का खण्डन कर इस खण्डन-प्रतिखण्डन परम्परा का सूत्रपात किया गया था। तदनन्तर शेष श्रीकृष्ण के पौत्र व शेष

---

१. हिन्दीरसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ. प.

वीरेश्वर के पुत्र शेष चक्रपाणि ने 'परमतखण्डन' नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर भट्टोजि दीक्षित द्वारा उद्भावित दोषों का निराकरण कर, 'प्रक्रियाप्रकाश' के गौरव की रक्षा की। पण्डितराज ने भी 'मनोरमाकुचमर्दन' का प्रणयन कर अपनी गुरु परम्परा की श्रीवृद्धि की। भट्टोजि दीक्षित के पुत्र वीरेश्वर दीक्षित या भानुजी दीक्षित ने जिनका नामान्तर रामभद्राश्रम या रामाश्रम भी था, फिर भट्टोजि का समर्थन करते हुए 'मनोरमामण्डन' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।[१] इस क्रम में पुनः 'मनोरमाविमर्दन' का प्रणयन हुआ।[२] अतः अप्पय व भट्टोजि के प्रति जगन्नाथ पण्डितराज के क्रोध का कारण भट्टोजि दीक्षित द्वारा किया गया गुरुद्रोह ही था।

(ग) हरि दीक्षित से वैमनस्य विषयक किंवदन्ती

कहा जाता है कि नागेश भट्ट के गुरु प्रमुख वैयाकरण हरि दीक्षित एक बार दिल्ली के शाही दरबार में सम्राट् से पुरस्कारादि प्राप्त करने के उद्देश्य से गये। दरबार में जाने से पूर्व उन्होंने उस दरबार के प्रतिष्ठाप्राप्त पण्डित जगन्नाथ से व्याकरण पर शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। पण्डितराज ने इसे स्वीकार कर लिया और उन्हें दूसरे दिन दरबार में आने को कहा। लेकिन हरि दीक्षित की बुद्धिमत्ता व प्रतिभा से वे पूर्णतः परिचित थे। अतः उन्होंने एक अभिमंत्रित गंडा बाँध लिया। जैसे ही हरि दीक्षित ने दरबार में प्रवेश किया पण्डितराज ने प्रतिद्वन्द्वी अभ्यागत को गले लगाया। कहते हैं कि गले लगाने के बाद हरि दीक्षित पर जड़ता छा गई और उनकी सारी बुद्धि मानों लोप-सी हो गई। शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में ही वे बड़ी-बड़ी भूलें करने लगे। अन्ततः लज्जित होकर वे दरबार से चले आये। अपने निवास पर लौटकर जब उन्होंने अपने तर्कों पर विचार किया, तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। घोर निराशा में वे आत्महत्या करने की सोचने लगे; किन्तु रात्रि में उन्हें किसी देवी ने वरदान दिया कि कल तुम उनसे पुनः शास्त्रार्थ करने जाओ, तुम्हारी विजय होगी। दूसरे दिन देवी के वरदान से हरि दीक्षित ने पण्डितराज को हराकर विजयश्री का वरण किया।[३]

समीक्षा

इस किंवदन्ती में हरि दीक्षित का पुरस्कार पाने के उद्देश्य से दिल्ली जाना, पण्डितराज का अभिमंत्रित गण्डा बाँध लेना तथा हरि दीक्षित को गले

---

१. काशी की सारस्वत साधना, गोपीनाथ कविराज, पृ. ४९
२. जगन्नाथपण्डित, वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, पृ. ८.
३. भामि.वि., राधेश्याम मिश्र, भूमिका, पृ. २०.

लगाना, पुन: हरि दीक्षित को देवी का स्वप्न व वरदान इत्यादि बातें सर्वथा काल्पनिक लगती हैं। एक साथ इतनी काल्पनिक बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, अत: यह किंवदन्ती असत्य लगती है। फिर पण्डितराज स्वयं व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् थे, उन्होंने हरि दीक्षित के दादा भट्टोजि का प्रचुर खण्डन किया था। अत: उनके द्वारा हरि दीक्षित से अपने बचाव हेतु मंत्रित गण्डा बँधवाने इत्यादि की बातें कोरी काल्पनिक लगती हैं।

३. विभिन्न नरेशों से सम्बन्धित किंवदन्तियाँ

(क) किंवदन्ती है कि एक बार जयपुरनरेश मिर्जा राजा जयसिंह काशी यात्रा पर आये। पण्डित जगन्नाथ उस समय काशी में ही अध्ययन करते थे। वहाँ की विद्वन्मंडली में इनकी प्रतिभा एवं ओजस्विता को देखकर ये बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें काशी से जयपुर ले आये। इसका भी एक कारण था, वह यह कि दिल्ली के शाही दरबार में मुल्ला लोग राजपूतों पर आक्षेप करते हुए कहते थे कि 'आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं; क्योंकि जब परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को नि:क्षत्रिय कर दिया तो फिर आपके पूर्वज कैसे बचे'? दूसरे, यह कि 'अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है।' ये दोनों आक्षेप जयपुरनरेश को बराबर खटकते थे। अत: वे किसी ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् की खोज में थे, जो इन आक्षेपों का समुचित उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें वह प्रतिभा दिखाई दी, जिसके अन्वेषण में वे बहुत समय से थे। उन्होंने उनसे इन आक्षेपों के विषय में कहा। पण्डितराज ने उन मुल्लाओं को निरुत्तर करने का प्रण किया और जयपुरनरेश उन्हें अपने साथ ले आये। जयपुर आकर पण्डितराज ने कहा कि प्रथम आक्षेप का उत्तर मैं अभी ही दे सकता हूँ, परन्तु दूसरे आक्षेप का उत्तर देने के लिये मुझे अरबी भाषा का अध्ययन करना होगा। इस पर जयपुरनरेश ने उन्हें अरबी पढ़ने की अनुमति दे दी। आगरा में कुछ दिन रहकर इन्होंने अरबी भाषा का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। तदनन्तर जयपुरनरेश इन्हें शाही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने पहले आक्षेप का यह उत्तर दिया कि 'यदि पृथ्वी के नि:क्षत्रिय होने का अर्थ क्षत्रियों से सर्वथा रहित होने से लगाया जाय, तो पृथ्वी पहली बार ही नि:क्षत्रिय कर दी जाने पर २० बार फिर क्षत्रिय रहित कैसे की गई? अर्थात् पहली बार में ही सारे क्षत्रिय मर गये, तो पृथ्वी को २० बार नि:क्षत्रिय करने के लिये क्षत्रिय आये कहाँ से और २० बार फिर किसका संहार किया गया? यदि यह माना जाता है कि कुछ क्षत्रिय बच जाते होंगें, तो यह भी मानना होगा कि जब २० बार तक क्षत्रिय बचते

रहे तो २१वीं बार भी कुछ क्षत्रिय बचे रहे होंगे और वे ही बचे हुए क्षत्रिय इन राजाओं के पूर्वज हैं। दूसरे आक्षेप का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया कि—'ऐ मुल्लाओं! अरबी भाषा में लिखित तुम्हारी धर्म पुस्तक 'हदीस' में एक स्थान पर यह लिखा है कि—ऐ मुसलमानों! जैसा हिन्दू लोग मानते हैं, उसका उल्टा तुम्हें मानना चाहिए।' अतः इस बात से निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना से पहले हिन्दू-धर्मावलम्बियों का कोई धर्म था और धर्म बिना भाषा के उपनिबद्ध नहीं किया जा सकता, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दू-मतानुयायियों की कोई धार्मिक भाषा थी और वह भाषा संस्कृत के अतिरिक्त अन्य कोई हो नहीं सकती। इस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत भाषा अरबी भाषा से प्राचीन है।'

पण्डितराज के इन उत्तरों को सुनकर मुल्ला लोग अवाक् रह गये। गुणग्राही बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ, शाही दरबार में इनकी धाक जम गई तथा बादशाह ने इन्हें अपने यहाँ रख लिया।[१]

समीक्षा

इस किंवदन्ती को भी दो तर्कों के आधार पर सत्य नहीं माना जा सकता। पहला, पण्डितराज ने अपने अन्य आश्रयदाताओं का नामोल्लेख सहित भरपूर प्रशस्तिगान किया है। यदि उन्हें राजा जयसिंह से सम्मान व आश्रय मिला होता तो उनके द्वारा अपने इस प्रथम आश्रयदाता की प्रशस्ति में भी कोई श्लोक या रचना अवश्य रची गई होती। किन्तु उनकी ऐसी कोई रचना या श्लोक नहीं मिलता, अतः इस आधार पर राजा जयसिंह से सम्मान व आश्रय प्राप्त करने की बात सत्य नहीं लगती। दूसरे, ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम ११ वर्ष की अल्पायु में सन् १६२२ में आमेर की गद्दी पर बैठा था।[२] यहाँ पण्डितराज विरचित एक पद्य में नामोल्लेख सहित जहाँगीर की प्रशस्ति वर्णित होने के आधार पर मुगल दरबार में उनके अस्थायी प्रवेश को सन् १६२२ के आसपास अनुमित किया गया है।[३] अतः ११ वर्ष के अल्पायु वाले राजा जयसिंह का उस समय प्रतिभा की खोज में वाराणसी आना व पण्डितराज को मुल्लाओं के आक्षेप का उत्तर देने हेतु अपने साथ आगरा जाने की बात असंगत होने के कारण स्वयं ही असत्य सिद्ध हो जाती है।

१. हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ. द-न.

२. राजस्थान का इतिहास, गोपीनाथ शर्मा, पृ. ३७३.

३. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ४९-५५

(ख) काजी विषयक किंवदन्ती

कहा जाता है कि कर्नाटक के राजाओं से अपेक्षित सम्मान न मिलने पर पण्डित जगन्नाथ नाम व यश कमाने के लिये उत्तर भारत में चले आये। जयपुर में आकर उन्होंने अनेक पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराया और एक विद्यालय की स्थापना कर वहाँ शास्त्रों का अध्यापन करने लगे। उन्हीं दिनों एक काजी धर्म सम्बन्धी शास्त्रार्थ में समस्त पण्डितों को परास्त करता हुआ, वहाँ पहुँचा। पण्डितराज ने अल्प समय में अरबी, फारसी तथा मुसलमानों के मज़हबी ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके, काजी को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया। उसने दिल्ली जाकर बादशाह से इनकी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता की खूब प्रशंसा की। बादशाह ने इससे प्रभावित होकर उन्हें अपना आश्रय प्रदान कर दिया।[१]

समीक्षा

यह किंवदन्ती भी सत्य नहीं लगती है। कारण, पण्डितराज की स्वीकारोक्तियों से ज्ञात होता है कि उनके पिता व उन्होंने काशी में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी।[२] इसके अतिरिक्त काशी के सारस्वत साधना में संलग्न विद्वानों की सूची में इनका नाम भी परिगणित होता है;[३] अत: यह सिद्ध हो जाता है कि ये यद्यपि मूल रूप से दक्षिणी तैलङ्ग ब्राह्मण थे, लेकिन इनका पैतृक निवास काशी था। इस आधार पर नाम व यश कमाने की इच्छा से उनके दक्षिण से उत्तर आने व जयपुर में पाठशाला स्थापित करने की, किंवदन्ती में वर्णित बात काल्पनिक सिद्ध हो जाती है। पण्डित दुर्गाप्रसाद के अनुसार जयपुर के जगन्नाथ पण्डितराज जगन्नाथ से भिन्न एक अन्य कवि थे, जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और जयपुर नरेश सवाई जयसिंह द्वितीय के राज्याश्रित थे। इन्हें 'सम्राट् जगन्नाथ' के नाम से जाना जाता है। इनके वंशज जयपुर के निकट ब्रह्मपुरी में अब भी विद्यमान हैं। इन्होंने जयपुर नरेश के आदेश पर 'सिद्धान्तसम्राट्', 'सिद्धान्तकौस्तुभ' और 'रेखागणित' नामक ग्रन्थों की रचना सन् १७३१ के लगभग कर ली थी। राजा जयसिंह १६८८ई. में पैदा हुए थे और सन् १७०० में गद्दी पर बैठे थे। उन्होंने सन् १७१४ में 'अश्वमेध' यज्ञ करवाया था। सन् १७२८ में उनकी मृत्यु हुई थी।[४]

---

१. भामि.वि., एल.आर. वैद्य, भूमिका, पृ. २; २-३. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २,३.
४. भामि.वि., हरदत्त शर्मा, भूमिका.

३. मुगल दरबार से सम्बन्धित किंवदन्तियाँ

(ग) किंवदन्ती है कि पण्डित जगन्नाथ माँ गङ्गा की कृपा से प्रसिद्ध पण्डित हो गये। तब वे दिल्ली गये और सम्राट् के सम्मुख उन्होंने अपनी विपन्नावस्था का निम्नलिखित रूप से वर्णन किया—

'शीतार्ता इव संकुचन्ति दिवसा नैवाम्बरं शर्वरी
शीघ्रं मुञ्चति किं च हुतभुक्कोणं गतो भास्करः।
त्वं चानङ्ग हुताशभाजि हृदये सीमन्तिनीनां गतो
नास्माकं वसनं न वा युवतयः कुत्र व्रजामो वयम्॥'

इसे सुनकर सम्राट् से पण्डित जगन्नाथ को राज्याश्रय मिल गया। इस आधार पर यह भी कहा जाता है कि मुगलदरबार में प्रवेश से पूर्व वे अविवाहित थे।[1]

समीक्षा

यह किंवदन्ती भी सत्य नहीं लगती है। कारण, जिस ढंग से इसमें 'नास्माकं वसनं न वा युवतयः कुत्र व्रजामो वयम्' कहते हुए कवि द्वारा अपनी विपन्नावस्था का वर्णन किया गया है, उसके पण्डितराज जैसे उद्भट विद्वान् द्वारा कहे व रचे जाने की बात नैतिक दृष्टि से उचित नहीं लगती है। इसके अतिरिक्त इस वर्णन को सुनकर कोई सम्राट् उस कवि की विपन्नावस्था पर दयाकर कुछ द्रव्य दे सकता है, लेकिन राज्याश्रय नहीं प्रदान कर सकता। राज्याश्रय तो उसके पाण्डित्य से ही प्रभावित होकर दिया जा सकता है। पुनः ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पण्डित जगन्नाथ को २२ रबी-उस्-सानी अर्थात् ५ अक्टूबर, १६३४ को 'कविराय' की उपाधि दी गई थी।[2] अतः १५९०ई. से १६२०ई. के मध्य अपना प्रारम्भिक जीवन व्यतीत करने वाले पण्डित जगन्नाथ के १६२२-३४ई. के मध्य तक अविवाहित रहने की बात तर्कसंगत नहीं है। इन सब तथ्यों को देखते हुए यह किंवदन्ती भी असत्य सिद्ध हो जाती है।

(घ) अब्दुर्रहीम ख़ानखाना से सम्बन्धित किंवदन्ती

मुगल दरबार में अत्यधिक प्रतिष्ठापूर्ण खानखाना की पदवी प्राप्त तथा प्रधान सेनापति एवं 'वकील मुतलक' के उच्चतम पदों को सुशोभित करने

---

१. भामि.वि., हरदत्त शर्मा, पृ. ६; २. शाहजहाँनामा, सम्पा., सिंह, राणावत, पृ. ९१-९२.

वाले प्रसिद्ध कवि रहीम एवं पण्डितराज से सम्बन्धित एक किंवदन्ती भी प्रचलित है।

कहते हैं कि एक बार जगन्नाथ त्रिशूली ने अपने युग के तथाकथित महापुरुषों पर यह श्लोक लिखा—

'प्राप्य चलानधिकारान् शत्रुषु मित्रेषु बन्धुवर्गेषु।
नापकृतं नोपकृतं न सत्कृतं किं कृतं तेन॥'

अर्थात् राज्याधिकार प्राप्त कर लेने पर जिसने शत्रु, मित्र और बन्धुजनों का क्रमश: अपकार, उपकार और सत्कार न किया तो किया क्या? इस पर सतत परोपकारी रहीम ने तुरन्त श्लोक को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया—

'प्राप्य चलानधिकारान् शत्रुषु मित्रेषु बन्धुवर्गेषु।
नोपकृतं नोपकृतं नोपकृतं किं कृतं तेन॥'

अर्थात् राज्याधिकार प्राप्त कर, शत्रु, मित्र और बन्धु सभी का उपकार न किया, तो उसने क्या किया?[१]

समीक्षा

यह किंवदन्ती सत्य हो सकती है। कारण, अब्दुर्रहीम खानखाना मुगल दरबार से ही सम्बन्धित उच्चपदस्थ अधिकारी थे और पण्डितराज भी उसी दरबार के आश्रयान्वेषी कवि थे। खानखाना की मृत्यु मार्च-अप्रैल १६२७ई. के लगभग हुई थी।[२] यह काल जहाँगीर का राज्यकाल था। अत: किंवदन्ती में वर्णित यह घटना सन् १६२२ से १६२७ के मध्य की ही लगती है, जबकि पण्डितराज मुगल दरबार में स्थायी आश्रय पाने के प्रयास में रत थे। सम्भवत: इसी क्रम में उनका कलापारखी एवं स्वयं उच्चकोटि के कवि रहीम से सम्पर्क हुआ होगा।

(ङ) मुगल सम्राट् के आश्रय से सम्बन्धित किंवदन्ती

कहा जाता है कि पण्डितराज जब दिल्ली दरबार में दरबारी कवि रूप में शाही ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए साहित्यसर्जना में रत थे, उस समय उन्हें किसी अन्य नरेश ने अपने आश्रय में रहने का निमंत्रण दिया। इस आमंत्रण पर पण्डितराज ने यह उत्तर भेजा कि—

१. भारतीय नीति काव्य परम्परा और रहीम, डॉ. बालकृष्ण अकिंचन, पृ. २२७.
२. वही, पृ. २०७.

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथं पूरयितुं समर्थः ।

अन्यैः नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्याल् लवणाय वा स्यात् ॥'

अर्थात् दिल्लीश्वर या जगदीश्वर ही उनके मनोरथों को पूरा करने में समर्थ हैं। अन्य राजाओं द्वारा दिया गया द्रव्य तो मात्र शाक या लवण के लिये ही उपयुक्त है।[१]

समीक्षा

यह किंवदन्ती भी सत्य नहीं लगती है। अधिक सम्भव तो यही है कि उन्होंने दिल्लीश्वर की प्रशंसा में ही यह कहा होगा।

पण्डितराज का समय

पण्डितराज ने अपनी रचनाओं में दिल्लीश्वर,[२] दिल्लीनरपति,[३] दिल्लीधरावल्लभ,[४] दिल्लीवल्लभ[५] आदि उपाधियों के अतिरिक्त पाँच आश्रय-दाताओं का स्पष्टतया नामोल्लेख किया है व उनकी प्रशस्ति में काव्यरचना की है।[६] इससे इतना तो स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि पण्डितराज इन राजाओं के समय में विद्यमान थे और इनके सम्पर्क में भी रहे। इन राजाओं का राज्यकाल इतिहासकारों द्वारा असंदिग्ध रूप में निर्णीत है—

१. नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर — (शासन सन् १६०५ से १६२७ई.)
२. शाहजहाँ — (शासन सन् १६२८ से १६५८ई. तक)

---

१. भामि.वि., एल.आर. वैद्य, भूमिका, पृ. ३
२. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, पृ. १९०, श्लो. ५७९
३. वही, पृ. १०६, श्लो. २१२
४. वही, पृ. ११२, श्लो. ५; पृ. ११४, श्लो. १५
५. वही, पृ. ७८, श्लो. ३२
६. (क) वही, पृ. २००, श्लो. ९५=नूरदीन जहाँगीर
(ख) वही, पृ. ८३ प्रथम परिच्छेद, पृ. ८५ अंतिम परिच्छेद, पृ. १०१, श्लो. १५०(शहाबदीन-शाहजहाँ)
(ग) आसफविलास, पं.का.सं., पृ. ८३-८४, पृ. १०२, श्लो. १६३; पृ. २०१, श्लो. १००
(घ) जगदा. पं.का.सं., श्लो. २, ५, २३, ५३
(ङ) प्राणा. पं.का.सं., श्लो. २, ५, १५, २३, ३३, ५३.

३. आसफ खाँ — (नूरजहाँ का भाई, शाहजहाँ का श्वसुर, मुमताज महल का पिता व सर्वश्रेष्ठ सामन्त जो सन् १६४१ई. में मरा)

४. उदयपुर के राणा जगतसिंह — (सन् १६२८ से १६५४ई.)

५. कामरूप के राजा प्राणनारायण — (सन् १६३३ से १६६६ई.)

इसके अतिरिक्त एक स्फुट पद्य में नेपाल के किसी अनाम नरेश का भी उल्लेख है।[१] पण्डितराज शाहजहाँ के आश्रित मुख्य हिन्दू संस्कृतज्ञ दरबारी कवि थे। उससे उन्हें पूर्ण सम्मान व राज्याश्रय प्राप्त था तथा 'पण्डितराज' की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। अत: यह कहा जा सकता है कि 'दिल्लीश्वर' इत्यादि की उपाधियाँ मुख्यत: शाहजहाँ की ओर संकेत करती हैं। 'दिल्लीधरावल्लभ:' से शाहजहाँ के सबसे बड़े पुत्र युवराज दाराशिकोह का संकेत भी माना जा सकता है; क्योंकि वह सामान्य जनवर्ग में अधिक लोकप्रिय था।

इन सभी आश्रयदाताओं की तिथियों के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि पण्डितराज का राज्याश्रय में व्यतीत साहित्य-रचनाकाल १६२२ई. से १६६५ई. के मध्य रहा।

अकबर के राज्याश्रयी होने का खण्डन

कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि पण्डितराज अकबर के राज्यकाल में भी विद्यमान थे व उनकी कृपापात्रता भी उन्हें प्राप्त थी।[२] परन्तु यह धारणा पूर्णतया निरर्थक है। अकबर के राज्यकाल से सम्बन्धित इतिहास ग्रन्थों तथा कवियों की सूची में इनका नाम कहीं पर भी नहीं प्राप्त होता। अकबर के जीवन से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आइने-अकबरी' भी इस सम्बन्ध में मौन है। आन्तरिक प्रमाण व इतिहास ग्रन्थ भी यह दिखलाते हैं कि उन्हें शाहजहाँ से पूर्ण सम्मान व राज्याश्रय प्राप्त था। दाराशिकोह की कृपा व प्रियपात्रता भी उन्हें प्राप्त थी। एक तथ्य और है कि उनके जीवन काल को इतना दीर्घ कैसे माना जा सकता है कि वे अकबर के राज्यकाल (सन् १५५६) से लेकर शाहजहाँ के राज्यकाल (१६५८ई.) के उपरांत भी १६७०ई. के लगभग तक जीवित रहे?

---

१. पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ. २०१, श्लो. १०२

२. पण्डित जगन्नाथराय यांचें चरित्र आणि संगीत गंगालहरी, रामराव मार्तण्ड भांबुरकर, भामि.वि., दादपे एवं आप्टे।

जहाँगीर का आश्रयत्व

रसगङ्गाधर में एक श्लोक है, जिसमें नूरुद्दीन के सैन्यबल की सुन्दर प्रशस्ति वर्णित है।[१] वस्तुत: नूरदीन शाहजहाँ के पिता नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर का पूरा नाम है। इस आधार पर विद्वानों ने मुगल दरबार में उनका प्रवेश जहाँगीर के राज्यकाल के अंतिम कुछ वर्षों में माना है।[२] इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि शाहजहाँ के राज्यारोहण के प्रारम्भिक कुछ वर्षों की अपेक्षा साहित्य व कलामर्मज्ञ आसफ खाँ के प्रभाव से जहाँगीर के राज्यकाल में साहित्यिक प्रतिभाओं के राज्याश्रय प्राप्ति की अधिक अच्छी परिस्थितियाँ थीं।[३] इसी आधार पर डॉ. रामास्वामी शास्त्री ने मुगल दरबार में उनके प्रवेश को सन् १६२२ से पहले सम्भव माना है, जबकि साम्राज्ञी नूरजहाँ का एकछत्र प्रभाव समाप्ति पर था।[४]

इस सम्बन्ध में डॉ. हरदत्त शर्मा का मत अलग है। उनके अनुसार इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता शाहजहाँ के पिता की कीर्तिप्रशंसा की है। वे इस बात को असम्भव-सा मानते हैं कि जगन्नाथ ने इतनी लम्बी उम्र पायी कि वे तीन पीढ़ियों(जहाँगीर, शाहजहाँ, दाराशिकोह) के राज्याश्रय का आनन्दोपभोग करते रहे।[५] इसके अतिरिक्त इतिहास-ग्रन्थों के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि पण्डितराज शाहजहाँ के राज्याश्रित मुख्य हिन्दू संस्कृतज्ञ कवि थे।[६] जहाँगीर के राज्यकाल के इतिहास-ग्रन्थों व कवियों की सूची में उनका नाम नहीं मिलता।[७]

इन सभी तथ्यों को देखते हुए इस मत का पुनर्विवेचन आवश्यक है कि पण्डितराज जहाँगीर के राज्यकाल में मुगल दरबार में प्रवेश पा चुके थे या कि केवल इस श्लोक में उन्होंने अपने आश्रयदाता के पिता की प्रशंसा की है—

१. प्रथम तो, श्लोक के भाव को देखने से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कवि ने इसकी रचना अपने आश्रयदाता के पूर्वजों की प्रशंसा के उद्देश्य से की

---

१. हिन्दी रसगङ्गाधर, तृ.भा., चतुर्वेदी, पृ. ३६५
२. देखिये, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ७,८
३. जगन्नाथ पण्डित, वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, पृ. १५
४. वही, पृ. २५
५. भामि.वि., हरदत्त शर्मा, भूमिका, पृ. ८
६-७. बिब्लियोग्राफी ऑफ मुगल इण्डिया, श्रीराम शर्मा, अपेन्डिक्स-३

थी। इसकी अपेक्षा उचित तो यही लगता है कि इसमें कवि ने उस राजा का प्रशस्तिगान किया है, जिसके राज्याश्रय में रहकर वह आनन्दोपभोग कर रहा है।

२. दूसरे, यदि कवि का उद्देश्य पूर्वजप्रशंसा ही था तो पिता जहाँगीर के प्रशंसापरक श्लोक के अतिरिक्त पितामह अकबर के प्रशस्तिपरक श्लोक अवश्य रचता; क्योंकि यश व कीर्ति वर्णन के प्रसंग में एक तो अकबर का यश कहीं अधिक था, दूसरे शाहजहाँ अकबर का ज्यादा दुलारा था व उसी के प्रोत्साहन पर वह दिनोदिन उन्नति करता गया।[१]

३. तीसरा तथ्य यह है कि, राजसत्ता के लिये रक्तसम्बन्धों को तिलांजलि दे देने वाले ये मुगल बादशाह वस्तुत: अपनी विरुदावलि सुनकर जितने प्रसन्न होते, उतनी अपने पूर्वजों की नहीं। इतिहास साक्षी है कि शाहजहाँ ने अपने भाइयों का वध करके सत्ता प्राप्त की थी। अत: वह अपने सैन्य बल से यमुना के जल के कज्जलाक्तक होने की बात पर ज्यादा प्रसन्न होता न कि अपने पिता के सैन्यबल की प्रशस्ति सुनकर।

४. इन सबके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि जहाँगीर की अपेक्षा शाहजहाँ ज्यादा योग्य व कुशल प्रशासक था। अत: उसी के दरबार का कवि उसके बलविक्रम से यमुना को श्यामल न बनाकर उसके पिता के विक्रम से जो कि उतना योग्य भी नहीं था, वर्णित करे, यह उचित नहीं लगता है।

अत: इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसमें कवि ने अपने तत्कालीन आश्रयदाता की प्रशंसा की है।

जहाँ तक दूसरे तथ्य का प्रश्न है कि जहाँगीर के राज्यकाल के कवियों की सूची में जगन्नाथ का नाम नहीं प्राप्त होता, अत: उन्हें जहाँगीर के दरबार में राज्याश्रित कैसे माना जा सकता है? इस विषय में विचार करने पर ज्ञात होता है कि जहाँगीर के राज्यकाल के अंतिम वर्षों में परिस्थितियाँ उतनी सुचारु नहीं थी। साम्राज्य पर भावी उत्तराधिकार को लेकर मुगल दरबार दो गुटों में विभक्त था। एक पक्ष नूरजहाँ का अपने दामाद शहरयार को सम्राट् बनाने को व दूसरा आसफ खाँ का अपने दामाद शाहजहाँ को सम्राट् बनाने को लेकर षड्यन्त्रसंलग्न था।[२] अत: यह सम्भावना की जा सकती है कि आगरा में

---

१. मुगल सम्राट् शाहजहाँ, बनारसी प्रसाद सक्सेना, पृ. ३, ५, ६

२. मुगल सम्राट् शाहजहाँ के अध्ययन पर आधारित

पण्डितराज ने *किसी हिन्दू मनसबदार के आश्रय में संरक्षण* प्राप्त किया होगा व उसी के माध्यम से कुछ अवसरों पर मुगलदरबार में काव्यपाठ भी कर चुके होंगे; परन्तु वहाँ स्थायी न हो पाये होंगें, तभी उत्तराधिकार के लिये संघर्ष शुरू होने पर आगरा से प्रस्थान कर उदयपुर नरेश के यहाँ पहुँचे होंगें।

इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि सभी सम्भावनाओं में पण्डितराज ने अपनी साहित्यिक गतिविधियों के प्रथम कुछ वर्ष जहाँगीर के दरबार में व्यतीत किये। सन् १६२७ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् सत्ता के लिये संघर्ष होने पर आगरा में राजनैतिक परिस्थितियों के ठीक न होने पर सम्भवत: वे भ्रमण करते हुए उदयपुर पहुँचे होंगें, जहाँ जगतसिंह के दरबार में उन्हें पर्याप्त सम्मान मिला होगा। जगतसिंह सन् १६२८ में गद्दी पर बैठा था।[१] पण्डित जगन्नाथ ने वहाँ जगतसिंह के ऊपर 'जगदाभरण' नामक अपना प्रशस्तिकाव्य लिखा होगा। 'आर्येन्द्र शर्मा' के अनुसार आगरा में स्थिति सामान्य हो जाने पर वे सम्भवत: शाहजहाँ के आमन्त्रण पर उदयपुर दरबार से मुगलदरबार में लौट आये होंगे।[२]

इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव हो सकता है कि पण्डितराज और अधिक गौरव व सम्मान प्राप्ति की आकांक्षा से उदयपुर दरबार से दिल्ली पहुँचे होंगें। वहाँ आसफ खाँ के दीवान 'राय मुकुन्ददास' की प्रेरणा व आसफ खाँ के सहयोग से मुगल दरबार में प्रवेश प्राप्त किया होगा तथा अपनी विद्वत्तापूर्ण राजप्रशस्ति से उन्होंने सम्राट् शाहजहाँ को प्रसन्न कर लिया होगा। इस तरह वे शाहजहाँ के कृपापात्र बने होंगें व उससे उन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त हुई होगी।

दाराशिकोह के संस्कृतानुरागी होने की बात सर्वप्रसिद्ध है। वह पण्डितराज का प्रिय शिष्य था। अत: इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि सन् १६५७ में उत्तराधिकार के लिये संघर्ष शुरू होने पर और उस संघर्ष में अपने प्रिय दारा के पराजित हो जाने व शाहजहाँ के कैद कर लिये जाने पर, तत्कालीन बदलती राजनैतिक परिस्थितियों के कारण दरबार में अपना वास असम्भव मानकर वे प्राणनारायण के दरबार में सन् १६५९-६० के करीब स्थानांतरित हो गये होंगे। वहाँ से भी वे औरंगजेब की कोप-दृष्टि के शान्त होने पर व कामरूप(कूच बिहार) पर मुगल आक्रमण आरम्भ हो जाने पर सन्

१. मेवाड़ का इतिहास, प्रकाशक, हनुमन्त सिंह रघुवंशी, पृ. ३१३

२. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, भू., पृ. ९

१६६४ के लगभग बनारस चले गये होंगे, जहाँ उन्होंने अपना शेष जीवन भगवद्भजन करते हुए बिताया।[१]

पण्डितराज के बनारस-प्रवास को लेकर भी विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार पण्डितराज अपनी अन्तिमावस्था में काशी में रहे, जबकि द्वितीय मत के अनुसार पण्डितराज का यह समय मथुरा में बीता। इनमें प्रथम मत के समर्थक डॉ. आर्येन्द्र शर्मा हैं। उन्होंने अन्तिमावस्था में पंडितराज के काशीनिवास को ही उचित माना है। उनका कहना है कि यह बात किंवदन्तियों व परम्परा से ही नहीं प्रमाणित है, बल्कि यह ज्यादा सम्भव भी प्रतीत होता है कि वह आगरा के पड़ोस में नहीं लौटते, जहाँ राजनैतिक गतिविधियाँ उस समय तक भी अनिश्चित थीं। पण्डितराज के पिता बनारस में रहते थे और अपनी शिक्षा भी उन्होंने वहीं प्राप्त की थी। पण्डितराज ने भी अवश्य ही अपने बचपन के दिनों को वहीं बिताया होगा, अतः मथुरा की अपेक्षा बनारस लौटना उनके लिये स्वाभाविक होता, जो कि उनका पैतृक निवासस्थान था। मथुरा या आगरा की अपेक्षा बनारस उन्हें आवश्यक प्रेरणा व व्याकरण रचना के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि दे सकता था।[२]

इसके विपरीत द्वितीय विचारधारा के समर्थक श्री राधेश्याम मिश्र का विचार है कि पण्डितराज अपनी अंतिमावस्था में मथुरा में रहे होंगें। उन्होंने अपनी इस धारणा की पुष्टि के समर्थन में भामिनीविलास के उस श्लोक को प्रस्तुत किया है, जिसमें पण्डितराज ने स्वयं कहा है कि—'सम्प्रत्युज्झित-वासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते'[३] अर्थात् अब मैं सभी वासनाओं का परित्याग कर मधुपुरी(मथुरा) में हरिभजन कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'अमृत-लहरी' के निम्नलिखित श्लोक को भी प्रस्तुत किया है, जिससे ज्ञात होता है कि पण्डितराज ने अपनी अंतिमावस्था के दिन मथुरा में यमुनातट पर बिताये—

'दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणालीमिलद्-
भृङ्गालीमुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धोऽञ्जलिः।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरीकुर्वतो
वृत्तिं हन्त मुनेः प्रयान्तु यमुने वीतज्वरा वासराः॥'[४]

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. १०-१२; २. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, भूमिका, पृ. १०
३. शान्त वि., श्लो. ३२; ४. अमृतलहरी, श्लो. ३

इसी क्रम में राधेश्याम मिश्र जी ने पण्डितराज के मथुराप्रवास पर जोर देते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि वे कृष्ण के परम भक्त थे। अत: एक कृष्णभक्त, कृष्ण की लीलास्थली में रहना पसंद करेगा, न कि काशी में। फिर ऐसी अवस्था में जबकि वहाँ उन्हें कटु निन्दाएँ व तिरस्कार प्राप्त हो रहा था। डॉ. आर्येन्द्र शर्मा की इस धारणा की कि आगरा में राजनैतिक स्थिति अव्यवस्थित होने के कारण पण्डितराज मथुरा में न रहकर बनारस चले आये होंगे, आलोचना करते हुए उनका कहना है कि किसी कवि को राजनीति से क्या लेना देना? फिर जिसने राजद्वार से हाथ जोड़ लिये हों, उसे राजनीति से क्या? डॉ. शर्मा के दूसरे तर्क का कि बनारस पण्डितराज का पैतृकनिवास था, अत: उससे उन्हें ज्यादा लगाव होगा, खण्डन करते हुए उनका कहना है कि घर की जरूरत बच्चे या गृहस्थ को होती है, लेकिन जिसने सब कुछ त्याग कर भगवान् का सहारा ले रखा है, वह भगवान् के घर उनकी जन्मभूमि मथुरा में रहना चाहेगा, न कि अपने घर में, जहाँ उसे पुन: माया में फँसने का भय हो। उनके तीसरे तर्क का कि व्याकरणग्रन्थ 'मनोरमाकुचमर्दन' व 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' के लिखने के लिये अधिक उपयुक्त प्रेरणा व वातावरण उन्हें बनारस में मिलता, उपहास करते हुए कहते हैं कि जैसी सुविधा उन्हें बनारस में प्राप्त हो सकती थी, उससे कम मथुरा में नहीं।[१]

इन दोनों ही मतों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पण्डितराज कूचबिहार के राजा प्राणनारायण के दरबार से निश्चित रूप से अपने गृहनगर वाराणसी लौटे होंगे। डॉ. आर्येन्द्र शर्मा का यह कथन बिल्कुल सही है कि पण्डितराज के लिये मथुरा की अपेक्षा बनारस लौटना ज्यादा सम्भव व स्वाभाविक प्रतीत होता है, बजाय उस आगरा के पड़ोस, मथुरा में, जहाँ राजनैतिक स्थिति तबतक अनिश्चित थी। इस सम्बन्ध में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि औरंगजेब दारा के हितैषियों व बन्धुओं का कट्टर विरोधी था। पण्डितराज दारा के हिन्दूगुरु व उसके हितैषी भी थे; अत: उनके प्रति उसका कोप स्वाभाविक होता। फलत: यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज औरंगजेब के गद्दीनशीन होने पर तथा दारा के हितचिन्तकों के प्रति उसकी कट्टरता के थोड़ा शान्त होने पर अपने गृहनगर लौटे होंगे, परन्तु जातीयता के उस कट्टर युग में जबकि 'न पठेद्यावनीं भाषां न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' जैसे निषेध वाक्य प्रचलित थे, पण्डितराज के अनुपम ऐश्वर्य और बुद्धिवैभव से जलते हुए कट्टर

१. भामि.वि., राधेश्याम मिश्र, भूमिका, पृ. १९

रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने सम्भवत: उनके यवनीसंसर्ग के कारण उनका अपमान किया होगा।

अत: यह सम्भावना की जा सकती है कि पण्डितों के तिरस्कार व जाति बहिष्कार के अपमान से पीड़ित पण्डितराज अपने व्यथित चित्त को शान्त करने के लिये थोड़े समय हेतु मथुरा चले गये होंगे; किन्तु पुन: बनारस लौट आये होंगे और अपनी अंतिमावस्था तक वहीं रहे होंगे। जैसा कि एक श्लोक के पाठ 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते'[१] से भी यह सिद्ध होता है।

उनके समग्र जीवन व रचनाकाल की गतिविधियों को कालक्रम के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. प्रारम्भिक जीवन सन् १५९० से १६२०ई. के मध्य

पण्डितराज के जन्म से लेकर विद्योपार्जन तक के प्रारम्भिक जीवन को सन् १५९० से १६२०ई. के मध्य रखा जा सकता है। इसकी पुष्टि में स्वयं उनके द्वारा कथित निम्नलिखित कथन उद्धृत है, जिसमें वे कहते हैं कि उन्होंने अपनी युवावस्था दिल्लीश्वर के राज्याश्रय में बितायी—

'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वय:।'[२]

प्रो. रामास्वामी शास्त्री के मतानुसार यहाँ 'नवीन वयस्' से करीब २५ से ५० वर्ष के मध्य तक की आयु का अर्थ लिया जा सकता है।[३] यह स्वाभाविक है कि 'दिल्लीवल्लभ' की छत्रछाया में मुगल दरबार में प्रवेश पाने के पूर्व वे अवश्य ही सभी शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर पूर्ण परिष्कृत विद्वान् हो गये होंगें। हमने मुगल दरबार में उनका प्रवेश जहाँगीर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में यानि १६२२ई. के आस-पास माना है। फलत: वे सन् १६२० तक अपनी शिक्षा समाप्त कर एक पूर्ण विद्वान् हो चुके होंगें। सन् १५९०-९५ई. के मध्य उनकी जन्मतिथि का अनुमान करने पर, जैसा कि डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने भी माना है[४]; तो इस आधार पर जहाँगीर के राजदरबार में प्रवेश के समय(सन् १६२२ई. के समीप) उनकी अवस्था २७ से ३२ वर्ष के मध्य रही होगी, जो कि उनकी नवीन वयस् ही थी। पुन: शाहजहाँ के दरबार में उनका

१. हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ. ह।
२. भामि.वि. ४।३२
३. जगन्नाथपण्डित, वी.ए.रामास्वामी शास्त्री, पृ. २५
४. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, भूमिका, पृ. ११

पुनः प्रवेश सन् १६३० या १६३२ के लगभग हुआ होगा। उस समय भी उनकी अवस्था ३५ से ४२ वर्ष के मध्य नवीनावस्था(मध्यायु) ही थी।

२. जहाँगीर के दरबार में-सन् १६२२ से १६२७ई. के मध्य

जहाँगीर के दरबार में उनका निवास, उसके राज्यकाल के अन्तिम वर्षो सम्भवतः सन् १६२२ से १६२७ई. के मध्य में रहा होगा।

३. उदयपुर के राणा जगतसिंह के दरबार में-सन् १६२८-१६३२ई. के मध्य

उदयपुर के राणा जगतसिंह के दरबार में वे सम्भवतः सन् १६२८ से १६३२ई. के मध्य एक दो वर्ष रहे होंगें।

४. शाहजहाँ के दरबार में-सन् १६३२ से १६५८ई. तक

शाहजहाँ के दरबार में उनका प्रवेश सन् १६३२ई. के आस-पास माना जा सकता है। ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि पण्डितराज सन् १६३४ई. तक शाही दरबार में पूर्ण परिष्कृत विद्वान् के रूप में स्थापित हो चुके थे। देवीप्रसाद के शाहजहाँनामे के वर्णन के अनुसार २२ रबी-उस्-सानी(कार्तिक बदि १=५अक्टूबर १६३४ई.) को मुकाम भँवर में, जहाँ कि कश्मीर के पहाड़ों का सिलसिला खत्म होता है, 'जगन्नाथ कलावंत' को 'कविराय' की उपाधि देकर सम्मानित किया गया। इस समय उन्हें सोने से भी तौला गया।[१] अतः यह सम्भव है कि सन् १६३४ तक शाहजहाँ के कृपापात्र विद्वान् के रूप में स्थापित हो जाने वाले पण्डितराज का मुगल दरबार में पुनः प्रवेश सन् १६३२ के आस-पास अवश्य हो गया होगा। शाहजहाँ के कैद किये जाने तक सम्भवतः वे मुगल दरबार में ही रहे।

५. कूच बिहार के राजा प्राणनारायण के दरबार में-सन् १६५९ से १६६४ई. के मध्य

उत्तराधिकार के संघर्ष के बाद वे सम्भवतः दो तीन वर्ष तक १६५९ से ६४ के मध्य औरंगजेब की कोपदृष्टि से बचने हेतु प्राणनारायण के दरबार में रहे।

६. वाराणसी में-सन् १६६५ से १६७०ई. के मध्य

अपनी अंतिमावस्था उन्होंने वाराणसी में बितायी व इसी समय कुछ काल के लिये उन्होंने मथुराप्रवास किया।

---

१. शाहजहाँनामा, सम्पा. सिंह, राणावत, पृ. ९१-९२

अन्य प्रमाण

इसके अतिरिक्त कुछ प्रमाण भी पण्डितराज का कालनिर्धारण करने में सहायता देते हैं। अत: वे भी द्रष्टव्य हैं—

१. नागेश भट्ट ने रसगङ्गाधर पर अपनी प्रसिद्ध टीका 'गुरुमर्मप्रकाश' लिखी है। वे सत्रहवीं शती के अंत में व अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। इस तथ्य की पुष्टि राजा जयसिंह द्वारा करवाये गये यज्ञ के दृष्टान्त से भी होती है। यह 'अश्वमेध यज्ञ' सन् १७१४ में हुआ था व इस अवसर पर नागेश भट्ट को यज्ञ का संचालन करने हेतु निमंत्रण दिया गया था। नागेश भट्ट उस समय शृङ्गवेरपुर के राजा रामराज के आश्रयत्व में बनारस में गंगातट पर रह रहे थे। उन्होंने काशी क्षेत्र छोड़कर कहीं न जाने की प्रतिज्ञा ले रखी थी। फलत: उन्होंने उत्तर दिया—'अहं क्षेत्रन्सन्यासं गृहीत्वा काश्यां स्थितोऽस्मि। अतस्तां परित्यज्य अन्यत्र गन्तुं न शक्नोमि[1]' फलत: उन्होंने यज्ञ की अधिष्ठातृता नहीं की।[2] पुन: नागेश, जगन्नाथ से दो पीढ़ियों के उपरान्त हुए, जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से भी स्पष्ट है—

लक्ष्मीधर
- रङ्गोजिदीक्षित (पुत्र)
  - कौण्ड भट्ट (पुत्र)
- भट्टोजि दीक्षित (पुत्र)
  - नीलकण्ठ शुक्ल (शिष्य)

शेष श्रीकृष्ण
- भट्टोजि दीक्षित (शिष्य)
  - वीरेश्वर दीक्षित (पुत्र व शिष्य)
    - हरि दीक्षित (पुत्र व शिष्य)
      - नागेश भट्ट(शिष्य)
    - वत्सराज(शिष्य)
- शेष वीरेश्वर (पुत्र व शिष्य)
  - पण्डितराज जगन्नाथ (शिष्य)

इन प्रमाणों के अनुसार भी नागेश भट्ट से दो पीढ़ी पहले विद्यमान जगन्नाथ पण्डितराज की तिथि नागेश भट्ट के काल से ५० साल पहले रहनी चाहिए। अत: इस आधार पर भी यहाँ सम्भावित जगन्नाथ पण्डितराज के जीवन काल(सन् १५९०-१६७०ई.) के साथ इसकी कोई असंगति नहीं लगती है।

---

१. भामि.वि., बी.जी.बाल, भूमिका, पृ. ३

२. एक अन्य दृष्टिकोण से भी पण्डितराज जगन्नाथ की यही तिथि निश्चित होती है। पण्डितराज ने 'सिद्धान्तकौमुदी' पर भट्टोजि दीक्षित लिखित 'प्रौढ़-मनोरमा' की आलोचना करने के लिये 'मनोरमाकुचमर्दन' की रचना की। प्रौढ़-मनोरमा की एक प्रतिलिपि (बी.ओ.आर.आई. सं. ६५७, १८८३-८४, डी.सी. संग्रह) की तिथि संवत् १७१३ अथवा १६५६-१६५७ई. सन् है। भट्टोजि दीक्षित के एक अन्य ग्रन्थ 'शब्दकौस्तुभ' की एक प्रतिलिपि की तिथि १६३३ई. सन् है। भट्टोजि के गुरु नृसिंहाश्रम ने अपने 'तत्त्वविवेक' की रचना १५४७ई. सन् में की, जबकि भट्टोजि के शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने 'शब्दशोभा' की रचना १६३७ई. में की। इस आधार पर प्रो. काणे ने भट्टोजि का साहित्य रचनाकाल १५८० और १६३०ई. के बीच माना है।[१] चूंकि भट्टोजि शेष श्रीकृष्ण के शिष्य थे, अतः वे जगन्नाथ से लगभग एक पीढ़ी पूर्व रहे होंगें। पेरुभट्ट और जगन्नाथ शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर के शिष्य थे। अतः भट्टोजि दीक्षित के साहित्य रचनाकाल को देखते हुए पण्डितराज के जीवन काल के सम्बन्ध में अनुमानित उपर्युक्त तिथि असंगत नहीं लगती है।

३. काशी के भास्कर कवि(अन्य नाम हरि कवि) ने अपने सुभाषित ग्रन्थ 'पद्यामृत-तरंगिणी' में(जिसकीं रचना १६७३ई. में हुई थी), पण्डितराज का एक पद्य उद्धृत किया है। सूरत निवासी हरि कवि(भानु भट्ट सन् १६८५) ने अपनी 'सुभाषित-हारावलि' में पण्डितराज के पाँच पद्यों को उद्धृत किया है। मराठी भाषा के विख्यात कवि 'वामनपण्डित'(१६३६ई.-१६९५ई.) ने पण्डितराज की 'गंगालहरी' का समश्लोकी शिखरिणी में बड़ा ही सुन्दर मराठी अनुवाद किया है, जो आज भी नितान्त लोकप्रिय है।[२] इन कवियों के समय को लक्ष्य करने पर भी पण्डितराज की यही तिथि निश्चित होती है।

फलतः यहाँ प्रस्तुत किये गये इन सभी साक्ष्यों व ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पण्डितराज का अनुमानित जीवन व रचना काल मोटे तौर पर सन् १५९० से १६७०ई. के मध्य स्वीकार किया जा सकता है।

●

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ. ४००

२. द इन्फ्लुएन्स ऑफ जगन्नाथ पण्डितराज ऑन सम दक्षिणी ऑथर्स ऑफ द सेवेन्टीन्थ सेन्चुरी-स्टडीज इन इण्डियन लिट्‌री हिस्ट्री, वाल्यूम सेकन्ड पी.के.गोडे, पृ. ४६०-६७.

द्वितीय अध्याय

व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं पाण्डित्य

गम्भीर साहित्यसाधना, शास्त्रानुशीलन एवं सम्प्रेषणसामर्थ्य के निदर्शनभूत, पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य के अद्भुत समन्वयस्वरूप पण्डितराज का विस्तृत ग्रन्थकर्तृत्व उनके विविधवर्णी व्यक्तित्व एवं विविधविषयी पाण्डित्य का ही प्रतिफलित रूप है। 'अयमात्मा वाङ्मय:' शास्त्रवचन इसी सत्य की अभिव्यक्ति है कि कृति में कृतिकार के व्यक्तित्व एवं वैदुष्य का प्रतिफलन स्वाभाविक है। फलत: साहित्यिक समालोचना की पूर्णता हेतु व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य की चर्चा भी प्रासङ्गिक है। इस दृष्टि से विचार करने पर पण्डितराज के व्यक्तित्व के विविध गुण एवं विविध पक्ष स्पष्टत: उभर कर सामने आते हैं। पाण्डित्य का निकषग्रावा समझे जाने वाले 'रसगङ्गाधर' के इस विद्वान् प्रणेता को तर्कशास्त्र की ऊँची-नीची सीढ़ियों को चढ़ने में जितना पाटव प्राप्त है, शास्त्रीय सिद्धान्तों को तर्कनिकष पर कस कर चमकाने में जितनी क्षमता उन्हें हस्तगत है, अपने प्रतिपक्षियों को तर्क-वितर्क द्वारा धूलिसात् करने का जो सामर्थ्य उनमें विद्यमान है, भक्ति की विनीत भावधाराओं की अभिव्यक्ति में वे जितने भावविगलित हो उठे हैं, शृङ्गार की जैसी सरस छवियों को उन्होंने उत्कीर्ण किया है, सदसद् विवेक की कला में, जीवन व जगत् के क्रियात्मक अनुभवों की अभिव्यक्ति में वे जितने गम्भीरमना हैं, उतने ही कुशल हैं वे दरबारी आवश्यकता के अनुरूप रचे जाने योग्य प्रशस्तिकाव्यों के प्रणयन में, पद योजना की मसृण साजसज्जा में, आनुप्रासिक वर्णविन्यास के गुम्फन में एवं ललित तथा मनोहारी शब्द एवं भावचित्रों के अंकन में। इस प्रावीण्य ने उनकी काव्यकला की विभा को द्विगुणित कर दिया है। इस प्रकार उनकी कृतियों से उनके व्यक्तित्व के विविध पक्ष प्रतिच्छ्वसित होते हैं; जो इस प्रकार हैं—

१. सहृदय कवि २. उद्भट काव्यशास्त्री ३. स्वाभिमानी साहित्याराधक ४. गलदश्रु वैष्णवभक्त ५. उत्तम नीतिज्ञ एवं ६. उत्कृष्ट वैयाकरण

सहृदय कवि

पाषाणवत् नीरस जगत् को भी अपनी सरस सर्जना से सारमय बना देने वाला, अचेतनों का भी चेतनवत् एवं अमूर्तों का भी मूर्तरूप में वर्णन करने

वाला, ब्रह्मा की सृष्टि से भी अद्वितीय, ह्लादैकमयी निर्मिति को सृजित करने वाला, नियतिकृत बन्धनों से परे, नवरसों के संनिधान से रुचिर काव्य एक ऐसी अद्भुत विधा है, जिसके माध्यम से व्यक्ति का यश देशकालादि की सीमाओं को लाँघता हुआ अनन्त मस्तिष्कों को प्रभावित करता है तथा अनन्तजिह्वाओं एवं अनन्तहृदयों पर शासन करता है। इस काव्य की विभा को और अधिक विभासित कर प्रभावी बनाने में काव्यशास्त्र का भी योगदान रहता है। कारण जब तक शास्त्र प्रतिपादित तथ्यों पर साहित्यविहित अनुभूतियाँ सही नहीं उतरतीं, तब तक शास्त्र भी निष्प्राण एवं अनर्गल-सा लगता है एवं जब तक साहित्यिक भावोर्मियों की सप्राणता का शास्त्रीय मूल्याङ्कन नहीं होता, तब तक वे गड़ेरियों के गीत से अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। अतः दोनों की आवश्यकता एवं सापेक्षिता अनिवार्य है। पण्डितराज का व्यक्तित्व इस तथ्य का जीवित निदर्शन है। संस्कृत वाङ्मय में सहृदय कवि एवं उद्भट काव्यशास्त्री के रूप में उनका यश इसी उक्ति का स्मरण कराता है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।।

यह सच है कि काव्यप्रणयन के क्षेत्र में महाकाव्य के रूप में उनकी कोई कृति नहीं है। इस क्षेत्र में उन्होंने लघु रचनाओं का ही प्रणयन किया है, किन्तु इसके अभाव में भी उनकी काव्यकारिणी क्षमता निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ है। उन्होंने भक्तिपरक, नीतिपरक, प्रशस्तिपरक तथा शृङ्गारिक व कारुणिक मनोभावनाओं से सम्बद्ध रचनाएँ की हैं। इनमें उनकी स्तुतिपरक पंचलहरियाँ भक्तजनों में विश्रुत हैं, तो नीतिपरक अन्योक्तियाँ सांसारिक अनुभवों पर आधारित होने के कारण नीर-क्षीर विवेक में सहायता देती हैं। प्रशस्तिपरक रचनाओं में कल्पना का चमत्कार दिखलाई पड़ता है, तो शृङ्गारिक व कारुणिक वर्णनों से सम्बद्ध रचनाएँ भावाह्लाद प्रदान करती हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं में एक ओर शृङ्गार की मधुभीनी रंगीनी है, तो दूसरी ओर नीति का उद्बोधक प्रकाश, एक ओर देवप्रशस्ति की सरसधारा प्रवाहित हुई है, तो दूसरी ओर राजप्रशस्ति की। इन सभी रचनाओं से हमें उनके उत्कृष्ट तथा सहृदय कवि रूप का परिचय मिलता है।

उद्भट काव्यशास्त्री

कवि होने के अतिरिक्त पण्डितराज काव्यशास्त्र के उद्भट विद्वान् भी हैं। 'रसगङ्गाधर' उनके इस रूप का प्रत्यक्ष निदर्शन है। इसमें उन्होंने विविध

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों यथा काव्य का लक्षण, कारण, भेद-प्रभेद, रसभावादि विवेचन, गुणविवेचन, ध्वनियों के भेद-प्रभेद, अभिधा-लक्षणा का विवेचन, और उपमा आदि अर्थालङ्कारों का बड़ा प्रौढ़ व मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस कारण उनका यह ग्रन्थ उन्हें काव्यशास्त्र के दिग्गज आचार्य के रूप में प्रस्तुत करता है, जिसके कारण आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की परम्परा में तीसरे उद्‌भट काव्याचार्य के रूप में उनका यशो-गुणात्मक व्यक्तित्व संस्कृत काव्यशास्त्र में अमर है। उनके इस काव्यशास्त्री व्यक्तित्व के भी विविध रूप हैं—१. प्रखर एवं उद्धत आलोचक, २. उन्मुक्त चिन्तक और ३. प्रकृष्ट दार्शनिक।

प्रखर एवं उद्धत आलोचक

काव्यशास्त्री पण्डितराज के व्यक्तित्व का एक प्रमुख पक्ष उनका प्रखर आलोचक रूप है। इस क्षेत्र में भी उनके व्यक्तित्व के द्विविध रूप हैं। साहित्यिक सिद्धान्तों की समीक्षाप्रसङ्ग में प्रखर आलोचक रूप एवं साहित्यिक विरोधियों की आलोचना के अवसर पर उद्धत आलोचक रूप दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'काव्यलक्षण' के प्रसङ्ग में उन्होंने मम्मट के सर्वस्वीकृत तथा व्यावहारिक सरलतायुक्त काव्यलक्षण के विशेष्य शब्दार्थौ व विशेषणांश 'अदोषौ', 'सगुणौ' तथा 'सालङ्कारौ' पदों को तर्क की कसौटी पर कस कर अमान्य कर दिया है। पुन: विश्वनाथ के लोकप्रिय लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को वस्तु व अलंकार वर्णनपरक काव्य में अव्याप्त होने का त्रुटि निर्देश करते हुए उसकी भी सुष्ठु समीक्षा की है। काव्यप्रभेद के विवेचन प्रसङ्ग में भी उन्होंने व्यङ्ग्य के चमत्कार की न्यूनाधिक तारतम्यता को आधार बनाकर मम्मट व ध्वनिकार की, काव्य के तीन प्रभेद मानने की धारणा की सुन्दर आलोचना कर, काव्य के चार प्रभेद मानने की अपनी धारणा का सयुक्तिक विवेचन किया है।

रसविवेचन के प्रसङ्ग में मम्मट द्वारा 'रौद्र-रस' के उदाहरण रूप में उद्‌धृत 'वेणीसंहार' नाटक के 'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इस श्लोक की समीक्षा करते हुए उन्होंने इसकी पदरचना को 'रौद्र-रस' को व्यक्त करने में समर्थ नहीं बतलाया है। उनकी स्पष्ट व सम्यक् समीक्षा है कि इसकी रचना में न समासों की बहुलता है और न ही संयुक्ताक्षरों की, जबकि संयुक्ताक्षर बहुल रचनायुक्त परुषावृत्ति अथवा गौडीरीति को ही 'रौद्र-रस' का व्यञ्जक माना गया है। अत: यहाँ मानना पड़ेगा कि कवि में शक्ति की कमी थी, जिससे

वह रौद्ररसाभिव्यक्ति की अभिलाषा रखकर भी तद्योग्य पदावली की रचना नहीं कर सका।[१]

वीररस के निरूपण प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश की 'सारबोधिनी' नामक टीका के टीकाकार 'श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य' द्वारा 'दानवीर रसध्वनि' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत श्लोक की भी उन्होंने सुन्दर समीक्षा कर उसे रस की कोटि से भाव की कोटि में पहुँचा दिया है।[२]

इसी प्रकार अद्भुत रस के विवेचन प्रसङ्ग में उन्होंने मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरण को समीक्षाकसौटी पर खरा न पाकर उसे रस की कोटि में परिगणित करने से अमान्य कर दिया तथा भाव की श्रेणी में पहुँचा दिया है। इस उदाहरण को अद्भुत रस का उदाहरण मानने पर जोर देने वालों के विषय में उनका कहना है कि उन्हें आँखे मूँदकर स्वस्थ होकर इस विषय में सोचना चाहिए—

'दरमुकुलितलोचनं विदाङ्कुर्वन्तु सहृदयाः।'[३]

रस के अनौचित्य निरूपण प्रसङ्ग में उन्होंने गीतगोविन्दकार जयदेव आदि कवियों को औचित्य की सीमा का बन्धन तोड़कर देवादिविषयक सम्भोग शृङ्गार का वर्णन करने के कारण मदमत्त हाथियों की संज्ञा देते हुए उन्हें सम्पूर्ण सहृदय समाज से आदृत मर्यादा को तोड़ देने वाला बतलाया है तथा इन कवियों के दृष्टान्त से आधुनिक कवियों को सीख न लेने की सलाह भी दे दी है—

'जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्तमतङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितुं साम्प्रतम्।'[४]

आनन्दवर्धन, मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों की गुणों को केवल रस का धर्म मानने की प्रायशः प्रचलित मान्यता को भी उन्होंने आलोचना कसौटी पर कस कर अमान्य कर दिया है। इस सन्दर्भ में उनकी बड़ी सुन्दर आलोचना है कि धर्म तथा कार्य दोनों का अनुभव हमें पृथक्-पृथक् होना चाहिए। उदाहरणार्थ अग्नि का धर्म है—'उष्णता' तथा कार्य है, 'दाहादि'—किसी पदार्थ का जलाना। दोनों का अग्नि से भिन्न एवं पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। अर्थात् जब हम आग से जलते नहीं तब भी हमें उसके गुण उष्ण स्पर्श का अनुभव होता है। यह बात रस-गुणों के सम्बन्ध में नहीं दिखाई देती। रस का कार्य

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ.१६३-६४; २. वही, पृ.१६९-७०

३. वही, पृ.१८२-८३; ४. वही, पृ.२१६

है, चित्त की द्रुति, विस्तार या विकासात्मक अवस्था। इससे भिन्न अन्य कुछ भी रसगत धर्म के रूप में हमें परिलक्षित नहीं होता। फलत: उन्हें गुणों की मात्र रसधर्मता मान्य नहीं है।[१]

इसके अतिरिक्त उन्होंने मम्मट द्वारा शृङ्गाररस के उदाहरण में उद्धृत अमरुक महाकवि के पद्य की भी सुन्दर समीक्षा करते हुए उस श्लोक के अनेक पदों को माधुर्य गुण के प्रतिकूल सिद्ध कर दिया है।[२] मम्मट के टीकाकारों द्वारा 'अग्रिम-अग्रिम भाव से पूर्व-पूर्व भाव के दबा दिये जाने को ही, शबलता का नाम दिये जाने की धारणा का भी उन्होंने सयुक्तिक खण्डन किया है।[३]

अलङ्कारनिरूपण के अवसर पर प्राय: सभी अलङ्कारों के विवेचन प्रसङ्ग में उन्होंने अप्पय दीक्षित की आलोचना के अतिरिक्त अलङ्कारसर्वस्वकार व अलङ्काररत्नाकरकार की भी जम कर आलोचना की है। कतिपय अलङ्कारों यथा उपमा, रूपक, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, सामान्य आदि के निरूपण में मम्मट के लक्षण तथा उदाहरणों को अपनी आलोचना कसौटी पर खरा न पाकर उन्होंने उनकी बड़ी सटीक आलोचना की है। इन सभी आलोचनाओं में उनके प्रखर आलोचक रूप के दर्शन होते हैं।

अपने साहित्यिक विरोधियों की आलोचना के अवसर पर उनके व्यक्तित्व का उद्धत रूप प्रकट होता है। अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित से उनका प्रबल विरोध था। अत: रसगङ्गाधर में इन्होंने दीक्षित श्रेष्ठ अप्पय की जमकर आलोचना की है। यथा उन्होंने अप्पय द्वारा 'चित्रमीमांसा' में की गई 'नि:शेषच्युतचन्दनम्' पद्य की व्याख्या की घोर आलोचना करते हुए कहा है कि दीक्षित जी का उक्त विवेचन अलंकारशास्त्र विषयक अनभिज्ञता का सूचक है—'तदेतदलङ्कारशास्त्र-तत्त्वानवबोधनिबन्धनम्।'[४]

शृङ्गाररस के निरूपण प्रसङ्ग में अप्पय द्वारा 'चित्रमीमांसा' में सम्भोग-शृङ्गार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत 'वागर्थाविव संपृक्तौ', इस उदाहरणश्लोक की समीक्षा करते हुए उनका स्पष्ट कथन है कि 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह संश्लिष्ट, कभी अलग नहीं होने वाले, इस उपमा से सदा संयुक्त रहने के कारण शिव-पार्वती का निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है। फलत: शृङ्गाररस की ध्वनि है, ऐसा मानना ध्वनिमार्ग का अज्ञानमूलक है। कारण

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ.२२३-२४; २. वही, पृ.२८७-८८

३. वही, पृ.३८३; ४. वही, पृ.४८-५१

कविनिष्ठ देव पार्वतीपरमेश्वर विषयक रतिभाव की यहाँ प्रधानता है, और शिव-पार्वती का परस्पर प्रेम व्यज्यमान होकर भी कविनिष्ठ रति की अपेक्षा गौण हो गया है। फलत: यहाँ शृङ्गार रस नहीं; अपितु देवादिविषयक रति भाव विद्यमान है।[१]

यही नहीं प्राय: सभी अलंकारों के विवेचन के अवसर पर अप्पय दीक्षित के अलंकार निरूपण का घोर प्रतिवाद करते हुए उसके लक्षण, उदाहरण, व्याकरणिक पदप्रयोग आदि का खण्डन किया है। यथा उपमा अलंकार के विवेचन में उन्होंने अप्पय द्वारा विरचित वाचकोपमेयलुप्ता के उदाहरण का खण्डन करते हुए यह कहा है कि यह पद्य अशुद्ध शब्द से दूषित होने के कारण, बनाने वाले की, व्याकरणज्ञानशून्यता को प्रकाशित करता है। इस पद्य से यह सिद्ध होता है कि इसका निर्माता व्याकरण नहीं जानता।[२] रूपक अलंकार के विवेचन में अप्पय के लिये उनका कहना है, कि 'आप तो प्रामाणिक पुरुष ठहरे, अत: बिना किसी के कहे आप थोड़े ही कह सकते हैं। आपकी पुस्तकों में तो दूसरे की नकल मात्र रहती है। अपने आप तो कुछ सोचते विचारते नहीं—

'नहि प्रामाणिकेन भवता कदापि परेणानुक्तं किञ्चिदुच्यते।'[३]

अप्पय द्वारा 'सामान्य' के प्रतिद्वन्द्वी 'विशेषक' व 'मीलित' के प्रतिद्वन्द्वी 'उन्मीलित' नामक अर्थालंकार मानने पर उसकी आलोचना करते हुए इनका कहना है कि 'मर्यादा के वशवर्ती आर्यों को जहाँ तक प्राचीनों द्वारा विभक्त किये गये अलंकारों में(नवनिर्मित अलंकारों का) अन्तर्भाव किया जा सके, वहाँ तक भिन्न अलंकारता की अड़ंगेबाजी करके अपनी उच्छृंखलता का नाटक दिखाना उचित नहीं।'[४] इसी प्रकार अन्य अलंकारों के निरूपण में भी उन्होंने अप्पय की कटु आलोचना की है। यथा एक स्थल पर उन्होंने दीक्षितश्रेष्ठ को दीर्घश्रवा, लम्बकर्ण (गधा) आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है।[५]

इतनी कटु आलोचना से भी उन्हें संतोष न हुआ और उन्होंने दीक्षित जी की प्रौढ़ कृति के खण्डनार्थ 'चित्रमीमांसाखण्डनम्' नामक ग्रन्थ ही लिख डाला और अति उद्धत होकर कहा भी—

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ. पृ.१५२; २. वही, द्वि.आ., पृ.२७३
३. वही, पृ.४९१; ४. वही.द्वि.आ., द्वि.भा., पृ.७८०
५. वही, प्र.भा., पृ.५३८

'सूक्ष्मं विभाव्यमयका समुदीरिताना-
मप्यय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्
तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥'[१]

भट्टोजि दीक्षित ने इनकी गुरुपरम्परा का परित्याग किया, तो इन्होंने पर्याप्त गुरुभक्ति दिखाते हुए भट्टोजि दीक्षित के इस कृत्य का कड़ा बदला लिया। उन्होंने भट्टोंजि की 'मनोरमा' टीका का खण्डन करते हुए उसका द्वयर्थक नाम 'मनोरमाकुचमर्दनम्' रखा। 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजनम्' में भी उन्होंने भट्टोजि को गुरुद्रोही बताया—

'अप्यय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान्।'[२]

इन सबसे ज्ञात होता है कि इनमें अपने विरोधियों के प्रति प्रबल प्रतिशोध था। अत: उनकी आलोचना में इनकी लेखनी में उद्धतता स्वयं आ गयी है। इसी कारण महाकाव्यत्रयी में परिगणित श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' को 'क्रमेलकवत् विसंष्ठुलं'[३](ऊँट की तरह बेढंगा) कहने में भी इन्हें संकोच नहीं हुआ है।

उन्मुक्तचिन्तक

पण्डितराज के व्यक्तित्व का एक अन्य प्रमुख पक्ष उनका उन्मुक्त चिन्तक रूप है। पुराने सिद्धान्त भी जो उनकी लेखनी से उद्भूत हुए हैं, नयी चमक लेकर आए हैं। उनकी मौलिकता का सबसे बड़ा निदर्शन उनका काव्य लक्षण— 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' है, जो आह्लादानुभूति के चिरन्तन सत्य रमणीयता या चमत्कारवत्ता को आधार बना कर चला है। उनका यह रमणीयता तत्त्व अपनी परिधि में वामन के 'सौन्दर्य', दण्डी के 'इष्टार्थ' तथा आनन्दवर्धन के 'लोकोत्तर-आह्लाद' को समेटे हुए है। जहाँ 'सौन्दर्य' तथा 'चमत्कार' शब्द काव्य के कलापक्ष पर बल देते हैं, वहाँ 'लोकोत्तर आह्लाद' तथा 'रस' शब्द काव्य के भाव पक्ष पर। परन्तु 'रमणीयता' शब्द इन सभी का समान रूप से बोधक होने के कारण सर्वाधिक उपयुक्त है। यह लक्षण शब्द और अर्थ के

१. चित्रमीमांसाखण्डन, प्रस्तावनात्मक, श्लो.३; २. हिन्दी रसगङ्गाधर, भूमिका, पृ. प.
३. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ.१०७

संयोग मात्र को काव्य नहीं कहता। वह लोकोत्तर आनन्द कहकर रस की ओर स्पष्ट निर्देश ही नहीं करता, उसे प्रधान स्थान भी देता है। यह अपने में गुणीभूत व्यङ्ग्य व चित्रकाव्य के उन भेदों को भी समेट लेता है; जिन्हें आनन्दवर्धन और विश्वनाथ के लक्षण नहीं करते। यह रस, अलंकार, गुण, रीति, अदोषता आदि पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से रहित होते हुए भी उन्हें प्रकारान्तर से अपने में समेट लेता है। कारण, जो लोकोत्तर आनन्द का प्रदायक होगा उसमें अदोषता, गुणयुक्तता, रससाहित्य, अलंकारयुक्तता आदि का स्वयमेव समावेश हो जायगा। सामान्य, परिष्कृत एवं फलित इन तीन स्तरों पर उन्होंने काव्य का जो स्वरूप निरूपण किया है, वह समस्त संस्कृत साहित्य में अनूठा है। विषयावच्छेदकता तथा तदितरभेदबुद्धिसाधकता की जैसी क्षमता, इस लक्षण में है, वैसी किसी अन्य में नहीं। इस प्रकार पण्डितराज का काव्यलक्षण इन सभी दृष्टियों से अनूठा होने के कारण उनकी मौलिक व उन्मुक्त चिन्तनशक्ति का सुन्दर निदर्शन है।

अन्य आचार्यों द्वारा सामान्य समझे जाने वाले काव्य हेतु-विवेचन के प्रसङ्ग को भी उन्होंने न्याय व वेदान्त का गरिमामय चोला पहना कर काव्य की हेतुभूता प्रतिभा के कार्यपक्ष, व्यक्तरूप तथा मूल अव्यक्तरूप का सुन्दर विवेचन किया है।

आनन्दवर्धन एवं मम्मट द्वारा व्यङ्ग्य की वाच्यातिशयता के आधार पर किये गये काव्यविभाजन के पुराने प्रसङ्ग को भी उन्होंने व्यङ्ग्य तथा व्यङ्ग्य के चमत्कार की पुरानी कसौटियों के आधार पर ही नये रूप में कस डाला है। यह विभाजन अपने में पर्याप्तपूर्ण है और उसके समक्ष आनन्दवर्धन व मम्मट का प्रभेद विभाजन भी निष्प्रभ हो उठता है। यह उनकी प्राचीनता को नवीनता का संस्पर्श देने की अनूठी मौलिकता है। यही मौलिकता ध्वनिकाव्य के भेदों तथा रसादि ध्वनियों की संलक्ष्यक्रमंव्यङ्ग्यता के प्रसङ्ग में देखने को मिलती है। इसी मौलिकता के दर्शन रसनिरूपण के प्रसङ्ग में होते हैं, जहाँ उन्होंने अभिनव तथा मम्मट के मत को ज्यों का त्यों लेकर भी उसे वेदान्तीकृत रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे नई दार्शनिक आधारभूमि की आभा के कारण उसकी मौलिकता द्विगुणित हो उठी है। इसके अतिरिक्त नव्यों के नाम से प्रस्तुत मतों में उनकी उन्मुक्त चिन्तकशक्ति और भी प्रभावी हो उठी है।

रस-विवेचन के अतिरिक्त उनका भाव-विवेचन भी कम मौलिक नहीं है। भावों के शरीर पक्ष को नकार कर उनकी चित्तवृत्तिरूपता को प्रमुखता देने, भाव

ध्वनियों के सूक्ष्म व सुन्दर लक्षण देने, लक्षण में भावों के व्यंजक एवं व्यज्यमान उभयविध रूपों को समेटने आदि की विभिन्न मौलिक विवेचनाओं का सुन्दर दिग्दर्शन इस प्रसङ्ग में होता है।

सर्वथा नई लीक डालने वाले उनके मौलिक व उन्मुक्त चिन्तक रूप का दर्शन गुणविवेचन के प्रसङ्ग में होता है, जहाँ उन्होंने गुणों की रसमात्रधर्मता को न स्वीकार कर गुणों को शब्द, अर्थ, रस व रचना सभी का धर्म मानकर भाषा के उपकरणों के स्वतन्त्र महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

शब्दशक्ति व अलंकारविवेचन के प्रसङ्ग में भी उनके मौलिक विचार अनेकत्र देखने को मिलते है। इन सभी स्थलों में ध्वनिवादी परम्परा में बँधे रहने पर भी उनके उन्मुक्त व मौलिक चिन्तक रूप के दर्शन होते हैं।

प्रकृष्ट दार्शनिक

पण्डितराज के काव्यशास्त्री व्यक्तित्व का एक अन्य प्रमुख पक्ष उनका प्रकृष्ट दार्शनिक रूप है। उनका यह व्यक्तित्व भी दो रूपों में समक्ष आता है— १. शैलीकार दार्शनिक रूप, २. आत्मिक दार्शनिक रूप। उनका शैलीकार दार्शनिक का रूप है, नैयायिक आचार्य का। 'रसगङ्गाधर' में उन्होंने नव्यन्याय की भाषा-शैली ही नहीं; अपितु विषयनिरूपण पद्धति भी अपनायी है। पूर्वपक्षों का सावष्टम्भ प्रस्थापन उसी पद्धति पर किया गया है। प्रतिपक्षी को निरुत्तर करने की प्रक्रिया भी वही है। शास्त्रार्थों में भी वही प्रणाली अपनायी गयी है। काव्य लक्षण में सामान्य, परिष्कृत एवं फलित लक्षण न्याय की पद्धति पर ही दिये गये हैं।

शैली एवं निरूपण प्रणाली के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रस्तुतिकरण में भी नैयायिक दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया गया है। शब्दशक्तियों में लक्षणा का स्वरूप निरूपण भी नैयायिक दृष्टिकोण के आधार पर किया गया है। रसस्वरूप विवेचन में नैयायिक दृष्टि को एक वर्ग का प्रतिनिधि बनाकर उसके माध्यम से भी रस का निरूपण किया गया है। काव्यकारणीभूत प्रतिभा के स्वरूप, काव्य के स्वरूप आदि सिद्धान्तों के प्रसङ्ग में भी नैयायिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया है। इस समस्त चिन्तन तथा नैयायिक शैलीप्रयोग के कारण रसगङ्गाधर में पण्डितराज का व्यक्तित्व नैयायिक आचार्य के रूप में छा गया है।

आत्मिक-दार्शनिक रूप

बाह्य शैलीकार के रूप में नैयायिक होने के अतिरिक्त उनकी मूल दार्शनिक चेतना है, वेदान्त की। इस कारण उनका आत्मिक दार्शनिक रूप हैं, अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मवेत्ता का। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के स्वरूप निरूपण के प्रसङ्ग में जहाँ कहीं भी उन्हें काव्यशास्त्रोदधि में गहरे पैठ कर सिद्धान्त मौक्तिक खोजने पड़े हैं, वहाँ वे वेदान्ती हो गये हैं। उदाहरणार्थ प्रतिभा के कार्यपक्ष का विवेचन तो उन्होंने नैयायिक दृष्टि से किया है; किन्तु उसका मूल स्वरूप 'उपाधिरूपं वाखण्डम्'[१] कहते हुए वेदान्ती मानदण्डों के अनुसार स्थिर किया है।

रसविवेचन के प्रसङ्ग में भी उन्होंने व्यावहारिक मम्मट एवं शैवाद्वैतवादी अभिनव की मान्यताओं के सार को वेदान्तीकृत कर उसे अपने सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अभिनव के मत को—'प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्ट-वासनारूपो रत्यादिरेव रसः'[२] के रूप में विवेचित करते हुए, पुनः वेदान्ती दृष्टि से उसका और परिष्कार कर 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः'[३] कहकर रत्यादि को रस न मानकर, रत्यादि से युक्त आवरणरहित चैतन्य के आनन्दात्मक पक्ष को ही रस की संज्ञा दी है। यह परिष्कार भी उन्होंने इसीलिये किया है; क्योंकि उनकी वेदान्ती चेतना के अनुसार रस 'आत्मानन्द' है और आनन्द आत्मा का स्वरूप ही है। फलतः रसात्मक आनन्द 'आत्मानन्द' ही है। तब उनकी दार्शनिक चेतना के अनुसार रस का स्वरूप 'रत्यादिविशिष्टा भग्नावरणा चिद् एव रसः' इस प्रकार ही होना चाहिए। वेदान्ती पण्डितराज को यह दृष्टि श्रुतिसम्मत भी दिखाई पड़ती है। आनन्द का आत्मतत्त्व से स्वरूप सम्बन्ध है, यह दिखाने के लिये ही उन्होंने श्रुति का सहारा लिया है—'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'[४]

इसके अतिरिक्त नव्यों के नाम से प्रस्तुत मतों में से प्रथम नव्यमत में वेदान्तसम्मत दृष्टिकोण से रस के स्वरूप पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है।

ध्वनिमत में स्वीकृत गुणों की रसमात्रधर्मता भी उन्हें इसीलिये नहीं मान्य है, क्योंकि उनके अनुसार रस 'आत्मानन्द' है और आनन्द आत्मा का

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ.२७; २. वही, पृ.८८
३. वही, पृ.९७; ४. वही, पृ.९९

गुण नहीं स्वरूप है। आत्मा तो निर्गुण है। फलतः उनकी दार्शनिक चेतना के अनुसार माधुर्यादि को आत्मा का गुण कहना और उसका नित्य धर्म मानना असंगत है—'किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्'[१]। इसके अतिरिक्त काव्यकृतियों के कुछ श्लोकों में विभिन्न देवों की स्तुति करते हुए उनके सगुण स्वरूप को भी उन्होंने ब्रह्म के रूप में कल्पित कर दिया है। इन सभी स्थलों में पण्डितराज के आत्मिक दार्शनिक रूप के दर्शन होते हैं।

स्वाभिमानी साहित्याराधक

पाण्डित्य प्रदर्शन के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अत्यन्त स्वाभिमानी एवं स्वपाण्डित्य पर गर्व करने वाले विद्वान् के रूप में उभर कर सम्मुख आता है। उनकी कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे निर्भीक, स्पष्टवक्ता व महान् साहित्याराधकों के भी दोषों का स्पष्टरूप से उद्घाटन कर देने वाले व्यक्ति थे। अपने पाण्डित्य व कवित्व शक्ति पर उन्हें अत्यधिक गर्व था और उसके समक्ष वे किसी को कुछ नहीं समझते थे। उन्होंने स्वयं को श्रेष्ठ पण्डितों की श्रेणियों का तिलक रूप माना है और अपने सर्वशास्त्रप्रवीणत्व की घोषणा की है[२]। अपने कार्यों को लोकातिशायी मानने का उन्हें अत्यधिक गर्व भी है[३]। उन्होंने स्वयं को 'मननतरितीर्णविद्यार्णव', 'जगन्नाथपण्डितनरेन्द्र' इत्यादि विशेषणों से समलंकृत किया है।[४] आत्मश्लाघा की भावना भी उनमें अत्यधिक है और यह भावना भी गर्वरूपा है। अपनी रचना की मधुरता के समक्ष उन्होंने शहद, अंगूर, अनार, अमृत और सुन्दरियों के अधरामृत को भी अत्यन्त फीका माना है।[५] उनका यह श्लाघादर्प अपने चरमरूप में पहुँच गया है, जब वे कह उठे हैं कि शहद, दाख, अमृत व सुन्दरियों का अधरामृत पान भले ही किसी के मन में आनन्दोत्पत्ति न करे, लेकिन जगन्नाथ की उक्ति, जिसके हृदय में आनन्द नहीं उत्पन्न करती, वे मन्दबुद्धि निश्चित ही जीवित होते हुए भी मृतप्राय

---

१. रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ.२२६

२-३. 'सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम्।' शान्त वि., श्लो.३२

४. रसगङ्गाधर प्र.आ., श्लो.७,

५. 'धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकसुधानाम्।
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः।' शान्त वि., श्लो.३१

हैं।[१] इतना ही नहीं उनके अनुसार तो वाग्देवी सरस्वती भी अपनी वीणा की झंकार को मंद करके, उनकी जिस श्रवणरमणीय वाणी का रसपान करती हैं, उस काव्य को सुन, सिर न हिलाने वाला, या तो निरा पशु है या नरपशु।[२]

अपनी कवित्व शक्ति का स्वयं ही मूल्याङ्कन करते हुए उनका कहना है कि सुमेरुपर्वत से लेकर मलयाचल पर्यन्त समुद्र से आवृत्त इस पृथ्वी पर जितने भी काव्यनिर्माण में मर्मज्ञ जन हैं, वे निश्शंक होकर उत्तर दें कि द्राक्षारस के समान मधुर वाणी के आचार्य होने का गौरव मेरे अतिरिक्त और किसी को मिल सकता है क्या[३]? रसगङ्गाधर में अपनी असाधारणता की तुलना कस्तूरी मृग से करते हुए उनका कहना है कि इस ग्रन्थ में सारे उदाहरण उन्होंने स्वयं नये बनाकर रखे हैं, किसी परकृत उदाहरण को नहीं लिया हैं; क्योंकि कस्तूरी मृग क्या कहीं मन से भी साधारण पुष्पों की गन्ध का सेवन कर सकता है?[४] गर्वोद्धतता तो इतनी अधिक है, कि वे उन्हीं कवियों की वाणी भी सुनने को तैयार हैं, जो द्राक्षातिशायिनी काव्यरचना के मर्मज्ञ हैं। इतर कवियों के लिये तो उनकी सलाह है कि उनके जैसे विद्वानों के समक्ष उन्हें अपनी कविता को स्वकृत पाप के समान अन्तःकरण से बाहर ही न निकालना चाहिए।[५]

---

१. 'मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित् केषाञ्चित् न खलु विदधीरन्नपि मुदम्।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः।।' शान्त वि.श्लो.२९

२. 'गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते-
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः।।' वही, श्लो.२७

३. 'आ मूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः।।' वही, श्लो.२६

४. 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।'
रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ.७

५. 'निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्-
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं संमुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् बहिर्मा कृथाः।।' शान्त, वि., श्लो.३०

असीम वैभवशाली दिल्लीश्वर का उन्हें राज्याश्रय भी मिला, उनकी साहित्यिक उपलब्धियों का सम्मान भी हुआ, उन्हें सम्मानस्वरूप स्वर्ण से तौला भी गया तथा सर्वश्रेष्ठता सूचित करनेवाली 'पण्डितराज' की उपाधि भी मिली, फिर भी उन्हें शिकायत बनी रही कि 'कामालस अप्सराओं के अधरों की माधुरी को भी फीका बना देने वाली उनकी वाणी के विलास की कद्र जानने वाला कोई नहीं है।[१]

यही नहीं 'प्रास्ताविकविलास' की कई अन्योक्तियाँ पण्डितराज की अपने विषय में कही गई दर्पोक्तियाँ-सी लगती हैं।[२] दिल्लीश्वर की छत्र-छाया में अपरिमित ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले इनको उसके समक्ष अन्य राजाओं द्वारा दिया गया सम्मान कुछ भी प्रतीत नहीं होता।[३]

इन सभी उद्धरणों व दर्पोक्तियों से ज्ञात होता है कि पाण्डित्य प्रदर्शन के क्षेत्र में वे अत्यन्त स्वाभिमानी व स्वपाण्डित्यगर्वी विद्वान् थे।

गलदश्रु वैष्णवभक्त

आस्था के क्षेत्र में पण्डितराज का व्यक्तित्व पाण्डित्यगर्वविगलित, गलदश्रु वैष्णवभक्त के रूप में सम्मुख आता है। उन्होंने भगवान् कृष्ण, विष्णु, भगवती लक्ष्मी, गङ्गा, यमुना, सूर्य तथा कुछ श्लोकों में भगवान् शिव की स्तुति की है। किन्तु वे मुख्यतः भगवान् कृष्ण एवं भगवती भागीरथी के अनन्य भक्त थे। उनके इस वैष्णव भक्त रूप का विवेचन दो वर्गों में विभक्त कर किया जा सकता है—(क) भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त एवं (ख) भगवती गङ्गा के अटल उपासक।

(क) भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त

पण्डितराज भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त थे। गङ्गालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी, शान्तविलास तथा रसगङ्गाधर के कुछ श्लोकों में इस अनन्यनिष्ठा का रूप दिखाई पड़ता है। इष्ट के प्रति अनन्यनिष्ठा की इसी

---

१. 'आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम।।' प्राणा.जगदा., श्लो. १

२. प्रास्ता.वि., श्लो. १, २, ५, ८, १८, २५, ४८, ४९

३. 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथं पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्याल् लवणाय वा स्यात्।।'
पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ. १९०, श्लो. ५७९

भावना के कारण उन्होंने अपने आराध्य व उनसे सम्बद्ध विषयों का सुन्दर स्तवन किया है। अपने इष्ट के द्विविध रूपों कृष्ण व विष्णु की स्तुति की है। उनके वामरूप विष्णु की प्रिया लक्ष्मी का स्तवन किया है तथा उनकी प्रिया पवित्र यमुना नदी का गुणगान किया है। उनकी इस भक्तिभावना में भगवत्करुणा व कृपा की आकांक्षा तथा आत्मनिक्षेप अर्थात् उपास्य के चरणों में पूर्ण समर्पण की भावना सबसे प्रबल है। अमृतलहरी में—'चारं चारमितस्ततस्तव तटे मुक्तो भवेयं कदा'[१] कहकर करुणालहरी में 'विधेहि मे नाथ यथा यथेच्छसि'[२] तथा 'विगाढुमीश त्वयि गाढमीहते'[३], कहते हुए, लक्ष्मीलहरी में 'सुधासेकस्निग्धै-रतिमसृणमुग्धैः करतलैः। स्पृशन्ती मा रोदीरिति वद समाश्वास्यसि कदा'[४] कहते हुए उन्होंने इन इष्ट देवों के चरणों में अपना योगक्षेम सौंपकर सर्वात्मना समर्पण कर दिया है।

शान्तविलास के श्लोकों में उन्होंने श्रीकृष्णमुखचन्द्र के लिये चिरकाल तक चकोर बने रहने की कामना की है तथा नाना भाँति उनका गुणगान और उनके समक्ष अपना भक्तिपूर्ण आत्मनिवेदन वर्णित किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण नाम-स्मरण को जीवमात्र के कल्याण का एकमात्र उपाय बताते हुए, इसके बिना अन्यत्र कहीं किसी भी तरह मनुष्य का कल्याण न होना वर्णित किया है। फलतः व्याधित्रस्त मन के सर्वथा कल्याण के लिये उन्होंने मन को श्रीकृष्ण नामस्मरण रूपी रसायन के रसास्वाद के लिये प्रेरित किया है—

''आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि।
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः॥''[५]

रसना की रसज्ञता भी तभी मानी गई है, जब वह 'कृष्ण' संज्ञा का उच्चारण करे—

'कृष्णेत्याख्यां कथय रसने यद्यसि त्वं रसज्ञा'[६]

अपने आराध्य की महनीयता का गान करते हुए उन्होंने स्वाराध्य को पापरूपी पहाड़ों के लिये वज्रस्वरूप, संसाररूपी प्रबल रोग के लिये अमोघ औषधिरूप, मिथ्याज्ञान रूपी रात्रि के घोर अन्धकार के लिये प्रकाश

---

१. अमृतलहरी, श्लो.८; २. करुणालहरी, श्लो.२
३. वही, श्लो.३; ४. लक्ष्मीलहरी, श्लो.४०
५. शान्त वि., श्लो.६; ६. वही, श्लो.१०

पूर्णसूर्यमण्डल रूप, बढ़ते हुए क्लेश रूपी वृक्ष के लिये अत्यन्त विशाल लपटों वाले अग्निस्वरूप तथा मुक्तिरूप गृह के लिये द्वारस्वरूप कहा है—

'वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुभरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम्।'[१]

'करुणालहरी' में भी उन्होंने अपने आराध्य के द्वितीय रूप विष्णु की तन्मय होकर आराधना की है तथा 'मयि धेहि मनागपि प्रभो करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम्'[२] जैसे भावपूर्ण विविध उद्गारों द्वारा उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है। 'लक्ष्मीलहरी' में भी विष्णुप्रिया का स्तवन करते हुए उनकी कृपा की आकांक्षा की है। 'अमृतलहरी' में भी भक्ति-भावना का यही रूप दिखाई पड़ता है। उनकी यही बलवती धारणा है कि नाना विषय वासनाओं से संपृक्त, विविध मोहजा ें से आवृत्त चित्त, शान्ति के लिए, शाश्वत कल्याण के लिये, दुर्वासनाओं के शमन के लिये चाहें रसातल को चला जाय या स्वर्ग को, सुमेरु पर्वत की उन्नत चोटी पर चढ़ जाए या अपार जलराशि वाले जलधि का पार पा ले, फिर भी उसकी अभिलाषाएँ शान्त नहीं होंगीं। अतः आधि-व्याधि से संत्रस्त वह यदि अपना कल्याण चाहता है, तो 'श्रीकृष्ण' इस रसायन का स्वाद ले, अन्य सभी परिश्रम व्यर्थ हैं—

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाऽप्याशा न शान्तास्तव।
आधिव्याधिपराहतो यदि सदा क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः॥[३]

आन्तरिक अज्ञान के नाशक, अनिर्वचनीय आनन्द के प्रदायक श्रीकृष्ण के नामस्मरण से ही उन्होंने 'रसना' की रसज्ञता माना है—

अव्याख्येयां वितरति परां प्रीतिमन्तर्निमग्ना
कण्ठे लग्ना हरति नितरां यान्तरध्वान्तजालम्।
तां द्राक्षाद्यैरपि बहुमतां माधुरीमुद्गिरन्तीं
कृष्णेत्याख्यां कथय रसने यद्यसि त्वं रसज्ञा॥[४]

---

१. शान्त वि. श्लो.८; २. करुणालहरी, श्लो.१६
३. शान्त.वि., श्लो.६; ४. वही, श्लो.१०

लक्ष्मीलहरी में भी विष्णुप्रिया का स्तवन करते हुए आर्तिविनिवारण की, आन्तरिक अज्ञान की निवृत्ति की, सौभाग्य-समृद्धि एवं शान्ति प्राप्ति की, उनके अमृतवत् स्निग्ध हस्तकमलों से वेदनाविनाश की बारम्बार प्रार्थना की है। 'अमृतलहरी' में भी भक्तिभावना का यही रूप दिखाई पड़ता है। अन्तर्मन की यही आस्तिकता, उपास्य को सर्वस्व समझ उन्हें समस्त कष्टों व विपदाओं के परम निवारणकर्ता समझने की भावना ही उन्हें यह कहने को प्रेरित करती है कि—

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः सेव्यताम्
चिन्तायामसि सस्पृहं यदि तदा चक्रायुधश्चिन्त्यताम्।
आलापं यदि वाञ्छसि स्मररिपोर्गाथा तदाऽऽलप्यतां
स्वापं वाञ्छसि चेन्निरर्गलसुखे चेतस्तदा सुप्यताम्॥[१]

हे मन! यदि तू सेवा में अभिलाषायुक्त है, तो लक्ष्मीपति विष्णु की सेवा कर, यदि चिन्तन में साभिलाष है, तो चक्रायुध पुरुषोत्तम की चिन्ता कर, यदि व्याख्यान देना चाहता है, तो कामशत्रु शङ्कर की कथा का व्याख्यान कर और यदि सोना चाहता है, तो अप्रतिबन्ध आनन्दरूपी ब्रह्म में सो जा।

स्पष्ट है पण्डितराज की ये भावोर्मियाँ उन्हें एक अनन्य वैष्णव कृष्णभक्त कवि के रूप में सिद्ध करती हैं।

(ख) भगवती गङ्गा के अटल उपासक

भगवान् कृष्ण के अनन्यभक्त होने के अतिरिक्त वैष्णवभक्ति के अनुरूप भगवती गङ्गा में भी उनकी अटल आस्था है। 'गङ्गालहरी' एवं 'रसगङ्गाधर' के विभिन्न श्लोक इस अनन्य भक्तिभावना के प्रमाण हैं। उनकी आस्था के अनुसार गङ्गा समस्त संतापहारिणी, सकल पापप्रक्षालिनी, सद्गतिदायिनी, दीनोद्धारिणी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सृष्टि, स्थिति व प्रलय इन त्रिविध कार्यों की विधायिनी, विष्णुपदप्रदायिनी, जन्म-मरणरूपी शोक की विनाशिनी, अविद्यानाशिनी तथा नीराकार ब्रह्मस्वरूपिणी हैं। इसी विश्वास के फलस्वरूप उनकी धारणा है कि गङ्गा ही एकमात्र तीर्थस्थान हैं, उससे भिन्न अन्य तीर्थ जल का निर्मल संघात मात्र हैं। देव भी दो हैं—एक गङ्गा के उत्पत्तिस्थान(हरि), दूसरे निवासस्थान हर, अन्य बिचारे तो स्वर्ग के निवासी हैं। जनपद भी वही है, जहाँ गङ्गा हैं, अन्य

१. शान्त.वि., श्लो.१३

स्थान तो मृत्तिका मात्र हैं। गङ्गा को जो नित्य प्रणाम करता है, वही ज्ञानवान् है, उससे भिन्न अन्य लोग अज्ञानी हैं।[१]

अपनी इष्टदेवी के इन्हीं गुणों के कारण भक्त पण्डितराज ने उनके समक्ष अपनी क्षुद्रता व उनकी महनीयता का बखान करते हुए उनके प्रति विविध भाँति अपना आत्मनिवेदन वर्णित किया है।

उत्तम नीतिज्ञ

पण्डितराज के व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण उनका उत्तम नीतिज्ञ व नीतिकार रूप है। महाभारतकार तथा वैदिक ऋषियों के अतिरिक्त संस्कृत-नीति के सप्त महारथियों क्रमशः मनु, याज्ञवल्क्य, चाणक्य, शुक्राचार्य, भर्तृहरि तथा क्षेमेन्द्र की परम्परा में अंतिम सातवें महारथी के रूप में इनकी गणना होती है। प्रास्ताविक विलास की अन्योक्तियों तथा सुभाषितश्लोकों व अवशिष्ट अन्योक्तियों के संकलन में उनके इस नीतिकार रूप के दर्शन होते हैं, जिनमें उन्होंने कहीं प्रत्यक्षतः, तो कहीं विविध प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से विभिन्न नैतिक तथ्यों की वर्णना की है। इनमें गुणावगुणवर्णन, कर्माकर्मविवेचन, कर्तव्याकर्तव्यनिर्धारण, विधि-निषेधादेश, सांसारिक-अनुभवज्ञापन आदि विभिन्न विषयों पर सुन्दर नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हुई है। इन श्लोकों के माध्यम से उनका सुविज्ञ नीतिकार रूप दिखाई पड़ता है, जिसके कारण संस्कृत के नीति महारथी और उसमें भी अन्योक्तिसम्राट् के रूप में उनका व्यक्तित्व अक्षुण्ण है।

श्रेष्ठ वैयाकरण

पण्डितराज के व्यक्तित्व का एक अन्य पक्ष उनका श्रेष्ठ वैयाकरण रूप है। उनके इस रूप का दर्शन मुख्यतः उनकी व्याकरणिक कृतियों 'मनोरमा-कुचमर्दनम्' एवं 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजनम्' में होता है, जिनमें उन्होंने वैयाकरण श्रेष्ठ भट्टोजि दीक्षित के वैयाकरणिक सिद्धान्तों का भरपूर खण्डन किया है। इन कृतियों के अतिरिक्त उनकी काव्यशास्त्रीय कृति 'रसगङ्गाधर' में भी उनके वैयाकरण रूप के दर्शन होते हैं।

---

१. 'तीर्थं गङ्गा तदितरदपां निर्मलं सद्ममात्रं
देवौ तस्याः प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराकाः।
सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्यत्
तां यो नित्यं नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्यः।।' (पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ.९७, श्लो.९६)

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि पण्डितराज का व्यक्तित्व कवि एवं काव्यशास्त्री, आलोचक एवं उन्मुक्त चिन्तक, दार्शनिक, वैयाकरण, नीतिकाव्यकार स्वपाण्डित्यगर्वी व स्वाभिमानी साहित्याराधक एवं गलदश्रु वैष्णवभक्त के विभिन्न गुणों का सुन्दर समन्वय है। उनमें एक ओर जहाँ भक्तहृदय की अति कोमल भावनाएँ समाहित हैं, वहीं दूसरी तरफ स्वपाण्डित्य पर अति दर्प है। वे जितने सहृदय कवि हैं, उससे भी बड़े प्रौढ़ दार्शनिक। प्रखर तार्किक क्षमता तथा उन्मुक्त चिन्तनशक्ति के कारण उनका काव्यशास्त्री रूप विलक्षण हो उठा है। उनमें व्याकरण तथा दर्शन मूर्तरूप में साकार हो उठे हैं। नीतिकाव्यकार के रूप में वे उस राजहंस के समान हैं, जिसे नीर-क्षीर विवेक की क्षमता प्राप्त है। अपने इन्हीं गुणों के कारण समग्र संस्कृत वाङ्मय में उनका यशःशरीर अमर है।

कर्तृत्व

व्यक्तित्व की भांति पण्डितराज का कर्तृत्व भी बहुविषयी था। उन्होंने गद्य, पद्य, अलंकार एवं व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी कई कृतियाँ लिखीं। उनकी ये कृतियाँ तीन रूपों में प्राप्त होती हैं—१. काव्यकृतियाँ, २. काव्यशास्त्र विषयक कृतियाँ एवं ३. व्याकरणशास्त्र विषयक कृतियाँ।

१. काव्य कृतियाँ

काव्यस्वरूप व विषयवर्णन के आधार पर पण्डितराज की काव्यकृतियों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१. स्तुतिपरक रचनाएँ, २. प्रशस्तिपरक रचनाएँ, ३. मुक्तक रचनाएँ और ४. गद्य रचनाएँ।

१. स्तुतिपरक रचनाएँ

पण्डितराज की स्तुतिपरक रचनाओं में पञ्चलहरियों का स्थान प्रमुख है। इनका परिचय इस प्रकार से है—

(क) गङ्गालहरी

इसे पीयूषलहरी भी कहा जाता है। इसमें भगवती भागीरथी की ५२ पद्यों में सरस, सुबोध व कमनीय स्तुति की गई है। ५२वाँ पद्य फलश्रुति के रूप में है।

(ख) अमृतलहरी

इसमें यमुना की स्तुति शार्दूलविक्रीडित छन्दों में रचित दस पद्यों में की गयी है। अन्तिम ११वाँ पद्य परिचयात्मक है।

(ग) करुणालहरी

यह लहरी भगवान् विष्णु के चरणारविन्दों में भक्तहृदय का सरस निवेदन है। आत्मसमर्पण की प्रशस्तभावना से युक्त इस स्तुति में सांसारिक भोग व तृष्णाओं के प्रति अनासक्ति प्रकट करते हुए, एकमात्र भगवान् के चरणकमलों में ही शरणागति की कामना की गई है। इसके अन्तर्गत डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने पण्डितराजकाव्यसंग्रह में ५५ पद्य संगृहीत किये हैं।

(घ) लक्ष्मीलहरी

४१ शिखरिणी पद्यों से संवलित यह लहरी भगवती लक्ष्मी की आराधना में समर्पित है। इसमें लक्ष्मी के चरण से लेकर केशपर्यन्त विविध अङ्गों का मनोहर चित्रण करते हुए बारम्बार उद्धार की कामना एवं कृपाकटाक्ष प्राप्ति की आकांक्षा की गयी है।

(ङ) सुधालहरी

यह ३० स्रग्धरा छन्दों में निबद्ध भगवान् भास्कर की प्रौढ़ स्तुति है। प्राय: सभी पद्य आशीर्वादात्मक स्तुति के रूप में हैं। इसमें पद्यों की प्रौढ़ि, समासों का बाहुल्य, घटाटोप शब्दों का प्रयोग नितान्त आवर्जक व आकर्षक है।

२. प्रशस्तिपरक रचनाएँ

पण्डितराज की तीन रचनाएँ प्रशस्तिपरक हैं। ये हैं—(क) प्राणाभरण, (ख) जगदाभरण और (ग) आसफविलास। इनमें प्राणाभरण व जगदाभरण पद्यात्मक हैं और काव्यरूप की दृष्टि से खण्ड काव्य हैं; जब कि आसफविलास गद्यात्मक है और काव्यरूप की दृष्टि से आख्यायिका है।

(क) (ख) प्राणाभरण एवं जगदाभरण

'प्राणाभरण' एवं 'जगदाभरण' नामक प्रशस्तिकाव्य एक समान हैं। इनमें केवल शीर्षकभेद व कुछ श्लोकों में राजाओं की नामोपाधियों में अन्तर है।[१]

१. प्राणा.जगदा., श्लो.२, ५, २३, ५३

इनमें 'प्राणाभरण' शीर्षक से रचित काव्य कूचबिहार(आसाम) के राजा प्राणनारायण की प्रशस्ति में निबद्ध है, जिसने सन् १६३३-६६ई. तक शासन किया एवं जगदाभरण उदयपुर के राणा जगतसिंह की प्रशंसा में विरचित है, जिसने सन् १६२८ से १६५४ई. तक शासन किया।

इनमें भी पहले 'जगदाभरण' की रचना हुई तत्पश्चात् 'प्राणाभरण' की, क्योंकि 'जगदाभरण' में अप्राप्य तीन श्लोकों को 'प्राणाभरण' में जोड़ा गया है।[१] इन काव्यों के कुछ श्लोकों को छोड़कर[२] लगभग सभी पद्य रसगङ्गाधर में काव्यशास्त्रीय विविध तत्त्वों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इन श्लोकों में प्राणाभरण या जगतसिंह की नामोपाधियों के स्थान पर 'दिल्लीधरावल्लभः' इत्यादि पाठ मिलता है।[३]

कुछ विद्वानों के मतानुसार 'जगदाभरण' दाराशिकोह की प्रशंसा में विरचित है।[४] इतिहास ग्रन्थों में भी हमें ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[५] परन्तु इस काव्य में हमें दारा का नामतः उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता। इस मान्यता के पीछे सम्भवतः यह कारण हो सकता है कि प्राणाभरण अथवा जगदाभरण के जो श्लोक 'रसगङ्गाधर' में उद्धृत हैं, उनमें प्राणनारायण आदि के नामों के स्थान पर 'दिल्लीधरावल्लभः' पाठ मिलता है। उदाहरणार्थ श्लोक संख्या ५, १५, २३ के अन्तिम शब्द को बदल कर प्राणनारायण, जगतसिंह व दिल्लीवल्लभ तीनों का प्रशस्तिगान किया गया है।

इसके अतिरिक्त डॉ. जतीन्द्र विमल चौधरी ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि पण्डित दुर्गाप्रसाद को जगदाभरण की एक ऐसी पाण्डुलिपि मिली है, जिसमें जगतसिंह या प्राणनारायण के स्थान पर दारा या 'दिल्लीधरावल्लभः' इत्यादि पाठ प्राप्त होता है।[६] अतः यदि जगदाभरण की ऐसी कोई पाण्डुलिपि है, जिसमें दारा का नामतः उल्लेख प्राप्त होता है तो यह कहा जा सकता

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो.१५, १६, ३३, देखिये पं.का.सं. भूमिका, पृ.५

२. प्राणा.जगदा., श्लो.१, २, ३, ३३, ५३

३. वही, श्लो.५, १५, २३

४. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ.४००; हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, कृष्णमाचारी, पृ.३५४; भामि.वि. वैद्य कृत भूमिका, पृ.१७

५. बिब्लियोग्राफी ऑफ मुगल इण्डिया, शर्मा, अपेन्डिक्स, ३, पृ.१६१; मुगल शासकों की धार्मिक नीति, शर्मा, पृ.११६

६. मुस्लिम पैट्रोनेज टू संस्कृत लर्निङ्ग, पृ.६२

है कि कवि की यह कृति उस रूप में भी रचित है, जिसमें यह दारा की प्रशंसा में विरचित है।

(ग) आसफविलास

आसफविलास शाहजहाँ के श्वसुर एवं तद्युगीन सर्वश्रेष्ठ सामन्त आसफ खाँ की प्रशस्ति में विरचित है। यह आसफ खाँ की मृत्यु पर रचित शोकगीत नहीं, जैसा कि पी.वी.काणे ने अपने काव्यशास्त्र के इतिहास में वर्णित किया है।[१] काव्यरूप की दृष्टि से यह गद्यकाव्य का आख्यायिका भेद है। रसगङ्गाधर में आसफविलास के एक श्लोक[२] व दो गद्यांश[३] का उद्धरण है तथा दो अन्य श्लोक उनकी प्रशस्ति में रचित हैं।[४]

यह आख्यायिका सम्पूर्ण नहीं प्राप्त होती है। इसका बहुत थोड़ा-सा ही अंश प्राप्य है और उसकी भी अचानक समाप्ति हो जाती है, अत: यह स्पष्ट है कि इसका अधिकांश भाग अतीत के दुर्घाट्य गर्भ में विलीन है।

३. मुक्तक रचनाएँ

पण्डितराज की मुक्तक रचनाएँ तीन रूपों में प्राप्त होती हैं— (क) भामिनीविलास, (ख) अवशिष्ट अन्योक्तियाँ व अन्य पद्य और (ग) रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्य।

(क) भामिनीविलास

भामिनीविलास पण्डितराज के मुक्तक पद्यों का संग्रह है। इसके अन्तर्गत प्रास्ताविक, शृङ्गार, करुण व शान्त ये चार विलास हैं। इन चारों विलासों की श्लोकसंख्या विविध संस्करणों में भिन्न-भिन्न है।

(ख) अवशिष्ट अन्योक्तियाँ एवं अन्य पद्य

डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में पण्डितराज के नाम से

---

१. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास, पृ.४००

२. यस्योद्दामदिवानिशार्थि......उद्धृत रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ.१६६

३. (क)'प्रतिखुरनिकरशिलातलसंघट्टसमुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृतविस्फुलिङ्गच्छटापटलानां वाजिनाम्, हिन्दीरसगङ्गाधर, द्वि.भा., पृ.४०२
   (ख) 'अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद् द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' इति। रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ.२३०

४. (क) 'सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः...., वही, द्वि.आ., प्र.आ., पृ.२४८
   (ख) 'युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ....., वही, द्वि.भा., पृ.५३४

रचित बताई जाने वाली ५६७ अन्योक्तियों एवं २१अन्य फुटकर पद्यों का संग्रह किया है। यह संकलन उन्होंने सन् १८९९ में विजगापट्टनम् जिले में तुनी के राजा द्वारा पण्डितराज के नाम से तेलगु लिपि में प्रकाशित १४०० अन्योक्तियों के संकलन में से किया है। अवशिष्ट अन्योक्तियों के सम्बन्ध में उनका कथन है कि छोड़ी हुई अन्योक्तियाँ या तो पंडितराज की अन्य रचनाओं में संगृहीत हैं या वे कृत्रिम हैं, क्योंकि वे अन्य कवियों की रचनाओं में पायी जाती हैं, जैसे सुभाषितावली, सूक्तिमुक्तावली, शार्ङ्गधरपद्धति इत्यादि, जो कि पण्डितराज से पूर्ववर्ती हैं।[१]

डॉ. शर्मा के उपर्युक्त कथन को स्वीकार करने पर पण्डितराज की मुक्तक रचनाओं का एक रूप 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में सम्पादित अन्योक्तियों व अन्य २१ फुटकर श्लोकों के रूप में मिलता है।

(ग) रसगङ्गाधर के उदाहरणपद्य

पण्डितराज की मुक्तक रचनाओं का एक रूप रसगङ्गाधर के विविध काव्यशास्त्रीय प्रसङ्गों में आये उदाहरणपद्यों के रूप में भी प्राप्त होता है।

४. गद्य रचनाएँ

पण्डितराज की दो रचनाएँ गद्यात्मक हैं—(क) आसफविलास, एवं (ख) यमुनावर्णन। इनमें आसफविलास चूँकि प्रशस्तिकाव्य है, अतः इसकी गणना प्रशस्तिपरक काव्यों के अन्तर्गत पहले की जा चुकी है। दूसरी रचना यमुनावर्णन का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

(ख) यमुनावर्णन

इस रचना की कोई पाण्डुलिपि अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। इसके दो उद्धरण रसगङ्गाधर में उद्धृत हैं, जिससे हमें इस कृति के पण्डितराज द्वारा प्रणीत होने का पता चलता है। मध्यम काव्य, समाधिगुण तथा उत्प्रेक्षा के[२] एवं शब्दशक्तिमूलक विरोधालंकार ध्वनि के[३] उदाहरण रूप में यमुनावर्णन के इन उद्धरणों को प्रस्तुत किया गया है।

---

१. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, भूमिका, पृ.२ एवं ६

२. यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति। (रसगङ्गा.प्र.आ., पृ.७६, २४९ एवं द्वि.आ., पृ.७०३)

३. यथा यमुनावर्णने—'रविकुलप्रीतिमावहन्ती नरविकुलप्रीतिमावहति। अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा।' वही, द्वि.आ.प्र.भा., पृ.८६

डॉ. आर्येन्द्र शर्मा, एल.आर. वैद्य, कृष्णमाचारी, जे.बी. चौधरी आदि विद्वानों ने इसका 'यमुनावर्णनचम्पू' के नाम से उल्लेख किया है व इसे गद्य-पद्यमयी रचना बतलाया है, किन्तु रसगङ्गाधर में हमें इसका गद्य भाग ही प्राप्त होता है, पद्य भाग नहीं। पुनः दोनों ही स्थलों पर इसका नाम 'यमुनावर्णन' ही मिलता है, यमुनावर्णनचम्पू नहीं। इस ग्रन्थ की कोई पाण्डुलिपि भी प्राप्त नहीं होती है। अतः इन विद्वानों ने इसका नाम 'यमुनावर्णनचम्पू' किस आधार पर दिया, स्पष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त रसगङ्गाधर में इस काव्य की एक पंक्ति 'तनय मैनाकगवेषणलम्बीकृत' इत्यादि को उन्होंने जात्यवच्छिन्नस्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते समय उसे 'आख्यायिका' से उद्धृत कहा है।[१] अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यमुनावर्णन, चम्पूकाव्य नहीं; अपितु आख्यायिका गद्यकाव्य है।

२. काव्यशास्त्रीय कृतियाँ

पण्डितराज की काव्यशास्त्र से सम्बन्धित दो कृतियाँ हैं—(क) रसगङ्गाधर एवं (ख) चित्रमीमांसाखण्डन।

(क) रसगङ्गाधर

'रसगङ्गाधर' पण्डितराज की काव्यशास्त्रविषयक प्रौढ़ रचना है। यह उनकी अमरकृति होने के अतिरिक्त, संस्कृत काव्यशास्त्र की एक अनूठी सम्पत्ति भी है। यह न्याय व वेदान्त से अनुप्राणित सूत्रवृत्ति शैली में लिखा हुआ ग्रन्थ है, जिसमें काव्यशास्त्रीय विविध विषयों का बड़ा ही गम्भीर, सूक्ष्म एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। इसमें पण्डितराज ने काव्य के स्वरूप, कारण, भेद, प्रभेद, रसभावादि विवेचन, गुणविवेचन, ध्वनियों के भेद, प्रभेद, अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का विवेचन और उपमा इत्यादि अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के केवल दो आनन उपलब्ध हैं, उसमें भी द्वितीय आनन अपूर्ण है। उत्तर अलंकार का अधूरा विवेचन कर ग्रन्थ अपूर्ण समाप्त हो जाता है।

---

१. आख्यायिकायां जात्यवच्छिन्नस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा-तनयमैनाक....। (रसगङ्गाधर द्वि.आ., पृ.७०३)

(ख) चित्रमीमांसाखण्डन

चित्रमीमांसा अप्पयदीक्षित की अलंकारविषयक रचना है, जिसमें उपमादि १२ अर्थालङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पण्डितराज ने दीक्षित जी द्वारा इस ग्रन्थ में दिये गये लक्षणों तथा उदाहरणों का खण्डन अपने ग्रन्थ 'चित्रमीमांसाखण्डन' में किया है। चित्रमीमांसा के जिन दोषों का उद्घाटन व आलोचना उन्होंने रसगङ्गाधर में की थी, उसका ही संक्षिप्त विवेचन इसमें प्रस्तुत है।[1] इस दोषोद्घाटन के विषय में स्वयं उन्होंने विद्वानों को ललकार कर कहा है कि—

'सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥'[2]

अर्थात् अप्पय दीक्षित की इस कृति(चित्रमीमांसा) में मैंने, सूक्ष्म विचार करके जो कुछ दूषण दिखाये हैं, उनका यदि कोई निर्मत्सर पुरुष उद्धार कर दे तो उस निर्मलबुद्धि पुरुष के दोनों पैरों को मैं अपने सिर पर रखूँगा।

३. व्याकरणशास्त्र विषयक कृतियाँ

पण्डितराज की व्याकरणशास्त्र से सम्बन्धित दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं— (क) मनोरमाकुचमर्दन, (ख) शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन।

(क) मनोरमाकुचमर्दन

इसे 'प्रौढ़मनोरमाकुचमर्दन' भी कहा जाता है। पण्डितराज ने इसमें भट्टोजि दीक्षित कृत सिद्धान्तकौमुदी की 'प्रौढ़मनोरमा' नामक व्याख्या की कटु आलोचना की है। इसकी रचना भट्टोजि दीक्षित द्वारा अपनी पूर्ववर्ती गुरुपरम्परा का परित्याग कर, स्वयं अपने गुरु (शेष श्रीकृष्ण) के विचारों की आलोचना करने के फलस्वरूप हुई। पण्डितराज उस गुरुपरम्परा से सम्बद्ध थे, जिसका परित्याग भट्टोजि ने किया था। फलतः भट्टोजि के प्रति उनका विद्वेष स्वाभाविक था। जैसा कि पुस्तक के प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है—

'......गुरुद्वेषदूषितमतीनां यद्यपि पुरुषायुषेणापि न शक्यन्ते गणयितुं प्रमादास्तथापि दिङ्मात्रेण कानपि कुशाग्रीयधिषणेषु निरूपयामः॥'[3]

---

१. 'रसगङ्गाधरे चित्रमीमांसाया मयोदिताः।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य लिख्यन्ते विदुषां मुदे।' (चित्रमीमांसाखण्डन, प्रस्तावनात्मक, श्लोक २)

२. वही, प्रस्तावनात्मक श्लोक ३

३. मनोरमाकुचमर्दिनी, पृ.२

'लक्ष्मीकान्तपदाम्भोजं प्रणम्य श्रेयसांपदम्
पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम्।'[१]

पुनः पुस्तक के इस नामकरण के साथ एक किंवदन्ती यह भी सम्बद्ध है कि भट्टोजि ने यवनीसंसर्ग के कारण पंडित जगन्नाथ को म्लेच्छ कहा था, जिसकी सार्थकता उन्होंने भट्टोजि की मनोरमा(स्त्रीप्रौढ़मनोरमा) का कुचमर्दन करके सिद्ध कर दी।

(ख) शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन

इस ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें 'शब्दकौस्तुभ' को सान पर कसा गया है। 'शब्दकौस्तुभ' भट्टोजि दीक्षित का ग्रन्थ है, जिसकी आलोचना पण्डितराज ने अपनी इस कृति में की है। इस आलोचना का कारण भी भट्टोजि दीक्षित का वही गुरुद्रोह है, जिसका उल्लेख उन्होंने इस ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

'अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान्।'[२]

इन काव्यकृतियों के अतिरिक्त डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने पण्डितराजकाव्यसंग्रह में पण्डितराज के नाम से अन्य पाँच कृतियों का रचित होना बतलाया है। ये हैं—(क) काव्यप्रकाशटीका, (ख) अल्लोपनिषद्, (ग) रतिमन्मथ नाटक, (घ) वसुमतीपरिणय नाटक और (ङ) आख्यायिका। इनमें काव्यप्रकाश टीका के सम्बन्ध में उन्होंने जे.बी. चौधरी द्वारा 'मुस्लिम पैट्रोनेज़ टू संस्कृत लर्निङ्ग' में उद्धृत वक्तव्य, एवं 'डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन मिथिला' वाल्यूम सेकेन्ड नं. २४-२५ की गणना को अपने मत का आधार बनाया है।[३] डॉ. चौधरी ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि स्टेन ने यह सूचित किया है कि 'संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स कैटलॉग' में इसकी एक पाण्डुलिपि का उल्लेख हैं, जो कि रघुनाथटेम्पल लाइब्रेरी, जम्मू कश्मीर में है।[४] यदि ऐसी कोई पाण्डुलिपि प्राप्त है, तो काव्यप्रकाशटीका को भी उनकी तीसरी काव्यशास्त्रीय रचना के रूप में माना जा सकता है।

द्वितीय रचना 'अल्लोपनिषद्' के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती, अतः इस विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, कि यह किसकी रचना है; किन्तु 'रतिमन्मथ' व 'वसुमतीपरिणय' नाटक को उनकी रचना

---

१. मनोरमाकुचमर्दिनी, पृ.१; २. हिन्दीरसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका, पृ.प

३. पण्डितराजकाव्यसंग्रह, भूमिका, पृ.६-७

४. 'मुस्लिम पैट्रोनेज़ टू संस्कृत लर्निङ्ग, जे.बी. चौधरी, पृ.६४

बतलाना अनुचित है। कारण इन नाटकों के रचयिता जगन्नाथ नामक एक अन्य कवि हैं, जो बालाजी बाजीरावपेशवा के राज्याश्रित थे। इन काव्यों में कई श्लोक ऐसे हैं, जो दोनों में प्राप्त होते हैं।[१] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ये दोनों रचनाएँ एक ही कवि की हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों ही काव्यों में एक ऐसा समान श्लोक है, जिसमें कवि का पैतृक परिचय दिया हुआ है।[२] इससे हमें ज्ञात होता है कि इन काव्यों के प्रणेता कवि के पिता का नाम बालकृष्ण था। इसके अतिरिक्त 'वसुमतीपरिणय' में एक गद्यांश है, जिससे ज्ञात होता है कि इस नाटक की रचना बालाजी बाजीराव के आदेश से हुई व गणेशोत्सव में इसका मंचन किया गया था।[३] नाटक के अन्त में एक श्लोक है, जिसमें

---

१. 'इतो मुखरिता पिकैर्नवरसा रसालच्छटा
विखंडितफला शुकैरिह च दाडिमीवीथिका।
प्रवृत्तशिखिमंडलाऽत्र च विभाति नीपावलि-
र्भ्रमद्भ्रमरमालिका बकुलपालिका चाग्रतः॥' रति.म.१, वसुमती, प.२
'मल्ली सेयमिहांतिकस्थितमिमं माकन्दमासेवते
ताम्बूली ननु शोभते समधिकं पूगद्रुमालम्बिनी।
आलिंगत्यधुना लवंगलतिका कङ्कोलमुच्चैरिदं
साहित्यं स्पृहणीयभावमयते वल्लीतरूणामपि'॥ रति.म.१, वसुमती.प.२
'सेयं सेयं शशधरमुखी या मया दृष्टपूर्वा
वित्रस्तैणीचपलनयना चण्डिका चेतसो मे।
मोहो वेत्थं स च मम कथं स्याद्यदस्याः सखीभ्यां
स्वैरालापः कलयति सुधासंभृतां श्रोत्रसीमाम्॥' रति.म.१, वसुमती.प.२
उद्धृत, भामि.वि., एल.आर.वैद्य, पृ.२०

२. 'अन्येद्रं जगदस्थितेंद्रमपि वा कर्तुं प्रगल्भेऽन्वये
संजातो ननु बालकृष्णसचिवोत्तंसस्य रूपान्तरम्।
लक्ष्म्यंबाहृदयाब्धिशीतकिरणः प्रेम्णाऽधिगम्य सता-
मस्ति न्यस्तपदो गुणैरिह जगन्नाथाभिधानः सुधीः॥
उद्धृत भामि.वि., एल.आर. वैद्य, भूमिका, पृ.१९-२०

३. 'आर्ये समादिष्टोऽस्मि.... श्रीशिवनृपच्छत्रपतिकुलप्रधानेन सुगुणसमुदयनिधानेन श्रीमतोराजीवबंधुसदृशतेजसो बाजीरायप्रभुवर्यस्य नंदनेन बालाजिरायमही संक्रंदनेन यथा भोः कलाधर! भवता भगवतः श्रीमहागणपतेरेतस्मिन् महोत्सवे वार्षिके समवेता इमे रसिका विपश्चितो वयं च केनचिदभिनवेन नयगुणशृंगारितेन शृंगाररसशृंगाटकेन नाटकेन विनोदयितव्या इति।'
वसुमतीपरिणय, प्रथम अंक, उद्धृत, भामि.वि. भूमिका, वैध, पृ.२०

बालाजीराव की स्वस्तिकामना की गई है।[१]

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन नाटकों के रचयिता जगन्नाथ नामक एक अन्य कवि थे, जो बालाजी बाजीराव पेशवा के आश्रित थे, पण्डितराज नहीं। अतः इन नाटकों को पण्डितराज की रचना कहना उचित नहीं है।

इसी प्रकार रसगङ्गाधर में आख्यायिका से उद्धृत उद्धरण के आधार पर आख्यायिका नामक काव्य को उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण, वहाँ पण्डितराज ने आख्यायिका का प्रयोग किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ के लिये नहीं; अपितु 'यमुनावर्णन' के लिये ही किया है। इसका प्रमाण है, स्वयं उनका 'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत' आदि वाक्य, जिसे उन्होंने मध्यमकाव्य व समाधिगुण के वर्णन में 'यमुनावर्णन' से उद्धृत कहा है[२] और उसी वाक्य को जात्यवच्छिन्नस्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हुए उसे आख्यायिका से उद्धृत कहा है।[३] अतः स्पष्ट है कि आख्यायिका उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, बल्कि 'यमुनावर्णन' ही आख्यायिका है।

इस समस्त विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पण्डितराज की काव्य, काव्यशास्त्र व व्याकरणशास्त्र विषयक तीनों कृतियों को मिलाकर मुख्यतः चौदह शीर्षकबद्ध कृतियाँ हैं। इसके अलावा कुछ फुटकर श्लोक शीर्षकबद्ध ग्रन्थ के रूप में संकलित नहीं हैं। 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने इनका संकलन 'अवशिष्टान्योक्तयः' शीर्षक से किया है। यद्यपि इस संकलन में कई ऐसे श्लोक आ गये हैं, जो उनकी रचना नहीं लगते हैं। उनकी कृतियों के विषय में प्रचलित भ्रम के निवारणार्थ ऑफ्रेक्ट के 'कैटेलॉगस कैटेलॉगरम' में संकलित जगन्नाथ नाम के कवियों की सूची के आधार पर जगन्नाथ नाम से प्रसिद्ध कुछ अन्य कवियों का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

---

१. 'मोदन्तां शिथिलीभवत्खलजनं वर्णाद्विजन्मादयः
स्वैरोन्मीलितसस्यजातसुभगं वर्षतुवर्षाघनाः।
वीरोदारसुधी गृहेषु विहृतिं बध्नातु लोकप्रसू
राचन्द्रार्कमयं सुखी विजयतां बालाजिरायः प्रभुः।।

वसुमती प., समापक श्लोक, उद्धृत, वही, पृ.२०

२. देखिए पादटिप्पणी, पृ.८०

३. देखिए पादटिप्पणी, पृ.८०

१. तन्जौरवासी जगन्नाथ	—	(क) 'अश्वघाटी' (ख) 'रतिमन्मथ नाटक' और (ग) 'वसुमती-परिणय'।
२. जयपुरनिवासी सम्राट् जगन्नाथ	—	(क) रेखागणित-क्षेत्रव्यवहार' (ख) 'सिद्धान्तसम्राट्' और (ग) 'सिद्धान्तसारकौस्तुभ'।
३. जगन्नाथतर्कपञ्चानन	—	'विवादभङ्गार्णव'।
४. जगन्नाथमैथिल	—	'अतन्द्रचन्द्रिकनाटक'।
५. श्रीनिवाससुत-जगन्नाथ पण्डित	—	'अनङ्गविजयभाण'।
६. जगन्नाथ मिश्र	—	'सभातरङ्ग'।
७. जगन्नाथसरस्वती	—	'अद्वैतामृत' और 'तत्त्वदीपन'।
८. जगन्नाथसूरि	—	'समुदाय प्रकरण'।
९. जगन्नाथ	—	'अनुभोगकल्पतरु'।
१०. नारायणदैवज्ञसुतजगन्नाथ	—	'ज्ञानविलास'।
११. जगन्नाथ	—	'सिद्धान्तरहस्य'।
१२. जगन्नाथशास्त्री	—	'वज्रेश्वरीकाव्य'।
१३. लक्ष्मणपुत्र जगन्नाथ	—	'योगसंग्रह'।
१४. जगन्नाथपञ्चानन	—	'आनन्दलहरी टीका'।
१५. जगन्नाथयति	—	'ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपिका'।
१६. जगन्नाथ	—	'शंकरविलासचम्पू'।
१७. जगन्नाथ	—	'सारप्रदीपिका'।
१८. जगन्नाथ	—	'शशिसेना'।
१९. जगन्नाथ	—	'ऋग्वेदवर्णनक्रमलक्षण', 'ऋग्वेदसर्वानुक्रमणिकाविवरण' और 'दीक्षा-पद्धति'।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज की शीर्षकबद्ध १४ कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट श्लोक भी इनके द्वारा रचित हैं, जिनका किसी शीर्षक के अन्तर्गत संकलन नहीं हुआ है।

पाण्डित्य

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा'।[१] अर्थात् इस अनन्त जीवमय संसार में नरदेह दुर्लभ है और नर-देह प्राप्त होने पर भी विद्वान् होना दुर्लभतर है, विद्वान् होने पर भी कवि होना दुर्लभतम है और कवि हो जाने पर भी शक्ति (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है। शारदा के वरद-पुत्र पण्डितराज में इन सभी दुर्लभ गुणों का सुन्दर समन्वय था। नामोपाधि के अनुरूप उनका पाण्डित्य विलक्षण था। उनका सारस्वत स्रोत सतत प्रवाही रहता था। वे अपने युग के विश्रुतकीर्ति काव्यशास्त्री, प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रों के विलक्षण पण्डित थे। उनके इस बहुविषयी पाण्डित्य का विवेचन पाँच शीर्षकों में विभक्त कर किया जा सकता है—१. काव्यकला, २. काव्यशास्त्र, ३. दर्शन, ४. व्याकरण, और ५. अन्य विविध ज्ञान।

१. काव्यकला

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करने के कारण काव्यकला के मूलभूत तत्त्वों की परख व उनके प्रयोग में पण्डितराज की गहरी पकड़ थी। रचना का नामकरण, भाव, भाषा-शैली, शब्दादिचयन, अलंकार, छन्दप्रयोग सभी दृष्टियों से उनकी काव्यरचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं, जो उनके काव्यकला में निष्णात होने की बोधिका हैं। उदाहरणार्थ रचना के नामकरण का प्रसङ्ग ही द्रष्टव्य है। कुन्तक के शब्दों में, विषयवस्तु का प्रश्न तो पीछे आता है, कुशल रचनाकार रचना के मूल तत्त्व की सूचना देने वाले नाममात्र से ही एक अनूठी विच्छित्ति उत्पन्न कर देता है।[२] पण्डितराज की कृतियों का नाम चयन भी ऐसा ही है, जो सुनने मात्र से रचनाकार के सुकाव्य-कौशल की सूचना देता है। सर्वप्रथम उनकी काव्यशास्त्रीय कृति रसगङ्गाधर के नाम को ही लीजिये। इससे दो बातों की व्यञ्जना होती है। एक तो यह कि रस-गङ्गा की निर्मल धारा इस ग्रन्थ में प्रवाहित हुई है। दूसरे, संस्कृत पण्डितों में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार सम्भवतः गङ्गाधर शिव के पञ्चाननत्व के समान इस ग्रन्थ की रचना-योजना भी पञ्चाननात्मिका रही हो। इस प्रकार इस नाम में जो पवित्रता, मधुरता, प्रयोजनमत्ता तथा रचनाकार की भावुकता है, वह अन्य किसी

---

१. अग्निपुराण ३३७/३-४

२. 'आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम्।
प्रधानसंविधानांकनाम्नापि कुरुते कविः।।' वक्रोक्तिजीवित, ४/२४

साहित्यशास्त्रीय कृतियों के नामों में नहीं दिखायी देती। उदाहरणार्थ भरत के 'नाट्यशास्त्र', भामह के 'काव्यालङ्कार', दण्डी के 'काव्यादर्श', आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक', मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' आदि किसी भी ग्रन्थ के नाम में वह अर्थगर्भिता नहीं विद्यमान है, जो इस नामकरण में है।

साहित्यशास्त्रीय कृति के अतिरिक्त उनकी काव्यकृतियों का नाम भी ऐसे ही व्यङ्ग्यसंस्पर्श से आभासित है। उनकी पंचलहरियाँ विभिन्न देवों की आराधना में रचित स्तुतियाँ हैं, लेकिन उनका नामकरण 'लहरी' शीर्षक से किया गया है। 'लहरी' नाम अपने में तीन लहरियों—१. भक्तिलहरी, २. भावलहरी, ३. स्वरलहरी को समाहित किये हुए है। फलत: इन काव्यों का 'लहरी' शीर्षक ही भक्तिभाव व सुरलहरी से समन्वित आत्मनिवेदन के मधुर वर्ण्यभाव को अभिव्यक्त कर देता है।

राजा प्राणनारायण व राणा जगतसिंह की प्रशस्ति में निबद्ध रचनाओं का नामकरण भी उनके नामों का द्वितात्पर्य लेकर प्राणाभरण(प्राणों का आभरण+भूषण या प्राणनारायण को भूषित करने वाला आभरण), जगदाभरण(संसार का आभरण+भूषण या जगतसिंह का काव्याभूषण) इस रूप में किया गया है। 'आसफविलास' तथा भामिनी के नाम पर रचित 'भामिनीविलास' व उसके चारों प्रभेद प्रास्ताविक, शृङ्गार, करुण व शान्तविलास स्वयं में कवि द्वारा प्रदत्त सुन्दर नामकरण हैं।

काव्य व काव्यशास्त्रीय कृतियों के अतिरिक्त पण्डितराज की व्याकरणशास्त्र विषयक कृतियों के नाम भी बड़े ही अर्थपूर्ण है। भट्टोजि की 'प्रौढमनोरमा' व 'शब्दकौस्तुभ' के खण्डन में लिखी रचना क्रमश: 'मनोरमा-कुचमर्दन' तथा 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' शीर्षक परम्परा की सर्वोत्तम गिनी जाने वाली उपलब्धियों में परिगणित करने योग्य हैं। इनमें 'मनोरमाकुचमर्दन' में भट्टोजि की मनोरमा टीका का स्त्रीत्वेन ग्रहण कर उसका कुचमर्दन अर्थात् शील व मानमर्दन(खण्डन) किया गया है। 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' में शब्दकौस्तुभ को शाण पर कसा गया है। इस तरह अर्थपूर्ण संस्पर्श के कारण ये नाम रचनाकार के अनूठे काव्यकौशल के बोधक हैं।

नामकरण के अतिरिक्त काव्यकला के उपादानभूत अन्य तत्त्वों यथा भाव, भाषा, शैली, अलंकार, छन्द, भावानुसारी शब्दादि प्रयोग में भी वे अधिकार सिद्ध हैं। अत: इस दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ

भावाभिव्यक्ति के प्रसंग में पंचलहरियों व शान्तविलास के भगवद्भक्तिपरक श्लोकों को ही लीजिये, इनमें इष्ट के प्रति कवि का आत्मनिवेदन इतने सरस व प्रभावी ढंग से अभिव्यंजित हुआ है कि वह पाठकों के हृदय को बरबस छू लेता है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'अयमत्यधमोऽपि निर्गुणो दयनीयो भवता दयानिधे।
वमतां फणिनां विषानलं किमु नानन्दयिता हि चन्दनः।।'[१]

'अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो।।'[२]

हे दयानिधे! अति अधम और निर्गुण होने पर भी मैं आपके लिये दया का पात्र हूँ। क्या विष उगलने वाले सर्पों को चन्दन शीतलता नहीं देता?

अरे! गड्ढे में गिरते हुए शिशु को पथिक भी शीघ्रता से बचा लेता है। हे प्रभु! माता-पिता के तुल्य होते हुए भी भवसागर में गिरते हुए मुझे तुम बाहर क्यों नहीं निकाल लेते?

स्पष्ट है, आत्मोद्धार के निमित्त कवि की कितनी मिठासभरी माँग है, वैदग्ध्यपूर्ण कितना विनम्र व सुन्दर तर्क है कि सचमुच जिससे माँग की गई है, वह पिघल उठे।

अन्योक्तियों में भी अप्रस्तुतविधान रूपी सुन्दर कल्पनाओं का आश्रय लेकर नैतिक भावों की अभिव्यंजना बड़े सरस ढंग से की गई है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है, जहाँ अति हो जाने से व्यक्ति के क्षय हो जाने की नीति का वर्णन सरोवर की वृद्धि के सुन्दर दृष्टान्त को प्रस्तुत कर व्यक्त किया है—

'सोपानानि तिरोहितानि पदवी छन्ना तृणैर्नूतनैः
कालुष्यं पयसां विलोक्य शनकैरुड्डीय्र हंसा गताः।
माधुर्यं न मधुव्रतोदितगिरां पद्मानि भग्नानि के
भेकानामिह गर्जितं परमहो वृद्ध्यैव नष्टं सरः।।'[३]

अर्थात् सरोवर में जल की बाढ़ आने पर सीढ़ियाँ छिप गईं, नये उगे पौधों से रास्ता अवरुद्ध हो गया, जल गंदला देखकर हंस उड़ कर दूर चले गये, कमल विनष्ट हो गये, जिससे मधुर गुञ्जार करने वाले भ्रमर भी लुप्त हो

१. करुणालहरी, श्लोक१७; २. वही, श्लोक२६
३. अव.अन्यो., श्लोक२८४

गये। अब वहाँ केवल मेढ़कों का टर्रटराना ही सुनाई पड़ता है। इस प्रकार सरोवर अपनी बाढ़ से स्वयं ही नष्ट हो गया।

स्पष्ट है सामान्य नैतिक भाव की अभिव्यंजना सरोवर के दृष्टान्त से बड़े सुन्दर ढंग से वर्णित हुई है। सरोवर की बाढ़ को देखते तो बहुत लोग हैं, लेकिन उससे इतने सुन्दर नैतिक भाव का ग्रहण कवि की सूक्ष्म निरीक्षण व उसके प्रकटीकरण की क्षमता का परिचायक है।

भावाभिव्यंजना के अतिरिक्त पदरचना विषयक कौशल की दृष्टि से भी पण्डितराज श्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं। उन्हें भावानुसारी शब्दप्रयोग, छन्दानुकूल वर्णगुम्फन तथा औचित्यानुकूल शैली निर्वाह में महारत हासिल है। उदाहरणार्थ गङ्गालहरी का श्लोक द्रष्टव्य है—

'निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः।'[१]

यहाँ 'निधानं', 'प्रधानं', 'विधानं', 'परिधानं', 'समाधानं', 'आधानं', 'तिरोधानं' में क्रमशः नि, प्र, वि, परि, सम, आ, तिरस् उपसर्गों के साथ एक ही धातु 'धा' तथा 'ल्युट्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। साथ ही अनुस्वार प्रयोग व समान ध्वनि तथा स्वरूप वाले मधुर पदों के प्रयोग के कारण संगीतात्मकता भी विद्यमान है; जो स्तुतिलहरी के कोमल व गेय भाव के अनुरूप है। फलतः यह श्लोक कवि के पदरचना विषयक कौशल को प्रकट करता है। ऐसा ही प्रयोग लक्ष्मीलहरी के 'समाहारः श्रीणां' इस श्लोक में है, जहाँ समस्त श्लोक में विभिन्न उपसर्गों के साथ 'हृ' धातु व 'घञ्' प्रत्यय से बने हुए पदों का प्रयोग हुआ है।[२]

२. काव्यशास्त्र

काव्यकला के अतिरिक्त पण्डितराज का काव्यशास्त्र विषयक पाण्डित्य भी अति विलक्षण है। इसका निदर्शन है, उनका अलंकार ग्रन्थ 'रसगङ्गाधर'। यह ग्रन्थ नहीं, ग्रन्थराज है, जिसमें विषयों का जैसा स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण किया गया है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसमें काव्यशास्त्र का जो विषय

१. गङ्गालहरी., श्लोक१८ २. लक्ष्मीलहरी, श्लोक२७

प्रतिपादित हुआ है, वह पूर्व के निबन्धों की अपेक्षा अति विशद है और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित प्रतिपादन शैली के द्वारा स्थिर किया गया है। उदाहरणार्थ रसनिरूपण के प्रसङ्ग को ही लीजिये। मम्मट ने रस विषयक चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया था, परन्तु पण्डितराज ने ग्यारह सिद्धान्तों का विवेचन किया है। पुनः अभिनव के मत की व्याख्या काव्यप्रकाश में मम्मट और रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना मात्र काव्यप्रकाश के अध्ययन से उस रस का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। अभिनव के अतिरिक्त भट्टनायक का मत तो काव्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर मम्मट मौन हो जाते हैं। 'रस का स्वगतत्वेन बोध क्यों नहीं हो सकता' इस स्वाभाविक जिज्ञासा के शमन हेतु उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। लेकिन पण्डितराज ने पाठकों की इस स्वाभाविक उत्कण्ठा को समझा है, और स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने के कारणों का मार्मिक विवेचन किया है।

'नवों रसों के रति आदि ९ स्थायी भाव हैं', इतना सभी आलंकारिक लिखते हैं, लेकिन ये ही क्यों स्थायी भाव हैं? व्यभिचारी भाव हर्ष आदि भी स्थायी क्यों नहीं कहलाते? इस समस्त विषय के ज्ञान हेतु रसगङ्गाधर की गङ्गा में अवगाहन आवश्यक है।

शृङ्गार रस के दो भेद हैं, संयोग और वियोग, यह सभी काव्यशास्त्री बतलाते हैं, परन्तु संयोग और वियोग से यहाँ क्या विवक्षित है, इस तथ्य का विवेचन किसी ने नहीं किया है। फलतः साधारण पाठक यहाँ संयोग से समानाधिकरण्य(एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य(भिन्न स्थान पर रहना) समझें तो यह उनके लिये स्वाभाविक है। परन्तु पण्डितराज ने उन पाठकों के लिये इस दोषकल्पना का भी अवसर नहीं छोड़ा है। उनका स्पष्ट विवेचन है कि 'संयोग' तथा 'वियोग' पद से यहाँ वे चित्तवृत्तियाँ विवक्षित हैं, जिनसे 'संयुक्त हूँ' और 'वियुक्त हूँ' इस प्रकार की बुद्धि होती है। यह है रसगङ्गाधरकार का विवेचन।

अन्य सभी अलंकार-ग्रन्थों में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार मनोभावों के भेद से उत्साह रूप स्थायीभाव के चार भेद मानकर वीररस के चार प्रकार प्रतिपादित हुए हैं, किन्तु रसगङ्गाधरकार का कथन है कि शृंगार रस के समान वीर रस के भी बहुत भेद हो सकते हैं। तदनुसार युक्ति एवं उदाहरण

देकर क्षमावीर, सत्यवीर, पाण्डित्यवीर और बलवीर ये चार भेद अधिक उसमें प्रतिपादित हुए हैं।

सभी प्राचीन आलंकारिकों ने गुणों को रसमात्र का धर्म माना है, किन्तु रसगंङ्गाधर में प्रचुर खण्डन-मण्डन के बाद गुणों को शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों का धर्म स्थिर किया गया है।

प्राचीन सभी अलंकार ग्रन्थों में भावध्वनि के समान पृथक् भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियों की व्यवस्था की गयी है, किन्तु रसगङ्गाधर में ये ध्वनियाँ भी भावध्वनि में ही गतार्थ कर दी गई हैं और गतार्थता के लिये दी गई युक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं।

अन्य सभी ग्रन्थकारों ने रसभावादि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माना है, परन्तु रसगङ्गाधरकार ने स्थानविशेष में रसभावादि को भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य बतलाया है।

ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं; परन्तु रसगङ्गाधरकी विवेचना के अनुसार काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम चार भेद माने जाते हैं। व्यङ्ग्य के चमत्कार को काव्यपरख की कसौटी बनाकर किया गया यह विवेचन निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ है।

इसी प्रकार अलंकार प्रकरण में यत्र-तत्र प्रस्तुत किये गये उनके मौलिक विचार और विश्लेषणचातुरी देखने लायक है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के सभी विषयों को अपने विचार निकष पर कसने वाले पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में पद-रचनाविषयक नियमों को भी दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में संयुक्ताक्षर-विषयक बहुत से नवीन नियमों का अविर्भाव किया है। इस विवेचन में उन्होंने पदरचना सम्बन्धी जितना सुन्दर विश्लेषण किया है कि उसके सामने हिन्दी के पोषकों को भी निष्प्रभ होना पड़ा है। किस वर्ण के अनन्तर किस के आने से कटुता बढ़ जाती है, इसके विषय में जिस मार्मिक विचार को पण्डितराज ने प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

उपर्युक्त सभी विवेचन पण्डितराज के काव्यशास्त्र विषयक गहन पाण्डित्य के द्योतक हैं।

३. दर्शन

पण्डितराज जगन्नाथ का दर्शन-शास्त्र विषयक प्रकाण्ड पाण्डित्य था। वे

विभिन्न दर्शनों यथा वेदान्त, न्याय, मीमांसा के असाधारण विद्वान् थे। उनकी काव्यकृतियों में तो इस दार्शनिक विद्वत्ता का अत्यल्प संस्पर्श भर है, लेकिन् उनकी काव्यशास्त्रीय कृति 'रसगङ्गाधर' इस दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। दर्शनशास्त्र विषयक उनके इस ज्ञान का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

(क) उपनिषद्-दर्शन

पण्डितराज उपनिषद् दर्शन के भी ज्ञाता थे। इसका प्रमाण है, उनकी कृति में आगत निम्नलिखित उद्धरण, जिसमें उनके उपनिषद् ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है।

उपनिषदों में सूर्य की 'अक्षिपुरुष' के रूप में कल्पना करते हुए उसे वेदों द्वारा 'उत्' नाम से वर्णित परमतत्त्व के रूप में कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में यह वर्णन है कि इस आदित्य का जो श्वेत प्रकाश है, वही 'सा' है और जो 'नील' रूप अत्यन्त कृष्ण वर्ण है, वह 'अम' है, इस प्रकार ये दोनों मिल कर 'साम' है। इस आदित्य के मध्य में एक प्रकाशमान पुरुष दिखाई देता है, जो सुवर्ण के समान चमकीली दाढ़ी वाला और चमकीले केशों वाला है। उसके नख से लेकर शिखा तक के समस्त अवयव प्रकाशरूप ही हैं। इस पुरुष के नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं। उसका नाम 'उत्' (ऊपर को उठा हुआ) है। इन समस्त पापों से ऊपर उठे हुए परम पुरुष की जो इस भाव से उपासना करता है, वह भी सब पापों से परे हो जाता है। ऋक् और सामवेद इसी पुरुष का वर्णन करते हैं, इससे वे उद्गीथ हैं। इसलिये जो उद्गाता है, वह वास्तव में उसी परम पुरुष का गान करता है। वही 'उत्' नाम वाला परम पुरुष आदित्य से ऊँचे लोकों और देवताओं का नियामक और इच्छित फल देने वाला है। उद्गीथ(ऊँ) की अधिदैवत उपासना का यही स्वरूप है।[१]

---

१. अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भा: सैव साथ यन्नीलं पर:
कृष्णं यदमस्ततत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमय: पुरुषो
दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण:।।६।।
तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्य:
पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्य: पाप्मभ्यो य एव वेद।।७।।
तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता।
स एष ये चामुष्मात्प्राञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम्।।८।।
छान्दोग्योपनिषद्, १-६

औपनिषदिक 'अक्षिपुरुष' का यही वर्णन सुधालहरी के इस श्लोक में द्रष्टव्य है—

'ऊर्ध्वं पापावलिभ्यः स्थित इति जगदे यस्य वेदैरुदाख्या
निन्युः कप्यासनाभं खलु सहचरतां नेत्रयोः पुण्डरीकम्।
गेष्णावृक्साम यस्य द्रुतकनकनिभश्मश्रुकेशाखिलाङ्गः
सोऽयं सर्वान्तरात्मा तव दिशतुतरां वासरेशः शिवानि।'[१]

अर्थात् सूर्य सर्वव्यापक वह पुरुष है, जिसे वेदों ने 'उत्' की संज्ञा दी है और जो समस्त पापों से परे है, जिसके नेत्र लाल कमल के समान हैं। ऋक् और साम उसका गान करते हैं तथा वह स्वर्ण के समान चमकीली दाढ़ी और चमकीले केशों वाला है।

स्पष्ट है उपनिषदों के उपर्युक्त मन्तव्य को कितने सुन्दर ढंग से इस श्लोक में निबद्ध किया गया है।

(ख) वेदान्त

पण्डितराज का वेदान्त दर्शन में विलक्षण अधिकार था। उनकी काव्य कृतियों में इस दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख ही हुआ है, किन्तु उनकी काव्यशास्त्रीय कृति रसगङ्गाधर उनके वेदान्तशास्त्र विषयक गहन पाण्डित्य की द्योतक है। वेदान्तशास्त्र विषयक उनके इस पाण्डित्य के निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वेदान्तियों की मान्यतानुसार एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है। यह समस्त दृश्यमान जगत् मिथ्या है।[२] इसकी केवल व्यावहारिक सत्ता है, वास्तविक नहीं—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'

वेदान्तियों के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कवि की इस उक्ति में हुआ है—

'जगन् मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
विसंदेहं चेतोऽजनि गरुडकेतोः प्रियतमे।'[३]

---

१. सुधालहरी, श्लोक३०
२. ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्—वेदान्तपरिभाषा, पृ.१५२
३. लक्ष्मीलहरी, श्लोक१७

यहाँ समस्त संसार के जनक देवी लक्ष्मी के उदर के भी अति क्षीणता के कारण न दिखाई देने के तथ्य का समर्थन वेदान्तियों के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त के द्वारा किया गया है। वेदान्तियों की दृष्टि में जैसे सारा जगत दिखाई देते हुए भी मिथ्या है, वैसे ही सकल विश्व का उत्पत्ति स्थान देवी का उदर होते हुए भी नहीं है।

वेदान्तियों के अनुसार जगत् का सार और परमतत्त्व ब्रह्म है।[१] ब्रह्म अनन्त, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी, वृद्धिक्षयरहित और शुद्ध चैतन्य स्वरूप है—

'अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्'[२]

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।।'[३]

वेदान्तियों की इस आस्था का प्रतिपादन कवि की इस उक्ति में हुआ है—

'गुणवृद्धी परे यस्मिन्नैव स्तः प्रत्ययात्मके।
बुधेषु सदिति ख्यातं तद् ब्रह्म समुपास्महे।'[४]

जिस 'प्रत्ययात्मक'(ज्ञानस्वरूप) 'पर'(सर्वोत्कृष्ट) में 'गुण' और 'वृद्धि'(बढ़ना) नहीं होते-अर्थात् जो निर्गुण तथा वृद्धि क्षयरहित है और विद्वानों में जो सद्रूप से विख्यात है ('ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:'...भगवद्गीता) उस ब्रह्म की हम उपासना करते हैं।

वेदान्त के अनुसार आत्मा सत्-चित् एवं आनन्दस्वरूप है। वह पूर्ण, अखण्ड एवं स्वत: प्रकाशमान है, किन्तु अज्ञान के आवरण से आच्छादित होकर बद्धवत् प्रतीत होती है। अज्ञान सत्-असत् से परे एक त्रिगुणात्मक एवं भावात्मक पदार्थ है। उसकी सत्ता पारमार्थिक नहीं, प्रातिभासिक है। उसी के सम्पर्क से नित्य आत्मा अपने को विभिन्न रूपों में आबद्ध पाती है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण एवं विक्षेप। प्रथम के द्वारा चैतन्य का स्वरूप आवृत्त हो जाता है और विक्षेप के द्वारा विभिन्न प्रातिभासिक रूपों की सृष्टि। मुक्ति का अर्थ है, ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति। वह आत्मा की विशुद्ध

---

१. एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म।
सत्यं वादराहित्यम्, तैत्तिरीय उप. शाङ्करभाष्य, २.६
२. वेदान्तसार, श्लोक१
३. तैत्तिरीय उप., २.१.१
४. पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, श्लो.८५, पृ.९६

स्थिति है, जब आत्मा के अज्ञानावरण की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है एवं विशुद्ध, पूर्ण, अद्वैत तथा अखण्ड आत्मा की सत्ता रह जाती है। इस अज्ञान के दूर होते ही स्वतः प्रकाशमान आत्मा का प्रकाश झलक उठता है।[१]

वेदान्त के इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कवि की इन उक्तियों में द्रष्टव्य है—

'दृश्यतेऽनुदिते यस्मिन्नुदिते नैव दृश्यते।
जगदेतन् नमस्तस्मै कस्मैचिद् बोधभानवे।।'[२]

जिसके उदय न होने पर यह जगत् दिखाई देता है और जिसके उदय होने पर यह जगत् नहीं दिखाई देता उस किसी 'बोधरूपी' सूर्य को नमस्कार है।

यहाँ अज्ञानावरणभङ्ग होकर जगत् की वास्तविकता को समझने का वर्णन वेदान्तसम्मत दृष्टिकोण से बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुआ है।

इसी प्रकार आत्मा के अखण्ड प्रकाशमान स्वरूप का वर्णन इस श्लोक में द्रष्टव्य है—

'आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत्।
क्षालनं भास्करस्येदं सारसैः सलिलोत्करैः।।'[३]

इस आत्मा को जो तप व दानों से निर्मल करना है, यह सूर्य को सरोवर के जलसमूह से धोना है।

रसगङ्गाधर का भी एक उद्धरण द्रष्टव्य है, जहाँ उन्होंने ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति के वेदान्तशास्त्र के इसी सिद्धान्त को सामने रखकर मम्मट के रसस्वरूप विषयक मत की व्याख्या की है।

मम्मट ने रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है—

'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः'[४]

अर्थात् उन विभावादियों द्वारा व्यक्त हुआ स्थायीभाव 'रस' कहलाता है। 'व्यक्तः' से सामान्यतः 'व्यञ्जना द्वारा प्रतिपादित' अर्थ लिया जाता है; परन्तु पण्डितराज ने इस 'व्यक्तः' की वेदान्ती व्याख्या की है। उनकी इस व्याख्या के अनुसार 'व्यक्तः' का अर्थ है—'व्यक्ति का विषय अर्थात् चित्

---

१. वेदान्तसार के अध्ययन पर आधारित
२. पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ.१९६, श्लो.४२।
३. वही, पृ.१९४, श्लो.२०
४. काव्यप्रकाश, ४।२८

शक्ति का विषय बनना, उसके द्वारा भासित होना और व्यक्ति का अर्थ है— वह चैतन्य, जिसका आवरणभङ्ग हो चुका है—'भग्नावरणचित्'।[१] जैसे एक दीपक सकोरे से ढका होने के कारण न तो स्वयं प्रकाशित होता है और न किसी निकटस्थ पदार्थ को प्रकाशित कर पाता है; किन्तु उसके ऊपर से सकोरा हटा देने पर, वह स्वयं भी प्रकाशित होता है और समीपस्थ वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। यही स्थिति अज्ञानावृत चैतन्य की है। काव्य के प्रभाव से आत्मरूप चैतन्य पर से जैसे ही अज्ञान का अंशावरण दूर होता है, वह अपने वास्तविक प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होता है, तथा विभावादि संवलित रति आदि स्थायी भावों को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकाशमयी स्थिति को रस कहते हैं।[२]

स्पष्ट है पण्डितराज ने वेदान्ती चेतना द्वारा रसस्वरूप की कितनी सुन्दर समीक्षा की है।

(ग) न्यायदर्शन

पण्डितराज का न्यायदर्शन में विलक्षण अधिकार था। इस विद्वत्ता का दर्शन उनकी काव्यकृतियों में तो नहीं मिलता, लेकिन रसगङ्गाधर उनके न्याय दर्शन विषयक इस प्रकाण्ड पाण्डित्य का द्योतक है। इस ग्रन्थ की रचना ही नैयायिक भाषाशैली व विषयनिरूपण पद्धति के आधार पर हुई है। शैली एवं निरूपण प्रणाली के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचन-प्रसङ्ग में भी नैयायिक दृष्टिकोणों का प्रयोग हुआ है। उनके न्यायदर्शन विषयक इस पाण्डित्य के निदर्शनार्थ कुछ अंश द्रष्टव्य हैं—

पण्डितराज ने काव्य की कारणभूता प्रतिभा के मूलधर्म प्रतिभात्व का स्वरूप विवेचन इन शब्दों में किया है—'तद्गतं प्रतिभात्वं च काव्य-कारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः।'[३]

कारण में रहने वाले मूलधर्म को नैयायिक 'कारणतावच्छेदक' कहते हैं। प्रतिभा काव्य की कारण है। अतः उसमें रहने वाला प्रतिभात्व काव्य का कारणतावच्छेदक है। पुनः 'जाति' एक नैयायिक पदार्थ है। न्याय के

---

१. व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। रसगङ्गाधर प्र.आ. ९०-९१

२. यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। वही, पृ.९१

३. रसगङ्गाधर, पृ.२७

अनुसार उसका लक्षण है—'नियतत्वे सति, अनेकसमवेतत्वम्।'[1] अर्थात् जो नित्य व एक होते हुए, अनेकानुगत होती है, वह जाति है। पण्डितराज ने काव्य की स्तर विविधता का कारण प्रतिभा की विविधता को माना है, अत: 'प्रतिभात्व' वह तत्त्व है, जो विविध रूपा(विलक्षण) प्रतिभाओं में प्रतिभारूपी अनुगताकार अथवा एकाकार प्रतीति कराता है। अत: प्रतिभात्व एक जाति है।

पुन: नैयायिकों के अनुसार 'जाति' दो रूपों में आती है— १. पर, २. अपर। इनमें व्यापक होने से 'सत्ता' (द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों में रहने वाली सत्ता जाति) 'पर' (सामान्य) है और वह अनुगत प्रतीति का भी हेतु होने से 'सामान्य' ही है विशेष कभी नहीं होती। उससे अधिक देश में रहने वाला और कोई सामान्य नहीं है। द्रव्यत्वादि अन्य सामान्य उसकी अपेक्षा अल्प देशवृत्ति होने से 'अपर' सामान्य हैं और वे व्यावृत्ति भेदबुद्धि का भी हेतु होने से सामान्य होते हुए भी विशेष होते हैं।[2]

प्रतिभात्व को भी पण्डितराज ने जातिविशेष कहा है। अत: प्रतिभात्व रूपी अपर जाति से काव्यनिर्माण से सम्बन्ध रखने वाली विशिष्ट प्रतिभा का ही स्वरूप आता है।

पुन: पण्डितराज ने प्रतिभात्व को सिद्ध जाति विशेष कहा है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। वस्तु के धर्म दो प्रकार के होते हैं—१. सिद्ध, २. साध्य। साध्य वस्तुधर्म क्रिया रूप होता है। सिद्ध वस्तुधर्म दो प्रकार का होता है—१. जाति, २. गुण। जाति पदार्थ का प्राणप्रद धर्म होता है, अर्थात् इस धर्म के बिना वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती, जैसे गोत्व के बिना गाय की कल्पना नहीं होती।[3] प्रतिभात्व भी प्रतिभागत ऐसा ही सिद्ध धर्म है, जिसके

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ.३६

२. 'तच्च द्विविधं, परमपरं च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि। अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेष:। तर्कभाषा, केशव मिश्र, पृ.२४४

३. उपाधिश्च द्विविध: वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविध:; सिद्ध: साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविध:, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जाति:। उक्तं हि वाक्यपदीये—'न हि गौ: स्वरूपेण गौर्नाप्यगौ:, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ:।' काव्यप्रकाश, द्वि.उल्लास, पृ.४४

बिना काव्य की मूल कारणभूत प्रतिभा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये पण्डितराज ने प्रतिभा का स्वरूप परिचय नैयायिक सिद्धान्तों का प्रयोग कर इस भाँति दिया—

'तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष:'

नैयायिकों के इसी जातिसिद्धान्त का प्रयोग काव्यस्वरूप विवेचन में द्रष्टव्य है, जहाँ काव्याह्लाद की लोकोत्तरता या चमत्कारवत्ता को एक अनुभवसाक्षिक जातिविशेष कहा गया है—

'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेष:।'[१]

नैयायिक मान्यतानुसार जाति के नित्य, एक व अनेकानुगत होने के कारण, चमत्कारगत यह चमत्कारत्व जाति होने के नाते चमत्कार की विविधरूपता की सूचना देता है। दूसरी बात इसे जाति मात्र नहीं, जाति विशेष कहा गया है। न्याय के अनुसार सभी अपर जातियाँ विजातीय पदार्थों से भेदक हुआ करती हैं। अत: जहाँ चमत्कारत्व जाति होने के कारण आह्लाद की विविधता की सूचना देता है, वहाँ रमणीयता से उपलब्ध होने वाले आह्लाद को जाति विशेष होने के कारण अन्य आह्लादों से पृथक् करते हुए, विविधरूपी काव्याह्लादों में एकाकारा प्रतीति भी कराता है। तीसरी बात, जाति पदार्थ की प्राणप्रद विशेषता होती है, उसके बिना वस्तु की सत्ता बन ही नहीं सकती। अत: चमत्कारत्व की जातिविशेष के रूप में व्याख्या करने से चमत्कार का आह्लाद से स्वरूपात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है।

उपर्युक्त स्थल के अतिरिक्त शब्दशक्ति विवेचन में लक्षणा-स्वरूप निरूपण का वह अंश द्रष्टव्य है, जहाँ पण्डितराज ने लक्षणा का स्वरूप बिलकुल नैयायिक मान्यताओं के अनुसार ही प्रस्तुत किया है। न्यायपञ्चानन आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा का स्वरूपनिरूपण इन शब्दों में किया है—

'लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित:।'[२]

पण्डितराज ने भी लक्षणा का लक्षण इसी पदावली में दिया है—

'शक्यसम्बन्धो लक्षणा'[३]

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ.११

२. न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली, पृ.३१९

३. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ.१६२

शक्य अर्थात् शक्ति या अभिधा से प्रतिपाद्य मुख्यार्थ के साथ होने वाले सम्बन्धविशेष को लक्षणा कहते हैं।

(घ) मीमांसादर्शन

रसगङ्गाधर के चिन्तन में कुछ एक स्थलों पर मीमांसा दर्शन के तत्त्वों का भी प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि पण्डितराज मीमांसादर्शन के भी पण्डित थे, किन्तु इसका प्रयोग उन्होंने सीमित सीमाओं में ही किया है। मीमांसाविषयक उनके इस पाण्डित्य के निदर्शनार्थ निम्नलिखित प्रसङ्ग द्रष्टव्य है—

'परिसंख्या' अलंकार के निरूपण प्रसङ्ग में मीमांसाशास्त्र के तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। परिसंख्या की परिभाषा करते हुए पण्डितराज का विवेचन है कि 'किसी विशेष विलक्षणता को सूचित करने के लिए सामान्यतः प्राप्त वस्तु का निषेध 'परिसंख्या' अलंकार कहलाता है।'[१] मीमांसाशास्त्र में भी किसी विशेष विलक्षणता को सूचित करने के लिए सामान्यतः प्राप्त वस्तु के निषेध में परिसंख्या व नियम ये दो विधियाँ मानी जाती हैं। मीमांसकों ने पाक्षिक प्राप्ति स्थल में 'नियम' और युगपत्प्राप्ति स्थल में 'परिसंख्या' विधि मानी है; किन्तु यह अन्तर अवान्तर है, सामान्यतः प्राप्त वस्तु का निषेध दोनों(नियम तथा परिसंख्या में) उन्हें भी अभीष्ट है। आलङ्कारिकों ने परिसंख्या नामक अलंकार तो माना है; किन्तु नियम को एक स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है, इस शंका के समाधान हेतु मीमांसादर्शन की इन विधियों का रसगङ्गाधर में सोदाहरण उल्लेख किया गया है।

पण्डितराज की समीक्षा है कि अलंकारशास्त्र में नियम तथा परिसंख्या के अवान्तर भेद की विवक्षा न कर परिसंख्या की परिभाषा दी गई है; इसके अनुसार इस अलङ्कारशास्त्र में नियम भी परिसंख्या ही है, अतः 'नियम' नामक पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है[२]। किन्तु इसी प्रसङ्ग में उन्होंने मीमांसादर्शन के मन्त्र प्रकरण में अनुषङ्गतः प्राप्त तीन विधियों अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि का सोदाहरण विवेचन प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक के श्लोक को उद्धृत कर किया है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्ते, नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते॥'[३]

---

१. सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद्व्यावृत्तिः परिसंख्या। रसगङ्गाधर द्वि.आ., पृ.६४१

२. वही, द्वि.आ., पृ.६४१।

३. तन्त्रवार्तिक(१/२/३४) एवं रसगङ्गाधर, पृ.६४२

अर्थात् मीमांसावार्तिककार के अनुसार, 'अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करने वाली विधि को अपूर्वविधि, पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को नियमविधि और एक अर्थ तथा इतर अर्थ दोनों की प्राप्ति होने पर निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को 'परिसंख्याविधि' कहा जाता है। उक्त श्लोक का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—अन्य प्रमाणों से जिस पदार्थ का विधान नहीं हुआ रहता है, उस पदार्थ का विधान करने वाली विधि को 'अपूर्वविधि' कहते हैं। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करं यह अपूर्व विधि है। कारण, जिस याग का विधान किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता है, ऐसे स्वर्गफलक यज्ञ का विधान यह विधि करती है।

पक्ष में अप्राप्त पदार्थ की प्रापकविधि को 'नियमविधि' कहते हैं। बहुत-सी ऐसी क्रियाएँ होती हैं, जिनका सम्पादन अनेक साधनों द्वारा सम्भव होता है, इस प्रकार की क्रिया को 'नानासाधनसाध्य' कहा जा सकता है। कभी-कभी प्रासङ्गिक क्रिया के सम्पादन हेतु अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होती या होने लगती है, अभिप्रेत की नहीं। ऐसी स्थिति में अभिप्रेत अप्राप्त साधन की प्राप्ति जिस वाक्य के द्वारा करायी जाती है, उसे 'नियमविधि' कहा जाता है। जैसे व्रीहितुषविमोक(धान से भूसी हटाना) एक क्रिया है, जिसका अनुष्ठान १. नखविदलन, २. अश्मकुट्टन, ३. अवहनन से हो सकता है। इस प्रकार तुषविमोक के अनेक साधनों द्वारा सम्पाद्य होने पर जब तुषविमोक के अभिप्रेत साधन अवघात की अप्राप्ति हो उठती है तो उस अप्राप्त अवघात को प्राप्त कराने के लिये नियम विधि 'व्रीहीनवहन्ति' प्रवृत्त होती है।[1]

दोनों पदार्थों की एक ही काल में प्राप्ति होने पर दोनों में से एक पदार्श की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को 'परिसंख्या विधि' कहा जाता है। परिसंख्या विधि के उदाहरण हैं—'इमामगृभ्णन्-अर्थात् 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र से अश्वाभिधानी का ग्रहण करता है' और 'पञ्च-पञ्चनखा भक्ष्या:' अर्थात् पाँच पञ्चनख जीव भक्ष्य हैं' इत्यादि। यहाँ प्रथम उदाहरण में 'रशनाग्रहण (रस्सी पकड़ना) इस लिङ्ग (ज्ञापक प्रमाण) के द्वारा घोड़े और गदहे दोनों की रस्सियों का पकड़ना एक साथ प्राप्त होता है, उनमें से 'अश्व की रस्सी के अतिरिक्त अन्य रस्सी के पकड़ने का वर्जन' इस वाक्य से सिद्ध होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में पञ्चनख जीवों में से शास्त्रोक्त पाँच जीवों(खरहा, साही आदि) के अतिरिक्त प्राणियों के भक्षण का वर्जन' सिद्ध होता है।[2]

१. तन्त्रवार्तिक(१/२/३४) एवं रसगङ्गाधर, पृ.६४२-४३

२. रसगङ्गाधर द्वि.आ., पृ.६४३,६४४

यहाँ पण्डिराज द्वारा तन्त्रवार्तिककार कुमारिल के उपर्युक्त श्लोक का उद्धरण व उसकी उपर्युक्त व्याख्या उनके मीमांसाविषयक गहन पाण्डित्य की द्योतक है।

इसके अतिरिक्त प्रतिभा के विवेचन व शब्दशक्तियों के विवेचन प्रसङ्ग में भी मीमांसक मान्यताओं का उपयोग हुआ है। रूपक अलंकार के विवेचन प्रसङ्ग में भी मीमांसा के कर्मकाण्डों का उल्लेख है। यह सभी स्थल पण्डितराज के मीमांसाज्ञान के सूचक हैं।

(ङ) बौद्धदर्शन

रसगङ्गाधर के विवेचनों में बौद्धदर्शन चिन्तनधारा में नहीं है। किन्तु उनकी लक्ष्मीलहरी में इस दर्शन की विचारधारा से सम्बन्धित एक श्लोक प्राप्त होता है, जिससे ज्ञात होता है कि वे इस दर्शन के भी ज्ञाता थे, किन्तु इसकी मान्यताओं से सहमत न हो सके थे। इसी कारण इस दर्शन की मान्यताओं का रसगङ्गाधर के विवेचनों में भी प्रयोग नहीं हुआ है। निदर्शनार्थ लक्ष्मीलहरी का उक्त पद्य द्रष्टव्य है—

'अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणितमहायुक्तिनिवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।
असत्ख्यातिव्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा
वलग्ने लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्तसरणिः॥'[१]

हे विष्णु प्रियतमे! तुम्हारे कटिप्रदेश में अनेक महातार्किकों द्वारा अगणित युक्तिसमूहों से निरस्त की गई तथा कहीं पर थोड़े भी विस्तार को न प्राप्त करती हुई असत्वाद की व्याख्या में अधिक चातुर्य के कारण विख्यात महत्त्व वाली सुगतमत के सिद्धान्त की सरणि मानों आकर लग गई है।

यहाँ बौद्धदर्शन के एक सम्प्रदाय 'शून्यवाद' की चिन्तनधारा का अति संक्षेप व कलात्मक ढंग से उल्लेख हुआ है; किन्तु यह संक्षिप्त वर्णन भी बौद्ध दर्शन में उनके ज्ञान का सूचक है। शून्यवादी दर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टिकोण से संसार की सभी वस्तुएँ असत् हैं। इस सिद्धान्त के प्रमुख दार्शनिक 'नागार्जुन' ने अपने चतुष्कोटिक न्याय का प्रयोग करके समस्त वस्तुओं का अनस्तित्व सिद्ध किया है। उनका विवेचन है कि 'वस्तु' न स्वयं से उत्पन्न

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक१८

हो सकती है, न अन्य वस्तु से, न स्वयं और अन्य वस्तु दोनों से और न स्वयं तथा अन्य दोनों के बिना ही उत्पन्न हो सकती है। अत: उत्पत्ति असम्भव है।[१] इसके अतिरिक्त उन्होंने गति, प्रत्यक्ष, पञ्चस्कन्ध, द्रव्य, गुण, आत्मा, जगत्, काल, बन्धन, मोक्ष आदि समस्त वस्तु-समुच्चय का असत् होना सिद्ध किया है।[२]

शून्यवाद के समस्त वस्तुवों को असत् सिद्ध करने के इस सिद्धान्त को विद्वत्मान्यता नहीं प्राप्त हुई। शंकराचार्य आदि अनेक दार्शनिकों ने इसका खण्डन करते हुए इसे 'वैनाशिक' कहा है।[३] शंकराचार्य का कथन है कि शून्यवाद का पक्ष समस्त प्रमाणों के विरुद्ध होने के कारण निराकरण करने का आदर देने योग्य भी नहीं है।[४] इसी कारण उपर्युक्त श्लोक में सुगतमत की एक सरणि के रूप में शून्यवाद के सम्प्रदाय का उल्लेख कर उसे असत्ख्याति की व्याख्या में निपुण बताते हुए, उसका अनेक तार्किकों द्वारा खण्डित होना कहा गया है। इस तरह इस श्लोक में 'गागर में सागर' भरने की कला विद्यमान है।

४. *व्याकरण*

पण्डितराज व्याकरणशास्त्र के भी गहन अध्येता थे। उनके शिष्य कुलपति मिश्र ने उन्हें इस शास्त्र में साक्षात् शेषरूप कहा है।[५]

यहाँ उनके व्याकरण विषयक पाण्डित्य के निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'गुणवृद्धी परे यस्मिन्नैव स्तः प्रत्ययात्मके।
बुधेषु सदिति ख्यातं तद् ब्रह्म समुपास्महे।।'[६]

---

१. अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागमममनिर्गमम्।
य: प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमंशिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्।'
माध्यमिक-कारिका, १/१-२
न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुत:।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा: क्वचन केचन।। तत्रैव १/३

२. माध्यमिक-कारिका के अध्ययन पर आधारित।

३. शांकरभाष्य, तर्कपाद, २/२/१८-३२

४. शून्यवादि पक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादर: क्रियते।
शांकरभाष्य, २/२/३१

५. शब्द जोग में शेष, संग्रामसार, १/४; ६. पं.का.सं., पृ.९६, श्लो.८५

जिस 'प्रत्ययात्मक'(शतृ-शानचूरूप) के 'परतः'(आगे) आने पर गुण(इ, उ, ऋ अक्षरों को ए, ओ, अर् हो जाना) और 'वृद्धि'(इ, उ, ऋ अक्षरों को ऐ औ, आर् हो जाना) नहीं होते और विद्वानों में जो 'सत्' इस नाम से विख्यात है('तौ सत्' इस व्याकरण सूत्र से शृत-शानच् प्रत्ययों को 'सत्' कहा जाता है), उस ब्रह्म की हम उपासना करते हैं।

इन दोनों ही प्रत्ययों में शकार इत्संज्ञक होने के कारण ये शित् प्रत्यय कहे जाते हैं। अष्टाध्यायी के 'धातोः'[१] सूत्र के अधिकार से विहित होने के कारण ये प्रत्यय धातु से परे होते हैं। पुनः शित् होने के कारण 'तिङ्-शित्- सार्वधातुकम्'[२] सूत्र से इन प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है। फिर 'सार्वधातुकमपित्'[३] अर्थात् अपित्=पकार इत्संज्ञक से भिन्न सार्वधातुक ङित् के समान होता है—इस सूत्र से अपित् होने से उनका ङितवद्भाव हो जाता है। अर्थात् ङित् को निमित्त मानकर जो गुण-वृद्धि निषेध आदि कार्य होते हैं, वे इनमें भी होते हैं। तब 'क्ङिति च'[४] सूत्र से अर्थात् गित्, कित् और ङित् प्रत्ययों के परे रहते 'इग्लक्षण' अर्थात् गुण और वृद्धि कार्य नहीं होते। इस प्रकार इन प्रत्ययों की ङित् संज्ञा मान ली जाने पर इनके परे रहते जो गुण व वृद्धि कार्य प्राप्त भी होते हैं, वे 'क्ङिति च' सूत्र के अधिकार से नहीं होते। पुनः 'तौ सत्'[५] इस व्याकरण सूत्र से इन प्रत्ययों को 'सत्' कहा जाता है। इसके अलावा वैयाकरण शब्द को 'ब्रह्म' रूप में मानते हैं। उन्हीं सब उपर्युक्त वैयाकरणिक व्यवस्थाओं व मान्यताओं के आधार पर यहाँ कहा गया है कि जिस प्रत्ययात्मक (शतृ, शानच् रूप) के परतः (आगे) आने पर गुण (इ, उ, ऋ अक्षरों को ए, ओ, अर् हो जाना) तथा 'वृद्धि' (इ, उ, ऋ अक्षरों को ऐ, औ, आर् हो जाना) नहीं होते और विद्वानों में जो 'सत्' इस नाम से विख्यात है, उस ब्रह्म(शब्द) की हम उपासना करते हैं।

इसी प्रकार एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जहाँ लौकिक पुरुष के व्यवहार में व्याकरणशास्त्र के तत्पुरुषसमास के व्यवहार का आरोप किया गया है।

---

१. अष्टाध्यायी, ३/१/९१
२. वही, ३/४/११३
३. वही, १/२/४;
४. वही, १/१/५
५. वही, ३/२/१२७

'परार्थव्यासङ्गादुपजहदथ स्वार्थपरता-
मभेदैकत्वं यो वहति गुणभूतेषु सततम्।
स्वभावाद् यस्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा
समर्थो यो नित्यं स जयतितरां कोऽपि पुरुषः।'[१]

जो(पुरुष) परार्थ(परोपकार तथा अन्य अर्थ) को दत्तचित्त होने के कारण स्वार्थपरता(स्वार्थपरायणता तथा अपने अर्थ की प्रतिपादकता) को छोड़ते हुए गुणभूतों(आश्रितों तथा अप्रधान अर्थों) में हमेशा अभेद से एकता को धारण करता है और जिसके भीतर स्वभाव से ही ललित उदात्तमहिमा(उदारमाहात्म्य तथा उदात्तस्वर का माहात्म्य) स्फुरित होता रहता है, तथा जो नित्य समर्थ(सामर्थ्यवान् तथा एकार्थीभाव से सम्पन्न) है, वह कोई अनिर्वचनीय लोकोत्तर पुरुष(तत्पुरुष) सर्वोत्कर्ष से युक्त हैं।

इसके अर्थ का व्याकरणिक दृष्टि से स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है, जैसे परोपकारी पुरुष अपना कार्य छोड़कर दूसरे का कार्य सिद्ध करता है, उसी तरह तत्पुरुष समास में भी दोनों पद अपना अर्थ किसी तीसरे अन्य अर्थ के लिये त्याग देते हैं। परोपकारी व्यक्ति गौण लोगों में भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्तानुसार अभेदैक्य स्थापित करता है, उसी प्रकार तत्पुरुष में प्रथम पद गौण होता है और उसमें वह अभेदैक्य को स्थापित करता है। चाहे-'राज्ञः पुरुषः' हो, चाहे 'राज्ञो' और चाहे 'राज्ञाम्' सर्वत्र अभेदैक्य रहता है। परोपकारी पुरुष के हृदय में स्वभाव से ही सुन्दर और उदात्त अर्थात् उदार महिमा स्फुरित होती है और तत्पुरुष में सुन्दर उदात्तस्वर की महिमा स्फुरित होती रहती है। पाणिनि का सूत्र है, 'समासस्य'[२], जिसके अनुसार समास का अन्त उदात्त हुआ करता है। अतः तत्पुरुष में उस उदात्त का माहात्म्य स्फुरित होता रहता है। परोपकारी पुरुष हमेशा दूसरों का उपकार करने में समर्थ होता है और तत्पुरुष समास नित्य समर्थ होता है, क्योंकि पाणिनी का सूत्र है— 'समर्थः पदविधिः'[३] जिसका आशय यह है कि समास हमेशा समर्थ पदों का ही होता है। समर्थ से तात्पर्य उनके अन्वय से है। जिन पदों का अन्वय नहीं हो सकता, वे समर्थ नहीं होंगे और न उनका समास ही होगा। इस प्रकार तत्पुरुष(समास) सर्वातिशायी रूप से विद्यमान है।

तत्पुरुष समास के उपर्युक्त उदाहरण के अतिरिक्त प्रकृति व प्रत्यय के

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.७४; २. अष्टाध्यायी, ६/१/२२०
३. अष्टाध्यायी, २/१/१

प्रयोग से सम्बन्धित एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जहाँ व्याकरणशास्त्र के व्यवहार में राजा के व्यवहार का आरोप किया गया है—

'कृत्वा सूत्रैः सुगूढार्थैः प्रकृतेः प्रत्ययं परम्।
आगमान् भावयन् भाति वैयाकरणपुङ्गवः॥'[१]

श्रेष्ठ वैयाकरण 'सुगूढार्थ' (अत्यन्त गुप्त अर्थ वाले+अत्यन्त गुप्त प्रयोजन वाले) 'सूत्रों'(सूत्रों+व्यवस्थाओं) से 'प्रकृति'(प्रातिपदिक+कर्मचारियों) से+(के) 'पर'(आगे+अत्यन्त) 'प्रत्यय'(प्रत्यय+भरोसा) करके आगम(शास्त्रों+आय) की 'भावना करता हुआ'(लगाता हुआ+विचार करता हुआ) शोभित होता है।

पाणिनीय व्याकरण में 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्'[२] 'प्रत्ययः'[३], 'परश्च'[४] इन तीन सूत्रों द्वारा प्रकृति से परे प्रत्यय का विधान करने की बात कही गयी है। इसी वैयाकरण सिद्धान्त को श्लोक में उपर्युक्त सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है।

इसके अतिरिक्त रसगङ्गाधर के विभिन्न अलंकारों एवं उनके शाब्दबोधों के विवेचन-प्रसङ्ग में उनका व्याकरणशास्त्र विषयक ज्ञान अत्यधिक प्रौढ़ रूप में सम्मुख आता है। इनमें उपमा अलंकार का प्रसंग विशेष रूप से द्रष्टव्य है, जहाँ उन्होंने उपमा के विभिन्न भेदों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, इन उदाहरणों में आगत विभिन्न शब्दों का व्याकरणिक व्युत्पत्तिविवेचन किया है। अप्पय दीक्षित के उदाहरणों की समीक्षा में भी उन्होंने अप्पय के शब्दप्रयोगों में व्याकरणिक दृष्टि से त्रुटि निर्देश किया है। उपर्युक्त सभी स्थल उनके व्याकरणशास्त्र विषयक गहन पाण्डित्य के द्योतक हैं और उन्हें श्रेष्ठ वैयाकरण के रूप में स्थापित करते हैं।

५. अन्य ज्ञान

काव्यकला, काव्यशास्त्र, दर्शन व व्याकरणादि विषयों के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों का ज्ञान भी उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है। इसे निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त कर विवेचित किया जा सकता है—

(क) नीतिज्ञान

पण्डितराज की अन्योक्तियो, सूक्तियों व सुभाषित श्लोकों में प्रकृति के प्रत्यक्षतः अथवा विविध उपकरणों पर घटित होने वाले दृष्टान्तों के माध्यम से सांसारिक अनुभवों पर आधारित विविध नीतिकथन वर्णित हैं। इन्हीं नीति श्लोकों के कारण इनके नीति विषयक ज्ञान का पता चलता है तथा नीतिशास्त्र के सप्त

१. पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ.९४ श्लो.६१; २. अष्टाध्यायी, ४/१/१
३. वही, ३/१/१; ४. वही, ३/१/२

महारथियों में इनकी गणना होती है। उदाहरणार्थ, कुछ नीतिवाक्य द्रष्टव्य हैं— बड़ों के प्रति अविनय कल्याणकारक नहीं है।[१] उत्तम स्त्रियों का भी विश्वास नहीं किया जा सकता, यथा राजप्रिया(चन्द्रमा की प्रिया) कैरविणियाँ भी भँवरों के साथ विहार करती हैं।[२] रमणीय वस्तुवों से किसकी तृप्ति होती है, यथा भँवरा कमलिनी के पास से नहीं हटता।[३] अत्यन्त बलशाली व्यक्तियों से चपलता करने वाला कुबुद्धि पुरुष नष्ट हो जाता है, जैसे त्रिपुरारि शिव के विषय में वीरता दिखलाने वाला घमण्डी कामदेव।[४] अमित गुणवाला पदार्थ भी एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है, जैसे समग्र रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन उग्र गन्ध के कारण निन्दित हो जाता है।[५] वेदान्त में पारंगत होने पर भी दुष्ट, सज्जन नहीं हो जाता, जैसे दीर्घकाल तक समुद्र में डूबा रहने पर भी मैनाक पर्वत कोमलता नहीं प्राप्त करता।[६] अपने स्वार्थ के लिये धनवान् से धन की याचना करने वाले व्यक्ति का मुख मलिन हो जाय, तो इसमें आश्चर्य क्या, जबकि परोपकारार्थ समुद्र से जल ग्रहण करने वाला मेघ ही सम्पूर्ण रूप से काला हो जाता है।[७] सांसारिकजन अन्तःतत्त्व के विषय में विचार न कर बहिर्बुद्धि वाले होते हैं।[८] निर्गुणियों के प्रति गुण प्रदर्शित करना कल्याणकारक नहीं होता।[९] आश्रित व्यक्तियों में गुण दोष का विचार नहीं करना चाहिए।[१०] विधाता के विपरीत होने पर विपदाओं से निवृत्ति सम्भव नहीं है।[११] प्रायः भाग्यरहित मनुष्य जहाँ जाते हैं, आपदाएँ भी वहाँ पहुँचती हैं।[१२] मूर्ख व्यक्ति अपमानित होने पर भी अभिमान नहीं धारण करते।[१३] महान् व्यक्तियों के लिये नीचों का आश्रय अपमान का कारण है।[१४] वैभवकाल में भी जो कठोरता धारण करे, उसके पास किसी आशा से जाना व्यर्थ हैं।[१५] पण्डित वही है, जिसको अपने हित का ज्ञान हो, हित वह है जिसमें दूसरे का अपकार न हो, दूसरे वे हैं, जो सत्पुरुषतायुक्त हैं और सत्पुरुषता वह है, जिसमें भगवान् केशव शोभित हो रहे हों।[१६]

---

१. लक्ष्मी ल., श्लो.२०;
२. प्रास्ता वि., श्लो.१२०।
३. पं.का.सं., पृ.९३, श्लो.४५;
४. वही, पृ.९०, श्लो.३।
५. प्रास्ता वि., श्लो.७६;
६. वही, श्लो.८२।
७. वही, श्लो.९६;
८. अव.अन्यो., श्लो.७७।
९. वही, श्लो.१२८;
१०. अव.अन्यो., श्लो.२०४
११. वही, श्लो.३४५;
१२. वही, श्लो.२१४
१३. वही, श्लो.३७३;
१४. वही, श्लो.५६१
१५. वही, श्लो.५६५;
१६. पं.का.सं., पृ.१०५, श्लो.१९८

इसी प्रकार अन्य अनेक श्लोकों में सुन्दर नीतिकथन वर्णित हुए हैं; जिनसे उनके नीतिशास्त्र विषयक ज्ञान का पता चलता है।

(ख) भागवत ज्ञान

पण्डितराज श्रीमद्भागवत के भी गहन पारायणकर्ता थे। इसका पता उनके उस श्लोक से चलता है, जिसमें श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अध्याय ८ में आगत वर्णन के आधार पर प्रलयकाल के बाद विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न उस अद्वितीय प्रकाशमान लोकतत्त्व रूप कमल का वर्णन किया गया है, जिससे स्वयंभू ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।

श्रीमद्भागवत के अनुसार प्रलय के पश्चात् सृष्टिरचना के निमित्त भगवान् के नाभिदेश से कर्मशक्ति को जाग्रत करने वाले काल के द्वारा उनमें निहित लिङ्ग शरीरादि सूक्ष्मतत्त्व कमलकोश के रूप में ऊपर उठा और उसने सूर्य के समान अपने तेज से प्रलयकाल की उस अपार जलराशि को देदीप्यमान कर दिया। सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करने वाले उस सर्वलोकमय कमल में वे विष्णु भगवान् अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हो गये और तब उसमें से बिना पढ़ाये ही सम्पूर्ण वेदों को जानने वाले साक्षात् वेदमूर्ति ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। उस समय अपार जलराशि से ऊपर उठे, उस कमल पर विराजमान ब्रह्मा जी को अपना व लोकतत्त्व रूप कमल का कुछ रहस्य न जान पड़ा। वे इस रहस्य को जानने हेतु कमल की नाल के सूक्ष्म छिद्रों से होकर उस जल में घुसे; पर वे सहस्त्रों काल बीत जाने पर भी उसका रहस्य न जान सके व विफल मनोरथ हो वहाँ से लौट आये।[१]

भागवत की इस विचारधारा का उल्लेख उनके इस श्लोक में हुआ है—

'सम्भूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्नं
यन्नालं स त्रिभुवनगुरुर्वेदनाथो विरिञ्चिः।
ध्येयं धन्यालिभिरतितरां स्वप्रकाशस्वरूपं
पद्माख्यं तत् किमपि ललितं वस्तु वस्तुष्टयेऽस्तु।'[२]

पद्म नामक वह कोई ललित वस्तु आपके लिये संतोषप्रद हो, सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति के लिए विष्णु की नाभि में पहुँची हुई जिसकी डंडी को

१. श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, १०-२१

२. पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ.१०५, श्लो.२०१

त्रिलोकी के गुरु और जगत् के उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा भी नहीं जानते(उन्होंने भी जिसका अन्त नहीं पाया); जो धन्य भ्रमरों के अत्यन्त ध्यान का विषय है, जिसका स्वरूप स्वप्रकाश है(क्योंकि विकासक सूर्य तो उस समय उत्पन्न ही नहीं हुआ था)।

(ग) ज्योतिष ज्ञान

पण्डितराज को ज्योतिष का भी ज्ञान था। यद्यपि उनके इस शास्त्र के गूढ़ ज्ञान बताने वाले श्लोक तो नहीं मिलते; लेकिन दो श्लोक ऐसे हैं, जिनमें ज्योतिषशास्त्र में मान्य नवों ग्रहों का वर्णन किया गया है।[१] इन श्लोकों से उनके ज्योतिषविषयक ज्ञान होने का भी पता चलता है।

इस समस्त विवेचन से सिद्ध होता है कि पण्डितराज उपरिवर्णित विविध शास्त्रों के गहन अध्येता थे। उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व की भाँति उनका पाण्डित्य भी विलक्षण और बहुमुखी था।

●

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो.१७; पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, पृ.१०३, श्लो.१८१

तृतीय अध्याय

स्तुतिपरक रचनाएँ

स्तुतिकाव्य से तात्पर्य

भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित है। भारतीय धर्म का आधारपीठ है आस्तिकता, सर्वशक्तिशाली जगन्नियन्ता भगवान् की जागरूक सत्ता में अटूट विश्वास। भगवान् के प्रति भक्तिभाव के इस प्राचुर्य ने संस्कृत में एक विशाल साहित्य को जन्म दिया है, जो स्तोत्रसाहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है।

संस्कृत में स्तोत्र-काव्यपरम्परा बड़ी विशाल व समृद्ध है। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन सभी सम्प्रदाय के स्तोत्रों से संस्कृतसाहित्य परिपूर्ण है। इनमें अपने-अपने अभीष्ट भगवान् के प्रति उत्कट आसक्ति, तीव्र अनुरक्ति और अनन्य श्रद्धा के भाव वर्णित हुए हैं।

यह कहा जा सकता है कि ये स्तोत्र मनुष्य के आध्यात्मिक विश्वास की व्यावहारिक अभिव्यक्ति रूप हैं। यह मानव के अन्तर्मन में विद्यमान आत्मा की एक मौलिक व गहन अनुभूति का प्रकाशन हैं। जब कभी मनुष्य आपद्ग्रस्त होता है, अपनी दुर्बलता व दोषों पर पश्चात्ताप करता है, पूर्ण व समृद्ध जीवन की अभिलाषा करता है, नैतिक व आध्यात्मिक सुधार चाहता है या जीवनसंघर्ष में मनोबल व प्रेरणा चाहता है, तो वह पराशक्तियों से सम्बलप्राप्ति की ओर उन्मुख होता है। उसकी यह चाह स्तुति काव्यों के रूप में प्रगट होती है, जिनमें वह जगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान् भगवान् के विविध रूपों का सुन्दर स्तवन करता है। अत: भगवदाराधनापरक काव्य ही स्तुतिकाव्य के रूप में परिगण्य हैं।

पण्डितराज की स्तुतिपरक रचनाएँ

पण्डितराज की पाँच रचनाओं में ईश्वरीय शक्ति के विविध रूपों का ऐसा ही सुन्दर स्तवन तथा उनसे अवलम्बन व आश्रयप्राप्ति की ऐसी ही उत्कट चाह वर्णित है। अत: विषयस्वरूप की दृष्टि से ये रचनाएँ स्तुतिकाव्य की श्रेणी में

आती हैं। ये स्तुतियाँ भी लहरी शीर्षक से रचित हुई हैं। अत: इन रचनाओं की समीक्षा करने से पूर्व लहरी शीर्षक से लिये जाने वाले अर्थ को समझना आवश्यक है।

लहरी से तात्पर्य

लहरी शब्द ल + हृ + इन् + ङीष् लगा कर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, तरङ्ग या लहर। काव्य के लिये इस शब्द का प्रयोग करने पर इसका अर्थ विचार या भावतरङ्ग इस रूप में लिया जा सकता है।

लहरी काव्यों की उत्पत्ति और विकास परम्परा

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी ने संस्कृत भाषा में लिखे अपने 'लहरी-लीलायितम्'[१] नामक लेख में लहरी काव्यों की उत्पत्ति तथा विकास परम्परा का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। इनमें उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि लहरीकाव्य मानव की भक्तिभावना का ही एक विकसित रूप हैं। उनकी विवेचना के अनुसार मनुष्य अपने उदय काल से लेकर सर्वत्र अपने आश्रय को खोजते हुए कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सका था। अन्त में उसने प्रकृति का आश्रय लिया, परन्तु जब उसे आभास हुआ कि यह प्रकृति निश्चेतन है तथा केवल शोभादायक है, तो उसने उससे भी उन्नत जीवात्मा का अन्वेषण प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप उसने पुरुष के स्वरूप को पहचाना। पुरुष भी रूप और भोग के जाल में फँसा रहता है। वह भी स्थायी शान्ति का प्रतीक नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वल्पज्ञ होता है। अत्यधिक अन्वेषण के पश्चात् उसने जाना कि परमात्मा ही बहुज्ञ है और वही चिरस्थायिनी शान्ति प्रदान कर सकता है। फलत: सांसारिक तत्त्वों का परित्याग कर उस चिरन्तन परमतत्त्व को जानने के लिये उसने अनेक उपाय प्रारम्भ किये, जो जीवात्मा से बलवत्तर होता है, अत: व्यग्रता से, श्रद्धा से, एकाग्रता से ज्योतिर्मयी उस त्रिसत् सत्ता को वह खोजता रहा। उसके पास अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं था।[२] उसे प्राप्त कर उसकी यह भावना दृढ़ हो गई कि वही परम तत्त्व हमारा बन्धु है, विधाता है।[३] उसे

१. 'लहरीलीलायितम्' डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, सागरिका, प्रथम वर्ष, प्रथम अंक, संवत् २०१९, पृ. ५७-६८।

२. नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय, (शुक्लयजुर्वेद ३१।१८)

३. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता, (शुक्लयजुर्वेद ३२।१०)

प्राप्त कर मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।[१] इसी तथ्य की अभिव्यक्ति ऋग्वेद के इस मन्त्र से भी होती है—

अयमग्ने जरीता त्वे अभूदपि सहसः सूनो न ह्यन्यदस्त्याप्यम्।
भद्रं हि शर्म्म त्रिवरुथमस्तित आरे हिंसानामप विद्युमा कृधि[२] ।।

प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा इन तीन रूपों में विद्यमान यह त्रिवरूथ मनुष्य को सांसारिकता में लिप्त होने के बाद संशयात्मक स्थिति में डाल देता है और जब उसे यह ज्ञान होता है कि विष्णु के परम पद में उस अमरत्व का झरना विद्यमान है, तो उसे प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक समझ कर वह भक्तितत्त्व का आश्रय लेता है—

'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी'

उसकी भक्ति-भावना का मूल होता है, वह ईश्वर हमें सुख प्रदान करें और हमारे दुखों का निवारण करें—

'यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म्म'[३]

भक्ति के विभिन्न रूपों से ही चिर शान्ति प्राप्त हो सकती है, यह प्रायः समस्त भक्तों की भावना रही है। वे समस्त सांसारिक क्रियाओं को भक्ति के विभिन्न रूपों में ढ़ाल देते हैं। उनकी भक्ति मनन, कीर्तन आदि से प्रकल्पित नवरसों से परिपूर्ण होती है।[४] उसके माध्यम से भक्तगण अपने आपको सांसारिकता से हटाते हुए भक्तियोग में लीन करते हैं। जब वे मनन, कीर्तन, ध्यान, भगवत्स्मरण, भगवत्पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन रूप भक्ति की प्रगाढ़ता में लीन होते हैं, तब उनकी प्रत्येक क्रिया संगीतात्मक हो उठती है और भक्ति में जब स्वर का संयोग होता है, तब एक विचित्र काव्य की सृष्टि होती है। इसी काव्य को विद्वानों ने लहरीकाव्य की संज्ञा दी है।

डॉ. त्रिपाठी ने लहरी काव्यों का मूल रूप भी सर्वविद्यानिधान वेद में माना है। उनकी धारणा है कि जब शैव ब्राह्मण यजुर्वेद के रुद्राष्टाध्यायी के

१. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, शुक्लयजुर्वेद ३१/१८।
 य़स्यच्छायाऽमृत, शुक्लयजुर्वेद २५/१३
२. ऋग्वेद, १०/१४२/१। ३. वही, २/२७/६
४. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पादसेवनम्।
 अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्
 इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।।
 श्रीमद्भागवत, ७।५।२३-२४

पञ्चम अध्याय के मन्त्रों को नमो नमो, चमे-चमे के द्वारा प्रस्तुत करते हैं और अपने अभीष्ट देवता शिव का सहस्रधारा से पूजन करते हैं, तो उस भक्तियोग में स्वरलहरी का संयोग सुनाई पड़ता है। वहाँ प्रयुक्त नमो-नमो तथा चमे-चमे शब्द की आवृत्ति श्रोताओं को भी भक्तिविभोर कर देती है। उसी के साथ जब श्रीपुष्पदन्त विरचित 'महिम्नस्तोत्र' का संगीतमय पाठ प्रस्तुत किया जाता है, तो वह मन्द-मन्द बहने वाली नदियों की कल-कल ध्वनि के समान कर्णसुखद प्रतीत होता है। अपनी मान्यता को उन्होंने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

'प्रोच्छलन्तीभ्यः परापतन्तीभ्यो लहरीभ्यो यथा परालहर्यः समुदयन्ते।
तथैव स्तुतिलहरीणामप्याविर्भावः स्तुतिलहरीभ्यः एवेति निश्चप्रचम् ॥'[१]

अर्थात् उच्छलित होती हुई, तरंगित होती हुई जल लहरियों से जैसे दूसरी लहरियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही स्तुति-लहरियों से भी स्तुति-लहरियों का आविर्भाव होता है।

डॉ. त्रिपाठी के इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्तोत्र-साहित्य या स्तुति-लहरियों से ही लहरीकाव्य आविर्भूत हुए हैं।[२]

लहरी काव्य की परिभाषा

लहरी काव्यों की उत्पत्ति और विकास-परम्परा के इस विवेचन के आधार पर लहरी काव्यों के स्वरूप को इस रूप में परिभाषाबद्ध किया जा सकता हैं—

'किसी कवि की भावलहरी निश्चित छन्दोबद्ध रूप में मूर्त होकर जब विचारों को साकार रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम होती है, तो वही लहरी काव्यों के रूप में समादृत होती है। शान्त समुद्र में जिस प्रकार वायु के एक हल्के झोंके से एक लहरी उठती है और वह अन्य लहरियों को उत्पन्न करती हुई एक परम्परा के रूप में साकार हो जाती है, उसी प्रकार एक भक्त कवि के हृदय से भावना रूपी वायु के झोंके से अभिव्यक्त हुई विचारलहरी क्रमशः अनेक विचार लहरियों को जन्म देती रहती है और इन्हीं भावलहरियों का मूलरूप काव्यरूप में लहरी काव्यों के नाम से सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है।

१. लहरीलीलायितम्, सागरिका, प्रथम वर्ष, प्रथम अंक, संवत् २०१९, पृ. ६०।

२. लहरीलीलायितम्, पृ. ५७-६० के अध्ययन पर आधारित।

प्रसिद्ध लहरीकाव्यों का नामोल्लेख

संस्कृत साहित्य के इतिहास में लहरी काव्यों की विकास परम्परा के विषय में अन्वेषण करने पर हमें सर्वप्रथम श्रीमदाद्यजगद्गुरु शङ्कराचार्य विरचित सौन्दर्यलहरी का नाम प्राप्त होता है। इसमें जगज्जननी आदिशक्ति स्वरूपा भगवती त्रिपुरसुन्दरी की स्तुति की गई है। इसके अतिरिक्त आचार्य शङ्कर की कुछ अन्य लहरियाँ भी नामत: प्राप्त होती हैं। ये हैं—आनन्दलहरी, जीवन्मुक्ताभेदलहरी,. शिवानन्दलहरी, दत्तकारुण्यलहरी, नर्मदालहरी, गणेशलहरी, अभेदात्माभेदलहरी।

शङ्कराचार्य की इन स्तुति लहरियों के पश्चात् लहरीकाव्यों की विकास-परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ विरचित लहरियाँ प्रमुख हैं। इन्होंने गंगा, यमुना, विष्णु, लक्ष्मी, व सूर्य की आराधना में क्रमश: गङ्गालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी व सुधालहरी की रचना की।

इसके अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी लहरी काव्यों का प्रणयन किया। उनमें केवल भगवदाराधना ही नहीं प्राप्त होती, अपितु वर्णन, चरित्र, आध्यात्मिक भावनाएँ, कर्तव्यसंदेश, वेदान्तचिन्तन व स्वतन्त्र विचार भी वर्णित हैं। हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी लहरीकाव्यों की रचना हुई है। इस प्रकार लहरीकाव्यों का निरन्तर विकास होता गया।

लहरीकाव्य: काव्यस्वरूप की दृष्टि से

लहरी काव्यों की उत्पत्ति एवं विकासपरम्परा की विवेचना करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि लहरीकाव्य गेय होने के कारण काव्यरूप की दृष्टि से गीति-काव्यों के ही भेद हैं। प्रथमत: इनमें भी जो रचनाएँ धार्मिक गीति-काव्य की श्रेणी में आती थीं, अर्थात् भक्तिप्रधान थीं, वे 'लहरी' काव्य के शीर्षक से रची गयीं। समयान्तर में यह भक्तितत्त्व क्षीण पड़ता गया व उनके स्थान पर अन्य महत्त्वपूर्ण चिन्तन, चित्रण, विचार, लहरी शीर्षक से रचित होने लगे। अत: लहरी-काव्य जो कि मूलरूप में भक्तिमय स्तोत्र थे, कालान्तर में शुद्ध भक्तिकाव्य नहीं रह गये।

लहरी-काव्यों की विशेषताएँ

लहरीकाव्य चूँकि गीति काव्य के ही प्रभेद हैं, अत: गीति काव्य की सभी विशेषताएँ लहरी-काव्यों में भी पाई जाती हैं। एक प्रमुख विशेषता यह

है कि लहरीकाव्य गेय और सहज अन्त: उद्‌गार रूप होते हैं। उनमें स्तुति, प्रार्थना व भक्ति तत्त्व के अतिरिक्त गीति काव्य में प्राप्य अन्य विशेषताएँ १. भावमयता, २. भावान्विति, ३. संक्षिप्तता, ४. सहज अन्त:प्रेरणा, ५. सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति, ६. माधुर्य व ७. कोमलता प्राप्त होती हैं।

निष्कर्ष

इस समस्त विवेचन के फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि लहरी काव्य स्तुतिकाव्य के ही अङ्ग हैं। पौराणिक धर्म के अनुसार लोककल्याण व वैयक्तिक सुख-समृद्धि का मूल स्रोत अदृश्य ईश्वरीय शक्ति हैं, जिनके अनेक रूप हैं। उसी की कृपा से मनुष्य की समस्त आपदाओं, चिन्ताओं का विनाश व सर्वविध कल्याण हो सकता है। फलत: स्वकल्याण की कामना ने मानव को उस अदृश्यशक्ति को प्रसन्न करने के लिये प्रेरित किया, जिसकी अभिव्यक्ति स्तुति-काव्यों के रूप में समक्ष आयी। इन्हीं स्तुतियों में से कुछ स्तुतियाँ, जिनमें भक्ति, भाव व सुर तीनों का समन्वय था, लहरी शीर्षक से रचित हुईं। काव्य स्वरूप की दृष्टि से ये धार्मिक गीतिकाव्य का प्रभेद हैं।

पण्डितराज के लहरी काव्य

लहरी-काव्यों की परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ विरचित लहरियाँ प्रमुख हैं। ये लहरियाँ संख्या में पाँच है। इन्होंने गङ्गास्तुतिरूपा 'गङ्गालहरी', यमुना स्तुतिरूपा 'अमृतलहरी', विष्णुस्तुतिरूपा 'करुणालहरी', लक्ष्मीस्तुतिरूपा 'लक्ष्मीलहरी' व सूर्यस्तुतिरूपा 'सुधालहरी' की रचना की, जो कि काव्यसौन्दर्य व भक्तिभाव दोनों ही दृष्टियों से हृदयावर्जक हैं।

गङ्गालहरी

'समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथमूर्तं सुमनसां
सुधासौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥'

इस स्तुत्यात्मक श्लोक से प्रारम्भ होने वाली, नीराकार ब्रह्मद्रवस्वरूपा भगवती गङ्गा की अभ्यर्थना में विरचित गङ्गालहरी भक्तिभावपूर्ण सुललित रचना है; जिसमें गङ्गा को अभीष्ट-वरप्रदायिनी, सकल-पापोद्धारिणी, अज्ञानविनाशिनी, शान्तिदायिनी, विष्णुपदप्रदायिनी मातृस्वरूपा मानकर उनकी

अपूर्व महत्ता का गुणगान एवं स्वोद्धार के निमित्त अत्यन्त भावप्रवण आत्मनिवेदन वर्णित है।

भारतीय संस्कृति में 'गङ्गा' की मान्यता समस्त आनन्द-मङ्गल की विधायिनी, ऐहिक-पारलौकिक विपदाओं की विनाशिनी, सुख-समृद्धि-प्रदायिनी अमृतनिधि के रूप में है। गमनार्थक 'गम्' धातु से औणादिक 'गन्' प्रत्यय एवं स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' किये जाने पर 'गङ्गा' शब्द की निष्पत्ति होती हैं; जिसका अर्थ है, निरन्तर गतिशील। परन्तु पौराणिकों ने इसकी अनेक व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, जिनके अनुसार 'गम्यते ब्रह्मपदमनया इति गङ्गा', ब्रह्मपद प्राप्त कराने के कारण, 'गां पृथ्वीं हरेरङ्घ्रिपद्मात्, ब्रह्मणोऽमत्रात् ईशोत्तमाङ्गात् गता इति गङ्गा' अर्थात् हरि के चरणकमल से, ब्रह्मा के कमण्डलु से एवं शिव के मस्तक से पृथ्वी पर आने के कारण 'गम्यते सोपानभूतया यया स्वर्गः, सा गङ्गा' अर्थात् जिस सोपानस्वरूपिणी द्वारा स्वर्ग तक जाया जाता है, वह गङ्गा है, या 'गमनाद् गङ्गेति' अर्थात् गमन करने वाली होने से इन्हें गङ्गा माना गया।

ब्रह्म के त्रिविध स्वरूपों नराकार, निराकार एवं नीराकार में से नीराकार ब्रह्मद्रवरूपिणी गङ्गा के पृथ्वीतल पर आविर्भाव के सम्बन्ध में, उनके अपरिमित माहात्म्य के सम्बन्ध में अनेक पौराणिक कथाएँ हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण एवं बृहन्नारदीयपुराण के अनुसार श्यामलकान्ति कृष्ण एवं गौरकान्ति राधा के पारस्परिक अनुराग भाव से द्रवित हो दिव्यनीरयुता बनीं, भगवान् वामन के त्रैलोक्य को नापने के क्रम में उनके वाम पादाङ्गुष्ठ के पदाघात से अन्तरिक्ष लोक से प्रस्रवित हुईं, ब्रह्मा के शाप से राजा शान्तनु की प्रिया एवं अष्ट वसुवों की माता के रूप में आगत, महर्षि कपिल की क्रोधाग्नि से दग्ध, सगरपुत्रों के उद्धार के निमित्त राजा भगीरथ के प्रयास से अवतरित हुईं गङ्गा की अपरम्पार महिमा भारतीय वाङ्मय की अनेकानेक प्रतिभाओं को प्रेरित करती रही है। पण्डितराज की भावोर्मियों को भी भगवती गङ्गा की पावन तरङ्गों ने दोलायित किया व इसका सुपरिणाम आया 'गङ्गालहरी' के रूप में।

५२ श्लोकों में निबद्ध, विविध छन्दों से सुसज्जित गङ्गा के यश, माहात्म्य, गुणसंकीर्तन एवं स्तवन को समर्पित इस लहरी में भगवती गङ्गा के नाना लोकोपकारक गुणों का विविध भाँति प्रख्यापन किया गया है, एवं अपने दैन्य, असामर्थ्य, विवशता, विषाद, पीड़ा आदि का वर्णन करते हुए, उनके प्रभुत्व, सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य के निरूपणपूर्वक उनकी चरणशरण प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है।

माहात्म्य वर्णन

पौराणिक मान्यतानुसार गङ्गा नीराकार ब्रह्मस्वरूपा हैं। यही आस्था गङ्गालहरी में भी प्रतिपादित हुई है, जहाँ गङ्गा को वेदों द्वारा भी अवर्णनीय, प्राणियों के मन-क्रम-वचन से अगोचर, सदा प्रकाशस्वरूप, नित्य शुद्ध-बुद्ध सार तत्त्वस्वरूप ब्रह्म का ही रूप कहा गया है—

'न यत् साक्षाद् वेदैरपि गलितभेदैरवसितं
न यस्मिन् जीवानां प्रसरति मनोवागवसरः।
निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमो
विशुद्धं यत् तत्त्वं सुरतटिनि तत् त्वं न विशयः।।'[१]

गङ्गाजल को सम्पूर्ण भूमण्डल का सौभाग्यस्वरूप, भगवान् शिव की महाविभूति रूप, वेदों का सारतत्त्व, देवों की पुण्यमूर्ति व अमृतसदृश निर्मल बताया गया है। यही नहीं वह समस्त धर्मों का आगारस्थान, नित-नवीन हर्षों का जनक, समस्त तीर्थों में अग्रणी, बुद्धि का विवेकमय समाधान, निर्बुद्धि का आवरण, त्रैलोक्य का निर्मल परिधान एवं लक्ष्मी का निवास स्थान कहा गया है—

'निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः।'[२]

गङ्गालहरी में गङ्गा के जनकल्याणकारी विविध गुणों का विविध भाँति गुणगान किया गया है। कवि की आस्थानुसार गङ्गा की पापापहारिणी क्षमता अद्वितीय है। वे अपनी मुक्तिदायिनी क्षमता के कारण तीनों लोकों में विजयित हैं।[३] सामान्य पापकर्मों के प्रक्षालन का तो प्रश्न ही क्या? जिन पाप कर्मों का कोई प्रायश्चित भी सम्भव नहीं, वे उनसे भी मुक्ति दिलाने वाली हैं—

'अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्।
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे ।।'[४]

---

१. गङ्गालहरी, श्लोक १०; २. तत्रैव श्लोक १८।
३. तत्रैव श्लोक १७; ४. तत्रैव श्लोक १७।

घोरतम पापकर्मियों को भी अपने माहात्म्य से उबार लेने वाली, उन्मत्तों, दुर्जनों, संस्काररहित जनों द्वारा भी त्याज्य पापों का विनाश करने वाली गङ्गा सर्वथा दुखी व संतप्त जीवों के उद्धार की अनन्य गति के रूप में वर्णित हैं—

'विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यैः सपुलकमपास्यानि पिशुनैः।
हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि क्रियतां
कदाप्यश्रान्ता त्वं जगति पुनरेका विजयसे ॥'[१]

वे अन्धों, मूर्खों, गूगों, बहरों, निर्धनों व देवताओं द्वारा भी अरक्षणीय, नरक में गिरे मनुष्यों का उद्धार करने वाली तथा उनका दुःख दूर करने के लिये श्रेष्ठ औषधि स्वरूपिणी हैं—

'निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपतितो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ॥'[२]

पापविदारण के अतिरिक्त गङ्गा मनुष्यों के अज्ञानान्धकार का नाश करने में सुतरां समर्थ हैं। कवि का वक्तव्य है कि जैसे चन्द्रकिरणें अन्धकार का विदलन कर देती हैं, उसी प्रकार वे पुण्यात्माओं के अतिरिक्त पुण्यहीन मनुष्यों की भी आन्तरिक तामसी प्रवृत्तियों का नाश करने वाली हैं—

'स्मृतिं याता पुंसामकृतसुकृतानामपि च या
हरत्यन्तस्तन्द्रां तिमिरमिव चन्द्रांशुसरणिः ॥'[३]

अविद्यान्धकार के विनाश में वे गुरु की भाँति वस्तुतः दीक्षित हैं—

'अपि द्रागाविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुरिह।'[४]

यह एक भावुक भक्त कवि का अपनी आराध्या के प्रति अनन्य विश्वास ही है; जो उन्हें यह कहने को प्रेरित करता है—

'ललाटे या लोकैरिह खलु सलीलं तिलकिता
तमो हन्तुं धत्ते तरुणतरमार्तण्डतुलनाम्।
विलुम्पन्ती सद्यो विधिलिखितदुर्वर्णसरणिं
त्वदीया सन्मृत्स्ना मम हरतु कृत्स्नामपि शुचम् ॥'[५]

---

१. गङ्गालहरी श्लोक १३; २. तत्रैव श्लोक १५।
३. तत्रैव श्लोक ५; ४. तत्रैव श्लोक २; ५. तत्रैव श्लोक ४२।

हे देवि! जो लोगों द्वारा ललाट पर लीलापूर्वक धारण किए जाने पर प्रचण्ड सूर्य के साम्य को धारण कर अविद्यान्धकार का नाश करती है एवं शीघ्र ही भाग्य द्वारा लिखित दुर्दम्य अक्षरों को समेट देती है, आपकी वही सन्मृत्तिका मेरे समस्त शोक को विनष्ट करे।

पापंविनाशन एवं अज्ञानविनाश का ही यह सुपरिणाम है कि गङ्गा शान्तिदायिनी हैं। पण्डितराज की आस्थानुसार 'गङ्गा' इस शब्द मात्र में इतना चमत्कार है कि उसके स्मरण मात्र से मन की समस्त उद्विग्नताओं का नाश हो जाता है। उच्चारणमात्र से सभी पीड़ाओं का प्रशमन हो जाता है।[१] फलत: मृत्युशय्या पर पड़े रहने पर भी कवि गङ्गा के नामोच्चारण मात्र करने की ही अभिलाषा करता है—

'इदं तद् गङ्गेति श्रवणरमणीयं खलु पदं
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्तर्विलसतु ॥'[२]

पण्डितराज की मान्यतानुसार गङ्गा दरिद्रों की दरिद्रता, दुखीजनों का दुख-दैन्य[३], भदबाधाग्रस्त जनों की भवबाधा का हरण करने[४], शोकों के शमन एवं कष्टों के विदारण हेतु ही स्वर्ग से पृथ्वीतल पर आई हैं।[५] उनके स्मरण, स्नान, ध्यान या पूजन करने मात्र से ही मनुष्यों की मुक्ति हो जाती है।[६] पापी व पुण्यात्मा में प्रभेद न करने वाली गङ्गा सकल मानवमात्रोद्धारिणी हैं।[७]

पण्डितराज ने गङ्गा को विष्णु के अनिर्वचनीय धाम को प्राप्त कराने वाली के रूप में वर्णित किया है। उनका कथन है कि गङ्गा के अद्‌भुत माहात्म्य के कारण विष्णु का वह दुर्लभ धाम, जो नाना प्रकार के दुस्तर तप-ध्यान-विधान व महादानों से भी साधकों को प्राप्य नहीं, गङ्गाभक्तों को अनायास प्राप्त हो जाता है—

'महादानैर्ध्यानैर्बहुविधवितानैरपि च यन्
न लभ्यं घोराभिः सुविमलतपोराशिभिरपि।
अचिन्त्यं तद् विष्णोः पदमखिलसाधारणतया
ददाना केनाऽसि त्वमिह तुलनीया कथय नः॥'[८]

---

१. स्मृतं सद्यः स्वान्तं विरचयति शान्तं सकृदपि ।
प्रगीतं यत् पापं झटिति भवतापं च हरति ।। गङ्गालहरी श्लोक ८
२. तत्रैव, श्लोक ८; ३. तत्रैव, श्लोक २।
४. तत्रैव, श्लोक १२; ५. तत्रैव, श्लोक १४।
६. तत्रैव, श्लोक ८; ७. तत्रैव, श्लोक ४५; ८. तत्रैव, श्लोक ११।

भगवती गङ्गा को केवल शारीरिक व भौतिक संतापों का ही प्रशमन करने वाली नहीं; प्रत्युत आन्तरिक एवं आध्यात्मिक शान्ति की दायिनी भी कहा गया है। इस आध्यात्मिक शान्ति के अविनाशी बीज को उनकी चंचल तरंगों में सदैव प्रवहमान बताया गया है। इसी कारण कवि ने मात्र गङ्गा जल के पान से होने वाले आनन्द के सम्मुख मोक्ष-मार्गगत आनन्द को भी तुच्छ समझा है—

'सुधातः स्वादीयः सलिलभरमातृप्तिपिबतां।
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम् ॥'[१]

स्वरूपवर्णन

विष्णुपदप्रदायिनी, अभीष्टदायिनी, पापविदारिणी गङ्गा के मूर्तिमान् पौराणिक स्वरूप का सुन्दर वर्णन भी गङ्गालहरी में चित्रित है। वे शरद्कालीन चन्द्रमा के समान कान्तिमती, अमृतधारा के समान दीप्तमती व आभूषणों से सुसज्जित हैं। उनके मस्तक पर श्वेत सर्प व अर्धचन्द्र से युक्त सुन्दर मुकुट सुशोभित है और उनके हाथों में क्रमशः कलश, कमल, वरदान व अभयदान की मुद्रा हैं—

'शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलश्वेतालमुकुटां
करैः कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीम्।
सुधाधाराकाराभरणवसनां शुभ्रमकर-
स्थितां त्वां ये ध्यायन्त्युदयति न तेषां परिभवः ॥'[२]

आत्मनिवेदन

स्वरूपवर्णन एवं माहात्म्य के अतिरिक्त गङ्गालहरी में पण्डितराज की अपनी इष्टदेवी के प्रति निवेदित आकुल पुकार भी नानाविध रूप में वर्णित है। इस निवेदन में श्रद्धा व विश्वास का समन्वय है। दैन्य इसका मूलाधार है। इसी दैन्यभाव से व्याकुल हो उन्होंने अपनी आराध्या के महिमातिशय व अपने क्षुद्रत्व तथा लघुत्व का वर्णन किया है। स्वयं को अनाथ, गतिहीन, पतित, रोगग्रस्त व तृष्णाकुलित बताते हुए उन्हें सहज स्नेहार्द्र जननी, सद्गतिदायिनी, विश्वोद्धारिणी, रोगौषधिरूपिणी तथा तृष्णासमापिनी मानते हुए उनसे सर्वविध शरण प्राप्ति की कामना की है—

---

१. गङ्गालहरी श्लोक ६।

२. तत्रैव, श्लोक ४८।

'अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदां
पतन् विश्वोद्धर्त्रीं गदविगलितः सिद्धभिषजम् ।
सुधासिन्धुं तृष्णाकुलितहृदयो मातरमयं
शिशुः संप्राप्तस्त्वामहमिह विदध्याः समुचितम् ।'[१]

उनका दैन्यपूर्ण आत्मनिवेदन और भी तीव्र हो उठा है, जब वे अपने दोषों का उद्‌घाटन करते हुए माँ गङ्गा से अपने समस्त अवगुणों व अपराधों को क्षमा कर देने की प्रार्थना करते हैं। अपने को कुकर्मी, मिथ्याभाषी, परदाराभिगमन इत्यादि अनेक निकृष्ट दुर्गुणों से युक्त कुपुत्र बताते हुए माँ गङ्गा से अपने जैसे कुपुत्र को क्षमा कर देने की पुकार लगा उठे हैं—

'श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथमिथ्याप्रलपनं
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम् ।
अपि श्रावं श्रावं मम तु पुनरेवंविधगुणा-
नृते त्वत् को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम् ॥'[२]

यही नहीं स्वयं को चाण्डालों द्वारा भी परित्यज्य पापसमूहों का भण्डार एवं साक्षात् नरपशु मानते हुए वे स्वयं को भगवती की स्तुतियोग्य भी नहीं समझते,[३] तथापि उनका भक्तहृदय पुनः भावविभोर हो बारम्बार उद्धार की कामना करने लगता है—

'इमं तं मामम्ब त्वमियमनुकम्पार्द्रहृदये
पुनाना सर्वेषामघमथनदर्पं दलयसि ॥'[४]

पण्डितराज की इस भक्ति में सूर एवं तुलसी का दैन्य, उनकी आत्मग्लानि व करुण आत्मनिवेदन प्रतिबिम्बित होता है। सूर ने 'प्रभु हैं सब पतितन को टीको' तथा तुलसी ने 'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंज हारी' कहकर इसी प्रकार अपने इष्ट के सम्मुख आत्मनिवेदन किया था। पण्डितराज ने भी 'अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदां' कहते हुए सुन्दर निवेदन किया व अन्त में अपनी समस्त कुशलताओं का भार उन पर डालकर इस स्नेहभरी चुनौती के साथ यह कहते हुए आत्मसमर्पण कर दिया कि यदि ऐसे संकट काल में वह मेरी सहायता नहीं करतीं, तो उनकी निष्कपट करुणा निराधार हो जाएगी तथा जनमानस में उनके पतितोद्धारक होने का विश्वास उठ जाएगा।[५]

१. गङ्गालहरी, श्लोक २४; २. तत्रैव, श्लोक ३१।
३. तत्रैव, श्लोक २९; ४. तत्रैव, श्लोक २८; ५. तत्रैव, श्लोक ३७।

काव्यसौष्ठव

सांसारिक पापों के प्रशमन व भवबाधाओं के निवारण के लिए सर्वमङ्गलकारिणी भगवती गङ्गा की स्तुति के रूप में विरचित गङ्गालहरी पण्डितराज की ललितभावाभिव्यक्ति का सुन्दर निदर्शन है। यहाँ अनुभूति एवं अभिव्यक्ति उभय पक्षों का चारुत्व सहृदयहृदयाह्लादक है। यद्यपि अधिकांशतः पण्डितराज ने गङ्गा के माहात्म्य एवं यशःप्रख्यापन के अतिरिक्त स्वोद्धार हेतु नानाप्रकार से निवेदन किया है, जहाँ कवि के सीधे-सादे भावोद्गार अपनी सरलता से मन मोह लेते हैं; तथापि कुछ श्लोकों में माहात्म्य प्रख्यापन वर्णनविच्छित्ति से समन्वित है। उदाहरणार्थ त्रिदेवों ब्रह्मा, विष्णु व महेश से भी अधिक गङ्गा के माहात्म्य का प्रदर्शन करने में उनकी उक्ति की मनोज्ञता दर्शनीय है, जिसमें यह वर्णन है कि यदि संसार में समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली मां जाह्नवी विद्यमान हैं, तो ब्रह्मा निश्शङ्क होकर चिरकाल तक समाधि धारण करें, विष्णु सुखपूर्वक शेषनाग पर सोयें, भगवान् शङ्कर निरन्तर नृत्य करें तो भी कोई चिन्ता नहीं, प्रायश्चित्तों, तप या दान-पुण्यों का भी औचित्य नहीं—

'विधत्तां निःशङ्कं निरवधि समाधिं विधिरहो
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती॥'[१]

इसी प्रकार विश्वकल्याणी के कल्याणकर्तृत्व का प्रतिपादन करने में कवि की कल्पना की अभिरामता दर्शनीय है, जहाँ वर्णन है कि राजरमणियों के स्तनों में लगे हुए कस्तूरीलेप के पावन गंगाजल के स्पर्शमात्र से उस कस्तूरी के जनक मृग स्वर्ग पहुँच जाते हैं, तो फिर भगवती गङ्गा के भक्तों के उद्धार करने में तो संशय ही क्या?

'प्रभाते स्नान्तीनां नृपतिरमणीनां कुचतटी
गतो यावन् मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः।
मृगास्तावद् वैमानिकशतसहस्रैः परिवृता
विशन्ति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दनवनम्॥'[२]

१. गङ्गालहरी श्लोक २३;
२. तत्रैव, श्लोक ७।

इसी प्रकार गङ्गा के शिव की जटाओं में आबद्ध होने के विषय में कवि की कल्पना कितनी सुन्दर है कि सर्वमङ्गलकारिणी गङ्गा के कल्याणकारी गुणों के अनुपम प्रभाव के कारण ही शिव उसे अपनी जटाओं में आबद्ध किये रहते हैं—

'नृणामीक्षामात्रादपि परिहरन्त्या भवभयं
शिवायास्ते मूर्तेः क इह महिमानं निगदतु ।
अमर्षम्लानायाः परममनुरोधं गिरिभुवो
विहाय श्रीकण्ठः शिरसि नियतं धारयति याम् ।।'[१]

लहरी की भाषा भावानुसारिणी, प्रवाहपूर्ण, अनुप्रासमयी तथा सङ्गीतात्मक ध्वनि से अनुपूरित है। उदाहरणार्थ भक्तिनिवेदन के कोमल भावपूर्ण प्रसङ्गों में भाषा का कोमल रूप दिखाई देता है व पापनाश आदि के प्रसङ्गो में भाषा तनिक ओजमयी हो जाती है। इन दोनों ही रूपों के उदाहरण दर्शनीय हैं। कोमलकान्तपदावली का दिग्दर्शन निम्नाङ्कित श्लोक में दर्शनीय है—

'स्मृतं सद्यः स्वान्तं विरचयति शान्तं सकृदपि
प्रगीतं यत् पापं झटिति भवतापं च हरति ।
इदं तद् गङ्गेति श्रवणरमणीयं खलु पदं
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्तर्विलसतु ।।'[२]

यहाँ भक्तिनिवेदन का प्रसङ्ग होने के कारण भाषा का कोमल रूप प्रयुक्त है।

ओजोमय पदावली हेतु अधोलिखित श्लोक समीक्षणीय है—

'प्रदोषान्तर्नृत्यत्पुरमथनलीलोद्धृतजटा
तटाभोगप्रेङ्खल्लहरिभुजसंतानविधुतिः।
विलक्रोडक्रीडज्जलडमरुडङ्कारसुभग-
स्तिरोधत्तां तापं त्रिदशतटिनीताण्डवविधिः।।'[३]

इन दोनों ही रूपों में रसानुकूल वर्णों की आनुप्रासिकता से पर्याप्त प्रवाह व तज्जनित सौन्दर्य विद्यमान है। समान ध्वनि व वर्णों वाली इसी पदशय्या

१. गङ्गालहरी, श्लोक १२।
२. तत्रैव, श्लोक ८; ३. तत्रैव, श्लोक ३८।

के कारण लहरी के समस्त श्लोकों में गेयता भी विद्यमान है। इसी प्रकार अन्यान्य स्थल भी दर्शनीय हैं। उदाहरणार्थ 'शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलश्वेताल-मुकुटां'[१] में श वर्ण, 'करैः कुम्भाम्भोजे'[२] में क, म, भ वर्ण, 'सुधाधाराकारा'[३] में ध, व, र की आवृत्ति वस्तुतः कानों में सुधा की धारा का सिंचन करने लगती है। इसी प्रकार 'चिदेकमयचन्द्रिकाचयचमत्कृतिं तन्वती'[४] में च, व, और त वर्ण की तथा 'तनोतु मम शं तनो सपदि शन्तनोरङ्गना'[५] में त, व, न की, 'मनोहरोतुङ्गचलत्तरङ्गा गङ्गा ममाङ्गान्यमलीकरोतु'[६] में ङ, व, न की आवृत्ति संगीतात्मकता के पुट से संवलित होकर अत्यन्त श्रुतिमधुर प्रतीत होती है।

इस लहरी में भगवती गङ्गा का ईश्वरीय शक्ति के रूप में स्तवन किया गया है, फलतः देवादिविषयक रति की अभिव्यक्ति से समन्वित होने के कारण यह लहरी भाव का उदाहरण है।

माधुर्य एवं प्रसाद गुण समन्वित एवं एकाध स्थलों पर ओज के अल्प प्रसङ्ग से संवलित इस लहरी में अलङ्कारों का सरस व स्वाभाविक प्रयोग है। समस्त लहरी अनुप्रास के विविध प्रभेदों का सुन्दर निदर्शन है, जिससे एक अभिराम वैशिष्ट्य सर्वत्र विद्यमान है। पण्डितराज जब 'मरुल्लीलालोलल्लहरि-लुलिताम्भोजपटली'[७] अथवा 'जलं ते जम्बालं मम जननजालं जरयतु'[८] या फिर 'अपि द्रागाविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुरिह'[९] कहते हुए भगवती गङ्गा का स्तवन करते हैं, तो अनुप्रास की अभिरामता अभिव्यक्ति सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती है।

अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक, मालारूपक, अनन्वय, परिकर, अति-शयोक्ति, लोकोक्ति, उल्लास, समुच्चय, सम, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। परन्तु ये अलङ्कार भावप्रवाह में अनायास आ गये हैं, उक्तिवैचित्र्य के लिए इनका सायास प्रयोग नहीं है। उदाहरणार्थ गङ्गा लहरी के प्रथम श्लोक 'समृद्धं सौभाग्यं'[१०] में मालारूपक व वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है, फलतः सङ्कर है। इसी प्रकार 'प्रभाते स्नान्तीनां'[११] में कारणकार्य का पौर्वापर्यरूपी अतिशयोक्ति अलङ्कार है। 'निधानं धर्माणां किमपि च विधानं

---

१. गङ्गालहरी श्लोक ४८; २. तत्रैव, श्लोक ४८
३. तत्रैव, श्लोक ४८; ४. तत्रैव, श्लोक ४९
५. तत्रैव, श्लोक ४९; ६. तत्रैव, श्लोक ५२
७. तत्रैव, श्लोक २०; ८. तत्रैव, श्लोक २०
९. तत्रैव, श्लोक २; १०. तत्रैव, श्लोक १; ११. तत्रैव, श्लोक ७

नवमुदां'[१] में मालारूपक, 'समुत्पत्तिपद्मारमण'[२] में समुच्चय, 'अनाथः स्नेहार्द्रां'[३] में सम, 'त्रपन्ते तीर्थानि'[४] में काव्यलिङ्ग, 'कृतक्षुद्राघौघानथ'[५] में अनन्वय 'श्वपाकानां व्रातैः'[६] में उल्लास, 'भवत्या हि व्रात्याधम'[७] में अर्थान्तरन्यास, 'बधान द्रागेव'[८] में लोकोक्ति, 'मन्त्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं'[९] में परिकर अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अन्यान्य अलङ्कारों के सुन्दर स्थल दर्शनीय हैं।

५२ श्लोकों में रचित इस लहरी में प्रथम ४८ श्लोक शिखरिणी छन्द में हैं। ४९वां श्लोक पृथ्वी छन्द में, ५०वां शार्दूलविक्रीडित में, ५१वां स्रग्धरा व ५२वां उपजाति छन्द में निबद्ध है। फलश्रुतिरूप अन्तिम ५३वां श्लोक अनुष्टुप् छन्द में रचित है।

'गङ्गालहरी' के वर्ण्यविषय एवं काव्यसौन्दर्य के समीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह लहरी भक्ति से ओत-प्रोत रचना होने के अतिरिक्त भावाभिव्यक्ति एवं काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से भी सुन्दर कृति है। इसमें पण्डितराज का आत्मनिवेदन अति सुन्दर बन पड़ा है, जो मुख्यतः गङ्गा के प्रति निवेदित उनका स्तुत्याराधन होते हुए भी इसका पाठ करने वाले सभी सामान्य भक्तों का गङ्गा के प्रति किया गया निवेदन हो जाता है। आत्मनिवेदन के इसी साधारणीकरण रूप वैशिष्ट्य के कारण आज भी गङ्गा के भक्त सामान्यजन इस लहरी का पाठ कर भावविभोर हो जाते हैं।

भक्तिभावपूर्ण आत्मनिवेदन के अतिरिक्त इस लहरी का कलात्मक सौन्दर्य भी कम मनोहर नहीं। इसकी प्रवाहपूर्ण, श्रुतिमधुर, ध्वन्यात्मक एवं चित्राङ्कन क्षमता से युक्त सानुप्रासिक काव्यभाषा एवं संगीतात्मक वर्णयोजना स्वयं में अत्यन्त सुन्दर है। भावप्रवाह में अलङ्कारों द्वारा भक्तिभाव का प्रकाशन बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। इस प्रकार इससे दो बातें सिद्ध हो जाती हैं, एक तो इस लहरी की रचना मात्र काव्यकृति के रूप में नहीं हुई; अपितु भक्तिभाव से ओत-प्रोत इसके श्लोक अवश्य ही गङ्गाभक्ति की चरमावस्था में पण्डितराज की लेखनी से उद्भूत हुए होंगे। दूसरे भक्ति की प्रगाढ़ भावनात्मक स्थिति में

१. गङ्गालहरी श्लोक १८; २. तत्रैव, श्लोक २१।
३. तत्रैव, श्लोक २४; ४. तत्रैव, श्लोक २८।
५. तत्रैव, श्लोक १७; ६. तत्रैव, श्लोक २९।
७. तत्रैव, श्लोक ३७; ८. तत्रैव, श्लोक ४७; ९. तत्रैव, श्लोक ५०।

भी पण्डितराज जैसे उच्चकोटि के विद्वान् कवि के मुख से तदनुरूप पाण्डित्य, भावाभिव्यक्ति व कलात्मक अभिव्यक्ति से समन्वित उच्चकोटि की रचना ही बनी, जिसमें भक्तिभाव के सौन्दर्यवर्धन में कलात्मक सज्जा का शृङ्गार भी मिला है। इस प्रकार इन दोनों ही दृष्टियों से यह लहरी सुन्दर भक्तिपूर्ण कृति सिद्ध होती है।

अमृतलहरी

अमृतलहरी यमुना की स्तुति में विरचित भक्तिभावपूर्ण लघु रचना है। इसमें यमुना को मातृस्वरूपा व उनके जल को अमृतोपम मानकर उनका नानाविध स्तुतिगान किया गया है। सम्भवतः इसी कारण इस लहरी का नामकरण 'अमृतलहरी' शीर्षक से हुआ। इस लहरी में मात्र १० श्लोक हैं। अन्तिम ११वां श्लोक परिचयात्मक है।

पौराणिक मान्यतानुसार यमुना श्रीकृष्ण की प्रिया, सूर्यपुत्री व यमराज की बहन हैं।[१] अमृतलहरी में भी इसी मान्यता का आश्रय लिया गया है—

'संज्ञाकान्तसुते कृतान्तभगिनि श्रीकृष्णनित्यप्रिये
पापोन्मूलिनि पुण्यधात्रि यमुने कालिन्दि तुभ्यं नमः॥'[२]

उनके स्वच्छ व नीलाभजल की तुलना अमृत एवं इन्द्रनीलमणि तथा शिवजी के नीलकण्ठ से करते हुए इस नीलाभ राशि में मुक्तामणियों के समाहित रहने के कारण उनके नीराकार स्वरूप को नीली बाह्याकृति तथा उज्जवल आन्तरिक छवि से समन्वित रूप में वर्णित किया गया है—

'अन्तर्मौक्तिकपुञ्जमञ्जिमबहिःस्निग्धनीलेन्द्रप्रभं'[३]

इस प्रकार उन्हें द्विरूपधारिणी के रूप में चित्रित किया गया है। उनके इन दो रूपों को देखकर ही यह कल्पना की गई है कि वह अपने श्वेत एवं श्याम इन दो रूपों के कारण अपने जल में स्नान करने वाले मनुष्यों को तत्काल हरि व हरमय बना देती है—

'यद् रूपद्वयधारणादिव नृणामाचूडमामज्जतां
तत्कालं तनुतेतरां हरिहराकारामुदारां तनुम् ॥'[४]

---

१. पौराणिक कोश, राणाप्रसाद शर्मा, पृ. ४३५, ३६ सन्दर्भ : वायुपुराण, ८४/३६, श्रीमद्भागवत, १०/५८, १७/२३,२९, ७१/४३, ८३/११।

२. अमृतलहरी, श्लोक १०। ३. तत्रैव श्लोक ४

४. तत्रैव श्लोक ४।

लहरी में एवंविध वैशिष्ट्यधारिणी भगवती यमुना के नानाविध गुणों का संकीर्तन भी हुआ है। वे पापियों के पापों को विनष्ट करने वाली,[१] आन्तरिक अज्ञान का नाश करने वाली[२] यमभयविनाशिनी,[३] प्रेतभयहारिणी[४] तथा भवबन्धन से विमुक्त कराने वाली हैं।[५] सामान्य पापियों के पापों का प्रशमन करने के अतिरिक्त वे स्वर्ण की चोरी करने वाले, सुरापान करने वाले, ब्रह्महत्या करने वाले तथा गुरुपत्नी तक के साथ व्यभिचार करने वाले शास्त्रगर्हित महापातकियों को भी पवित्र करने वाली वर्णित की गई हैं—

'स्वर्गस्तेयपरानपेयरसिकान् पाथःकणास्ते यदि
ब्रह्मघ्नान् गुरुतल्पगानपि परित्रातुं गृहीतव्रताः।
प्रायश्चित्तकुलैरलं तदधुना मातः परेताधिप
प्रौढाहंकृतिहारि हुंकृतिमुचामग्रे तव स्त्रोतसाम् ॥'[६]

इसी प्रकार उनके अतिशय माहात्म्य का चित्रण करते हुए एक श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि यमुना के 'कालिन्दी' नाम की महिमा इतनी अधिक है कि इस नाम के क्रीड़ा में ही उच्चारण करने मात्र से व्यक्ति ऐश्वर्य सम्पन्न हो जाता है तथा समस्त सिद्धियाँ उसको अधिगत हो जाती हैं।[७] अन्यत्र उनके जल को सभी लोगों के द्वारा स्तुत्य बताते हुए इस निर्मल जल में स्नान करने मात्र से ही मनुष्यों को स्वर्गीय अप्सरा रम्भा द्वारा सेवित देवपद की प्राप्ति सम्भव बताई है—

'नित्यं पातकभङ्गमङ्गलजुषां श्रीकण्ठकण्ठत्विषां
तोयानां यमुने तव स्तवविधौ को याति वाचालताम्।
येषु द्राग् विनिमज्य सज्जतितरां रम्भाकराम्भोरुह-
स्फूर्जच्चामरवीजितामरपदं जेतुं वराको नरः ॥'[७]

अपरिमित महत्त्वशालिनी माँ यमुना के प्रति पण्डितराज अत्यधिक श्रद्धावनत हैं। इसी श्रद्धा के फलस्वरूप स्वच्छ यमुनातट पर सत्कार्य करते हुए जीवन बिताने के समक्ष उन्होंने श्रेष्ठ राज्याश्रय को भी तुच्छ समझा है और उसका परित्याग करने में भी उन्हें संकोच नहीं—

---

१. अमृतलहरी श्लोक १,२,१०; २. तत्रैव, श्लोक ६।
३. तत्रैव, श्लोक ५; ४. तत्रैव, श्लोक ७।
५. तत्रैव, श्लोक ५; ६. तत्रैव, श्लोक ७; ७. तत्रैव, श्लोक २।

'दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणालीमिलद्
भृङ्गालीमुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धोऽञ्जलिः।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरीकुर्वतो
वृत्तिं हन्त मुनेः प्रयान्तु यमुने वीतज्वरा वासराः ॥'[१]

भगवती यमुना के प्रति इसी श्रद्धाभक्ति का अतिरेक है कि वे यमुना-तट पर बारम्बार निवास करते हुए उनके अमृतोपम जल का पान करते हुए तथा नेत्रों में उपास्य देव श्रीकृष्ण की मूर्ति बसा कर बारम्बार उनका स्मरण एवं जाप करते हुए मोक्षाभिलाषी हैं—

'पायं पायमपायहारि जननि स्वादु त्वदीयं पयो
नायं नायमनायनीमकृतिनां मूर्तिं दृशोः कैशवीम् ।
स्मारं स्मारमपारपुण्यविभवं कृष्णेति वर्णद्वयं
चारं चारमितस्ततस्तव तटे मुक्तो भवेयं कदा ॥'[२]

अभिव्यक्ति की दृष्टि से विचार करने पर यह लहरी यमुना के स्तुतिगान की सरल अभिव्यक्ति मात्र सिद्ध होती है। इसमें भाव व कला इन दोनों पक्षों के सौन्दर्य की अधिक मुखरता प्राप्त नहीं होती। यमुना के गुणगान के प्रसङ्ग में कवि का स्वोद्धार के निमित्त न तो भावविह्वल आत्मनिवेदन वर्णित है, जिसमें भावपक्षीय सरसता के दर्शन होते हैं, न ही उक्तिसौष्ठव या अलङ्कारप्रयोग द्वारा यशोगान के भावों को रमणीय बनाने का प्रयत्न हुआ है। यहाँ स्तुति की तथ्यकथनात्मक शैली का आश्रय लेकर यमुना की यशोगाथा का निबन्धनमात्र हुआ है। फलत: भावाभिव्यक्ति तथा अलङ्कार-चारुत्व की दृष्टि से यह रचना अन्य लहरियों की तरह सुन्दर नहीं बन पड़ी है। केवल दो श्लोकों में ही सरसतया भावसम्प्रेषण का निदर्शन ज्यादा रुचिकर रूप में है[३]; परन्तु लहरी की सम्प्रेषणसरसता में न्यूनता का कारण कवि की रचनाचातुर्य अदक्षता नहीं, अपितु इसका कारण लहरी की अंति संक्षिप्तता है, जिसमें कवि को भावनिवेदन या उक्तिगतचातुर्य के अधिक स्थल प्राप्त नहीं हो सके हैं।

अन्य लहरियों के समान इस लहरी की भाषा भी प्रवाहपूर्ण, भावानु-सारिणी, सानुप्रासमयी तथा गेयता गुणयुक्त है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ वैदर्भी व पाञ्चाली रीतियाँ प्रयुक्त हैं। प्रसाद व माधुर्य गुण की प्रधानता है। भगवती

१. अमृतलहरी, श्लोक ३।
२. तत्रैव, श्लोक ८; ३. तत्रैव, श्लोक ३,८।

यमुना को देवी रूप में मानकर उनका स्तुति गान किया गया है, फलतः काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देवादि विषयक रतिभाव का उदाहरण है। अलङ्कारों का सामान्य व सहज प्रयोग है, काव्यचारुत्व हेतु सायास नहीं। एक उदाहरण दर्शनीय है—

'अन्तर्मौक्तिकपुञ्जमञ्जिम बहिः स्निग्धेन्द्रनीलप्रभं
मातर्मे मुदमातनोतु करुणावत्या भवत्याः पयः।
यद् रूपद्वयधारणादिव नृणामाचूडमामज्जतां
तत्कालं तनुतेतरां हरिहराकारामुदारां तनुम् ॥'[१]

यहाँ यमुना के श्यामोज्वल स्वरूप को लेकर नितान्त सुन्दर कल्पना की गयी है कि वह अपने जल में स्नान करने वाले मनुष्यों को अपने श्याम रूप से हरिमय(विष्णु सांवले हैं) तथा उज्ज्वल रूप से हरमय बना देती हैं। फलतः उत्प्रेक्षा है।

दस श्लोकों में निबद्ध यह लहरी शार्दूलविक्रीडित छन्द में रचित है।

इस समस्त समीक्षण के फलस्वरूप निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'अमृतलहरी' यमुना की स्तुति में रचित कवि की सीधी सरल भावाभिव्यक्ति है। इस लहरी के अति संक्षिप्त होने के कारण इसमें कवि को आत्मनिवेदन, उक्तिवैचित्र्य व अलङ्कारचातुर्य के प्रयोग के अधिक स्थल नहीं मिल सके हैं। शेष दृष्टियों से यह रचना सुन्दर है।

करुणालहरी

'करुणालहरी' भगवान् विष्णु की अभ्यर्थना में विरचित नितान्त आत्मीय भावों से ओतप्रोत, भक्तिभावपूर्ण सुन्दर रचना है। परम वैष्णव पण्डितराज की भगवान् के चरणारविन्दों में अनन्यनिष्ठा है और इस निष्ठा का निदर्शन है यह लहरी, जिसमें भगवदनुग्रहप्राप्ति की, उनकी करुणासंवलित दृष्टि के कृपापात्र बनने की उत्कट कामना नाना प्रकार से अभिव्यक्त हुई है। ५५ पद्यों में निबद्ध इस लहरी का नामकरण सम्भवतः इसी आधार पर 'करुणालहरी' शीर्षक से किया गया है।[२]

'करुणालहरी' में कवि का बड़ा ही मर्मस्पर्शी आत्मनिवेदन वर्णित है, जिसमें विनय, प्रेम, आसक्ति, शरणागति, तन्मयता व दैन्य के भावों का

१. अमृतलहरी, श्लोक ४।

२. कुछ संस्करणों में विष्णुलहरी नाम भी प्राप्य।

आधिक्य है। इन्हीं भावों से ओत-प्रोत होने के कारण इस लहरी में पण्डितराज का पाण्डित्यगर्व विगलित होकर प्रवाहित हुआ है। फलस्वरूप स्वोद्धार के निमित्त उन्होंने अपने इष्ट से बारम्बार आत्मनिवेदन किया है, नाना प्रकार से अपनी व्यथा का प्रतिवेदन किया है, उन पर बहुत बिगड़े हैं, बड़े खीजे हैं, बड़ी दीनता दिखाई है और अन्त में उनकी रूपमाधुरी में डूब गये हैं। अपने आराध्य को 'दयासुधाम्बुधि[१] त्रिभुवनत्राणपरायण[२], पुरुषोत्तम[३], पतितपावन[४] वरद[५], सुकृतप्रिय[६] आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हुए, उनकी त्रिभुवन बोधनव्रतधारी, जनदुःखार्तिहारी सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास रखते हुए उन्होंने आत्मोद्धार का सारा दायित्व अपने इष्ट पर ही डाल दिया है। उनके इस आत्मनिवेदन में कहीं विनय है, तो कहीं अभीष्ट से वियुक्ति की टीस, कहीं भक्त का दैन्य व साधन अक्षमता है, तो कहीं उपास्य की उदारता, क्षमता, सुन्दरता व शरणागतवत्सलता। कहीं पापों का स्मरण, कहीं उद्बोधन और कहीं समर्पण है, तो कहीं मनोहारी छवि का अंकन कर साञ्जलि प्रणिपात प्रारम्भ में ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया है—

> **'विषीदता नाथ विषानलोपमे विषादभूमौ भवसागरे विभो।**
> **परं प्रतीकारमपश्यताधुना मयायमात्मा भवते निवेदितः।'[७]**
> **'भवानलज्वालविलुप्तचेतनः शरण्य तेऽङ्घ्रिं शरणं भयादयाम्**
> **विभाव्य भूयोऽपि दयासुधाम्बुधे विधेहि मे नाथ यथा यथेच्छसि ।।'[८]**

हे विभु! हे सर्वात्मन्! विषयवासनाओं की तरङ्गों से व्याकुल इस संसार में भाँति-भाँति से कष्ट पाते हुए, प्रतीकार का कोई दूसरा मार्ग न देखते हुए मैंने अपनी आत्मव्यथा का निवेदन आपके समक्ष किया है।

हे दयासुधाम्बुधि! भवानल की ज्वालाओं से संतप्तहृदय मैं आपके चरणकमलों की शरण में हूँ। अब मेरे साथ जैसा उचित हो, वैसा व्यवहार कीजिए।

अन्तर्मन में प्रवहमान भक्ति की अविरल तरङ्गों ने उनके चित्त से माया-मोह का आवरण दूर कर दिया है। उन्हें संसार, सांसारिक सम्बन्धों एवं सुखों

---

१. करुणालहरी, श्लोक २,१३
२. तत्रैव, श्लोक ५
३. तत्रैव श्लोक ११;
४. तत्रैव श्लोक २३
५. तत्रैव, श्लोक २३;
६. तत्रैव, श्लोक २७
७. तत्रैव, श्लोक १;
८. तत्रैव, श्लोक २

की क्षणभङ्गुरता एवं अनित्यता तथा एकमात्र चरमसत्ता की चिरन्तनता का भली भाँति ज्ञान हो गया है। फलत: सांसारिक भोगों व तृष्णाओं के प्रति अनासक्ति प्रकट करते हुए एकमात्र भगवान् के चरण कमलों में ही शरण पाने की उनकी चाह है, उन्हीं में समाहित हो जाने की उत्कट कामना है—

'विहाय संसारमहामरुस्थलीमलीकदेहादिमिलन्मरीचिकाम्।
कृपातरङ्गाकुलमन्मनोमृगो विगाढुमीश त्वयि गाढमीहते।।'[१]

इसी कारण इष्टदेव की चरणभक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी को उन्होंने तृणवत् तुच्छ समझा है—

'मनोमिलिन्दो मम मुक्तचापलस्त्वदन्यमीशान तृणाय कल्पते'[२]

अपने अभीष्ट आराध्य के दिव्यस्वरूप का साक्षात्कार करने की उत्कट कामना भी उन्होंने बारम्बार व्यक्त की है। उनके नेत्रों से अज्ञान विनाशन की,[३] उनके रमणीय मुखचन्द्र से मन में विद्यमान हो जाने की[४], उनकी छवि के नेत्रों में बस जाने की[५] तथा उनके चरण-कमलों की धूलि को धारण कर[६] धन्य हो पाने की अनन्य अभिलाषा कविवाणी से बारम्बार मुखरित हुई है—

'सुरासुरस्वान्तचकोरचुम्बिता समस्तसंतापचयापनोदिनी।
महानिशीथे मम मानसे कदा स्फुरिष्यति त्वन्मुखचन्द्रचन्द्रिका।'[७]

'सुयौवनापाण्डुरगण्डमण्डलप्रतिस्फुरत्कुण्डलताण्डवाद्भुतम्
गदाग्रज त्वन्मुखफुल्लपङ्कजं कदा मदक्ष्णोरतिथिर्भविष्यति ।।'[८]

सुर एवं असुरों के चित्त रूपी चकोरों से चुम्बित, समस्त संतापों के समूह का नाश करने वाली तुम्हारे मुख रूपी चन्द्र की चन्द्रिका कब मेरे मन की गहन निशा में स्फुरित होगी?

हे गदाग्रज! सुयौवन से शुभ्र कपोलों पर सुशोभित कुण्डलों के ताण्डव अर्थात् नर्तन से अद्भुत रूप से रमणीय प्रतीत होने वाला तुम्हारा प्रफुल्लित मुखकमल कब मेरी आँखों का अतिथि बनेगा?

---

१. करुणालहरी, श्लोक ३;
२. तत्रैव, श्लोक ४
३. तत्रैव, श्लोक ६;
४. तत्रैव, श्लोक ७
५. तत्रैव, श्लोक ८
६. तत्रैव, श्लोक ९
७. तत्रैव, श्लोक ७
८. तत्रैव, श्लोक ८

भगवदनुग्रहप्राप्ति हेतु बालसुलभ तर्क देते हुए उन्होंने अपना भक्तिभावित हृदय, अपनी आकुल पुकार बड़े दीनता भरे शब्दों में व्यक्त की है। उन्हें धन, राज्य, सम्पदा व विद्या किसी की भी चाह नहीं है। प्रभु से मात्र उनकी दया-दृष्टि पाने की ही कामना है।[१] उनका तर्क है कि क्या वे गज तथा पर्वत से भी भारी हैं, जो देव उनका उद्धार नहीं करते? अपने सभी कष्ट उन्हें सह्य हैं, बस एक अनाथ कहे जाने का ही कष्ट असह्य है—

'नितरां विनयेन पृच्छ्यते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम्।'[२]
'नरके निजकर्मकल्पिता भजतो मे महतीरपि व्यथाः
इदमेकमसह्यमीक्षका यदनाथं निगदन्ति मां विभो ॥'[३]

पण्डितराज का दैन्य बढ़ता ही गया है और इसी दैन्य, इसी अनन्य निष्ठा तथा तन्मयता के प्रवाह में अपना दोषोद्घाटन करते वे कह उठे हैं—

'करुणाकर दुर्दशाकुलं पतितालम्बन पापपिञ्जरम्।
अमृताम्बुनिधे महाज्वरं नहि जह्या जगदीश जातु माम् ॥'[४]

हे भगवान्! तुम करुणाकर, मैं दुर्दशाकुल, तुम पतितालम्बन, मैं पापपिञ्जर, तुम अमृत के सागर और मैं महाज्वर से जीर्ण हूँ। हे जगदीश! इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे कभी छोड़ मत देना।

सोते-जागते भगवान् के कृपाकटाक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की स्पृहा उनके मन में नहीं है।[५] फलतः उपास्यदेव से अपनी प्रार्थना स्वीकार करने की उनकी आकुलपुकार है—

'गिरं मदीयां यदि वेत्सि तात्त्विकीं तदा जगन्नायक मामुरीकुरु।'[६]

भक्ति के आवेश में पण्डितराज ने भगवान् को अबतक अपना उद्धार न करने के लिये नाना प्रकार से मीठे उलाहने भी दिये हैं। कभी प्रभु की कठोरता की दुहाई दी है[७] तो कभी उन्हें सामान्य बात समझायी है कि बचपन में लाड़-प्यार किया गया शिशु ही बड़े होने पर पिता द्वारा दण्डित होता है, तुमने तो

---

१. करुणालहरी श्लोक १६
२. तत्रैव, श्लोक १५;
३. तत्रैव, श्लोक २०
४. तत्रैव, श्लोक ३४;
५. तत्रैव, श्लोक १२
६. तत्रैव, श्लोक १२;
७. तत्रैव, श्लोक १३

कभी दुलार किया नहीं फिर कुकर्मों से क्यों दण्डित करते हो? कभी उन्हें धमकी दी है कि यदि उन्होंने मुझे धारण नहीं किया, तो उनका विश्वम्भर नाम ही निरर्थक हो जाएगा—

'अयि शैशवलालितः शिशुः प्रतिबुद्धो जनकेन ताड्यते।
न कदापि च लालितस्त्वया किमु ताड्यो भगवान् कुकर्मभिः।'[१]
'सुकृतप्रिय मान्यथास्तु ते सुकृतिभ्यः सुखदस्य सुप्रथा।
अपि पापबिभ्रतस्तु मां तव विश्वम्भर नाम दुर्लभम् ॥'[२]

उनका बड़ा सहज सरल तर्क हैं कि हे दयानिधे! अत्यधिक अधम व निर्गुण होने पर भी मैं आपकी कृपा का पात्र हूँ। क्या विष की आग उगलने वाले सर्पों को चन्दन आनन्द नहीं प्रदान करता?[३]

प्रभु के समक्ष अपना दैन्य निवेदन करते, कातरता प्रकट करते, उलाहना देते-देते पण्डितराज भावुक हो खीझ भी उठे हैं और इसी खिसियाहट में उनसे पूछ उठे हैं कि काम, मद, मोह व मत्सर रूपी शत्रु तुम्हारे समक्ष ही तुम्हारे भक्त को खींचते हैं, तो भी तुम मुझे देखते क्यों नहीं?

'मदकामविमोहमत्सरा रिपवस्त्वत्पुर एव तावकम्।
धृतशार्ङ्गगदारिनन्दक प्रतिकर्षन्ति कथं न वीक्षसे ॥'[४]

इस प्रकार अपने अभीष्ट के समक्ष अपनी करुणाविगलित स्वरलहरियों को प्रकट करते हुए, भवानल की ज्वालाओं से संतप्त हो उनसे त्राण पाने के लिए नाना प्रकार से आत्मनिवेदन करते, उपालम्भ देते, खीझते, नाराज होते वे अपने आपको ही धिक्कार उठे हैं, कहते हैं, हे भगवान्! मैंने आप पुरुषोत्तम को ही उलाहना दिया, अतः मुझे धिक्कार है, मेरी बुद्धि को धिक्कार है—

'अपि शर्वपितामहादिभिर्भजनीयः पुरुषोत्तमो हि यः।
तमुपालभमानमुद्धतं धिगिमं मां धिगिमां धियं मम ॥'[५]

अन्त में निस्पृह होकर वे स्वाराध्य के रमणीय स्वरूप की अलौकिक रूपमाधुरी में तन्मय हो गए हैं।[६]

---

१. करुणालहरी, श्लोक ३२; २. तत्रैव, श्लोक २७
३. तत्रैव, श्लोक १७; ४. तत्रैव, श्लोक २५
५. तत्रैव, श्लोक ३८; ६. तत्रैव, श्लोक ३९

स्वरूप-वर्णन

इस आत्मनिवेदन के पश्चात् करुणालहरी में ४० से ५२ श्लोक पर्यन्त वृन्दावन में मणिमय मण्डप के मध्य सुरतरु के नीचे विद्यमान भगवान् विष्णु की रमणीय मूर्ति के नखशिख स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस वर्णन के अनुसार उनके रमणीय स्वरूप का चित्राङ्कन इस प्रकार है—

सुन्दर चंचल अलकावलियों से सुशोभित सुन्दर प्रशस्त ललाट है। मस्तक पर धारण किए हुए मुकुट से रमणीय कुन्तल आवृत हैं, जिनमें महार्घमणि के समान कान्तिमान मयूरपिच्छ सुशोभित हो रहा है।[१] शरत्कालीन चन्द्रमा के समान रमणीय मुखमण्डल है। तीनों लोकों को ज्ञान प्रदान करने वाले कमल दलों के समान सुन्दर नेत्रयुगल, रक्तिम अधर व उज्ज्वल दन्तपङ्क्तियाँ हैं।[२] कानों में धारण किये गए मणिजटित कुण्डलों की कान्ति से कपोलमण्डल व कर्णप्रदेश शोभायमान है।[३] पृथु एवं वर्तुल मौक्तिकमाल से वक्ष:प्रदेश विलसित है। नीलगिरि पर्वत से भी कान्तिमान वक्ष:स्थल है, जो प्रिया लक्ष्मी के निवास से सुशोभित है।[४] इस वक्षस्थल पर भुजगाकार भुजाओं के मध्य चरणनख तक लम्बी विद्युत् से भी अधिक कान्तिमान् वनमाला सुशोभित है।[५] शरीर-कान्ति नीले मेघ के समान नीलाभ है। अत: वक्षस्थल पर सुशोभित वनमाला घने बादलों के मध्य बिजली के समान शोभायमान है।[६] पतितों का निरन्तर उद्धार करने वाले, ईषत् उन्मीलित कमल के समान सुन्दर कर युगल हैं, जो मणिजटित कंगनों की कान्ति से शोभायमान हैं।[७] रत्नजटित अँगूठियों से सुशोभित अँगुलियों हैं, जो सदैव वंशी बजाकर प्राणियों के मन:प्राण को वशीभूत करने में समर्थ हैं।[८] सुन्दर, मोहक गहरी नाभि है, जिससे निम्नगामी रमणीय लोमराजि लहर के समान सुशोभित हो रही है, जो कि गोपबालाओं के नयनाकर्षण का केन्द्र है।[९] जङ्घायुगल स्वर्ण के समान कान्तिमान् पीतवस्त्र से आवृत्त हैं।[१०] वे अलौकिक रूप से गतिशील तथा श्रेष्ठ स्वरूप वाले हैं।[११] जानुयुगल मणिनूपुरों की शोभा से सुशोभित हो रहे हैं।[१२] शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वज्र, ध्वजा इत्यादि सुन्दर लक्षणों से युक्त, अति कोमल लाल-लाल चरण

---

१. करुणालहरी श्लोक ४१; २. तत्रैव, श्लोक ४२।
३. तत्रैव, श्लोक ४३; ४. तत्रैव, श्लोक ४४।
५. तत्रैव, श्लोक ४५; ६. तत्रैव, श्लोक ४४,४५।
७. तत्रैव, श्लोक ४६; ८. तत्रैव, श्लोक ४७।
९. तत्रैव, श्लोक ४८; १०. तत्रैव, श्लोक ४९।
११. तत्रैव, श्लोक ५०; १२. तत्रैव, श्लोक ४९।

तल हैं, जो सुरों एवं असुरों से पूजित तथा अति प्रभावशाली हैं।[१] देवनदी गङ्गा के उत्पत्तिस्थानभूत इन चरणों का माहात्म्य है कि ब्रह्मा एवं शिवादि अन्य देवगण भी उनके समक्ष नतमस्तक होते हैं। नमन करते हुए अमर गणों के मुकुटों की प्रभा से शोभायमान होते ये चरण अपने नखों की कान्ति मात्र से सम्पूर्ण संसार के ताप को हर लेने वाले हैं।[२]

करुणालहरी में पण्डितराज ने भगवान् विष्णु के इसी ललित स्वरूप की बारम्बार अर्चना की है, स्वोद्धार के निमित्त उनसे करुण प्रार्थना की है। सोते या जागते हर समय उनकी यही कामना है कि भगवान् का ऐसा ललित स्वरूप सर्वदा उनका हृदयालम्बन बना रहे।[३] इष्टदेव से उनकी विनीत प्रार्थना है कि वे नरकपतित भक्त पर शीघ्र कृपादृष्टि डालकर उसे सनाथ करें।[४] यही नहीं उन्होंने अपने अनेक जन्मान्तरों तक के लिए भी भगवान् के चरणारविन्दों में भक्तिभाव की ही याचना की है और बद्धाञ्जलि होकर प्रार्थना की है कि अगले जन्म में उनका जन्म कृषककुल में भले हो, लेकिन वे गोविन्द के चरणारविन्दों के कृपापात्र बने रहें—

'प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिबद्धाञ्जलिरेकमेव याचे।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्द पदारविन्दभाजाम्।।'[५]

काव्यसौष्ठव

वर्ण्यविषय के विश्लेषण के अनन्तर लहरी के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्ष पर विचार करना प्रसङ्ग प्राप्त है। जहाँ तक भावानुभूतियों का प्रश्न है, तो ईश्वरीय आस्था के क्षेत्र में पण्डितराज पाण्डित्य गर्वविगलित गलदश्रु वैष्णव भक्त के रूप में दिखाई देते हैं। उनके भक्त रूप की इसी भावुकता से यह लहरी पूर्णतया आप्यायित है। इसमें उनके अभीष्ट भगवान् विष्णु के नयनाभिराम स्वरूप, चारुचितवन का रुचिर चित्रण कवि की वर्णन एवं चित्राङ्कन क्षमता का परिचायक है—

'शिखिपिच्छमहामणिस्फुरन्मुकुटाकुञ्चितकान्तकुन्तलम्।
कमनीयतरालकावलिभ्रमणभ्राजिललाटसुन्दरम्।।
शरदिन्दुसहोदराननं दलदम्भोजपलाशलोचनम्।
अरुणाधरकान्तिदन्तुरस्फुटदन्तांशुविकासिताम्बरम् ।।'[६]

---

१. करुणालहरी, श्लोक ५१,६; २. तत्रैव, श्लोक ५२; ३. तत्रैव, श्लोक ५३
४. तत्रैव, श्लोक ५४; ५. तत्रैव, श्लोक ५५; ६. तत्रैव ४१,४२

स्वरूपाङ्कन के अतिरिक्त इसमें कवि का अपने आराध्यदेव विष्णु को सम्बोधित कर किया गया आत्मनिवेदन बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। इस निवेदन में उन्होंने इष्टदेव के सामर्थ्य, उनके प्रभुत्व एवं महत्त्व के साथ अपने दैन्य, लघुत्व एवं सांसारिक विषम सन्तापों का वर्णन कर स्वोद्धार के निमित्त दैन्य विगलित प्रार्थना की है। इस सन्दर्भ में दी गई उक्तियाँ हृदयस्पर्शिनी हैं। उदाहरणार्थ जब वे यह कहते हैं—

'करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम्',[१] 'क्या मैं गज व पर्वत से भी भारी हूँ, जो प्रभु मेरा उद्धार नहीं करते'? इसी प्रकार उनकी मिठास भरी माँग है कि शैशवावस्था में लाड़-प्यार किया गया शिशु ही बड़े होने पर पिता द्वारा दण्डित होता है, प्रभु! आपने तो कभी दुलार ही नहीं किया, फिर कुकर्मों से दण्डित क्यों करते हो?

'अयि शैशवलालितः शिशुः प्रतिबुद्धो जनकेन ताड्यते।
न कदापि च लालितस्त्वया किमु ताड्यो भगवान् कुकर्मभिः' ॥'[२]

अन्यत्र यह तर्क दिया गया है कि एक गड्ढे में गिरे हुए शिशु को उससे सर्वथा अनजान पथिक तक शीघ्रता से बाहर निकाल लेता है, फिर प्रभु पितृतुल्य होते हुए भी भवबन्धन में गिरे हुए मुझे उबारते क्यों नहीं हो?

'अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो' ॥'[३]

उनका यह भी कहना है कि उन्हें गली-गली में भी दया के कण चुनने में लज्जा नहीं, लेकिन अकलङ्की भगवन् आपके लिए यह यशस्कर नहीं कि आपका सेवक किसी अन्य से माँगे—

'क्षुधितस्य नहि त्रपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णतः कणान्।
अकलङ्क यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति ॥'[४]

उनका बड़ा सुन्दर तर्क है कि जिस सर्वशक्तिमान् को इतना बड़ा संसार धारण करते हुए जरा भी क्लान्ति नहीं हुई, उसे संसार की तुलना में परमाणु के सदृश क्षुद्र मेरा भार वहन करने में कैसा श्रम?

---

१. करुणालहरी, श्लोक १५; २. तत्रैव, श्लोक ३२।
३. तत्रैव, श्लोक २६; ४. तत्रैव, श्लोक १८।

'सुमहन्ति जगन्ति बिभ्रतस्तव यो नाविरभून् मनागपि।
स कथं परमाप्तदेहिनां परमाणोर्मम धारणे श्रमः॥'[१]

ये सारी उक्तियाँ अत्यन्त मनोहारिणी हैं तथा कवि के आत्मनिवेदन को सरस बनाती हैं। इनमें उपासक का उपास्य के प्रति अनन्य भक्तिभाव बड़े सरस ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार लहरी का भावपक्ष बड़ा मधुर बन पड़ा है।

लहरी की भाषा प्रवाहपूर्ण, सानुप्रासिक तथा सरल पदावली सम्पन्न है। कवि के सीधे-सरल भावों की अभिव्यक्ति सीधी सरल भाषा में हुई है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण, अनतिदीर्घ समास, अर्थानुरूप शब्दप्रयोग से सम्पन्न वैदर्भी एवं पाञ्चाली रीतियाँ यहाँ प्रयुक्त हैं। विषयप्रतिपादन की दृष्टि से यहाँ सम्बोधनात्मक एवं वर्णनात्मक शैलियों का प्रयोग है। भाषा के इस मार्दव के निदर्शनार्थ कुछ पद्य दर्शनीय हैं—

'विहाय संसारमहामरुस्थलीमलीकदेहादिमिलन्मरीचिकाम्।
कृपातरङ्गाकुलमन्मनोमृगो विगाढुमीश त्वयि गाढमीहते।'[२]
'सुरापगातुङ्गतरङ्गचालितां सुरासुरानीकललाटलालिताम्।
कदा दधे देव दयामृतोदधे भवत्पदाम्भोरुहधूलिधोरणीम् ॥'[३]

भगवान् विष्णु की स्तुति से समन्वित यह लहरी देवादिविषयक रति भाव का उदाहरण है। आत्मनिवेदन के कोमल भावपूर्ण प्रसंग वर्णित होने के कारण यहाँ प्रसाद एवं माधुर्य गुण विशेषतः प्रयुक्त हैं। अलङ्कारों के स्वाभाविक प्रयोग की दृष्टि से भी लहरी रमणीय है। ये अलङ्कार भी भावप्रवाह में अनायास आ गए हैं। काव्यचारुत्व या उक्तिवैचित्र्य के लिए उनका प्रयोग नहीं हुआ है। पदशय्या के आनुप्रासिक होने के कारण शब्दालंकारों में यहाँ अनुप्रास पग-पग पर समाहित है। एकाध स्थल यमक के भी हैं। सानुप्रासिक पदशय्या के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'नवनीरदनीलिमद्युतिर्नमनीयो निगमैर्निरन्तरम्।
निरये निपतन्तमाशु मां नयनेनापि सनाथयेद् विभुः'[४]
जटिलज्वरकुञ्जराङ्कुश ज्वरजुष्टं न जहीहि जातु माम्[५]
सुकृतं न कृतं पुरा कदाप्यथ सर्वं कृतमेव दुष्कृतम्[६] ॥

---

१. करुणालहरी, श्लोक, १४; २. तत्रैव, श्लोक, ३; ३. तत्रैव, श्लोक ९।
४. तत्रैव, श्लोक ५४; ५. तत्रैव, श्लोक ३६; ६. तत्रैव, श्लोक २४।

शरण्यमन्यन् मृगयन्ति यान्ति ते नितान्तमीशान कृतान्तदेहलीम्[१]
अपास्य तं त्वां निरपत्रपा सती सती मतिर्मे कथमन्यमेष्यति ।[२]

अनुप्रास-यमकादि शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास, सम, परिकरादि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। इनमें कतिपय निदर्शनार्थ समुल्लिखित हैं। रूपकालङ्कार का एक रमणीय उदाहरण प्रस्तुत है, जहाँ कवि प्रार्थना करते हुए कहता है—

महाजवाश्छिन्नविवेकरश्मयो मदोद्धता देव मदक्षवाजिनः।
हरे समासाद्य तवाङ्घ्रिमन्दुरामपास्तवेगा दधतां सुशीलताम् ।।[३]

हे देव! अत्यधिक वेग से जिनकी विवेक रूपी रज्जु टूट गई है, एवम्भूत मतवाले मेरे इन्द्रिय रूपी घोड़े हे हरि! तुम्हारी चरण रूपी अश्वशाला को प्राप्त कर शान्त वेग वाले होकर सुशीलता को धारण करें।

इसी प्रकार दृष्टान्त का एक सुन्दर उदाहरण कवि की इस उक्ति में समवेक्षणीय है—

अहमेव ही दोषदूषितो भगवंस्त्वां समुपालभे मुधा।
रमणीविरहज्वरज्वलन्नमृतांशुं कुमतिर्विनिन्दति ।।[४]

हे भगवन्! मैं ही दोषों से दूषित हूँ। तुमको व्यर्थ उलाहना देता हूँ। सचमुच रमणीविरह की व्यथा से जलता हुआ कुमति अपने को नहीं; अपितु अमृतकिरण बरसाने वाले चन्द्रमा को ही दोष देता है।

अपने अभीष्ट को करुणाकर, स्वयं को दुर्दशाकुल, उन्हें पतितालम्बन, स्वयं को पापपिञ्जर, उन्हें अमृताम्बुनिधि व स्वयं को महाज्वर से ग्रसित मानते हुए कभी साथ न छोड़ने की प्रार्थना सम अलङ्कार का सुन्दर स्थल है—

करुणाकर दुर्दशाकुलं पतितालम्बन पापपञ्जरम्।
अमृताम्बुनिधे महाज्वरं नहि जह्या जगदीश जातु माम् ।।[५]

इसके अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास के निदर्शनपरक कतिपय श्लोक कवि की अभिव्यक्ति को आभा प्रदान कर उसके आत्मनिवेदन कौशल के अभिव्यञ्जक हैं।

---

१. करुणालहरी, श्लोक ५; २. तत्रैव, श्लोक ११।
३. तत्रैव, श्लोक १०; ४. तत्रैव, श्लोक ३३।
५. तत्रैव, श्लोक ३४।

'अयमत्यधमोऽपि निर्गुणः'[१], 'कटुजल्पनमल्पकस्य मे'[२], 'अयि शैशवलालितः'[३], 'अयिगर्तमुखे गतः शिशुः'[४] इत्यादि स्थल अर्थान्तरन्यास के सुन्दर उदाहरण हैं। रूपक व परिकर की दृष्टि से श्लोक सङ्ख्या २, ३, व ४, ६ दर्शनीय हैं। इसी प्रकार अन्यान्य श्लोकों में अन्यान्य अलङ्कार आगत हैं।

करुणालहरी के प्रथम बारह श्लोक वंशस्थबिल में तदनन्तर १३ से ५४ श्लोक सुन्दरी वृत्त में व अन्तिम ५५वां श्लोक कालभारिणी छन्द में उपनिबद्ध है।

करुणालहरी के इस समग्र समीक्षण का निष्कर्ष है कि दुस्सह सांसारिक तापों से संतप्त पाण्डित्यवीर पण्डितराज यहाँ एक भावुक हृदय, सरलमना भक्त के रूप में दिखाई देते हैं, जो अपने अभीष्ट के स्तवन में, उन तक अपनी गुहार पहुँचाने के क्रम में अपना हृदय एकदम खोलकर रख देता है। इसमें कवि द्वारा स्वोद्धार के निमित्त प्रस्तुत किये गये तर्क अत्यधिक हृदयस्पर्शी हैं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि 'गङ्गालहरी' यदि दैनन्दिन आराधना हेतु कवि की सुन्दर कृति है, तो 'करुणालहरी' सरस स्वाभाविक आत्मनिवेदन की दृष्टि से सुन्दर कृति। कला एवं भाव उभय पक्षों से इसकी चारुता असंदिग्ध है।

लक्ष्मीलहरी

लक्ष्मीलहरी भगवती लक्ष्मी की आराधना में विरचित भक्तिभावपूर्ण स्तुति है। ४१ शिखरिणी छन्दों से संवलित इस लहरी में कवि ने अपनी आराध्या देवी लक्ष्मी के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की कमनीयता व सुन्दरता का मनोहरचित्रण करते हुए उनसे बारम्बार अपने प्रति कृपा की आकांक्षा, दया की अभिलाषा तथा उद्धार की कामना की है। प्रथम पाँच श्लोकों में भगवती के कटाक्ष व कटाक्षपात से प्राप्त होने वाले फलों का मनोहारी वर्णन किया गया है। तदनन्तर ६ से ८ श्लोक पर्यन्त भगवती के चरणों का ललितवर्णन है। ९वें श्लोक में देवी के मन्दस्मित का एवं १०वें श्लोकें में भगवती लक्ष्मी के बीजमन्त्र का वर्णन है। पुनः ११वें श्लोक से लेकर ३८वें श्लोक तक दिव्या नायिका होने के कारण भगवती के चरण कमल से प्रारम्भ कर उनके केश पर्यन्त विविधाङ्गों का रमणीय

---

१. करुणालहरी, श्लोक १७;
२. तत्रैव, श्लोक ३५।
३. तत्रैव, श्लोक ३२;
४. तत्रैव, श्लोक २६।

वर्णन किया गया है, यथा ११वें श्लोक में चरणवर्णन, १२वें में चरणनख वर्णन, १३वें में नूपुरवर्णन, १४वें में जङ्घावर्णन, १५वें में उरुवर्णन, १६वें में नितम्बवर्णन, १७वें में उदरवर्णन, १८वें में कटिवर्णन व १९वें, २०वें श्लोकों में नाभिवर्णन है। श्लोक संख्या २१ व २२ में स्तनवर्णन, २३ में हृदयवर्णन, २४, २५, २६ में दोष्णावर्णन, २७वें में हारवर्णन, २८ में अङ्गुलिवर्णन, २९वें में ग्रीवावर्णन, ३० में मुखवर्णन, ३१ में दन्तवर्णन, ३२ में नासिकावर्णन, ३३ में कपोलवर्णन, ३४, ३५ में नयन व नेत्र प्रभाववर्णन, ३६ में श्रोत्रवर्णन, ३७ में ताटङ्कवर्णन, ३८ में धम्मिल्लवर्णन, ३९ में लक्ष्मी के स्वरूप का वर्णन तथा ४०, ४१ में कवि की स्वानुग्रह हेतु सुललित प्रार्थना है।

वर्ण्यविषय

लक्ष्मीलहरी की समग्र वर्ण्य लहरियों का विवेचन चार शीर्षकों में विभक्त कर प्रस्तुत है—१. स्वरूपवर्णन, २. नखशिख वर्णन, ३. बीजमन्त्र एवं ४. प्रार्थना।

स्वरूपवर्णन

लक्ष्मीलहरी में भगवती लक्ष्मी क्षीरसमुद्र की कन्या, भक्तजनों के लिए कल्पवृक्ष की लता के समान समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली, देवों द्वारा उपासित चरणों वाली, श्रेष्ठ, गुणमयी तथा परब्रह्म विष्णु की महिला अर्थात् आदि शक्ति के रूप में स्तुत हुई हैं।[1] वे राजलक्ष्मी के रूप में वर्णित हैं, जिनके दोनों पार्श्वों में मतवाले हाथी सुशोभित हैं, जिनकी उठी हुई सूड़ों में सुन्दर मणिकलश विद्यमान हैं और उन कलशों के मुख से मुक्तामणियों के सदृश स्वच्छ जलकण निकल कर भगवती का अभिसिञ्चन कर रहे हैं—

‘विलग्नौ ते पार्श्वद्वयपरिसरे मत्तकरिणौ
करोन्नीतैरञ्चन्मणिकलशमुग्धास्यगलितैः।
निषिञ्चन्तौ मुक्तामणिगणजयैस्त्वां जलकणै-
र्नमस्यामो दामोदरगृहिणि दारिद्र्यदलिताः।’[2]

---

१. रमे पद्मे लक्ष्मि प्रणतजनकल्पद्रुमलते
सुधाम्भोधेः पुत्रि त्रिदशनिकरोपास्तचरणे। लक्ष्मीलहरी, श्लोक ४१

२. तत्रैव, श्लोक ३९।

नखशिख वर्णन

(क) कटाक्षवर्णन

परब्रह्म विष्णु की महिला अर्थात् आनन्ददायिनी शक्ति, समग्र समृद्धि की सम्पादयित्री लक्ष्मी के नख-शिख वर्णनक्रम में सर्वप्रथम उनके महनीय प्रभाव सम्पन्न कटाक्षगत वैशिष्ट्य का वर्णन समवलोकनीय है। भगवती का कटाक्ष अमृत की प्रवाहमाला के समान रमणीय एवं अद्वितीय शोभा सम्पन्न है। इस सम्बन्ध में कवि कल्पना है कि जगदम्बा के दृगन्त ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों उमड़ते हुए अमृतसमुद्र की लहरियों से सुशोभित हों अथवा मानों ईषत् उन्मीलित नीलकमलों के समूह ही उनकी आरती उतार रहे हों—

'समुन्मीलन्नीलाम्बुजनिकरनीराजितरुचा-
मपाङ्गानां भङ्गैरमृतलहरीश्रेणिमसृणैः ॥'[1]

भगवती के ये कटाक्ष अपरिमित प्रभावशाली भी हैं। वे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व विध्वंस करने में समर्थ हैं। सर्वसाधारण के लिए वे सुलभ ही नहीं। उनके अनुग्रह, उनके कटाक्षपात के भागी परम पुण्यशाली जन एवं इन्द्रादिक देवगण ही हो सकते हैं—

'अगण्यैरिन्द्राद्यैरिह परमपुण्यैः परिचितो
जगज्जन्मस्थानप्रलयरचनाशिल्पनिपुणः।
प्रसर्पत्पीयूषाम्बुधिलहरिलीलाविलसितो
दृगन्तस्तेऽमन्दं मम कलुषवृन्दं दलयतु[2] ॥

(ख) कृपाकटाक्षगत फल

भगवती लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष से प्राप्त होने वाला फल भी महनीय है। इसका वर्णन करते हुए कवि-कथन है कि जो लोग देवी लक्ष्मी के कृपाभाजन हो जाते हैं; उन सौभाग्यशाली जनों के समीप नृत्य-नाट्यादि एवं अप्सराओं के गान होते हैं, उनकी पशुशालाओं व सैन्य समूहों में मतवाले हाथियों का गर्जन होता है तथा उनके विशाल प्रासाद के बहिर्द्वार पर घोड़े हिनहिनाते रहते हैं। अर्थात् वह व्यक्ति गजधन, वाजिधन एवं रत्नधन इन त्रिविध सम्पत्ति प्रकारों से सम्पन्न हो असीम ऐश्वर्य का उपभोग करता है—

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक १; २. तत्रैव, श्लोक ५।

समीपे संगीतस्वरमधुरभङ्गी मृगदृशां
विदूरे दानान्धद्विरदकलभोद्दामनिनदः।
बहिर्द्वारे तेषां भवति हयहेषाकलकलो
दृगेषा ते येषामुपरि कमले देवि सदया॥[१]

इतना ही नहीं, लक्ष्मी के वरदमुद्राभाजी जन अपरिमित विभूतिमण्डित नरपतित्व को प्राप्त कर देवाङ्गनाओं के भी आकर्षण व स्मरशर के पात्र हो जाते हैं। यह लक्ष्मी की ही उन पर अनुकम्पा है कि देवताओं द्वारा भी उनका यशोगान किया जाता है—

उरस्यस्य भ्रश्यत्कबरभरनिर्यत्सुमनसः
पतन्ति स्वर्बालाः स्मरशरपराधीनमनसः।
सुरास्तं गायन्ति स्फुरिततनु गङ्गाधरमुखा-
स्तवायं दृक्पातो यदुपरि कृपातो विलसति।[२]

(ग) चरणवर्णन

भगवती लक्ष्मी के चरण समस्त त्रैलोक्य में सर्वाधिक रमणीय,[३] प्रफुल्लित कमलों की मृदुता का भी हरण करने वाले[४] एवं अतिशय माहात्म्य सम्पन्न हैं।[५] चरणों की अतिशय मृदुता का प्रतिपादन प्रातःकाल कमलवन में भ्रमण करती हुई देवी लक्ष्मी के चरणों में कोमल किंजल्कों द्वारा पीड़ा पहुँचाने की कल्पना को लेकर किया गया है। इस सम्बन्ध में कवि की उक्ति अनूठी है कि कमल किंजल्कों द्वारा भी आहत होने वाले आपके कोमल चरणों तक मेरी वाणी की प्रविष्टि भला कैसे हो?

प्रभातप्रोन्मीलत्कमलवनसंचारसमये
शिखाः किंजल्कानां विदधति रुजं यत्र मृदुलाः।
तदेतन् मातस्ते चरणमरुणश्लाघ्यकरुणं
कठोरा मद्वाणी कथमियमिदानीं प्रविशतु॥[६]

---

१. लक्ष्मीलहरी श्लोक ४; २. तत्रैव श्लोक ३।
३. त्रिजगदभिरामं तव पदम्, तत्रैव श्लोक ११।
४. लसत्फुल्लाम्भोजम्रदिमहरणः कोऽपि चरणः, (तत्रैव, श्लोक ६)।
५. तत्रैव, श्लोक ६।
६. तत्रैव, श्लोक ८।

सौन्दर्य एवं मार्दव के अतिरिक्त उनके चरण गौरकान्ति होने के कारण अत्यधिक लाल वर्ण के हैं। चरणों की यह अरुणिमा उन्हें द्विगुणित आभा प्रदान कर रही है। इस सम्बन्ध में कवि की बड़ी सुन्दर परिकल्पना है कि उनके चरणों की रक्तिम शोभा मूँगों की भी दीक्षागुरु, लाख की लालकान्ति को रोक देने वाली, बन्धूक पुष्प समूहों की कान्ति को मित्र बनाने में निपुण तथा प्रभातकाल की रक्तिम शोभा के समान वेशभूषाधारिणी है—

प्रवालानां दीक्षागुरुरपि च लाक्षारुणरुचां
नियन्त्री बन्धूकद्युतिनिकरबन्धूकृतिपटुः।
नृणामन्तर्ध्वान्तं निविडमपहर्तुं तव किल
प्रभातश्रीवेषा चरणरुचिरेषा विजयते ॥[1]

भगवती के चरणकमलों का माहात्म्य भी कवि की कल्पना में मुखर हो अभिव्यक्त हुआ है। इस माहात्म्य के प्रतिपादनार्थ कवि कल्पना है कि स्वर्गलोक के समस्त देवगण जिन भगवान् शिव को अपना अधिपति जानकर उनके चरणों में अपना सिर झुकाते हैं, उन देवाधिदेव भगवान् शंकर की पञ्च मस्तकश्रेणियाँ स्वयं जगदम्बा के अद्वितीय प्रभाव के कारण उनके चरण-कमलों में प्रणति निवेदन करती हैं—

नमन्मौलिश्रेणित्रिपुरपरिपन्थिप्रतिलसत्
कपर्दव्यावृत्तिस्फुरितफणिफूत्कारचकितः।
लसत्फुल्लाम्भोजप्रदिमहरणः कोऽपि चरण-
श्चिरं चेतश्चारी मम भवतु वारीशदुहितुः॥[2]

यही नहीं, इन्हीं चरणों को नमन करने के कारण शङ्कर के रोषानल से दग्ध कामदेव को भी उस अप्रतिम सिद्धि की प्राप्ति बताई गई है, जिसके प्रभाव से पर्वतवासी विरागी कामारि शिव अपनी रुष्ट प्रियतमा पार्वती को मनाया करते हैं—

स्मरो नामं नामं त्रिजगदभिरामं तव पदं
प्रपेदे सिद्धिं यां कथमिव नरस्तां कथयतु।
यया पातं पातं पदकमलयोः पर्वतचरो
हरो हा रोषार्द्रामनुनयति शैलेन्द्रतनयाम् ॥[3]

१. लक्ष्मीलहरी श्लोक ७; २. तत्रैव, श्लोक ६; ३. तत्रैव, श्लोक ११।

(घ) चरण-नख वर्णन

विष्णु के हृदयस्थल में सर्वदा निवास करने वाली भगवती लक्ष्मी के अत्यन्त शुभ्र व दीप्तिमान् चरण-नखों के सम्बन्ध में कवि कल्पना है कि वे चन्द्रमा की समग्र कलाओं की रुचिरता का हरण करने वाले, किरणमय पीयूष समूह का स्वच्छन्द हो वितरण करने वाले एवं भगवान् विष्णु के अत्यन्त प्रिय हार हैं, ऐसे रमणीय नखों से अन्तःसन्ताप की शान्ति की प्रार्थना निस्सन्देह सार्थक है—

हरन्तो निःशङ्कं हिमकरकलानां रुचिरतां
किरन्तः स्वच्छन्दं किरणमयपीयूषनिकरम्।
विलुम्पन्तु प्रौढा हरिहृदयहाराः प्रियतमा
ममान्तः सन्तापं तव चरणशोणाम्बुजनखाः ॥[१]

(ङ) नूपुरवर्णन

देवी के नूपुर सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने उन्हें मणि-जटित, अपार शोभासम्पन्न तथा स्तुतिवचन की मधुर झंकार से गुंजरित बताया है—

मिषान् माणिक्यानां विगलितनिमेषं निमिषता-
ममन्दं सौन्दर्यं तव चरणयोरम्बुधिसुते।
पदालङ्काराणां जयति कलनिक्वाणनपटु-
रुदञ्चन्नुद्दामः स्तुतिवचनलीलाकलकलः॥[२]

(च) जङ्घावर्णन

भगवती के जङ्घाद्वय के वर्णन प्रसंग में उन्हें अत्यधिक मांसल, रमणीय एवं मणिमय आभूषणों की कान्ति के पड़ने से द्विगुणित हो उठी आभा वाला वर्णित किया गया है। ऐसे रमणीय जङ्घाओं को भगवान् विष्णु के निर्निमेष नेत्रों के अत्यधिक आकर्षण का केन्द्र बताते हुए यह उत्प्रेक्षा की गई है कि लक्ष्मी के जङ्घाद्वय पर निबद्ध उनके प्रियतम विष्णु की निर्निमेष दृष्टिपङ्क्तियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों वे उन जङ्घायुगल की आरती उतार रही हों—

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक १२।

२. तत्रैव, श्लोक १३।

मणिज्योत्स्नाजालैर्निजतनुरुचां मांसलतया
जटालं ते जङ्घायुगलमघभङ्गाय भवतु।
भ्रमन्ती यन्मध्ये दरदलितशोणाम्बुजरुचां
दृशां माला नीराजनमिव विधत्ते मुररिपोः॥[१]

(छ) उरुवर्णन

सुन्दर जानुयुगल की ज्योत्स्ना से समृद्ध भगवती के उरुयुगल की शोभातिशायिता के प्रतिपादनार्थ कवि कल्पना है कि वे कोमल होने के कारण ऐरावत के शुण्डादण्ड के सम्पूर्ण गर्व को हरते हुए, अत्यधिक शोभा से स्वर्ण कदलीवृक्ष के सम्पूर्ण दम्भ का हरण करते हुए सर्वातिशायी सौन्दर्य से समन्वित हैं—

हरद् गर्वं सर्वं करपतिकराणां मृदुतया
भृशं भाभिर्दम्भं कनकमयरम्भावनिरुहाम्।
लसज्जानुज्योत्स्नासरणिपरिणद्धं जलधिजे
तवोरुद्वन्द्वं नः श्लथयतु भवोरुज्वरभयम् ॥[२]

(ज) नितम्बवर्णन

देवी के नितम्ब प्रदेश का वर्णन करते हुए कवि ने उसे कौस्तुभमणि से भी अधिक देदीप्यमान, झंकृतियुक्त, मणिजटित मेखला से सुशोभित तथा पवित्र कौसुम्भ वस्त्र से सुसज्जित कहा है। उज्ज्वल कान्ति, रक्तवस्त्राभा तथा किंकिणी झंकार से झंकृत ऐसे नितम्ब प्रदेश के विषय में बड़ी सुन्दर कल्पना की गई है कि वह नितम्ब मानों मुनिवृन्दों की स्तुति झंकारों से झंकृत प्रातःकाल के रक्ताभ सूर्य से भी अधिक कान्तिमान् होने के कारण सूर्य के नवोदित बिम्ब का मानों उपहास सा उड़ा रहा है—

कलक्वाणां काञ्चीं मणिगणजटालामधिवहन्
वसानः कौसुम्भं वसनमसनं कौस्तुभरुचाम्।
मुनिव्रातैः प्रातः शुचिवचनजातैरतिनुतं
नितम्बस्ते बिम्बं हसति नवमम्बाम्बरमणेः॥[३]

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक १४।

२. तत्रैव, श्लोक १५; ३. तत्रैव, श्लोक १६।

(झ) उदरवर्णन

इस वर्णनंक्रम में भगवती कृशोदरी चित्रित की गई हैं। उनके उदर सौन्दर्य का चित्रण कवि ने वेदान्तियों के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को उपस्थित कर किया है। जैसे सारा दृश्यमान जगत् प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ने पर भी वेदान्तियों की दृष्टि में मिथ्या है, वैसे ही भगवती का उदर अतिशय क्षीण होने के कारण न दिखाई देने वाला होकर भी समस्त विश्व को उत्पन्न करने वाला हैं—

जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
निसंदेहं चेतोऽजनि गरुडकेतो प्रियतमे ॥[१]

(ञ) कटिवर्णन

कवि ने भगवती लक्ष्मी की कटि को अत्यधिक क्षीण बताते हुए उसे शून्यसम माना है और इसी कारण उसकी उपमा बौद्धदर्शन के सिद्धान्त शून्यवाद से देते हुए कल्पना की है कि अनेक महातार्किकों द्वारा अनेकानेक तर्कों से खण्डित की गई व कहीं पर भी थोड़े भी प्रचार को न पाने वाली असत्वाद की व्याख्या में निपुण सुगत मत के सिद्धान्त शून्यवाद की सरणि ही मानों देवी की कटि में आकर लग गई हो—

अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणितमहायुक्तिनिवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।
असत्ख्यातिव्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा
वलग्ने लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्तसरणिः॥[२]

(ट) नाभिवर्णन

देवी के नाभि-सौन्दर्य का अंकन उसे कमल तथा सरोवर के रूप में चित्रित कर किया गया है। उनकी कमलरूपिणी नाभि को संसार की समस्त शोभांओं की जननी एवं समस्त सांसारिक क्लेश विकारों को दूर करने में समर्थ मानते हुए उसे श्रृङ्गारसमूह रूपी मकरन्द के आदिकारण एवं भगवान्

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक १७; २. तत्रैव, १८।

विष्णु के नेत्र रूपी श्रेष्ठ भ्रमरों के आश्रयस्थान के रूप में वर्णित किया गया है—

निदानं शृङ्गारप्रकरमकरन्दस्य कमले
महानेवालम्बो हरिनयनरोलम्बवरयो:।
निदानं शोभानां निधनमनुतापस्य जगतो
जवेनाभीतिं मे दिशतु तव नाभीसरसिजम् ।।[१]

पुन: नाभि की सरोवर के रूप में परिकल्पना कर उसे तद्वत् गम्भीर, उठे हुए प्रान्त भाग वाली तथा शृङ्गार रस की तरङ्गों से मिश्रित कहा गया है।[२]

(ठ) स्तनवर्णन

पण्डितराज की परिकल्पना में भगवती लक्ष्मी के स्तनमण्डल त्रैलोक्य की शोभा का संकलित रूप हैं।[३] विशालता में वे कामदेव के दुर्गद्वय की बराबरी करने वाले,[४] सौन्दर्य व आकार-प्रकार में चक्रवाक युगल की कान्ति का दमन करने में श्रेष्ठ[५] तथा सौभाग्य में सुमेरु पर्वत से भी अधिक भाग्यशाली हैं। कारण भी बड़ा मनोरम है—

'ययोर्दत्ते भूय: करमखिलनाथो मधुरिपु:'

भगवती के स्तनप्रदेश को सम्पूर्ण संसार के स्वामी विष्णु के हस्तस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त है, जब कि सुमेरु साधारण देवताओं के निम्नाङ्ग चरण से ही स्पर्शित है—

कुचौ ते दुग्धाम्भोनिधिकुलशिखामण्डनमणे:
हरेते सौभाग्यं यदि सुरगिरेश्चित्रमिह किम्।
त्रिलोकीलावण्याहरणनवलीलानिपुणयो-
र्ययोर्दत्ते भूय: करमखिलनाथो मधुरिपु:।।[६]

१. लक्ष्मीलहरी १९।
२. तत्रैव, श्लोक २०।
३. त्रिलोकीलावण्याहरणनवलीलानिपुणयो:, (तत्रैव, श्लो. २१)।
४. हरक्रोधत्रस्यन्मदननवदुर्गद्वयतुलां, (तत्रैव, श्लो. २२)।
५. दधत् कोकद्वन्द्वद्युतिदमनदीक्षाधिगुरुताम्, (तत्रैव, श्लो. २२)।
६. तत्रैव, श्लो. २१।

(ड) हृदयवर्णन

भगवती सम्पूर्ण संसार की माँ हैं। सारा विश्व उनमें समाहित है। इसी भाव को लेकर उनके हृदयप्रदेश में अनेक ब्रह्माण्डों की स्थिति वर्णित की गई है। यहीं नहीं उनका हृदय कृपासमुद्र का आश्रय है, जिसमें जीवमात्र के लिए दयारूपी अमृतसमुद्र की लहरें तरङ्गित होती रहती हैं। इस कृपालु एवं अप्रतिम प्रभावशाली भगवती के हृदयस्थल का सर्वाधिक वैशिष्ट्य है, परमेश्वर विष्णु का सहज निवास होना—

अनेकब्रह्माण्डस्थितिनियमलीलाविलसिते
दयापीयूषाम्भोनिधिसहजसंवासभवने।
विधोश्चित्तायामे हृदयकमले ते तु कमले
मनाङ् मन्निस्तारस्मृतिरपि च कोणे निवसतु ॥[१]

(ढ) भुजावर्णन

भगवती लक्ष्मी की भुजाओं के वर्णनक्रम में उन्हें कमलनालों से भी अधिक रमणीय, मसृण, मृदु एवं अत्यधिक सौभाग्यशालिनी कहा गया है। विष्णु की कण्ठमाल बनी चतुर्भुजी लक्ष्मी की इन भुजाओं के सम्बन्ध में सुन्दर उत्प्रेक्षा है कि वे मानों चारों वेदों से स्पर्धा कर रही हैं—

मृणालीनां लीलाः सहजलवणिम्ना लघयतां
चतुर्णां सौभाग्यं तव जननि दोष्णां वदतु कः।
लुठन्ति स्वच्छन्दं मरकतशिलामांसलरुचः
श्रुतीनां स्पर्धां ये दधत इव कण्ठे मुररिपोः॥[२]

भगवती के हस्तकमल की सुरभि एवं सौन्दर्य दोनों ही दुर्लभ एवं कवि समवाय द्वारा समादृत हैं।[३] समग्र संसार को सतत श्रीवितरण के विशिष्ट गुण के कारण इनका सौभाग्य एवं सौन्दर्य अतुलनीय, अकथ्य एवं अवर्णनीय चित्रित हुआ है—

त्रपन्तु श्रीभिक्षावितरणवशीभूतजगतां
कराणां सौभाग्यं तव तुलयितुं तुङ्गरसनाः॥[४]

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक २३; २. तत्रैव, श्लोक २४।
३. तत्रैव, श्लोक २५; ४. तत्रैव, श्लोक २६।

(ण) हारवर्णन

भगवती के न केवल अङ्ग-प्रत्यङ्ग वरन् उनके अलङ्कारों का माहात्म्य भी अपरिमित है। यथा उनके वक्ष:स्थल का मध्यवर्ती हार सम्पूर्ण शोभाओं का समाहार, भगवान् विष्णु के निर्निमेष नेत्रों का विहारस्थल, भक्तों के सांसारिक कष्टों का परिशमन करने वाला तथा सकल विपत्तियों का विनाशक है—

समाहारः श्रीणां विरचितविहारो हरिदृशां
परीहारो भक्तप्रभवसंतापसरणेः।
प्रहारः सर्वासामपि च विपदां विष्णुदयिते
ममोद्धारोपायं तव सपदि हारो विमृशतु ॥[1]

(त) अङ्गुलिवर्णन

हरिप्रिया, सर्वैश्वर्यदात्री, भगवती लक्ष्मी की सुन्दर पर्वों से सुशोभित एवं अलङ्कृत मणि-समूहों की कान्ति से दीप्तित अङ्गुलियाँ परम सौभाग्य का वैभव प्रदान करने वाली हैं; जिनकी महिमा से छोटा भी महिमाशाली बन जाता है—

अलङ्कुर्वाणानां मणिगणघृणीनां लवणिमा
यदीयाभिर्भाभिर्भजति महिमानं लघुरपि।
सुपर्वश्रेणीनां जनितपरसौभाग्यविभवा-
स्तवाङ्गुल्यस्ता मे ददतु हरिवामेऽभिलषितम् ॥[2]

(थ) ग्रीवावर्णन

कम्बुग्रीवा भगवती के ग्रीवा-सौन्दर्य के अङ्कन में कवि कल्पना है कि शङ्ख ने कठोर तप करके भगवती की ग्रीवा से अल्पसाम्य प्राप्त कर लिया और यह उस साम्य का ही प्रतिफल है कि विष्णु सदैव उसे हाथ में धारण करते हैं—

तपस्तेपे तीव्रं किमपि परितप्य प्रतिदिनं
तव ग्रीवालक्ष्मीलवपरिचयादाप्तविभवम्।
हरिः कम्बुं चुम्बत्यथ वहति पाणौ किमधिकं
वदामस्तत्रायं प्रणयवशतोऽस्यै स्पृहयति ॥[3]

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक २७।

२. तत्रैव श्लोक २८;

३. तत्रैव श्लोक २९।

(द) मुखवर्णन

लक्ष्मी के मुखमण्डल के सौन्दर्यातिशय के वर्णन क्रम में उसे चन्द्रमा से भी अधिक कान्तिमान् एवं गुणवान् बतलाते हुए उसके समक्ष चन्द्रमा की सत्ता को ही निरर्थक सिद्ध कर दिया गया है। इस निरर्थकता का हेतु भी मनोरम है। मेघाडम्बर, राहुग्रहण, खगोलगति एवं अस्तंगामी होने के कारण चन्द्रमा द्वारा सर्वदा सभी दिशाओं का उल्लासन सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त सभी प्राणियों के लिए वह समानरूपेण आह्लादकारक भी नहीं होता। चकवा-चकवियों, विरही जनों व संतप्त प्राणियों के लिए संतापजनक ही होता है, जबकि लक्ष्मी के मुखचन्द्र के साथ ऐसी बाधाएँ नहीं। स्मितहास्य रूपी ज्योत्स्ना से सुशोभित उनके मुखचन्द्र से सर्वदा कान्तिरूपी अमृतसमूह का स्राव होता रहता है, जिससे सभी दिशाओं का निर्विघ्न प्रकाशन व समस्त प्राणियों का सर्वदा आह्लादन होता है—

अभूदप्रत्यूहः सकलहरिदुल्लासनविधि-
विलीनो लोकानां स हि नयनतापोऽपि कमले।
तवास्मिन् पीयूषं किरति वदने रम्यवदने
कुतो हेतोश्चेतो विधुरयमुदेति स्म जलधेः ॥[१]

स्मितरूपी ज्योत्स्ना से सुशोभन भगवती के मुखचन्द्र का यह वैशिष्ट्य है कि इसके स्मरण करने मात्र से व्यक्ति विद्या-वैभवादि से सम्पन्न हो जाता है—

अमन्दं स्यन्दन्ते वदनकमलादस्य कृतिनो
विविक्तौ वैकल्पाः सततमविकल्पा नवगिरः ॥'[२]

(ध) दन्तवर्णन

मन्दमुस्कान से सुशोभित भगवती के मुखचन्द्र में विद्यमान दन्तपंक्तियाँ आरती उतारती हीरावलियों के सदृश हैं, जिनमें अमृतरूपिणी कान्ति निरन्तर झरती रहती है। स्पष्ट है, उनकी दन्तपंक्तियाँ हीरकवत् शुभ्र व उज्ज्वलाभा से समन्वित थीं—

मुखाम्भोजे मन्दस्मितमधुरकान्त्या विकसतां
द्विजानां ते हीरावलिविहितनीराजनरुचाम् ॥[३]

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक ३०।
२. तत्रैव, श्लोक ९।
३. तत्रैव, श्लोक ३१।

(न) श्वासवायु

सकलधरित्रीरम्या लक्ष्मी की नासिका में विद्यमान श्वासवायु अचंचल, धीर-मन्थर गतियुक्त एवं अत्यधिक सुगन्धित वर्णित किया गया है, जिसकी अपूर्व सुगन्धि के समक्ष कमलगत सौरभ भी तुच्छ कहा गया है। यही नहीं वर्णन है कि परिमल के पर्याय समझे जाने वाले मृगकुल द्वारा भी इसकी स्पृहा की जाती है। भगवती के नासापुट में विद्यमान इस श्वासवायु से अकल्याण के परिशमन की प्रार्थना स्वाभाविक है—

कुलैः कस्तूरीणां भृशमनिशमाशास्यमपि च
प्रभातप्रोन्मीलन्नलिननिवहैरश्रुतचरम्।
वहन्तः सौरभ्यं मृदुगतिविलासा मम शिवं
तव श्वासा नासापुटविहितवासा विदधताम् ॥[१]

(प) कपोलवर्णन

पण्डितराज की परिकल्पनानुसार देवी के धम्मिल्ल अर्थात् बँधे हुए केशपाशों में गुँथी मुक्तावलियाँ कपोलप्रदेश पर लटकती हुई ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों अन्धकार समूहद्वारा अपने आत्मीय स्वजनों का बन्दी बनाया जाना न सहते हुए जबर्दस्ती चन्द्रमा की कला को बाँधकर ऊपर खींच लिया गया हो। इससे ध्वनित होता है कि देवी का मुखमण्डल चन्द्रवत् कान्तिमान्, उनके केशपाश घने काले बादलों के समान काले व गहन तथा उनमें गुँथी मुक्तावलियाँ चन्द्रमा की कला के समान रमणीय प्रभायुक्त हैं—

कपोले ते दोलायितललितलोलालकवृते
विमुक्ता धम्मिलादभिलसति मुक्तावलिरियम्।
स्वकीयानां बन्दीकृतमसहमानैरिव बलात्
निबध्योर्ध्वं कृष्टा तिमिरनिकुरम्बैर्विधुकला ॥[२]

(फ) नेत्रवर्णन

सुरनरमुनिजनाराध्या भगवती लक्ष्मी की नेत्रदृष्टि अत्यधिक प्रभावशालिनी चित्रित की गई है। वह दारिद्र्यविनाशिनी, विपुलसम्पदादायिनी, पापसंहारिणी, दीनजनों के लिए दयार्द्रभावधारिणी व दुर्जनजनों के लिए दुष्प्रापिणी हैं।[३] यह

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक ३२।
२. तत्रैव, श्लोक ३३;
३. तत्रैव, श्लोक ३५।

दृष्टि नील कमलों से भी अधिक प्रभावशालिनी कही गई है। प्रभावशालिता का हेतु भी अति मनोरम है। कल्पना है कि भगवती की अनुग्रहदृष्टि का प्रसाद पाने हेतु तत्पर देवगण द्वारा उनका सतत चरणचुम्बन किया जाता है, जिससे उनके मुकुटों में जड़ित मणियों की विभा से उनके चरण सदा शोभायमान बने रहते हैं। उन अतिशय महत्त्वशाली नेत्रों की तुलना वन में सूखते या जल में पड़े हुए कमलों से भला कैसे की जा सकती है?

प्रसादो यस्यायं नमदमितगीर्वाणमुकुट-
प्रसर्पज्ज्योत्स्नाभिश्चरणतलपीठार्चितविधिः।
दृगम्भोजं तत् ते गतिहसितमत्तेभगमने
वने लीनैर्दीनैः कथय कथमीयादिह तुलाम् ॥[१]

(ब) श्रोत्रवर्णन

कवि कल्पनानुसार भगवती के कर्णयुगल पूर्णविकसित कमल के सम्पूर्ण सौभाग्य को विजित करने वाले, सदैव भगवान् नारायण के गुणसमूह के गान में अत्यधिक प्रीति रखने वाले, याचकजनों की याचना के प्रति पर्याप्त ध्यान देने वाले व शब्दबद्ध स्तुतियों से गुंजरित हैं—

तव श्रोत्रे फुल्लोत्पलसकलसौभाग्यजयिनी
सदैव श्रीनारायणगुणगणौघप्रणयिनी।
रवैर्दीनां लीनामनिशमवधानातिशयिनी
ममाप्येतां वाचं जलधितनये गोचरयताम् ॥[२]

(भ) ताटङ्कवर्णन

अपनी कान्ति से प्रभातकालीन सूर्यरश्मियों को जीत लेने वाले, अद्भुत विभासम्पन्न भगवती लक्ष्मी के ताटङ्क उनके अनादि, अनन्त व अखण्ड सौभाग्य के साक्षीभूत हैं। इन्हीं ताटङ्कयुगलों के प्रभाव से सबके संहारक, प्रलयकाल में भी उनके पति विष्णु समस्त संसार की रक्षा करते हुए निर्द्वन्द्व हो शयन करते हैं—

महिम्ना यस्यायं प्रलयसमयेऽपि क्रतुभुजां
जगत् पायं पायं स्वपिति निरपायं तव पतिः ॥[३]

---

१. लक्ष्मीलहरी श्लोक ३४; २. तत्रैव श्लोक ३६; ३. तत्रैव, श्लोक ३७।

(म) धम्मिल्ल-वर्णन

भगवती लक्ष्मी के धम्मिल्ल घने बादलों के समान काले, सघन, मोतियों से गुँथे हुए तथा कालागुरु की सुगन्ध से सुवासित हैं। केशपाशों में बसी इस सुगन्धि से आकृष्ट होकर भँवरे उन पर निरन्तर मँडराया करते हैं—

निवासो मुक्तानां निबिडतरनीलाम्बुदनिभ-
स्तवायं धम्मिल्लो विमलयतु मल्लोचनयुगम्।
भृशं यस्मिन् कालागुरुबहुलसौरभ्यनिवहैः
पतन्ति श्रीभिक्षार्थिन इव मदान्धा मधुलिहः ॥[१]

(य) बीजमन्त्र वर्णन

शास्त्रों में वर्णित अपरिमित माहात्म्यशाली श् र् में दीर्घ ईकार और उसके मस्तक पर चन्द्रकला तथा बिन्दु लगाने से बने 'श्रीँ' शब्द को उनका बीजमन्त्र बताते हुए, इस मन्त्र के जाप के विशिष्ट प्रभाव का निरूपण भी लक्ष्मीलहरी में हुआ है—

जपेद् यः स्वच्छन्दं स हि पुनरमन्दं गजघटा
मदभ्राम्यद्भृङ्गैर्मुखरयति वेश्मानि विदुषाम् ॥[२]

अर्थात् मन्त्रजाप से प्रसन्न हुई लक्ष्मी के वरदानुग्रह को प्राप्त कर व्यक्ति इतना ऐश्वर्यसम्पन्न हो जाता है कि विद्वानों के घरों को गजधन संयुक्त कर देता है।

४. प्रार्थना

लक्ष्मीलहरी में त्रिभुवनवन्दिता जगज्जननी लक्ष्मी के स्वरूपवर्णन प्रसङ्ग में उनके प्रत्यङ्ग को पराशक्ति का ही रूप समझकर उनसे स्वोद्धार तथा स्वकल्याण हेतु नाना प्रकार से प्रार्थना की गई है। उनके कटाक्ष का वर्णन कर कहीं कृपाकटाक्ष प्राप्ति की कामना की गई है[३], तो कहीं इस कृपादृष्टि से अपने पाप-समूहों को विनष्ट करने की अभिलाषा[४] और कहीं रक्षा करने की प्रार्थना की गई है।[५] उनके चरणों से स्वमानस में निरन्तर विहार करते रहने की अभिलाषा की गई है[६], तो उनके चरणनखों से आन्तरिक सन्ताप दूर करने की

---

१. लक्ष्मीलहरी श्लोक ३८; २. तत्रैव श्लोक १०।

३. तत्रैव, श्लोक २; ४. तत्रैव ५।

५. तत्रैव १; ६. तत्रैव ६।

प्रार्थना।[१] उनके जङ्घायुगल व उरुद्वय से क्रमशः पापनाश[२] व सांसारिक ज्वर को शिथिल करने की इच्छा[३] तथा उनकी नाभि से अभय दान की प्रार्थना वर्णित हुई है।[४] उनके स्तनमण्डल से आन्तरिक अज्ञानान्धकार का प्रशमन करने की प्रार्थना की गई है।[५] साथ ही उनके हृदय में अपने उद्धार की स्मृति के रहने की लालसा प्रगट की गई है।[६] उनके हार से स्वमुक्ति हेतु अनुहार किया गया है[७] एवं उनकी अँगुलियों से अभिलषित पदार्थ प्रदान करने की कामना।[८] उनकी मुखकान्ति से द्रारिद्र्यज्वर के ताप को दूर करने की प्रार्थना[९] एवं उनकी श्वास वायु से कल्याण करने की अभिलाषा की गई है।[१०] उनकी दृष्टि से दुर्भाग्य नाश,[११] ताटङ्कों से क्लेशमुक्ति[१२] तथा केशपाशों से स्वनेत्रों को विमल कर देने की गुहार की गई है।[१३]

स्तुति का समापन भगवती के अमृतसिंचनसम स्निग्ध व कोमल हाथों के स्पर्श एवं 'मा रोदीः' इस आश्वासन को पाने की कामना[१४] तथा उनसे अपनी इस स्तुतिलहरी को सुनने की प्रार्थना के साथ हुआ है।[१५]

काव्य-सौष्ठव

लक्ष्मीलहरी में पण्डितराज का पाण्डित्य स्तुति की सरसता, वर्ण्यभावों की मनोरमता, अभिव्यक्ति की रमणीयता एवं कल्पना की चारुता के सुललित समन्वय के कारण अत्यन्त चित्ताकर्षक हो उठा है। यही कारण है कि लहरी का भाव एवं भाषागत समग्र सौन्दर्य निखर उठा है। विवेचनार्थ कतिपय स्थल दर्शनीय हैं। देवी के क्षीणोदरि होने का वर्णन वेदान्तियों के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त की मनोहर कल्पना को लेकर किया गया है। जैसे सारा दृश्यमान जगत् दिखाई देते हुए भी वेदान्तियों की दृष्टि में मिथ्या है, वैसे ही देवी का उदर होते हुए भी नहीं है—

१. लक्ष्मीलहरी १२; २. तत्रैव १४।
३. तत्रैव १५; ४. तत्रैव १९।
५. तत्रैव २२; ६. तत्रैव २३।
७. तत्रैव २७; ८. तत्रैव २८।
९. तत्रैव ३१; १०. तत्रैव ३२।
१०. तत्रैव ३५; १२. तत्रैव ३७।
११. तत्रैव ३८; १४. तत्रैव ४०।
१५. तत्रैव ४१।

जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
विसंदेहं चेतोऽजनि गरुडकेतोः प्रियतमे ॥[१]

इसी प्रकार उनकी कटि की क्षीणता में बौद्धों के शून्यवाद की सिद्धान्त-सरणि के विद्यमान होने की कल्पना की गई है। जैसे इस सिद्धान्त का अनेक तार्किकों द्वारा अनेकशः खण्डन करने के कारण तनिक भी प्रसार नहीं, वैसे ही देवी की कटि को शून्यभूत कहा गया है—

अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणितमहायुक्तिनिवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिद्कलयन्ती तनुमपि।
असत्ख्यातिव्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा
वलग्ने लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्तसरणिः ॥[२]

नितम्बप्रदेश के चित्रण में प्रातःकालिक सूर्य के बिम्ब की कल्पना कविवर्णननैपुण्य की द्योतिका है—

कलक्वाणां काञ्चीं मणिगणजटालामधिवहन्
वसानः कौसुम्भं वसनमसनं कौस्तुभरुचाम्।
मुनिव्रातैः प्रातः शुचिवचनजातैरतिनुतं
नितम्बस्ते बिम्बं हसति नवमम्बाम्बरमणेः॥[३]

झंकार करती हुई मणिसमूह से जटिल करधनी को धारण करता हुआ, कौस्तुभमणि की कान्ति को भी भक्षण करने वाला अर्थात् उससे भी अधिक कान्तिमान्, पवित्र कौसुम्भ वस्त्र को धारण किये हुए, हे देवि! तुम्हारा नितम्ब प्रातःकाल मुनि-समूहों द्वारा पवित्र वचनों से अत्यन्त स्तुत सूर्य के नवीन बिम्ब का मानों उपहास-सा कर रहा है।

इसी प्रकार भगवती के ताटङ्कयुगल को उनके अखण्ड सौभाग्य का प्रतीक मानने की कवि उक्ति भी कितनी मधुर है, जिसमें भगवान् के अमर होने तथा प्रलयकाल में भी निर्द्वन्द्व होकर शयन करने का श्रेय उनके इन्हीं अद्भुत विभा मण्डित ताटङ्कों को दिया गया है—

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक १७।
२. तत्रैव, श्लोक १८; ३. तत्रैव, श्लोक १६।

महिम्ना यस्यायं प्रलयसमयेऽपि क्रतुभुजां
जगत् पायं पायं स्वपिति निरपायं तव पतिः ॥[१]

भगवती के ग्रीवासौन्दर्य के वर्णनसन्दर्भ में शङ्ख से उनकी ग्रीवा का अत्यल्प साम्य बतलाने वाला निम्नलिखित श्लोक भी समीक्षणीय है—

तपस्तेपे तीव्रं किमपि परितप्य प्रतिदिनं
तव ग्रीवालक्ष्मीलवपरिचयादाप्तविभवम्।
हरिः कम्बुं चुम्बत्यथ वहति पाणौ किमधिकं
वदामस्तत्रायं प्रणयवशतोऽस्यै स्पृहयति ॥[२]

हे हरिप्रिये! तुम्हारी ग्रीवा की शोभा के लवमात्र के परिचय से वैभव को प्राप्त करने वाले शङ्ख को विष्णु चुम्बन करते हैं एवं हाथ में धारण करते हैं। अधिक क्या कहें; प्रणय के वशीभूत हो इसकी स्पृहा करते हैं। अतः ज्ञात होता है मानों शङ्ख ने प्रतिदिन तप्त होकर कोई तीव्र तपस्या की है।

इसी प्रकार नाभि की सरोवर के रूप में परिकल्पना अत्यन्त सुन्दर है। वर्णन इस प्रकार है—

गभीरामुद्वेलां प्रथमरसकल्लोलमिलितां
विगाढुं ते नाभीविमलसरसी गौर्मम मनाक्।
पदं यावन् न्यस्यत्यहह विनिमग्नैव सहसा
नहि क्षेमं सूते गुरुमहिमभूतेष्वविनयः॥[३]

हे देवि! गम्भीर, उठी हुई, प्रथम रस अर्थात् शृङ्गार रस के कल्लोल से समन्वित तुम्हारे नाभि रूपी सरोवर में अवगाहन करने के लिए मेरी वाणी जब तक थोड़ा भी प्रवेश करती है, तो सहसा, उसी में डूब जाती है। वस्तुतः गुरु महत्त्वभूत व्यक्तियों के प्रति अविनय कभी भी कल्याणकारी नहीं हुआ करता।

पुनः भगवती के समस्त अङ्गों को पराशक्ति का रूप मानकर उनसे स्वोद्धार हेतु नाना भाँति से प्रार्थना करने की परम्परा भी बड़ी मधुर व अनूठी है।

अन्य लहरियों के समान पण्डितराज की इस लहरी की भाषा भी भावानु-सारिणी, प्रवाहपूर्ण, अलङ्कृत एवं सानुप्रासिक पदशय्या से युक्त है। ध्वन्यात्मक

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक ३७;
२. तत्रैव, श्लोक २१; ३. तत्रैव, श्लोक २०।

क्षमता एवं संगीतात्मक ध्वनि से अनुपूरित भावानुरूप शब्दप्रयोग, तदनुरूप ह्रस्व एवं दीर्घ समास एवं माधुर्य तथा प्रसाद गुण की विद्यमानता से समन्वित इस लहरी में क्वचित् वैदर्भी व क्वचित् पाञ्चाली रीति प्रयुक्त हैं। पदावली की उपर्युक्त विशेषताओं के निदर्शनार्थ एक उदाहरण प्रस्तुत है—

नमन्मौलिश्रेणित्रिपुरपरिपन्थिप्रतिलसत्
कपर्दव्यावृत्तिस्फुरितफणिफूत्कारचकितः।
लसत्फुल्लाम्भोजम्रदिमहरणः कोऽपि चरण-
श्चिरं चेतश्चारी मम भवतु वारीशदुहितुः ॥[१]

यहाँ नमस्कार करते हुए शङ्कर की मस्तक श्रेणियों से सुशोभित तथा उनके जटाजूट में निबद्ध सर्पों के फूत्कार से चकित भगवती के चरणों के वर्णन-परक अंश का चित्रण भी वर्ण्यभाव के अनुरूप किंचित् ओजमिश्रित पदावली में हुआ है। पुनः 'लसत्फुल्लाम्भोजम्रदिमहरणः' तक के अंश में कोमल कमल का वर्णन होने से पदावली में कोमलता तथा 'म्रदिमहरणः' में हरण वर्णन होने से गाढ़ता है। पुनः 'चिरं चेतश्चारी मम भवतु वारीशदुहितुः' में चित्त विहार की कामना वर्णित होने से पदशय्या ही संचरण करती-सी है। इस प्रकार अर्थानुरूप पदप्रयोग के कारण पाञ्चाली रीति है।

भाषा के भावानुसारी होने के अतिरिक्त उसकी बहुत बड़ी विशेषता सानुप्रासिक वर्णयोजना से युक्त होना है। इससे पद्योच्चारण करते समय एक विशिष्ट प्रवाह, एक विलक्षण लय, एक अद्भुत गति बनी रहती है। निदर्शनार्थ कतिपय स्थल दर्शनीय हैं—

१. **बहिर्द्वारि तेषां भवति हयहेषाकलकलो**
दृगेषा ते येषामुपरि कमले देवि सदया।[२]

२. **प्रभातश्रीवेषा चरणरुचिरेषा विजयते**[३]

३. **मदक्लिन्नद्वारो भवति सुखसारो नरपतिः**[४]

४. **तवायं दृक्पातो यदुपरि कृपातो विलसति**[५]

५. **दृगन्तस्तेऽमन्दं मम कलुषवृन्दं दलयतु**[६]

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक ६; २. तत्रैव, श्लोक ४।
३. श्लोक ७; ४. श्लोक २।
५. श्लोक ३; ६. श्लोक ५।

६. **विविक्तौ वैकल्पाः सततमविकल्पा नवगिरः**[१]

७. **नितम्बस्ते बिम्बं हसति नवमम्बाम्बरमणेः**[२]

८. **तव श्वासा नासापुटविहितवासा विदधताम्**[३]

इन उदाहरणों में हेषा-दृगेषा-येषा, वेषा-एषा, द्वारो-सारो, दृक्पातो-कृपातो, अमन्दं-वृन्दं, वैकल्पा-विकल्पा, नितम्ब-बिम्ब, अम्ब-अम्बर, श्वासा-वासा में सानुप्रासिक पदावली भाषा की सुन्दरता को द्विगुणित कर देती हैं।

समान स्वर, व्यञ्जन व स्वरूप वाली सानुप्रासिक पदशय्या के कारण लहरी के समस्त श्लोक संगीतात्मक ध्वनि से अनुपूरित हैं। निदर्शनार्थ निम्नोद्धृत श्लोक दर्शनीय है—

प्रभाजालैः प्राभातिकदिनकराभापनयनं
तवेदं खेदं मे विघटयतु ताटङ्कयुगलम् ।
महिम्ना यस्यायं प्रलयसमयेऽपि क्रतुभुजां
जगत् पायं पायं स्वपिति निरपायं तव पतिः॥[४]

यहाँ अनुप्रास तथा अनुस्वार बहुलता के कारण गेयता गुण विद्यमान है।

लहरी के भगवती लक्ष्मी की स्तुति में रचित होने के कारण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ देवादिविषयक रति की अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद व माधुर्य गुण प्रमुख़तः पदशय्या में समागत हैं। एकाध श्लोकों के कुछ चरणों में वर्ण्यभावों के अनुरूप पदावली में गाढ़ता लाने के लिये ओजगुण का प्रयोग हुआ है।

शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों के सुन्दर प्रयोग से सरस व रमणीय बनी पदावली निस्सन्देह श्लाघनीय है—

दुरापा दुर्वृत्तैर्दुरितदमने दारुणभरा
दयार्द्रा दीनानामुपरि दलदिन्दीवरनिभा ।
दहन्ती दारिद्र्यद्रुमकुलमुदारद्रविणदा
त्वदीया दृष्टिर्मे जननि दुरदृष्टं दलयतु ॥[५]

यहाँ 'द' वर्ण के बारम्बार प्रयोग के कारण वृत्त्यनुप्रास है।

---

१. लक्ष्मीलहरी ९।
२. तत्रैव, श्लोक १६;
३. तत्रैव, श्लोक ३२।
४. तत्रैव, श्लोक ३७;
५. तत्रैव, श्लोक ३५।

इसी प्रकार लहरी के सभी श्लोकों में अनुप्रास के किसी न किसी प्रभेद का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त भगवती के रूप-सौन्दर्य के चित्रण को प्रभावी तथा मनोरम बनाने के लिए विविध अर्थालङ्कारों का प्रयोग भी हुआ है। उदाहरणार्थ लहरी के प्रथम श्लोक 'समुन्मीलन्नीलाम्बुज'[१] में उपमा, 'अगण्यैरिन्द्राद्यै'[२] में रूपक, 'प्रवालानां दीक्षागुरुरपि'[३], 'हरन्तो निश्शङ्कम्'[४] 'हरदगर्वं सर्वं'[५] में व्यतिरेक, 'कलक्वाणां काञ्चीं'[६] 'अनल्पैर्वादीन्द्रै'[७] 'तपस्तेपे तीव्रं'[८] 'कपोले ते दोलायित'[९] 'मृणालीनां लीला:'[१०] में उत्प्रेक्षा, 'गभीरामुद्वेलां'[११] में रूपक, श्लेष व अर्थान्तरन्यास, 'अभूदप्रत्यूह:'[१२] में प्रतीप, 'निदानं शृङ्गारप्रकर'[१३] में रूपक, 'दुरापा दुर्वृत्तै:'[१४] में उल्लेख आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। अलङ्कारों की इस रमणीयता के निदर्शनार्थ कुछ स्थल समवेक्षणीय हैं। काव्यलिङ्ग अलङ्कार का सुन्दरप्रयोग भगवती के स्तनमण्डल के वर्णन परिप्रेक्ष्य में दर्शनीय है—

कुचौ ते दुग्धाम्भोनिधिकुलशिखामण्डनमणे
हरेते सौभाग्यं यदि सुरगिरेश्चित्रमिह किम् ।
त्रिलोकीलावण्याहरणनवलीलानिपुणयो-
र्ययोर्दत्ते भूय: करमखिलनाथो मधुरिपु: ॥[१५]

हे दुग्ध समुद्र की निधि! कुलशिखा की मण्डन रत्नस्वरूपा लक्ष्मी! तुम्हारे स्तनद्वय यदि सुरगिरि सुमेरु के भी सौभाग्य का अपहरण करते हैं, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? त्रैलोक्य के सौन्दर्य के संग्रह करने की नवीन लीला में निपुण इन कुचद्वयों में सम्पूर्ण संसार के स्वामी मधुरिपु भगवान् विष्णु स्वयं बारम्बार हस्तस्पर्श प्रदान करते हैं।

आशय यह है कि साधारण लौकिक नायिकाओं के स्तनमण्डल स्नेहदुग्ध से परिपूरित रहते हैं, जब कि भगवती तो उस दुग्धसमुद्र के निधिभूत कुल में

१. लक्ष्मीलहरी श्लोक १।
२. तत्रैव श्लोक ५;
३. तत्रैव श्लोक ७।
४. तत्रैव श्लोक १२;
५. तत्रैव श्लोक १५।
६. तत्रैव श्लोक १६;
७. तत्रैव श्लोक १८।
८. तत्रैव श्लोक २१;
९. तत्रैव श्लोक ३३।
१०. तत्रैव श्लोक २४;
११. तत्रैव श्लोक २०।
१२. तत्रैव श्लोक ३०;
१३. तत्रैव श्लोक १९।
१४. तत्रैव श्लोक ३५;
१५. तत्रैव श्लोक २१।

उत्पन्न अलंकारभूता शिरोमणि रत्नस्वरूपा हैं। उनके स्तनमण्डल देवपर्वत सुमेरु के सौभाग्य का हरण करते हैं। कारण, सुमेरु देवताओं के निम्नाङ्ग पादस्पर्श से स्पर्शित है, जब कि भगवती के स्तनमण्डल को सम्पूर्ण संसार के स्वामी विष्णु का हस्तस्पर्श प्राप्त है।

इसी प्रकार व्यतिरेक का सुन्दर निदर्शन निम्नलिखित श्लोक में दर्शनीय है—

प्रवालानां दीक्षागुरुरपि च लाक्षारुणरुचां
नियन्त्री बन्धूकद्युतिनिकरबन्धूकृतिपटुः।
नृणामन्तर्ध्वान्तं निबिडमपहर्तुं तव किल
प्रभातश्रीवेषा चरणरुचिरेषा विजयते ॥[१]

मूँगों की भी दीक्षागुरु, लाख की लालकान्ति की नियन्त्री, बन्धूकपुष्प समूह की कान्ति को मित्र बनाने में निपुण, मानवों के अज्ञानान्धकार को दूर करने में निपुण, प्रभातकालीन शोभा के समान वेशभूषा धारण किये भगवती की चरणरुचि विजयिनी है। रक्तिम कान्ति के उपमानभूत पदार्थों को अतिशयित कर सर्वोत्कृष्ट बनी भगवती की चरणकान्ति व्यतिरेक का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है।

लक्ष्मीलहरी के अनुशीलन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह लहरी पण्डितराज द्वारा निर्मित एक अभिराम प्रासादिक स्तुति है, जिसमें स्वयं को साधक शिशु के रूप में मानकर भगवती के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य, माधुर्य, वैलक्षण्य एवं माहात्म्य का मोहक चित्रण किया गया है। इस चित्रण में भाव एवं कला का सुन्दर समन्वय है। भाषा एवं शैली की सरस योजना है। अलङ्कार एवं छन्द का मंजुल समन्वय है। इसका फल है, माँ लक्ष्मी के दिव्य सौन्दर्य की समग्र छटा। स्तुति की सुन्दर लहरियों से यह लहरी पूर्णतया आप्यायित है। इन सभी दृष्टियों से यह लहरी पण्डितराज की सर्वश्रेष्ठ लहरी सिद्ध होती है।

सुधा-लहरी

सुधा-लहरी भगवान् सूर्य की आराधना में रचित भक्तिभावापूर्ण प्रौढ़ रचना है। 'सुधा' का अर्थ है 'अमृत' और 'अमृत' का अर्थ है, 'मरणराहित्य' अर्थात्

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लोक ७।

मृत्युरहित जीवन। समग्र संसार को अमृतवत् जो जीवनदायिनी शक्ति, जो ऊष्मा, जो स्फूर्ति, जो उत्साह, जो निरालस्य प्रवृत्ति प्राप्त होती है, उसका नियामक सूर्य ही है। सम्भवत: इसी आधार पर इस लहरी का नामकरण 'सुधालहरी' शीर्षक से किया गया प्रतीत होता है। तीस स्रग्धरा छन्दों में निबद्ध यह लहरी सृष्टि के प्रत्यक्ष देवता सूर्य के प्रति आशीषात्मक एवं प्रार्थनात्मक स्तवन से युक्त है। इसमें सूर्य व उनकी रश्मियों को देवरूप मानकर उनका गुणगान करते हुए उनसे रक्षा, मङ्गल, कल्याण की कामना तथा अज्ञान, क्लेश, क्लान्ति, मूर्खता एवं रोगों के विनाश की मङ्गल प्रार्थना की गई है। 'सुधालहरी' का यह समग्र वर्ण्यविषय कहीं केसर, कुंकुम के अद्वैत को विस्तृत रूप में विकीर्ण करने वाले, अरुणिमा के उद्रेक से शोभायमान सूर्य के उदयकालिक नवबिम्ब को समर्पित है, तो कभी प्रखर रूप से प्रकाश रश्मियों को बिखेरते परिपूर्ण सूर्य के प्रभाव का अंकन करता है। कहीं अस्ताचलगामी सूर्य की अस्तंगता शोभा वर्णित है, तो कहीं समस्त प्राणियों में चेतना का संचार करती सूर्यप्रभा के भाव का वर्णन है। इसी प्रकार अनेकत्र नभ-जल-थल, विषम-सम, राजा-रङ्क, उन्नत-अवनत सबको समान भाव से प्रकाशित करनेवाली सूर्य रश्मियाँ भी कवि-लेखनी का विषय हैं। इस आधार पर सुधालहरी में प्रतिपादित कवि की समग्र भावोर्मियों का विश्लेषण इस प्रकार है—

सूर्योदय-वर्णन

सूर्य के उदयकालिक स्वरूप के चित्रणप्रसङ्ग में उन्हें त्रैलोक्य में कुंकुम की द्युतियों के अद्वैत को फैलाने वाला[१], चन्द्रमा की किरणों की कान्ति के गर्व को खण्डित करने वाला[२], अन्धकार से परिपूर्ण पृथ्वीमंडल को प्रकाशित करने वाला[३], कमलपुष्पों को विकसित कर भ्रमरों को आह्लादित करने वाला[४], शोकाकुल चकवियों के शोक का निस्तार करने वाला[५], तामसी प्रवृत्तियों का नाश करने वाला[६], अन्धत्वरूपी तन्द्रा से उठाने वाला[७], रात्रि में अन्धकार के कारण नष्टप्राय तेज वाले नेत्रों के तेज का पक्ष लेने वाला[८], दीनता के ध्वंस में दक्ष[९], सुशोभित अरुणिमा के उद्रेक से देदीप्यमान[१०] तथा छिटकते प्रकाश

१. सुधालहरी, श्लोक २५; २. तत्रैव श्लोक २।
३. तत्रैव श्लोक २; ४. तत्रैव श्लोक १।
५. तत्रैव १; ६. तत्रैव १।
७. तत्रैव २५; ८. तत्रैव १।
९. तत्रैव २; १०. तत्रैव २।

से युक्त कहा गया है।[१] स्पष्टतः ये सभी विशेषण प्रातःकाल सूर्योदय होने पर परिदृश्यमान विविध प्राकृतिक दृश्यों, परिवर्तनों व प्रक्रियाओं के द्योतक हैं। प्रातः सूर्योदय होने पर सूर्य की रक्ताभा के कारण चतुर्दिक् कुंकुम सिञ्चन का-सा दृश्य उपस्थित होने की मनोहारिणी स्थिति, कमल पुष्पों के मण्डलों का विकसित हो जाना, फलतः भ्रमरों का उनकी ओर उल्लास से दौड़ पड़ना, चारों ओर मंडराना, रात्रि में विलग हुए चकवा-चकवियों के वियोग का निस्तार होकर उनका चतुर्दिक् मँडराना, सूर्यदर्शन से लोगों की तामसी प्रवृत्तियों का नाश होकर सत्वोद्रेक को प्राप्त करना, नेत्रों का अपने लुप्त तेज को प्राप्त कर लेना, फलतः अन्धता एवं दैन्य का विनाश होना व स्फूर्ति, ऊर्जा तथा क्रियाशीलता का प्रसार होना आदि ऐसी स्पृहणीय स्थितियाँ हैं कि हठात् स्तवन के लिए व्यक्ति प्रणत हो जाता है—

द्रागद्वैतं वितन्वंस्त्रिभुवनमभितः कौङ्कुमीनां द्युतीनां
न्यक्कुर्वन् मान्द्यमुद्रामथ रजनिरुचां कोकसीमन्तिनीनाम्।
तन्द्रान्धानान्ध्यसिन्धोरिह विततत‍रैरुद्धानं कराग्रैः
स्वान्तध्वान्तं धुनीतामुदयगिरिशिरश्चुम्बि मार्तण्डबिम्बम्॥[२]

एक अन्य श्लोक में सूर्योदय को पुत्रजन्म के रूप में कल्पित कर यह वर्णन किया गया है कि जैसे किसी राजा के यहाँ पुत्रजन्म होने पर सम्पूर्ण राजप्रासाद केसर-कुंकुम मिश्रित जल से धोया जाता है, हर्षातिरेक में बन्दीगृह से कैदियों को छोड़ दिया जाता है, ब्राह्मणों को हजारों गायें दान में दी जाती हैं, जिससे उनके स्वस्तिवचन सुनाई देते हैं, उसी प्रकार प्रातःकाल सूर्योदय के समय चारों ओर लालिमा के छिटक जाने पर केसरजलसिञ्चन, कमलों के सम्पुट खुलने व भँवरों के मुक्त हो जाने पर बन्दियों के मुक्त होने, पक्षियों का कलरव हो जाने पर ब्राह्मणों के स्वस्तिवचन, तथा सहस्रों गायें चरने के लिए छोड़ दिए जाने पर गोदान; इस प्रकार सूर्यरूपी पुत्र के जन्म-सा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है—

कीलालैः कुङ्कुमानां निखिलमपि जगज्जालमेतन् निषिक्तं
मुक्ताश्चोन्मत्तभृङ्गा विदलितकमलक्रोडकारागृहेभ्यः।
उत्सृष्टं गोसहस्रं बहलकलकलः श्रूयते च द्विजानां
भाग्यैर्वृन्दारकाणां हरिहयहरिता सूयते पुत्ररत्नम्॥[३]

---

१. सुधालहरी श्लो. २; २. तत्रैव, श्लो. २५; ३. तत्रैव, श्लो. ८।

अन्यत्र उषाकाल में आकाश में उदित होते हुए विश्वबन्धु विवस्वान् को देखकर शीत में शोक, चन्द्रमा में मालिन्य, निशा के नाश, विलासी वर्ग में मनोमालिन्य, कुमुदिनियों में दैन्य व कमल समुदाय में मुखरता तथा दिशाओं में दीप्तिमत्ता का प्रसार हो जाता है—

शीते शोकं शशाङ्के कृशतमरुचितामाशु नाशं निशायाः
धिक्कारं ध्वान्तवर्गे कुमुदपरिषदि प्रोद्गमं दीनतायाः।
पाण्डित्यं पुण्डरीकेष्वनुदिनमधिकां कान्तिमाशासु तन्व-
न्नन्वञ्चत्यन्वहं द्यामुषसि करुणया विश्ववन्द्यो विवस्वान् ।।[१]

सूर्यवर्णन

प्रातःकाल अपनी कर्मसृष्टि से सम्पूर्ण जगत् को संजीवनी शक्ति प्रदान करने वाले सूर्य के उदयकालिक रूप व प्रभाव के चित्रण के अतिरिक्त 'सुधालहरी' के अन्य कई श्लोकों में तेजोराशि सूर्य के प्रदीप्त रूप एवं गुणों का विविध भाँति वर्णन किया गया है। उन्हें देवों, दानवों, गन्धर्वों, नागों, किन्नरों व मनुष्यों के द्वारा प्रणम्य व स्तुत[२] तथा ब्राह्मणों की सायं प्रातः सन्ध्याञ्जलियों से वन्दित उत्तम देवता के रूप में चित्रित किया गया है[३]—

सायं प्रातश्च सन्ध्याञ्जलिमवनिसुराः सम्प्रयच्छन्ति यस्मै।
तस्मै कस्मैचिदेतन् मम परमहसे देवतायै नमोऽस्तु[४] **।।**

अन्यत्र उन्हें परब्रह्म परमात्मा के तेज के रूप में मानकर कालचक्र का नियामक बतलाया गया है। काल की सर्वोच्च इकाई ब्रह्मा की आयु से लेकर निम्नतम इकाई क्षण, लव, घटिकादि से समन्वित कालचक्र को उनकी लीला का विलास कहा गया है। उन्हें अपनी गतियों से अर्थात् नित्य उदय-अस्त होकर कालचक्र को आगे बढ़ा कर संसार के समस्त भावपदार्थों के जन्म, स्थिति, विपरिणाम, वर्धन, क्षय और नाश इन छहों विकारों को उत्पन्न करने वाला बताया गया है—

आपाथोजासनायुः क्षणलवघटिकाद्यात्मकं कालचक्रं
प्राहुः पूर्वे पुराणागमविषयविदो यस्य लीलाविलासम्।
भावानां षड्विकारानथ खलु गतिभिर्यश्च नित्यं प्रसूते
स प्रातः पौरुहूते परिलसति हरिन्मण्डले चण्डभानुः[५]**।।**

---

१. सुधालहरी, श्लोक ११; २. तत्रैव, श्लोक २०; ३. तत्रैव, १५।
४. तत्रैव, श्लोक १५; ५. तत्रैव, श्लोक २१।

एक अन्य श्लोक में औषनिषदिक 'अक्षिपुरुष' के रूप में उनका चित्रण करते हुए वर्णन है—

ऊर्ध्वं पापावलिभ्यः स्थित इति जगदे यस्य वेदैरुदाख्या
निन्युः कप्यासनाभं खलु सहचरतां नेत्रयोः पुण्डरीकम्।
गेष्णावृक्साम यस्य द्रुतकनकनिभश्मश्रुकेशाखिलाङ्गः
सोऽयं सर्वान्तरात्मा तव दिशतुतरां वासरेशः शिवानि ॥

अन्यत्र उन्हें कल्पवृक्ष के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रसङ्ग में शुद्ध ब्रह्म को उनका आलवाल, प्रकृति से युक्त होने को मूल, किरणों को स्वर्णमय शाखाएँ, लालिमा को पल्लव, नीलव्योम को भ्रमर-पङ्क्ति तथा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को सुन्दर रस वाले फलों के रूप में वर्णित कर उनसे अभीष्ट फल पाने की प्रार्थना की गई है—

शुद्धं ब्रह्मालवालं प्रकृतिशबलितं यस्य मूलं करास्त-
द्राधिष्ठस्वर्णशाखा विकसदरुणिमा पल्लवानां विलासः।
नीलं व्योमालिमाला सुरसफलभरो धर्मकामार्थमोक्षाः
स श्रीमान् वाञ्छितार्थं वितरतु सततं सूर्यकल्पद्रुमो वः ॥[१]

परब्रह्म के साक्षात् तेजःस्वरूप, कालचक्र के नियामक, सृष्टि के प्रत्यक्ष देव के रूप में समादृत, सूर्य के महत्त्व निरूपण के अतिरिक्त 'सुधालहरी' में उनके बाह्य स्वरूप एवं गुणों का भी विविध भाँति निरूपण किया गया है। उन्हें गगनमणि[२], सर्वश्रेष्ठ कान्तिमान् ग्रह[३], तप्त स्वर्ण के समान आभावाला, गतिमानों में सर्वाधिक गतिशील, बृहस्पति, चन्द्र इत्यादि ग्रहों की कान्ति का जनक, समुद्र के अन्तस्तल से संसार में जम्हाई लेने वाला अर्थात् उदित होते समय समुद्रगर्भ से प्रादुर्भूत होने जैसा आभास कराने वाला, शीत से पीड़ित लोगों के लिए जीवनदायक तथा प्राणियों में प्राण का संचार करने वाला बताया गया है[४]—

जीवातुर्जाड्यजालाधिकजनितरुचां तप्तजाम्बूनदाभं
जङ्घालं जाङ्घिकानां जलधिजठरतो जृम्भमाणं जगत्याम्।
जीवाधानं जनानां जनकमथ रुचो जीवजैवातृकादे-
ज्योतिर्जाज्वल्यमानं जलजहितकृतो जायतां वो जयाय ॥[५]

---

१. सुधालहरी, श्लोक २६; २. तत्रैव, श्लोक १२।
३. तत्रैव, श्लोक १७; ४. तत्रैव, श्लोक १८; ५. तत्रैव, श्लोक १८।

प्रात:काल समग्र पृथ्वीमंडल को अपनी प्रकाशरश्मियों से प्रकाशित कर[१], लोगों की सत्प्रवृत्तियों को उद्बुद्ध कर दीनता के ध्वंस में[२] प्रभावी भूमिका निभाने वाले सूर्य पण्डितराज की आस्था में भक्तों के लिए कल्पवृक्ष सदृश[३], सद्विद्या का अविरल रूप से दान करने वाले[४], निद्रालस लोगों की निद्रा एवं रोगियों के रोग को दूर करने वाले, पापाचारियों के पाप का विनाश करने वाले, सम्पूर्ण कष्टों को दूर करने वाले तथा बाह्यान्धकार के अतिरिक्त आन्तरिक अज्ञानान्धकार का भी विनाश करने वाले हैं—

स्वापं स्वापाकुलानां गदमथगदिनामन्धकारं त्रिलोक्याः
पापं पापाविलानां सपदि परिहरन्नागतो वासवाशाम् ॥[५]

फलत: ऐसे अपरिमित प्रभाव सम्पन्न सूर्यदेव से समस्त कष्टों के विनाश एवं रक्षा की प्रार्थना सर्वथा स्वाभाविक है—

'विश्वार्तित्राणधर्मा गगनमणिरसौ पातु शर्मानिशं वः'[६]।

सूर्यास्त-वर्णन

अस्ताचलगामी भगवान् सूर्य का स्वरूप जहाँ प्रोषितपतिकाओं एवं वियोगिनियों के लिए त्रास व कारुण्यजनक है[७], वहीं दूसरी ओर वे उषाकाल से लेकर सायंकाल पर्यन्त वैदिक विधि-विधानों में संलग्न ब्राह्मणों की विश्रान्ति की कामना करने वाले, कामियों को प्रणयानुभव की प्राप्ति एवं कुमुदिनियों के विकास को चाहने वाले, कमलों की शोभा को स्थायी बनाने वाले दयालु देव के रूप में वन्दित एवं सर्वविध माङ्गल्य हेतु सम्प्रार्थित हैं—

विश्रान्तिं ब्राह्मणानां सुखमतिशयितं कामिनां स्थायिलीला-
मम्भोजानां प्रबोधं कुसुमपरिषदां यश्चिकीर्षन् दयार्द्रः ।
निर्यात्यन्तः समुद्रं सकलमपि नृणां भारमाधाय वह्ना-
वह्नायाह्नामधीशः स भवतु भवतां भूयसे मङ्गलाय ॥[८]

सूर्यरश्मियों का वर्णन

भगवान् सूर्य की अंशभूत रश्मियाँ अग्नि में तपाए जाने के कारण चमकते हुए स्वर्ण के सदृश कान्तिवाली वर्णित की गई हैं।[९] इन किरणों की प्रात:कालिक

---

१. सुधालहरी, श्लोक २०,२ २. तत्रैव श्लोक २; ३. तत्रैव श्लोक ३।
४. तत्रैव श्लोक २०; ५. तत्रैव श्लोक १२; ६. तत्रैव श्लोक १२।
७. तत्रैव श्लोक १४; ८. तत्रैव श्लोक २३; ९. तत्रैव श्लोक ३।

लालिमा के सन्दर्भ में कवि कल्पना है कि नवीन पल्लवों व शक्र गोपावलियों से भी अधिक लालिमापूर्ण होने से ये उनकी भी दीक्षागुरु हैं।[१] स्वर्णिम रक्ताभा से युक्त इन रश्मियों की शोभा भी अद्वितीय है। राजप्रासाद के उच्च शिखरों पर वे हिङ्गुली के आलेप के समान, वृक्षाग्रों में नवीन पल्लवों के उल्लास के समान एवं अत्यधिक ठोस बर्फ समूह के ऊपर फैलाए गये कत्थे के अंगारभार के समान प्रतीत होती अपनी अद्भुत छटा बिखेरती हैं। फलतः अपूर्व विभा से विभासित इन किरणों से माङ्गलिक प्रसाद की कामना सर्वथा स्वाभाविक हैं—

आलेपा हिङ्गुलीनामिव धरणिभुजामच्छसौधाग्रमौलि-
ष्वग्रेषु क्ष्मारुहाणामभिनवविदलत्पल्लवोल्लासलीलाः।
प्रौढ़प्रालेयपुञ्जोपरि चितखदिराङ्गारभारा इवारात्
पारावारात् प्रयान्तो दिनकरकिरणा मङ्गलं नः कृषीरन्॥[२]

इसके अतिरिक्त इन किरणों की रक्ताभा के विषय में यह कल्पना कितनी विलक्षण है कि उषाकाल में बर्फ के भार के सङ्ग से ब्राह्मणों के टूटते हुए अंगों को देखकर मानों शत्रुदर्शन (तुषारकणों से ब्राह्मण समुदाय का उत्पीड़न) देखकर क्रोध से लाल होकर शीघ्र ही इन्द्र की दिशा अर्थात् पूर्व दिशा में इनका आगमन आकाश में हो जाता है—

अङ्गानि ब्राह्मणानामुषसि हिमभरासङ्गतो भङ्गुराणि
व्यालक्ष्य द्राक् प्रयाता रिपुजनितरुषेवारुणा वास्रवाशाम्॥[३]

प्रातःकाल सुमेरु पर्वत से उदित होती हुई एवं मध्याह्न में आकाश में विद्यमान इन किरणों के द्वारा उत्पादित शोभा का चित्रण करते हुए कवि कल्पना करता है कि प्रातःकाल प्रतिदिन ये नदियों के जल में चारों ओर से प्रतिबिम्बित हो जाती हैं, अपनी रक्ताभ कान्ति से समस्त पृथ्वीमंडल को मणिजटित-सा बना देती हैं एवं मध्याह्न में ब्राह्मणों द्वारा सन्ध्याञ्जलि में प्रदत्त जलकणों को माणिक्यवत् कान्तिमान् बना देती हैं—

अन्तर्नीरं नदीनामनुदिनमुदये बिम्बिता ये समन्ताद्
गीर्वाणाद्रेरुदञ्चन्मणिगणजटिलां मेदिनीं दर्शयन्ति।
विप्रप्रोक्षिप्तसन्ध्याञ्जलिजलकणिकाजालमाकाशमध्ये
माणिक्यव्रातयन्तो मम मिहिरकरा मान्द्यमुन्मूलयन्तु॥[४]

---

१. सुधालहरी श्लोक २४; २. तत्रैव श्लोक ७।
३. तत्रैव श्लोक २२; ४. तत्रैव श्लोक १५।

बाह्य स्वरूप के अतिरिक्त सूर्य रश्मियों के आन्तरिक गुणों का भी नाना भाँति गुणगान किया गया है। उन्हें देवताओं की रक्षा करने वाली, कमलमण्डलों में सौभाग्य की लाक्षा प्रदान करने वाली, संसार के कल्याण में दीक्षित, दुराचारियों के पापों को ध्वंस करने में दक्ष, भक्तों के लिए कल्पवृक्ष के सदृश मनोकामनाओं को पूरा करने वाली कहा गया है, फलतः उनसे आनन्दप्रदान करने की कामना भी की गई है—

पद्मद्रोहोद्धुराणां धवलितहरितामैन्दवीनां द्युतीनां
दर्पं द्राग् द्रावयन्तो विदलदरुणिमोद्रेकदेदीप्यमानाः।
दूरादेवान्धकारितधरणितलद्योतने बद्धदीक्षा-
स्ते दैन्यध्वंसदक्षा मुदमुदयिनोद्वेलदुस्रा दिशन्तु ॥[१]

अन्यत्र उन्हें संसारमंडल के अन्धकार समूह को खा जाने वाली, बर्फ समूहों के लिए कराल के समान नाशकारक, स्वर्गलोक के लोकपालों की रक्षा करने वाली, चकवियों के वियोग रूपी शोक का हरण करने वाली[२], तुषारपात से कमलों की रक्षा करने वाली, अन्धकार से नष्टप्राय तेज वाले नेत्रों को ज्योति प्रदान करने वाली, वैदिक तथा स्मृतिशास्त्रीय क्रियाओं को पुनरुज्जीवित करने वाली[३] कहा गया है।

इसके अतिरिक्त उन्हें असाध्य रोगियों के रोगों की पीड़ा को नष्ट करने वाली[४], त्रैलोक्य के पाप रूपी वनसमूहों के दाह हेतु अग्नि रूप[५], पापों को छिन्न-भिन्न एवं धर्म के ध्वंस में उद्धत लोगों के सम्पूर्ण कुल को विनष्ट कर देने वाली[६], शरीरधारियों की इन्द्रियों को हर्षित करने वाली[७] तथा प्रभातकाल में कुमुदिनियों को सम्पुटित एवं सायंकाल उन्हें दयापूर्वक जीवित कर देने वाली वर्णित किया गया है।[८]

बाह्यान्धकार का विनाश करने के अतिरिक्त ये सूर्यकिरणें आन्तरिक अज्ञानान्धकार का भी विनाश करने के कारण अत्यद्भुत महत्त्वशालिनी हैं। इस सन्दर्भ में की गई यह कल्पना कितनी मनोरम है—

---

१. सुधालहरी, श्लोक २;
२. तत्रैव, श्लोक ४।
३. तत्रैव, श्लोक १०;
४. तत्रैव, श्लोक १७।
५. तत्रैव, श्लोक १९;
६. तत्रैव, श्लोक २२।
७. तत्रैव, श्लोक २८;
८. तत्रैव, श्लोक २४।

संहृत्य द्राग् बहिःस्थं तिमिरकुलमथाभ्यन्तरं हर्तुकामा
रन्ध्रालीभिर्गृहाणामुदरमनुदिनं येऽविशङ्कं विशन्ति।
भानोस्तेऽमी हृषीकाण्यखिलतनुभृतां हर्षयन्तो हितेहा
हृद्रोगं संहरन्तां हिममहिमहृतो हेमहृद्या करा नः ॥[१]

बाह्य अन्धकार राशि का शीघ्र विनाश करके, आन्तरिक अज्ञानान्धकार को दूर करने की कामना से घरों के मध्य में जो रन्ध्रों से निश्शङ्क होकर प्रवेश करती हैं, वे ये समस्त शरीरधारियों की इन्द्रियों को हर्षित करती हुईं, हिम की महिमा का हरण करने वाली, स्वर्ग के समान सुन्दर स्वरूप वाली, हित की इच्छा करने वाली सूर्य की किरणें हमारे हृदय रोग को दूर करें।

एक अन्य श्लोक में उनकी तुलना गायों से करते हुए यह वर्णन किया गया है कि जैसे गायें प्रतिदिन प्रात:काल गोशाला से चरने निकलती हैं और सायंकाल लौट आती हैं, उसी प्रकार सूर्यकिरणें भी प्रात: भ्रमणकारी तथा सायंकाल गृहगमनकारिणी हैं—

प्रातर्निर्गत्य गोभिः सह रुचिविषये संचरन्त्योऽह्नि ताभिः
साकं सायं निकायं प्रति पुनरपि याः सम्प्रयातुं त्वरन्ते।
यासां दिव्यप्रभावस्त्रिजगदघवनश्रेणिदाहैकदावः
क्षेमं तन्वन्तु ता वः शिवमयवपुषो वासरेशस्य गावः ॥[२]

सूर्यप्रभा-वर्णन

भगवान् सूर्य की ज्योतिष्मती प्रभा को प्रतिदिन प्रात:काल स्वप्रकाश से निद्रालस प्राणियों में चेतना का संचार करने तथा सायंकाल सूर्य के अस्ताचल को प्रस्थान करते समय लोगों को निद्रालसपूर्ण बना देने के दिव्य प्रभाव से युक्त बतलाया गया है।[३] इस कान्तिमान् तेज को देवताओं का रक्षक, हिमपात से त्रस्त प्राणियों का रक्षक, उत्पत्ति-विनाशशील, समस्त त्रिगुणात्मक पदार्थों से अतर्क्य, सृष्टि-स्थिति व प्रलय इस त्रयात्मक स्थिति से सर्वथा परे, घनीभूत अन्धकारराशि का नाशक व त्रैलोक्य को आरुण्यमय बना देने वाला वर्णित किया गया है—

---

१. सुधालहरी श्लोक २८।

२. तत्रैव, श्लोक १९।

३. तत्रैव, श्लोक ९।

त्राणं त्रैविष्टपानां तरणमथपयस्तोमताम्यत्तनूनां
नद्यन्तानामतर्क्यं त्रिगुणमयतया यत् त्रयाणां तुरीयम्।
तत् तादृक् तुन्दिलायास्तरुणतरतमः सन्ततेरन्तकृत् त्वां
तेजस्त्रैलोक्यताम्रीकरणचतुरिम त्रायतां तीक्ष्णभानोः॥[१]

प्रार्थना

'सुधालहरी' में सूर्य, सूर्यप्रभा तथा सूर्यरश्मियों का गुणगान करते हुए उनसे कहीं आनन्द[२], कहीं कल्याण[३], कहीं रक्षा[४], कहीं विजय[५], कहीं मङ्गल[६] कहीं अभीष्टप्राप्ति[७], कहीं मूर्खतानाश[८], कहीं अज्ञान-विनाश[९], कहीं रोगमुक्ति[१०], कहीं पापसंहार[११], कहीं क्लेश व ग्लानिनाश[१२] की मङ्गलकामना व प्रार्थना की गई है।

काव्य-सौष्ठव

भगवान् सूर्य के स्तवन को समर्पित यह लहरी पण्डितराज के प्रौढ़ पांण्डित्य से संवलित मनोरम कवित्व का सुन्दर निदर्शन है। कवि की उक्तियाँ वर्ण्यभावों के सम्प्रेषण की नवसामर्थ्यकला से सुषमान्वित हो उठी हैं। भगवान् सूर्य, सूर्यप्रभा एवं सूर्य-रश्मियों के गुणगान् के वर्णन प्रसङ्ग में कवि के उक्तिगत चातुर्य के कारण अनेकत्र अनूठी विच्छित्ति विलसित हो उठी है। उदाहरणार्थ कतिपय श्लोक दर्शनीय हैं—

कीलालैः कुङ्कुमानां निखिलमपि जगज्जालमेतन्निषिक्तं
मुक्ताश्चोन्मत्तभृङ्गा विदलितकमलक्रोडकारागृहेभ्यः।
उत्सृष्टं गोसहस्त्रं बहलकलकलः श्रूयते च द्विजानां
भाग्यैर्वृन्दारकाणां हरिहयहरिता सूयते पुत्ररत्नम्॥[१३]

यहाँ सूर्योदय को पुत्रजन्म के रूप में कल्पित किया गया है। जैसे किसी राजा के यहाँ पुत्रजन्म होने पर सम्पूर्ण राजप्रासाद को केसर-कुंकुम मिश्रित जल

१. सुधालहरी, श्लोक १६; २. तत्रैव, श्लोक २; ३. तत्रैव, श्लोक ४,१९।
४. तत्रैव, श्लोक ६,१२,१६; ५. तत्रैव, श्लोक १८।
६. तत्रैव, श्लोक ७,२३; ७. तत्रैव, श्लोक २६,१४।
८. तत्रैव, श्लोक १३; ९. तत्रैव, श्लोक २०,२५।
१०. तत्रैव, श्लोक २२,२८,२९; ११. तत्रैव, श्लोक ३।
१२. तत्रैव, श्लोक १७,२७; १३. तत्रैव, श्लोक ८।

से धोया जाता है, हर्षातिरेक में बन्दीगृहों से बन्दी छोड़ दिए जाते हैं, ब्राह्मणों को हजारों गायें दान में दी जाती हैं, जिससे उनके स्वस्तिवचन सुनाई देते हैं, वैसे ही सूर्योदय के समय चारों ओर लालिमा छिटक जाती है। अत: ज्ञात होता है कि मानों कुंकुमजल से सारा संसार सींच दिया गया हो। कमलों के क्रोड रूपी कारागृहों से मतवाले भ्रमररूपी बन्दी छूट जाते हैं, हजारों गायें चरने के लिए छोड़ दी जाती हैं तथा पक्षियों का चतुर्दिक् कलरव सुनाई पड़ता है। अत: प्रतीत होता है कि मानों देवताओं के भाग्य से पूर्वदिशा द्वारा सूर्यरूपी पुत्र का जन्म हुआ।

इसी भाव को एक अन्य श्लोक में दूसरे ढंग से ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह वर्णन है कि जैसे कोई व्यक्ति प्रात:काल बालकों के खेलने के लिए घर के बन्द दरवाजे खोल देता है व बन्द करने योग्य चीजों को बन्द कर देता है, सम्पूर्ण भूमि का जलादि से सिंचन करता है तथा लक्ष्मी की पूजा करता है, उसी प्रकार पद्मबन्धु सूर्य की किरणें प्रात:काल कमलरूपी क्रीडा योग्य सुशोभित मन्दिरों के कपाट खोलकर व कुमुदरूपी गृहों को बन्द करते हुए तथा बिखरे हुए केसरजल से सम्पूर्ण भूमि का सिंचन करती हैं तथा लक्ष्मी की पूजा में प्रवृत्त करती हैं। इन विशेषणों से यह भी ध्वनित होता है कि सूर्य की किरणें अघटनघटनापटु हैं। जो क्रीड़ायोग्य व बालप्रवृत्ति वाले व्यक्ति हैं, उनकी मुक्ति का द्वार खोलने वाली हैं तथा मुक्त सन्यासी प्रवृत्ति वाले पुरुषों को भी उपासना तथा नित्यक्रियाओं के बन्धन में बाँधने वाली हैं—

अह्नि क्रीडोचितानां सरसिरुहलसन्मन्दिराणां प्रभाते
प्रोद्घाट्य द्राक् कपाटान्यथ कुमुदगृहान् मुद्रयन्तो विमुक्तान् ।
सिञ्चन्तः किं च भूमीतलमखिलमपि क्षुण्णकाश्मीरनीरैः
पायासुः श्रीसपर्याविरचनपटवः पद्मबन्धोः करा नः।।[१]

इसी प्रकार सूर्यरश्मियों के वृक्षों के घने भाग का भेदन कर पृथ्वी पर पड़ते समय तत्समय के वर्णनप्रसङ्ग में कवि की यह कल्पना कितनी अभिराम है कि सुनहरी सूर्यरश्मियाँ जब पृथ्वीतल पर पड़ती हैं, तो शुकों के बच्चे उन्हें बड़े लम्बे सुवर्णदण्ड समझकर पैर रखने लगते हैं तथा उनकी रक्ताभा के पल्लवों पर पड़ी ओसबूँदो पर पड़ने से उन्हें अनार के दाने समझकर खाने के लिए उत्सुक हो जाते हैं—

---

१. सुधालहरी, श्लोक ६।

निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रां गतेषु
द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त धित्सन्ति पादान्।
यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुककिशवस्तेंशवः पान्तु भानोः॥[१]

इसी प्रकार भावोत्कृष्टता के निदर्शनपरक कई अन्य स्थल दर्शनीय है।[२]

प्रखर तेज, प्रचण्ड शक्ति, विलक्षण गति एवं अद्भुत सामर्थ्य के नियामक गुण गौरवशाली सूर्य को समर्पित सुधालहरी की भाषा-शैली भी ओजगुणयुक्त, अनुप्रासमयी, परुष वर्णों के बाहुल्य एवं दीर्घ समास से सम्पन्न हैं। इन विशेषताओं के कारण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ गौडी रीति का प्रयोग हुआ है, कई स्थल पाञ्चाली का भी सुन्दर निदर्शन हैं। यद्यपि गौडी रीति ओज गुणयुक्त, दुरूह शब्दों से समन्वित, शब्दाडम्बर तथा दीर्घ समासों से पूर्ण रचना होती है, तथापि सुधालहरी में परुष वर्ण एवं दीर्घ समासों के प्रयोग के कारण ओजगुण तो विद्यमान है; परन्तु अर्थ-दुरूहता नहीं। यहाँ क्लिष्ट शब्दों का अभाव है। ओज के साथ-साथ भावार्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति करने वाले शब्दों के प्रयोग के कारण प्रसाद गुण भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त यहाँ अर्थानुरूप परुष तथा श्रुतिकटु वर्णों के आनुप्रासिक प्रयोग द्वारा वर्णन में पर्याप्त प्रभावशालिता उत्पन्न की गई है। निदर्शनार्थ—

त्रातामीवार्तलक्षाः प्रतिदिनविहितानेकगीर्वाणरक्षा
भक्तानां कल्पवृक्षाः स्फुरदनलगतस्वर्णभासां सदृक्षाः।
लोकक्षेमात्तदीक्षा नलिनपरिषदां दत्तसौभाग्यलाक्षा
दुर्वृत्तध्वंसदक्षा मम रविकिरणाः सन्त्वघानां विपक्षाः॥[३]

यहाँ लक्षाः-रक्षाः, वृक्षाः-सदृक्षाः, दीक्षा-लाक्षा, दक्षा-विपक्षा इस 'क्ष' वर्णयुक्त सानुप्रासिक पदावली के बाहुल्य के कारण पर्याप्त प्रभावशालिता उत्पन्न हो गई है, जिससे सूर्यकिरणों का तेज स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है।

इसी प्रकार अधोलिखित उदाहरण भी दर्शनीय है—

---

१. सुधालहरी, श्लोक ५।

२. तत्रैव, श्लोक १०,११,१३,१५,२६-२९।

३. तत्रैव, श्लोक ३।

प्रालेयानां करालाः कवलितजगतीमण्डलध्वान्तजालाः
त्रातस्वर्लोकपाला विदलदरुणिमक्षिप्तबालप्रवालाः।
विश्लिष्यत्कोकबालाज्वरहरणभवत्कीर्तिजालैर्जटाला
व्योमव्याप्तौ विशालास्त्वयि दधतु शिवं भास्वतो भानुमालाः॥[१]

यहाँ दीर्घ समास व परुष वर्णों के प्रयोग के कारण ओजगुण विद्यमान है। इसके अतिरिक्त करालाः-जालाः लोकपालाः-प्रवालाः, कोकबालाः-जटालाः, विशालाः-भानुमालाः आदि तीक्ष्णध्वनि वाले शब्दों के आनुप्रासिक प्रयोग द्वारा ओजमयता में और भी अधिक वृद्धि हुई है। शब्द स्वयं ध्वनित होकर सूर्य किरणों के तेज को व्यक्त कर देते हैं; किन्तु गौडी रीति के वर्तमान रहने पर भी अर्थ क्लिष्टता नहीं है। यहाँ भावार्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ओज के साथ-साथ प्रसाद गुण भी विद्यमान है।

विश्वनाथ के अनुसार गौडी रीति की एक अन्य विशेषता है, शब्दाडम्बर।[२] शब्दाडम्बर से सम्भवतः विश्वनाथ का तात्पर्य शब्दों के प्रतिध्वनित क्रम से है। सुधालहरी में गौडी रीति की यह विशेषता भी पाई जाती है। यथा—

जीवातुर्जाड्यजालाधिकजनितरुजां तप्तजाम्बूनदाभं
जङ्घालं जाङ्घिकानां जलधिजठरतो जृम्भमाणं जगत्याम्।
जीवाधानं जनानां जनकमथ रुचो जीवजैवातृकादे-
र्ज्योतिर्जाज्वल्यमानं जलजहितकृतो जायतां वो जयाय॥[३]

यहाँ 'ज' वर्ण का २० बार प्रयोग होने से शब्दाडम्बर भी विद्यमान है तथा ओजगुण की अभिव्यक्ति प्रखर हो उठी है।

भगवान् सूर्य के स्तवन में रचित यह लहरी काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देवादि विषयक रतिभाव का उदाहरण है। समग्र लहरी की पदशय्या सानुप्रासिक है। कोमल पदावली के रहने पर अनुप्रास की बहुलता जहाँ माधुर्य में अतिशयता लाती है, वहीं परुष वर्णों के प्रयोग स्थल में यह ओजोगुण को प्रदीप्त करती है। उदाहरणार्थ 'त्राणं त्रैविष्टपानां'[४], 'गीर्वाणग्रामणीभिः'[५], 'जीवातुर्जाड्यजालाधिक'[६],

---

१. सुधालहरी श्लोक ४; २. साहित्यदर्पण ९/३।
३. तत्रैव श्लोक १८; ४. तत्रैव श्लोक १६।
५. तत्रैव श्लोक १७; ६. तत्रैव श्लोक १८।

'नीहारैर्नीरजानां'[१], 'नीहारं निम्नगाभ्यो'[२], 'ब्रह्माण्डं मण्डयन्तो'[३], 'प्रत्यग्रोढाः प्रगल्भाः'[४] आदि में वृत्त्यनुप्रास, 'शीते शोकं शशाङ्के कृशतमरुचितां'[५], 'स्वापं स्वापाकुलानां'[६] 'निर्भिद्य क्ष्मारुहाणां'[७] आदि मे 'छेकानुप्रास', 'त्रातामीवार्तलक्षाः'[८] 'प्रालेयानां करालाः'[९] आदि में अन्त्यानुप्रास का रमणीय प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार श्रुत्यनुप्रास का एक अन्य सुन्दर उदाहरण दर्शनीय है, जहाँ शब्दसाम्य होने पर भी अर्थ वैविध्य विद्यमान है—

अत्यर्थं वर्धयन्ती मणिगणसुषमासंपदं रत्नसानोः।
सा नो भानोः प्रभा नो नयनसरणितो दूरतो जातु यातु॥[१०]

इसी प्रकार एक-दो श्लोकों में श्लेष का ललित प्रयोग हुआ है।[११]

शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, तुल्ययोगिता, समासोक्ति आदि अलङ्कारों का ललित प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ सूर्य का कल्पवृक्ष के रूप में चित्रण करने वाला निम्नलिखित श्लोक साङ्ग रूपक का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है—

शुद्धं ब्रह्मालवालं प्रकृतिशबलितं यस्य मूलं करास्त-
द्राघिष्ठस्वर्णशाखा विकसदरुणिमा पल्लवानां विलासः।
नीलं व्योमालिमाला सुरसफलभरो धर्मकामार्थमोक्षाः
स श्रीमान् वाञ्छितार्थं वितरतु सततं सूर्यकल्पद्रुमो वः॥[१२]

शुद्ध ब्रह्म ही जिसका आलवाल है, प्रकृति से युक्त होना ही जिसका मूल है, किरणें ही जिसकी स्वर्णमय शाखाएँ हैं, खिलती हुई लालिमा ही पल्लवों का विलास है, नीलव्योम ही भ्रमरपंक्ति है, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ही सुन्दर रस वाले फलसमूह हैं, वह शोभाशाली सूर्यरूपी कल्पवृक्ष हमारे अभिलषितों को निरन्तर प्रदान करे।

इसी प्रकार तुल्ययोगिता का एक रमणीय अंकन दर्शनीय है—

---

१. सुधालहरी श्लोक १०
२. तत्रैव, श्लोक २७।
३. तत्रैव, श्लोक २१;
४. तत्रैव, श्लोक १४।
५. तत्रैव, श्लोक ११;
६. तत्रैव, श्लोक १२।
७. तत्रैव, श्लोक ५;
८. तत्रैव, श्लोक ३।
९. तत्रैव, श्लोक ४;
१०. तत्रैव, श्लोक १।
११. तत्रैव, श्लोक ६,१९;
१२. तत्रैव, श्लोक २६।

नीहारं निम्नगाभ्यो निखिलनयनतो नीरजेभ्यश्च निद्रां
नीडेभ्यो नीडजानां निकरमुषसि ये नित्यमुद्वासयन्ति।
सायं तेष्वेव तेषां पुनरपि घृणया कल्पयन्ते च वासं
ते वः सन्तु प्रयासं घृणिघनघृणयो हन्तुमाबद्धकक्षाः ॥[१]

उषाकाल में नदियों से नीहारकणों को, सम्पूर्ण लोगों की आँखों एवं कमलों से निद्रा को, घोंसलों से पक्षि-समूहों को नित्य बाहर निकालती हैं व सायंकाल उन्हीं में पुन: दयापूर्वक प्रतिष्ठित करती हैं, तो सूर्य की घनीभूत किरणें आपके क्लेश को दूर करने के लिए आबद्धकक्ष हो जाएँ।

यहाँ प्रभातकालीन सूर्य रश्मियों का कार्य व्यापार उपमेय है, उससे सम्बद्ध होने के कारण नीहारकणादि उपमेयभूत हैं, जिनका उद्वासन व वासन इस एक क्रिया से सम्बद्ध है, फलत: तुल्ययोगिता की रमणीय स्थिति है।

विभिन्न अलंकारों के ऐसे ही अनेक प्रयोगस्थल समग्र लहरी में दर्शनीय हैं।

'सुधालहरी' के इस समग्र आकलन का निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मतेज:स्वरूप भगवान् की संयमन-शक्ति काल के नियामक, ऊर्जा, स्फूर्ति, चैतन्य व जागृति के प्रदाता, कल्याणमय वपुषस्वरूप सूर्य के स्तवन में रचित पण्डितराज की यह रचना भावाभिव्यक्ति, भाषा-शैली, रस, भाव, छन्द-अलङ्कारादि सभी दृष्टियों से निस्सन्देह अत्युत्तम बन पड़ी है। पदों की प्रौढ़ि, समासों का बाहुल्य, घटाटोप शब्दों का प्रयोग, भावों की सुरम्य अभिव्यक्ति, सबके सुन्दर समन्वय ने इस लहरी के नाम को सर्वथा सार्थक कर दिया है।

●

१. सुधालहरी, श्लोक २७।

चतुर्थ अध्याय

प्रशस्तिपरक रचनाएँ

आश्रयदाताओं की तुष्टि के लिए उनके गुणों की प्रशंसा में रचित रचनाएँ प्रशस्तिकाव्य के नाम से अभिहित होती हैं। इन प्रशस्तियों में कवि-परिपाटी के अनुसार कीर्ति की शुक्लता, शत्रु की अपकीर्ति की कालिमा, प्रताप की उष्णता, क्रोध या अनुराग की लालिमा, दानशीलता, सुन्दरता, उदारता, शूरता, वीरता, स्फूर्ति, उत्साह-धैर्यादि गुणों का अतिशयोक्तिपूर्ण आलङ्कारिक वर्णन किया जाता है। पण्डितराज की तीन रचनाओं में इसी परिपाटी का आश्रय लेकर आश्रयदाता राजपुरुषों का प्रशस्तिगान किया गया है। अत: ये तीनों रचनाएँ प्रशस्तिकाव्य के अन्तर्गत परिगण्य हैं। ये हैं—

१. प्राणाभरणम् — (कूचबिहार के राजा प्राणनारायण की प्रशस्ति में निबद्ध)
२. जगदाभरणम् — (उदयपुर के राणा जगतसिंह की प्रशस्ति में रचित)
३. आसफविलास — (शाहजहाँ के सर्वाधिक तेजस्वी सामन्त आसफ खाँ की प्रशंसा में विरचित)

प्राणाभरण एवं जगदाभरण

'प्राणाभरण' एवं 'जगदाभरण' आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में विरचित प्रशस्तिकाव्य हैं। इनमें भी प्रशस्तिकाव्यों की प्रचलित परम्परा के अनुसार चरित-नायकों की शूरता, यश, प्रताप, कीर्ति, दानशीलता आदि का ही वर्णन है; अत: जीवन के एक अंश यश:कथा के निबन्धन मात्र से सम्बद्ध होने के कारण काव्यस्वरूप की दृष्टि से ये खण्डकाव्य के अन्तर्गत आते हैं।[१]

इन काव्यों के आश्रयदाताओं की कीर्तिगाथा का निबन्धन होने के कारण एक दूसरे छन्द का परस्पर सम्बन्ध यद्यपि जोड़ा गया है, फिर भी कुछ विद्वानों ने इनकी गणना प्रशस्तिपरक मुक्तकों के अन्तर्गत भी की है। उनकी धारणा है कि इन काव्यों के प्रशस्तिपरक छन्द स्वतन्त्र रूप से अपना अभीष्ट अर्थ वहन करते हैं और इनमें कथासूत्र का विशेष निबन्धन न होने के कारण इन्हें

---

१. 'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च' (साहित्यदर्पण, पृ. ५५५)।

प्रबन्ध के पूर्वापर सम्बन्ध की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी कि एक प्रबन्ध के लिये होनी चाहिए। अत: एक दृष्टि से इन्हें मुक्तक भी कहा जा सकता है।[१]

यह धारणा सर्वथा तो नहीं; लेकिन एक सीमा तक सत्य अवश्य प्रतीत होती है। कारण, 'प्राणाभरण' और 'जगदाभरण' के श्लोक जब रसगङ्गाधर में विविध अलङ्कारों के उदाहरण रूप में आते हैं, तब वे पूर्वापर सम्बन्ध से रहित मुक्तक श्लोक ही लगते हैं, किन्तु 'प्राणाभरण' व 'जगदाभरण' के अन्तर्गत उद्धृत होने पर उन्हें मात्र मुक्तकों का ही संग्रह नहीं कहा जा सकता। तब इन काव्यों के श्लोकों के यश:कथा का निबन्धन रूप होने से इनके श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। काव्य के प्रारम्भिक दो श्लोकों में तो यह सम्बन्ध अति स्पष्ट भी है और इसप्रकार परस्पर सम्बन्धरूप होने के कारण इन्हें प्रशस्तिपरक प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य ही कहा जाएगा।

'प्राणाभरण' व 'जगदाभरण' की एकरूपता

'प्राणाभरण' व 'जगदाभरण' के प्राय: सभी श्लोक एक समान हैं। प्राणाभरण में जहाँ प्राणनारायण का नामादिक आया हैं, वहाँ जगदाभरण में जगतसिंह का। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज ने दो आश्रयदाताओं की प्रशंसा में उनके नामों के आधार पर काव्य के शीर्षकभेद व कुछ श्लोकों में उनके नामों व उपाधियों में परिवर्तन करते हुए एक ही प्रशस्तिकाव्य की रचना कर उनका प्रशस्तिगान किया।[२]

'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में इन काव्यों के अन्तर्गत ५३ श्लोक संकलित हैं। इनमें तीन श्लोक संख्या १५, १६, ३३ जगदाभरण में नहीं मिलते।[३]

---

१. रीतिकाव्य के स्रोत, डॉ. रामजी मिश्र, पृ०. १५३।

२. (क) जागर्तु क्षितिमण्डले चिरमिह श्रीकामरूपेश्वर: ।
जागर्तु क्षितिमण्डलोपरि जगत्सिंहो धराधीश्वर: ।। (प्राणा. जगदा. श्लो.२)

(ख) दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीकर्णजन्मार्णव:
दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीप्राणनारायण: ।। (वही. श्लो.५)

(ग) नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कामरूपेश्वर: ।
नुतो निखिलभूसुरैर्विजयते जगत्केसरी ।। (वही, श्लो. २३)

(घ) सन्तुष्ट: कमताधिपस्य कवितामाकर्ण्य तद्वर्णनम् ।
श्रीराणाकलिकर्णनन्दनजगत्सिंहप्रभोर्वर्णनम् ।। (वही, श्लो. ५३)

३. देखिये, पण्डितराजकाव्यसङ्ग्रह, भूमिका पृ.५।

इन्हें प्राणाभरण में जोड़ा गया है। अत: यह कहा जा सकता है कि जगदाभरण ५० व प्राणाभरण ५३ श्लोकों की रचना है और जगदाभरण की रचना पहले हुई तथा प्राणाभरण की रचना बाद में हुई।

रसगङ्गाधर व प्राणाभरण तथा जगदाभरण

केवल कुछ श्लोकों यथा १, २, ३, ३३ व ५३ को छोड़कर प्राणाभरण व जगदाभरण में संकलित लगभग सभी श्लोक रसगङ्गाधर में उद्धृत हैं। किन्तु इन उद्धृत श्लोकों में प्राणनारायण या जगतसिंह के नाम व उपाधि की जगह 'दिल्लीधरावल्लभ:' यह पाठ मिलता है।[१] इस पाठभेद के विषय में विचार करने पर इसके कारण रूप में दो सम्भावनाएँ समक्ष आती है—

१. प्रथम, कवि की इस रचना की एक पाण्डुलिपि या तो उस रूप में उपलब्ध थी, जिसमें यह 'दिल्लीधरावल्लभ' अर्थात् शाहजहाँ या दाराशिकोह की प्रशस्ति में समर्पित है।
२. द्वितीय, रसगङ्गाधर की रचना करते समय दिल्लीपति के आश्रित होने के कारण उन्होंने इन श्लोकों में जगतसिंह या प्राणनारायण की नामोपाधियों को न देकर 'दिल्लीधरावल्लभ' यह नाम दिया।

चरितनायकों के विषय में विवेचन

'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने इन काव्यों का जिस रूप में सम्पादन किया है, उससे सर्वथा स्पष्ट है कि 'प्राणाभरण' व 'जगदाभरण' क्रमश: प्राणनारायण व जगतसिंह की प्रशस्ति में विरचित काव्य हैं। इनमें प्राणाभरण के तो प्राणनारायण की प्रशस्ति में रचे जाने के सम्बन्ध में मतैक्य है, किन्तु जगदाभरण के जगतसिंह की प्रशंसा में रचे जाने के विरुद्ध विद्वानों में एक अन्य धारणा भी प्रचलित है। अत: जगदाभरण के चरितनायक के विषय में सही जानकारी के लिए इस धारणा की समीक्षा अनिवार्य है।

मान्यताएँ और उनकी समीक्षा

कुछ विद्वानों के मतानुसार कवि की यह कृति शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र व पण्डितराज के प्रिय शिष्य दाराशिकोह की प्रशंसा में रचित है।[२] जगदाभरण

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो.५,१५,२३।

२. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ. ४००: भामि.वि., वैद्य, पृ. १७, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, कृष्णमाचारी, पृ. ३५४: बिब्लियोग्राफी ऑफ मुगल इण्डिया, श्रीराम शर्मा, अपेन्डिक्स-३, पृ. १६१: सर्वे ऑफ संस्कृत, लिट्रेचर, कुन्हनराजा, पृ. २३१।

के प्रकाशित पाठ में कहीं भी दारा का नामत: उल्लेख नहीं मिलता है, अत: यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन विद्वानों ने किस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि जगदाभरण दाराशिकोह की प्रशस्ति में रचित है। इन विद्वान् समीक्षकों ने अपनी मान्यता के सम्बन्ध में कोई हेतु भी नहीं दिया है। सम्भवत: वे ऐसा इस आधार पर मानते हों कि जगदाभरण एवं प्राणाभरण के वे श्लोक जो रसगङ्गाधर में उदाहरणरूप में आए हैं, उनमें प्राणनारायण या जगतसिंह के नामों की जगह 'दिल्लीधरावल्लभ:' पाठ मिलता है; जिसका अर्थ 'दिल्ली की भूमि का पति' या 'दिल्ली की भूमि का प्रिय' से लिया जा सकता है। शाहजहाँ का प्रिय एवं ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण दिल्ली शासन में दारा प्रमुख था, साथ ही अपनी उदार नीतियों के कारण जनसामान्य में लोकप्रिय भी था। अत: सम्भवत: इसी आधार पर ये विद्वद्गण 'दिल्लीधरावल्लभ:' से दाराशिकोह का आशय लेकर इस काव्य को उसकी प्रशस्ति में लिखा गया मानते हैं।

परन्तु यह धारणा निम्नलिखित तर्कों के आधार पर असंगत लगती है—

१. केवल इन पाठभेदों के कारण अनुमान के आधार पर 'दिल्लीधरावल्लभ:' से दारा का अर्थ लेकर यह निष्कर्ष निकालना कि 'जगदाभरण' दाराशिकोह की प्रशस्ति में रचा गया था, उचित नहीं प्रतीत होता।

२. 'दिल्लीधरावल्लभ:' का आशय केवल दाराशिकोह से ही लगाना, तर्कसंगत नहीं। 'दिल्लीधरावल्लभ:' से कवि का आशय 'दिल्लीपति' शाहजहाँ से भी हो सकता है, जिनका वह राज्याश्रित था।

३. अबतक प्राप्त संस्करणों में दारा का नाम कहीं भी नहीं प्राप्त होता। यहाँ यह प्रश्न स्वभावत: उठता है कि जैसे पण्डितराज ने इन काव्यों में जगत सिंह व प्राणनारायण की नामोपाधियों का स्पष्ट उल्लेख किया है, वैसे ही यह काव्य अगर दाराशिकोह की प्रशस्ति में भी रचित होता; तो उसके नाम का भी उल्लेख अवश्य हुआ होता। इसके अभाव में इस काव्य को दारा की प्रशंसा में रचित नहीं माना जा सकता।

डॉ. चौधरी का मत

इस सम्बन्ध में डॉ. चौधरी का मत भी द्रष्टव्य है। उन्होंने दुर्गाप्रसाद के 'रसगङ्गाधर' की भूमिका का उद्धरण देकर कहा है कि उनके 'रसगङ्गाधर' की भूमिका से ज्ञात होता है कि उन्हें 'जगदाभरण' की एक ऐसी पाण्डुलिपि मिली है, जिसमें प्राणनारायण या जगतसिंह के नामों की जगह दारा या ऐसी

ही कुछ उपाधियाँ जैसे 'दिल्लीधरावल्लभ:' आदि हैं। अत: इस आधार पर उनका कहना है कि निश्चय ही कवि की 'प्राणाभरण' की एक पाण्डुलिपि उस रूप में प्राप्त है, जिसमें वह दाराशिकोह की प्रशस्ति में रचित है।[१]

परन्तु अबतक 'प्राणाभरण' अथवा 'जगदाभरण' का ऐसा कोई संस्करण सामने नहीं आया है, जिसमें दारा का नामत: उल्लेख किया गया है। अत: दुर्गाप्रसाद जी के उपर्युक्त कथन व इस आधार पर डॉ. चौधरी के विश्वास के विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

डॉ. राघवन् का मत

इसी सन्दर्भ में डॉ. राघवन् के मत की विवेचना भी अनिवार्य है। उनके अनुसार, यह कृति दारा, जगतसिंह व प्राणनारायण तीनों की स्तुति में विरचित है।[२] परन्तु डॉ. राघवन् की यह धारणा भी उपर्युक्त तर्कों के आधार पर असंगत लगती है, जिसमें जगदाभरण में दारा का नामत: उल्लेख न होने और 'दिल्लीधरावल्लभ' से दारा का अर्थ लगाने को तर्कसंगत नहीं माना गया है।

जगदाभरण जगतसिंह की प्रशस्ति में रचित है?

'जगदाभरण' के दाराशिकोह की प्रशस्ति में रचे जाने से सम्बन्धित मान्यता के समीक्षाक्रम में इस मत का विवेचन अनिवार्य है कि 'जगदाभरण' को जगतसिंह की प्रशस्ति में रचित मानना अधिक युक्तिसंगत क्यों है?

'जगदाभरण' में जगतसिंह का चार श्लोकों में नामोपाधियों सहित स्पष्ट उल्लेख है।[३] इसके अतिरिक्त काव्य के अन्त में निष्कर्षात्मक पंक्तियों में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि काव्य में जगतसिंह का वर्णन है।[४] अत: जगदाभरण के जगतसिंह की प्रशंसा में रचे जाने का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

---

१. मुस्लिम पैट्रोनेज टू संस्कृत लर्निङ्ग, चौधरी, पृ. ६२।

२. संस्कृत लिट्रेचर, वी.राघवन्, पृ. ९७।

३. (क) जागर्तु क्षितिमण्डलोपरि जगत्सिंहो धराधीश्वर:, प्राणा.जगदा. श्लो.२।
(ख) दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीकर्णजन्मार्णव:, तत्रैव, श्लो.५।
(ग) नुतो निखिलभूसुरैर्विजयते जगत्केसरी, तत्रैव, श्लोक २३।
(घ) श्रीराणाकलिकर्णनन्दनजगत्सिंहप्रभोर्वर्णनं, तत्रैव, श्लो.५३।

४. इति महामहोपाध्याय...जगदाभरणाख्यं जगत्सिंहवर्णनम् ।। तत्रैव, (अन्तिम पंक्ति)

निष्कर्ष

इस समस्त विवेचन के फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि 'जगदाभरण' असंदिग्ध रूप से जगतसिंह की प्रशंसा में विरचित है। 'रसगङ्गाधर' के वे श्लोक, जिनमें 'दिल्लीधरावल्लभ:' यह पाठ मिलता है, सम्भवत: उस काल की रचना हैं, जबकि पण्डितराज 'दिल्लीश्वर' के राज्याश्रित थे। अत: उनके आश्रयकाल में निबद्ध होने वाली किसी रचना में किसी अन्य राजा का नामोपाधि सहित संकेत न तो उचित होता और न ही तर्कसंगत। यह हो सकता है कि जगतसिंह की प्रशंसा में विरचित श्लोकों से कालान्तर में उन्होंने दिल्लीश्वर (दारा) का भी स्तवन किया हो, क्योंकि अधिकांश मुगल इतिहासकारों ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उन्होंने दारा की प्रशस्ति में काव्यरचना की थी।[१] किन्तु इसका संक्षिप्त उल्लेख 'रसगङ्गाधर' में आगत श्लोकों में प्रयुक्त उपाधिभेद से ही मिलता है। जगदाभरण की पाण्डुलिपि के उस रूप में उपलब्ध न होने के कारण व इतिहासकारों द्वारा भी कोई प्रमाण प्रस्तुत न करने के कारण यह सप्रमाण नहीं कहा जा सकता कि जगदाभरण 'दिल्लीवल्लभ' दाराशिकोह या शाहजहाँ की प्रशस्ति में रचित था। केवल यह अनुमान ही किया जा सकता है कि कवि ने 'जगदाभरण' के इन्हीं श्लोकों की नामोपाधियों में परिवर्तन कर 'दिल्लीवल्लभ' का प्रशस्तिगान किया होगा।

प्रशस्तिकाव्यों का प्रणयन एवं पण्डितराज जगन्नाथ

'प्राणाभरण', 'जगदाभरण' एवं 'आसफविलास' जैसी प्रशस्तिपरक रचनाओं की विषयवस्तु के अवलोकन से एक प्रश्न सहज रूप में सामने आता है कि पण्डितराज जैसे उद्भट विद्वान्, तर्कशास्त्री, काव्यकार, नीतिज्ञ एवं गलदश्रु भक्तकवि ने आश्रयदाता नरेशों की प्रशंसा में अतिशयोक्तिपूर्ण, चमत्कारिक कल्पनाओं से संवलित, आकाशपुष्प का सृजन करने वाले प्रशस्ति काव्य क्यों कर लिखे? इस प्रश्न के उत्तर के लिए तत्कालीन युगप्रवृत्तियों, कवियों या कलाकारों द्वारा जीवननिर्वाह के लिये अपनाए जाने वाले साधनों एवं तत्कालीन सामाजिक स्थितियों पर दृष्टिपात आवश्यक है। सर्वप्रथम कलाकारों के जीविका-निर्वाह का प्रश्न ही समीक्षणीय है। काव्यसृजन के लिए जिस मानसिक निश्चिन्तता की आवश्यकता होती है, उदरपोषण हेतु की जाने वाली आपा-धापी का जो भटकाव कवियों व कलाकारों की साधना में बाधक

१. बिब्लियोग्राफी ऑफ मुगल इण्डिया, श्रीराम शर्मा अपेन्डिक्स-३, पृ. १६१
मुगलशासकों की धार्मिक नीति, शर्मा, पृ. ११६।

होता है, यश व पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए जिस सुदृढ़ छत्रछाया की आवश्यकता का लोग अनुभव करते हैं, उसी का परिणाम है, आश्रयदाता राजाओं, मनसबदारों, अधिकारियों, श्रेष्ठि व सामन्तवर्ग का आश्रयण एवं उनके मनस्तोष हेतु अत्युक्तिपूर्ण उक्तियों से संवलित प्रशस्तिपरक रचनाओं का प्रणयन।

प्राचीनकाल में भी राजसभाएँ विद्वानों, कलाकारों, गायकों, चारणों, भाटों, कवियों, इतिहासवेत्ताओं एवं पुराणज्ञों का आश्रय हुआ करती थीं। भोजप्रबन्ध में भोजराज की सभा का विस्तृत वर्णन मिलता है। लगभग पाँच सौ विद्वान् और कवि उसकी सभा को अलङ्कृत करते थे। स्वयं भोज के बारे में प्रसिद्धि है कि उसने घोषणा की थी कि यदि मूर्ख ब्राह्मण भी हो, तो हमारे नगर से चला जाय और यदि विद्वान् कुम्भकार भी हो, तो हमारे नगर में निवास करे[1]। बाणभट्ट ने भी कवियों व कुंजरों के लिए उचित स्थान अपना घर अथवा राजसभा ही बतलाया है। स्वयं 'हर्षचरित' में उन्होंने महाराज हर्षवर्धन के वंश, वीर्य, पराक्रम, वैभव, शास्त्रज्ञानादि नानाविध गुणों का आलङ्कारिक चित्रण किया है। बिल्हण ने राज्याश्रय में रहने वाले कवियों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जिस राजा के दरबार में अच्छे कवि नहीं हैं, उसका यश भला कैसे फैल सकता है? इस पृथ्वी पर न जाने कितने राजा महाराजा हुए, पर उनका नाम कोई नहीं जानता—

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां
जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्।।

स्पष्ट है, प्रवृत्ति थी कि राजा को अपने यश को चिरस्थायी बनाने के लिए कवियों का पोषण करना चाहिए। यही कारण था कि बड़े-बड़े प्रतापी राजा जलधि रूपी रशना को धारण करने वाली पृथ्वी के स्वामी होकर भी जिस कवि की कृपा के बिना स्मरण भी नहीं किये जाते, वह कविकर्म सतत नमनीय है।

देखा जाय तो अधिकांश प्रशस्ति काव्यों का निर्माण ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थों या चरितकाव्यों के माध्यम से हुआ। ऐसे ग्रन्थों में बाणभट्ट का हर्षचरित,

---

१. विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्ख स पुराद्बहिरस्तु मे।
कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्स तिष्ठतु पुरे मम।। भोजप्रबन्ध, ७४।

वाक्पतिराज का गउडवहो, पद्मगुप्तपरिमल का नवसाहसाङ्कचरित, बिल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित, सन्ध्याकरनन्दी का रामचरित, कल्हण की राजतरंगिणी, हेमचन्द्र का कुमारपालचरित, जयानक का पृथ्वीराजविजय, सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी, अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन, नयचन्द्रसूरि का हम्मीरकाव्य, शम्भुकवि का राजेन्द्रकर्णपूर, मेरुतुङ्ग की प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखर का चतुर्विंशतिप्रबन्ध, गंगादेवी का वीरकंपरायचरित्र, राजनाथ डिंडिम का अच्युतरामाभ्युदय, बालचन्द्र का वसन्तविलास, उदयप्रभसूरि का धर्माभ्युदय काव्य इत्यादि विशेषत: उल्लेख्य हैं। इनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त के निबन्धन के साथ ही प्रशस्ति की प्रचलित परिपाटी का आश्रय लेते हुए आश्रयदाता नरेशों की सर्वगुणसम्पन्नता, गुणज्ञता, यशविस्तृति, पराक्रम, शौर्यादि का सहस्रश: गुणगान किया गया है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीनकाल में राज्याश्रय प्राप्त कवियों द्वारा प्रमुखत: प्रशस्तिपरक रचनाओं का ही प्रणयन हुआ। वहाँ ऐसे अनेक उद्भट कवि विद्यमान हैं, जिन्होंने राज्याश्रय प्राप्त कर भी किसी भी प्रकार की बन्धन-शृङ्खलाओं से परे होकर स्वतन्त्र भाव से आत्माभिव्यक्ति को शब्द दिये, स्वर दिये एवं कल्पान्तस्थायी यश:कारी काव्यों का प्रणयन किया। कालिदास, अश्वघोष, भारवि, रत्नाकरादि की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सत्रहवीं शती से पूर्व इस प्रकार का वातावरण अवश्य था जबकि कविगण राज्याश्रित होने पर भी आत्माभिव्यक्ति हेतु स्वतन्त्र थे। वे किसी पौराणिक या ऐतिहासिक वृत्त को रचना का आधार बना सकते थे, उसके माध्यम से लोकादर्श के प्रतिमान प्रस्तुत कर सकते थे एवं आश्रयदाता से पुरस्कार व पदप्रतिष्ठा तथा प्रशंसा पा सकते थे। लेकिन शनै: शनै: इस प्रवृत्ति में बदलाव आता गया। पण्डितराज के काल तक आते-आते तत्कालीन युग-प्रवृत्तियों में इतना बदलाव स्पष्ट था कि राजसभा में वाहवाही पाने के लिए कवियों ने अपनी कविता वनिता को भी ऐसे हाव-भावों, विलासों, अलङ्कारों व नाज-नखरों से युक्त किया, जैसे तत्कालीन हरम की बेगमें या अन्त:पुर की राजमहिषियाँ रहा करती थीं। उसे अपनी स्वाभाविक सरलता को त्याग कर बाह्य प्रदर्शन व चमत्कृत करने वाली क्रिया को ग्रहण करना पड़ा। पहले प्राकृतजन के गुणगान में जो गिरा सिर धुनकर पछताती थी, वह अब उसी के गुणगान में सौभाग्य मानने लगी। राजसभा के व्यामोह ने कविता की गम्भीर मंगलकारी साधना को दूर करके उसे मात्र मनोरंजन, मनस्तोष व कामोद्दीपन का साधन बना दिया। पण्डितराज भी इस प्रवृत्ति से परे न रह सके। पदप्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए,

जीवनवृत्तियों के निर्वाह हेतु उन्होंने जिस सुदृढ़ छत्रछाया का आश्रय लिया, उसका प्रशस्तिज्ञान उनके प्रति या तो कृतज्ञता ज्ञापन था या दरबारी आवश्यकता की पूर्ति। यह भी सम्भव हो सकता है कि इनके आश्रय में रहते हुए पण्डितराज इन राजाओं अथवा राज्याधिकारियों की कलाप्रियता, गुणज्ञता, गुणग्राहकता, व्यक्तित्व एवं अन्यान्य उल्लेखनीय पक्षों से इतना प्रभावित हुए हों कि सहज ही उनकी प्रशस्ति में काव्यनिर्मिति कर बैठे हों। ऐतिहासिक ग्रन्थों के विवरण से भी यही तथ्य प्रमाणित होता है कि प्राणनारायण, जगतसिंह एवं आसफ खाँ नितान्त शूरवीर, पराक्रमी, कर्मठ, उदार, विद्याव्यसनी, कलाप्रिय, गुणग्राही शासक थे। फलत: पण्डितराज का उनकी ओर आकृष्ट होना एवं उनकी प्रशंसा में काव्यों का प्रणयन कर बैठना नितान्त स्वाभाविक है।

ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार चरितनायकों का व्यक्तित्वनिरूपण

जगतसिंह का व्यक्तित्वनिरूपण

महाराणा कर्णसिंह के पुत्र महाराजा जगतसिंह उदयपुर के राणा थे। सन् १६२८ में महाराणा कर्णसिंह की मृत्यु के पश्चात् ये उदयपुर की गद्दी पर बैठे। इनका राज्यकाल सन् १६२८ से १६५४ई. तक था। इस प्रकार इन्होंने २६ वर्ष तक शासन किया। इनके शासनकाल में मेवाड़ में शान्ति रहीं। फलत: राणा ने अपना समय भवन-निर्माण व अन्य सांस्कृतिक कार्यों के उत्थान में लगाया।

महाराणा जगतसिंह बड़े तेजस्वी एवं सुदर्शन व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनका मुखमण्डल कान्तिमय तथा चित्त स्थिर था। वे वाक्-चतुर तथा विद्वान् होने के अतिरिक्त कलापारखी व विद्वानों के आश्रयदाता थे। इनकी तेजस्विनी दृष्टि के पड़ते ही लोगों को इनसे दबना पड़ता था। ये सबके आदर-पात्र थे। स्वयं बादशाह शाहजहाँ इनका बड़ा सम्मान व आदर करते थे[१]।

इसके अतिरिक्त ये बड़े दानी भी थे। एक बार काशी के ब्राह्मणों के लिए इन्होंने बहुत-सा सोना भेजा था। सम्भवत: इसी क्रम में पण्डितराज उनके सम्पर्क में आए होंगें और उन पर 'जगदाभरणम्' नामक प्रशस्ति काव्य की रचना की होगी। इनकी दानशीलता के सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है कि जगतसिंह माता के पिता का नाम अर्थात् ना ना तो जानता ही नहीं। तातपिता (दादा दो दो) ही रटता रहता है—

---

१. मेवाड़ का इतिहास, प्रका. हनुमन्त सिंह रघुवंशी, पृ.३१३।

जगतो तो जाणे नहीं मात पितारो नाम।
तात पिता रटतो रहे निशिदिन यो ही काम॥[१]

जगदाभरण में पण्डितराज ने जगतसिंह के व्यक्तित्व के इन्हीं विविध चमत्कारिक गुणों का वर्णन किया है।

प्राणनारायण का व्यक्तित्व निरूपण

कूचराजाओं के वंशक्रम के अनुसार प्राणनारायण कूचबिहार का छठा राजा था। वह वीरनारायण का पुत्र था। उसने सन् १६३३ई.-६६ई. तक शासन किया। उसके इस लम्बे शासन काल में राज्य में समृद्धि, शान्ति व प्रसन्नता बढ़ी। साथ ही राजा की महत्त्वाकांक्षा, शक्ति व कूटनीतिक चातुर्य के कारण चिरकाल से सोई स्वतन्त्रता भी फिर से प्राप्त हुई। इस कारण कूचबिहार के राज्य में उसका शासनकाल स्मरणीय शासनकाल माना जाता है।

कूचों के वंशवर्णन के अनुसार प्राणनारायण अत्यन्त धार्मिक व अद्वितीय विद्वान् था। वह संगीत एवं नृत्य में भी निपुण था। उसने अनेक मन्दिर, सड़कें व पुल बनवाए। वह एक सुयोग्य परिश्रमी शासक था, जिसके राज्य में हर तरफ शान्ति, समृद्धि और प्रसन्नता थी।

अपने तैंतीस वर्षों के शासनकाल में वह करीब बीस वर्षों तक मुगल सत्ता के प्रति वफादार बना रहा। लेकिन सन् १६५७ई. में शाहजहाँ के पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष छिड़ने पर उसने मुगल सम्राट् को वार्षिक कर देना बन्द कर अपने राज्य को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। साथ ही बहुत दिनों से परतन्त्र कामरूप प्रदेश पर विजय प्राप्त कर राज्य के सीमाविस्तार हेतु कड़ा प्रयत्न किया। कामरूप में विद्यमान मुगल फौज़दार इस सैन्यसंघर्ष में सफल न हो सका। फलतः उसे कामरूप छोड़ना पड़ा। इस प्रकार प्राणनारायण उत्तराधिकार के संघर्ष का फायदा उठाकर एक स्वतन्त्र राजा बन बैठा। दारा के गुरु पण्डितराज औरंगजेब द्वारा दारा की हत्या तथा शाहजहाँ के कैद कर लिये जाने के बाद औरंगजेब की कोपदृष्टि से बचने हेतु सम्भवतः इसी काल में इस साहसी मुगल राज्यविद्रोही राजा के आश्रय में आए और उन्होंने उसकी प्रशस्ति 'प्राणाभरण' में की।

सन् १६५९ में औरंगजेब के सत्तारूढ़ होने व प्रशासनिक स्थिरता आने पर बंगाल के नए वायसराय मीरजुमला ने सम्राट् से कानून का उल्लङ्घन करने

१. उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ.५२५-२६।

वाले जमींदारों व राजाओं को सजा देने का आदेश प्राप्त कर सबसे पहले कूचबिहार के विद्रोही राजा को सजा देने का निश्चय किया। तब प्राणनारायण ने मुगल सैन्य की शक्ति व विशालता के समक्ष अपने को कमजोर पाकर मुगल साम्राज्य के प्रति किए गए अपने विश्वासघात की क्षमा माँगते हुए मीरजुमला के पास अपना दूत भेजा। लेकिन मीरजुमला राजा के विश्वासघात का बदला उसे गिरफ्तार कर चुकाना चाहता था। इसलिए उसने दूत को बन्दी बना लिया और एक विशाल सेना के साथ कूचबिहार को चला। प्राणनारायण डरकर भूटान भाग गया और कूचबिहार पर मीरजुमला का बिना किसी संघर्ष के ही अधिकार हो गया। चूँकि मीरजुमला की सेना भूटान में प्रवेश नहीं कर सकी, इसलिए उसने अहोमों पर आक्रमण कर दिया और शान्तिपूर्ण शासन सुव्यवस्था के लिए व्यापक व्यवस्था कर उसने कूचबिहार का शासन एक अलग फौजदार के अधीन कर दिया। लेकिन उसके द्वारा की गई यह व्यवस्था अल्पकालिक ही रही। कारण, मुगल अफसरों ने भूमि के कर निर्धारण में कुछ परिवर्तन किए, जिसके विरोध में कूचबिहार के लोगों ने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। मीरजुमला आसाम में नहीं था, इसलिए उसकी सेनाएँ वहाँ विद्यमान मुगल फौजदार की सहायता नहीं कर पाईं और कूचबिहार की जनता के विद्रोह के फलस्वरूप मुगल फौजदार को कूचबिहार छोड़ना पड़ा।

सन् १६६१ई. में प्राणनारायण अपनी राजधानी पुन: लौटा और एक बार फिर कूचबिहार का स्वतन्त्र राजा बन बैठा। मीरजुमला सन् १६६३ई. में मर गया। प्राणनारायण के लिए यह स्वागत योग्य बात थी। उसने पुन: तीन वर्षों के इस अन्तराल में स्वतन्त्र राजा के पद व ऐश्वर्य का उपभोग किया।

सन् १६६४ में मीरजुमला का उत्तराधिकारी शाइस्ता खान मीरजुमला द्वारा कूचबिहार के विरुद्ध शुरू किए गए अभियान को पूरा करने के लिए पुन: आया। तब प्राणनारायण ने अपने खराब स्वास्थ्य व विघटनकारी आन्तरिक स्थिति के कारण मुगल साम्राज्य का सामना करने की अपेक्षा मुगल वायसराय के समक्ष आत्मसमर्पण करना उचित समझा। उसने युद्ध के हर्जाने के रूप में साढे पाँच लाख रुपया दिया। इस प्रकार यह राज्य एक बार पुन: परतन्त्र राज्य हो गया।[१]

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ मुगल नार्थ ईस्ट फ्रन्टियरपॉलिसी, एस.एन भट्टाचार्य के अध्ययन पर आधारित।

कूचबिहार तथा राजा प्राणनारायण के इस राजनीतिक घटनाक्रम को देखने के उपरान्त यह सम्भावना की जा सकती है कि कूचबिहार पर मुगल आक्रमण होने से पहले पण्डितराज उस दरबार से हट गए होंगे।

मुगलों के विरुद्ध कामरूप समेत कूचबिहार को स्वतन्त्र व विस्तृत राज्य के रूप में देखने की प्राणनारायण की महत्त्वाकांक्षी योजना का अन्तिम परिणाम चाहे जो कुछ रहा हो, उसका नाम कूचबिहार के इतिहास में एक महान् शासक के रूप में स्मरणीय व आदरणीय है। उसका राज्यकाल कूचबिहार के इतिहास में स्वर्णिम राज्यकाल के रूप में जाना जाता है।

प्राणनारायण के व्यक्तित्व के इन्हीं विविध पक्षों का निरूपण व उनकी महती सफलताओं का वर्णन पण्डितराज ने अपने प्राणाभरण में चमत्कारिक ढंग से किया है। इस काव्य में उन्होंने प्राणनारायण को पौराणिक नामों यथा 'कामरूपेश्वर'[१], 'कमतेश्वर'[२], 'कमताधिप'[३] कहकर सम्बोधित किया है।

वर्ण्यविषय

'प्राणाभरण' एवं 'जगदाभरण' में पण्डितराज ने इन काव्यों के चरित नायकों, क्रमशः प्राणनारायण एवं जगतसिंह के व्यक्तित्व के विविध गुणों का बड़ा ही आलंकारिक, भावपूर्ण एवं मनोरम चित्रण किया है। काव्य का प्रारम्भ तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक प्रवृत्तियों के चित्रण के साथ हुआ है एवं इसी के साथ पण्डितराज ने इस काव्य के प्रणयन की मूल प्रेरणा का भी उल्लेख कर दिया है। समाज में विद्वानों की परकाव्य प्रशंसा के प्रति मौन धारण करने की प्रवृत्ति, राजाओं के ऐश्वर्यभोग से मदान्ध रहने, गुणज्ञता एवं गुणसमादर के लुप्तप्राय से होने, चतुर्दिक् ईर्ष्या-द्वेष के अत्यधिक प्रसार होने की वैषम्यकारक परिस्थितियों के रहने पर उन्होंने अपने चरितनायकों को भी युग विशेष में परिव्याप्त इन सभी बुराइयों से परे बतलाते हुए उन्हें प्रशस्ति के योग्य समझा है और यही कारण है कि स्वर्गीय अप्सराओं की अधरमाधुरी को भी स्वमाधुरी से तिरस्कृत कर देनेवाली अपनी वाणी के विलास हेतु, अर्थात् वास्तविक प्रशस्तिगान के लिए सब प्रकार की बुराइयों से रहित सर्वथा उपयुक्त एवं योग्य चरितनायकों के रूप में इन वीरों को पाकर संतुष्टि व्यक्त की है—

---

१. प्राणाभरण, जगदाभरण श्लो. २, १५, २३।

२. तत्रैव श्लो. ३३।

३. तत्रैव श्लो. ३३।

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमा
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम॥'[१]

विद्राणैव गुणज्ञता समुदितो भूयानसूयाभरः
कालोऽयं कलिराजगाम जगतीलावण्यकुक्षिम्भरिः।
एवं भावनया मदीयकविते मौनं किमालम्बसे
जागर्तु क्षितिमण्डले चिरमिह श्रीकामरूपेश्वरः॥'[२]

प्रशस्तिकाव्यों की प्रचलित परिपाटी के अनुसार पण्डितराज ने भी 'प्राणाभरण' एवं 'जगदाभरण' इन काव्यों में अपने चरितनायकों के अद्वितीय पराक्रम, विद्वत्ता, दानशीलता, महत्ता, प्रताप आदि गुणों का निरूपण नाना प्रकार से किया है। यह समग्र वर्णन अलङ्कृत अभिव्यक्ति के कारण सहज ही मनोरम हो उठा है। अपने चरितनायकों के द्वारा भूमण्डल के विभूषित होने का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि आस्वाद से रस सुशोभित होता है, रस से कविता सुशोभित होती है, कविता से वाणी सुशोभित होती है, उस वाणी द्वारा रसिक सज्जनों व लोकों का अन्तःकरण सुशोभित होता है, उन रसिकों द्वारा यह सभा सुशोभित होती है व उस सभा द्वारा दारिद्र्यरूपी वह्नि से जायमान संसार के लिए अमृतवर्षी मेघस्वरूप हे पृथ्वीनाथ! आप सुशोभित होते हैं एवं आपके द्वारा यह भूमण्डल सुशोभित होता है—

आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी तया
लोकान्तःकरणानुरागरसिकः सभ्यः सभा चामुना।
दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधरः
क्षोणीनाथ तया भवांश्च भवता भूमण्डलं भासते॥[३]

इसी प्रकार उन्हें सर्वग्रहों के आलम्बन के रूप में वर्णित किया गया है—

---

१. प्राणाभरणम् एवं जगदाभरणम्, श्लो. सं.१,२।

२. तत्रैव, श्लो. सं.१,२।

३. तत्रैव, श्लो. सं.११।

दृष्टिः सम्भृतमङ्गला बुधमयी देव त्वदीया सभा
काव्यस्याश्रयभूतमास्यमरुणाधारोऽधरः सुन्दरः।
क्रोधस्तेऽशनिभूरुदारधिषणा स्वान्तं तु सोमास्पदं
राजन् नूनमनूनविक्रमभवान् सर्वग्रहालम्बनम्॥[१]

हे अतिशय पराक्रमी राजन्! आप निश्चय ही सभी ग्रहों के आलम्बन हैं। आपकी दृष्टि समस्त मङ्गलों से युक्त है। आपकी सभा बुधमयी (विद्वन्मयी) है। आपका मुख काव्य (काव्य+शुक्राचार्य) का आश्रयभूत है। सुन्दर अधर अरुणाधार (लालिमा के आधार+अरुण के आधार अर्थात् सूर्य) हैं। आपका क्रोध अशनिभूत अर्थात् वज्रस्वरूप है। आपकी धिषणा (बृहस्पति) उदार है एवं आपका हृदय सोमास्पद है। इस प्रकार हे राजन्! आप सभी ग्रहों के आश्रयस्थान हैं।

अपने विलक्षण गुणों से समग्र भूमण्डल को सुशोभित करने वाले इन चरितनायकों के अद्वितीय पराक्रम का भी पण्डितराज ने वैशिष्ट्यपूर्ण चित्रण किया है। उन्हें शत्रुओं के प्रति अत्यधिक निर्दयी व साक्षात् यम के समान[२] तथा शत्रुराजाओं की वंशरूपी अटवी का विनाश करने के लिए दावानल रूप कहा गया है।[३] युद्धभूमि में प्रस्थान करते समय क्रोध से आरक्त नेत्रों वाले एवं अत्यधिक तेज से दीप्तित उनके रोषाक्त स्वरूप की प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य से समानता की गई है।[४] उनके क्रोधाविष्ट स्वरूप का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उनके क्रोधावेश में आते ही शत्रुपक्ष में मतवाले हाथियों का गरजना, घोड़ों का हुलसना व बन्दीजनों का गान बन्द होकर सर्वत्र नीरवता छा जाती थी।[५] उनके तीक्ष्ण धारवाले खड्ग की चमत्कृति को शत्रुओं के प्राणरूपी दुग्ध के पान से चमकीली चमक वाला कहा गया हैं, जिसे युद्धभूमि में देखते ही शत्रु बलविहीन हो जाते थे।[६] यही नहीं उनकी सेना के रणभूमि में प्रस्थान के समय किए गए दुन्दुभिनाद को उसकी धीर ध्वनि के कारण समुद्रपर्यन्त समस्त

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो. १७।
२, (क) यमः प्रतिमहीभृतां, तत्रैव, श्लो. २२।
(ख) अन्तकत्रासिमूर्तेः, तत्रैव, श्लो. २५।
३. वैरीन्द्रवंशाटवीदावाग्निः, तत्रैव, श्लो. १८।
४. तत्रैव, श्लो. १५
५. तत्रैव, श्लो. १९
६. मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः, तत्रैव, श्लो. २५

भूमण्डल में फैल जाने वाला तथा प्रलयकालीन बादलों के घोष को भी धिक्कारने में धीर कहा गया है। उस दुन्दुभिनाद के अतिशय को सूचित करने के लिए उस नाद के सुनने मात्र से पर्वतों की गुफाओं में सोए श्रेष्ठ सिंहों के चौंक कर जाग पड़ने, भयत्रस्त हो गिर पड़ने तथा विस्मय विस्फारित नेत्रों द्वारा सुनने का चमत्कारिक वर्णन किया गया है—

पारीन्द्राणां धुरीणैरवनिधरगुहागर्भतः प्रोत्पतद्भिः
स्वापभ्रंशापराधप्रचलितनयनप्रान्तमाकर्ण्यमानः।
त्वत्प्रस्थानान्तरुद्यत्प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरो
धृष्टक्षीरोदतीरो जगति विजयते दुन्दुभिद्वन्द्वनादः॥[1]

युद्धभूमि में गोलाकार धनुष की प्रचण्डध्वनि से शत्रुओं का नाश करते समय उन्हें गाण्डीव धनुष की बाणज्वालाओं से खाण्डव वन को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले अर्जुन का सहज ही स्मरण करा देने वाले उत्कृष्ट योद्धा के रूप में वर्णित किया गया है।[2] एक अन्य श्लोक में हाथ में घूमते हुए पट्टिश से भयंकर हाथियों को मारने वाले उनके रोषाक्त रूप की भयंकर वज्राघात से विन्ध्याचल के टुकड़े-टुकड़े कर देने वाले इन्द्र से समानता वर्णित की गई है।[3] युद्ध करते समय उनके क्रोधारक्त नेत्रों की लालिमा का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। उनके राजप्रताप को सूर्य, अभिमान को माणिक्य, क्रोध को प्रलयानल व आज्ञा को कामिनी कहते हुए उस लालिमा को उनके प्रतापरूपी सूर्य की पहली सन्ध्या, अभिमान रूपी माणिक्य की कान्ति, संसार को खा जाने वाले क्रोधरूपी प्रलयानल की भयंकर ज्वाला व आज्ञारूपी कामिनी के चरणकमल से गिरते लाक्षारस की कान्तिरूप कहा गया है—

प्राचीसन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणेर्मानमाणिक्यकान्ति-
र्ज्वालामालाकराला कवलितजगतः क्रोधकालानलस्य।
आज्ञा कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानां
सा भाति क्षोणिशोभाकरण तव दृशोः सङ्गरे शोणिमश्रीः॥[4]

अपने चरितनायकों के शौर्यातिशय का भी पण्डितराज ने नाना भाँति निरूपण किया है। कभी यह कहा गया है कि उनके रोषानल से चिनगारियाँ

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण श्लो. ३।
२. तत्रैव, श्लो. १४।
३. तत्रैव, श्लो. २१; ४. तत्रैव, श्लो. २६

निकलने से पहले ही शत्रुराजाओं की नगरियाँ नष्ट हो जाती थीं[1] तो कभी यह वर्णित है कि इन राजाओं के क्रोधावेश में सिंहासन से उठते ही शत्रुराजाओं के भाग्य भी उठ जाते थे और उन पर मृत्यु बन कर गिरते थे।[2] इसी शौर्यातिशय के कारण युद्धभूमि में विजयश्री द्वारा सदैव उन्हीं का वरण किया जाना वर्णित किया गया है। इसे प्रतिपादित करने के लिये ही एक श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि उनके युद्ध के लिए उद्धत होकर प्रत्यञ्चा खींचते ही शत्रुओं को अपने प्राणों व खजानों से हाथ धोना पड़ता था एवं उनकी स्त्रियों का केशकर्षण द्वारा अपमान होता था—

केशैर्वधूनामथ सर्वकोषैः प्राणैश्च साकं प्रतिभूपतीनाम्।
त्वया रणे निष्करुणेन गाढं चापस्य जीवा चकृषे जवेन॥[3]

अपने चरितनायकों के शौर्यातिशय के प्रतिपादन-क्रम में पण्डितराज ने एक अन्य स्थल पर अत्यन्त चमत्कृतिपूर्ण चित्रण किया है कि इन राजाओं के केवल क्रीड़ा में ही भौंहों को गोल व नेत्रों को लाल करके अपनी भुजाओं की ओर देखने मात्र से ही उनके शत्रु पलायित हो जाते थे और शत्रु-स्त्रियाँ जंगलों में गुफा वृक्षों के नीचे रात्रि बिताती थीं तथा प्रातःकाल उनके आगमन के भय से हड़बड़ी में सारे आभूषणों को छोड़कर भाग जाती थीं, जिससे उन सहस्त्रों आभूषणों की कान्ति से विन्ध्यारण्य के वृंक्ष प्रकाशित हो उठते थे—

किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन् धराखण्डल
क्रीडाकुण्डलितभ्रूशोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्त्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः॥[4]

इसी अतिशय शौर्य व महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए एक श्लोक में उन्हें इन्द्र के समान समस्त भूमण्डल पर शासन करने वाला वर्णित किया गया है एवं उनके भय के कारण शत्रुपक्ष में निश्चिन्तता का अभाव, शत्रु—राजाओं की स्त्रियों का जंगल में वास, वहाँ कँटीले वृक्षों द्वारा उत्पीड़न तथा उनके नेत्रों का बरसना व दिनों का वर्ष होते जाना वर्णित किया गया है—

त्वयि पाकशासनसमे शासति सकलं वसुन्धरावलयम्।
विपिने वैरिवधूनां वर्षन्ति विलोचनानि च दिनानि॥[5]

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो. ३५; २. तत्रैव, श्लो. ३९।
३. तत्रैव, श्लो. ३०; ४. तत्रैव, श्लो. ४; ५. तत्रैव, श्लो. ४०।

पण्डितराज ने अपने आश्रयदाता इन नृपतियों की विद्वता का भी मनोरम चित्रण किया है। उन्हें पृथ्वी पर आए बृहस्पति की संज्ञा देते हुए[१] 'गिरांपति' अर्थात् 'विद्याधिप' के रूप में वर्णित किया गया है और उनके मुख को महाकवियों के कुलों द्वारा भी उपास्य वागधिष्ठात्री सरस्वती का निवास बताते हुए बड़ी रमणीय कल्पना की है—

आयाता कमलासनस्य भवनाद् द्रष्टुं त्रिलोकीतलं
गीर्वाणेषु दिनानि कानिचिदथो नीत्वा पुनः कौतुकात् ।
भ्रान्त्वा भूवलये महाकविकुलोपास्या तवास्याम्बुजे
राजन् सम्प्रति सत्यधामनि गिरां देवी सुखं वर्तते ।।[२]

हे राजन्! कमलासन ब्रह्मा के भवन से तीनों लोकों को देखने के लिए आई हुई, इसके पश्चात् देवकुल में कुछ दिन बिताकर पुन: कौतुकपूर्वक भूतल पर भ्रमण करके सम्प्रति महाकवियों के कुलों द्वारा उपास्य वागधिष्ठात्री सरस्वती देवी सत्य के धामस्वरूप आपके मुखकमल में सुखपूर्वक विद्यमान हैं।

उनकी वचनमाधुरी की प्रशंसा भी नानाविध रूप में की गई है। इस मधुरिमा को कामिनियों के अधरामृत से भी अधिक उत्कृष्ट व साक्षात् अमृत के समान कहा गया है।[३] मधुरिमा के इसी अतिशय को इस कल्पना के द्वारा प्रकट किया गया है कि—

मध्ये सुधासमुद्रस्य सितामयगृहोदरे ।
पूर्णेन्दुविष्टरे देव स्थातुं योग्यास्तवोक्तयः।।[४]

हे देव! आपकी उक्तियाँ सुधासमुद्र के मध्य में मिश्री के बने घर के अन्दर पूर्णचन्द्र के आसन पर स्थान पाने योग्य हैं।

पण्डितराज ने अपने दोनों चरितनायकों के दान-सम्बन्धी उदार भावों का भी सुन्दर चित्रण किया है। उन्हें धन चाहने वालों के लिए धनपति कुबेर के समान[५], दरिद्रता रूपी अग्नि से दह्यमान संसार के लिए अमृतवर्षी मेघ

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो. २३
२. तत्रैव, श्लो. १६
३. तत्रैव, श्लो. ३७
४. तत्रैव, श्लो. ५१
५. धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम्; तत्रैव, श्लो. २२

स्वरूप[1], विद्वानों के दैन्य रूपी अन्धकार का विनाश करने के लिए त्रिमूर्ति सूर्य स्वरूप[2] कल्पित किया गया है। यही नहीं प्रशस्तिकाव्यों की परिपाटी का आश्रय लेते हुए इन वीर नायकों की दानशीलता के समक्ष सर्वस्व दान कर इतिहास में अपना नाम अमर बना देने वाले दधीचि, बलि व कर्ण के भी पीछे रह जाने व याचकों में उन्हें देखकर कर्ण, बलि अथवा शिवि हो जाने का भी भ्रम वर्णित किया गया है—

दधीचिबलिकर्णेषु हिमहेमाचलाब्धिषु ।
अदातृत्वमधैर्यत्वं दृष्टे भवति भासते ।।[3]
भानुरग्निर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिविः।
प्रत्यर्थिनोऽर्थिनश्चेत्थं त्वयि यान्ति विकल्पनाम् ।।[4]

शूरवीरता, विद्वत्ता एवं दानशीलता के अतिरिक्त पण्डितराज ने अपने चरितनायकों के प्रतापी स्वरूप का भी रुचिकर वर्णन किया है। उनके उद्दीप्त प्रताप की प्रखर सूर्य से तुलना करते हुए चित्रण किया है कि जिस प्रकार प्रभात काल में सूर्य के उगने पर कुमुदिनी पुष्प म्लान हो जाते हैं, अन्धकार समूह विदीर्ण हो जाता है, तामसी जीव दृष्टि से ओझल हो जाते हैं तथा कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार उनके प्रताप से शत्रुरूपी कैरवकुल नष्ट हो गए थे, दैन्यरूपी अन्धकार विनष्ट हो गया था और तामसी प्रवृत्तिवालों का विनाश होने पर सात्त्विक पुरुष उल्लसित हो गए थे; अतः मानों वे दो हाथों वाले सूर्य थे[5]—

अम्लायन् यदरातिकैरवकुलान्यम्लासिषुः सत्वरं
दैन्यध्वान्तकदम्बकानि परितो नेशुस्तमां तामसाः।
सन्मार्गाः प्रसरन्ति साधुनलिनान्युल्लासमातन्वते
तन् मन्ये भवतः प्रतापतपनो देव प्रभातोन्मुखः।।[6]

शूरवीर, प्रतापी, विद्वान् और दानशील होने के अतिरिक्त कामरूपेश्वर प्राणनारायण एवं उदयपुराधीश जगतसिंह की सम्प्रभुता एवं महत्ता का भी

---

१. दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधरः, (प्राणाभरण एवं जगदाभरण श्लो.११।)
२. विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्ति, (तत्रैव, श्लो.१८।)
३. तत्रैव, श्लो.४५; ४. तत्रैव, श्लो.४७।
५. तत्रैव, श्लो.२३; ६. तत्रैव, श्लो.१२।

प्रशस्तिकाव्यों की प्रचलित परिपाटी के अनुसार अनेक प्रकार से आलङ्कारिक वर्णन किया गया है। उन्हें मकरों के समान महान् वीरों, रत्नों के समान कवियों, काव्यरूपी अमृत एवं कीर्तिरूपी चन्द्रमा से युक्त होने, माहात्म्यशाली, गाम्भीर्यवान् एवं सम्पत्ति सामर्थ्ययुक्त होने के कारण समुद्र से उपमित किया गया है।[१] उनमें समस्त गुणों का एकत्र सन्निवेश मानते हुए उन्हें शत्रु राजाओं के लिए यम के समान भयंकर, उनकी रमणियों के लिए अग्नि के समान तापदायक, सत्पुरुषों के लिए युधिष्ठिर के समान सत्यव्रती, धनार्थियों के लिए धनपति कुबेर व रक्षार्थियों के लिए वज्र की नोकों से बनाए गये भवन के रूप में कल्पित किया गया है—

यमः प्रतिमहीभृतां हुतवहोऽसि तन्नीवृतां
सतां खलु युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकांक्षिणाम् ।
गृहं शरणमिच्छतां कुलिशकोटिभिर्निर्मितं
त्वमेक इह भूतले बहुविधो विधात्रा कृतः॥[२]

उनके अत्यधिक ऐश्वर्य, तेजस्विता, सुन्दरता, कामदक्षता, गाम्भीर्य व विद्वत्ता के कारण उनकी क्रमशः दो नेत्रों वाले इन्द्र, दो हाथों वाले सूर्य, द्वितीय चन्द्रमा, देहधारी कामदेव, नररूपधारी समुद्र और पृथ्वी पर आए हुए बृहस्पति के रूप में सम्भावना की गई है—

द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव
द्वितीय इव चन्द्रमा श्रितवपुर्मनोभूरिव ।
नराकृतिरिवाम्बुधिर्गुरुरिव क्ष्मामागतो
नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कामरूपेश्वरः॥[३]

एक अन्य श्लोक में कवि ने उनके वचनों में नासत्ययोग (असत्य राहित्य + अश्विनीपुत्र नकुल-सहदेव का संयोग), कीर्ति में अर्जुन (धवलता + अर्जुन), कर्म में धर्म (धर्म + धर्मराज युधिष्ठिर) एवं चित्त में जगत्प्राणभव (संसार के लिए प्राणस्वरूप + वायुपुत्र भीम) का संयोग मानते हुए उनके द्वारा समरविजयी सभी पाण्डवों के वशवर्ती होने का चमत्कारिक वर्णन किया है।[४]

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो.५, ३४; २. तत्रैव, श्लो.२२।
३. तत्रैव, श्लो.२३: ४. तत्रैव, श्लो.२८।

अपने आश्रयदाताओं के ऐश्वर्यातिशय को प्रदर्शित करने के लिए कवि ने उन्हें त्रिदशाधिपति इन्द्र, मेघ एवं चन्द्र तीनों से अधिक गुणशाली ब्रतलाते हुए कहा है कि इन्द्र तो मात्र त्रिदश = ३० के अधिपति हैं; जबकि ये सहस्रों द्वारा पूजित थे, मेघ तो मात्र जल बरसाता है; किन्तु ये नरेश रत्नवर्षी थे, चन्द्रमा अमावस्या की रात्रि में मलिन हो जाता है; किन्तु ये सर्वतोमुखी निर्मल थे।[१]

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त उनकी अतिशय महत्ता का एक कारण उनका अत्याधिक धैर्यशाली होना भी प्रतिपादित किया गया है एवं इसके प्रतिपादनार्थ उनके सम्मुख हिमालय, सुमेरु एवं समुद्र में भी अधैर्यता की प्रतीति होना कल्पित किया गया है—

दधीचिबलिकर्णेषु हिमहेमाचलाब्धिषु ।
अदातृत्वमधैर्यत्वं दृष्टे भवति भासते ॥[२]

इनकी प्रभुता का परिमापन यह कह कर किया गया है कि ये जिसके पक्ष में रहते थे, उसे समग्र पृथ्वी पर किसी से भय नहीं रह जाता था।[३]

अपने चरितनायकों के इन्हीं गुणों को लक्ष्य कर पण्डितराज ने उन्हें इस प्रकार चित्रित किया है, जिससे उनकी सर्वश्रेष्ठता स्वतः अभिव्यक्त हो जाती है। उनका वक्तव्य है कि सभी राजाओं के मृग, वृक्ष एवं तारों के समान आचरण करने पर ये राजाद्वय उनके मध्य क्रमशः सिंह, चन्दन व चन्द्रमा के समान आचरण करते थे—

मृगतां हरयन् मध्ये वृक्षतां च पटीरयन् ।
नक्षत्रतां महीपानां त्वमिन्दवसि भूपते ॥[४]

अपने चरितनायकों को देहधारी कामदेव की संज्ञा से विभूषित करते हुए[५] पण्डितराज ने कामविलासों में उनकी दक्षता व प्रवीणता का भी रुचिर अंकन किया है। उन्हें अत्यन्त धैर्यशालिनी कामिनी नायिकाओं के भी धैर्य को स्खलित करने वाले[६] तथा कामरूपी सर्प से दंशित नायिकाओं के लिए जीवनौषधि स्वरूप[७] वर्णित किया है।

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण श्लो.३१,३२; २. तत्रैव, श्लो.४५।
३. तत्रैव, श्लो.४१; ४. तत्रैव, श्लो.५०।
५. श्रितवपुर्मनोभूरिव, (तत्रैव, श्लो.२३।)
६. त्वां सुन्दरीनिवहनिष्ठुरधैर्यगर्वनिर्वासनैकरसिकम्, (तत्रैव, श्लो.२७।)
७. किं वानङ्भुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणाम्, (तत्रैव, श्लो.१८।)

इन चरितनायकों के सुन्दर स्वरूप का भी चारुचित्रण किया गया है। उन्हें अमृतलहरी, चन्द्रज्योत्स्ना व लक्ष्मी के मुखमण्डल को भी तिरस्कृत कर देने वाला बताया गया है। इससे उनमें माधुर्य, शैत्य, चारुता व आह्लादकता आदि गुणों का समन्वय प्रतिपादित किया गया है, जो सुन्दर स्वरूप के आधारभूत तत्त्व हैं, परन्तु यह सौन्दर्य राजोचित तेज, प्रताप, महिमा एवं प्रभाव से व्यतिरिक्त हो, ऐसा नहीं था। वर्णन आकर्षक है—

अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्नारमावदनाम्बुजा
न्यधरितवतो निर्मर्यादप्रसादमहाम्बुधेः।
उदभवदयं देव त्वत्तः कथं परमोल्बणः
प्रलयदहनज्वालाजालाकुलो महसां गणः॥[१]

हे राजन्! आपने अमृतलहरी, चन्द्रज्योत्स्ना व लक्ष्मी के मुखकमल को तिरस्कृत कर दिया है, आप असीम प्रसन्नता के महासमुद्र हैं, ऐसे आपसे परम प्रचण्ड प्रलयाग्नि की ज्वालामाला से व्याप्त यह प्रतापसमूह कैसे उत्पन्न हुआ?

पण्डितराज ने इन चरितनायकों की चित्तवृत्ति का भी सुन्दर चित्रण किया है। उसे दीनों के समूह के प्रति दयार्द्र, शत्रुओं के प्रति निर्दय, काव्यों की चर्चा में कोमल, तर्कों के प्रत्युत्तर में कठोरता धारण करने वाली, धर्म में लोभयुक्त, सम्पत्ति में लोभरहित, अन्य की विपत्ति देखने में अत्यन्त भीरु, आजन्म रमणीय तथा स्वाभाविक रूप से सुन्दर बतलाते हुए उसकी मृदुता के समक्ष चन्द्रमा, चन्दन और चन्द्रज्योत्स्ना जैसे मनोरम पदार्थों के उग्र पड़ने तथा शेषनाग, प्रलयानल एवं समुद्र जैसे उग्र तत्त्वों के सौम्य पड़ने का आलङ्कारिक चित्रण किया है।[२]

इन चरितनायकों के कृपाकटाक्ष के स्वरूप का चित्रण भी रमणीय कल्पनाओं के माध्यम से किया गया है। इसे दुग्धसमुद्र में मन्दराचल के मन्थन से छिटकते अमृतकणों व विविध सञ्जीवन औषधियों के मिश्रण से विधाता द्वारा निर्मित कल्पित किया गया है।[३] स्पष्ट है इस विशेषण से उनके दयादृगन्त में अमृत के गुण माधुर्य, शीतलता, आह्लादकता एवं सञ्जीवनकारकता की प्रतीति होती है, जिससे यह स्वतः व्यञ्जित होता है कि उनके कृपाकटाक्ष के पात्र व्यक्ति को अमृतपान के समान अतिशय आनन्द की अनुभूति होती थी। उनकी कृपादृष्टि प्राप्त धन-

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण श्लो.५२।
२. तत्रैव, श्लो.२४, ४३;
३. तत्रैव, श्लो.२९।

धान्य, ऐश्वर्य सम्प्रभुता आदि से युक्त हो जाता था, पीड़ित व्यक्ति में आशा व जीवनसंघर्ष में मृतप्राय से प्राणी में नवप्राणों का सञ्चार हो जाता था—

मन्थाचलभ्रमणवेगवशंवदा ये
दुग्धाम्बुधेरुद्पतन्नणवः सुधायाः।
तैरेकतामुपगतैर्विविधौषधीभि-
र्धाता ससर्ज तव देव दयादृगन्तान् ॥

पण्डितराज ने इन काव्यों में राजा प्राणनारायण व राणा जगतसिंह को अत्यधिक शूरवीर, प्रतापी, उदार, दानशील, विद्वान् तथा सम्प्रभुतासम्पन्न चरित नायकों के रूप में वर्णित किया है। इन गुणों के होने पर उनका यश स्वभावतः उज्ज्वल, अलौकिक व निष्कलङ्क होना स्वाभाविक है। इसी हेतु पण्डितराज ने भी उनकी कीर्ति को ज्योत्स्ना के समान कान्तिमान्[१], गंगा के समान पुण्यवान्[२] तथा कमलों की शोभा से भी अधिक शोभायमान कहा है।[३] आकाशमण्डल में चाँदनी के रूप में, हिमालय में बर्फ के रूप में तथा पृथ्वी में सागर के रूप में उनकी कल्पना की है।[४]

इस प्रकार पण्डितराज ने अपने चरितनायकों में उपर्युक्त सभी गुणों का अतिशय बताते हुए उन्हें इन गुणों के एकत्रित सन्निधान के रूप में चित्रित किया है। गुणों की इस पराकाष्ठा के कारण ही उन्होंने अपने नायकों को अद्वितीय बताया है। इसी अद्वितीयता का प्रतिपादन भी इस रूप में हुआ है कि देव, दनुज व मानवों से परिपूर्ण इस संसार में इन राजाओं के समान दूसरा कोई न था, न है, न होगा—

भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः।
न भविष्यति नास्ति नाभवन् नृप यस्ते भजते तुलास्पदम् ॥[५]

काव्यसौष्ठव

काव्यसौष्ठव की दृष्टि से विचार करने पर प्राणाभरण एवं जगदाभरण 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते' के निदर्शन प्रतीत होते है। यहाँ आश्रयदाताओं के गुणातिरेक के बखान के लिए सुरम्य कल्पनाओं का वितान

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण श्लो.३८; २. तत्रैव, श्लो.३८।
३. तत्रैव, श्लो.४२; ४. तत्रैव, श्लो.४९।
५. तत्रैव, ३६।

सजा हुआ है। एक से बढ़कर एक दूराधिरोहिणी कल्पनाएँ जहाँ इन चरित-नायकों के विविध गुणों का अतिशयोक्तिपूर्ण अंकन करती हैं, वहीं कवि के उक्तिवैचित्र्य, तद्गत रमणीयता, सहृदयहृदयहारिता को भी स्पष्ट कर देती हैं। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। आश्रयदाता नरेशों की महत्ता, गाम्भीर्य, समृद्धि, मर्यादा, गुणगौरव आदि को अभिव्यक्त करने हेतु क्षीरसागर को सम्बोधित कर कहा गया है—

माहात्म्यस्य परोऽवधिर्निजगृहं गम्भीरतायाः पिता
रत्नानामहमेक एव भुवने को वाऽपरो मादृशः।
इत्येवं परिचिन्त्य मा स्म सहसा गर्वान्धकारं गमो
दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीप्राणनारायणः॥[१]

हे दुग्ध समुद्र! मैं माहात्म्य की अन्तिम सीमा हूँ, गम्भीरता का निवास-स्थान हूँ, रत्नों का एकमात्र जनक हूँ, संसार में दूसरा कौन मेरे समान है? इस प्रकार सोचकर सहसा गर्वान्धकार में मत जाइए; क्योंकि पृथ्वी पर आपके समान गुण-गरिमा वाले कामरूपेश्वर प्राणनारायण विजयित हो रहे हैं।

एक अन्य श्लोक में कीर्ति के अतिविस्तार को मनोरम ढंग से व्यक्त किया गया है। इसमें चारणों व भाटों के प्रशस्तिगान से इन चरितनायकों को गर्व न करने की सलाह देते हुए कहा गया है—

लोकानां विपदं धुनोषि तनुषे सम्पत्तिमत्युत्कटा-
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल मा गा मदम्।
यत् कीर्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डभाण्डोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनुं कष्टेन हा वर्तते॥[२]

हे राजन्! आप संसार की विपत्ति का हरण करते हो, अत्यधिक सम्पत्ति धारण करते हो, इस प्रकार जल्पनाप्रवण मूर्खों के कहने से आप गर्व मत करिए; क्योंकि आपकी प्रेयसी कीर्ति लघुतर ब्रह्माण्ड रूपी पात्र के उदर में अत्यधिक उन्नत शरीर को पिण्डीभूत करके अत्यन्त कष्टपूर्वक रह रही है।

इसी प्रकार राजाओं की अतिविद्वत्ता के प्रदर्शनार्थ सरस्वती देवी को ब्रह्मलोक से समग्र भूमण्डल की परिक्रमा कराकर अन्त में उनके मुखमण्डल में स्थित बताया गया है—

---

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो.५; २. तत्रैव, श्लो.९।

आयाता कमलासनस्य भवनाद् द्रष्टुं त्रिलोकीतलं
गीर्वाणेषु दिनानि कानिचिदथो नीत्वा पुनः कौतुकात्।
भ्रान्त्वा भूवलये महाकविकुलोपास्यां तवास्याम्बुजे
राजन् सम्प्रति सत्यधामनि गिरां देवी सुखं वर्तते ॥[1]

हे राजन्! कमलासन ब्रह्मा के भवन से तीनों लोकों को देखने के लिए आई हुई, इसके पश्चात् देवताओं में कुछ दिन बिताकर पुनः कौतुकपूर्वक भूतल पर भ्रमण करके सम्प्रति महाकवियों के कुलों द्वारा उपास्य वागधिष्ठात्री सरस्वती सत्य के धामस्वरूप आपके मुखमण्डल में सुखपूर्वक विद्यमान हैं।

आश्रयदाता नरेशों की अति महत्ता का वर्णन करने के लिए एक श्लोक में श्लेष अलङ्कार का प्रयोग करते हुए उनके गुणों व पाण्डवों के नामों में सुन्दर सादृश्य दिखलाया गया है। फलतः वर्णनशैली की मनोहरता से सामान्य कविभाव भी अनूठा हो गया है—

नासत्ययागो वचनेषु कीर्तौ तथार्जुनः कर्मणि चापि धर्मः।
चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वशंवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः॥[2]

हे राजन्! आपके वचनों में जो नासत्ययोग है अर्थात् असत्य का योग नहीं है, अन्यत्र अश्विनी कुमारों नकुल-सहदेव का संयोग है, कीर्ति में अर्जुन अर्थात् धवलिमा अन्यत्र अर्जुन है, कर्म में धर्म-पुण्य अन्यत्र युधिष्ठिर है और चित्त में जगत्प्राणभव अर्थात् ईश्वर अन्यत्र भीम है, तो क्या पाण्डव आपके वशवर्ती हैं?

भावाभिव्यक्ति का एक अन्य सुन्दर उदाहरण भी द्रष्टव्य है। यहाँ द्व्यर्थक शब्दों द्वारा राजा के काम तथा शौर्य चातुर्य का सुन्दर चित्रण किया गया है—

आबध्नास्यलकान्निरस्यसितमां चोलं रसाकाङ्क्षया
लङ्कायावशतां तनोषि कुरुषे जङ्गाललाटक्षतम्।
प्रत्यङ्गं परिमर्दनिर्दयमहो चेतः समालम्बसे
वामानां विषये नृपेन्द्र भवतः प्रागल्भ्यमत्यद्भुतम् ॥[3]

हे राजन्! अलकावलियों को अच्छी तरह सजा कर बाँध देते हो। अलकापुरवासियों को बाँध लेते हो। चोली को निरसित कर देते हो। चोल देश

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण श्लो.१६।

२. तत्रैव, श्लो.२८; ३. तत्रैव, श्लो.७।

का अत्यधिक रूप से निरसन कर देते हो। रस की आकाङ्क्षा से पर्याप्त रूप से शरीर को पराधीन कर देते हो (पृथ्वी को जीतने की आकाङ्क्षा से लङ्का पर्यन्त प्रदेश तुमने विजित कर लिया), जङ्घा व ललाट प्रदेश में क्षत करते हो (अत्यधिक गतिमान् लाटप्रदेश को तुमने क्षत-विक्षत कर दिया), प्रत्येक अङ्ग का मर्दन करने में निर्दय शरीर को धारण करते हो (शत्रुओं के प्रत्येक अङ्ग का मर्दन करने में निर्दय शरीर को धारण करते हो)। इस प्रकार हे राजन्! नायिकाओं के विषय में आपकी प्रगल्भता अत्यद्भुत हैं। (शत्रुओं के विषय में आपकी प्रगल्भता अत्यद्भुत है)।

यहाँ अलकान् (अलकावलि + अलकानगरी), चोल (कंचुकी + चोल) अलंकाया (अलंकाया + लंका), जंघाललाट (जङ्घा तथा ललाट + गतिशील लाट देश) प्रत्यङ्ग (प्रतिअङ्ग + अङ्ग देश के प्रति) आदि श्लेषात्मक पदों के द्वारा इन प्राचीन प्रदेशों की विजय तथा शरीर के विविधाङ्गों के परिमर्दन के वर्णन द्वारा राजा के शौर्य व कामविचक्षणता का सुन्दर चित्रण मनोहारी ढंग से हुआ है।

इस प्रकार राजप्रशस्ति के ये सामान्यभाव वर्णनशैली की चारुता के कारण बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं।

राजप्रताप व ऐश्वर्य का वर्णन करने वाले इन काव्यों की भाषा भी ऐश्वर्यमयी है। इनमें राजप्रताप के सौम्य और उग्र दो रूप वर्णित हैं, फलत: काव्यभाषा भी ओजस्वी व शान्त दो रूपों में दिखाई देती है। ओजपूर्ण विषय प्रसङ्ग में भाषा ओजस्वितापूर्ण है, जबकि शान्त विषयों के प्रसङ्गों में प्रसादमयी, सरल शब्दावली प्रयुक्त हुई है। फलत: काव्यशास्त्रीय रीतिविवेचन के अनुसार ओजपूर्ण प्रसङ्गों में गौडी रीति एवं सामान्य विषय प्रसङ्ग में शब्दार्थ के समान गुम्फन वाली पाञ्चाली रीति प्रयुक्त है। यथा—

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुग-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम् ।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीशः स्मरेत् ॥[१]

प्रस्तुत श्लोक में युद्धरत राजा के रौद्र स्वरूप के वर्णनार्थ दीर्घसमास, ओजगुण, परुषपदावली, पदबन्धों की गाढ़ता के कारण स्वत: रौद्र भाव अभिव्यक्त हो रहा है।

१: प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो.१४।

इसी प्रकार राजा के द्वारा भौंहों को कुण्डलाकार कर आरक्त नेत्रों से बाहुमण्डल को देखने एवं इस दृष्टि मात्र से विन्ध्यारण्य के गुफा रूपी गृहों के सहस्रों आभूषणों की कान्ति से दमक उठने का वर्णन गाढ़ व शिथिल पदबन्धों के सम्मिलित स्वरूप के कारण अत्यन्त आकर्षक रूप में सामने आया है—

किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन् धराखण्डल
क्रीडाकुण्डलितभ्रूशोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिता ।।[१]

यहाँ 'यस्मिन्' पद तक शिथिलता, 'भ्रू', शब्द पर्यन्त गाढता, 'नयने' पद पर्यन्त शिथिलता, 'दोर्मण्डलं' में गाढ़ता, 'सहस्रोत्करैः' तक शिथिलता तथा अंत तक गाढ़ता हैं। फलतः अर्थानुरूप शब्दप्रयोग के कारण पाञ्चाली रीति है।

राजप्रशस्ति के स्वर से संवलित होने के कारण ये 'भाव' का उदाहरण हैं। भावप्रकाशन हेतु मनोरम कल्पनाओं का वितान प्रस्तुत करने के कारण अधिकांश श्लोकों में प्रायः किसी न किसी अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। शब्दालङ्कारों में श्लेष तथा अर्थालङ्कारों में व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशंसा, सार, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अतिशयोक्ति, व्याजस्तुति, समासोक्ति, उल्लेख, स्मरण, सन्देह, विषम आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। सर्वत्र सहज आनुप्रासिकता, प्रवाह व अदोषता विद्यमान है।

छन्दचयन की दृष्टि से भी इस लघुकाव्य में विषय-वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। राजप्रताप व तेजस्विता का वर्णन होने के कारण वर्ण्यविषय के अनुरूप ही क्रमशः शार्दूलविक्रीडित व पृथ्वी छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। तत्पश्चात् स्रग्धरा, वसन्ततिलका, सुन्दरी, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, हरिणी तथा मात्रिक छन्दों में गीति, उद्गीति एवं आर्या छन्दों का कुछ श्लोकों में प्रयोग हुआ है।

इन काव्यों के अधिकांश श्लोक 'रसगङ्गाधर' में विभिन्न काव्यशास्त्रीय विषयों के उदाहरण रूप में विवेचित हैं। अतः ऐसे में यह जिज्ञासा सहज होती है कि इन काव्यों की रचना स्वतन्त्र रूप से हुई है या रसगङ्गाधर के प्रशस्तिपरक उदाहरण-पद्यों को ही संकलित कर उन्हें इन काव्यों का नाम दे दिया गया? इनमें आगत श्लोक उदाहरण रूप में इतने सही उतरते हैं कि यही विचार आता

१. प्राणाभरण एवं जगदाभरण, श्लो.४।

है मानों उन्हें उदाहरणरूप में पहले रचा गया व बाद में इनके संकलन को अलग काव्य का नाम दे दिया गया।

लेकिन यह शङ्का निम्नलिखित तर्कों के आधार पर संगत नहीं लगती—

१. इन काव्यों में आगत श्लोकों के अतिरिक्त रसगङ्गाधर में अनेक अन्य राजप्रशस्तिपरक पद्य हैं। यदि प्राणाभरण या जगदाभरण रसगङ्गाधर के प्रशस्तिपद्यों का संकलन मात्र होते, तो इनमें इन अवशिष्ट प्रशस्तिछन्दों का संकलन भी अवश्य होता।

२. पण्डितराज की कृतियों के रचनाकाल को निर्धारित करते समय जगदाभरण को उनके शाही दरबार में प्रवेश से पूर्व रचित बताया गया है, जबकि रसगङ्गाधर के अधिकांश भाग को शाहजहाँ के राज्याश्रय काल में रचित कहा गया है। अत: ऐसी स्थिति में पूर्वकाल में रची गई कृति को परवर्ती काल की रचना के उदाहरणपद्यों का संकलन कैसे कहा जा सकता है?

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए इन काव्यों को प्रशस्ति छन्दों का संकलन मात्र नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि रसगङ्गाधरकार की रचना-सामर्थ्य इतनी परिपुष्ट व परिष्कृत थी कि उनके काव्यों में आगत श्लोक जहाँ एक ओर विभिन्न काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की उदाहरण कसौटी पर खरे उतरते हैं, वहीं दूसरी ओर प्रशस्ति काव्य के भी सुन्दर निदर्शन हैं।

'प्राणाभरण' एवं 'जगदाभरण' काव्यों के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति उभय पक्षों के विवेचनोपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि राजप्रशस्ति की दृष्टि से ये रचनाएँ सुन्दर हैं। इनके कुछ श्लोक तो वस्तुत: कवि के शब्दार्थ संयोजन तथा छन्दोविन्यास नैपुण्य के प्रबल प्रमाण हैं। कुछ श्लोकों में अवश्य प्रशस्ति का निर्वाह मात्र प्राप्त होता है। उनमें भावों की वह तीव्रता नहीं, कल्पना की वह नवीनता नहीं तथा प्रशस्ति का वह अनूठापन नहीं, जो काव्य के अन्य श्लोकों में दिखाई देता हैं। लेकिन यह बात मात्र दो-चार श्लोकों में ही समीक्ष्य है। शेष अन्य श्लोक भाव-भाषा, अलङ्करण, छन्द, रीति आदि सभी दृष्टियों से सुन्दर हैं। सारांश में ये दोनों काव्य सुन्दर राजप्रशस्तियाँ हैं।

आसफविलास

'आसफविलास', जहाँगीर एवं शाहजहाँ के राज्यकाल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामन्त तथा इन सम्राट्द्वय के अतिप्रिय व घनिष्ठ सम्बन्धी आसफ खाँ की प्रशस्ति में विरचित है। यह काव्य गद्यात्मक है। ऐतिहासिक राजपुरुष

के वृत्तान्तवर्णन से सम्बद्ध होने के कारण काव्यस्वरूप की दृष्टि से आख्यायिका है।[१] यह काव्य पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। मात्र सवा पृष्ठ का इसका अत्यन्त संक्षिप्त अंश ही प्राप्त होता है। इस उपलब्ध अंश में सम्राट् शाहजहाँ के विशाल वैभव, कश्मीरप्रदेश की अलौकिक प्राकृतिक सुषमा तथा नवाब आसफशाह के विविध गुणों का निरूपण सुन्दर आलंकारिक शैली में किया गया है।

आसफ खाँ का व्यक्तित्व निरूपण

'आसफविलास' के आसफ खाँ की प्रशस्ति में रचित होने के कारण इस काव्य की साहित्यिक समीक्षा करने से पूर्व उसके चरितनायक आसफ खाँ के इतिहाससम्मत व्यक्तित्व का निरूपण आवश्यक है।

आसफ खाँ का वास्तविक नाम 'अबुल हसन' था। ये एतमादुद्दौला के पुत्र तथा सम्राट् जहाँगीर की सर्वाधिक प्रिय बेगम नूरजहाँ के बड़े भाई थे। जहाँगीर से बेगम का निकाह होने पर इनको 'एतिकाद खाँ' की पदवी मिली व 'खानखाना' नियत किए गए। जहाँगीरी सन् १०२०हि. अर्थात् १६११ई. में इनकी पुत्री 'अर्जुमन्द बानू' बेगम की शाहजादा 'खुर्रम' से शादी हुई। यही अर्जुमन्द बानू बेगम आगे चलकर मुमताजमहल के नाम से व शाहजादा खुर्रम सम्राट् शाहजहाँ के रूप में प्रख्यात हुए। इन्हीं मुमताजमहल व शाहजहाँ के क्रमश: पिता एवं श्वसुर 'अबुल हसन' या 'एतिकाद खाँ' को नवें जहाँगीरी वर्ष में 'आसफ खाँ' की उपाधि मिली।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये कूटनीति के सिद्धहस्त खिलाड़ी थे। इन्होंने नूरजहाँ की अपने दामाद शहरयार को सम्राट् बनाने की समस्त शतरंजी चालों को शह और मात दे-देकर खुर्रम को सम्राट् शाहजहाँ बनाया। कारण, मुगलदरबार, सत्ता के इच्छुक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी दलों की अनेक गुटबन्दियों का अड्डा था। इनमें मुख्य दल साम्राज्ञी नूरजहाँ और शाहजादा खुर्रम के थे। जहाँगीर के अंतिम समय में सत्ता के इच्छुक इन अनेक दलों ने अपनी कोशिशें आरम्भ कर दी थीं। इनमें एक गुट ऐसा था, जो कि परोक्षरूप से शाहजहाँ के प्रति सहानुभूति रखता था। शहजादे के श्वसुर आसफ खाँ इनमें प्रमुख थे। शाहजादे के लिए ये शक्ति के प्रबल स्रोत थे। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त प्रवीणता से अपना खेल खेलते हुए आसफ खाँ ने शाहजहाँ

---

१. आसफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत, (आसफ वि. अन्तिम गद्यांश।)

के एक-एक प्रतिद्वन्द्वी को मैदान से हटा दिया। इस प्रकार इनके ही प्रयत्नों से शाहजादा खुर्रम को सारे हिन्दुस्तान की बादशाहत मिली।

राजसिंहासन पर बैठने एवं सम्राट् घोषित होने के अनन्तर शाहजहाँ ने अपने प्रति की गई सेवाओं से प्रसन्न होकर आसफ खाँ को ८००० जात और ८००० सवार, दो अस्पा सेह अस्पा का मनसब, 'यमीनुद्दौला' की पदवी, 'चाचा' की उपाधि एवं साम्राज्य में सर्वश्रेष्ठ 'वकील' का पद प्रदान किया। बाद में इनका मनसब बढ़ाकर ९००० जात और ९००० सवार कर दिया गया एवं पचास लाख की जागीर दी गई। इस प्रकार इन्हें वह सर्वोच्च राजनीतिक सम्मान प्राप्त हुआ, जो शाही परिवार के अतिरिक्त किसी अन्य पदाधिकारी को प्राप्त न था।

सर्वोच्च राजनीतिक मनसब प्राप्त करने के अतिरिक्त शासन परिचालन में भी इनका सर्वोच्च स्थान था। केन्द्र में सर्वोच्च पदाधिकारी 'वकील' होता था। ऐसे महत्त्वपूर्ण पद पर शाहजहाँ ने आसफ खाँ को नियुक्त किया था। मुमताज महल की संस्तुति पर इनको शाही फरमानों पर अंकित की जाने वाली 'मोहर ए उजुक'[१] अर्थात् शाही मोहर भी सौंप दी गई थी।[१]

सुदक्ष राजनीतिज्ञ व उच्च कूटनीतिज्ञ होने के अतिरिक्त आसफ खाँ उत्कृष्ट कला मर्मज्ञ भी थे। वे विज्ञान, ज्ञानराशि, साहित्य और कला के संरक्षक थे। इनके इर्द-गिर्द कवि और दार्शनिक, संगीतज्ञ और चित्रकारों का जमघट रहा करता था। 'मआसिरुल्उमरा' के लेखक के वर्णनानुसार आसफ खाँ हर एक विज्ञान में गम रखता था। वह विशेषकर नियमों को अच्छी तरह जानता था और इसी कारण शाही दफ्तरों में जो पदवियाँ इनके नाम के साथ लगाई जाती थीं, उनमें 'अफलातूनियों की बुद्धि का प्रकाशदाता तथा तर्कशास्त्रियों के हृदय का बुद्धिदाता' लिखा जाता था। यह स्वयं एक अच्छा लेखक था व शुद्ध मुहावरों का प्रयोग करता था'।[२]

इसके अतिरिक्त वे चित्रकला के भी पोषक थे। वास्तुकला के सम्बन्ध में यह सम्राट् के प्रमुख परामर्शदाता थे। वित्त-व्यवस्थापक के रूप में भी इनकी ख्याति सर्वाधिक थी।

११ नवम्बर, सन् १६४१ को इस दुर्धर्ष सेनानायक, सुदक्ष राजनीतिज्ञ, विकट कूटनीतिज्ञ, कलामर्मज्ञ तथा मुगल साम्राज्य के स्तम्भ रूप आसफ खाँ का देहान्त हो गया।[३]

१. मुगल सम्राट शाहजहाँ, बनारसी प्रसाद सक्सेना के अध्ययन पर आधारित।

२. मआसिरुल् उमरा-अनु. वृजरत्नदास, पृ.४०८।

३. मुगल सम्राट शाहजहाँ, सक्सेना, पृ.३३६।

आसफविलास की निर्माण-प्रेरणा तथा रचनाकाल

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि दिल्लीश्वर के राज्याश्रित तथा उनसे 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त कवि को उनके किसी मनसबदार की प्रशस्ति की क्या जरूरत आ पड़ी? अत: 'आसफविलास' का विवेचन करने से पूर्व उससे सम्बन्धित इस प्रश्न का समाधान भी आवश्यक है।

पण्डितराज ने इस आख्यायिका के अन्त में स्वयं कहा है कि शाहन्शाह शाहजहाँ के द्वारा 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित उन्होंने माथुरकुल के भूषणस्वरूप रायमुकुन्द के आदेश पर इस 'आसफविलास' आख्यायिका की रचना की।[१] राय मुकुन्द आसफ खाँ के दीवान थे। आसफ खाँ के जितने सेवकों ने शाहजहाँ को सिंहासनारूढ़ होने में सहायता पहुँचाई थी, उनमें राय मुकुन्द प्रधान थे।[२] पण्डितराज के इस उल्लेख से दो बातें सर्वथा स्पष्ट हो जाती हैं—

१. आसफविलास मुकुन्दराय माथुर के आदेश पर लिखा गया।

२. इस रचना के निर्माण के समय उन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी।

कुछ विद्वानों में यह धारणा प्रचलित है कि कवि जगन्नाथ पहले आसफ खाँ के उदार आश्रय के सम्पर्क में आए। इस सर्वोच्च मुगल पदाधिकारी को प्रसन्न करने के लिए ही उन्होंने 'आसफविलास' की रचना की और इस प्रशस्तिगान से प्रसन्न हुए आसफ खाँ के द्वारा मुगल दरबार में उनका प्रवेश सम्भव हुआ।[३] किन्तु इन विद्वानों की यह धारणा स्वयं कवि-कथन से मेल न खाने के कारण पूरी तरह असत्य ठहरती हैं। 'आसफविलास' के उपर्युक्त उल्लेख से यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि इस रचना के निर्माण के समय पण्डितराज मुगल दरबार में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे और इस आख्यायिका की रचना उन्होंने आसफ खाँ के आश्रय में या उन्हें प्रसन्न करने के उद्देश्य से नहीं, अपितु उनके दीवान रायमुकुन्द के आग्रह पर की थी। उन्हें प्रसन्न करने के उद्देश्य से इसकी रचना की होती, तो वे किसी की मन्त्रणा के आधार पर इसे क्यों रचते? स्वविवेक तथा सहज अन्त:प्रेरणा से लिखते। चूँकि उन्होंने इसमें यह उल्लेख किया है कि इसकी रचना उन्होंने रायमुकुन्द के आदेश पर की, अत:

---

१. माथुरकुलसमुद्रेन्दुना रायमुकुन्देनादिष्टेन श्रीसार्वभौमसाहिजहानप्रसादाधिगतपण्डितरायपदवी-विराजितेन तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेनासफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत। (आसफ.वि. अन्तिम गद्यांश)

२. काशी की सारस्वतसाधना, कविराज, पृ.५१।

३. संमुद्रसंगम, भोलाशंकर व्यास, पृ.५०; भामि.वि., राधेश्याम मिश्र, भू., पृ.१३।

यह सिद्ध हो जाता है कि इसे कवि ने उन्हें प्रसन्न करने या उनके राज्याश्रय में रहते हुए नहीं लिखा।

एक प्रश्न और उठता है कि राय मुकुन्द द्वारा पण्डितराज को इस काव्य-निर्माण की प्रेरणा का क्या कारण हो सकता था? इसके उत्तर में यही सम्भावना की जा सकती है कि आसफ खाँ अपने उदार आश्रय, तथा ज्ञान-विज्ञान, कला व साहित्य के पोषक व संरक्षक होने के कारण और अपने अन्य अद्वितीय गुणों के कारण मुगल दरबार के साथ ही विद्वानों व कलाकारों के काव्य-कला जगत् में भी अत्यधिक सम्मान प्राप्त थे। पण्डितराज भी उनके इन गुणों से आकृष्ट हुए होंगे व इसी क्रम में उनके दीवान मुकुन्दराय माथुर के द्वारा ऐसे गुणज्ञ व गुणग्राही व्यक्ति पर काव्य-निर्माण के आग्रह को देखकर काव्य-रचना में संलग्न हुए होंगे और इसी के फलस्वरूप 'आसफविलास' का निर्माण हुआ।

आसफविलास के शोक-काव्य होने का खण्डन

प्रो. पी.वी. काणे की धारणा है कि 'आसफविलास', आसफ खाँ की मृत्यु पर रचित शोकगीत है।[१] परन्तु इसका जितना भाग डॉ. शर्मा ने अपने 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में प्रकाशित किया है, उससे डॉ. काणे की उपर्युक्त धारणा सत्य नहीं सिद्ध होती। उससे तो यही सिद्ध होता है कि 'आसफविलास' शोककाव्य न होकर आसफ खाँ की प्रशस्ति में रचित प्रशस्तिकाव्य है।

रचनाकाल

इस काव्य में शाहजहाँ की कश्मीर यात्रा का वर्णन है। ऐतिहासिक ग्रन्थों के वर्णन से ज्ञात होता है कि शाहजहाँ सन् १६३४ई. के जनवरी मास के अन्त में भारत के स्वर्ग कश्मीर की सैर करने आगरा से चला।[२] लाहौर में थोड़ा विश्राम करने के बाद १३ मई, सन् १६३४ई. को बादशाह लाहौर से कश्मीर रवाना हुए और ५ जून, सन् १६३४ई. को कश्मीर पहुँच गए।[३] तीन महीने तक वहाँ रहने के बाद २३ रबी-उल्-अव्वल् को बादशाह कश्मीर से लाहौर लौटे।[४] उनकी इस यात्रा में उनके साथ चोटी के लेखक थे।[५] निश्चय

१. संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास, काणे, पृ.४००।

२-३. मुगल सम्राट् शाहजहाँ, सक्सेना, पृ.३३४।

४. शाहजहाँनामा, सम्पा. सिंह, राणावत, पृ.९१।

५. मुगलसम्राट् शाहजहाँ, सक्सेना, पृ.३३४।

ही पण्डितराज भी इस यात्रा में शाही काफिले के साथ रहे होंगें। 'शाहजहाँनामा' में यह वर्णन मिलता है कि कश्मीर-यात्रा के दौरान लाहौर पड़ाव में जगन्नाथ कलावंत शाही आदेश के अनुसार नये ध्रुपदों (सम्भवत: संगीतबद्ध श्लोकों) को बनाने के लिये लाहौर ठहर गया व बादशाह के नाम से विभिन्न रागों में बारह नये ध्रुपदों की रचना कर शाही पड़ाव के साथ आ मिला। वहाँ शाही लश्कर के मुकाम 'भँवर' में, जहाँ कि कश्मीर के पहाड़ों का सिलसिला खत्म होता है, २२ रबी-उस्-सानी (कार्तिक बदि १ = ५ अक्टूबर, सन् १६३४) को बादशाह ने इन नये ध्रुपदों को पसन्द कर 'जगन्नाथ कलावंत' को रूपयों से तौला और जो ४५०० रू. उनके बराबर तुले थे, वे उनको इनायत किए गए तथा 'कविराय' की उपाधि देकर उन्हें सम्मानित किया गया।[१] एक स्थल पर यह वर्णन मिलता है कि १६ मुहर्रम (सावण बदि २ = सोमवार २२ जून, १६३५ई.) को बादशाह ने बहुत ही पसंद आए एक नये काव्य बनाने के इनाम में जगन्नाथ कलावंत को, जिनका खिताब 'कविराय' का था, हाथी इनायत किया।[२] इस ऐतिहासिक वृत्तान्त से यही सम्भावना लगती है कि लाहौर प्रवास में ही पण्डितराज आसफ खाँ के अधिक निकट सम्पर्क में आए और उनकी गुणज्ञता तथा गुणग्राहिता से आकृष्ट हुए तथा ऐसे योग्य व्यक्ति पर काव्य-निर्माण की कुछ स्वयंकृत प्रेरणा तथा कुछ उनके दीवान राय मुकुन्द के आदेशमय आग्रह पर काव्य-निर्माण में प्रवृत्त हुए और उसमें सम्राट् शाहजहाँ के विशाल वैभव, अद्वितीय माहात्म्य, उनकी कश्मीर यात्रा तथा नवाब आसफ खाँ के गुणों का प्रशस्तिगान करते हुए 'आसफविलास' की रचना की।

यहाँ शाहजहाँ की कश्मीर यात्रा और इस नये काव्य के समर्पण की तिथियों में मेल खाने के कारण, इस नये काव्य से, जिसके उपलक्ष्य में जगन्नाथ कलावंत कविराय को हाथी इनायत किया गया, 'आसफविलास' का आशय लेना उचित प्रतीत होता है, जिसमें शाहजहाँ की कुछ महीने पहले की गई कश्मीर यात्रा व उनके प्रिय खानखाना के गुणों का वर्णन हैं। अत: इस आधार पर 'आसफविलास' का रचनाकाल ५ अक्टूबर, १६३४ से २२ जून १६३५ के मध्य ठहरता है।

'आसफविलास' का अधिकांश भाग अप्राप्य है, अत: इसके विषय-विस्तार के बारे में कुछ पता नहीं चलता। यदि यह काव्य अपने समग्र रूप में उपलब्ध

१. शाहजहाँनामा, देवी प्रसाद, सम्पा. सिंह राणावत, पृ.९१-९२।

२. वही, पृ.९९।

होता, तो इसके वर्णन से तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों पर ज्यादा प्रकाश पड़ता और इसकी रचनातिथि के निर्धारण में भी ज्यादा ठोस प्रमाण प्राप्त होते।

जैसा कि पूर्व कथित है कि 'आसफविलास' अपूर्ण है, मात्र सवा पृष्ठ का इसका अत्यन्त संक्षिप्त अंश ही प्राप्त होता है, अत: इसकी अपूर्णता के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। इस विषय में दो प्रकार की धारणाएँ हो सकती हैं—या तो आसफविलास का अधिकांश भाग अप्राप्य है, अथवा कवि ने इसे पूरा नहीं किया।

विचार करने पर दूसरी धारणा सत्य नहीं प्रतीत होती, कारण ऐतिहासिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आसफ खाँ की मृत्यु ११ नवम्बर, सन् १६४१ को हुई थी।[१] आसफ खाँ की मृत्यु के समय व उसके कई वर्ष बाद तक पण्डितराज जीवित रहे। (१५९०-१६७०ई.) इसके अतिरिक्त आसफ खाँ की मृत्यु पर शोकविह्वल हो उनकी अखण्ड कीर्ति को स्थायित्व प्रदान करने से सम्बन्धित श्लोक भी प्राप्त होता है।[२] इस आधार पर तथा 'शाहजहाँनामा' के वर्णन व 'आसफविलास' के रचना-काल को देखते हुए यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि पण्डितराज ने इस आख्यायिका को पूरा तो अवश्य किया, किन्तु उनकी अन्य रचनाओं यथा 'यमुनावर्णन' व 'रसगङ्गाधर' के अधिकांश भाग की तरह इसका भी अधिकांश भाग अप्राप्य होने के कारण अतीत के दुर्घाट्य गर्भ में समा चुका है।

भगवान् गजवदन का नमन कर प्रारम्भ की गई इस आख्यायिका में सम्राट् शाहजहाँ के विशाल वैभव, अत्यधिक शूरता, अलौकिक प्रताप, दानवीरता आदि गुणों का गान करते हुए उनके द्वारा प्रकृति के रमणीयतम स्थल कश्मीर देश में की गई यात्रा का वर्णन किया गया है। इस वर्णनप्रसंग में कश्मीर प्रदेश की अलौकिक प्राकृतिक सुषमा का अभिराम अकंन किया गया है। तुहिनाच्छादित हिमालय की शृंखलाओं, भ्रमरगुंजरित पुष्पावलियों, रसीले फलद्रुमों, क्रीड़ारत राजहंस-युगलों से सुशोभित जलाशयों तथा हरीतिमा से आच्छादित स्थल प्रदेश का आलंकारिक शैली में बड़ा मनोहर वर्णन किया गया है।

एक गद्यांश में नवाब आसफ खाँ के निर्मल यश, अखण्ड प्रताप, अत्यधिक उदारता, विद्वज्जनानुराग का आलंकारिक शैली में सुन्दर निरूपण

---

१. मुगलसम्राट् शाहजहाँ, सक्सेना, पृ.३३६।

२. युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद् विनाश:।
इदं तु चित्रं भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्ति:।।

पण्डितराजकाव्यङ्ग्रह, पृ. १०२, श्लो. १६३।

किया गया है। इसके बाद के दो गद्यांशों में पुनः कश्मीर प्रदेश की मनोहारी प्राकृतिक छटा का रमणीय चित्रण किया गया है, किन्तु इस रमणीयता का आस्वादन हम देर तक ले भी नहीं पाते कि सहसा अगले गद्यांश में नवाब आसफ खाँ का कीर्तिगान करते हुए व राय मुकुन्ददास माथुर को इस काव्य की रचना के लिये अपना प्रेरणा स्रोत बताते हुए, इसका समापन हो जाता है। इस प्रकार इस काव्य का समग्र वर्ण्य विषय त्रिविध है—१. सम्राट् शाहजहाँ के गुण व माहात्म्य का वर्णन, २. कश्मीर प्रदेश की प्राकृतिक छटा का निरूपण और ३. आसफ खाँ का यशोगुण-संकीर्तन।

१. सम्राट् शाहजहाँ के गुण व माहात्म्य का वर्णन

'आसफविलास' के प्रथम दो गद्यांशों तथा चार श्लोकों में सम्राट् शाहजहाँ के गुणातिरेक तथा अतिशय माहात्म्य का रुचिर चित्रण किया गया है। इतिहास ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट है कि शाहजहाँ का राज्यकाल विशाल वैभव तथा उत्कर्ष की पराकाष्ठा का जीता-जागता चित्र था। पूर्व से लेकर पश्चिम तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों पर उसका अधिकार था। उसकी मुगलवाहिनी अपराजेय थी। सम्राट् की साहित्य एवं कला के प्रोत्साहन में भी प्रबल रुचि थी। अतः संस्कृति की एक वेगवती धारा प्रवाहित हो गई थी। उसका दरबार कवि, दर्शनशास्त्री, विद्वान् एवं कलाकारों का जमघट था। सम्राट् सर्वदा योग्यता व गुणों की कद्र करता था तथा योग्य व्यक्तियों को मुक्तहस्त से उपहार देता था। सम्राट् के इन्हीं उपर्युक्त गुणों का कवि ने विविध प्रकार से आलंकारिक शैली में गान किया है।

गुणगान के इस प्रसंग में उनके माहात्म्य, यश एवं प्रताप का सुन्दर चित्रण किया गया है। उन्हें चक्रवर्ती सम्राट् बताया गया है।[१] इससे उनके अति माहात्म्यशाली होने का प्रतिपादन स्वयमेव हो जाता है। उन्हें चन्द्रमा से भी अधिक उत्कर्षवान् कहा गया है तथा समस्त श्रेष्ठ राजाओं के द्वारा उनका चरण नमन और वशवर्ती होना सिद्ध किया गया है। इस भाव को सूचित करने के लिये कवि ने उनके मुख की नहीं; अपितु उज्ज्वल चरणनख की शरदकालीन चन्द्रमा के रूप में कल्पना की है।

गगनविहारी चन्द्रमा तो अपनी किरण-ज्योत्स्ना से सुशोभित होता है तथा स्वप्रकाश से अन्धकार का विनाश करता है, जब कि इस चरणनख रूपी

१. 'साहिजहानाभिधश्चक्रवर्ती'। आ.वि. प्रथम गद्यांश।

चन्द्रमा को कवि ने श्रेष्ठ राजाओं के मस्तक में धारण किए हुए मुकुटजटित मणियों की किरणमालाओं से विभूषित बतलाते हुए इन मणि-मालाओं के प्रकाश से ही स्थावर जंगमात्मक समस्त संसार के अन्धकार का विनाश किया जाना कल्पित किया है—

'समस्तप्रशस्तभूपालमस्तकमणिमयूखमालालालितचरणनखरशरदिन्दुचन्द्रिकाचय-चमत्कारचुलुकितचराचरान्तरतिमिरधोरणिः'[१]—

उनके प्रताप को उगते हुए सूर्य के रूप में और समस्त ब्रह्माण्डमण्डल को कमल के रूप में मानकर यह वर्णन किया गया है कि जैसे सूर्यकिरणों के प्रकाश से कमल विकसित होता है, उसी प्रकार उनके प्रताप रूपी तरुण सूर्य की किरणमालाओं से समस्त ब्रह्माण्ड-मण्डल रूपी कमल उल्लसित हो उठा था—

'महस्तरुणतरणिकिरणसरणिसमुल्लासितजगदण्डमण्डलपुण्डरीकः'।[२]

प्रतापवान्, यशस्वी तथा अतिशय महत्त्वशाली होने के अतिरिक्त उन्हें अतिदानी सम्राट् के रूप में चित्रित किया गया है। दानशीलता के अतिशय को दर्शाने के लिए कवि की अभिराम कल्पनाओं की नभोविहारिणी चारुता दर्शनीय है। पृथ्वी से स्वर्ग गए हुए श्रेष्ठ बन्दीजनों के मुख से राजप्रदत्त अहर्निश दान की प्रशंसा सुनकर सकल वांछित मनोरथों को सिद्ध करने वाली देवराज इन्द्र की गाय कामधेनु का अति ईर्ष्या से भरकर अत्यधिक रोमांचित हो उठना एवं इस रोमांचातिशय के कारण उसके थनों से अमृतस्वरूप दुग्धप्रवाह की निरन्तर झड़ी लग जाना ऐसी ही अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना है—

यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
माकर्ण्यावलिमण्डलागतवियद्वन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकरव्यावल्गदूधःस्त्रवत्
पीयूषप्रसरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते।।[३]

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में अत्यन्तातिशयोक्ति का आश्रय लेकर उनकी दानकीर्ति का गान किया गया है। जहाँ गौरी शाहजहाँ द्वारा श्रेष्ठ हाथियों के समूहों के दान रूप में अत्यधिक दिए जाने की बात बतलाकर,

---

१. आसफविलास, प्रथम गद्यांश।

२. तत्रैव, प्रथम गद्यांश; ३. तत्रैव, श्लोक ३।

भय दिखलाकर रात्रि में नींद टूटने के कारण रोते हुए शिशु गजानन को चुप कराती हैं।[१]

उनके कृपाकटाक्ष की शोभा का भी चमत्कृतिपूर्ण वर्णन किया गया है। इसे प्रातःकालीन कमल की शोभा के समान रमणीय तथा दैन्यसमूह रूपी अन्धकार को दूर करने में सूर्य के समान तेजः प्रकाशपुंज रूप एवं अत्यधिक महिमाशाली कहा गया है। इस माहात्म्य का प्रकाशन इस प्रकार वर्णित किया गया है कि प्रचण्ड गजशक्तिवाले अतिपराक्रमी वे राजागण भी इस कृपाकटाक्ष का आश्रय लेते हैं, जिनके सिंहद्वार पर मतवाले हाथी झूमा करते हैं और उनके मदों पर मंडराते भँवरों द्वारा जिनके धनुष के प्रताप की कथा बखानी जाती है—

द्वारान्दोलन्मदान्धद्विरदघनघटागण्डपट्टप्रसर्पद्
दानोद्दामप्रणालीमिलदलिवलयोद्गीतचापप्रतापाः।
भूपास्तेऽपि प्रभातोन्मदकमलसमुल्लासिशोभाभिरामा
दैन्यग्रामान्धकारक्रथनदिनकृतो यस्य दृष्टिं श्रयन्ते॥[२]

उनके बाहुबल एवं सैन्यबल की प्रशंसा करते हुए वर्णन है कि उन्होंने अपनी प्रचण्ड धनुःशक्ति तथा सैन्यबल द्वारा समस्त शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर दिया था।[३] उनके विपुल सैन्यबल से समस्त पृथ्वीमण्डल उनका वशवर्ती हो गया था।[४] उनकी सेना के बल तथा विशालता के वर्णनक्रम में कवि ने उसे प्रचण्ड गज एवं अश्वबल से युक्त तथा अत्यन्त विशाल बतलाया है। इस सेना के हाथी अत्यन्त विशाल व अतिमदस्रावी थे; फलतः कविदृष्टि में वे पर्वत-पुत्रों के समान प्रतीत होते थे एवं घोड़े इतने चञ्चल थे कि उनकी चंचलता प्रथम समागम से त्रस्त नवाङ्गनाओं की नासिका में लटकते मोतियों से तुलनीय थी।[५]

उनकी सेना के रणस्थल प्रस्थान के समय किया गया दुन्दुभिनाद अपनी धीर-गम्भीर ध्वनि के कारण समुद्रपर्यन्त समस्त भूमण्डल में फैल जाने वाला,

१. आसफविलास श्लो.४।
२. तत्रैव, श्लो.२।
३. प्रचण्डभुजदण्डमण्डलीभवत्कोदण्डनिःसरत्काण्डखण्डीकृताशेषशात्रवः, (तत्रैव, द्वितीय गद्यांश।)
४. विपुलबलवशीभवद्वसुमतीवलयवेल्लनीकृतयशोविमलांशुकः, (तत्रैव, द्वितीय गद्यांश।)
५. आसफविलास, द्वितीय गद्यांश।

प्रलयकालीन बादलों के घोष को भी धिक्कारने में धीर प्रतीत होता था। उस दुन्दुभिनाद के ध्वनिगाम्भीर्य को सूचित करने के लिए कवि की चमत्कारिक कल्पना है कि उसके सुनने मात्र से पर्वतों की गुफाओं में सोए श्रेष्ठ सिंहेन्द्र चौंककर जाग पड़ते थे व भयत्रस्त हो गिर पड़ते थे, साथ ही विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उसे सुनते रहते थे—

पारीन्द्राणां धुरीणैरवनिधरगुहागर्भतः प्रोत्पतद्भिः
स्वापभ्रंशप्रकोपप्रचलितनयनप्रान्तमाकर्ण्यमानः।
यत्प्रस्थानान्तरुद्यत्प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरो
धृष्टक्षीरोदतीरो जगति विजयते दुन्दुभिद्वन्द्वनादः॥[१]

शक्ति तथा संख्या में अदम्य ऐसी विशाल सेना के लश्कर के साथ उनका पृथ्वी के स्वर्गभूत कश्मीर प्रदेश के प्रति यात्राप्रस्थान का वर्णन है। इसमें शाही सेना के मद चुआते और हिचकोले खाते आगे बढ़ते हुए विशाल हाथियों की गति का वर्णन करते हुए उनकी उपमा निर्झर प्रवाह से युक्त पर्वत शिशुवों की रेंगने वाली बालसुलभ गति से की गई है। चंचल घोड़ों की अतितीव्र गति को बताने के लिए इन घोड़ों के खुरपुटों के पत्थर पर टकराने से विद्युल्लता के समान अग्निस्फुलिङ्गों के उत्पन्न होने और इन स्फुल्लिङ्गों की छटाओं से इन घोड़ों की पंक्तियों का अतिसुशोभित होना कहा गया है—

'करटतटनिर्गलन्मदद्रवनिर्झराणां सम्प्रति समुत्पन्नानां धराधरशिशूनामिव रिङ्गतां मतङ्गजानां संघट्टैः प्रथमसमागमत्रस्तनवाङ्गनानासाग्रलम्बिमुक्ताफलचापल्य-मलिम्लुचानां प्रतिखुरनिकरशिलातलसंघट्टसमुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृतविपुलविस्फु-लिङ्गच्छटापटलानां वाजिनां राजिभिश्च समाकुलया सागरसमानया सेनया समावृतः........कश्मीरदेशमाजगाम'।[२]

कश्मीर प्रदेश की ऊँची, नीची, बीहड़ होने के कारण शुरू में क्लेशदायी; किन्तु अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन कराने के कारण अन्त में सुखदायी पगडण्डियों की उपमा विषमतर आरोह-अवरोह वाली स्वरों की आवृत्ति तथा प्रारम्भ में कर्मबहुल होने के कारण क्लेशदायी; किन्तु अन्त में ब्रह्मसाक्षात्कार कराने के कारण सुखदायी वेदोक्त कर्म की परिपाटी से दी गई है और इन्हीं विषम पगडण्डियों के साथ शाही सेना के लश्कर सहित सम्राट् के कश्मीर प्रदेश में पहुँचने का वर्णन है।[३]

१. आसफविलास प्रथम श्लोक।

२. तत्रैव, द्वितीय गद्यांश;

३. तत्रैव, द्वितीय गद्यांश।

कश्मीर प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा का अंकन

'आसफविलास' के तीन गद्यांशों में कश्मीर प्रदेश की मनोहारिणी सुषमा का अभिराम अंकन किया गया है। इस प्रसंग में कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन, निशातबाग की रमणीयता का अंकन व कश्मीरी बालाओं के अद्भुत लावण्य का सुचारु चित्रण है।

इस प्रदेश के प्राकृतिक वैभव का वर्णन करते हुए इसकी धरती को तुहिनाच्छादित हिमगिरि की शृङ्खलाओं, परागगन्धवाही पवन के झकोरों, क्रीड़ारत राजहंसों से सुशोभित जलाशयों तथा हरे-भरे वृक्षों की हरीतिमा से उत्पन्न अद्वितीय सौन्दर्य के कारण अति उल्लासवती बताया गया है। इसके चारों ओर फैली हिमगिरि की शृङ्खलाओं की श्वेत बादलों के शुभ सौन्दर्य तथा पिंजरबद्ध बर्फसमूह से युक्त होने के कारण चाँदी के विशाल परकोटे से उपमा दी गई है।

कश्मीर प्रदेश की मनोहारिणी सुषमा का एक समग्र सजीव चित्र अंकित करने के उपक्रम में यहाँ के लतावृक्षों, पुष्पगुल्मों, फलाच्छादित शाखाओं वाले तरुवरों एवं मरकतमणि-सी शोभायमान हरीतिमा से सुसज्जित धरित्री की मोहकता एवं रमणीयता का अभिराम चित्रण कवि की लेखनी का संस्पर्श पा और भी सुरम्य हो उठा है। अत्यन्त पके हुए और रसीले फलों के भार से झुकी हुई सैकड़ों शाखाओं वाले फलद्रुमों की उपमा अतिथि अभ्यर्थना में झुके हुए गृहस्थों से देते हुए एवं अत्यन्त सुगन्धवाले असंख्य पुष्पवृक्षों तथा उनकी सुगन्ध से आकृष्ट होकर उनपर मंडराते भ्रमरों के गुंजार में वृक्षों के माहात्म्य-गान की परिकल्पना करते हुए पण्डितराज ने इस वर्णन को नितान्त आकर्षक बना दिया हैं—

'यस्मिन्ननवरतमपरिमितपयोदपटलपर्यायतत्प्रालेयपुञ्जपञ्जरितेन परितः स्फुरता रजतप्राकारेणैव गौरीगुरुणा हिमगिरिणा वेष्टितापरिमितकुसुमामोदमाद्यन्मधुव्रतव्रातगीतमाहात्म्यैः कैरपि परिणतरसभारतुन्दिलानां फलानां प्रकरेणोपनम्रशाखाशतैरातिथेयैरिव गृहस्थैरसंख्यैः शाखिभिः शोभिता समुल्लसति वसुमती'।[१]

इस प्रदेश को सुन्दरतम बनाने में वहाँ के जलाशयों का भी महत्त्वपूर्ण योग है। कमलों की पातों तथा राजहंसों की कतारों के शुभ्रसौन्दर्य से सुशोभित इन जलाशयों में परिफुल्ल पद्मिनियों के हिलने से परागसमूहों का

१. आसफविलास तृतीय गद्यांश।

उड़ना और परागाधिक्य के कारण वहाँ विद्यमान राजहंसिनियों की चोंचों का पीतवर्ण हो जाना, रतिरस में निपुण इन राजहंसिनियों के द्वारा अपने सहचर राजहंसों के कपोलों को खुजलाना तथा इन मदिर स्पन्दनों से जलाशयों की सुन्दरता का और भी अधिक कमनीय हो उठना, कुल मिलाकर समग्र वर्णन नितरां रमणीय है।

निशातबाग की अद्वितीय शोभा का अंकन

सुन्दर प्राकृतिक छटा वाले कश्मीर के हृदयदेश में विद्यमान निशात बाग की सुषमा का भी अभिराम अंकन किया गया है। अद्वितीय शोभा के कारण ही उसे तीनों लोकों की शोभा का लावण्य रूप कहा गया है।[१] पुष्पभार से झुकी हुई शाखाओं वाले असंख्य पुष्प वृक्षों से युक्त उस बाग की धरती पुष्पशय्या सी अलङ्कृत प्रतीत होती थी। इन पुष्पों पर मंडराते भ्रमरों के गुञ्जार को देख ऐसा लगता था मानों ये भंवरे इन पुष्पवृक्षों द्वारा अपने अपरिमित सौन्दर्य से देववृक्ष कल्पतरु को जीत लेने की विजय विरुदावली का गान कर रहे हों।[२]

निशात बाग की इस अद्वितीय शोभा के कारण ही कवि ने उसे मानों नन्दनकानन के गुणातिशय से उत्पन्न हुए अत्यधिक गुरुगर्व को दूर करने के लिए स्वयं ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी पर बनाए हुए मण्डप की उपमा दी है। परम सौन्दर्य को भी सुन्दर बनाने वाले नेत्रों द्वारा भी इस बाग के दृश्य को लोभनीय बताते हुए इसके विशिष्ट सौन्दर्य का अंकन किया है।

यह उपवन सुशोभित था ऐसी रमणियों द्वारा जो कवि वर्णनानुसार तीनों लोकों के नेत्रों के निर्माण की सार्थक साफल्यस्वरूपिणी थीं, जिनमें कामदेव की सर्वस्व सामग्री के रूप में सौन्दर्य व यौवन विद्यमान था, जो सौन्दर्य की अन्तिम सीमा, शृङ्गाररस का कारण एवं कवि वाणी का अविषय थीं। इस समग्र सौन्दर्य सम्पदा के विद्यमान रहने के कारण ही वह निशातवन मानों त्रैलोक्य लक्ष्मी का लावण्यरूप था, समस्त लोगों के नेत्रों के निर्माण का साफल्य था। यह उस वन का अद्वितीय सौन्दर्य ही था, जिसे प्रदर्शित करने के लिए कल्पना की गई है कि भगवान् अमरनाथ का दर्शन करने कश्मीर की पुण्यभूमि में पधारे स्वर्गाधिपति इन्द्र इस उपवन की शोभा के समक्ष अपने नेत्रों को सर्वदा आनन्द देने वाले नन्दनवन को भी तुच्छ समझते है।[३]

१-२-३. आसफविलास, षष्ठ गद्यांश।

कश्मीरी बालाओं के सौन्दर्य का चित्रण

निशातबाग की रमणीयता के वर्णनप्रसङ्ग में ही, इस बाग में कौतूहलाक्रान्त होकर प्रवेश करती कश्मीरी ललनाओं के सौन्दर्य का भी सजीव अंकन किया गया है। अनिंद्य, अवाच्य, अवर्ण्य, अकल्प्य एवं अप्रतिम सौन्दर्यशालिनी मानों समस्त पुष्प समूहों की सुकुमारता के सार से स्वयं कामदेव द्वारा निर्मित शरीरावयवधारिणी, हस्तपुष्पधारिणी तन्वङ्गिनी ललनाओं के सौन्दर्य साम्राज्य के फलस्वरूप उस बाग में मानों सर्वत्र कामदेव उल्लसित हो उठा था। अत्याकर्षक होने के कारण लोगों के दृष्टिपात का अत्यधिक केन्द्र बनीं कमनीयकान्तियुता इन रमणियों की वहाँ उपस्थिति से ही पुष्पाच्छादित समस्त उपवन और भी अधिक सुरम्य हो उठा था। निशातवन में प्रविष्ट ये सुन्दरियाँ ऐसी लगती थीं मानों कसौटी पर खींची गई स्वर्ण रेखाएँ हों या अत्यधिक घने बादलों के भ्रम से इकट्ठा हुई बिजलियाँ हों, जिनकी उज्ज्वल दन्तपंक्ति रूपी मणियों की किरणप्रभाओं से चकोरियाँ चन्द्रकिरणों के भ्रम से तृप्त हो जाया करती थीं।[१]

नानाविध भावभङ्गिमाओं वाली ये सुन्दरियाँ विविध क्रियाकलापों में व्यस्त थीं। कुछ बालाओं के हाथ खिले हुए कमल पुष्प को धारण करने के कारण सुशोभित थे, जिसके कारण वास्तविक कमलों को छोड़कर दूर से ही दौड़ते हुए, भ्रमरों द्वारा वे व्याकुल हो रही थीं। किन्हीं सुन्दरियों के उन्नत कुचतटों पर रतिलालसावश पड़ती हुई प्रियतमों की दृष्टियाँ उन्हें संकोचवश अपनी भुजाएँ ऊपर उठाकर घुमा लेने की ओर प्रवृत्त कर रहीं थीं। कुछ रमणियाँ हस्तकमलों में लिए हुए दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली प्रिय की छाया का चुम्बन करने के लिए अधरों को मुकुलित कर चुम्बनोपक्रम कर रहीं थीं। कुछ अंगनाएँ सारिकावली पर व्यर्थ के अङ्गुली कम्पन द्वारा वीणा पर गाए जाते हुए गीत का भ्रम उत्पन्न कर रहीं थीं। इस प्रकार कुल मिलाकर निशातबाग का वातावरण सर्वतः उल्लसित था।[२]

आसफ खाँ का गुण व यशःसंकीर्तन

'आसफविलास' के उपलब्धांश के दो गद्यांशों में आसफ खाँ के व्यक्तित्व के विविध गुणों एवं उनके उज्ज्वल यश का आलंकारिक शैली में मनोरम निरूपण किया गया है। उनकी अतिशय महत्ता का बखान करने के लिए समस्त सामन्त

१,२. आसफविलास, पंचम गद्यांश।

समूहों के मुकुटों द्वारा उनका चरण वन्दन बताया गया है।[१] इन चरणों को भी कमल रूप में मानते हुए उन्हें समस्त भूमण्डल का आभूषण रूप कहा गया है। विद्वानों एवं कलाकारों के लिए उनके उदार संरक्षण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे कमल पुष्प में पराग के लोभ से भँवरे मंडराया करते हैं, उसी प्रकार आसफ खाँ के चरण रूपी कमल की दानशीलता रूप सुगन्ध के कारण उन पर लोभ से विद्वद्जन समूह रूपी भ्रमरगण मंडराया करते थे।[२] विद्वानों को वृक्ष रूप में तथा प्रायः उनको घेरने वाली दरिद्रता को उद्दाम हाथी के रूप में मानते हुए उन्हें निरन्तर विद्वान् रूपी वृक्ष से वैर करने वाले दारिद्र्य रूपी मतवाले हाथी के उद्दाम दर्प का विनाश करने में विकट सिंह के समान बताया गया है।[३]

अन्यत्र उन्हें 'द्विजकुलायहितः' 'द्विजकुल' अर्थात् पक्षी समुदाय के घोंसला आदि बनाने के प्रयोजन से हितकारक सिद्ध होने वाले विशाल वृक्ष के समान 'द्विजकुल' अर्थात् ब्राह्मण कुल के लिए 'अयः' शुभास्पद विधि के हितकारक बताया गया है—'महामहीरुह इव द्विजकुलायहितः'

गुणगान के इस प्रसङ्ग में श्लेषमूलक विरोधाभास का आश्रय लेकर भी नवाब आसफ खाँ का यशोगान किया गया है—'क्रतुरिव मधुरिव सकल सुमनः प्रसादनोऽपि हिमांशुरिव सकलासुमनःप्रसादनः, समरार्चितोऽप्यमरार्चितः'[१] अर्थात् जैसे सुमनों देवताओं को यज्ञ प्रिय होता है, तथा सुमनों पुष्पों को मधुमास आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार वे सकल सुमनों समस्त विद्वानों के लिए मनःप्रसादन करने वाले होते हुए भी चन्द्रमा के समान सकलासुमनः प्रसादनः समस्त अविद्वानों के मन को प्रसन्न करने वाले, कलापूर्ण रात्रियों में मनोह्लाद करने वाले थे।[४] उनका मन सदैव समस्त संसार को सींचती परोपकार-परम्परा की लहरियों से आन्दोलित रहता था और इसी के फलस्वरूप वे कवियों द्वारा उपासित रहते थे।[५]

१-२. अथ तत्र सकलसामन्तचक्रचूडाचुम्बितनिखिलभूमण्डलमण्डनायितचरणकमलपरिमल-लम्पटीभवद्बहलविबुधजनव्रातमाद्यदिन्दिन्दिरमञ्जुलगुञ्जितैर्मुखरितहरिदन्तरालो। आसफविलास, चतुर्थ गद्यांश।

३. अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननो। (तत्रैव, चतुर्थगद्यांश)

४. तत्रैव, चतुर्थ गद्यांश।

५. अथ सकललोकनिस्तारविस्तारितमहोपकारपरम्परापराधीनमानसेन प्रतिदिनमुद्यदनवद्य-हृद्यगद्यपद्याद्यनेकविद्याविद्योतितान्तःकरणैः कविभिरुपास्यमानेन कृतयुगीकृतकलिकालेन कुमतितृणजालसमाच्छादितवेदवनमार्गविलोकनाय समुद्दीपितसत्तर्कदहनज्वालाजालेन मूर्तिमतेव नवाबासफखानमनःप्रसादेन। (आसफविलास, अन्तिम गद्यांश)

इसके अतिरिक्त उन्हें अत्यन्त सदाचारी व्यक्ति के रूप में भी वर्णित किया गया है। उनके सदाचरण की अतिशयता का प्रदर्शन यह कह कर किया गया है कि उन्होंने अपने सदाचरण से कलियुग को भी कृतयुग बना रखा था।[१] न केवल सदाचरण, बल्कि सद्विद्या एवं सत्साहित्य का प्रवर्धन एवं प्रोत्साहन भी उनके नानाविध गुणों में से एक विशिष्ट गुण के रूप में वर्णित किया गया है। इन्होंने कुमति रूपी तृणजाल से ढंके वेदवनरूपी मार्ग को आलोकित करने के लिए तर्क की शिखा प्रज्वलित की थी; यह कहकर उनके इसी गुण पर प्रकाश डाला गया है।[२]

इन समग्र गुणों का समवाय ही वह कारण था, जिसके कारण उनकी कीर्ति चतुर्दिक् प्रसारित थी। कविवाणी में उनके इस उज्ज्वल, विस्तृत तथा कान्तिमान् यश का बखान भी राजकीय शैली में किया है। उसे हिमालय के रजतशृङ्ग से प्रवाहित होने वाली गङ्गा की उत्तुङ्ग तरङ्गों के समान शुभ्र, शरत्कालीन मेघावली में सुशोभित चन्द्रमा की किरणों की कान्ति से भी अधिक कान्तियुक्त एवं चारों समुद्रों की सीमा से भी अधिक विस्तृत कहा गया है।[३]

शाहजहाँ के सभी सम्बन्धियों व सामन्तों में उन्हें अत्यधिक महत्त्वशाली बतलाते हुए इस अद्वितीय महत्ता का गुणगान रशनोपमा की झड़ी द्वारा किया गया है। समस्त वाङ्मय की विविध विधाओं में श्रेष्ठ काव्य के समान, काव्यालाप में भी सर्वश्रेष्ठ गिने जाने वाले ध्वनि काव्य के समान, ध्वनियों में भी श्रेष्ठ रसध्वनि के समान, रसों में भी सर्वश्रेष्ठ रस शृङ्गार के समान, सभी सहृदयों के मन में विद्यमान मधुर रस की महिमा से समन्वित हुए मनोभाव के समान नवाब आसफशाह शाहजहाँ के समस्त सामन्तों व सम्बन्धियों में सर्वश्रेष्ठ थे।[४]

१-२. अथ सकललोकनिस्तारविस्तारितमहोपकारपरम्परापराधीनमानसेन प्रतिदिनमुद्यदनवद्यहृद्य-गद्यपद्याद्यनेकविद्याविद्योतितान्तःकरणैः कविभिरुपास्यमानेन कृतयुगीकृतकलिकालेन कुमतितृणजालसमाच्छादित वेदवनमार्गविलोकनाय समुद्दीपितसत्तर्कदहनज्वालाजालेन मूर्तिमतेव नवाबासफखानमनःप्रसादेन। (आसफविलास, अन्तिम गद्यांश)

३. विलसितहिमशैलशृङ्गस्खलत्तुङ्गगङ्गातरङ्गाभिरामत्विषा शरदभ्रालिविभ्राजिशुभ्रांशुवरकिरणकान्ति-द्विषा चतुरुदधिपारश्लिषा यशःसुधापटलेन परिपाण्डरितजगदण्डमण्डलः।

तत्रैव, चतुर्थ गद्यांश।

४. आसफविलास, चतुर्थ गद्यांश।

अभिव्यक्तिसौष्ठव

'आसफविलास' के वर्ण्य विषय के विवेचन के अनन्तर इसका अभिव्यक्ति पक्ष भी विश्लेषणीय है। प्रशस्ति काव्य होने के कारण इसका प्रणयन भी प्रशस्ति की प्रचलित परिपाटी के अनुसार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि लोकलुभावन मनोरम अलंकारों का आश्रय लेकर सुचारु रूप में हुआ है। वर्णनीय भावों की अभिव्यक्ति में कवि की कल्पनाएँ चित्ताकर्षक रूप में सामने आई हैं। वर्णन नितान्त मनोरम है। यद्यपि इस आख्यायिका का मात्र सवा पृष्ठ का अत्यन्त संक्षिप्त अंश उपलब्ध है; तथापि उपलब्धांश ही कवि की विशिष्ट वर्णनकुशलता, विलक्षण कल्पनाचातुरी, ललित अलङ्कृतियोजना, सुसज्जित पदविन्यास, असाधारण भाषाप्रवाह, विशिष्ट शब्दविन्यासक्षमता एवं प्रकृष्ट पाण्डित्य का द्योतक व प्रमापक है। वर्णनीय विषयों के चित्रण में कवि की प्रतिभा श्लाघनीय है। उदाहरणार्थ पुष्पाच्छादित धरित्री, मंडराते भँवरों की गुञ्जार, नानाविध वृक्ष पंक्तियों एवं परिपूर्ण जलसम्पदा से समन्वित त्रैलोक्यलक्ष्मी के लावण्य स्वरूप निशात उपवन, वहाँ प्रविष्ट होती हुई अप्रतिम सौन्दर्यराशि की स्वामिनी सुन्दरियों, उनकी विविध भाव-भङ्गिमाओं का वर्णन कवि की शब्दावली में दर्शनीय है। भाषा जितनी आकर्षक है, वर्णन भी उतना ही मनोरम। कविप्रयुक्त उपमाएँ व उत्प्रेक्षाएँ इसे और भी चित्ताकर्षक बना रही हैं।

'कदाचित् कुतुकाकुलतया विविधसुमनःसमूहसुषमासमास्तरणसंभावित विश्वंभरावलयमुपरिमिलदलिपुञ्जमञ्जुलगुञ्जितैर्बन्दिवृन्दवदनविनिर्गतविबुधविटपि-विजयविरुदावलीभिरिवानतकन्धरैरसंख्यैरवनीरुहैः कठिनकरकरनिकरसंत्रासतः शरणागतैरिव तिमिरकुटुम्बैरम्बुनिकुरम्बैरापूरिताभिर्वापीभिश्च मनोहरमेकीकृतमिव त्रैलोक्यलक्ष्मीलावण्यं निशातोपवनं प्रविशद्भिर्वाङ्मनसवर्त्मातिवर्तिपुञ्जीकृत-सकलकुसुमसौकुमार्यसारमयैरवयवैः स्वयमनङ्गेनेव निर्मिताभिः भृशं नयननिपात-स्थानीभवदङ्गीभिस्तनुतरतनुच्छायादन्तुरितवनान्तराभिर्निकषशिलातलोल्लि-खिताभिरिव काञ्चनरेखाभिः निबिडतरनीलपयोदभ्रमेणागताभिरिव सौदामिनीभि-र्दरविकसितरदनमणिकिरणसरणिसमाप्यायितचकोरीभिरङ्गनाभिरनङ्गः समुल्लास-याम्बभूवे'।

यहाँ पुष्पभार से आच्छादित वृक्षों पर भँवरों के गुञ्जार में इन वृक्षों द्वारा देववृक्ष कल्पतरु को मानों जीत लेने के कारण बन्दीजनों द्वारा की जाने वाली विजयविरुदावलि की उत्प्रेक्षा, सघन वृक्षों के झुरमुट में फैले हुए अन्धकार के विषय में यह कल्पना कि मानों सूर्य की कठोर किरणों के संत्रास से अन्धकार

समूह ने वहाँ शरण ले रखी है, वहाँ प्रविष्ट सुन्दरियों की मानों समस्त पुष्पों की सुकुमारता के सार से निर्मित अवयवों वाली, मानों कामदेव के द्वारा स्वयं निर्मित सौन्दर्य राशि वाली, क्षीण शरीरयष्टि से वनपंक्तियों को निम्नोन्नत बना देने वाली, मानों कसौटी पर खींची गई स्वर्णरेखारूपिणी, मानों घनीभूत बादलों के भ्रम से इकट्ठा हुई बिजलियों, किंचित् विकसित दन्तपंक्तियों से निस्सृत किरणावलियों से मानों चकोरियों को तृप्त कर देने वाली रमणियों के रूप में कल्पना निस्सन्देह चारुताभिधायी है।

इसी प्रकार निरन्तर परोपकार में तत्पर रहने वाले, सच्छास्त्रों के प्रवर्धन में सहयोग देने वाले आसफ खाँ का वर्णन भी कविकृत वर्णनचातुरी का प्रतीक है

अथ सकललोकनिस्तारविस्तारितमहोपकारपरम्परापराधीनमानसेन प्रतिदिन-मुद्यदनवद्यहृद्यगद्यपद्याद्यनेकविद्याविद्योतितान्त:करणैः कविभिरुपास्यमानेन कृतयुगी-कृतकलिकालेन कुमतितृणजालसमाच्छादितवेदवनमार्गविलोकनाय समुद्दीपित-सत्तर्कदहनज्वालाजालेन मूर्तिमतेव नवाबासफखानमन:प्रसादेन[१]।

'आसफविलास' का यह संक्षिप्तांश अलंकार प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास, व्यतिरेक आदि अलङ्कारों का इसमें सुन्दर प्रयोग हुआ है। सानुप्रासिक पदशय्या इस अलङ्कृति चारुत्व का सुतरां वर्धन करती दृष्टिगोचर होती है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं। कश्मीर प्रदेश का वर्णन ही लें। ऊँची-नीची, आरम्भ में श्रमसाध्य होने के कारण क्लेशप्रचुर व बाद में अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन कराने के कारण सुख प्रदान करने वाली कश्मीर प्रदेश की पगडण्डियों की ऊँचे-नीचे आरोह-अवरोह वाली स्वरों की आवृत्ति तथा प्रारम्भ में कर्मकाण्ड बहुल होने के कारण क्लेशकारिणी; किन्तु अन्त में ब्रह्मसुख प्राप्त कराने के कारण सुखदायी वेदोक्त परिपाटी से दी गई उपमा नितान्त सुन्दर है।

'विषमतरारोहावरोहाभिः स्वरावृत्तिभिरिव क्लेशप्रचुरपरिणामसुखाभिर्वैदिक-कर्मसरणिभिरिव पद्धतिभिः....'।[२]

इसी प्रकार फलबोझ से झुकी हुई शाखाओं वाले वृक्षों की अतिथि अभ्यर्थना में नम्र हुए गृहस्थों से उपमा दी गई है, जो नितान्त सुन्दर है—

'परिणतरसभारतुन्दिलानां फलानां प्रकरेणोपनम्रशाखाशतैरातिथेयैरिव गृहस्थैरसंख्यैः शाखिभिः शोभिता'[३]।

१. आसफविलास, अन्तिम गद्यांश
२. तत्रैव, द्वितीय गद्यांश; ३. तत्रैव, तृतीय गद्यांश।

आसफ खाँ के माहात्म्यगान के प्रसङ्ग का निम्नोद्धृत वर्णनांश तो रशनोपमा अलङ्कार का चारुतम निदर्शन है। शाहजहाँ के समस्त सम्बन्धियों में आसफ खाँ का वैशिष्ट्य वैसा ही था, जैसे वाङ्मय में काव्यकलाप, काव्यकलाप में ध्वनि, ध्वनियों में रस, रसों में शृङ्गार—

'सार्वभौमसंबन्धिषु सकलेषु सामन्तेषु वाङ्मयेष्विव काव्यकलापः काव्यकलापेष्विव ध्वनिः ध्वनिष्विव रसो रसेष्विव शृङ्गारः सकलसहृदयहृदयङ्गमेन महिम्ना मधुरिम्णा च सम्भावितः सकलशास्त्रसारावगाही नवाबासफजाही'।[१]

श्लेषमूलक विरोधाभास का निम्नोद्धृत स्थल भी कवि के अलङ्कारचातुर्य का सुन्दर निदर्शन है—

'क्रतुरिव मधुरिव सकलसुमनःप्रसादनोऽपि हिमांशुरिव सकलासुमनः-प्रसादनः समरार्चितोऽप्यमरार्चितः'।[२]

जैसे समस्त सुमनों देवताओं व पुष्पों को क्रमशः यज्ञ व वसन्त ऋतु प्रिय होती है, उसी प्रकार वे सकल सुमनों, समस्त विद्वानों के लिए आनन्ददायक होते हुए भी चन्द्रमा के समान सकलासुमनःप्रसादनः समस्त अविद्वानों के मन को प्रसन्न करने वाले, सकलासु कलापूर्ण रात्रियों में मन प्रसन्न करने वाले थे, समरार्चित अर्थात् युद्धभूमि में अर्चित होने पर भी अमरार्चित अर्थात् देवताओं से पूजित थे।

इसी प्रकार रूपक अलङ्कार का निम्नलिखित प्रयोग दर्शनीय है, जहाँ विद्वानों को उनके उदार आश्रय के प्रसंग में वर्णन है कि वे निरन्तर विद्वान् रूपी वृक्ष से वैर करने वाले, दारिद्र्य रूपी मतवाले हाथी के उद्दाम दर्प समूह का नाश करने में विकट सिंह के स्वरूप थे—

'अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननो'।[३]

इसी भाँति व्यतिरेक का सुन्दर प्रयोग विलास के प्रथम श्लोक में द्रष्टव्य हैं, जहाँ शाहजहाँ की सेना की रणदुन्दुभि सुनकर श्रेष्ठ सिंहों का नींद टूट कर जाग जाना व भयवश गुफाओं से गिर पड़ना वर्णित किया गया है।[४]

अलंकार प्रयोग के ऐसे अन्यान्य स्थल काव्य में अन्यत्र द्रष्टव्य है।

---

१. आसफविलास चतुर्थ गद्यांश।

२. तत्रैव, चतुर्थ गद्यांश।

३. तत्रैव, चतुर्थ गद्यांश;

४. तत्रैव, प्रथम श्लोक।

अलङ्कृति विन्यास के अतिरिक्त भाषा प्रयोग की दृष्टि से भी आसफविलास का उत्कर्ष स्वत: सिद्ध है। काव्य का वर्ण्यविषय राजवैभव तथा प्रकृति की रमणीयता के चित्रण से सम्बन्धित है। फलत: चित्रण में सजीवता और प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए दीर्घ समास तथा अलङ्कार मण्डित पदावली का प्रयोग किया गया है; किन्तु वर्ण्यविषयानुरूप एकाध स्थल पर कवि के हार्दिक भावों की अभिव्यक्ति के समय छोटे वाक्यों तथा समासों वाली पदावली का भी प्रयोग हुआ है। इन दोनों ही रूपों में भाषा में पर्याप्त प्रवाह है। वाक्य के दीर्घ व समास बहुल होने पर भी उसे पढ़ते समय वर्ण सहज ही उच्चरित होते जाते हैं और जिह्वा बिना किसी अवरोध के आगे बढ़ती जाती है तथा वाक्य समाप्ति पर ही रुकती है। यह कवि की सुगठित शब्द-सम्पदा तथा वाक्ययोजना का ही परिणाम है।

भाषा-प्रवाह का एक प्रमुख कारण है इसका स्वाभाविक रूप से सानुप्रासिक होना, जिससे वर्णन और भी अधिक प्रभावी हो उठा है। निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'अस्ति समस्तप्रशस्तभूपालमस्तकमणिमयूखमालालालितचरणनखरशरदिन्दुचन्द्रिकाचयचमत्कारचुलुकितचराचरान्तरतिमिरधोरणि: सपुलकसुरासुन्दरीसुमुद्गीयमानस्फारपारदपरम्परासहोदरयश:सुधापटलसङ्गवामाङ्गितवामाङ्गीकवामदेवकलेवर:प्रतिभटीकृतलोकालोकावनिधरो महस्तरुणतरणिकिरणसरणिसमुल्लासितजगदण्डमण्डलपुण्डरीक: साहिजहानाभिधश्चक्रवर्ती'।[१]

यहाँ समस्त-प्रशस्त, मणि-मयूख, माला-लालित, चन्द्रिका-चय, चमत्कार-चुलुकित, चरा-चरान्तर, सुरासुन्दरी-समुद्गीयमान, वामाङ्गित-वामाङ्गीक-वामदेव, तरुण-तरणि, किरण-सरणि, जगदण्डमण्डल-पुण्डरीक में पदों की सानुप्रासिक वर्णयोजना द्रष्टव्य है। यह स्वत: स्पष्ट है कि लगभग एक गद्यांश के इस लम्बे वाक्य की भाषा में पर्याप्त प्रवाह है, जिसके कारण बिना किसी अवरोध के वर्ण आरम्भ से अन्त तक अनायास उच्चरित होते जाते हैं।

प्रवाह व आनुप्रासिकता के अतिरिक्त भाषा में ध्वन्यात्मक क्षमता भी विद्यमान है। इसके कारण वर्ण स्वयं ध्वनित होकर अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं—

'चण्डीशकरताण्डवितचण्डदण्डाहतिखण्डीकृतकोटिकोटीरकोटिभिर्धरणितलधूलिधवलीभवदष्टाङ्गाभिरामै:.......'।[२]

---

१. आसफविलास, चतुर्थ गद्यांश; २. तत्रैव, षष्ठ गद्यांश।

यहाँ वर्णध्वन्यात्मकता से शंकर का ताण्डव स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है।

शब्दार्थ का समान गुम्फन होने के कारण अर्थात् वर्ण्यभाव के अनुरूप शब्दप्रयोग होने से काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इस काव्य की शैली अलङ्कृत पाञ्चाली सिद्ध होती है। प्रथम तीन श्लोकों में गौड़ी रीति प्रयुक्त हैं।

माधुर्य, ओज व प्रसाद इन त्रिविध गुणों के सौन्दर्य से समन्वित इस काव्य का वर्ण्यविषय राजप्रशस्ति होने के कारण यह राजविषयक रति रूप भाव का उदाहरण है। छन्दोविधान की दृष्टि से इसके प्रथम चार श्लोकों में से प्रथम दो में स्रग्धरा, तीसरे में शार्दूलविक्रीडित व चौथे में आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है।

'आसफविलास' के इस अति संक्षिप्त उपलब्धांश का समीक्षण इस निष्कर्ष के प्रति प्रेरित करता है कि पण्डितराज पद्यरचना के समान गद्यप्रणयन में भी विशिष्ट सामर्थ्यशाली हैं। वर्णनीय विषयों का सुरम्य चित्रण, मनोरम अलङ्कृति योजना, भाषा का असाधारण प्रवाह व आनुप्रासिकता, कल्पनाओं की चारुता सभी दृष्टियों से उनकी सुन्दर, सक्षम, चमत्कृतिविधायिनी गद्य काव्यकारिणी प्रतिभा के दर्शन इस काव्य में होते है। बाणभट्ट के लिए तो किसी ने यह भी कह दिया कि—

'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः' परन्तु पण्डितराज के लिए ऐसा कहने का दुस्साहस शायद ही कोई कर सके। यदि यह काव्य पूर्णरूप में उपलब्ध होता तो निश्चय ही संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास में सुबन्धु, दण्डी व बाण की सरणि में पण्डितराज जगन्नाथ का नाम अमर व अक्षय कीर्ति का परिचायक होता।

पञ्चम अध्याय (खण्ड-क)

मुक्तक रचनाएँ

प्रबन्ध के पूर्वापर क्रम की अपेक्षा के बिना ही स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थप्रकाशन में पूर्ण समर्थ होकर सहृदयों को आह्लादानुभूति कराने वाले मुक्तक सदा से सहृदय-जगत् का हृदयहार रहे हैं। रह-रहकर झिलमिलाने वाली नन्हीं-सी हीरक कणिका के समान क्षणभर में अपनी रसमय भावोर्मियों से सहृदयों की मनोबुद्धि को चमत्कृत कर उन्हें रसविभोर कर देने वाले इन मुक्तकों का प्रभाव निश्चित ही अधिक सूक्ष्म, रसोद्बोधक एवं अनुरंजक रहा है। यह सत्य है कि प्रबन्ध या खण्डकाव्य में कथानक-वशीकरण होता है, जिसकी वेगवती एवं क्रमशः प्रवहमान रसधारा में भूला हुआ पाठक रसमग्न हो जाता है; तथापि अपने रमणीय गुम्फन, चमत्कृतिप्रधान भाव-सम्पदा तथा रसमय अभिसिंचन से हृदयकलिका को खिला देने वाले मुक्तक भी कुछ कम सम्मोहनकारी नहीं हुआ करते। अपने इसी मोहक प्रभाव के कारण वे सदा से कवियों व श्रोताओं के मनःकर्षण का कारण रहे हैं। सुप्रसिद्ध हिन्दी गद्यलेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'मुक्तक चुने हुए गुलदस्तों के समान हैं, जो सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त हुआ करते हैं, जिनमें कवि मनोरम वस्तुओं, व्यापारों, रमणीय खण्डदृश्यों या भावों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके उसे अत्यन्त संक्षिप्त व सशक्त भाषा में प्रस्तुत करता है'। वस्तुतः देखा जाय तो जिस कवि में कल्पना की समाहारशक्ति के साथ भाषा की समासशक्ति जितनी तीव्र होती है; वह मुक्तकरचना में उतना ही सफल होता है। पण्डितराज को इस काव्यविधा में भी प्रावीण्य प्राप्त है। उनकी मुक्तक रचनाएँ तीन रूपों में प्राप्त होती हैं— १. भामिनीविलास, २. अवशिष्ट अन्योक्तियाँ एवं ३. रसगङ्गाधर के उदाहरण श्लोक।

भामिनीविलास

'भामिनीविलास' पण्डितराज के ऐसे श्लोकों का संकलन है, जिसमें संगृहीत पद्य एक-दूसरे से निरपेक्ष रहकर स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ का प्रकाशन

करने एवं सहृदयों को रसचर्वणा कराने में समर्थ हैं। अत: स्वरूपविधान की दृष्टि से यह रचना पण्डितराज के मुक्तक श्लोकों का संकलन है।

कोशग्रन्थों के अनुसार 'भामिनी' का अर्थ 'सुन्दर तरुणी' या 'कामिनी' है।[१] 'अमरकोश' में इसका अर्थ 'कोप करने वाली स्त्री' से लिया गया है— 'कोपना सैव भामिनी'।[२] 'विलास'—'क्रीड़ा या केलि' अथवा 'स्त्रियों की शृङ्गारभाव से उत्पन्न होने वाली चेष्टाविशेष' को कहते हैं।[३] साहित्यदर्पण के अनुसार 'चलने, खड़े होने, बैठने आदि की तथा मुख-नेत्र आदि के व्यापारों की विशिष्टता को विलास कहते हैं, जो अभीष्ट के दर्शन आदि द्वारा उत्पन्न होती हैं।'[४] अत: इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ निष्पन्न होता है— 'भामिन्या: विलासा: यस्मिन् स ग्रन्थ: भामिनीविलास:' अर्थात् भामिनी के विलास जिस ग्रन्थ में वर्णित हों, वह 'भामिनीविलास' है। परन्तु सम्पूर्ण भामिनीविलास को दृष्टि में रखने पर यह नाम समीचीन नहीं प्रतीत होता। कारण, प्रथम व चतुर्थ विलासों का भामिनी के विलासों से कोई सम्बन्ध ही नहीं। इसके अतिरिक्त इस संग्रह को यह नाम दिये जाने के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न धारणाएँ भी प्रचलित हैं। अत: नामकरण की व्युत्पत्त्यात्मक असंगति एवं इन प्रचलित धारणाओं को देखते हुए इन मान्यताओं की समीक्षा एवं इस तथ्य का विवेचन आवश्यक है कि पण्डितराज ने मुक्तक श्लोकों के इस संग्रह को 'भामिनीविलास' नाम क्यों दिया?

मान्यताएँ और उनकी समीक्षा

पण्डितराज द्वारा इस संग्रह को 'भामिनीविलास' नाम दिये जाने के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं को चार भागों में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. भामिनीविलास के तृतीय विभाग 'करुणविलास' में चित्रित वर्णन के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि पण्डितराज की पूर्वपत्नी का नाम 'भामिनी' था। उनका कहना है कि पत्नी भामिनी की मृत्यु होने के अनन्तर समग्र तृतीय विलास उसके शोक में कवि की मनोव्यथा का परिचायक है,

---

१. संस्कृतहिन्दीकोश, आप्टे, पृ.७३६।

२. अमरकोश २/६/४।

३. संस्कृतहिन्दीकोश, आप्टे पृ.९५१।

४. यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलास: स्यादिष्टसन्दर्शनादिना।। साहित्यदर्पण, ३/९९

जिसके नाम पर पण्डितराज ने इस ग्रन्थ का नामकरण 'भामिनीविलास' के रूप में किया[१]।

२. द्वितीय वर्ग में एस.एम. परांजपे का मत आता है, जिनकी धारणा है कि कवि ने 'भामिनीविलास' के द्वितीय विभाग 'शृङ्गारविलास' में प्रिया पत्नी के साथ की गई अपनी विविध शृङ्गारिक क्रीड़ाओं का वर्णन किया है और भामिनी की मृत्यु होने के अनन्तर उसके शोक में व्यथित होकर 'करुणविलास' के श्लोकों की रचना की[२]।

३. तीसरे वर्ग में श्री हरदत्त शर्मा एवं राधेश्याम मिश्र की मान्यताएँ आती हैं। इन विद्वानों ने 'करुणविलास' को कवि का व्यक्तिगत शोकानुभव बताये जाने की प्रचलित धारणा के विषय में नकारात्मक रुख अपनाया है। इनमें डॉ. हरदत्त शर्मा का कहना है कि यदि यह मान लिया जाये कि प्रत्येक सुन्दर भावनात्मक चित्रण कवि के व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्धित हैं, तो हमें बहुत सी असम्भव बातें सत्य माननी पड़ेगीं। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कालिदास द्वारा दुष्यन्त के स्वर्ग से पृथ्वी की ओर लौटते समय के अति सजीव चित्रण[३] को पढ़कर यह कल्पना करनी पड़ेगी कि कालिदास अवश्य किसी वायुयान से उड़े होंगें। अत: उनकी धारणा है कि 'करुणविलास' पण्डितराज द्वारा स्वपत्नी की मृत्यु पर रचित शोकोद्गार न होकर, शुद्ध काव्यात्मक कृति है।[४]

इसी तरह के विचार पं. राधेश्याम मिश्र के भी हैं, जिनकी मान्यता है कि यह कोई आवश्यक नहीं हैं, कि कवि सारी रचनाएँ अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर लिखे। उन्होंने पण्डितराज द्वारा इस ग्रन्थ को अपने मुक्तक् पद्यों का संग्रह बताने की उद्घोषणा[५] एवं रसगङ्गाधर में उद्धृत 'करुणविलास' के श्लोक 'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषया: प्रयाता:'[६] पर उनके द्वारा की गई

---

१. हिन्दी रसगङ्गाधर, चतुर्वेदी, भूमिका पृ.त्र-अ; प्रास्ता.वि., जनार्दन शास्त्री, भू.पृ. २२; भामि.वि., प्रो. तारानाथ, भू., भामि.वि., दादपे एवं आप्टे, भू.पृ. २,१४, पंडित जगन्नाथ राय यांचे चरित्र आणि संगीत गङ्गालहरी, पृ.३ एवं ६।

२. जगन्नाथपण्डित, रामास्वामी शास्त्री, पृ.६४-६५।

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अङ्क, श्लोक ७ एवं ८।

४. भामि.वि., हरदत्त शर्मा, परिशिष्ट, पृ.१४।

५. दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा कृता मया।। शान्त वि., श्लो.३३

६. करुण वि., श्लो.३।

काव्यशास्त्रीय व्याख्या[१] के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ये श्लोक पण्डितराज द्वारा स्वर्गवासिनी पत्नी के विषय में लिखी गई रचनाएँ नहीं हैं, अपितु इन सभी पद्यों की रचना रसगङ्गाधर के उदाहरणों को प्रस्तुत करने के लिए की गई थी।[२]

४. चौथे वर्ग में एल.आर.वैद्य द्वारा कल्पित वह सम्भावना रखी जा सकती है, जिसमें यह अनुमान किया गया है कि इस ग्रन्थ का संकलन पण्डितराज द्वारा न होकर उनके बाद किसी अन्य के द्वारा हुआ होगा।[३]

इन धारणाओं के विषय में विचार करने पर इनमें आगत तथ्य निम्नलिखित तर्कों के आधार पर असंगत लगते हैं—

१. सम्पूर्ण 'भामिनीविलास' में केवल छह पद्य भामिनी को सम्बोधित कर अथवा उसके विषय में शब्दत: उल्लेख कर कहे गये हैं।[४] इन पद्यों के आधार पर इस बात को निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पण्डितराज की पत्नी का नाम 'भामिनी' था। कारण, 'भामिनी' शब्द स्त्रीमात्र का बोधक है और इन श्लोकों में आने पर उससे किसी नाम का बोध न होकर 'प्रियतमा' या 'कुपित प्रियतमा' ये दो अर्थ ही ध्वनित होते हैं। अत: 'भामिनी' को उनकी प्रिया का नाम न कहकर उनके द्वारा प्रियतमा या तरुणी सम्बोधन के लिए प्रयोग किया गया शब्द कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि श्लोकों में आगत किसी सामान्य विशेषण शब्द को उनकी प्रिया का नाम देने की इस भावना के चलते श्री मधुसूदन शास्त्री ने 'करुणविलास' के एक श्लोक की पंक्ति 'कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति'[५] में आगत 'दयिता' के लिए प्रयुक्त 'कामेश्वरी' विशेषण के आधार पर उनकी पत्नी का नाम 'कामेश्वरी' बतला दिया है,[६] किन्तु वहाँ भी 'कामेश्वरी' शब्द नाम का बोधक न होकर 'समस्त अभिलाषाओं को पूरा करने वाली' के अर्थ में आया है। अत: 'भामिनी' या 'कामेश्वरी' शब्द को उनकी प्रिया का नाम न

१. 'गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अन्यस्य वा कस्यचिददति-प्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्ति:।' रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ.३७६

२. भामि.वि., भूमिका, पृ.८-९।

३. भामि.वि., एल.आर. वैद्य, भूमिका, पृ.१८।

४. शृङ्गार वि., श्लो. १, १६, २२, ७२; करुण वि., श्लो.४, १७।

५. करुण वि., श्लो.१२।

६. रसगङ्गाधर, टी.मधुसूदन शास्त्री, प्र.आ. भूमिका, पृ.१६०।

कहकर, प्रियतमा सम्बोधन व उसके लिए प्रयुक्त किया गया विशेषण कहना अधिक उचित प्रतीत होता है।

२. डॉ. परांजपे की यह धारणा तो उचित है कि 'करुणविलास' पण्डितराज द्वारा प्रियतमा के शोक में रचित श्लोकों का संग्रह है, लेकिन उनका यह कहना काल्पनिक लगता है कि कवि ने अपनी प्रिया के साथ किये गये प्रणय व्यापारों को इसके द्वितीय विभाग 'शृङ्गारविलास' के अन्तर्गत चित्रित किया है। कारण, 'शृङ्गारविलास' के अधिकांश श्लोक कवि के स्वानुभव न होकर रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्य हैं और उनकी रचना भी रसगङ्गाधर के विविध काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर घटने वाले उदाहरण के रूप में की गई है, स्वानुभूति से नहीं। यह बात इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि इन श्लोकों में वह भावप्रवणता नहीं, जो उदाहरणबाध्यता से रहित अन्य शृङ्गारिक कवियों के श्लोकों में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यह तर्कसंगत और उचित भी नहीं प्रतीत होता कि कवि अपने शृङ्गारिक क्षणों की अभिव्यक्ति को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करे।

३. श्री हरदत्त शर्मा एवं राधेश्याम मिश्र की 'करुणविलास' को उनकी पत्नी की मृत्यु पर रचित शोक-श्लोकों का संग्रह न मानने की धारणा भी हठवादितापूर्ण है। इस विलास के श्लोक संख्या ५, ६ और १० से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यह रचना उनके जीवन में प्राप्त प्रियाशोक के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिखी गई है। यदि श्लोक संख्या ५ व १० को किसी सामान्य प्रेमी द्वारा व्यक्त शोकोद्गार मान भी लें, तो भी छठा श्लोक, जिसमें उन्होंने स्वप्रिया की तुलना अपनी निर्दोष, गुणवती, रसभाव एवं अलङ्कारयुक्त श्रवणसुखद कविता से की है, यह सिद्ध करने में पूर्ण पर्याप्त है कि इसकी रचना प्रियाशोक होने पर हुई। जहाँ तक पण्डितराज द्वारा इस ग्रन्थ को मुक्तक पद्यों का संग्रह कहे जाने व 'करुणविलास' के एक श्लोक की काव्यशास्त्रीय व्याख्या का प्रश्न है, तो यह तर्क भी उचित नहीं। कारण, व्यक्तिगत अनुभव से रची गई रचनाएँ भी काव्य ही हैं। अन्य रचनाओं की भाँति उनका संकलन भी पद्यसंग्रह में किया जा सकता है। अत: केवल इस आधार पर यह कहना उचित नहीं लगता कि ये रचनाएँ पण्डितराज के व्यक्तिगत शोक से सम्बन्ध नहीं रखती हैं।

इसी प्रकार 'करुणविलास' के श्लोक पर की गई काव्यशास्त्रीय व्याख्या के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि पण्डितराज 'एक पन्थ से दो काज' निकालने में माहिर थे। यह कौशल उनकी अधिकांश रचनाओं में दिखाई पड़ता

है। जैसे समान श्लोकों वाले काव्य के शीर्षक व नामोपाधियों में अन्तर करके उन्होंने 'प्राणाभरण', 'जगदाभरण' की रचना तथा 'दिल्लीवल्लभ' की प्रशस्ति ये तीन काम किए। इसके अतिरिक्त 'भामिनीविलास' में भी रसगङ्गाधर के अधिकांश उदाहरणों का संग्रह है। 'चित्रमीमांसाखण्डन' की रचना भी रसगङ्गाधर में की गई अप्पय की आलोचनाओं का संकलन करके हुई। अत: उनके लिए व्यक्तिगत शोक से उद्वेलित होकर लिखी गई इस रचना की कुछ दूसरे ढंग से व्याख्या कर काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के उदाहरण रूप में प्रयुक्त करने की बात कोई नई नहीं है।

४. 'भामिनीविलास' में एक श्लोक हैं, जिसमें पण्डितराज ने इस ग्रन्थ को दुष्ट लोगों द्वारा अपने पद्यों को चुरा लिये जाने के डर से रचित मंजूषा कहा है।[१] अत: इस आधार पर एल.आर. वैद्य द्वारा कल्पित वह सम्भावना भी खण्डित हो जाती है, जिसमें उन्होंने इस ग्रन्थ का संकलन पण्डितराज द्वारा न कर किसी अन्य पश्चाद्वर्ती विद्वान् द्वारा होने की बात कही है।

निष्कर्ष

इन सभी धारणाओं के उपर्युक्त असंगत अंशों को निकाल देने के पश्चात् जो सामान्य तथ्य सम्मुख आता है, वह यह है कि 'करुणविलास' पण्डितराज द्वारा प्रियापत्नी के वियोग में रचित शोकोद्गार है और इस प्रिया को चिरस्मरणीय बनाने के लिए उन्होंने 'भामिनीविलास' के नाम से इस विलास का नामकरण किया। यह धारणा 'करुणविलास' के श्लोक संख्या ५, ६ व १० के आधार पर सत्य भी सिद्ध होती है, जिसमें उन्होंने विवाह के समय अपनी पत्नी के साथ की गई वैदिक परिणयविधि का उल्लेख किया है, उसे अपने काव्य का प्रेरणास्रोत कहा है तथा उसकी तुलना अपनी समस्त गुणों से पूर्ण कविता से की है। अत: यह सिद्ध होता है कि 'करुणविलास' पण्डितराज की प्रिया के वियोग में रचित शोकोद्गार है और इस प्रिया को चिरस्मरणीय बनाने के लिए ही उन्होंने इस संग्रह का नाम 'भामिनीविलास' शीर्षक से किया।

भामिनीविलास का रचनाकाल

'भामिनीविलास' के रचनाकाल के सम्बन्ध में भी मुख्यत: दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं—१. नागेशभट्ट की धारणा और २. एस.एम. परांजपे की मान्यता।

---

१. शान्त वि., श्लो.३३।

१. नागेशभट्ट की धारणा

आचार्य नागेशभट्ट ने रसगङ्गाधर के श्लोक 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।'[१] में प्रयुक्त 'काव्यम्' की 'तत्तदलंकारादिलक्ष्यत्वयोग्यं काव्यं भामिनीविलासाख्यम्'[२] के रूप में व्याख्या की है। इस व्याख्या से यह ज्ञात होता है कि नागेशभट्ट की धारणा थी कि पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के निर्माण से पूर्व ही उसके लिए तैयार उदाहरणों के उद्देश्य से भामिनीविलास की रचना कर ली थी।

२. परांजपे की मान्यता

नागेशभट्ट के मत के विरुद्ध एस.एम. परांजपे की कुछ दूसरी ही धारणा है। उनका कहना है कि 'भामिनीविलास' के चारों विभागों में बहुत से श्लोक ऐसे हैं, जो रसगङ्गाधर में उदाहरण पद्य के रूप में नहीं आए हैं, लेकिन उनकी रचना रसगङ्गाधर की रचना से बहुत पहले हो गई प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त रसगङ्गाधर में उदाहरण रूप में आये 'करुणविलास' के तीन श्लोकों को छोड़कर शेष अन्य श्लोक उनके द्वारा अपनी भामिनी की मृत्यु पर रचित शोकोद्गार प्रतीत होते हैं, रसगङ्गाधर के लिए तैयार उदाहरणश्लोक नहीं। इसी प्रकार 'शृङ्गारविलास' के श्लोकों की रचना भी कवि ने 'करुणविलास' की रचना से बहुत पहले अपनी प्रिया के साथ की गई प्रणय क्रीड़ाओं के चित्राङ्कन के लिए कर ली थी। अत: निष्कर्ष रूप में उनकी मान्यता है कि कवि ने उपर्युक्त सभी श्लोकों एवं 'रसगङ्गाधर' की रचना करते समय रचित श्लोकों तथा अपने अन्य स्फुट श्लोकों का संकलन 'भामिनीविलास' शीर्षक के अन्तर्गत किया।[३]

समीक्षा

'भामिनीविलास' के रचनाकाल से सम्बन्धित इन दोनों मान्यताओं की विवेचना करने पर ये उचित नहीं प्रतीत होतीं। कारण, किसी समीक्षा को प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी आवश्यकता के अनुरूप पहले से ही उदाहरण श्लोक तैयार करने की बात बेतुकी है। इसके अतिरिक्त 'भामिनीविलास' में एक ऐसा श्लोक प्राप्त होता है, जिसमें कवि ने दिल्लीश्वर की राज्याश्रय प्राप्ति के पश्चात् समस्त वासनाओं का परित्याग कर सम्प्रति अपने मथुरा में निवास करने की बात कही

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो.६।

२. तत्रैव, टी.मधुसूदन शास्त्री, पृ.१०।

३. जगन्नाथ पण्डित, रामास्वामी शास्त्री, पृ.६४-६५।

है।[१] दिल्लीश्वर शाहजहाँ का आश्रय कवि ने उनके औरंगजेब द्वारा कैद कर लिए जाने के बाद (सन् १६५८ई.) में ही छोड़ा।[२] अत: उनका यह श्लोक, उनके रचनाकाल को देखते हुए (सन् १६२२-७०ई.) उनके जीवन एवं साहित्यिक गतिविधियों के अन्तिम कुछ वर्षों की रचना सिद्ध होता है।[३] यह श्लोक 'भामिनीविलास' में संकलित है। इस आधार पर 'भामिनीविलास' का संकलन भी उनके रचनाकाल के अंतिम वर्षों में होना सिद्ध होता है, 'रसगङ्गाधर' के लिये उदाहरण तैयार करने के उद्देश्य से पहले नहीं। फलत: नागेशभट्ट की यह धारणा खण्डित हो जाती है कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना 'रसगङ्गाधर' के लिये उदाहरणश्लोक तैयार करने के उद्देश्य से की थी।

नागेशभट्ट की मान्यता के समान परांजपे की मान्यता भी उचित नहीं। कारण, कोई कवि समस्त रचनाएँ अपने व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित होकर नहीं रचता और फिर पण्डितराज जैसे कवि व आचार्य के विषय में जो ललकार कर यह कहे कि इस ग्रन्थ में सारे उदाहरण उसने स्वयं निर्मित करके प्रस्तुत किए हैं,[४] यह बात कैसे कही जा सकती है कि उन्होंने शृङ्गार, करुण, वीभत्स, भयानक, रौद्र आदि समस्त रसों को अभिव्यक्त करने वाली रचनाएँ अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर लिखीं? 'करुणविलास' के श्लोकों से इस बात के सम्बल प्राप्त होते हैं, अत: उसे उनके व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्धित माना जा सकता है, लेकिन बिना किसी प्रमाण के 'शृङ्गारविलास' के श्लोकों को उनके शृङ्गारिक जीवन की अभिव्यक्ति मानना बेतुका है। दूसरे, 'शृङ्गारविलास' के अधिकांश श्लोक विविध काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की आवश्यकतानुसार रचित रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्य हैं। उनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों की कल्पना करना निरर्थक है।

निष्कर्ष

इस समीक्षण के उपरान्त 'भामिनीविलास' के रचनाकाल से सम्बन्धित उपर्युक्त दोनों मान्यताएँ असंगत सिद्ध हो जाती हैं। इस ग्रन्थ के संग्रहकाल के विषय में यही तथ्य उचित व तर्कसंगत प्रतीत होता है कि 'रसगङ्गाधर' की रचना करते समय विषय की आवश्यकता के अनुरूप कवि के मन में जैसे विचार उठे, वैसे उदाहरण श्लोकों की उन्होंने रचना की तथा बाद में दुर्जनों द्वारा चुराए जाने के डर से इन उदाहरणपद्यों तथा अपने अन्य मुक्तक श्लोकों का संग्रह

१. शान्त वि., श्लो.३२; २. देखिए, प्रथम अध्याय, पृ. १०,११।
३. तत्रैव, पृ. १२; ४. रसगङ्गाधर, प्र.आ., श्लो.६।

'भामिनीविलास' शीर्षक से कर दिया। जैसा कि 'भामिनीविलास' में उन्होंने कहा भी है—

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा कृता मया।।[१]

भामिनीविलास के विभाग

इस ग्रन्थ को कवि ने चार भागों में विभक्त किया है—१. प्रास्ताविक विलास, २. शृङ्गारविलास, ३. करुणविलास एवं ४. शान्तविलास। विभिन्न संस्करणों में इसके चारों विलासों में आगत श्लोकों की संख्या में भिन्न-भिन्न अन्तर है।[२] यहाँ इन चारों विलासों का क्रमशः साहित्यिक अनुशीलन प्रस्तुत है।

१. प्रास्ताविकविलास

'प्रास्ताविकविलास', 'भामिनीविलास' का प्रथम विभाग है। प्रास्ताविक शब्द का अर्थ है, प्रारम्भिक। अतः काव्य का आरम्भिक विलास होने के कारण इसका नाम 'प्रास्ताविकविलास' शीर्षक से किया गया प्रतीत होता है। इस विलास के पैंसठ प्रतिशत से भी अधिक श्लोकों में प्रसंग विशेष पर किसी व्यक्ति या घटना को लक्ष्य बना कर विभिन्न प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से कही हुई अन्योक्तियों के रूप में नीति वर्णित है और शेष श्लोक जीवन के लिए क्रियात्मक संदेश देने वाले काव्यात्मक नीति कथन हैं, जिन्हें सुभाषितों की श्रेणी में रखा जा सकता है। छह पद्य अन्य प्रसङ्ग विषयक 'रसगङ्गाधर' के उदाहरण पद्य हैं।[३] इस प्रकार इस विलास में नीति श्लोकों की प्रधानता है, जिसके कारण 'प्राधान्येन व्यपदेश' के न्यायानुसार इसे नीति श्लोकों का संग्रह कहा जा सकता है।

इस प्रकार 'प्रास्ताविकविलास' का नीतिकाव्य प्रत्यक्ष एवं अन्योक्त्यात्मक नीति श्लोकों का सम्मिलित रूप है। अतः इस विलास के वर्ण्यविषय की समीक्षा विवेचन सौकर्य की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त कर प्रस्तुत है—१. अन्योक्तिपरक नीतिश्लोक और २. प्रत्यक्ष नीतिश्लोक।

---

१. भामि.वि., शान्त वि., श्लो.३३।
२. जगन्नाथपण्डित, रामास्वामी शास्त्री, पृ.६६।
३. श्लो.७८, ७९, १०३, १०७, ११८, १२२।

१. अन्योक्तिपरक नीतिकाव्य

इस शैली के श्लोकों में मृगराज, गजराज, राजहंस, मृग, कोकिल, भ्रमर, शुक, कमल, कुटज, बकुल, मालती, लवङ्गलतिका, सुरतरु, तरु, आम्रतरु, कस्तूरी, चंदन, माली, कूप, सरोवर, नदी, समुद्र, क्षीरसागर, जलद आदि विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों का आश्रयण कर सुन्दर उक्तियाँ कही गई हैं, जिनमें प्रकृति के उपकरणों के अनुभूत वृत्तान्तों से तत्समान मानव वृत्तियों के औचित्य-अनौचित्य का वर्णन किया गया है। विषय की दृष्टि से इस विभाग की अन्योक्तियों में नीतिप्रधान व प्रासङ्गिक अन्योक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

नीतिप्रधान अन्योक्तियाँ

इस प्रकार की अन्योक्तियों में किंसी प्रकार के सदुपदेश या असन्मार्ग पर गए हुए के लिए किसी प्रकार की चेतावनी हुआ करती है, परन्तु वाच्यार्थ अप्राकरणिक होता है व सादृश्य से उससे प्राकरणिक अर्थों की व्यंजना की जाती है। प्रास्ताविकविलास में ऐसी कई अन्योक्तियाँ हैं, जिनमें इस शैली में नीति प्रतिपादन हुआ है। यथा एक पद्य में कमल, उस पर स्वार्थवश परागलोभ से मँडराते भ्रमरों तथा उसकी सुगन्ध को निस्वार्थ भाव से बिखेरने वाले पवन का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है—

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥[१]

हे विकसित होते हुए कमल! तुम्हारे गिरते हुए मकरन्द का पान करते हुए ये भँवरे कुछ अस्पष्ट एवं मनोहारी गुञ्जार भले करें; लेकिन निरपेक्ष होकर प्रत्येक दिशा में तुम्हारी सुगन्ध को बिखेरता यह पवन ही तुम्हारा असली बान्धव है।

यहाँ कमल के माध्यम से उन नासमझ व्यक्तियों को उपदेश दिया गया है जो स्वार्थवश प्रेम रखने वाले व्यक्तियों को अपना हितैषी समझ कर सम्मान देते हैं तथा वास्तविक प्रेम रखने वाले और निरपेक्ष भाव से उनकी कीर्ति को सर्वत्र प्रकाशित करने वाले व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा बरतते हैं। इससे इस नीति

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.४, १४।

की अभिव्यक्ति हुई है कि व्यक्ति को स्वार्थी मित्रों से दूर रह कर निःस्वार्थी मित्रों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

कहीं सरोवर को सीख देते हुए कहा गया है कि जब वह अगाध जल के वर्तमान रहने पर भी पथिकों की प्यास नहीं हरेगा, तो ग्रीष्मकाल में कृश होकर किसकी प्यास बुझाएगा?

इयत्यां सम्पत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना
न तृष्णामार्तानां हरसि यदि कासार सहसा।
निदाघे चण्डांशौ किरति परितोऽङ्गारनिकरान्
कृशीभूतः केषामहह परिहर्तासि खलु ताम्।।[१]

इसके माध्यम से धनिकों को यह उपदेश दिया गया है कि जब तक ऐश्वर्यशालियों के पास धन है, उन्हें खूब दान पुण्य कर लेना चाहिए। अन्यथा लक्ष्मी चंचला है।

अन्यत्र समुद्र के वृत्तान्त को वर्णित कर उसके रत्नों व श्यामल शरीर को इसलिए व्यर्थ बतलाया गया है कि उसका जल प्यासे पथिकों के मुँह तक नहीं पहुँच पाता।[२] इससे इस तथ्य की प्रतीति होती है कि ऐश्वर्यशालियों की वह सम्पत्ति बिल्कुल बेकार है, जो गरीबों के काम नहीं आती, साथ ही उनका जीवन व्यर्थ है, जो धन सँजो कर रखते हैं, पर दान नहीं देते।

कहीं चन्दन द्वारा विषैले सर्पों को भी मनोहर सुगन्ध देने व घिसने पर भी घिसने वालों को सुगन्धित कर देने के वृतान्त द्वारा इस तथ्य की अभिव्यक्ति हुई है कि उपकारी व्यक्ति का स्वभाव ही सर्वदा सबका उपकार करना होता है।[३]

किसी श्लोक में मार्गस्थ सरोवर को ग्रीष्मकाल में पथिकों की प्यास न बुझा पाने की चिन्ता से क्षीण शरीर वाला वर्णित कर उसके जीवन को धन्य एवं अपार, अनुपयोगी जलराशि वाले समुद्र के जन्म को धिक्कार कहा गया है—

याते मय्यचिरान् निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरसौ संतापमालाकुला।
एवं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते
धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग् वारिधीनां जनुः।।[४]

१. प्रास्ता.वि., श्लो.४१; २. तत्रैव श्लो.४०।
३. तत्रैव श्लो.१०, ११; ४. तत्रैव श्लो.१५।

इस वर्णन से इस नैतिक तथ्य की अभिव्यक्ति होती है कि अल्प सामर्थ्य होने पर भी परोपकार की भावना रखने वाले व्यक्ति का जीवन प्रशंसनीय है और प्रचुर ऐश्वर्यशाली होने पर भी दूसरों के काम में न आने वाला जीवन निन्दनीय है।

एक श्लोक में सरोवर को यह कर प्रबोधित किया गया है कि ग्रीष्मकाल में जब उसके जल का ह्रास हो जाएगा, उस समय हंसादि पक्षी उड़ जाएगें और रसलुब्ध भ्रमर आम के बौरों में जा लिपटेंगें; किन्तु अनन्यगतिक मछली कहाँ जाएगी?

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥[1]

इस वृतान्त से इस सामान्य सत्य की अभिव्यक्ति हुई है कि व्यक्ति को अपने अनन्यगतिक शरणागत की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए एवं सम्पत्काल के अवसरवादी मित्रों को सच्चा मित्र नहीं समझना चाहिए। कारण ये जन विपत्काल में साथ न देकर दूसरा आश्रय ढूँढ लेंगें। जैसे सरोवर के सम्पत्काल के साथी पक्षी और भँवरे विपत्ति के समय साथ नहीं देते, बल्कि उसके सूख जाने पर उसके पंक में अपना जीवन दे देने वाली मछली ही वास्तविक मित्र हैं।

कहीं माली, बादल और वृक्ष के वृतान्त का वर्णन कर माली को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि प्रचण्ड गर्मी में दयावश थोड़े जल द्वारा उसने इस पेड़ का जो पोषण किया था, उसकी तुलना इस समय चारों ओर बरसते हुए मूसलाधार मेघों से भला की जा सकती है क्या?[2] अर्थात् आपत्ति के समय की गई स्वल्प सहायता से जो बल मिलता है, उसकी तुलना समृद्धि काल की बहुत बड़ी सहायता से नहीं की जा सकती।

पथिक तथा जलधर के वृतान्त वर्णन द्वारा संसार के कष्टों को दूर करने के लिए प्राणोत्सर्ग तक कर डालने वाले बादल के कठोर वचन से व्यथित न होने की सीख दी गई है। इसके माध्यम से जनसामान्य को आपाततः कटु-भाषी; किन्तु परोपकारी पुरुषों के कटुवचनों से हतोत्साहित न होने का प्रकारान्तर से उपदेश दिया गया है—

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.१६; २. तत्रैव श्लो.२८।

विश्वार्तिवारणसमर्पितजीवनोऽयं
नाकर्णितः किमु सखे भवताम्बुवाहः॥

अन्यत्र बादल को यह कहकर फटकारा गया है कि वह मुरझाई लताओं व वृक्षों को छोड़ कर पर्वत के शिखरों पर जो बहुत-सा जल बरसा देता है, तो यह उसका कौन सा श्रीमद है?

दवदहनजटालज्वालजालाहतानां
परिगलितलतानां म्लायतां भूरुहाणाम्।
अयि जलधर शैलश्रेणिशृङ्गेषु तोयं
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः॥[१]

मेघ की इस अन्योक्ति द्वारा कवि ने उन विवेकहीन धनमदान्धों को फटकारा है जो पात्र और कुपात्र का विचार किए बिना धनव्यय करते हैं। अन्यत्र चन्दन की सुगन्धिमत्ता, शीतलता, कीर्ति आदि अलौकिक गुणों को उसके कोटर में विषधरों के विद्यमान रहने के कारण व्यर्थ बतलाया गया है। इस चन्दनातिशयोक्ति के द्वारा इस तथ्य की अभिव्यक्ति कराई गई है कि कोई कितना ही गुणी क्यों न हो? यदि वह खलों से घिरा रहता है तो उसके सारे गुण बेकार हो जाते हैं—

सौरभ्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं शैत्यं तु लोकोत्तरं
कीर्तिः किं च दिगङ्गनाङ्गणगता किं त्वेतदेकं शृणु।
सर्वानेव गुणानियं निगिरति श्रीखण्ड ते सुन्दरान्
उज्झन्ती खलु कोटरेषु गरलज्वालां द्विजिह्वावली॥[२]

इसी प्रकार मृगों को प्रबोधित कर चेतावनी दी गई है कि उनके द्वारा उछलती लहरों वाली समुद्रगामिनी ऐसी नदी की थाह लेने का प्रयास मूर्खतापूर्ण है, जिसके जल में बार-बार पड़ते भँवरों में चारों ओर घुमाया गया विशाल हाथी पाषाणखण्ड की तरह डुबा दिया जाता है—

रे चाञ्चल्यजुषो मृगाः श्रितनगाः कल्लोलमालाकुला-
मेतमम्बुधिकामिनीं व्यवसिताः संगाहितुं वा कथम्।
अत्रैवोच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्तैः समावर्तितो
यद् ग्रावेव रसातलं पुनरसौ यातो गजग्रामणीः॥[३]

१. प्रास्ता.वि., श्लो.३४; २. तत्रैव श्लो.३६; ३. तत्रैव श्लो.५७।

प्रासङ्गिक अन्योक्तियाँ

नीतिप्रधान अन्योक्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्योक्तियाँ व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध विविध वृत्तान्तों, घटनाओं, नानाप्रसङ्गों तथा मानवीय व्यवहारों को लक्ष्य कर विविध प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से कही गई हैं। एक श्लोक में अत्यन्त कष्ट में फँसे व्यक्ति एवं उसके सहायक की प्रतीति अप्रस्तुत चम्पक एवं मेघ के वृतान्त के माध्यम से की गई है। प्रस्तुति अत्यन्त आकर्षक है। मेघ को सम्बोधित कर कहा गया है—

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दशदिशश्चण्डातपो दुःसहः।
एवन्धन्वनि चम्पकस्य सकले संहाररहेतावपि
त्वं सिञ्चन्नमृतेन तोयद! कुतोऽप्याविष्कृतो वेधसा।।[१]

हे जलद! उपवन का स्वामी विवेकहीन है। निश्चित रूप से पृथ्वी जलहीन है। दशों दिशाएँ झंझावातों के द्वारा कठोर बना दी गई हैं। तेज धूप असह्य है। इस प्रकार रेगिस्तान में चम्पक के समस्त विनाश हेतुवों के विद्यमान रहने पर भी विधाता ने अमृत से सींचते हुए तुम्हें न जाने कहाँ से पैदा कर दिया?

एक अन्य श्लोक में अप्रस्तुत रूप से बरसाती नदी व गङ्गा के वृत्तान्त वर्णन के माध्यम से किसी अल्पज्ञ व महाज्ञानी पुरुष के वृत्तान्त की प्रस्तुति की गई है। यहाँ बरसाती नदी को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि गङ्गा की धारा में घुसती हुई उसे हम नहीं रोकते; लेकिन आगे वह जो लहरों में कुटिलता पैदा करती है, तो यह ठीक नहीं।[२] यहाँ वर्षा नदी के माध्यम से एक ऐसे अल्पज्ञ पुरुष का वर्णन किया गया है, जो बड़े-बड़े ज्ञानियों की संगति करते हुए भी उन्हीं के सामने उनसे अधिक ज्ञानप्रदर्शन की धृष्टता करता है।

कहीं कोयल को सम्बोधित करते हुए यह सलाह दी गई है कि जब तक गुंजरित भ्रमरों वाला कोई आम्रवृक्ष उल्लसित नहीं हो जाता, तब तक उसे वन में निवास कर इन नीरस दिनों को बिताना चाहिए।[३] कोकिल को सम्बोधित कर कही गई यह अन्योक्ति उस विद्वान् को लक्ष्य करती है जो गुणग्राही आश्रयदाता के अभाव में दैन्यमय जीवन बिता रहा है। इसमें उस विद्वान् को

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.२९।

२. तत्रैव श्लो.४३;

३. तत्रैव श्लो.६।

कोयल के माध्यम से प्रबोधित किया गया है कि उसे गुणग्राही आश्रयदाता की प्राप्ति होने तक इसी प्रकार निवास करना चाहिए—

यावन् मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति[१]

युवावस्था में कमलपराग से सुवासित जल वाले मानसरोवर में दिन बिताने वाले और वृद्धावस्था में मेंढकों से युक्त तलैया में दिन बिताने को बाध्य राजहंस के वृत्तान्त की प्रस्तुति के माध्यम से उस महाकवि अथवा पण्डित के वृत्तान्त को उपस्थित किया गया है, जिसने अपने प्रारम्भिक दिन किसी सर्वसम्पन्न प्रभु के आश्रय में व्यतीत किए थे; किन्तु दैववशात् उसे अपनी वृद्धावस्था बाध्य होकर तुच्छजनों के सम्पर्क में बितानी पड़ रही है। इससे इस तथ्य की अभिव्यक्ति हुई है कि दैवगति से किसी भी समय ऐसी परिस्थिति आ सकती है कि ऐश्वर्यपूर्ण जीवनभोग छोड़कर क्षुद्र जीवन व्यतीत करना पड़े—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्।।[२]

इसी प्रकार एक स्थल पर पराक्रमी सिंह के परलोक सिधारने पर उसके दरवाजे पर सियारों का कोलाहल होना वर्णित किया गया है। यहाँ सिंह व सियारों के वृत्तान्त के माध्यम से प्रस्तुत किसी महामहिमशाली व्यक्ति और उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके स्थान को क़लङ्कित करने वाले दुकौड़िए लोगों की प्रतीति होती है—

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रान्तनयना
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः।
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो
हरेरद्य द्वारे शिव शिव शिवानां कलकलः।।[३]

इसी प्रकार अन्य अनेक प्रासङ्गिक अन्योक्तियाँ इस विलास में वर्णित हैं, जिनमें कहीं राघव मत्स्य, कहीं कुटज, कहीं कोकिल, कहीं कमलिनी, कहीं मालती, कहीं बबूल, कहीं हिमालय आदि विविध प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से नीतिकथनों की अभिव्यञ्जना हुई है।

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.६; २. तत्रैव श्लो.२; ३. तत्रैव श्लो.३०।

प्रत्यक्ष नीतिश्लोक

अन्यापदेशात्मक श्लोकों के अतिरिक्त प्रास्ताविक विलास में अनेक सुन्दर नीति सूक्तियाँ हैं, जिनमें सज्जन, दुर्जन, महापुरुष, सत्सङ्गति, परोपकारिता, भाग्य, गुणावगुणविवेचन आदि विविध विषयों पर सुन्दर नीतिकथन वर्णित हैं। जैसे महापुरुषों की स्वभावगत उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आग में पड़कर भी चारों ओर अलौकिक सुगन्ध बिखेरने वाले कालागुरु की तरह महापुरुष विपत्तियों में पड़कर भी अत्यधिक औदार्य का ही विस्तार करते हैं—

आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ताल्
लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति।।[१]

इसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति बिना कहे ही अपने भले आचरणों से समस्त संसार को अति आनन्दित कर देते हैं, जैसे चन्द्रमा बिना आराधित हुए ही अपनी उदार किरणों से कुमुदनियों को खिला देता है।

सत्पुरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि।।[२]

दुर्जनों के शठस्वभाव के वर्णनपरक कई श्लोक भी इस विलास में प्राप्त होते हैं। इसमें कहीं यह कहा गया है कि जैसे सागर में चिरकाल तक डूबा रहने पर भी मैनाक पर्वत कोमलता नहीं प्राप्त करता, वैसे ही वेदान्त में प्रवीण होने पर भी दुष्ट सज्जन नहीं हो जाता।[३] कहीं दुष्टों की तुलना मूषकों व सज्जनों की सुन्दर वस्त्रों से करते हुए यह वर्णन किया गया है कि दुष्टजन मूषकों की तरह दूसरों के गोपनीय अङ्गों को ढकने में निपुण, तन्तुनिर्मित एवं सभी के द्वारा अत्यधिक समीहित रमणीय वस्त्र की तरह दूसरों के दोषों को छिपाने में निपुण, गुणी व सभी के द्वारा अत्यधिक सम्प्रार्थित सज्जनों को भी स्वशठता से दूषित कर देते हैं।[४]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.६८;
२. तत्रैव श्लो.७३।
३. प्रास्ता.वि., श्लो.८२;
४. तत्रैव श्लो.८७।

अन्यत्र दुष्टों को अवश्य बतलाते हुए कहा गया है कि दुष्ट मनुष्य को वश में करने का विचार कौतूहलवश विष पीने की इच्छा, जी भरकर कालाग्नि को चूमने तथा स्पष्ट ही सर्पराज का आलिङ्गन करने के लिए किये गये प्रयास के समान है—

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन
कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम्।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा
यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम्।।[1]

दुष्ट के प्रति उपकार करने वाले व्यक्ति को आकाश में घर, हवा में सुन्दर चित्र तथा पानी में रेखाएँ खींचने वाला कहा गया है। दुष्ट समागम को आनन्दरूपी मृग के लिए दावानल, शीलरूपी वृक्ष के लिए मतवाला हाथी और ज्ञानरूपी दीपक के लिए आँधी के समान कहा गया है। अर्थात् दुर्जनों की सङ्गति को मनुष्य के आनन्द, शील और ज्ञान को नष्ट कर देने वाली बतलाया गया है। उन्हें दयारूपी पुष्प के लिए आकाश, शान्तिरूपी शीतलता के लिए आग और यशरूपी सुगन्ध के लिए लहसुन के समान बताते हुए उनमें शान्ति, यश और दया का सर्वथा अभाव वर्णित किया गया है—

व्योम्नि बीजाकुरुते चित्रं निर्माति सुन्दरं पवने।
रचयति रेखा सलिले यस्तु खले चरति सत्कारम्।।[2]

आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः।
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः।।[3]
यशः सौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।
कारुण्यकुसुमाकाशः खलः सज्जनदुःखदः।।[4]

दुष्टों की जिह्वा को नागिन मानकर यह कल्पना की गई है कि विधाता ने दुष्टों के मुँह में जीभ के बहाने नागिन बैठा दी है, नहीं तो इसके द्वारा किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श किए गए, मन्त्र न जानने वाले लोग जीवित क्यों नहीं रह पाते।[5] इससे इस नीति की अभिव्यक्ति होती है कि खलों की जिह्वा जिनके विषय में चल गई, यदि वह नीतिज्ञ नहीं है तो निश्चय ही नष्ट हो जाएगा।

१. प्रास्ता.वि. श्लो.९०; २. तत्रैव श्लो.९३।
३. तत्रैव श्लो.१०४; ४. तत्रैव श्लो.८८।
५. वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथावलीढा न हिं जीवन्ति जना मनागमन्त्राः।। (तत्रैव श्लो.१०६)

दुर्जननिन्दा के अतिरिक्त कुछ श्लोकों में सज्जनप्रशंसा व सत्सङ्गति के महत्त्व को सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है। उनके मन को समुद्र सा गम्भीर, कीर्ति को शरत्कालीन पूर्णिमा की चाँदनी की भाँति प्रसृत तथा वाणी को मिठास में अमृत को भी मात कर देने वाली कहा गया है।[१]

सज्जनों की तुलना मकड़ी से करते हुए यह वर्णन किया गया है कि जैसे मकड़ी शून्यस्थान में अपने गुणों (तन्तुजालों) को फैला कर जाला लगाती हुई वहाँ के विवरों को ढक देती है उसी प्रकार सज्जनपुरुष भी शून्य (हृदयहीन) मूर्खजनों में अपने गुणों (वाग्मितादि) का प्रसार करते हुए अपने गुणजालों से (समूहों) उन मूर्खों के विवरों को ढ़क देते हैं।[२] इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में सत्सङ्गति के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठकुल में उत्पन्न होने तथा गुणवान् होने पर भी मनुष्य सङ्गति विशेष के द्वारा ही सम्मानित होता है, जैसे बाँस से बने और तन्तुसमूह से युक्त होने पर भी तुम्बीफल से रहित वीणादण्ड महत्त्व को नहीं प्राप्त करता।[३]

एक स्थल पर मेघ द्वारा परोपकारार्थ सागर से जल ग्रहण करने पर भी काले रहने के वृत्तान्त को प्रस्तुत कर इस नीति का वर्णन किया गया है कि स्वार्थवश दूसरों से धन ग्रहण करने वालों का चरित्र कलुषित हो जाता है—

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन् मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कलिमानम्।।[४]

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में लहसुन को समस्त रसायनों में श्रेष्ठ होने पर भी केवल तीक्ष्ण गन्धरूपी एक दोष के विद्यमान रहने के कारण निन्दित बताकर इस नीति की अभिव्यक्ति की गई है कि अनेक गुणों से युक्त होने पर भी पदार्थ एक ही दोष के रहने से निन्दित हो उठता है।[५]

---

१. अविरतं परकार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो विमलशारदचन्दिरचन्द्रिका।। (प्रास्ता.वि., श्लो.१०८)

२. शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः स्वकीयगुणजालैः।
विवराणि मुद्रयन् द्रागूर्णायुरिव सुजनो जयति।। (प्रास्ता.वि., श्लो.८५)

३. वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
न हि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम्।। (तत्रैव, श्लो.७५)

४. तत्रैव, श्लो.९६; ५. तत्रैव, श्लो.७६।

जहाँ एक ओर एक दोष के रहने को भी निंदित बताया गया है, वहीं दूसरी तरफ नीति के दूसरे पक्ष को ध्यान में रख कर निर्गुणता को ही श्रेयस्कर माना गया है। इसके कारण रूप में यह कहा गया है कि गुणवत्ता के कारण ही बेचारे चंदन वृक्ष काट डाले जाते हैं, जब कि अन्य निर्गुणी वृक्ष ठाट से खड़े रहते हैं।[१] अन्यत्र आपाततः सुन्दर लगने वाले फूलों की शोभा से युक्त सेमल वृक्ष के समान निर्गुणी मनुष्य का बाह्याडम्बरों से युक्त होने पर भी शोभित न होना वर्णित किया गया है।[२] एक श्लोक में यह नीति वर्णित है कि गुरुजनों के कठोर वचनों द्वारा तिरस्कृत होकर ही लोग बड़प्पन प्राप्त कर पाते हैं, जैसे बिना सान पर रगड़ खाए हुए रत्न राजाओं के मुकुट में नहीं रह पाते—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिः
तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां
न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥[३]

अन्यत्र उन तथ्यों का वर्णन किया गया है जो विधाता की सृष्टि में नहीं पाये जाते। इनमें यह कहा गया है कि मृत प्राणी में लाभेच्छा, कंजूस की दानेच्छा, कुमार्गगामिनी स्त्री का अपने पति में अनुराग, साँप का शान्त स्वरूप और दुर्जन की मित्रता विधाता की सृष्टि में नहीं देखी जाती—

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा
विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकान्ते।
सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री
विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा॥[४]

अभाव प्रतिपादन की शैली का आश्रय लेकर भी नीति वर्णन किया गया है। इसमें तालाब का कीचड़, सभा का दुष्टों, काव्य का कठोर वर्णों और हृदय का भोग-विलासादि के अभाव में ही सुशोभित होना बताया गया है—

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना॥[५]

१. प्रास्ता.वि. श्लो.८३; २. तत्रैव, श्लो.१०९।
३. तत्रैव, श्लो.७१; ४. तत्रैव, श्लो.११९; ५. तत्रैव, श्लो.११०।

अन्यत्र योगी को ज्ञान के अभाव में उसी प्रकार सुशोभित नहीं कहा गया है, जैसे राग तान के अभाव में, राजा मान के अभाव में और हाथी मदजल के अभाव में शोभित नहीं होता—

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः॥[१]

एक श्लोक में प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लेकर भगवान् के चरणारविन्दों के भजन को ही तीर्थ, निर्मल बुद्धि को ही रत्न, सुनने मात्र से ही परमात्मा और जीवात्मा की भेदबुद्धि का नाश करने वाले को शास्त्र, तत्त्वावबोध को निरन्तर उपकारी मित्र तथा दुर्वासनाओं के समूह को निरन्तर दुखदायी शत्रु कहा गया है—

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं कि रत्नमच्छा मतिः
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां चयः॥[२]

काव्यसौष्ठव

१. भावाभिव्यक्ति

भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह विलास अत्यन्त सरस बन पड़ा है। कारण, इसमें अन्योक्तियों का बाहुल्य है और अन्योक्तियाँ भावप्रतिपादन का सरस, कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक साधन होती हैं। इनमें प्रकृति के उपकरण या दृश्यमान जगत् के किसी घटना व्यापार को प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से हृदयस्थ भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। इसके माध्यम से परोक्षरूप में किसी व्यक्ति के गुण-दोषों, कुलीनता-अकुलीनता, स्तुति-निन्दा की अभिव्यक्ति की जा सकती है, किसी का मनोविनोद किया जा सकता है, तो किसी पर फब्ती कसी जा सकती है, किसी पर मन की भड़ास निकाली जा सकती है, तो किसी को नैतिक शिक्षा देकर सत्पथ पर लाया जा सकता है। इस तरह अन्योक्ति का समस्त प्रसंग सीधा अभिव्यक्त न होकर प्रतिबिम्ब रूप से अभिव्यक्त होता है। ध्वनि के अनुरणन व आणविक अस्त्र के स्फोट की तरह इसकी चोट भी लम्बी और गहरी होती है। वह प्रतीक से वस्त्वर्थ को अभिव्यक्त करने के उपरान्त,

---

१. प्रास्ता.वि. श्लो.११३; २. तत्रैव श्लो.८१।

अन्यार्थ को ध्वनित करती हुई रससागर में लीन होती है। फलतः इनमें भावाभिव्यक्ति बड़े सरस व कलात्मक ढंग से होती है। प्रास्ताविकविलास की अन्योक्तियों का भाव प्रतिपादन भी इसी ढंग का है। निदर्शनार्थ कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरीगणे
मौनं मुञ्चति किं च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥[1]

यहाँ श्लोक का प्रतिपाद्य भाव है, किसी के आशाभङ्ग या बने हुए कार्य का अचानक बिगड़ जाना। इसे चन्द्रमा के ऊपर धाराधराडम्बर के सटीक भाव को लेकर अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ यह वर्णन है कि ऐसे समय जब कि चकोरियाँ सतृष्ण हो पूर्वदिशा की ओर देखने लगी हैं, श्वेत कमलसमूह का मुकुलीभाव टूटने लगा है, कामदेव ने अपने धनुष को झंकृत कर लिया है, मानिनी तरुणियों का मान भंग होने की स्थिति में पहुँच गया है, उस समय चन्द्रमा को जलदपटल से ढक देना क्या उचित है? अनौचित्य की पराकाष्ठा की कितने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुति हुई है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

साकं ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयस्तीरेऽर्कबिम्बोपमा
नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः।
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमपि च प्रौढिं परामुन्नतेः
किं निन्दान्यथवास्तवानि कथय क्षीरार्णव त्वामहम्॥[2]

यहाँ श्लोक का मुख्य भाव किसी ऐसे राजा का वृत्तान्त वर्णित करना है, जिसके आश्रय में अत्यन्त गुणी व अत्यन्त दुर्गुणी दोनों श्रेणियों के व्यक्ति समान रूप से निवास करते हैं, किन्तु उसे यह परखने की शक्ति नहीं कि इस गुणी को उसे सम्मान देना चाहिए और दुर्गुणी व्यक्ति को दूर कर देना चाहिए। इस सामान्य भाव को उस क्षीरसागर के वृत्तान्त के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, जिसके तट पर पत्थरों के साथ-साथ सूर्यमण्डल सदृश उज्ज्वल मणियाँ लोटती हैं और जल में जलचरों के साथ-साथ प्रसिद्ध भगवान् विष्णु शयन करते हैं।

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.३; २. तत्रैव, श्लो.३९।

इसी प्रकार अन्य अन्योक्तियों में भी विभिन्न नैतिक तथ्यों व वृत्तान्तों को विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से बड़े सुन्दर व कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। जैसे कहीं तोते के मनोरथभङ्ग द्वारा दैव के प्रबल होने की सिद्धि की गई है[१], तो कहीं नदी के नाले से मिलने का अनौचित्य वर्णन करके स्वस्वरूप बनाये रखने हेतु अनुचित साधनों के प्रयोग की मनाही की गई है।[२] कहीं हंस, भ्रमर आदि की स्वार्थपरता व मछली की सरोवर के प्रति अनन्यगति का वर्णन कर स्वार्थी व निःस्वार्थी सहयोगियों का भेद प्रतिपादन किया गया है[३], तो कहीं पेय होने के कारण सबके काम आने वाले सरोवर की प्रशंसा व अपेय होने से सबके लिए व्यर्थ समुद्र के निन्दा वर्णन द्वारा सार्थक व निरर्थक जन्मों का वर्णन किया गया है।[४] कहीं चन्दन,[५] मेघ,[६] मत्स्य,[७] सिंह[८] व सुरतरु[९] आदि को क्रमशः निःस्वार्थ परोपकारी, प्रचण्ड, पराक्रमी व सर्वगुणसम्पन्न पुरुषों का प्रतीक मानकर विविध वृत्तान्तों की अभिव्यक्ति हुई है।

इस विलास के अधिकांश श्लोकों के नीतिवर्णन के सरल व शान्त प्रसङ्गों से सम्बद्ध रहने के कारण इन श्लोकों की भाषा भी सामान्यतः परुष वर्णों के प्रयोग से रहित, भावानुसारिणी, प्रसाद व माधुर्यगुण युक्त सानुप्रासिक कोमलकान्त पदावली है। चार-पाँच श्लोकों में प्रसङ्ग के ओजपूर्ण होने के कारण भाषा का ओजोमय रूप दिखलाई पड़ता है। भाषा के इन विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण शैली विधान की काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ वैदर्भी, गौडी व पाञ्चाली इन तीनों रीतियों का प्रयोग हुआ है। अल्प समास व माधुर्यगुण व्यंजक पदों के प्रयोग से युक्त श्लोकों की भाषा में वैदर्भी, प्रसाद गुण व शब्दार्थ के समान गुम्फन वाली रचना में पाञ्चाली व भाषा के परुष व ओजगुणयुक्त होने में गौडी रीति का प्रयोग हुआ है।

इस विलास में नीति श्लोकों का संग्रह है। इन श्लोकों के विविध प्रसङ्गों से सम्बद्ध होने के कारण यहाँ विविध रसों तथा भावों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ बुरे दिनों के वर्णन में करुणरस की, भयंकर व आश्चर्यजनक प्रसङ्गों के निरूपण में क्रमशः भयानक व अद्भुत रस की तथा नैतिक प्रसङ्गों में शान्त

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.५६; २. तत्रैव, श्लो.२१।
३. तत्रैव, श्लो.१६; ४. तत्रैव, श्लो.४०, ४१।
५. तत्रैव, श्लो.१०, ११, १९; ६. तत्रैव, श्लो.२९, ३७।
७. तत्रैव, श्लो.१६; ८. तत्रैव, श्लो.१, ३०, ५०; ९. तत्रैव, श्लो.६४।

रस की व्यञ्जना हुई है। रसों के अतिरिक्त भावों का भी विस्तृत प्रयोग है। इनमें विवेक, कृतज्ञता, परोपकार, आत्मसम्मान, उदारता, प्रेम, सहिष्णुता आदि लौकिक भावों के वर्णन-प्रसङ्ग में मति, विवेक, असूया, निर्वेद आदि भावों की अभिव्यक्ति हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु।।[1]

यहाँ मछली की सरोवर के प्रति अनन्य गति का वर्णन करने के प्रसङ्ग में वक्तृगत शोक की अभिव्यक्ति होने से करुणरस विद्यमान है। इसमें मछली आलम्बन, उसकी अनन्यगति व भृङ्गादि के व्यापार उद्दीपन, गम्यमान क्लेश आदि अनुभाव तथा चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्वच्छन्दं दलदरविन्द ते मरन्दं
विन्दन्तो विदधतु गुञ्जितं मिलिन्दाः।
आमोदानथ हरिदन्तराणि नेतुं
नैवान्यो जगति समीरणात् प्रवीणः।।[2]

यहाँ भ्रमरों के द्वारा स्वार्थी मित्रों की तथा समीर के द्वारा वास्तविक हितैषी की प्रतीति कराते हुए सद्वस्तु के निश्चय का प्रतिपादन हुआ है। फलतः यहाँ 'मति' अथवा 'विवेक' संचारी भाव की व्यंजना हुई है।[3]

इस विलास में विविध प्रसङ्गों की अभिव्यक्ति करने वाले श्लोकों के संग्रह के कारण माधुर्य, ओज व प्रसाद इन तीनों गुणों का प्रयोग हुआ है, लेकिन् ओज की अपेक्षा माधुर्य व प्रसाद का प्रयोग अधिक है।

भाव सौन्दर्य में तीव्रता लाने के लिए इस विलास में शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। विभिन्न शब्दालंकारों में अनुप्रास का बाहुल्य है। पदशय्या के आनुप्रासिक होने के कारण श्लोकों में आगत अनुप्रास अलंकाररूप में न आकर भाषा की एक स्वाभाविक विशेषता ही बन बैठा है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

---

१. प्रास्ता.वि., १६;   २. तत्रैव, श्लो.१४।

३. नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः। (साहित्यदर्पण ३/१६३)।

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे[१]

पृष्टाःखलु परपुष्टाःपरितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे[२]

करिणामरिणा हरिणा हरिणाली हन्यतां नु कथम्[३]

रे चाञ्चल्यजुषो मृगाः श्रितनगाः कल्लोलमालाकुला[४]

नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः[५]

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा[६]

पाटीर तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम्[७]

अनुप्रास के अतिरिक्त शब्दालंकारों में श्लेष व यमक का प्रयोग है। यमक कुछ श्लोकों[८] के एक दो शब्दों में आया है और विशेष चमत्कारी नहीं है। श्लेष अलंकार भी अन्य अलंकारों के उपस्कारक रूप में आया है, शुद्ध रूप से नहीं, फिर भी उसकी चमत्कारिता बनी हुई है। जैसे इस विलास के श्लोक संख्या ७, ८५, ८७ में प्रयुक्त श्लेष विशेष चमत्कारक है।

अप्रस्तुतप्रशंसा के अतिरिक्त उपमा, रूपक, अनन्वय, प्रतीप, भ्रान्तिमान, दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास, परिकर, काव्यलिङ्ग, प्रहर्षण, विषादन, असम्भव, सार, लेश, पर्याय, आक्षेप, निदर्शना, स्वभावोक्ति, परिसंख्या, सम आदि अन्य विविध अलंकारों का बहुविध सुन्दर प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं—

शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः स्वकीयगुणजालैः।
विवराणि मुद्रयन् द्रागूर्णायुरिव सुजनो जयति।।[९]

यहाँ सज्जन पुरुष की मकड़ी से उपमा दी गई है। जैसे मकड़ी शून्य स्थान में अपने गुणों (तन्तु-जालों) को फैलाकर जाला लगाती हुई वहाँ के विवरों (छिद्रों) को ढक देती है, उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी शून्य (हृदयहीन) मूर्खजनों में अपने गुणों का प्रसार करते हुए अपने गुणजालों से उन मूर्खों के विवरों (दोषों) को ढ़क देते हैं।

यहाँ शून्य, गुण, विवर और मुद्रण ये पद श्लिष्ट हैं, जिनसे सज्जन और मकड़ी का सादृश्य दिखाया गया है। फलतः यहाँ श्लेष और उपमा दोनों के समन्वय से श्लिष्टोपमा अलंकार विद्यमान है।

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.९; २. तत्रैव, श्लो.२७; ३. तत्रैव, श्लो.४८।
४. तत्रैव, श्लो.५७; ५. तत्रैव, श्लो.३९; ६. तत्रैव, श्लो.२९।
७. तत्रैव, श्लो.११; ८. तत्रैव, श्लो.९, ४८, ४९; ९. तत्रैव, श्लो.८५।

इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटितारपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः।।[१]

यहाँ तोते का इष्यमाण मनोरथ था, लोगों के अपने-अपने व्यापार में लग जाने पर दरवाजा तोड़कर पिंजड़े से भाग निकलना; परन्तु उसने इसके लिये प्रयास भी नहीं किया था कि उसके पहले ही विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हुई अर्थात् सर्प ने उसे डंस लिया। इस अप्रस्तुत तोते के वृत्तान्त से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होती हैं, जो कि ख्याली पुलाव पकाते समय ही, असली पुलाव पकाने का उद्यम करने के पूर्व ही कालकवलित हो गया। इस प्रकार सादृश्यवश अप्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। साथ ही इष्ट के बजाय अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होने से 'विषादन' अलङ्कार भी है।

इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन् मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्।।[२]

यहाँ याचना करने वाले की मुखमलिनता के सामान्य तथ्य का मेघ की उक्ति से समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

इसी प्रकार अन्य विविध अलङ्कारों के सुन्दर उदाहरण इस विलास में प्रयुक्त है।

छन्द प्रयोग की दृष्टि से भी यहाँ विविधता है। यहाँ छोटे-बड़े सभी छन्दों का प्रयोग हुआ है। मात्रिक छन्दों में आर्या, गीति, उपगीति, उद्गीति व वार्णिक छन्दों में अनुष्टुप्, उपजाति, रथोद्धता, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, मञ्जुभाषिणी, वसन्ततिलक, मालिनी, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, कालभारिणी आदि छन्दों का भावानुसारी सुन्दर प्रयोग हुआ है।

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.५६।

२. तत्रैव, श्लो.९६।

निष्कर्ष

'प्रास्ताविकविलास' के वर्ण्यविषय, भाव एवं कलापक्ष के विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह विलास विषय, भाव, भाषा, अलङ्कृति, छन्दादि सभी काव्यतत्त्वों का सुन्दर सम्मिश्रण है। इसमें अन्योक्तियों के माध्यम से नैतिक तथ्यों की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है, जिससे भाव कलात्मक आवरण में लिपट कर अति सरस बन पड़े हैं और उनमें उपदेश का बोझिल रूप नहीं आ पाया है। भाषा व छन्दादि के अनुकूल प्रयोग ने भावों को गति प्रदान की है तथा अलङ्कार प्रयोग ने भावसौन्दर्य को और अधिक उद्दीप्त कर दिया है। इस प्रकार इन सभी दृष्टियों से इसके श्लोक सुन्दर बन पड़े हैं। केवल एक ही कमी खटकती है, वह यह कि इसमें रसगङ्गाधर के कुछ ऐसे उदाहरण पद्यों को भी संगृहीत कर लिया गया है, जो विलास के मुख्य वर्ण्यभाव नीति प्रतिपादन से मेल नहीं खाते हैं। फलत: विलास में इनका संग्रह अप्रासंगिक लगता है। यदि इन श्लोकों को छोड़ कर इनमें मात्र नीतिपरक श्लोकों का संकलन किया जाता, तो यह विषय प्रतिपादन के शुद्ध विभाजन की दृष्टि से उचित लगने के साथ-साथ सुन्दर भी लगता।

शृङ्गारविलास

'भामिनीविलास' के द्वितीय विभाग 'शृङ्गारविलास' में रसगङ्गाधर के शृङ्गारिक चेष्टाओं व मनोवृत्तियों के वर्णन से सम्बन्धित उदाहरणश्लोकों का संकलन है। इसी आधार पर इस विलास का नामकरण 'शृङ्गारविलास' शीर्षक से किया गया है। इन श्लोकों में शृङ्गार के दोनों भेदों संयोग एवं विप्रलम्भ की सरस स्थितियों का चित्रण हुआ है। इस चित्रण में नायिका के सौन्दर्य का वर्णन, विविध प्रणयक्रीड़ाओं का अंकन तथा प्रेमी, प्रेमिकाओं के अन्तस्तल में विद्यमान ललित मनोभावों, मधुर उत्कण्ठाओं एवं सुकुमार भाव-भंगिमाओं का सुललित चित्रण किया गया है। रति के सरस प्रतिफलन के साथ-साथ इसमें ऐसे श्लोक भी समाहित हैं, जिनमें शृङ्गार के आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का सुरम्य चित्रण हुआ है। चूँकि 'शृङ्गारविलास' में संकलित अधिकाँश श्लोक 'रसगङ्गाधर' के उदाहरण पद्य हैं, अत: इस विलास में शृङ्गार के संयोग एवं विप्रलम्भ दोनों रूपों के वर्णनपरक श्लोकों के अतिरिक्त भावध्वनि, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता, भावाभास, रसाभास इत्यादि के चित्रणपरक श्लोक भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विलास का समग्र वर्ण्यविषय विषयवैविध्य के आधार पर तीन शीर्षकों में विभक्त

कर प्रस्तुत किया जा सकता है—१. संयोगशृङ्गारविषयक वर्णन, २. विप्रलम्भ-शृङ्गारविषयक वर्णन, ३. नायिका की विविध अवस्थाओं का चित्रण।

संयोगशृङ्गारविषयक वर्णन

संयोगशृङ्गार की वर्णन परिसीमा में मुख्यत: रूपवर्णन, प्रणयव्यापार का अंकन तथा नायिकाभेद का वर्णन प्रमुखत: आते हैं। शृङ्गारविलास में इसके अन्तर्गत रूपचित्रण व प्रणय अठखेलियों का वर्णन हुआ है।

रूपचित्रण

रूपचित्रण प्रसङ्ग में नायिका के विभिन्न अङ्गों के ललित सौन्दर्य के चित्रणपरक श्लोक इस विलास में संकलित हैं। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम मुख सौन्दर्य ही समवलोकनीय है। अनुपम सौन्दर्यशालिनी नायिका के मुख का सादृश्य चन्द्रमा व कमल इन दो प्रसिद्ध उपमानों के साथ वर्णित किया गया है। यह सादृश्य कहीं शब्दत: व कहीं ध्वन्यर्थों से व्यक्त हुआ है। यथा वर्णन है कि जैसे चन्द्रमा समस्त दिशाओं के अन्धकार को दूर करता है, संतप्त लोगों के संताप को शान्त करता है तथा कमलों की शोभा को परिमुद्रित कर देता है, वैसे ही नायिका के मुखमण्डल की अद्भुत प्रभा से लोगों का संताप दूर हो रहा है, दिशाओं का अन्धकार विगलित हो रहा है एवं कमलों का सौन्दर्य आवृत्त हो गया है—

तिमिरं हरन्ति हरितां पुरःस्थितं
तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनस्त्विषस्तव चकोरलोचने
परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः॥[1]

कहीं चन्द्रमा को कलङ्की, पाण्डुवर्णी तथा राहुग्रसित बतलाते हुए नायिका के मुख की शोभा को इन दोषों से रहित होने के कारण चन्द्रकान्ति से भी अधिक कान्तिमान् सिद्ध किया गया है।[2]

केवल सादृश्य ही नहीं इस मुखचन्द्र को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने हेतु नाना प्रकार की रमणीक कल्पनाएँ भी की गई हैं। जैसे कहीं मुखमण्डल को उज्ज्वल दन्तच्छटा से नितान्त रमणीय, कमलों की कान्ति के समान शोभायमान तथा अमृत के समान आनन्ददायक बताने के लिए उसकी मुखशोभा के समक्ष चन्द्रमा

१. शृङ्गार वि., श्लो.२९; २. तत्रैव श्लो.१।

की सत्ता की ही निरर्थकता प्रतिपादित कर यहाँ तक कह दिया गया है कि दन्तच्छटा से नितान्त रमणीय, कमलों की कान्ति का हरण करने वाले, सघन अमृतयुक्त नायिका के इस मुख को बनाकर ब्रह्मा संसार से चन्द्रमा को हटा क्यों नहीं देता?[१]

एक अन्य श्लोक में वर्णन है कि नायिका के मुखचन्द्र द्वारा अमृत बिखेरना, कामदेव की निर्विघ्नता, अन्धकार का विनाश व मनुष्यों के संताप नाश आदि सभी कार्यों के चन्द्रमा के समान करने पर यह श्वेत चन्द्रमा प्रतिदिन क्यों उदित होता है[२]? कभी ब्रह्मा को ही दोष देते हुए कहा गया है कि उनका यह बहुत बड़ा अज्ञान है कि उन्होंने सौन्दर्य की निधिभूत नायिका के मुखमण्डल की उपेक्षा कर दीनहीन चन्द्रमा को राजा बना दिया—

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो
महामोहं मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम्।
उपेक्ष्य त्वां यस्माद् विधुमयमकस्मादिह कृती
कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमकरोत्।।[३]

नायिका के शाश्वत सौन्दर्य का वर्णन करने के क्रम में ही कहा गया है कि चन्द्रमा को जिसने राजा बनाया वह ब्रह्मा तो बूढ़ा और कुण्ठित इन्द्रियों वाला हो गया; किन्तु अब इस संसार के नूतन विधाता कामदेव निश्चय ही नायिका के शाश्वत सौन्दर्ययुक्त मुख को अखण्ड राज्य प्रदान करेंगें—

राजानं जनयांबभूव सहसा जैवातृक त्वां तु यः
सोऽयं कुण्ठितसर्वशक्तिनिकरो जातो जरातो विधिः।
संप्रत्युन्मदखञ्जरीटनयनावक्त्राय नित्यश्रिये
दाता राज्यमखण्डमस्य जगतो धाता नवो मन्मथः।।[४]

चन्द्रमा से सादृश्य के अतिरिक्त नायिका के मुखमण्डल का सौन्दर्य प्रतिपादन कमलों से उपमित कर भी किया गया है। यथा नायिका के मुखकमल के प्रफुल्लन द्वारा कलानिधि चन्द्रमा का दारिद्र्य, पूनम की रात व कुमुदवनों में मालिन्य, दिशाओं का प्रकाशन तथा मित्रों में उत्कर्ष प्रसार बतलाया गया हैं—

---

१. शृङ्गार वि., श्लो.१७८; २. तत्रैव, श्लो.१५८।
३. तत्रैव, श्लो.१४७; ४. तत्रैव, श्लो.६२।

द्रारिद्र्यं भजते कलानिधिरयं राकाधुना ग्लायति
स्वैरं कैरवकाननेषु परितो मालिन्यमुन्मीलति।
द्योतन्ते हरिदन्तराणि सुहृदां वृन्दं समानन्दति
त्वं चेदञ्चसि काञ्चनाङ्गि वदनाम्भोजे विकासश्रियम्।।[१]

चंचल अलकावलियों से समन्वित नायिका की कपोल पङ्क्ति को कुबेर की अलका नगरी से रमणीक बनी उत्तरदिशा ही समझ लिया गया है।[२] केशपाशों की तुलना कभी सेवारों[३] तथा कभी सर्पों[४] से दी गई है। कहीं घने काले केशों को देखकर यह कल्पना की गई है कि मुखचन्द्र की कान्ति न पड़ने के कारण ही ये मानों घने अन्धकार के रूप में हैं।[५] कहीं कपोल से स्तनमण्डल पर गिरते हुए कामिनी के कुटिल केशों की तुलना मेरु पर्वत पर चन्द्रमण्डल से लटकते हुए नाग से की गई है।[६]

नायिका के दीर्घ, सुन्दर, चञ्चल एवं कटाक्षयुक्त नेत्रों का साम्य कभी खंजन पक्षी[७], कभी नीलकमल[८], कभी मृग[९] एवं कभी मीन[१०] से किया गया है। इन सुन्दर नेत्रों के सर्वसम्मोहनकारी, मादक कटाक्षपातजन्य प्रभाव द्वारा प्रेमीजनों का आनन्दोद्रेक से मूर्च्छित हो जाना बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में बड़ी रुचिर कल्पना की गई है कि नायिका के नेत्रों में जो श्वेत श्यामता है वह दृष्टि का स्वरूप नहीं; अपितु अमृत व विष है, नहीं तो क्या कारण है कि इसके दृष्टिपात मात्र से युवजन एक साथ मोह व मोद अर्थात् मूर्च्छा व आनन्द को प्राप्त हो जाते हैं—

श्यामं सितं च सुदृशोर्न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः।।[११]

नायिका के स्वभावतः कोमल, रक्तिम् व मधुर अधरों को बिम्बफल तथा प्रवाल से भी अधिक रक्तिम, किसलय से भी अत्यन्त कोमल तथा मधुर रस

---

१. शृङ्गार वि. श्लो.५६; २. तत्रैव श्लो.९।
३. तत्रैव श्लो.१३३; ४. तत्रैव श्लो.११८।
५. तत्रैव श्लो.१४४; ६. तत्रैव श्लो.१२८।
७. तत्रैव श्लो.८८; ८. तत्रैव श्लो.१५९।
९. तत्रैव श्लो.१७६; १०. तत्रैव श्लो.१३३; ११. तत्रैव श्लो.७६।

से भी अधिक माधुर्यपरिपूर्ण बताया गया है।[१] अरुण अधरों के संयोग से मिश्रित होकर रक्ताभ हो गई स्वच्छ दाँतों की श्वेत कान्ति की उपमा कहीं केसर[२] से दी गई है, तो कहीं मणि से[३]।

नायिका के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए स्तनों की समता कहीं बेर, आँवले, अनार, आम व गजशावक के गण्डस्थल से की गई हैं[४], तो किसी श्लोक में उनकी तुलना सुन्दर स्वर्णघटों, जम्बीरों, सुमेरु पर्वत व गजकुम्भों से की गई है।[५]

क्षीणोदरि, क्षीणकटि नायिका के कटिप्रदेश की कृशता का कारण भी बड़ा मनोरम वर्णित किया गया है और वह है स्थूल स्तनद्वय के भार को न सहन कर पाना—

परस्परासङ्गसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः।
तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिंपरामवैमि मध्यस्तनिमानमञ्चति।।[६]

यौवन के आगमन व शैशवावस्था के गमन के साथ चाल का मन्थर होना, बिम्बफल के समान हृदय का भी रक्त अर्थात् अनुरक्त हो उठना एवं कामदेव के हाव-भावों के साथ नितम्ब के भी गुरु हो उठने के साथ यौवनवती नायिका का सुन्दर चित्र कवि की लेखनी में उतर कर उसे अभिराम बना गया है—

मान्थर्यमाप गमनं सह शैशवेन
रक्तं सहैव मनसाधरबिम्बमासीत्।
किं चाभवन् मृगकिशोरदृशोर्नितम्बः
सर्वाधिको गुरुरयं सह मन्मथेन।।[७]

अङ्ग-प्रत्यङ्ग के रूप-निरूपण के अतिरिक्त नायिका के समष्टिगत सौन्दर्य के वर्णनपरक कई श्लोक इस विलास में समाहित हैं। यथा एक पद्य में उसकी अधरकान्ति को पल्लवातिशायिनी, मुखशोभा को चन्द्रकान्ति उल्लङ्घिनी तथा शरीरसम्पत्ति को अनुपमेय बताते हुए उसे विधाता की रचना ही मानने से इन्कार किया गया है,[८] कभी यह कहा गया है कि अगर कहीं अन्धकार,

१. शृङ्गार वि. श्लो.८७, ९९;
२. तत्रैव श्लो.११९।
३. तत्रैव श्लो.९९, ९३;
४. तत्रैव श्लो.८।
५. तत्रैव श्लो.९१;
६. तत्रैव श्लो.१४३।
७. तत्रैव श्लो.८४;
८. तत्रैव श्लो.६८।

शरत्कालीन चन्द्रमा, चाँदनी, कमल, प्रवाल व चम्पक की कलियाँ एक साथ मिलें तो नायिका के मुख से किञ्चित् तुलना की जा सकती हैं।[१]

नायिका के रूप की अगाधता, प्रणयी स्वभाव, नेत्रों का चांचल्य, हाथों एवं पैरों की सुन्दरता, कोमलता, केशों की सघनता, कुटिलता एवं नाभि की सुन्दरता का निरूपण रूपकालङ्कार के सुन्दर प्रयोग द्वारा बड़े कलात्मक ढंग से हुआ है। सुन्दरी नायिका को रूप की नदी के रूप में चित्रित कर उसके अनुरागी स्वभाव को जल के रूप में, आँखों को मछलियों, हाथों व पैरों को कमलों तथा केशों को सेवार के रूप में चित्रित किया गया है।[२] कभी किसी विषम सुन्दरी नायिका का भयंकर नदी के रूप में वर्णन करते हुए उसके सौन्दर्य को जल के रूप में, नाभि को भँवर एवं केश-पंक्तियों को सर्पों के रूप में चित्रित किया गया है—

रूपजला चलनयना नाभ्यावर्ता कचावलीभुजगा।
मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणी तरङ्गिणी विषमा॥[३]

प्रणयव्यापार का अंकन

रूपचित्रण के अतिरिक्त नायक नायिका की विविध प्रणयजन्य क्रीड़ाओं के भी वर्णनपरक कई सुन्दर श्लोक इस विलास में समाहित हैं। इनमें कुछ तो संयोगशृङ्गार के उदाहरण हैं और कुछ शृङ्गार की परिसीमा में आने वाले संचारी भावों की मधुर व्यंजना होने के कारण भाव ध्वनि के। इनमें कहीं गुरुजनों के बीच बैठी हुई नायिका कटाक्षपात द्वारा शृङ्गारिक चेष्टाएँ करती हुई चित्रित की गई है[४], तो कहीं उनसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद पाने पर आनन्दवश प्रियतम पर कटाक्षपात करती हुई चित्रित की गई है।[५] कहीं यह वर्णन है कि कोई नायिका शय्या पर साथ सोए नायक की आँखें अपने हाथों से ढ़ककर यह चेष्टा कर रही है कि नायक प्रभात न जान पाए[६], तो किसी चित्रण में कोई नायक गुरुजनों के मध्य में बैठी नायिका को कमलदण्डी के प्रहार से धीरे से मार रहा है व नायिका भौंहे टेढ़ी कर क्रुद्ध हो रही है।[७] कहीं नायिका रतिक्रीड़ा में नायक द्वारा स्तनों पर दिए गए नखक्षत को देखती हुई व इसी समय नायक द्वारा देख लेने पर लज्जित होती हुई चित्रित हुई है।[८] कहीं यह

१. शृङ्गार वि., श्लो.१५०; २. तत्रैव, श्लो.१३३।
३. तत्रैव, श्लो.११८; ४. तत्रैव, श्लो.१७।
५. तत्रैव, श्लो.६; ६. तत्रैव, श्लो.५९।
७. तत्रैव, श्लो.१८; ८. तत्रैव, श्लो.३०।

वर्णन है कि नायिका अपने प्रियतम से रूठी हुई सोई थी कि नायक वहाँ जाकर सखियों को हटाकर खुद पंखा झलने लगा और नायिका यह जानते हुए भी कि यह नायक है, झूठ झूठ आँखे बन्द कर, सखि! तुम थक गई हो, यह कहकर उसका हाथ वक्ष पर रख रही है।[१] कहीं प्रियतम के साथ एक ही शय्या पर सोई हुई नायिका प्रियमिलन की चाह मन में रखकर उसे पूरा न कर पाती, शरमाती हुई प्रियतम के मुखकमल को चोरी-चुपके से देखती हुई वर्णित की गई है—

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते।।[२]

इसी प्रकार नवीन समागमवाले नायक-नायिका की उत्कण्ठावश परस्पर मिलती हुई व लज्जा से निमीलित होती हुई आँखों का उत्कर्ष कहीं विजयी रूप में चित्रित है, जो पाठकों को रससागर में अवगाहन करा देता है—

औत्सुक्यात् परिमिलतां त्रपया संकोचमञ्चतां च मुहुः।
नवसंगमयोर्यूनोर्नयनानामुत्सवो जयति।।[३]

एक भावचित्र उस रूठी प्रियतमा को समर्पित है, जो मानभङ्ग होने पर प्रियतम की भुजाओं पर अपने कपोल को इस प्रकार रख रही है मानों सोते हुए ही यह सब कर रही हो—

मानपराग्वदनापि प्रिया शयानेव दयितकरकमले।
उद्वेल्लद्भुजमलसग्रीवाबन्धं कपोलमाधत्ते।।[४]

विप्रलम्भशृङ्गार विषयक वर्णन

प्रियपात्रों के एक दूसरे से विलग होने या आँखों से ओझल होने के क्षणों की अभिव्यक्ति वियोग या विप्रलम्भशृङ्गार को जन्म देती है। शृङ्गारविलास में विप्रलम्भ के प्रवास व मान सम्बन्धी भावों का रुचिर चित्रण अधिक प्राप्त होता है। प्रणयमान का वर्णन करते हुए नायक व सखियों द्वारा मानिनी नायिका को मनाने के सुन्दर स्थल पण्डितराज के भावप्रवण मन एवं रससिद्ध लेखनी के स्वयं प्रमापक हो जाते हैं। यथा रुष्टा नायिका को मनाते-मनाते परेशान हो उठे नायक का चित्रण दर्शनीय है। नायक अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता व्यक्त करते

१. शृङ्गार वि. श्लो.८३; २. तत्रैव, श्लो. १००।
३. तत्रैव, श्लो. ४३; ४. तत्रैव, श्लो. ४९।

हुए कहता है, हे मृगनयनी! विनती करने पर तुम्हारे नेत्रों में क्रोध की लालिमा स्पष्ट दिखाई देती है, प्रणाम करने पर अविच्छिन्न अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं, चले जाने पर प्राणों का भय है, अतः अफसोस, तुम कैसे प्रसन्न होगी, यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ?—

विनये नयनारुणप्रसाराः प्रणतौ हन्त निरन्तराश्रुधाराः।
अपि जीवितसंशय प्रयाणे नहि जाने हरिणाक्षि केन तुष्येः॥[१]

किसी श्लोक में सखियाँ मानिनी के मानापहार में सुन्दर वाक्कौशल का प्रयोग करती चित्रित की गई हैं। उनके द्वारा कामदेव की चिन्ता, सखियों की श्रीविहीनता व प्राणनाथ की व्याकुलता की दुहाई देकर नायिका से मान-परित्याग की प्रार्थना की गई है। तर्क भी अति सुन्दर है—

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत् त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे
मुग्धे मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति॥[२]

अरी मुग्धे! कामदेव चिन्ता से तिरोहित हृदय वाला है, सखियाँ प्रभाहीन हैं, प्राणनाथ प्रेम से व्याकुल है, ये सारी बातें दूर रहें, अगर तू मेरी बात हितकर समझती है, तो मैं तुम्हें समझाता हूँ। मान न कर नहीं तो चन्द्रमा इस मुख को जीत लेगा।

कहीं नायक द्वारा रूठी प्रियतमा से मनुहार करने तथा यह कहते हुए समझाने का वर्णन है, हे मुग्धे! रात्रि आ ही गई, चन्द्रकिरणों से दिशाओं का अन्तराल व्याप्त हो गया, रमणियाँ घरों में अलङ्कारों से अपने अङ्गों को सजा रही हैं, फिर भी तुम जरा-सा भी मान दूर नहीं कर रही हो, हाय! क्रोध से तुम्हारा अभिनव मृणाल से भी अधिक दुर्बल शरीर झुलसा जा रहा है—

आयातैव निशा निशापतिकरैः पूर्णं दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरङ्गान्यलङ्कुर्वते।
मुग्धे मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा हा बालमृणालतोऽप्यतितरां तन्वी तनुः क्षाम्यति॥[३]

---

१. शृङ्गार वि., श्लो.१९।

२. तत्रैव, श्लो.५२; ३. तत्रैव, श्लो.५४।

किसी कारणविशेष से प्रिय के विदेश चले जाने पर हृदय में उत्पन्न विरहावस्थाजनित संताप की अभिव्यक्ति प्रवास विप्रलम्भ की द्योतिका होती है। इस अवस्था में वियोग की अवधि दीर्घ होने के कारण व चिरकाल तक परस्पर न मिल पाने के कारण विरहवेदना की तीव्र अनुभूति होती है। शृङ्गारविलास के कई श्लोकों में प्रवासविप्रलम्भ का चित्रण हुआ है। यथा एक श्लोक में ऐसी मुग्धा नायिका का चित्रण किया गया है, जो नवोढ़ा होने के कारण पहले पति का कटाक्ष स्पर्श भी सहन नहीं कर पाती थी, वही प्रिय के परदेशगमन की बात सुनकर विजड़ित रह जाती है और पति द्वारा आलिङ्गित होने पर भी कुछ न कह चुपचाप खड़ी ही रह गई[१], कहीं नायक के विदेश जाते समय किसी मुग्धा नायिका को अत्यन्त व्यथित, उद्विग्न व बेचैन दिखाया गया है जबकि अन्य पारिवारिक जनों द्वारा प्रस्थानकालीन, माङ्गलिक वचन बोले जा रहे हैं, उसके अधर निःश्वासों से सूख रहे हैं और वह बेचारी क्रीड़ागृह की खिड़की से चुपचाप आँसू बहाते हुए प्रियतम को जाते हुए देख रही हैं।[२]

यह तो हुई प्रस्थानकालिक मनोदशा। नायक के परदेश में रहने पर नायिका की विरहविदग्ध दशा के चित्रणपरक कई सुन्दर स्थल दर्शनीय हैं। कहीं नायिका प्रियविरह में इतनी संतप्त वर्णित की गई है कि मलयानिल उसे सर्पों के मुँह से उगली जहरीली हवा के समान, नवकिसलय संयुक्त आम्रवृक्ष जलाने वाले, उन पर गुंजायमान भँवरे चेतना का हरण करने वाले तथा कोयल की कूक जहर बिखेरती लगती है—

पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखायाता इवातापिनो
वाता वान्ति दहन्ति लोचनमयी ताम्रा रसालद्रुमाः।
एते हन्त किरन्ति कूजितमयं हालाहलं कोकिला
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान् कथं रक्षतु॥[३]

कहीं मरणासन्न दशा के रूप में भी नायिका के विरह का वर्णन किया गया है। नायिका प्रियविरह में इतनी क्षीण हो गई है कि उसकी सांसें अनुमान द्वारा ही जानने योग्य, अङ्ग ठण्डे व दृष्टि निश्चल हो गई हैं—

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टिः।
तस्याः सुभग कथेयं तिष्ठतु तावत् कथान्तरं कथय॥[४]

---

१. शृङ्गारवि., श्लो.४८; २. तत्रैव, श्लो.५५।
३. तत्रैव, श्लो.२७, ५७; ४. तत्रैव, श्लो.८५।

कवि ने परदेश गए हुए विरही नायक की मनोभावनाओं का भी रुचिर चित्रण किया है। कहीं कोई नायक अपनी प्रिया की गुरुजनों के भय से भयभीत कमलवत् रमणीय आँखों को भूल पाने में असमर्थ है[१] तो कहीं चित्रण उस नायक को समर्पित है, जो प्रियतमा की मन्द मधुर हंसी, निःश्वास व रमणीय मुखशोभा को भूल पाने में असमर्थ है—

तन् मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त
सायंतनाम्बुजसहोदरलोचनायाः॥

कोई नायक प्रात:काल ढ़ीली नीवी को बाँधनेवाली नायिका की नाभि की सुन्दरता को ही याद करता हुआ चित्रित किया गया है[२], तो किसी श्लोक में नायक द्वारा यह चाह वर्णित हुई है कि पति आ गए हैं, ऐसा लोगों से सुनती हुई, चकित होकर देहली पर आई हुई मेरी प्रिया कौमुदी के समान मेरे नेत्रों को कब शीतल करेगी[३]? किसी का मन अपनी प्रियतमा के समागमकालीन सौन्दर्य एवं चेष्टाओं से आप्यायित है[४]। तो किसी प्रवासी विरही द्वारा नींद को ही प्रिया से मिलाने वाली बताया गया है।[५] कहीं नायक की स्वाभाविक भावनाएँ व्यक्त हुई हैं कि समस्त उपनिषद् पी लेने पर व गीता का पारायण कर लेने पर भी वह चन्द्रमुखी नायिका मन से बाहर नहीं जाती—

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हन्त मतिपथं नीता।
तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद् बहिर्याति॥[६]

नायिका की विविध अवस्थाओं का चित्रण

पण्डितराज ने शृङ्गारविलास में नायिकाओं के नानाविध प्रभेदों में से मृदु मानवती मुग्धा नायिका के ही चित्र अंकित किए हैं, प्रणयभावभरित उसकी ही चेष्टाओं एवं हाव-भावों को शब्द दिए हैं, प्रेम-प्रकाशन में उसकी ही लज्जाशीलता व झिझक का निरूपण किया है। कहीं नायिका इतनी कोमलहृदया दिखाई गई है कि प्रियतम द्वारा मानपरित्याग की प्रार्थना करते ही रोने लगी व उसका मान तुरन्त उसके हृदय से निकल भागा[७], तो कहीं ऐसी मुग्धा का वर्णन है,

१. शृङ्गार वि., श्लो.५; २. तत्रैव, श्लो.१०।
३. तत्रैव, श्लो.१४; ४. तत्रैव, श्लो.३,२३।
५. तत्रैव, श्लो.२०; ६. तत्रैव, श्लो.३८; ७. तत्रैव, श्लो.१५१।

जिसने प्रणयमान तो किया; किन्तु रात आई जानकर उसका धैर्य डिगने लगा व मान विशृङ्खलित होना चाह ही रहा था कि अचानक चन्द्रोदय हुआ देखकर उसने झट मान त्याग दिया।[१]

इसी प्रकार कोई भावचित्र ऐसी सरलहृदया मुग्धा का वर्णनपरक है, जिसने क्रोधावेश में प्रिय को झिड़क तो दिया; किन्तु प्रिय के मुँह फेरकर चुपचाप सो जाने पर उसे दुखी जानकर उसका बहुत देर तक चुम्बन व आलिङ्गन करती रही।[२]

कहीं उस नायक का वर्णन है जो रोष में प्रिया से रूठ कर घर से ही निकल गया व बेचारी नायिका कातर हो उठी[३], तो कहीं ऐसी नायिका का वर्णन है, जिससे नायक किसी बात पर नाराज हो गया व क्रोध से बड़बड़ाते हुए रात में ही झूठमूठ बाहर जाने की तैयारी करने लगा, नायिका मुग्धा थी; अतः बेचारी रोने लगी व नायक को मनाने लगी तथा नायक द्वारा कही गईं सभी बातें उसने चुपचाप सुन लीं—

मुधैव मन्तुं परिकल्प्य गन्तुं मृषैव रोषादुपजल्पतो मे।
उदश्रुचञ्चन्नयना नताङ्गी गिरं न कां कामुररीकरोति।।[४]

शृङ्गारविलास में प्रोषितभर्तृका नायिका की विरह वेदना का भी कई श्लोकों में चित्रण किया गया है। नायक के परदेश चले जाने पर कहीं नायिका वक्षस्थल पर सेवार का लेप किए हुए अत्यधिक विकलता से हाथ पैर पटकती हुई, प्रियतम का बारम्बार नाम लेती हुई व सखियों को बड़ी दीनदृष्टि से निहारती हुई चित्रित की गई है[५], तो कहीं प्रियविरह से व्याकुल हो प्रलाप करती हुई वर्णित की गई है।[६]

किसी श्लोक में ऐसी आगतपतिका नायिका का चित्रण है जो प्रिय के परदेश चले जाने पर वियोगव्यथा से अत्यन्त निर्बल होकर नवीन चन्द्रकला के समान क्षीण रह गई थी, फलतः तीव्र विरहताप से दग्ध हुई सेवार की सेज पर लेटी हुई वह प्रियतम के परदेश से आने पर भी केवल मीठी चितवनों से ही उसका सत्कार कर रही है[७]; कहीं कोई मुग्धा विक्षिप्त ही हो गई है और प्रियविरह में निरन्तर प्रियतम-प्रियतम की रट लगाते हुए पास में प्रियतम

---

१. शृङ्गार वि., श्लो.५८; २. तत्रैव, श्लो.९६।
३. तत्रैव, श्लो.२४; ४. तत्रैव, श्लो.१२।
५. तत्रैव, श्लो.२५; ६. तत्रैव, श्लो.३९; ७. तत्रैव, श्लो.६६।

के आने पर भी विक्षिप्तता के कारण उसे परिचयहीन की तरह देखती हुई चित्रित की गई है।[१] किसी विरहिणी को प्रियविरह में इतनी अधिक आकुलता है कि वह जीवन की आशा ही छोड़ बैठी है। इस कारण मलयानिल उसे सर्पों द्वारा उगलीं जहरीली हवा के समान, लाल आमों के पेड़ अंगारे, उन पर गुंजार करने वाला भँवरा चेतना को हर लेने वाला तथा कोयलों की कूकें जहर बिखेरती लग रही हैं।[२]

काव्यसौष्ठव

'शृङ्गारविलास' के वर्ण्यविषयान्तर्गत इस समग्र आलोडन के उपरान्त ज्ञात होता है कि इस विलास में संकलित अधिकांश श्लोक रसगङ्गाधर में उद्धृत उदाहरण पद्य हैं। इनकी रचना भी विविध काव्यशास्त्रीय प्रसङ्गों पर घटने वाले उदाहरण श्लोकों के रूप में की गई है। अत: इनमें अनेक श्लोकों में भावपक्ष की मन को छू लेने वाली वह भावप्रवणता एवं कलापक्ष की वह सुन्दरता नहीं मिलती जो प्राय: शृङ्गारिक श्लोकों की मूल माँग होती है और अन्य कवियों के शृङ्गारिक श्लोकों में दिखाई देती है। सच कहा जाय तो इसके अधिकांश श्लोकों में रसगङ्गाधर के विविध काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर ठीक-ठीक घटने का लोकनिर्वाह प्राप्त होता है, शृङ्गार की उन्मुक्त अभिव्यक्ति नहीं। यदि पण्डितराज के साथ यह बाध्यता न होती और शृङ्गारविलास उनकी शृङ्गारिक रसस्थली का मुक्तप्राङ्गण होता, तो निस्सन्देह पण्डितराज जैसे शब्द-शिल्प व रससम्पदा के धनी कवि के हाथों एक दूसरे अमरुकशतक की निर्मिति 'शृङ्गारविलास' के रूप में पाठकों के सतत रसास्वादन हेतु सामने आती। तथापि शृङ्गारविलास में अनेक ऐसे श्लोक हैं, जो भावप्रवणता की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं एवं शृङ्गार की सरस, मधुर एवं भावभीनी छवियों को सतत बिखेरते हैं। कुछ उदाहरण श्लोकों द्वारा पण्डितराज की रसराज शृङ्गार की रसवर्षण सामर्थ्य भी समदर्शनीय है। प्रियतम के परदेश प्रस्थान करने का भावभीना अवसर है एवं मुग्धा नायिका की अश्रुकणों से गीले एवं निःश्वासों से सूखते अधरों वाली व्याकुल मनोदशा—

वाचो माङ्गलिकी प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पञ्जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजम्।
निःश्वासग्लपिताधरं परिपतद् वाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बालालोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते।।[३]

---

१. शृङ्गार वि. श्लो.६७।
२. तत्रैव, श्लो.५७; ३. तत्रैव, श्लो.५५।

नायिका का पति परदेश जा रहा है, लोग उसे भाँति-भाँति के आशीर्वाद दे रहे हैं, स्वस्तिवचन कह रहे हैं। परन्तु नायिका की दशा कुछ और ही है। वह बेचारी क्रीड़ागृह की खिड़की के सामने मुखकमल को रखे हुए, आँसुओं से गीले हो गए स्तनों वाली एवं चंचल नेत्रों वाली होकर निःश्वासों से सूखते हुए अधर से युक्त होकर प्राणनाथ को देख रही है।

इसी प्रकार संयोगशृङ्गार की एक रमणीय स्थिति दर्शनीय हैं, जहाँ रूठी हुई नायिका क्रोधवश क्रीड़ागृह में सोई है। नायक की मन:स्थिति विचित्र है। वह चाहता है कि नायिका जल्दी से जल्दी क्रोध का त्याग कर दे। अत: वह वहाँ पहुँचकर इशारे से सखियों को हटाकर खुद पंखा झलने लगा तथा नायिका सब कुछ जानते हुए भी झूठ-मूठ आँखे बन्द कर प्रिय के हाथ को सखि का हाथ समझकर, सखि! तुम थक गई होगी, यह कहकर वक्षस्थल पर रख रही है। सचमुच मान के विगलन होने पर भी कृत्रिम क्रोधवश मानप्रदर्शन की सरस स्थिति का प्रतिपादक यह श्लोक नितान्त रमणीय है—

केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येङ्गितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः।
जानन्त्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि
श्रान्तासीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममासञ्जितः॥[१]

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक द्रष्टव्य है; जहाँ ऐसी मुग्धा नायिका के प्रणयमान का वर्णन है, जिसने नायक से प्रणयमान तो किया; परन्तु वह मान रात आते ही डगमगाने लगा कि इतने में चन्द्रोदय हो गया और उसे सिर पर पैर रखकर भागना पड़ा—

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती
मानो मे कथमेष सम्प्रति निरातङ्कं हृदि स्थास्यति।
ऊहापोहमिमं सरोजनयना यावद् विधत्तेतरां
तावत् कामनृपातपत्रसुषमं बिम्बं बभासे विधोः॥[२]

प्रणय अठखेली का चित्रणपरक वह श्लोक भी भावसौन्दर्य हेतु द्रष्टव्य है, जहाँ प्रियतम के साथ शय्या पर सोई नायिका प्रियतम की आँखे इसलिए अपने हाथों से विलासपूर्वक मूँद देती है, ताकि उसका प्रियतम उसके साथ देर

१. शृङ्गार वि., श्लो.८३; २. तत्रैव, श्लो.५८।

तक लेटा रहे। लेकिन वह तो और चतुर निकला। उसने कमलिनियों के सुगन्ध समूह को चुराने वाले पवनों के द्वारा सूर्य के उदय को अधिक सुन्दर ढंग से जान लिया—

प्रभातसमयप्रभां प्रणयिनि ह्नुवाना रसा-
दमुष्य निजपाणिना दृशममीलयल् लीलया।
अयं तु खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरै-
र्रवेरुदयमध्यगादधिकचारु तैर्मारुतैः॥[१]

नायक द्वारा मानिनी नायिका की मनुहार तथा नायिका के स्वाभाविक मान का सरस चित्रण भी निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है, जहाँ नायक यह समझ पाने में असमर्थ वर्णित किया गया है कि नायिका किस तरह प्रसन्न होगी; क्योंकि उसके विनती करने पर उसकी आँखों में क्रोध से लालिमा छा जाती है, प्रणाम करने पर अश्रुधाराएँ बहने लगती हैं तथा चले जाने पर प्राणों के जाने का ही संशय बन जाता है—

विनये नयनारुणप्रसाराः प्रणतौ हन्त निरन्तराश्रुधाराः।
अपि जीवितसंशयः प्रयाणे नहि जाने हरिणाक्षि केन तुष्येः॥[२]

अन्यत्र नायक का अपने मित्र से यह कहना कितना रोचक, सरस व भावपूर्ण है कि बारम्बार अच्छी तरह समझी गईं सैकड़ों श्रुतियाँ अथवा परिशीलित महाभारत भी उस सन्ताप को शान्त नहीं कर पाते, जैसे कि तत्काल केलि से थकी हुई प्रियतमा के मुखकमल से निकलता हुआ कान्ति से परिपूर्ण यह नकार शान्त कर देता है—

श्रुतिशतमपि भूयः शीलितं भारतं वा
विरचयति तथा नो हन्त सन्तापशान्तिम्।
अयि सपदि यथायं केलिविश्रान्तकान्ता-
वदनकमलवल्गत्कान्तिसान्द्रो नकारः॥[३]

सचमुच जब रमण से थकी प्रियतमा का नकार इतनी शान्ति देता है, तो उसका स्वीकार कितना मोहक, आनंददायक व सन्तापशामक होता होगा।

नानाविध शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों तथा छन्दःप्रयोगों से विलसित इस विलास की भाषा शृङ्गाररस के अनुकूल माधुर्य व प्रसादगुणयुक्त

१. शृङ्गार वि., श्लो.५९।
२. तत्रैव, श्लो.१९; ३. तत्रैव, श्लो.३३।

सानुप्रासिक कोमलकान्त पदावली है। प्रवाहपूर्ण एवं भावानुसारिणी इस भाषा को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वैदर्भी एवं पाञ्चाली रीतियों का नाम देय होगा। रसराज शृङ्गार की सुरम्य भावानुभूतियों को समर्पित इस विलास में शृङ्गार के दोनों प्रभेदों संयोग एवं विप्रलम्भ का सरस चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त शृङ्गार की परिसीमा में आने वाले आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भावों का भी यहाँ वर्णन हुआ है। कुछ श्लोक रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि व भावशबलता के उदाहरण भी हैं।

इस विलास का समग्र अनुशीलन इस निष्कर्षात्मक बिन्दु पर पहुँचाता है कि यह मुख्यत: रसगङ्गाधर के शृङ्गारिक मनोभावों से सम्बद्ध उदाहरण श्लोकों का ही संकलन है। इसके अधिकांश श्लोकों की रचना आचार्यत्व की आवश्यकता की पूर्ति हेतु ही हुई है। अत: ऐसे श्लोकों में वह रसवत्ता तथा आह्लादात्मकता नहीं, जो शृङ्गारिक श्लोकों की मुख्य माँग होती है, जिसके कारण उन्हें पढ़ते ही मन रसमग्न हो उठता है। तथापि अनेक ऐसे श्लोक हैं जो एक ओर शृङ्गार की सुमधुर भावनाओं का सम्यक् रूपेण चित्रण करते हैं, तो दूसरी ओर उदाहरण कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। यदि पण्डितराज अपनी लहरियों के समान किसी भी कसौटी से परे होकर 'शृङ्गारविलास' की स्वतन्त्र मानस से रचना करते, तो निश्चय ही रसराज शृङ्गार की रमणीयता लेखनी का स्पर्श पाकर चतुर्गुणित हो उठी होती।

करुणविलास

'करुणविलास' दिवंगता प्रियतमा के प्रति सम्बोधित कवि के शोकाकुल प्रेमीहृदय के उद्गारों का संकलन है। इन उद्गारों के करुणरस में उपनिबद्ध होने के कारण इस विलास का नाम 'करुणविलास' रखा गया है। इस विलास के कवि के व्यक्तिगत प्रियाशोक से सम्बन्धित होने के पक्ष व विपक्ष में दो प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं[१], लेकिन इसके श्लोक संख्या ५, ६ व १० से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये रचनाएँ कवि के व्यक्तिगत शोकानुभवों से सम्बद्ध हैं, जिनकी रचना कवि ने अपनी प्रिया की मृत्यु के उपरान्त विरहव्यथित होकर की थी।

१९ श्लोकों के इस लघु विलास में प्रिया के परलोकवासिनी होने के कारण प्रेमी के व्यथित एवं व्यग्र मानस की वेदना का वर्णन हुआ है। इन

१. द्रष्टव्य अध्याय पञ्चम भूमिका भाग।

श्लोकों में दिवंगता प्रिया के साथ व्यतीत अतीत की सुखद अनुभूतियों के स्मरण, प्रिया के रूप एवं गुणों के चित्रण तथा उसे लक्ष्य कर किए गए आत्मनिवेदन द्वारा विरही प्रेमी की कारुण्यविगलित दशा, व्यथा एवं वेदना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार सम्पूर्ण विलास में प्रेमी के व्यथित हृदय की मनोदशा तीन रूपों में चित्रित है—

१. अतीत की सुखद अनुभूतियों का स्मरण २. प्रिया के रूप एवं गुणों का चिन्तन एवं ३. प्रिया के प्रति व्यक्त निवेदन।

अतीत की सुखद अनुभूतियों का स्मरण

प्रिया के साथ व्यतीत सुखद क्षणों की याद करते हुए प्रेमी के सन्तप्त चित्त एवं कारुण्यविगलित दशा का कुछ श्लोकों में अच्छा अंकन हुआ है। विरह व शोकोन्माद में कभी वह सलज्ज मुस्कान, रसीले कटाक्ष व रमणीय वचनमाधुरी से स्निग्धता प्रदान करने वाली अपनी स्वर्गवासिनी प्रिया को यादकर यह कह उठा है कि—

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा पुरेव
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसाऽवलोकैः।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले
हा लेशतोऽपि न कथं शिशिरीकरोषि।।[१]

हाय! प्रियतमे! पहले के समान आज अचानक सहसा उस कामदेव की सहायक मुस्कानों, रसभरे कटाक्षों एवं मधुरवचनविन्यासों से शीतलता नहीं प्रदान कर रही हो।

कभी विवाह के समय उसका सहारा लेकर शिलाखण्ड पर चढ़कर वैवाहिक विधि पूरी करने वाली, किन्तु अब उसे छोड़ कर अकेले ही स्वर्गारोहण कर जाने वाली अपनी भामिनी को यादकर उसका हृदय विदीर्ण हो उठा है।[२] प्रिया के उस रूप की स्मृति उसके मन में बस कर रह गई है, जो सदैव अपनी अमृततुल्य स्निग्ध मुस्कान व प्रफुल्ल नयनों के कटाक्ष से उसका अभिसिञ्चन किया करती थी—

सा नित्य मङ्गलमयी गृहदेवता मे
कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति।।[३]

---

१. करुण वि., श्लो.२।
२. तत्रैव, श्लो.५; ३. तत्रैव, श्लो.१२।

स्मृति की इन्हीं गहराइयों में भटकते हुए कभी उसे अपने उन मधुर दिनों की याद आई है, जब उसकी प्रियतमा ने प्रेमविह्वल हो उसे स्वर्गीय सुख प्रदान किया था; किन्तु अब उसी प्रिया द्वारा उसे धरती की धूलि पर छोड़कर स्वर्ग चले जाने की अनुभूत स्मृति व्यथित एवं व्यग्र बनाए हुए है।[१] कभी काव्यसृजन में प्रेरणादायिनी अपनी प्रिया का स्मरण कर वह उसके अभाव में काव्यरचना को ही असम्भव जानकर शोकाकुल हो उठा है—

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे
पीयूषसारसरसास्तव ये विलासाः।
तानन्तरेण रमणी रमणीयशीले
चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः ॥[२]

किसी श्लोक में प्रियतमा द्वारा दिए गए स्वामिन्, चितचोर, प्रियतम आदि सम्बोधनों को यादकर व्यथित हो उठा है।[३] इस प्रकार स्मृतिजन्य विरहव्यथा से परिपूर्ण प्रेमी की मानसिक स्थिति का भावोद्बोधक चित्रण इस विलास में दर्शनीय है।

प्रिया के रूप एवं गुणों का चित्रण

पूर्वानुभूत सुखद स्मृतियों की शृङ्खला में विचरते हुए स्वर्गवासिनी प्रिया के मोहक रूप एवं गुणों को स्मरण कर भी प्रेमी द्वारा नाना भाँति विलाप किया गया है। जैसे कभी अपनी प्रियतमा को अनाचारादि दोषों से रहित, दयादि गुणों से परिपूर्ण, शृङ्गारादि विलासों से समन्वित, आभूषणों से अलङ्कृत श्रवण-सुखद वचनभाषिणी बतलाते हुए उसकी उपमा माधुर्यादि गुणों से परिपूर्ण, उपमादि अलङ्कारों से समन्वित, श्रवणसुखद वर्णों वाली अपनी मनोहारिणी कविता से दी है और उसे क्षणभर के लिए भी स्मृतिपथ से हटा देने में अपने आपको असमर्थ बताया है,[४] कभी उसके गुणों का संकीर्तन करते हुए उसे कपूर के अञ्जन के समान नेत्रों के संताप को हर लेने वाली, विकसित कमलों की माला के समान आनन्दप्रदायिनी, मनोहारिणी कविता के समान हृदयाह्लादिनी तथा मानुषियों द्वारा वन्दनीय देवाङ्गना के समान अद्भुत शोभाशालिनी कहते हुए स्मरण किया गया है। उसके उज्ज्वल लावण्य, अनुपम शील, अलौकिक नम्रता तथा अर्थयुक्त नीतिमत्ता आदि गुणों का गान किया गया है[५]—

१. करुण वि., श्लो.१३; २. तत्रैव, श्लो.१०।
३. तत्रैव, श्लो.१३; ४. तत्रैव, श्लो.६; ५. तत्रैव, श्लो.१४।

कर्पूरवर्तिरिव लोचनतापहन्त्री
फुल्लाम्बुजस्त्रगिव कण्ठसुखैकहेतुः।
चेतश्चमत्कृतिपदं कवितेव रम्या
नम्या नरीभिरमरीव हि सा विरेजे॥[१]

रूपराशि एवं गुणसम्पदा को याद कर विलाप करने के इसी क्रम में प्रणयी कवि की भावनाएँ नाना भाँति व्यक्त हुई हैं। कभी कमल, पूर्णिमा एवं चन्द्रमण्डल की रुचिरता तथा कोयलों के उल्लासमय गान को लक्ष्य कर उन्हें देखते हुए अपनी चन्द्रवदनी, कमलनयनी, कोकिलकण्ठी प्रिया को याद कर कहा गया है कि उसकी जिस प्रियतमा के विद्यमान रहते कमल, चन्द्र, पूर्णिमा आदि रुचिरताविहीन थे, व कोयलों का कलरव मन्द पड़ गया था, उसी प्रिया के स्वर्ग चले जाने पर कमलों में चिन्ताविहीनता, चन्द्रमण्डल व पूर्णिमा में अपेक्षाकृत अधिक रुचिरता व कोयलों के गान में अधिक मधुरिमा उत्पन्न हो गई है—

चिन्ता शशाम सकलाऽपि सरोरुहाणा-
मिन्दोश्च बिम्बमसमां सुषमामयासीत्।
अभ्युद्गतः कलकलः किल कोकिलानां
प्राणप्रिये यदवधि त्वमितो गतासि॥[२]

कभी उस प्रिया को सोने से भी अधिक उत्कृष्ट कान्ति वाली और अत्यन्त शुद्ध चरित्र बतलाते हुए ऐसी प्रिया की असामयिक मृत्यु पर खीझ कर अग्नि पर ही यह आक्रोश प्रगट किया गया है कि अग्नि ने उसे अत्यन्त शुद्ध व कान्तिमती जानकर मानों उसे ईर्ष्यावश जला दिया है।[३]

प्रिया के प्रति व्यक्त निवेदन

शोकाभिव्यक्ति के इस क्रम में प्रणयी कवि के द्वारा अपनी स्वर्गवासिनी प्रिया को सम्बोधित कर किए गए भावनिवेदन में भी व्याकुल मनोभावनाओं की बेधक अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रसङ्ग में कभी इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि प्रिया के स्वर्ग चले जाने पर अब कौन उसके दुःख में सहभागी बनेगा और उसके विकल हृदय को सान्त्वना प्रदान करेगा—

---

१. करुण वि., श्लो.१६।
२. तत्रैव, श्लो.७, ११;
३. तत्रैव, श्लो.१५।

कस्मै मनः! कथयितासि निजामवस्थां
कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम्[१]॥

कभी यह कहा गया है कि उसकी प्रिया ने धरती पर उसका सङ्ग छोड़ने के साथ ही उस पर कटाक्षपात द्वारा की जाने वाली कृपा को भी छोड़ दिया है।[२] कहीं यह शङ्का की गई है कि कहीं उसकी प्रिया उसके द्वारा अनजाने में किये गये किसी अवांछनीय कार्य से क्रुद्ध होकर तो किसी दूसरे लोक में नहीं चली गई है?[३]; तो किसी श्लोक में उसके सरस विलासों को अपनी काव्यरचना का प्रेरणास्त्रोत बताते हुए यह कहा है कि प्रिया के बिना उसकी काव्यरचना सम्भव कैसे हो सकेगी?[४] कहीं यह वर्णन है कि उसने मधुर सम्बोधनों द्वारा अपने इस प्रेमी को आनन्द के स्वर्ग पर चढ़ा दिया था, अब वही प्रिया स्वयं स्वर्ग पहुँचकर उसे धरती पर कैसे छोड़े जा रही है?[५] किसी श्लोक में यह कहकर विलाप किया गया है कि वह उज्ज्वल लावण्य, अनुपमशील, अलौकिक नम्रता तथा अर्थगर्भित नीतिमत्ता आदि स्वकीय गुणों के साथ ही अपने इस प्रेमी को भी बेसहारा छोड़कर स्वर्ग कैसे चली गई?[६] तो किसी अन्य श्लोक में यह कहकर शोक प्रकट किया गया है कि जिस प्रिया ने कभी स्वप्न में भी किसी गुणवान परपुरुष की ओर सकाम दृष्टिपात नहीं किया था, वही अब निर्गुण परपुरुष (परब्रह्म) को प्राप्त करने कैसे जा रही है?[७]

इस प्रकार इस विलास में प्रिया के विरह में प्रेमी की शोकाभिव्यक्ति उपर्युक्त तीन रूपों में बड़े सुन्दर ढंग से हुई है।

काव्य-सौष्ठव

विरही प्रेमी की मनोभावनाओं के सरल व स्वाभाविक चित्रण को समर्पित इस विलास में प्रिया को सम्बोधित कर आत्मनिवेदन करते एवं उसके विरह में विलाप करते प्रेमी के तर्क बड़े सीधे व सरल हैं। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

---

१. करुण वि., श्लो.१;
२. तत्रैव, श्लो.४।
३. तत्रैव, श्लो.९;
४. तत्रैव, श्लो.१०।
५. तत्रैव, श्लो.१३;
६. तत्रैव, श्लो.१४।
७. तत्रैव, श्लो.१७।

भूमौ स्थिता रमण नाथ मनोहरेति
सम्बोधनैर्यमाधिरोपितवत्यसि द्याम्।
स्वर्गं गता कथमिव क्षिपसि त्वमेण-
शावाक्षि तं धरणिधूलिषु मामिदानीम्।।[1]

यहाँ यह वर्णन हुआ है कि जिस मृगशावकाक्षी प्रियतमा ने धरती पर रहते हुए 'प्रियतम', 'स्वामिन्', 'चितचोर' आदि सम्बोधनों द्वारा उसे स्वर्ग पर चढ़ा दिया था, वही प्रियतमा अब स्वर्ग पहुँच कर उसे धरती की धूल में क्यों फेंक रही है? इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे
यारूढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि द्या-
मारोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति।।[2]

यहाँ विवाह के समय हाथ पकड़ कर पाषाणखण्ड पर चढ़ने की वैवाहिक विधि पूरी करने वाली; किन्तु अब अकेले ही स्वर्गप्रस्थान करने वाली प्रिया को लक्ष्य कर व्यक्त की गई व्यथा कितनी स्वाभाविक है। विलास के शेष अन्य श्लोक भी इसी प्रकार के स्वाभाविक हृदयोद्गार हैं।

इस विलास की भाषा प्रसादगुणयुक्त, प्रवाहपूर्ण, सहज आनुप्रासिकता सम्पन्न एवं भावानुसारिणी है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इसके श्लोकों में वैदर्भी व पाञ्चाली रीति का प्रयोग हुआ है।

इस विलास के वर्ण्यविषय के प्रियाशोक से आकुल प्रेमी की मनोभावनाओं की शोकाभिव्यक्ति होने के कारण इसके प्रायः सभी श्लोकों में करुणरस का प्रयोग हुआ है। एक-दो श्लोक करुण की परिसीमा में आने वाले संचारी भावों की ध्वनि के उदाहरण हैं।

अन्तःउद्गारों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होने के कारण इस विलास के श्लोकों में प्रसादगुण की प्रधानता है। कुछ स्थलों पर माधुर्य का प्रयोग भी परिलक्षित होता है।

वर्ण्यविषय के सरल अभिव्यक्ति रूप होने के कारण यहाँ अलङ्कारों की भी सरल प्रस्तुति हुई है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष व अर्थालंकारों

१. करुण वि., श्लो.१३; २. तत्रैव, श्लो.५।

में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः।
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा
रामा कदापि हृदयान् मम नापयाति॥[1]

यहाँ कवि ने अनाचार आदि दोषों से रहित, दया आदि गुणों से संवलित, शृङ्गार आदि विलासों से परिपूर्ण, आभूषणों से विभूषित, श्रवणसुखद वचनों वाली अपनी मनोहारिणी प्रियतमा की उपमा श्रुतिकटु आदि दोषों से हीन, माधुर्य्यादि गुणों से समन्वित उपमादि अलङ्कारों से संवलित श्रवणसुखद वर्णो वाली अपनी मनोहारिणी कविता से दी है।

यहाँ 'निर्दूषणा', 'गुणवती', 'रसभावपूर्णा' आदि जो विशेषण प्रस्तुत किये गये हैं, वे श्लिष्ट हैं। कविता और कामिनी दोनों के पक्ष में उनका अर्थ अलग-अलग है। फलतः यहाँ श्लेष है और कामिनी की समानता कविता से किये जाने के कारण उपमा भी है। अतः यह श्लिष्टोपमा का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों में प्रयुक्त 'मनोऽभिरामा' और 'रामा' पदों में 'रामा' शब्द की दो बार भिन्नार्थक आवृत्ति होने के कारण यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है। पहले 'रामा' का अर्थ मनोरम व दूसरे 'रामा' शब्द का अर्थ वनिता है। फलतः यमक है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण श्लेष व यमक इन दो शब्दालंकारों व उपमा अर्थालङ्कार का सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार श्लेषोत्थापित विरोधालङ्कार का सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनी पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम्।
सा सम्प्रति प्रचलितासि गुणैर्विहीनं
प्राप्तुं कथं कथय हन्त परं पुमांसम्॥[2]

यहाँ यह वर्णन हुआ है कि जिस प्रियतमा ने पति से भिन्न किसी अन्य गुणवान परपुरुष की ओर सकाम दृष्टि से स्वप्न में भी दृष्टिपात नहीं किया था, वही प्रियतमा अब इस समय गुणों से हीन (सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों से

---

१. करुण वि., श्लो.६; २. करुण वि., श्लो.१७।

हीन-निर्गुण) परपुरुष (परब्रह्म) को प्राप्त करने कैसे चल पड़ी है? इस प्रकार यहाँ प्रियतमा द्वारा पतिव्रता होते हुए भी निर्गुण परपुरुष के पास जाने को तैयार होना प्रारम्भ में विरोध को प्रस्तुत करता है, किन्तु जब हम गुणों से सत्त्व, रजस् एवं तमस् का ग्रहण कर उनसे निर्गुण, गुणातीत ब्रह्म का अर्थ लेते हैं तो उसका परिहार हो जाता है। परपुरुष व निर्गुण शब्द में श्लेष होने के कारण यहाँ विरोधाभास श्लेषोत्थापित है।

इसी प्रकार विलास के अन्य श्लोक अन्य अलङ्कारों के उदाहरण हैं। इनमें 'कर्पूरवर्तिरिव लोचनतापहन्त्री'[१] मालोपमा, 'कान्त्या सुवर्णवरया'[२] उत्प्रेक्षा एवं 'या तावकीनमधुर'[३] व्यतिरेक के सुन्दर उदाहरण हैं।

१९ श्लोकों के इस लघु विलास में प्रथम १८ श्लोक 'वसन्ततिलक' छन्द में निबद्ध हैं। अन्तिम १९वां श्लोक 'कालभारिणी' छन्द में निबद्ध है।

'करुणविलास' के वर्ण्यविषय, भावपक्ष एवं कलापक्ष पर विचार कर लेने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह विलास विरही प्रेमी की मनोभावनाओं की सरल, स्वाभाविक एवं सुन्दर अभिव्यक्ति है, जिसमें भाव एवं कलापक्ष का स्वाभाविक समन्वय हुआ है।

४. शान्तविलास

'शान्तविलास', 'भामिनीविलास' का अन्तिम चतुर्थ विभाग है। इसमें भगवद्भक्तिपरक श्लोकों की बहुलता है, जो कि प्रकारान्तर से सांसारिक विषयों के प्रति निर्वेद भाव के सूचक हैं। सम्भवतः इसी आधार पर इस विलास का नामकरण 'शान्तविलास' शीर्षक से किया गया है। इसके बारह श्लोकों को छोड़कर शेष अन्य रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्य हैं।[४] विवेचनसौकर्य के लिए इसमें संकलित श्लोकों को वर्ण्यभाव के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा सकता है—१. भगवद्भक्तिपरक श्लोक, २. आत्मप्रशंसामूलक श्लोक और ३. रसगङ्गाधर के उदाहरणपद्य।

१. भगवद्भक्तिपरक श्लोक

'शान्तविलास' के अधिकांश पद्य भगवद्भक्तिपरक श्लोक हैं। इन श्लोकों में कवि ने भगवान् कृष्ण को अपने परम आराध्यदेव के रूप में मानकर उनके

१. करुण वि., श्लो.१६।
२. तत्रैव, श्लो.१५; ३. तत्रैव, श्लो.११।
४. शान्त वि., श्लो.१, २, ६, ८, ९, १०, १७, २५, २९, ३१, ३२, ३३।

प्रति अपनी अनन्य निष्ठा वर्णित है। निष्ठाभिव्यक्ति के इस प्रसङ्ग में उनके द्वारा अपने उपास्यदेव के गुणों का यशःकीर्तन करते हुए भक्तसुलभ दीनता व विनम्रता के साथ प्रभु से सन्ताप-शान्ति की विनम्र प्रार्थना और अपने कष्टोद्धारादि की कामना की गई है। इस प्रकार इन भक्तिपरक श्लोकों में वर्ण्यभाव के दो रूप प्राप्त होते हैं—(क) उपास्य की गुणस्तुति एवं यशःकीर्तन और (ख) स्वकल्याण हेतु प्रार्थना।

उपास्य की गुणस्तुति एवं यशःकीर्तन

भगवदाराधना के इस प्रसङ्ग में पण्डितराज द्वारा अपने इष्टदेव कृष्ण की नानाप्रकार से गुणस्तुति एवं यश:कीर्तन किया गया है। उन्हें परिपूर्ण सौन्दर्य से सम्पन्न,[१] मधुरिमागार,[२] अपनी विश्वव्यापिनी प्रभा से त्रिभुवनों को प्रकाशित करने वाले[३] तथा अहं भाव समझने वाले प्राणियों के प्रच्छन्न आश्रय[४] के रूप में वर्णित किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्हें दयानिधि,[५] कृपामूर्ति,[६] परम सामर्थ्यवान्,[७] देवी लक्ष्मी के कमलनयनों के आलम्बन,[८] यदुराज़,[९] कमलनाभ,[१०] गणिका अजामिल आदि पतितों के उद्धारक[११] आदि विशेषणों से अभिहित किया गया है। उनके नेत्रों को त्रिभुवन के लिए आनन्दकारक तथा कमलों के प्रात:कालिक सौन्दर्य से भी अधिक सौन्दर्य सम्पन्न बतलाया गया है।[१२] उनकी श्यामल छवि की मेघमाला[१३], तमालवृक्ष[१४] एवं नवीन जलधर[१५] से उपमा दी गई है।

इस प्रसड्ग में कहीं उनकी श्यामल शरीरकान्ति को मेघमाला के रूप में कल्पित कर उसे अलौकिक प्रभावयुक्त बतलाया गया है। साधारण मेघमाला आकाश में छाकर ही मनुष्यों के साधारण आतप को दूर करने वाली होती है; किन्तु अपने आराध्य की कादम्बिनी श्यामला मूर्ति को उन्होंने स्मरण करने मात्र से ही मनुष्यों के त्रिविध सन्ताप का शमन करने वाली, चिरस्थायिनी शरीरप्रभावाली तथा शताधिक गोपाड्नाओं से परिवेष्टित कहा है—

---

१. शान्त वि., श्लो.१; २. तत्रैव, श्लो.१।
३. तत्रैव, श्लो.३४; ४. तत्रैव, श्लो.१२।
५. तत्रैव, श्लो.५; ६. तत्रैव, श्लो.३९।
७. तत्रैव, श्लो.२०; ८. तत्रैव, श्लो.२।
९. तत्रैव, श्लो.५; १०. तत्रैव, श्लो.३७।
११. तत्रैव, श्लो.३९; १२. तत्रैव, श्लो.२।
१३. तत्रैव, श्लो.३; १४. तत्रैव, श्लो.४, ३६; १५. तत्रैव, श्लो.३४।

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीय मतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी।।[१]

अन्यत्र उनके श्यामल स्वरूप की तमालवृक्ष के रूप में कल्पना कर यह कहा गया है कि जिस प्रकार तमालवृक्ष लताओं से वेष्टित रहता है और पथिकों की थकावट दूर करता है, वैसे ही भगवान् कृष्ण, गोपाङ्गनाओं से परिवेष्टित हैं और नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेने वालों के श्रम को दूर करने वाले अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।[२] उनके इसी श्यामल स्वरूप की एक अन्य श्लोक में नवीन जलधर के रूप में कल्पना करते हुए इस रूप को वास्तविक जलधर से भी अत्युत्कृष्ट व प्रभावशाली बतलाया गया है। कारण वास्तविक मेघ मात्र जलवृष्टि करने वाला एवं केवल इसी लोक में मनुष्यों के मात्र भौतिक सन्ताप को नष्ट करने वाला है, जबकि इस वर्णन में कृष्ण रूपी नवीन मेघ को अपने चन्द्रिकामय नूतन अमृत से त्रिभुवन को परितृप्त करने वाला, मनुष्यों के आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार के सन्तापों को, शान्त करने वाला, वृन्दावनवासी तथा समस्त देवताओं द्वारा प्रणत एवं परिवेष्टित कहा गया है—

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनववसुधाभिर्जटिलयन्
जनानां सन्तापं त्रिविधमपि सद्यः प्रशमयन्।
श्रितो वृन्दारण्यं नतनिखिलवृन्दारकवृतो
मम स्वान्तध्वान्तं तिरयतु नवीनो जलधरः।।[३]

इन श्यामल द्युतिमान् आराध्य देव कृष्ण के सगुण, साकार स्वरूप में भी निर्गुण एवं निराकार ब्रह्मत्व की कल्पना की गई है। कभी उन्हें गोपाङ्गनाओं के साथ रसिक लीलाएँ करने वाले श्यामल छविमान्, वृन्दावनवासी, सगुण कृष्णनामधारी देव के रूप में वर्णित किया गया[४], तो कभी अनिर्वचनीय चित्त रूप पूर्ण परब्रह्म के रूप में।[५]

उन्हें पापरूपी पर्वतों के लिए वज्र स्वरूप, संसार रूपी प्रबल व्याधि के लिए अमोघ औषधि रूप, मिथ्याज्ञान रूपी रात्रि के घनघोर अन्धकार हेतु सूर्यमण्डल

---

१. शान्त वि., श्लो.३; २. तत्रैव, श्लो.४।
३. तत्रैव, श्लो.३४; ४. तत्रैव, श्लो.३,४; ५. तत्रैव, श्लो.११।

के प्रकाश स्वरूप, क्लेश रूपी वृक्ष के लिए अत्यन्त विकराल ज्वालाओं से युक्त अग्निस्वरूप तथा मुक्ति रूपी गृह के लिए द्वार स्वरूप बताया है—

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुभरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम्।।[१]

अपने आराध्य के प्रति यह उनकी अनन्य निष्ठा व भक्तिभावना ही है कि वे उनके 'कृष्ण' इन दो नामाक्षरों में अपरिमित व सर्वातिशयी मिठास पाते हैं एवं उसकी मधुरता के समक्ष अंगूर, शक्कर, अमृत व रम्भा के अधरपान जैसे मधुर पदार्थों की मधुरता को भी तुच्छ मानते हैं—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीयजीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः।।[२]

उनका दृढ़ विश्वास है कि 'कृष्ण' की पावन संज्ञा मनोलीन होने पर आन्तरिक अज्ञानान्धकार का विनाश करने वाली, अनिर्वचनीय एवं उत्कृष्ट आनन्द प्रदान करने वाली तथा माधुर्यस्रावी है। उनकी भावना उन्हें इस हेतु प्रवृत्त करती है कि रसना की रसज्ञता तभी है कि वह 'कृष्ण' नाम का उच्चारण करे—

अव्याख्येयां वितरति परां प्रीतिमन्तर्निमग्ना
कण्ठे लग्ना हरति नितरां यान्तरध्वान्तजालम्।
तां द्राक्षाद्यैरपि बहुमतां माधुरीमुद्गिरन्ती
कृष्णेत्याख्यां कथय रसने यद्यसि त्वं रसज्ञा।।[३]

प्रभु का नामस्मरण सुबुद्धिदायक है। वह मन में विद्यमान समस्त वासनाओं का विनाश कर चित्त को समस्त आधि-व्याधियों से मुक्ति दिलाने वाला है। इसके बिना स्वर्ग, पाताल, सुमेरु व सागर के पार तक भी अन्यत्र

---
१. शान्त वि., श्लो.८।
२. तत्रैव, श्लो.७।
३. तत्रैव, श्लो.१०।

कहीं स्वकल्याण का होना सम्भव नहीं। इसीलिए पण्डितराज नीलाम्बुजश्याम 'श्रीकृष्ण' के नामस्मरण रूपी रसायन के रसास्वाद हेतु स्वमानस को बारम्बार प्रेरित करते हैं—

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्तास्तव।
आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः शरैः॥[१]

स्वकल्याण हेतु प्रार्थना

अपने परमाराध्य श्रीकृष्ण की गुणस्तुति एवं यशोगान करते हुए पण्डितराज के भक्तिभावित हृदय ने उनसे स्वोद्धार तथा स्वकल्याण हेतु नाना प्रकार से याचना भी की है। कभी स्वयं को विषयाग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं से दग्ध बताते हुए उनके परिपूर्ण सौन्दर्य से सम्पन्न, समस्त मधुरिमा के आगार मुखचन्द्र के लिए चिरकाल तक चकोर बने रहने की कामना की है— **'अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे, मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम्'**[२], तो कभी जाज्वल्यमान अग्नि से भी अधिक ज्वलनशील संताप रूपी ज्वर के भार से स्वयं को प्रज्वलित बताकर शीतलता के आगारभूत उनके नेत्रों से शीतलता प्रदान करने की प्रार्थना की है—

प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वंकषै-
र्जगत्त्रितयरोचनैः शिशिरयाशु मां लोचनैः॥[३]

कहीं मेघमाला रूपी श्यामल आभावाली उनकी छवि से अपनी बुद्धि का स्पर्श करने की चाह वर्णित हुई है—**'कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी, मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी'**[४] तो किसी श्लोक में उनकी श्यामाभा को तमाल वृक्ष की हरित आभा के रूप में कल्पित कर उनसे कष्टों के विनिवारण की प्रार्थना की गई है।[५]

यहीं नहीं अपने आराध्य को वर्षाकालीन जलधर के रूप में तथा संसार को ग्रीष्मकालीन प्रचण्ड सूर्य के रूप में कल्पित कर, स्वयं को इस संसार-रूपी प्रखर सूर्य की प्रचण्ड ज्वालाओं से संतप्त हुआ बतलाकर उनसे जलधर

---

१. शान्तविलास, श्लो.६; २. तत्रैव, श्लो.१।
३. तत्रैव, श्लो.२; ४. तत्रैव, श्लो.३; ५. तत्रैव, श्लो.४, ३६।

द्वारा सूर्यताप के शमन के समान अपनी पीड़ा का शमन करने की प्रार्थना की है[१]—

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनववसुधाभिर्जटिलयन्
जनानां सन्तापं त्रिविधमपि सद्यः प्रशमयन्।
श्रितो वृन्दारण्यं नतनिखिलवृन्दारकवृतो
मम स्वान्तध्वान्तं तिरयतु नवीनो जलधरः॥[२]

राजसी सम्पदा, वैभव एवं ऐश्वर्य का लोभ भी उन्हें हरिचरणों की सेवा से विरत करने में असमर्थ है। फलतः उनकी यही प्रार्थना है कि उनके पास ऐसी सम्पदा न हो जिसकी वैभवमदिरा से भगवच्चरणों की सेवा में लीनता समाप्त हो जाती है—

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझंकारसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलदृशां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते॥[३]

उनका आकुल आत्मनिवेदन है कि हे प्रभु! मैंने निर्लज्ज एवं अहं भावावृत होकर आपके द्वारा प्रदत्त अमृतमयी शिक्षा का स्वप्न में भी स्मरण नहीं किया था, फिर भी आप मुझे अपना समझते हैं। अतः हे भगवन्! आपसे बढ़कर दूसरा कोई दयानिधि नहीं है और मुझसे बढ़कर दूसरा कोई प्रमादी नहीं है—

त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तोऽपरः[४]।

स्वोद्धार के निमित्त उनका बड़ा सुन्दर तर्क है कि हे भगवन्! आपने गणिका, अजामिल जैसे घोर पापियों का भी उद्धार किया, फिर मैं आपके द्वारा त्याज्य कैसे हो सकता हूँ—

सीदन् भवमरुगर्ते करुणामूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः[५]।

आत्मप्रशंसामूलक श्लोक

भक्तिपरक श्लोकों के अतिरिक्त शान्तविलास में कुछ श्लोक आत्मप्रशंसापरक भी हैं। इन श्लोकों में पण्डितराज स्वयं अपनी तथा अपनी कविता की प्रशंसा करते नहीं अघाये हैं। उन्होंने अपने को श्रेष्ठ पण्डितों की

---

१. शान्त वि., श्लो.३५; २. तत्रैव, श्लो.३४।
३. तत्रैव, श्लो.१८; ४. तत्रैव, श्लो.५; ५. तत्रैव, श्लो.३९।

श्रेणी का तिलक माना है तथा अपने सर्वशास्त्रप्रवीणत्व की उद्घोषणा की है। अपने कार्यों को लोकातिशायी समझने का गर्व भी उन्हें बहुत है। यही कारण है कि अपने समग्र जीवन का लेखा-जोखा करते उनका वक्तव्य है—

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविता
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।
संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम्॥[१]

यहीं नहीं उन्होंने स्वयं को परम सहृदय एवं सरस रचना का सर्वाधिक मर्मज्ञ समझा है,[२] अपनी स्वभावमधुरा कविता के माधुर्य की प्रशंसा बढ़-चढ़ कर की है तथा अपने पाण्डित्य का स्वयं ही गुणगान किया है। अपनी कविता की मधुरिमा को उन्होंने माधुर्य के लिए प्रसिद्ध सभी उपमानों यथा शहद, अंगूर, अनार, अमृत व सुन्दरियों के अधरामृत से भी उत्कृष्ट बताया है।[३] उनकी गर्वमिश्रित आत्मश्लाघा की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है, जब वे यह कह उठे हैं कि शहद, अंगूर, अमृत व सुन्दरियों का अधरामृत पान भले ही किसी के मन में आनन्दोत्पत्ति न करे; लेकिन जगन्नाथ की उक्ति जिसके हृदय में आनन्द नहीं उत्पन्न करती, वे मन्द बुद्धि हैं तथा जीते हुए भी मृतप्राय हैं—

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित् केषांचिन् न खलु विदधीरन्नपि मुदम्।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः॥[४]

इस क्रम में उन्होंने स्ववाणी को श्रवणरमणीय बतलाते हुए स्वयं वाग्देवी सरस्वती द्वारा अपनी वीणा की झंकार को मन्द कर उसका सुना जाना वर्णित किया है और ऐसी कविता को सुनकर प्रशंसा में सिर न हिलाने वाले को साक्षात् नरपशु या पशुपति की संज्ञा दी है—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः॥[५]

---

१. शान्त वि., श्लो.३२; २. तत्रैव, श्लो.३०।
३. तत्रैव, श्लो.३१; ४. तत्रैव, श्लो.२९; ५. तत्रैव, श्लो.२७।

उनकी प्रशंसा केवल अपने तक सीमित नहीं रही है, वरन् उन्होंने उन कवियों को भी धमकी दी है कि यदि वे द्राक्षातिशायिनी काव्यरचना के मर्मज्ञ हों, तभी उन्हें मेरे जैसे विद्वानों के समक्ष काव्यपाठ करना चाहिए, अन्यथा स्वकृत पाप के समान उसे अन्तःकरण से बाहर नहीं निकालना चाहिए—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सुखेन कथय त्वं संमुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् बहिर्मा कृथाः।।[1]

आत्मश्लाघा करते हुए उनका गर्व प्रखर हो उठा है। उनकी ललकार है कि सुमेरु पर्वत से लेकर मलयाचल से घिरे समुद्र पर्यन्त जितने भी काव्य मर्मज्ञ जन हैं, उनमें अंगूर के रसप्रवाह के समान सरस वाणी का आचार्यत्व प्राप्त करने वाला उनके समान अन्य कोई भाग्यशाली नहीं है—

आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः।।[2]

३. रसगङ्गाधर के मात्र उदाहरणपरक पद्य

भगवद्भक्तिपरक व आत्मप्रशंसामूलक श्लोकों के अतिरिक्त 'शान्तविलास' में कुछ श्लोक मात्र 'रसगङ्गाधर' के उदाहरण पद्य के रूप में संकलित हुए हैं। इनकी रचना मात्र उदाहरणों के उद्देश्य से की गई है। उनमें भावगत सुन्दरता के कथमपि दर्शन नहीं होते। वर्ण्यभाव के आधार पर इनको किसी विशेष कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इन्हें मात्र उदाहरण पद्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ इस विलास के श्लोक संख्या १९, २१, २२, २३, २४ इसी श्रेणी के श्लोक हैं।

काव्यसौष्ठव

'शान्तविलास' के उपर्युक्त तीन श्रेणी के श्लोकों में आत्मप्रशंसामूलक एवं मात्र उदाहरण पद्यों के रूप में संकलित श्लोकों में किसी विशिष्ट भावगत सुन्दरता के दर्शन नहीं होते, किन्तु भगवद्भक्तिपरक श्लोकों में कवि की भक्ति

१. शान्ति वि. श्लो.३०; २. तत्रैव, श्लो.२६।

भावना बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। फलतः ये श्लोक भावपक्ष की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दनगनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥[१]

यहाँ यमुना तट के कदम्बवृक्ष के नीचे विद्यमान भगवान् कृष्ण की श्यामला मूर्ति को अलौकिक कादम्बिनी के रूप में कल्पित कर उस मंजुल मूर्ति से स्वबुद्धि का स्पर्श करने की प्रार्थना की गई है। इस अलौकिकता के सम्बन्ध में यह वर्णन हुआ है कि साधारण मेघमाला तो आकाश में छाकर जलवृष्टि करने पर ही मनुष्यों के मात्र भौतिक सन्ताप का शमन करने वाली तथा क्षणिक विद्युत्प्रभा से प्रकाशमान रहती है; लेकिन भगवान् की कादम्बिनी श्यामला मूर्ति स्मरण करने मात्र से मनुष्यों के त्रिविध तापों का नाश करने वाली तथा चिरस्थायिनी शरीरकान्ति वाली है।

इस प्रकार इस श्लोक में कवि का मङ्गलाचरण अपने आराध्य को घनघटा के रूप में कल्पित कर अभिनव ढंग से अभिव्यक्त हुआ है।

इसी प्रकार मन को भगवच्चरणों में लीन करने के सामान्य भाव को निषेधात्मक शैली के सहारे बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है, जिसमें मन को इस बात के लिए समझाया गया है कि यदि वह अपना कल्याण चाहता है, तो उसे मेघ के समान नीलाभ स्वरूप वाले, वृन्दावनवासी किसी को भूलकर भी बन्धु नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि वह सौन्दर्यामृतस्रावी अपनी मधुर मुस्कानों से उसे मोहित कर उसके प्रिय विषयों को शीघ्र नष्ट कर डालेगा। यहाँ अभिप्रेत कृष्णमैत्री की निषेधात्मक ढंग से व्यंजना बड़े सरस ढंग से अभिव्यक्त हुई है—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥[२]

---

१. शान्त वि., श्लो.३; २. तत्रैव, श्लो.९।

सरस ढंग से भक्तिभाव के प्रतिपादक अन्य श्लोकों में श्लोक संख्या १, २, ४, ५, ६, ७, ८, १०, ११, १३ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

इस विलास के श्लोकों की भाषा वर्ण्यभावानुसारिणी, सामान्यत: प्रसाद व माधुर्यगुणयुक्त, स्वल्पसमाससम्पन्न सानुप्रासिक कोमलकान्त पदावली है। कुछ श्लोकों के एकाध चरणों में वर्ण्यभाव के अनुकूल ओजगुण का प्रयोग भी हुआ है। भाषा के इन विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ वैदर्भी व पाञ्चाली इन दोनों रीतियों का प्रयोग हुआ है।

इस विलास में संकलित भगवद्भक्तिपरक श्लोकों में भगवान् के प्रति निष्ठा व आसक्ति वर्णित हुई है, फलत: ये श्लोक देवादिविषयक रतिभाव के उदाहरण हैं। आत्मप्रशंसामूलक श्लोकों में संचारीभाव 'गर्व' की अभिव्यक्ति हुई है, अत: वे संचारी भाव की ध्वनि के उदाहरण हैं। शेष अन्य विविध प्रसङ्ग विषयक पद्यों में कहीं शान्त रस,[१] कहीं क्षमावीर,[२] कहीं धैर्यवीर[३] एवं धर्मवीर[४] की, कहीं धृति,[५] कहीं मति[६] नामक संचारी भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

श्लोकों में प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का प्रयोग हुआ है। प्रसाद की प्रधानता है। कुछ श्लोकों की एकाध पंक्तियों में वर्णनानुरूप ओजगुण का अत्यल्प प्रयोग है।

इस विलास में शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष व अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप, स्मरण, रूपकातिशयोक्ति, संदेह, परिणाम, काव्यलिङ्ग, विशेषोक्ति, आक्षेप, पर्याय, परिसंख्या, प्रत्यनीक, तिरस्कार, विचित्र आदि अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है।

अनुप्रास प्रयोग के विविध रूपों के निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्तास्तव।
आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः।।[७]

यहाँ 'पारावार परम्परास्तर', 'आशा-शान्ता', 'आधि-व्याधि', 'जरा-परा', 'रसायनं रसय रे', 'शून्यै: किमन्यै:', 'श्रमै:' में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास

---

१. शान्त वि., श्लो.१८, ४०, ४२; २. तत्रैव, श्लो.४४।
३. तत्रैव, श्लो.४४; ४. तत्रैव, श्लो.४३।
५. तत्रैव, श्लो.४३, ४४; ६. तत्रैव, श्लो.४१; ७. तत्रैव, श्लो.६।

अन्त्यानुप्रास व ध्वनिसाम्य विद्यमान है। फलतः यह श्लोक अनुप्रास का सुन्दर उदाहरण है। इसी आनुप्रासिक प्रयोग के अन्य अनेक उदाहरण इस विलास में द्रष्टव्य हैं।

यमक अलङ्कार इस विलास के दो श्लोकों में दो शब्दों में प्राप्त होता है। यथा निम्नचरण द्रष्टव्य हैं—

त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तो परः[१]।

यहाँ 'मत्तो' शब्द दो बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पहले 'मत्तो' का अर्थ मुझसे अधिक व दूसरे 'मत्तो' का अर्थ मत्त (दर्पित) से है। फलतः यमक है।

शब्दालंकारों के अतिरिक्त इस विलास में अर्थालंकारों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ विलास के प्रथम श्लोक में उपमा, रूपक एवं व्यतिरेक, द्वितीय में व्यतिरेक एवं प्रतीप तथा तृतीय, चतुर्थ ३४ व ३८वें श्लोक में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त श्लोक संख्या ५ में काव्यलिङ्ग, ६ठें में रूपक, ८वें में मालारूपक, ९, १९वें में आक्षेप, ११वें में स्मरण, १२वें में विचित्र, १३वें में परिसंख्या, १४ व ३९वें में रूपक, १५वें में विचित्र, १६, १७वें में पर्याय, १८वें में तिरस्कार, २१वें में तिरस्कार, २२,२३,२४वें में सन्देह, २८वें में अवज्ञा व उल्लास, ३० व ३१वें में व्यतिरेक व ३६वें में परिणाम, ३५ व ३७वें में उपमा व ४२वें में विशेषोक्ति अलङ्कार का प्रयोग हुआ है।

इस विलास में मात्रिक छन्दों में आर्या व गीति तथा वार्णिक छन्दों में अनुष्टुप्, स्वागता, वसन्ततिलक, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शार्दूल-विक्रीडित, पुष्पिताग्रा, सुन्दरी, स्रग्धरा, कालभारिणी आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार समग्र विलास के श्लोकों को भगवद्भक्तिपरक, आत्मप्रशंसामूलक एवं मात्र उदाहरणपद्यों के रूप में विभाजित कर उनके वर्ण्यभाव की विवेचना तथा भाव एवं कलापक्ष की समीक्षा करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस विलास के प्रथम दोनों श्रेणियों के श्लोक कवि की सुन्दर भावाभिव्यक्ति हैं। जहाँ भक्तिपरक श्लोकों में भक्तिभावना की सुन्दर ढंग से प्रस्तुति हुई है, वहीं आत्मप्रशंसा के प्रसङ्ग में उनका दर्प

१. शान्त वि., श्लो.५।

भी प्रखर हो उठा है। इस विलास के संग्रह में केवल उन उदाहरण पद्यों का संगृहीत किया जाना खटकता है, जिनकी रचना मात्र काव्यशास्त्रीय विषयों के उदाहरणों के उद्देश्य से की गई है और जिनमें किसी विशेष भावसौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। इसके अतिरिक्त इस संकलन के समस्त श्लोकों के वर्ण्यभाव को ध्यान में रखने पर इसका संग्रह 'शान्तविलास' शीर्षक से किया जाना भी अटपटा लगता है, क्योंकि पण्डितराज जहाँ आत्मश्लाघा पर उतरते हैं, वहाँ उनका दर्पोद्धत स्वरूप ही उभरता है, शान्त नहीं। यदि इस विलास में मात्र भगवद्भक्तिपरक श्लोकों का संकलन होता, तो यह शीर्षक एवं विषय दोनों दृष्टियों से सुन्दर बन पड़ता।

'भामिनीविलास' के इन चारों विलासों के समीक्षण से आगत निष्कर्ष के आधार पर उपसंहार रूप में यह कहा जा सकता है कि यह विलास विविध मनोभावनाओं से सम्बन्धित मुक्तक श्लोकों का सुन्दर संकलन है। इसके अधिकांश श्लोकों की रचना यद्यपि आचार्यत्व की आवश्यकता की पूर्ति हेतु ही हुई है, तथापि अनेकत्र वे सुन्दर भावोच्छ्वास के निदर्शन हैं। इनमें एक ओर नीति का प्रदीप्त प्रकाश है, तो दूसरी ओर शृङ्गार की मधुभीनी रंगीनी। एक ओर भक्ति की सरसधारा प्रवाहित हुई है, तो दूसरी ओर करुण की दुःखानुभूति। इस प्रकार इस विलास के श्लोक पूर्वापर सम्बन्ध से निरपेक्ष मुक्तक श्लोकों के सुन्दर निदर्शन हैं।

▼▼▼

पञ्चम अध्याय (खण्ड-ख)

'भामिनीविलास' में संकलित मुक्तक श्लोकों के अतिरिक्त पण्डितराज की मुक्तक रचनाएँ दो अन्य रूपों में प्राप्त होती हैं—१. अवशिष्ट अन्योक्तियाँ व अन्य पद्य तथा २. रसगङ्गाधर के उदाहरण श्लोक। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का विवेचन प्रस्तुत अध्याय के अनुशीलन का विषय है।

अवशिष्ट अन्योक्तियाँ एवं अन्य पद्य

'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने पण्डितराज के द्वारा रचित बताई जाने वाली ५६७ अन्योक्तियों एवं २१ अन्य मुक्तक पद्यों का 'अवशिष्टान्योक्तयः' शीर्षक से संकलन किया है। इसमें अन्योक्ति शैली में रचित श्लोकों में प्राकृतिक उपकरणों को प्रतीक बनाकर जहाँ विविध जीवनोपयोगी प्रसङ्गों एवं नीतियों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वहीं अन्य मुक्तक पद्यों में विविध प्रसङ्गों की सुरम्य अभिव्यक्ति के वर्णनपरक श्लोक समाहित हैं। सर्वप्रथम अन्योक्ति शैली से प्रतिपादित नीतियाँ ही समीक्षित हैं। सौकर्य की दृष्टि से ये विषयानुरूप शीर्षकबद्ध कर विवेचित हैं—

१. कुसमय

लोक अनुभव यह बतलाता है कि दुर्दिन में व्यक्ति का कोई सहायक या मित्र नहीं रहता, चाहे उसके सम्बन्धी कितने ही ऊँचे क्यों न हों, या फिर उसने लोगों के प्रति कितने ही प्रत्युपकार क्यों न किए हों। कवि ने इस लौकिक सत्य को कमल, अगस्त्यऋषि, समुद्र एवं वृक्ष के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसमें यह वर्णन किया गया है कि समुद्र ने देवताओं को अमृत व भगवान् विष्णु को लक्ष्मी देकर प्रसन्न किया। भगवान् पशुपति को अर्धचन्द्र की कला से तथा इन्द्र को कल्पवृक्ष देकर सुशोभित किया। पृथ्वी को मर्यादा से व मैनाक इत्यादि पर्वतों को यत्नपूर्वक अपने गर्भ में रखा तथा अपना मंथन करवा कर भी उनके लिए क्या कुछ नहीं किया, उसी समुद्र को अगस्त्य मुनि द्वारा सोखते समय किसी ने भी एक अङ्गुलि नहीं उठाई।

पीयूषेण सुराः श्रिया मुररिपुर्मर्यादया मेदिनी
शक्रः कल्परुहैः शशाङ्ककलया श्रीशङ्करस्तोषितः।
मैनाकादिनगा निजोदरगता यत्नेन संरक्षिता
मच्छून्यीकरणे घटोद्भवमुनिः केनापि नो वारितः।।[१]

स्पष्ट है कि सुख के सब सहायक होते हैं, दुःख में कोई नहीं। वृक्ष भी किसी को नवीन पल्लव, किसी को फल व किसी को पुष्प देकर प्रसन्न करता रहता है; परन्तु भयङ्कर ग्रीष्मकाल में कोई उसे जल देने वाला भी नहीं रहता।

कश्चिन् नवं पल्लवमाददाति
कश्चित् प्रसूनानि फलानि कश्चित्।
परं करालेऽस्य निदाघकाले
मूले न दाता सलिलस्य कश्चित्।।[२]

व्यक्ति के वे सभी सम्बन्धी भी व्यर्थ हैं, जो उसके विपत्काल में सहायक नहीं होते। इस तथ्य का प्रतिपादन कवि ने कमल के दृष्टान्त के माध्यम से किया है। कमल के सूर्य एवं भगवान् विष्णु सदृश मित्र एवं उसे ही अपना आसन बनाने वाली भगवती लक्ष्मी के विद्यमान होते हुए भी, पाले से विनष्ट होते समय कोई उसे बचाने नहीं आता।

किं बान्धवेन रविणा हरिणाऽपि किं वा
लक्ष्म्यापि किं सरसिजोदरजन्मना वा।
एकस्य शुद्धचरितस्य सरोरुहस्य
नैषा तुषारजनिता शमिता विपत्तिः।।[३]

भाग्य

भाग्य की प्रवञ्चना विलक्षण है। मनुष्य अपनी ओर से भरपूर प्रयत्न करता है; किन्तु फल दैवाधीन रहता है और उसे भाग्य के हाथ का खिलौना बनना पड़ता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति कृष्णसार मृग के दृष्टान्त के माध्यम से की गई है। चन्द्रमा में दिखाई देने वाले कलंक की हिरन के रूप में कल्पना कर कहा गया है कि हिरन ने यह सोचकर चन्द्रमा में अपना निवास स्थान

१. अव. अन्यो०, श्लोक ५०२, ५०३।
२. तत्रैव, श्लोक ४६२;
३. तत्रैव, श्लोक, ६३।

बनाया कि न तो यहाँ शिकारियों के बाणों का डर हैं, न दावानल का, न टेढ़े-मेढ़े रास्ते हैं, न जालों का फैलाव है; किन्तु वह क्या जानता था कि दैव उसे राहु के दाँतो के लगने से उत्पन्न व्रण का भागी फिर बनाएगा—

नात्र व्याधशरा पतन्ति परितो नैवात्र दावानलो
नैवोच्चावचभीतिरत्र चपला नैवास्तुता वागुरा।
इत्यालोच्य कुरङ्गकेण विहितो नक्षत्रनाथाश्रयः
को जानाति विधिर्विधास्यति पुनः स्वर्भानुदन्तव्रणम्॥[१]

यहाँ हिरण को भली-भाँति विचार कर कार्य करने वाले व्यक्ति का प्रतीक बनाकर व राहु के दन्तव्रण को दैव के कुठाराघात के रूप में प्रस्तुत कर, मनुष्य के हाथ में कर्म है, कर्मफल नहीं; इस तथ्य एवं भाग्य की प्रबलता का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।

भाग्यराहित्य की स्थिति में विपदाएँ भी मनुष्य का पीछा नहीं छोड़तीं। दृष्टान्त है, चन्द्रमा का, जिसने समुद्र में रहते हुए वडवानल से भयभीत होकर शिव का मस्तक स्वीकार किया, वहाँ भी उनके मस्तक पर विद्यमान वासुकि नाग की विषज्वालाओं से त्रस्त हो उसे परलोक जाना पड़ा; किन्तु वहाँ भी उसे राहु के मुख का ग्रास होना पड़ा—

भीतो वाडववासतो जलनिधौ शम्भोः शिरः स्वीकृतं
तत्र त्र्यम्बकमौलिवासुकिविषज्वालावलीत्रासितः।
तस्माल् लोकमगादिमं निपतितस्तत्रैव राहोर्मुखे
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः॥[२]

इसी तथ्य की सुन्दर अभिव्यक्ति अन्यत्र छोटी मछली का दृष्टान्त देते हुए की गई है। मछुए की कठोर पकड़ से छूट जाने पर भी बेचारी मछली जाल में पकड़ ली जाती है; किन्तु वहाँ से बह जाने पर वह पुनः बगुले द्वारा निगल ली जाती है। सचमुच प्रवञ्चक भाग्य के आगे किसी की नहीं चलती—

वक्रे विधातरि कथं विपदां निवृत्तिः
कैवर्तकर्कशकरग्रहणाच् च्युतोऽपि।
जाले पुनर्निपतितः शफरो वराकः
स्रस्तस्ततोऽपि गलतो गिलितो बकेन॥[३]

---

१. अव. अन्यो०, श्लोक १२३।
२. तत्रैव, श्लोक २१४।
३. तत्रैव, श्लोक ३४५।

कर्मफल

व्यक्ति को अदृष्ट के अनुसार पूर्वजन्म में किये हुए कर्मफलों का भागी अवश्य होना पड़ता है; इस नीति का प्रतिपादन कमल व अगस्त्य ऋषि के दृष्टान्त के माध्यम से किया गया है। कमल का जन्म मानसरोवर जैसे स्थान से हुआ है। उसके सौरभ से समस्त दिशाएँ सुवासित होती हैं। सूर्य जैसा उसका तेजस्वी मित्र है, फिर भी शीतकाल में वह ठण्डी हवाओं से ठिठुरता रहता है, तो उसकी इस दुःखोत्पत्ति का कारण अदृष्ट है—

सम्भूतिस्तव मानसे सरसिज त्वत्सौरभैर्वासिता
सर्वास्ताः ककुभस्तवास्ति परमो बन्धुर्विवस्वानपि।
त्वं चेदद्य गुणानवद्य शिशिरे शीतानिलैः शीर्यसे
प्रायः प्राय इदं तदत्र परमं दृष्टाददृष्टं फलम्।।[१]

कभी समस्त संसाधनों के विद्यमान रहते हुए भी मनुष्य उनका उपभोग नहीं कर पाता, इसका कारण भी पूर्वजन्म के कर्मों का फल ही बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त यह दिया गया है कि अगस्त्य जैसे महान् ऋषि समुद्र के तट पर अपनी प्यास बुझाने गए थे; लेकिन अपार जलराशि वाला समुद्र भी उनके चुल्लू में आकर सूख गया और वे प्यासे ही रह गए। यह उनके पूर्वकृत कर्मों का ही फल था।[२]

गुणमाहात्म्य

व्यक्ति अपने गुणों से ही सम्मान प्राप्त करता है, बाह्य स्वरूप से नहीं। इस नीति का प्रतिपादन कवि ने वीणा एवं मोती का दृष्टान्त देकर प्रस्तुत किया है। सूखी लकड़ी से बनी हुई निस्सार तुम्बीफल वाली वीणा भी अपने एकमात्र मधुर गुण के कारण राजरमणी के पीन स्तनद्वय पर सुशोभित होती है, जब कि अद्वितीय कान्ति वाला मोती भी निर्गुण (बिना बिंधे) होने के कारण मूल्यवान

---

१. अव. अन्यो०, श्लोक ७२।

२. गतोऽस्मि तीरं जलधेः पिपासया
स चापि शुष्कश्चुलुकीकृतो मया।
न लक्ष्यते दोषलवोऽपि तोयधे-
र्ममैव तत् कर्मफलं विजृम्भते।। अव. अन्यो०, श्लोक १।

नहीं माना जाता[१]। इसी प्रकार मधुरवचनभाषिणी सारिका के प्रति भी लोग उसके मधुर आलाप से ही आकृष्ट होते हैं, स्वरूप से नहीं—

वाक्येनैवाधिको लाभः शरीरे नैल्यमेव हि[२]।

रूप एवं स्वादविहीन होने पर भी गुणशाली कपास के फल लोगों को इसलिए अधिक रुचिकर प्रतीत होते हैं; क्योंकि वे तन्तु रूप में परिवर्तित हो सबके गुह्याङ्गों को ढ़कने के काम में आते हैं—

नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे।
येषां गुणमयं जन्म सर्वेषां गुह्यगुप्तये।।[३]

ठीक ही कहा गया है—'गुणैरुत्तुङ्गतां याति किमाटोपैः प्रयोजनम्'।

गुणग्राहिता

गुणों व गुणीजनों का सम्मान गुणग्राही लोग ही कर सकते हैं, मूर्ख उनके गुण से आकृष्ट नहीं होते, इस तथ्य को विविध दृष्टान्तों द्वारा अभिव्यक्त किया गया हैं। उदाहरणार्थ दृष्टान्त दिया गया है कि बिल्ली तोते के मधुर आलाप से आश्चर्य नहीं करती, कस्तूरी मृग की सुगन्ध से सिंह प्रसन्न नहीं होता, मयूर के नृत्य से बहेलिया आकर्षित नहीं होता, अतः ज्ञात होता है कि इस विशाल पृथ्वी में कुछ विरले जन ही गुणग्राही हैं—

मार्जारो लभते न मञ्जुलशुकालापेन कौतूहलं
कस्तूरीहरिणस्य सौरभभरैः सिंहो न सन्तुष्यति।
प्रीतिर्नास्ति मयूरताण्डवशतैर्व्याधस्य दुष्टैः सदा
व्याप्तायां भुवि सन्ति केऽपि विरलाः सन्तो गुणग्राहिणः।।[४]

इसी भाव को एक अन्य श्लोक में मोती व किरातिनी के दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। सिंह के नख द्वारा चीरे गए हाथी के मस्तक से निंकले, रक्त से सने मोती को किरातिनी पका हुआ बदरीफल जानकर बड़े आदर से उठा लेती है, लेकिन तालाब में धोने पर उसे मोती जानकर तुरन्त फेंक देती है।[५] स्पष्ट है गुणियों के गुणों से गुणग्राही ही आकृष्ट होते हैं, मूर्ख नहीं।

१. अव. अन्यो०, श्लोक १८३; २. तत्रैव, श्लोक ४७८।
३. तत्रैव, श्लोक ९५; ४. तत्रैव, श्लोक १८१।
५. हरिनखरविमुक्ता रक्तसिक्ता हि मुक्ताः
परिणतबदराणीत्यादरेणोपगृह्य ।
सपदि सरसि धौताः प्रत्यभिज्ञाय मुक्ताः
परिकिरति किराती हन्त कान्तार एव।। (अव. अन्यो०, श्लोक ३६९)

तोते की मधुर वाणी सज्जनों के हृदय को तो आह्लादित कर देती है; किन्तु पक्षियों को मारने में तीक्ष्णदन्त बिलाव के कलुषित मन को बदलने में वह असमर्थ होती है।[1] उसका सुभाषित पाठ, सुन्दर स्वरूप, सुशीलता और वाचालता ये सभी गुण दुष्ट बिलाव के लिए व्यर्थ है—

सुभाषित्वं सुरूपत्वं वाचालत्वं सुशीलता।
एतत् कीरकिशोरस्य व्यर्थमाखुभुजः पुरः॥[2]

स्वभावगत वैशिष्ट्य

विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों के स्वभावगत वैशिष्ट्य का वर्णन भी विभिन्न अन्योक्तियों में विविध प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से किया गया है। जैसे दुष्टों की स्वभावगत दुर्निर्वारता का वर्णन पलाण्डु को लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है। प्याज कपूरधूलि से आलवाल बनाने, कस्तूरी का दोहद देने व शीतल जलकणों से अभिसिंचन करने पर भी अपना पूर्व गुण (दुर्गन्ध) नहीं छोड़ता। इससे स्पष्ट है कि उत्तमोत्तम लोगों का सम्पर्क होने पर भी दुष्टों की स्वभावगत कुटिलता बनी ही रहती है।[3]

इसके विपरीत सज्जनों की स्वभावगत सौम्यता विपरीत परिस्थितियों में भी बनी ही रहती है। विपत्ति में पड़कर उनका सत्स्वभाव और निखरता ही है, छूटता नहीं, जबकि क्षुद्र दुर्जन अपनी स्वाभाविक खलता तुरन्त प्रकट कर देते हैं। नीतिगत इस सत्य का प्रतिपादन तिल व कलम (एक प्रकार का धान) का दृष्टान्त देकर किया गया है। कलम को सज्जन व तिल को दुर्जनों का प्रतीक बनाकर कहा गया है कि प्रचण्ड मूसलों का आघात होते रहने पर भी कलमों की उज्ज्वलता ही प्रकट होती है (धान कूटे जाने पर सफेद चावल बनता है); जबकि तिल थोड़े से पेरने से ही तेल छोड़कर खलता को प्राप्त हो जाते हैं—

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां
येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति
ये स्वल्पपीडनवशान् न वयं तिलास्ते॥[4]

---

१. अव. अन्यो. श्लोक १०९;
२. तत्रैव, श्लोक ११०।
३. तत्रैव, श्लोक ३२४;
४. तत्रैव, श्लोक ७६।

इसी भाव को एक श्लोक में स्वर्णकार व स्वर्ण के सुन्दर वृत्तान्त द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। सुनार सैकड़ों प्रहार कर सोने को आग में तपाता है लेकिन उसके इतना तपाने पर भी सोने का गुण उज्ज्वलता निखरता ही है और तापदायक सुनार के मुँह पर आग का धुँआ ही पड़ता है।[१] चन्दन स्वयं घिस-घिस कर दूसरों को सुगन्धित करता है, गाय भी दी गई घास के अनुरूप ही दूध देती है, इसके विपरीत बिच्छू माँ के पेट को फाड़कर निकलता है व मक्खी मनुष्यों के पेट में पहुँचकर मर जाने पर भी उल्टी करवा देती है।[२] स्पष्ट है सज्जन जीवनपर्यन्त परहित में लगे रहते हैं; जब कि दुष्ट जीवन से मृत्युपर्यन्त परपीड़न में ही संलग्न रहते हैं—

सूक्ष्मीभूय स्वयमपि परानन्दनश्चन्दनद्रु-
र्धेनुर्दत्ते रसमनुदिनं दत्तघासानुरूपम्।
हत्वा मातृरुदयमयते हा स्वयं वृश्चिकादि-
र्मृत्वाप्यन्नं वमयति नृणां मक्षिका कुक्षिगापि॥[२]

सङ्गति-प्रभाव

कुछ श्लोकों में सत्सङ्गति व कुसङ्गति के प्रभाव से सम्बन्धित नीतियाँ भी विविध प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से वर्णित हुई हैं। चन्द्रमा का दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि वह वक्र, कलङ्की नित्य घटने-बढ़ने वाला व जड़ होते हुए भी भगवान् शिव जैसे देवाधिदेव के संसर्ग में जाकर कलङ्कराहित्य, देवनदी गङ्गा से सम्मिलन, कला का अक्षयत्व और मस्तक जैसा प्रोन्नत निवास प्राप्त कर विविध प्रकार से वन्दनीय हो जाता है।[३] इसके विपरीत कुसङ्गति समस्त आपत्कारिणी है। निर्मल जलधि में निवास करने वाली मरकत मणि भी स्वर्णमण्डित होने के कारण राजाओं के मुकुटों में व नारियों के आभूषण के रूप में सुशोभित होती है; किन्तु वही भील के गले में काँच के टुकड़े के

---

१. अव. अन्यो. श्लोक ५६७।

२. तत्रैव, श्लोक १८२।

३. प्रकुर्वता सङ्गतिमिन्दुनाधुना
किं किं च लब्धं जगदीश्वरेण वै।
कलङ्कहानिः सुरसिन्धुसङ्गमः
कलाक्षयित्वं च पदं तथोच्चकैः॥ (तत्रैव, श्लोक २११)

साथ पिरोई जाकर दुर्गति को प्राप्त हो जाती है।[१] परागवाही पवन भी गली के संसर्ग से रजस्वल (धूलियुक्त) हो जाता है।[२]

सङ्गति के इस प्रभाव का वर्णन तुम्बी के दृष्टान्त के माध्यम से भी बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। तुम्बी सन्यासियों के पास उनके भोजन का पात्र बन जाती है; उसी को अन्य लोग बाँस के साथ जोड़ कर वीणा बनाकर सरस मधुर स्वर में गान करते है; कुछ अन्य उसी के सहारे दुस्तर सागर पारकर लेते हैं; जबकि दूसरे उसके मध्य में गर्म खून पीते हैं। इस प्रकार एक ही तुम्बी विविध प्रकृति के व्यक्तियों के साथ विविध गुण धारण कर लेती है—

एके तुम्बी व्रतिकरगताः पात्रतामानयन्ति
गायन्त्यन्ये सरसमधुरं शुद्धवंशे विलग्नाः।
एके तावद् ग्रथितसगुणां दुस्तरं तारयन्ति
तेषां मध्ये ज्वलितहृदया रक्तमेके पिबन्ति।।[३]

महत्ता

प्रायः देखा जाता है कि महान् व्यक्ति अतिशय महत्त्वशाली होने पर भी अपनी महानता का स्वयं गुणगान नहीं करते, जबकि क्षुद्र व्यक्ति जरा-सी अधिकता से ही फूले नहीं समाते। कवि ने इस लौकिक सत्य को मेंढक, मछली और बिच्छू के वृत्तान्तों को प्रस्तुत कर अभिव्यक्त किया है। उनका वर्णन है कि समुद्र, गङ्गा आदि सभी नदियों का जल ग्रहण करने वाला व रत्नों का आगार होते हुए भी गर्व नहीं करता, जबकि गाय के खुर के बराबर ही जल को प्राप्त कर मेंढक अति प्रसन्न हो, मेरे समान ऊँचा संसार में और कौन है?; यह जोर से रटता रहता है।[४] मधुर आम्ररस का पान करने वाली कोयल गर्वित नहीं होती, जबकि कीचड़युक्त पानी पीकर भी मेंढक टर्र-टर्र लगाए रहता है—

दिव्यं चूतरसं पीत्वा गर्वं नायाति कोकिलः।
पीत्वा कर्दमपानीयं भेको बकबकायते।।[५]

१. अव. अन्यो. श्लोक ३५१।
२. तत्रैव, श्लोक ५१४;
३. तत्रैव, श्लोक २९२।
४. गङ्गादीनां सकलसरितां प्राप्य तोयं समुद्रः
किञ्चिद् गर्वी न भवति पुनर्दिव्यरत्नाकरोऽपि।
एको भेकः परममुदितः प्राप्य गोष्पादनीरं
को मे को मे रटति बहुधा स्पर्धया विश्वमुच्चैः।। तत्रैव, श्लोक ३४२।
५. तत्रैव, श्लोक ३४३।

इसी प्रकार अगाधजल में विचरण करने वाली रोहित मछली गर्वित नहीं होती; किन्तु बिन्दुमात्र जल से ही शफरी फरफराती रहती है—

अगाधजलसञ्चारी न गर्वं याति रोहितः।
अङ्गुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते॥[1]

वासुकि नाग घोर विषधारी होने पर भी गर्व नहीं करता, जबकि बिच्छू जरा-सा विषधारी होने पर भी ऊपर डंक धारण किए रहता है—

विषभारसहस्रेण गर्वं नायाति वासुकिः।
वृश्चिको बिन्दुमात्रेणाप्यूर्ध्वं वहति कण्टकम्॥[2]

जीवन का मूल्य

आकार की गुरुता जीवन को महान् नहीं बनाती। जीवन का मूल्य अच्छे कार्यों से आँकना चाहिए, दीर्घता से नहीं। इस नीति तथ्य को ताड़वृक्ष एवं समुद्र का दृष्टान्त देकर उपस्थित किया गया है। देखने में लम्बे-चौड़े होने पर भी फ़ल, फूल व छाया से रहित होने के कारण ताड़वृक्ष के जीवन को निरर्थक बतलाया गया है। इसकी अपेक्षा छोटे आकार का होने पर भी सुन्दर दलों व अमृतयुक्त स्वादिष्ट फलों से सबको आनन्दित करने वाली कदली के जीवन को अधिक श्रेष्ठ कहा गया है।[3] इसी प्रकार अनन्त जलराशि वाले असीम समुद्र की विशालता को भी व्यर्थ बताया गया है; क्योंकि उसके तट पर प्यासा व्यक्ति पानी न पीने के कारण शीघ्र मर जाता है। उसकी अपेक्षा छोटा कुआँ या बावड़ी ही श्रेष्ठ है, जहाँ पथिक इच्छा भर जलपान कर लेता है। स्पष्ट है, एक छोटा व योग्य जीवन लम्बे व अयोग्य जीवन से कहीं अधिक अच्छा है—

आस्तां तावदहो समुद्रमहिमा दूरे तु कर्णप्रिय-
स्तीरे यस्य पिपासयैव मरणं प्राप्नोति शीघ्रं जनः।
तस्मादम्बुनिधेर्वरं लघुसरः कूपोऽथवा वापिका
यत्र स्वीयकरद्वयेन सलिलं पेपीयते स्वेच्छया॥[4]

लालसातिरेक

तोते को प्रतीक बनाकर कही गई एक अन्य अन्योक्ति में जीवन के इस प्रस्तुत कटु सत्य की अभिव्यक्ति हुई है कि अधिकाधिक प्राप्ति की

---

१. अव. अन्यो. श्लोक ३८८;
२. तत्रैव, ४६७।
३. तत्रैव, श्लोक २९०;
४. तत्रैव, श्लोक ४९६।

लालसा में अन्धा बना हुआ मनुष्य हाथ में आई वस्तु को छोड़कर और अधिक पाने की आशा में दूर से सुन्दर लगने वाली दूसरी वस्तु की ओर दौड़ता है; परिणामस्वरूप न वह इधर का रहता है, न उधर का। तोता फलों के बोझ से भूमि तक झुकी हुई शाखाओं वाले अनानास के वृक्ष को देखकर हर्षित हो, चावल के दाने छोड़कर उसे खाने चला; किन्तु चोंच मारने से बहते हुए रस से उसके पंख भीग गए और उड़कर गगनविहार करने की जो शक्ति थी, वह भी नष्ट हो गई। भाव यह है कि हमें हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि संसार में जो कुछ चमकता हुआ दिखलाई देता है, वह सभी सोना नहीं होता, अत: स्वबुद्धि एवं विवेक से काम लेना श्रेयस्कर है।

दृष्ट्वा शाखावकीर्णं फलभरनमितं भूमिभागावनद्धं
त्यक्त्वा शालिप्रकाण्डं पनसमुपगतश्चिन्तयित्वेति कीरः।
हत्वा चञ्चुं प्रहर्षाद् विगलितपयसा सम्भृताशेषपक्षो
भिन्नश्चोड्डीय गन्तुं गगनपरिचिता या गतिः सापि नष्टा॥[१]

सांसारिक अनुभवों पर आधारित अन्योक्तियाँ

कुछ अन्योक्तियों में जीवन के विविध क्षेत्रों से गृहीत अनुभवों को सरस काव्याभिव्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। उन्हें इस रूप में विवेचित किया जा सकता है—

संसार में प्राय: भाग्यवश गुणी पुरुषों का अपमान होता रहता है और निर्गुणी आदर के पात्र बन जाया करते हैं, इस नीति की अभिव्यक्ति अश्वत्थ, वट, हंस, भ्रमर आदि प्रतीकों के माध्यम से की गई हैं। यथा एक श्लोक में वटवृक्ष को गुणी व अश्वत्थ को निर्गुणी पुरुषों का प्रतीक बनाकर यह कहा गया है कि जिस वट वृक्ष के मूल में भगवान् शंकर निवास करते हैं, जिसके पत्तों में भगवान् विष्णु शयन (प्रलयकाल में) करते हैं, जिसकी बड़ी लम्बी व विस्तृत शाखाएँ हैं, उस वृक्ष का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता; जबकि उस पीपल वृक्ष, जिसकी शाखाओं में पिशाचों का निवास है, जिसके मूल में सर्प रहते हैं, उसके लिए न जाने कितनी प्रार्थनाएँ व कितने नमस्कार अर्पित किए जाते हैं—

१. अव.अन्यो. श्लोक १०३।

यन्मूले भगवान् पुरारिरमलो यत्पर्णशायी हरि-
स्तस्येहाततशाखिनो वटतरोर्नामापि न श्रूयते।
यच्छाखानिचयः पिशाचनिलयो यन्मूलगाः पन्नगा-
स्तस्याश्वत्थतरोरहो कति नमस्काराः कति प्रार्थनाः॥[१]

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में यह वर्णन है कि अश्वत्थ में न तो खाने के लिए स्वादिष्ट फल हैं, न सूंघने के लिए कोरक, न ही उपयोग में आने वाले पत्ते, फिर भी वह मनुष्यों द्वारा पूजित होता है, अतः विधाता की इस स्वतन्त्रता को क्या कहें? जिसने अपात्र को भी आदर का पात्र बना दिया—

सेव्यो हन्त यदीदृशोऽपि मनुजैर्वृक्षाधमः पिप्पलो।
दुःस्वातन्त्र्यमिदं विधेः कथय तत् कस्याग्रतो रुद्यताम्॥[२]

एक अन्य श्लोक में इसी भाव की प्रस्तुति मोती के माध्यम से यह कहकर की गई है कि हाथी के मस्तक में विद्यमान मोती की महत्ता को मांसलोभी सिंह नहीं जानता, गुञ्जा के आभूषण धारण करने वाले किरात भी उसका मूल्य न जानकर उसे छोड़ देते हैं, लेकिन इससे मोती की महत्ता घटती नहीं।[३]

हंस व भ्रमरों के प्रतीक द्वारा भी इस भाव को व्यक्त किया गया हैं कि अल्पज्ञानी प्रतिष्ठित व ज्ञानी उपेक्षित रह जाते हैं। यथा सर्वाङ्गधवल होते हुए भी हंस कमल का बाहर से ही पान करते हैं, जबकि काले होते हुए भी भौंरे उसके भीतर प्रवेश पा जाते हैं—

हंसाः सर्वाङ्गधवलाः पद्मेभ्यो बहिरासते।
अन्तर्विशन्ति मधुपाः श्रीमतामीदृशी गतिः॥[४]

जहाँ गुणवानों का तिरस्कार व मूर्खों का सम्मान हो, उस स्थान का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए, इस नीति का वर्णन करने हेतु यह कहा गया है कि जहाँ चन्दन, आम्र, व चम्पक वनों का छेदन तथा शाखोटक का रक्षण हो, हंस, मयूर व कोकिल का हनन व कौए का आदर हो, हाथी, घोड़े, खरहे, कपूर व कपास में समता हो, उस स्थान का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए—

---

१. अव. अन्यो०, श्लोक ४६; २. तत्रैव, श्लोक ४५।
३. तत्रैव, श्लोक ३६७; ४. तत्रैव, श्लोक ७४।

छेद्यं चन्दनचूतचम्पकवनं रक्षा च शाखोटके
हिंसा हंसमयूरकोकिलगणे काके च बह्वादरः।
मातङ्गे तुरगे खरे च समता कर्पूरकार्पासयो-
रेषा यत्र विचारणा गुणगणे देशाय तस्मै नमः॥[१]

प्रायः देखा जाता है कि सांसारिक जन व्यक्ति के आन्तरिक गुणों से नहीं; अपितु बाह्य स्वरूप से ही आकृष्ट होते हैं। इस तथ्य को राजभवन के ऊपर विद्यमान स्वर्णलेप वाले ताम्बे के कलश को प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कलश को कवि द्वारा यह कहते हुए प्रबोधित किया गया है कि स्वर्णलेप से तिरोहित आन्तरिक ताम्रछवि वाले भाई कलश! तुम्हारी आन्तरिक ताम्र छवि सर्वथा छिप गई है व काञ्चनमयी कीर्ति बनी हुई है, अतः बिना भयभीत हुए देवालय पर चिरकाल तक निवास करो, कारण '**नान्तस्तत्त्व-विचारणप्रणयिनो लोका बहिर्बुद्धयः**'[२], सांसारिकजन अन्तस्तत्त्व का विचार करने में प्रवृत्त नहीं होते।

केवल बाह्य वेष-साम्य या उच्चपदप्राप्ति से ही गुणहीन गुणवान् या खल सज्जन नहीं हो जाता, इस नीति की अभिव्यञ्जना धतूरा, कौआ, बगुला, कौड़ी आदि विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से की गई है। धतूरे को भगवान् शंकर ने चन्द्रमा के निवासयोग्य स्थान अर्थात् अपने मस्तक पर रखा लेकिन इतना ऊँचा स्थान प्राप्त करने पर भी कोई लाभ नहीं; क्योंकि उससे चन्द्रमा के समान न तो कुमुदनियाँ खिलती हैं, न अन्धकार का विनाश होता है, न चन्द्रज्योत्स्ना छिटकती है और न ही सागर में वृद्धि होती है। केवल उच्चपद प्राप्ति ही व्यक्ति को गुणवान् नहीं बना देती—

धुत्तूर धूर्त तरुणेन्दुनिवासयोग्य
स्थाने पिशाचपतिना विनिवेशितोऽसि।
किं कैरवाणि विकसन्ति तमः प्रयाति
चन्द्रोपलः स्त्रवति वार्धिरुपैति वृद्धिम्॥[३]

सामान्य व्यक्तियों का प्रभाव स्वल्प प्रयत्न से दब जाता है, जबकि तेजस्वियों का प्रभाव दबाने से भी नहीं दबता; इस लौकिक सत्य का प्रतिपादन सामान्य अग्नि व बड़वानल के दृष्टान्त को प्रस्तुत कर किया गया है। सामान्य

१. अव.अन्यो., श्लोक ३०८।
२. तत्रैव, श्लोक ७७;
३. तत्रैव, श्लोक ३१२।

अग्नि तो पानी डालने मात्र से शान्त हो जाती है, जबकि वडवाग्नि का तेज समुद्र के समस्त जल का पान कर भी और अधिक बढ़ता ही है।[१] इसी भाव को प्रकारान्तर से व्यक्त किया गया है कि संसार में विविध प्रकार की अग्नियाँ हैं, जैसे भीलवधुओं के चूल्हों में जलाई जाने वाली एवं उनके हाथों द्वारा पुराने पंखे के झलने से तेज हुई अग्नि को ही लीजिए। ये सभी अग्नियाँ हाथी के कान की हवा के चलने से ही शान्त हो जाती हैं। ये अपनी विकट ज्वालाओं से पत्थरों को भी पिघला देने वाले दावानल का रूप नहीं हैं। स्पष्ट है, तेजस्वी का प्रभाव दबता नहीं—

सन्त्यन्येऽपि धरातले हुतभुजश्चुल्लीषु भिल्लीवधू
पाणिश्रेणिपुराणशूर्पपवनप्रस्फालविस्तारिताः।
ते सर्वे गजकर्णतालयुगलीवात्यावितत्याहत-
ज्वालाटङ्कविटङ्कघट्टनवलद् ग्रावा न दावानलः॥[२]

संसार में सामान्य पिता व पुत्र तो अनेक होते हैं, लेकिन वही पिता सुयोग्य व धन्य है, जिसका पुत्र अपने सुन्दर यश से संसार को सुरभित कर देता है; इस लौकिक सत्य का प्रतिपादन मलयगिरि व मलयपवन के दृष्टान्त को प्रस्तुत कर किया गया है। संसार में अनेक पर्वत हैं, जिन पर शाल, शाखोटक, खैर, बदरी आदि वृक्ष उगते हैं; किन्तु वह मलयशिखरी धन्य है, जहाँ उत्पन्न हुआ मलयपवन अपनी मनोहर सुगन्ध से संसार को मोहित कर देता है—

विद्योतन्ते कति न गिरयस्तेषु किं नोदयन्ते
शाखावन्तः खदिरबदरीशालशाखोटकाद्याः।
धन्यस्तावन् मलयशिखरी यत्र जातास्त एव
स्वैरामोदैस्त्रिभुवनमथ प्रीणयन्तः स्फुरन्ति॥[३]

तेजस्वी पुरुष अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि निबद्ध रखते हैं, इतर विषयों पर नहीं, इस सामान्य सत्य का प्रतिपादन भगवान् राम एवं रावण के युद्धाभिमुख दृष्टान्त को उपस्थित कर किया गया है। इस सम्बन्ध में यह वर्णन हुआ है कि दशानन रावण के संग्रामस्थल में आते ही सुमित्रापुत्र लक्ष्मण ने उसे विस्मय से, सुग्रीव ने चकराहट से व हनुमान् ने थरथराहट से देखा; किन्तु श्रीराम ने

१. अव. अन्यो., श्लोक ३३४।
२. तत्रैव, श्लोक ३९४;
३. तत्रैव, श्लोक ३५२।

अत्यधिक हर्ष व घनीभूत आनन्द से रोमांचित होकर अपने बाण पर दृष्टि जमा दी। सचमुच तेजस्वी अपने लक्ष्य को ही देखता है।[१]

उच्चपद प्राप्ति हेतु व्यक्ति को क्या-क्या नहीं करना पड़ता, इस प्रस्तुत नीति का प्रतिपादन मोती के दृष्टान्त के माध्यम से किया गया है। मोती को उच्चपद प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति व स्तनों को ऊँचे स्थान के रूप में मानकर यह कहा गया है कि बेचारा मोती कामिनी के कुम्भवत् उन्नत कुचतटों पर विहार करने की इच्छा के कारण ही अपने निवास समुद्र को छोड़कर बिंधने की कठिन पीड़ा का अनुभव करता है।[२]

प्रासङ्गिक अन्योक्तियाँ

अवशिष्ट अन्योक्तियों के संकलन में संगृहीत कई अन्योक्तियाँ इस प्रकार की हैं; जिनमें विभिन्न अप्रस्तुत प्राकृतिक उपकरणों को लक्ष्य कर ऐसे कथन वर्णित हैं, जिनसे प्रस्तुत किसी व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध घटना या प्रसङ्ग विशेष की अभिव्यक्ति होती है। यथा कई श्लोकों में इन्द्र के नन्दनकानन का सेवन करने वाले, नवीन कमलवन व नीप पुष्पसमूह में जीवन बिताने वाले, स्वेच्छा भर मधुपान करने वाले, मालती तथा कुमुदनियों के साथ क्रीड़ा करने वाले, कदम्ब वृक्ष में दोलाखेलन का कौतुक व कुवलयवन में नवीन विलास करने वाले, बन्धूक पुष्प के साथ बन्धुता व रसाल द्रुम के साथ रक्तसम्बन्ध स्थापित करने वाले भ्रमर के गुञ्जालता, बदरी वृक्ष, कुटजपुष्प, मधूक व लकुचवृक्ष के सेवन का दृष्टान्त प्रस्तुत कर उसके माध्यम से किसी ऐसे ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का वृतान्त अभिव्यक्त किया गया है, जिसने अपना प्रारम्भिक जीवन ऐश्वर्यपूर्वक बिताया; किन्तु दुर्दैववश जिसे अब क्षुद्र पुरुषों का आश्रय ग्रहण कर अपनी वर्तमान अवस्था बितानी पड़ रही है।[३] उदाहरणार्थ एक श्लोक दर्शनीय है—

पीतं पङ्कजकानने मधु मया नीपेऽपनीतं वयो
बन्धूके वरबन्धुता विरचिता रक्तं रसालद्रुमे।
किञ्चाकारि कुमुद्वतीपरिकरे क्रीडाकलाकौशलं
कस्तद् वेत्तु विधीयतेऽद्य बदरीवृन्दस्य यद् वन्दनम्।।[४]

एक श्लोक में चन्द्रमा के उस बिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है, जो कैरव पुष्पसमूहों को विकसित किए बिना, समुद्र में ज्वार लाए बिना,

१. अव. अन्यो., श्लोक ३८७; २. तत्रैव, श्लोक ३६८।
३. तत्रैव, श्लोक ३,४,१६,२०,२२,२३,३३,३४,३८; ४. तत्रैव, श्लोक २२।

अन्धकार दूर किए बिना उगते ही राहु द्वारा कवलित कर लिया जाता है। इसके माध्यम से किसी ऐसे तेजस्वी व्यक्ति का अकाल कालकवलित होना वर्णित किया गया है, जिसका पूर्ण अभ्युदय होने से पूर्व ही अवसान हो गया—

नानन्दि कैरवमवर्धि न वाम्बुराशि-
रादीपि नाम्बरमहारि न वान्धकारः।
धिग् दैवदुर्विलसितं यदसौ सुधांशु-
रभ्युद्यतश्च तमसा कवलीकृतश्च॥[1]

किसी श्लोक में मूर्ख समाज द्वारा सम्मान न पाने पर दुखी हुए किसी गुणी व्यक्ति का प्रबोधन भ्रमरों द्वारा समस्त गुणों से परिपूर्ण चम्पक पुष्प को छोड़कर इतर पुष्पों का रसपान करने के कारण दुखी चम्पक के प्रबोधन द्वारा यह कह कर किया गया है कि उसे (चम्पक) भ्रमरों द्वारा सम्मान न पाने पर दुखी नहीं होना चाहिए, कारण मधुपों (मदान्धों) के इस समाज में गुणावगुण विवेक का किसी को अवकाश नहीं—

सकलगुणनिधानं मां विहाय द्विरेफाः
परिमलपरिहीनं हन्त चुम्बन्ति धूर्तम्।
इति मनसि विषादं मा कृथा चम्पकोच्चै-
रिह मधुपसमाजे को विवेकावकाशः॥[2]

इसी भाव को एक अन्य श्लोक में कोकिल के वृतान्त का आश्रयण कर कुछ दूसरे ढंग से व्यक्त किया गया है कि कोयल को कमल, केतकी, कुन्द, कैरव, मल्ली, चम्पा अथवा चमेली पुष्प-समूहों से आदर न पाने पर खेद नहीं करना चाहिए, क्योंकि कभी कोई ऐसा अवश्य होगा जो उसके गुणों को जानकर उचित सम्मान देगा।[3]

इसी प्रकार आम्र को ऐसे सद्गुणी, परोपकारी, प्रथित यश वाले, सबके आश्रयदायी उदार पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, जिसकी कीर्ति का लोग गान करते रहते हैं, जिसका आश्रय पाने हेतु समुत्सुक रहते हैं एवं जिसे छोड़कर अन्यत्र कहीं जाने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती।[4] एक श्लोक दर्शनीय है—

---

१. अव. अन्यो., श्लोक २०७; २. तत्रैव, श्लोक २३०।
३. तत्रैव, श्लोक १३३।
४. तत्रैव, श्लोक २५०, २५१,२५२,२५३-५६।

अधिश्रीरुद्याने त्वमसि भवतः पल्लवचयो
धुरीणः कल्याणे तव जगति शाखा श्रमहरा।
मुदे पुष्पोल्लेखः फलमपि च तुष्ट्यै तनुभृतां
रसाल त्वां तस्माच् छूयति शतशः कोकिलकुलम्।।[1]

कहीं जलबिन्दु को आडम्बरी व्यक्ति का प्रतीक मानकर यह कहा गया है कि वह कमलदल का आश्रय लेकर मोती की शोभा धारण कर भोले व्यक्तियों को लोभित करता है; किन्तु हाथ में लेकर परीक्षा करते ही उसकी असलियत पता चल जाती है, फलतः उसे मोती से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। स्पष्ट है कि यह उक्ति उस व्यक्ति को लक्ष्य कर कही गई है, जो गुणी पुरुष से ईर्ष्या करता है व बाह्य वेषाडम्बर से उसके सदृश बन जाता है, किन्तु परीक्षा करने पर उसकी वास्तविकता पता चलती है—

हे नीरबिन्दुक सरोजदलाश्रयेण
मुग्धान् विलोभयसि मौक्तिकडम्बरश्रीः।
आदाय पाणिषु परीक्षितुमक्षमस्त्वं
मुक्ताफलैः किमिति मत्सरमातनोषि।।[2]

इसी भाव को एक अन्य श्लोक में सोने के साथ तुलने वाली कौड़ी को लक्ष्य कर वर्णित किया गया है। कौड़ी सोने के साथ नित्य तौली जाती है, किन्तु केवल इतने मात्र से ही उसे अभिमान नहीं करना चाहिए, कारण सोना तो रत्न के साथ जटित हो राजा के मस्तक पर सुशोभित होता है, जब कि कौड़ी पामरजनों की वधुओं के चरणों पर ही स्थान पाती है—

हे रङ्ग हेमतुलया तुलितोऽसि नित्यं
मानं जहीहि किमु पश्यसि नो विशेषम्।
स्वर्णं सरत्नघटितं नृपशेखरेषु
त्वं पाप पामरवधूचरणेषु लीनः।।[3]

संसार में यह देखा जाता है कि धनी व्यक्ति सहायता की याचना करने वाले व्यक्ति को दान तो देते हैं; परन्तु सीख-सलाह व कटूक्तियों के साथ। याची को उस सहायता की इतनी आवश्यकता होती है कि वह अपना आत्मसम्मान परे रखकर

१. अव. अन्यो., श्लोक २४६।
२. तत्रैव, श्लोक २७७; ३. तत्रैव, श्लोक ३७९।

चुपचाप सब कुछ सहता रहकर उस सहायता को ले लेता है। इसी तथ्य की अभिव्यक्ति मेघगर्जन व चातक के जलपान के माध्यम से की गई है—

गर्जतापि जलदेन विकीर्णाश्चातकैर्जगृहिरे जलरेखाः।
दातुराश्रितजनाः परुषोक्तीरप्यनन्यगतिका हि सहन्ते।।[१]

अर्थात् गरजते हुए मेघों के द्वारा प्रदत्त जलराशि भी चातकों ने स्वीकार कर ली। सचमुच आश्रितजन दाता की कटूक्तियों को भी विवश हो सहन करते हैं।

यह लोकानुभव है कि उच्चपद प्रतिष्ठित, सक्षम व्यक्ति के आसपास स्वार्थी, बड़बोले, झूठी चाटुकारिता करने वाले, व्यर्थ दिखाने वाले लोगों का घेरा बना रहता है एवं गुणी, सहृदय, कार्यक्षम तथा योग्य लोग वहाँ कठिनाई से पहुँच पाते हैं। इसकी अभिव्यक्ति बड़े सरस ढंग से की गई है। बादल को सम्बोधित कर कहा गया है—

स्निग्धाभूदवनी वनी मरकतश्यामा च कल्लोलिनी
नानावर्तविहारिणी जलधर स्वच्छाम्बुपूरं सरः।
सर्वं साधु तवोदये किमिह तद् दुर्नीतिमालोकये
यद् भेका मुखरीभवन्ति विरलीभूताश्च पुंस्कोकिलाः।।[२]

हे जलधर! तुम्हारे आने पर पृथ्वी स्निग्ध व वनप्रदेश मरकतवत् श्यामल हो जाते हैं, नदियाँ जलपूरित व आवर्तशालिनी हो जाती हैं, तालाब स्वच्छ जल से भर जाते हैं। इस प्रकार तुम्हारे उदय होने पर सब कुछ सुखकर लगता है, केवल एक दुर्नीति दिखाई देती है कि मेंढक मुखर हो जाते हैं व कोयलें विरल।

स्वार्थी, कपटी, वञ्चक व झूठे लोगों से घिरे शासक या उच्च पदासीन जन उनकी ही बातें सुनते हैं व उसे ही सत्य समझते है। योग्य-अयोग्य, करणीय-अकरणीय का निर्णय करने में इन्हीं लोगों का परामर्श सुनने व तदनुकूल निर्णय लेने की प्रवृत्ति पर गर्दभ के माध्यम से बड़े सुन्दर व चुटीले अन्दाज में प्रहार किया गया है—

रे रे रासभ वस्त्रभारवहनात् कुग्रासमश्नासि किं
राजाश्वावसथं प्रयाहि चणकाभ्यूषान् सुखं भक्षय।
सर्वान् पुच्छवतो हया इति वदन्त्यत्राधिकारे स्थिता
राजा तैरुपदिष्टमेव मनुते सत्यं तटस्थाः परे।।[३]

---

१. अव. अन्यो., श्लोक ४१८।

२. तत्रैव, श्लोक ४५३; ३. तत्रैव, श्लोक १७५।

हे गर्दभ! वस्त्रों का बोझवहन करते तुम इधर-उधर कदन्न खाते क्यों घूम रहे हो? राजा के आवास पर जाओ एवं सुखपूर्वक चना आदि खाओ; क्योंकि यहाँ अधिकारीजन, सारे पूँछ वाले घोड़े हैं, ऐसा कहते व समझते हैं, एवं राजा भी उनके द्वारा उपदिष्ट बातों को सत्य समझते हैं, अन्य लोग तटस्थ रहते हैं।

यहाँ गर्दभों को घोड़े समझ कर उन्हें राज्याश्रय में पाल लेने के माध्यम से अयोग्यों को भी योग्य समझ पदासीन करने की प्रवृत्ति पर बड़े सुन्दर ढंग से कटाक्ष किया गया है।

निर्गुणी, धूर्त व कुटिल व्यक्ति कितने ही सुन्दर वस्त्राभूषण क्यों न धारण कर लें, इससे वह योग्य या सद्गुणी नहीं हो जाता। वृतान्त दिया गया है कौए का। कवि कथन है कि कौए की चोंच यदि सोने से जड़ दी जाय व उसके पैरों में माणिक्य पहना दिया जाय, एक-एक पंख में गजमुक्ता अलंकृत कर दी जाय, तो भी कौआ राजहंस नहीं हो सकेगा—

काकस्य चञ्चुर्यदि हेमयुक्ता
माणिक्ययुक्तौ चरणौ च तस्य।
एकैकपक्षे गजराजमुक्ता-
स्तथापि काको न स राजहंसः॥[१]

इसी प्रकार अन्य अनेक सुन्दर अन्योक्तियों का संकलन इस संग्रह में हैं, जिनमें विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों को लक्ष्य कर विभिन्न प्रसङ्गों, घटनाओं व नीतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

काव्यसौष्ठव'

इन अन्योक्तियों के वर्ण्यविषय के विवेचन के उपरान्त इनका काव्य सौन्दर्य भी समीक्षणीय है—

सुन्दर भाववर्णना सरस काव्य व्यापार में विशेष रमणीयता व प्रभावोत्पत्ति की नियामिका होती है। अन्योक्तियों में प्रस्तुत जीवन से सम्बन्ध रखने वाले किसी वृत्तान्त या तथ्य को वर्णित करने के लिए कवि अपने अप्रस्तुतविधान रूपी कल्पनाव्यापार की सृष्टि करता है। ये कल्पनाएँ जितनी सरस व सुन्दर होती हैं, उतना ही हृदयावर्जन करने में समर्थ होती हैं। पण्डितराज की अन्योक्तियाँ इस

१. अव. अन्यो., श्लोक ८७।

दृष्टि से समृद्ध हैं। उनमें सामान्य प्रसङ्गों व नैतिक भावों को सुन्दर कल्पना का आश्रय लेकर सरस ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। फलत: इन अन्योक्तियों का भावपक्ष अति सरस बन पड़ा है। उदाहरणार्थ एक श्लोक में मुक्ताहार के स्तनों पर लटकने के भाव को लेकर सुन्दर नीति कथन अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ हार को प्रबोधित किया गया है कि उसे गुणीभूत होकर (लघु होकर) स्तनों तक नहीं जाना चाहिए। कारण वैभवकाल में भी जिसके पास कठोरता हो, उसके पास जाना (किसी आशा से) व्यर्थ है। इस सुन्दर कल्पना के द्वारा उस सामान्य व्यक्ति को प्रबोधित किया गया है, जो किसी ऐश्वर्यशाली कठोरचित्त पुरुष के पास किसी लालसा से अपने सम्मान को कम करके जाता है—

मुक्ताहार गुणीभूय नोपसर्प्यः स्तनस्त्वया।
विभवे यस्य काठिन्यं व्यर्थं तदुपसर्पणम्।।[1]

आम्रफल के बाहर मँडराते भ्रमरों व भीतर विद्यमान कीड़ों की सुन्दर कल्पना के सहारे एक श्लोक में किसी ऐसे बड़े व्यक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है, जिसके वैभवकाल में अवसरवादी तो उसका निकट सम्पर्क पा जाते हैं और सर्वदा उसका साथ देने वाले बाहर ही भटकते रह जाते हैं—

येऽमी आमुकुलोद्‌गमात् प्रतिदिनं त्वामाश्रिताः षट्पदाः
ते भ्राम्यन्ति फलाद् बहिः कथमहो दृष्ट्वा न सम्भाषसे।
ये कीटास्तव दृक्पथं न च गतास्ते त्वत्फलाभ्यन्तरे
धिक् त्वां चूततरो परापरपरिज्ञानानभिज्ञो भवान्।।[2]

यहाँ आम्र को सम्बोधित कर यह वर्णन हुआ है कि उसके मुकुलनकाल से लेकर प्रतिदिन जो भँवरे निरन्तर उसके आश्रित रहे हैं, वे अब फलागम के समय फल के बाहर ही घूम रहे हैं और जो कीड़े कभी उसके समक्ष भी नहीं आए थे, वे अब उसके फलों के भीतर विद्यमान हैं। इसमें भ्रमरों को सब समय साथ देने वाले, कीड़ों को अवसरवादी तथा आम्र को ज्ञानाज्ञान के बोध से रहित व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। निस्सन्देह कविकल्पना रमणीय है।

सरस भाववर्णना के निदर्शन हेतु आम को ही लक्ष्यकर कहा गया एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है, जहाँ आम्रफल के भीतर विद्यमान गुठली को लक्ष्यकर सुन्दर प्रसङ्गाभिव्यञ्जना हुई है। यहाँ आम्र को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह अपने परिमल से दिशाओं को सुवासित करता है तथा नेत्रों को आकृष्ट

१. अव. अन्यो., श्लोक ५६५; २. तत्रैव, श्लोक २६८।

करने वाले सौन्दर्य से सबको लुब्ध करता है, लेकिन उसके एक ही अवगुण हेतु दुखित होना पड़ता है कि वह कठोर गाँठयुक्त हृदय धारण करता है—

दिङ्मण्डलं परिमलैः सुरभीकरोषि
सौन्दर्यमावहसि लोचनलोभनीयम्।
हंहो रसाल फलवर्य तथापि दूये
यद् ग्रन्थिलं च कठिनं हृदयं विभर्षि।।[१]

यहाँ आम्र के माध्यम से उस गुणी पुरुष को प्रबोधित किया गया है, जो अपने गुणों से तो सबको आकृष्ट करता है, लेकिन जिसका अन्तर अतिकठोर है।

इसी प्रकार की अन्य अनेक सरस कल्पनाओं द्वारा इन अन्योक्तियों में भाव-व्यञ्जना बड़े सुन्दर ढंग से हुई है। इनमें कहीं उच्च वंश में जन्म लेने वाले, स्वरूपवान् व उच्च पद पर सुशोभित होने वाले व्यक्ति की कुटिलता को श्वेत स्वरूप वाले, समुद्र जैसे महान् स्थान से उत्पन्न होने वाले, मधुर ध्वनि वाले अप्रस्तुत शङ्ख की कुटिलता के माध्यम से वर्णित किया गया है,[२] कहीं प्रातःकाल कमलवनों को विकसित करने वाले, रात्रिकालीन अन्धकार को नष्ट करने वाले, चन्द्रमा को प्रकाशरहित व निस्तेज बना देने वाले और मध्याह्न काल में दीप्तित किरणों से नदियों के जल का पान करने वाले, सूर्य का सायंकाल अस्त होना वर्णित कर तेजस्वी से तेजस्वी व्यक्ति का विवश हो जाने पर शोचनीय होना वर्णित किया गया है।[३] कहीं अकेले कर्ण द्वारा लाखों याचकों की याचना को सन्तुष्ट करने का वृतान्त सुरतरु, रवि, चन्द्र व बादल के एक होने पर भी अनेक याचकों, कमलों, कैरवों व लतागुल्मों को सन्तुष्ट करने के वृत्तान्त द्वारा समर्थित हुआ है।[४] इसके माध्यम से किसी ऐसे दाता के वृत्तान्त को अभिव्यक्त किया गया है, जो अपने दान से लाखों जनों को प्रसन्न रखता है। कहीं दीपक को स्वप्रकाश के लिए गर्व न करने की सलाह इसलिये दी गई है कि उसकी कान्ति स्वयं की नहीं है, अपितु सूर्य ने दयालु होकर उसे रात्रि में चमकने की उदारता प्रदान की है।[५] इसके माध्यम से व्यक्ति को स्वैश्वर्य पर गर्वित न होने का प्रबोधन, इस कारण किया गया है कि उसका वैभव स्वयंकृत न होकर ईश्वरप्रदत्त है। कहीं राजमहल के ऊपर विद्यमान बहिः स्वर्णलेप

---

१. अव. अन्यो०, श्लोक २६२; २. तत्रैव, श्लोक ४७३।
३. तत्रैव, श्लोक ५४८; ४. तत्रैव, श्लोक २९६; ५. तत्रैव, श्लोक ३०२।

वाले कलश के वर्णन से सांसारिक जनों की, आन्तरिक सारतत्त्व के विषय में विचार न करने की प्रवृत्ति चित्रित की गई है।[१] इस प्रकार की अन्य अनेक सरस कल्पनाओं द्वारा इन अन्योक्तियों में नीति-व्यंजना बड़े सुमधुर ढंग से हुई है।

इन अन्योक्तियों के विभिन्न प्रसङ्गों से सम्बद्ध नैतिक तथ्यों की अभिव्यञ्जना से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ प्रसङ्गानुरूप विभिन्न भावों व रसों की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें प्राय: विभावानुभावादि से परिपुष्ट रसों का साङ्गोपाङ्ग उदाहरण खोजना तो दुष्कर है, फिर भी कई अन्योक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें शान्त, करुण व अद्‌भुत रसों का आस्वादन होता है। इसमें भी अद्‌भुत की अपेक्षा शान्त व करुण रसों का प्रयोग अधिक हुआ है। उदाहरणार्थ बुरे दिनों के वर्णन-प्रसङ्ग में करुणरस की, नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यञ्जना में शान्त रस की व आश्चर्य निरूपण में अद्‌भुत रस की अभिव्यक्ति हुई है। रसों की अपेक्षा भावों का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। इनमें दया, उदारता, शरणागतरक्षा, कृतज्ञता, परोपकार, आत्मसम्मान, विवेक, नम्रता, प्रेम, सहिष्णुता आदि विभिन्न लौकिक भावों के वर्णन प्रसङ्ग में मति, निर्वेद, असूया, विबोध आदि काव्यशास्त्रीय भावों की अभिव्यक्ति हुई है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अपि दलन्मुकुले बकुले यया पदमधायि कदापि न हेलया।
अहह सा सहसा विधुरे विधौ मधुकरी बदरीमनुवर्तते॥[२]

यहाँ पूर्वकाल में ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताने वाले भ्रमर की वर्तमान दुर्दशा के वर्णन के प्रति वक्तृगत शोक की अभिव्यक्ति होने से करुणरस विद्यमान है।

करुण रस के उपर्युक्त उदाहरण के अतिरिक्त भावध्वनि का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अस्ति स्वादु फलं किमत्तुमथवा घ्रातुं पुनः कोरकः
तद् विश्राम्यतु नाम भोक्तुममलं पत्रं किमस्त्यन्ततः।
सेव्यो हन्त यदीदृशोऽपि मनुजैर्वृक्षाधमः पिप्पलो
दुःस्वातन्त्र्यमिदं विधेः कथय तत् कस्याग्रतो रुद्यताम्॥[३]

१. अव. अन्यो., श्लोक ७७।
२. तत्रैव, श्लोक ३;
३. तत्रैव, श्लोक ४५।

यहाँ विधाता को उसकी दुःस्वतन्त्रता हेतु धिक्कारने में असूया भाव की ध्वनि विद्यमान है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

छेद्यं चन्दनचूतचम्पकवनं रक्षा च शाखोटके
हिंसा हंसमयूरकोकिलगणे काके च बह्वादरः।
मातङ्गे तुरगे खरे च समता कर्पूरकार्पासयो-
रेषा यत्र विचारणा गुणगणे देशाय तस्मै नमः॥[1]

यहाँ चन्दन, आम्र, चम्पक, हंस, मयूर, कोकिल, मातङ्ग, तुरग, कर्पूर को गुणी व्यक्तियों के व शाखोटक, कौआ, खर तथा कार्पास को मूर्ख व्यक्तियों के प्रतीक के रूप में चित्रित करते हुए इनमें समानता देखने वाले देश को नमस्कार करने के माध्यम से मूर्ख देश के परित्याग करने की उपदेशात्मक नीति वर्णित है। फलत: मति या विवेक सञ्चारी भाव की ध्वनि विद्यमान है।

इन अन्योक्तियों की भाषा भी भावानुसारी, प्रवाहपूर्ण, सहज आनुप्रासिकता सम्पन्न, सामान्यत: प्रसाद व माधुर्य गुण-युक्त कोमल पदावली है, किन्तु ओजमय प्रसङ्ग में इसका ओज गुणयुक्त रूप दिखलाई पड़ता है। भाषा की इन विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ वैदर्भी, पाञ्चाली व गौडी इन तीनों रीतियों का प्रयोग हुआ है। इनमें वैदर्भी व पाञ्चाली, का प्रयोग अधिक व गौडी रीति का अल्प प्रयोग हुआ है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यहाँ अन्योक्तिशैली का मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है। कुछ श्लोकों में तथ्यनिरूपक, सम्बोधनात्मक, दृष्टान्त, प्रश्न तथा प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग हुआ है।

अलंकारों का सुन्दर प्रयोग भी इन रचनाओं में लक्षित होता है। लगभग सभी पद्य अन्योक्ति रूप में रचित हैं। अन्योक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अर्थालंकार का ही सारूप्यनिबन्धना, सामान्यनिबन्धना व विशेषनिबन्धना नामक भेद है। इस दृष्टि से इनमें अप्रस्तुतप्रशंसा का ही प्राधान्य है। कुछ श्लोकों में इन अन्योक्तियों के उपस्कारक रूप में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विषादन आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ श्लोक दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा व अर्थान्तरन्यास के सुन्दर उदाहरण हैं, जिनमें कवि ने प्रतिपाद्य

---

१. अव. अन्यो. श्लोक ३०८।

नैतिक तथ्यों को इनकी सहायता से पुष्ट तथा समर्थित कर हृदयङ्गम कराने का उद्योग किया है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वक्रे विधातरि कथं विपदां निवृत्तिः
कैवर्त्तकर्कशकरग्रहणाच् च्युतोऽपि।
जाले पुनर्निपतितः शफरी वराकः
त्रस्तस्ततोऽपि गलतो गिलितो बकेन॥[1]

अर्थात् विधाता के विपरीत होने पर विपदाओं से निवृत्ति कैसे हो सकती है। मछुए की कठोर पकड़ से छूटी हुई छोटी शफरी मछली पुनः जाल में फँस गई और वहाँ से भी बह जाने पर बगुले के द्वारा निगल ली गई।

यहाँ विधाता के विपरीत होने पर विपदाओं से निवृत्ति न होने के सामान्य तथ्य का समर्थन मछली के विशेष दृष्टान्त के द्वारा हुआ है। फलतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

पूर्वाह्णे प्रतिबोध्यपङ्कजवनान्युत्सार्य नैशं तमः
कृत्वा चन्द्रमसं प्रकाशरहितं निस्तेजसं तेजसा।
मध्याह्ने सरितां पयः प्रविततैरापीय दीप्तैः करैः
सायाह्ने रविरस्तमेति विवशः किं नानुशोच्यं भवेत्॥[2]

अर्थात् पूर्वाह्ण में कमलवनों को विकसितकर, रात्रिकालीन अन्धकार का विनाश कर, स्वप्रकाश से चन्द्रमा को प्रकाशरहित व निस्तेज बनाकर, मध्याह्नकाल में दीप्तित किरणों से नदियों के जल का पान करके सूर्य सायंकाल अस्त हो जाता है। सचमुच विवश व्यक्ति क्या शोचनीय नहीं हो जाता।

यहाँ सूर्य के अस्त होने के विशेष वृत्तान्त का विवशों की शोचनीयता के सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है, फलतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार के अतिरिक्त प्रतिवस्तूपमा का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

सुजनानामपि हृदयं पिशुनपरिष्वङ्गमलिनमिह भवति।
पवनः परागवाही रथ्यासङ्गे रजस्वलो भवति॥[3]

---

१. अव. अन्यो०, श्लोक ३४५।
२. तत्रैव, श्लोक ५४८;
३. तत्रैव, श्लोक ५१४।

अर्थात् सज्जनों का हृदय भी दुष्टों के सम्पर्क से मलिन हो जाता है, परागवाही पवन गली के संसर्ग से रजस्वल (धूलयुक्त) हो जाता है।

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय वाक्य व उत्तरार्द्ध के उपमान वाक्य में मलिनता रूपी एक साधारण धर्म क्रमश: 'मलिनं भवति' और 'रजस्वलो भवति' इन दो भिन्न-भिन्न पदों द्वारा प्रतिपादित किया गया है, फलत: प्रतिवस्तूपमा है।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त यहाँ अधिकता से प्रयुक्त अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

माकन्दे मधुपानमम्बुजकुले क्रीडा कदम्बद्रुमे
दोलाखेलनकौतुकं कुवलये कः को नवो विभ्रमः।
येनाकारि मधुव्रतेन सहसा सोऽयं मधूके मधौ
माध्वीकं परिपीय पीवरतनुर्जीवत्यहो जीवनम्॥[१]

अर्थात् जिस भँवरे ने आम्र वृक्ष में मधुपान, कमलवन में क्रीड़ा, कदम्ब वृक्ष में दोलाखेलन का कौतुक, और कुवलयदल में नये-नये विलास किए थे, वही अब सहसा मधु ऋतु में मधूक (महुए) के वृक्ष में माध्वीक अर्थात् महुए का रसपान कर हृष्ट-पुष्ट शरीरवाला होकर जीवन बिता रहा है।

यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर के वृत्तान्त से उस प्रस्तुत व्यक्ति का वृत्तान्त वर्णित किया गया है, जिसने पहले सज्जनों के संसर्ग में अपना जीवन बिताया, किन्तु अब दुष्ट सम्पर्क से उसके सद्गुणों का ह्रास होकर दुर्गुण उत्पन्न हो गये हैं और उसी सम्पर्क में मग्न होकर वह अपना जीवन बिता रहा है। यहाँ अप्रस्तुत सदृश से प्रस्तुत सदृश की अभिव्यक्ति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

अर्थालङ्कारों के अतिरिक्त शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक व श्लेष का प्रयोग दिखाई पड़ता है। उनकी शब्दयोजना ही अनुप्रासमयी है। फलत: अनुप्रास उनकी भाषा की एक स्वाभाविक विशेषता ही बन बैठा है। निदर्शनार्थ कुछ उद्धरण द्रष्टव्य है—

(क) अथ यदि जीवति जीवतु जीवितमपि तस्य जीविताभासः[२]**।**

(ख) गुञ्जारञ्जितकबरीशबरीततिभिर्गरीयसी नगरी[३]**।**

---

१. अव. अन्यो., श्लो. ३४।

२. तत्रैव, श्लोक ३५७;

३. तत्रैव, श्लोक ३६५।

(ग) एतस्मिन् वनवाटिकाः कति कति व्यर्थं त्वयोत्पाटिता ।
हा वाप्यः कति शोषिताः कति दिशो धूलीभिरुद्धूलिताः[१] ।।

(घ) सान्द्रामोदवतीः स्वकीयवसतीः पङ्केरुहाणां ततीः[२]।

(ङ) विश्वाभिरामनवनीरदनीलवेषाः ।
केशाः कुशेशयदृशां कुशली भवन्तु ।।[३]

अनुप्रास के अतिरिक्त यमक का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अपि त्वया कैरविणि व्यधायि
मुधा सुधाबन्धुसुबन्धुभावः।
जनापवादः परितः प्रयातः
समागमो हन्त न जातु जातः।।[४]

अर्थात् हे कैरविणी! तुम्हारे द्वारा व्यर्थ ही सुधाबन्धु (चन्द्रमा) के साथ मित्रभाव स्थापित किया गया। (कैरव पुष्प चन्द्रोदय के समय विकसित होते हैं) तुम्हारा उससे समागम तो हुआ नहीं, लोकापवाद और झेलना पड़ा।

यहाँ 'सुधाबन्धु' और 'सुबन्धु' में 'बन्धु' शब्द की दो बार भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति हुई है। पहले बन्धु का अर्थ सुधा के साथ मिलकर चन्द्रमा का मित्र है व दूसरे सुबन्धु का अर्थ मित्र भाव है। फलतः यमक है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

किंशुक किं शुकमुखवत् कुसुमानि विकासयस्यनिशम्।
यस्यां जनोऽनुरागी सा गीरेतैः कदापि नोच्चार्या।।[५]

अर्थात् हे किंशुक! शुक के मुख (चोंच) के समान (लाल वर्ण वाले) पुष्पों को निरन्तर पुष्पित क्यों करते हो। कारण शुक के मुख से उच्चरित होने वाली जिस वाणी के प्रति लोग अनुरक्त होते हैं, वह इनसे कभी भी उच्चरित नहीं होने वाली है।

यहाँ 'किंशुक' शब्द की दो बार भिन्न अर्थों में आवृत्ति हुई है। पहले 'किंशुक' का अर्थ किंशुक का पुष्प व दूसरे 'किंशुक' का अर्थ तोते के मुख के समान क्यों से है, फलतः यमक अलंकार है।

---

१. अव. अन्यो., श्लोक २८०; २. तत्रैव, श्लोक १७२।
३. तत्रैव, श्लोक २२८; ४. तत्रैव, श्लोक ५९; ५. तत्रैव, श्लोक ३२७।

यमक के अतिरिक्त श्लेष अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पद्मिनी किमिति क्रीडसि मधुपैर्लज्जालवोऽपि न हि किं ते
हर हर विस्मृत्योक्तं क्व नु लज्जा सवितृरक्तायाः।।[१]

अर्थात् हे कमलिनी! मधुपों के साथ क्रीड़ा क्यों करती हो? क्या तुम्हें लज्जा का लेशमात्र भी नहीं है। किन्तु उक्त बात भूलकर, विहार करो, विहार करो; कारण सवितृ (पिता) में ही अनुरक्त को लज्जा कैसी।

यहाँ 'सवितृरक्तायाः' में श्लिष्ट पद का प्रयोग है। 'सवितृ' का एक अर्थ है, सूर्य व दूसरा अर्थ है, जनक या पिता। 'सवितृ' से जनक अर्थ लेकर कमलिनी के पिता से अनुरक्त होने को लज्जा का विषय कहा गया है। इस प्रकार मधुपों से विहार करने में उसकी लज्जाविहीनता को युक्तिसंगत ठहराया गया है। परन्तु 'सवितृ' से सूर्य अर्थ लेने पर इस विरोध का शमन हो जाता है। कारण, कमलिनी सूर्य से स्वभावतः अनुरक्त है। सूर्य के उदित होने पर ही वह खिलती है। फलतः यहाँ विरोधाभासमूलक श्लेष अलंकार है।

छन्द प्रयोग की दृष्टि से भी इन अन्योक्तियों में विविधता है। इनमें मात्रिक व वार्णिक दोनों छन्दों का प्रयोग हुआ है। मात्रिक छन्दों में आर्या, गीति, उपगीति तथा उद्गीति का और वार्णिक छन्दों में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, स्वागता, वंशस्थबिल, भुजङ्गप्रयात, तोटक, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, पञ्चचामर, प्रहर्षिणी, मञ्जुभाषिणी, मृगेन्द्रमुख, वसन्ततिलक, मालिनी, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, सुन्दरी, कालभारिणी, आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है।[२]

निष्कर्ष

इन अन्योक्तियों के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्ष की विवेचना के उपरान्त आगत निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये अन्योक्तियाँ भाव एवं कला दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय हैं। इनमें विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों पर घटित होने वाले दृष्टान्तों के माध्यम से विभिन्न नैतिक तथ्यों व प्रसङ्गों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। दृष्टान्त समर्थित नीति अधिक हृदयग्राही हो जाती है और अन्योक्ति व्यङ्ग्यार्थ के विशेष चमत्कार से हृदय को तुरन्त आह्लादित कर देती है। इन अन्योक्तियों में अप्रस्तुत प्राकृतिक दृष्टान्तों के माध्यम से प्रस्तुत

---

१. अव. अन्यो. श्लोक ६७।

प्रसङ्गों का वर्णन हुआ है। फलतः यहाँ प्राकृतिक दृष्टान्तमय अन्योक्तियों का सुन्दर समन्वय हुआ है, जिसके कारण ये अन्योक्तियाँ अत्यधिक हृदयग्राही, आह्लादातिदायी व सरस बन पड़ी हैं।

(ख) अन्य पद्य

५६७ अन्योक्तियों के अतिरिक्त 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' में पण्डितराज द्वारा रचित बताये जाने वाले २१ अन्य मुक्तक श्लोक भी संकलित हैं।[१] इनमें दो-दो श्लोकों में सरस्वती, देवी, शिव व हरि की प्रार्थनाएँ हैं व तीन-तीन श्लोकों में कवि की गर्वोक्तियाँ, कविता तथा आश्रयदाता नृपति की प्रशंसा वर्णित है। सात पद्य लवङ्गी की याचना व सौन्दर्य चित्रण से सम्बन्धित हैं। इनमें स्तुतिपरक श्लोकों में कलात्मक शैली में सामान्य स्तुतिगान है। स्वात्मप्रशंसा के श्लोकों में कवि की गर्वोक्ति चरम रूप में वर्णित हुई है। उनकी ललकार है कि साहित्य न जानने वाला, चाहें वह व्यास हो या गौतम उसके समक्ष उनका सिर नहीं झुकेगा।[२] उनका यह भी कहना है कि बिना काली की आराधना किए, बिना गौडी का आस्वादन लिए, बिना किसी मन्त्र-तन्त्र या शब्दचौर्य के उनके समान सुन्दर रचना करने वाला इस विशाल संसार में अन्य कौन है[३]? फलतः उनकी यही मान्यता है कि उनके काव्य रचना करने पर संसार में अन्य विद्वान् भी उसी प्रकार काव्यरचना करते हैं, जैसे पिनाकपाणि शिव के नृत्य करते समय अन्य भूत बेताल भी नृत्य करते रहते हैं।[४] कविता प्रशंसा के क्रम में भी उनका यही कहना है कि अमृत, गुड़, मधु, आदि का अधिक प्रयोग चाहें नीरसता उत्पन्न कर दे, लेकिन प्रिया के बिम्बोष्ठ व कविवाणी का रस तो अनुपमेय ही होता है।[५]

अपने आश्रयदाता की प्रशंसा भी उन्होंने बढ़-चढ़ कर की है। यथा अपने आश्रयदाता दिल्लीश्वर को या जगदीश्वर भगवान् को ही समस्त मनोरथों को पूरा करने में समर्थ बताया है तथा अन्य राजाओं द्वारा दिये गये दान को उन्होंने मात्र शाक या लवण की दैनिक आवश्यकता को पूरा करनेवाला ही बतलाया है।[६]

---

१. देखिये, पं०का०सं०, पृ० १८९-९०।
२. पं०का०सं०, पृ० १८९, श्लोक ५७४।
३. तत्रैव, श्लोक ५७५;
४. तत्रैव, श्लोक ५७६।
५. तत्रैव, पृ० १८९-९०, श्लोक ५७७;
६. तत्रैव, पृ० १९०, श्लोक ५७९।

लवङ्गी विषयक श्लोकों में उसे कुसुम्भी वस्त्र धारण किए हुए, मस्तक या हाथ में घड़ा लिए हुए, नवनीत के समान कोमल अङ्गों वाली, अमृतवत् मधुरभाषिणी,[१] कमल के समान मुख, खञ्जन पक्षी जैसे लोचन, श्रीफल के समान कुच व विद्युत् छटा वाली वर्णित किया गया है।[२] घोड़े-हाथी व धन को न माँगकर ऐसी अपूर्व सुन्दरी लवङ्गी की याचना भी इन श्लोकों में वर्णित हुई है।[३]

भाव-वर्णन

ये श्लोक भी भाव, भाषा-शैली, अलंकार एवं छन्दादि प्रयोग की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं। इनमें लवङ्गी के सौन्दर्यवर्णन से सम्बद्ध श्लोक कवि की सौन्दर्यनिरीक्षण व वर्णनक्षमता के परिचायक हैं। काव्यप्रशंसा, नृपतिप्रशंसा व स्वात्मप्रशंसापरक श्लोकों में प्रशस्तिवर्णन अपने चरम रूप में हुआ है तथा स्तुतिवन्दन से सम्बद्ध श्लोकों में कलात्मक ढंग से विभिन्न देवों का स्तुतिगान निबद्ध है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता कुसुम्भारुणं चारु वासो वसाना।
समस्तस्य लोकस्य चेतःप्रवृत्तिं गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति॥[४]

अर्थात् सिर पर घट लिये हुए, केसर के समान कौसुम्भी वस्त्र धारण किए, यह सुन्दर स्तनवाली सुन्दरी मानों सारे संसार के चित्त की हलचल अपने उस घड़े में रखकर जाती हुई सुशोभित होती है। उस सुस्तनी लवङ्गी की घटधारिणी छवि की और उस घट में समस्त संसार के लोगों की मनःप्रवृत्ति को लेकर आने की कल्पना सचमुच बड़ी अनूठी व मनमोहक है।

इसी सौन्दर्याङ्कन का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

मुखं पङ्कजं लोचने खञ्जरीटौ कुचौ श्रीफले विद्युदेवाङ्गयष्टिः।
यदि प्राणनाथेन हीना सुकेशी ततः किं ततः किं ततः किं ततःकिम्॥[५]

मुख के कमल, नेत्रों के खञ्जन रूप तथा कुचों के श्रीफल रूप होने व शरीरयष्टि के बिजली की प्रभा के समान होते हुए भी सुन्दर केशों वाली सुन्दरी यदि प्राणनाथ से विरहित है, तो फिर क्या?

यहाँ सुन्दरी के समग्र सौन्दर्य की संक्षेप में बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। कवि का यह विचार नितान्त रमणीय है कि समग्र लालित्य व समग्र

१. पं०का० सं०, पृ० १९०, श्लोक ५८२-८६; २. तत्रैव, श्लोक ५८७।
३. तत्रैव, श्लोक ५८२-८३; ४. तत्रैव, श्लोक ५८४।
५. तत्रैव, श्लोक५८७।

शृङ्गाराभरण सौष्ठव व मृदुता होने पर भी शृङ्गार का भी सर्वस्व प्रियसान्निध्य नहीं तो सब कुछ व्यर्थ है। फलतः यह श्लोक सुन्दर सौन्दर्यवर्णन की क्षमता का परिचायक है।

सौन्दर्याङ्कनपरक उपर्युक्त श्लोकों के अतिरिक्त कवि द्वारा स्वाश्रयदाता की प्रशंसा में कथित वह श्लोक द्रष्टव्य है, जहाँ आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति, प्रशस्तिकाव्य की माँग के अनुरूप अतिशयोक्त्यात्मक रूप में इतने सुन्दर ढंग से प्रतिपादित हुई है कि वह एक अनूठी प्रशस्तिपरक उक्ति के रूप में स्मरणीय है—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथं पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्याल् लवणाय वा स्यात्॥[१]

नृपति प्रशंसा के अतिरिक्त कवि द्वारा स्वात्मप्रशंसा भी बढ़-चढ़ कर हुई है। जैसे एक श्लोक द्रष्टव्य है—

कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः॥[२]

इसी प्रकार भगवान् शिव के अद्भुत स्वरूप का स्तुतिपरक सुन्दर श्लोक द्रष्टव्य है—

किरीटे निशेशो ललाटे हुताशो भुजे भोगिराजो गले कालिमा च।
तनौ कामिनी यस्य तत्तुल्यदेवं न जाने न जाने न जाने न जाने॥[३]

अर्थात् जिसके मस्तक पर चन्द्रमा, ललाट में अग्नि, भुजाओं में सर्पराज, गले में कालिमा तथा शरीर में कामिनी (अर्द्धनारीश्वर रूप) विद्यमान है, उस देवता के तुल्य अन्य किसी को मैं नहीं जानता।

इसी प्रकार अन्य श्लोक भी सुन्दर भावाभिव्यक्ति रूप हैं।

इनमें देवस्तुति व राजप्रशस्तिपरक श्लोक काव्यशास्त्रीय दृष्टि से, रसभावादि की दृष्टि से विचार करने पर देव व नृपविषयक रति की कोटि में आने के कारण भाव के उदाहरण हैं। स्वात्मप्रशंसापरक श्लोकों में सञ्चारी भाव 'गर्व' की ध्वनि विद्यमान है तथा लवङ्गी प्रशंसा से सम्बद्ध श्लोक शृङ्गाररस के उदाहरण हैं।

---

१. अव. अन्यो., श्लोक ५७९।
२. वही., पृ० १८९, श्लोक ५७६; ३. वही., श्लोक ५७१।

भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त अलंकार एवं छन्द प्रयोग की दृष्टि से भी ये रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी है। इनमें शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक व अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। छन्दों में आर्या, गीति, उद्‌गीति, अनुष्टुप्, उपजाति, तोटक, भुजङ्गप्रयात, स्रग्विणी, शिखरिणी आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता कुसुम्भारुणं चारु वासो वसाना।
अरं भासमानापि रम्भासमाना लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गीकरोतु।।[१]

यहाँ 'अरं भासमाना' और 'रम्भासमाना' में 'रम्भासमाना' शब्द की दो बार भिन्न अर्थों में आवृति होने के कारण 'यमक' अलंकार विद्यमान है। प्रथम 'रम्भासमाना' शब्द का अर्थ 'अ' के साथ युक्त होकर 'अरंभासमाना' अत्यधिक शोभायमान है तथा द्वितीय 'रम्भासमाना' शब्द का अर्थ रम्भा अप्सरा के समान है। फलत: यहाँ यमक है और यह प्रयोग भी बड़े सरस, व स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'वासो-वसाना', सुस्त-मस्त', 'न्यस्त-हस्त' 'लवङ्गी-कुरङ्गी-दृगङ्गी' में अनुप्रास है।

इसी प्रकार अन्य श्लोक अन्य अलंकारों के सुन्दर उदाहरण हैं।

इन श्लोकों की भाषा भी सामान्यत: माधुर्य व प्रसाद गुणयुक्त भावानुसारिणी कोमलकान्त पदावली है। एकाध स्थल पर प्रसङ्गानुकूल ओज का प्रयोग है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ वैदर्भी व पाञ्चाली रीतियों का प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष

इन समस्त श्लोकों की साहित्यिक समीक्षा के उपरान्त आगत निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये श्लोक रसभाव, भाषा-शैली, अलंकार, छन्दप्रयोग एवं सामान्य भावों को भी सरस ढंग से अभिव्यक्त करने की कवि की सुन्दर क्षमता के परिचायक हैं। इनमें काव्यकला के उपर्युक्त सभी तथ्यों का सुन्दर व स्वाभाविक समन्वय है।

२. रसगङ्गाधर के उदाहरणपद्य

पण्डितराज की मुक्तक रचनाओं का एक रूप रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्य के रूप में भी प्राप्त होता है। इन मुक्तक श्लोकों की रचना रसगङ्गाधरके

१. पं०का०सं०, पृ० १९० श्लोक ५८३।

विविध काव्यशास्त्रीय प्रसङ्गों की व्याख्या के लिये उदाहरण रूप में हुई हैं। इन श्लोकों में कुछ काव्य के विभिन्न प्रभेदों के उदाहरण हैं, तो कुछ विभिन्न रसों व भावों के, कुछ अन्य गुणों के वर्णन-प्रसङ्ग में उद्धृत हुए हैं, तो कुछ विविध अलङ्कारों के उदाहरण श्लोकों के रूप में आये हैं। वर्ण्यभाव की दृष्टि से भी इनमें प्रसङ्गानुकूल पर्याप्त अन्तर है। इनमें कुछ में नीति प्रतिपादन हुआ है, तो कुछ शृङ्गारिक वर्णन से सम्बद्ध हैं। कुछ वीर रस के उदाहरण हैं, तो कुछ करुण व शान्त रस के। किन्हीं श्लोकों में रौद्र, भयानक, वीभत्स व अद्भुत रसों की व्यञ्जना हुई है, तो कुछ विविध सञ्चारी भावों की ध्वनि के उदाहरण होने के कारण विविध मनोभावों से सम्बन्धित हैं। कुछ विभिन्न देवों के स्तुतिगान से सम्बद्ध हैं, तो कुछ में राजप्रशस्ति वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त इन श्लोकों में बहुत से पद्य ऐसे हैं, जिनकी रचना मात्र उदाहरण के उद्देश्य से की गई है और उनमें भावानुभूति का सहज आह्लाद नहीं प्राप्त होता। इन श्लोकों को वर्ण्यभाव की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[१]।

१. नीतिविषयक श्लोक

रसङ्गाधरमात्रस्थ उदाहरणश्लोक संख्या—३, ९, २५, २९, ४५, ४६, ४८, ५८, ६०, ६६, ७२, ७५, ७६, ८९, ९१, ९२, १०८, १०९, ११०, १३५, १४६, १५३, १६७, १७४, १८२, १८३, १८४, १८९, १९०, १९१, १९२, १९८, १९९, २०४, २०९।

अवशिष्टांश श्लोकसंख्या—१४, २४, ३७, ४१, ५०, ५१, ५५,५८, ८७, ९०, १०१।

२. शृङ्गारिक वर्णन से सम्बद्ध श्लोक

रूपचित्रण

रसगङ्गाधर-उदाहरणश्लोक संख्या—७, २१, २२, ३८, ४०, ८८, ९८, १०३, १०६, ११३, १२७, १२९, १३७, १३८, १४१, १९५, १९६, २२१, २२९।

अव० श्लोकसंख्या—१६, ३९, ५६, ७०।

---

१. यह विभाजन "पण्डितराजकाव्यसंग्रह" में "रसगङ्गाधरमात्रस्थपद्यानि" व "अवशिष्टांश" शीर्षक से संकलित उदाहरण पद्यों की श्लोक-संख्या के आधार पर किया गया है।

प्रणयव्यापार चित्रणपरक

रसगङ्गाधर-उदाहरणश्लोक संख्या—९४, ११६, १३६।

अव० श्लोकसंख्या ८८।

वियोगवर्णनपरक

रसगङ्गाधर-उदाहरणश्लोक संख्या—४३, ५९।

३. राजप्रशस्तिविषयक

रसगङ्गाधर-उदाहरणश्लोक संख्या—१०, १५, १६, १९, ३२, ३७, ४२, ४७, ५४, ५६, ६३, ६९, ७०, ८३, ८४, ९०, ९७, ९९, १००, १०१, ११२, १२१, १२८, १३०, १३१, १४३, १४५, १४७, १४८, १४९, १५०, १५९, १६३, १६६, १६८, १७१, १७६, १७७, १७८, १८१, २०६, २०९, २१०, २१२, २१७।

अव० श्लोकसंख्या—२, ४, १०, ११, १७, २१, ३४, ३८, ४०, ४४, ४५, ५३, ६८, ९४, ९५, १००, १०२, १०३।

४. देवस्तुतिविषयक

रसगङ्गाधर-उदाहरणश्लोक संख्या—२६, २८, ३१, ३९, ५०, ५२, ६२, ६४, ७४, ८५, ९५, १०२, १०७, १२५, १३३, १५२, १६०, १९७, २०१, २०७, २१४, २१८, २२०, २२२, २२३, २२५। अव० ३, ५, १९, २७, २८, ४२, ५२, ६३, ७१, ७४, ७५, ८२, ८५।

५. रसभावादिचित्रणपरक

रसगङ्गाधर-उदाहरणश्लोक संख्या—४, ५, १३, ५२, ५७, ११८, १२२, १२३, १३९, १५६, १६५, १७३, १९३, १९४। अव० श्लोक संख्या—८, ४६, ४७, ४९, ५७, ६५, ७२, ७७, ८९।

६. मात्र उदाहरण

रसगङ्गाधर-उदाहरण श्लोक संख्या—१, २, ६, ८, ११, १२, १४, १७, १८, २०, २३, २४, २७, ३०, ३३– ३६, ४१, ४४, ४९, ५१, ५३, ५५, ६१, ६५, ६७, ६८, ७१, ७३, ७७– ८२, ८६, ८७, ९३, १०४, १०५, १११, ११७, १२०, १२४, १२६, १३२, १३४, १४०, १४२, १४४, १५१, १५४, १५५, १५७, १५८, १६१, १६२, १६४, १६५,

१६९, १७०, १७२, १७५, १७९, १८०, १८४, १८८, २००, २०२, २०३, २०५, २११, २१३, २१५, २१६, २१९, २२४, २२६-२२८।

अव०श्लोक संख्या—१, ६, ७, ९, १२, १३, १५, १८, २०, २२, २३, २५, २६, २९, ३३, ३५, ३६, ४३, ४८, ५४, ५९-६२, ६४, ६६, ६७, ६९, ७३, ७६, ७८-८१, ८३, ८४, ८६, ८९, ९३, ९६,-९९।

समीक्षा

इनमें से अधिकांश श्लोकों की रचना मात्र खानापूर्ति के रूप में हुई है। फलतः उदाहरणबाध्यता से रचे जाने के कारण इन श्लोकों में से अधिकांश से वह भावाह्लाद नहीं प्राप्त होता, जो उदाहरणबाध्यता की स्थिति से विनिर्मुक्त होकर इनकी रचना होने पर सम्भव होता है। यद्यपि कुछ अन्यश्लोक ऐसे हैं, जो उदाहरण कसौटी पर खरे उतरने के साथ ही कवि की सुन्दर भावाभिव्यक्ति भी हैं। उदाहरणार्थ राजप्रशस्तिविषयक पद्य सुन्दर बन पड़े हैं। नीति प्रतिपादक कुछ श्लोक तथा विविध अलङ्कारों के उदाहरण रूप में आये श्लोकों में से कुछ इन दोनों ही कसौटियों पर खरे उतरते हैं। शृङ्गारिक वर्णन में विप्रलम्भ के वर्णनपरक कुछ श्लोक सुन्दर बन पड़े हैं; जब कि संयोगशृंगार व अन्य संचारी भावों के उदाहरण रूप में आये कुछ श्लोक मात्र उदाहरण की आवश्यकता निर्वाह के रूप में आये हैं। श्लोकों के इन दोनों रूपों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अलकाꣳफणिशावतुल्यशीला-नयनान्ताꣳपरिपुङ्खितेषु लीलाः।
चपलोपमिता खलु स्वयं या बत! लोके सुखसाधनं कथं सा ॥[1]

यह श्लोक रसगङ्गाधर में उपध्मानीयों की प्रचुरता का उदाहरण है; किन्तु यहाँ नायिका के केशों की कुटिलता, कटाक्षों की तीव्र बेधनशक्ति तथा अति चापल्य व उज्ज्वलता वर्णित करने के लिये उसकी अलकों को सँपोले की तरह कुटिल, नेत्र कोरों को पुंख से युक्त बाणों की तरह बेध देने वाला व स्वयं उसे बिजली के रूप में चित्रित करने की कल्पना भी बड़ी सुन्दर है। फलतः यहाँ उदाहरणबाध्यता होने पर भी सरस भावाभिव्यक्ति विद्यमान है।

उपर्युक्त उदाहरण के अतिरिक्त रूपचित्रणपरक एक श्लोक द्रष्टव्य है, जहाँ श्लेष का आश्रय लेकर मृगनयनी सुन्दरी के नेत्र-सौन्दर्य का वर्णन चमत्कारी ढंग से किया गया है—

१. रसगङ्गाधर, प्र० आ०, पृ० २७७।

दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलिनी।
मुच्यन्ते बन्धनात्केशा विचित्रा वैधसी गतिः।।[१]

अर्थात् मृगाक्षी नायिका की दृष्टि श्रुत्यन्त (वेदान्त+कानों के छोर) का अत्यन्त परिशीलन (अभ्यास+स्पर्श) करने वाली है और बन्धन से मुक्त होते हैं, केश। विधाता की गति विचित्र है।

रसगङ्गाधर में यह श्लोक "असङ्गति" अलंकार के निरूपण प्रसङ्ग में आया है, जहाँ आपाततः (ऊपर-ऊपर से) विरुद्ध रूप में प्रतीत होने वाली हेतु और कार्य की व्यधिकरणता (भिन्न आधार में रहना) वर्णित होती है।[२] यहाँ भी "श्रुत्यन्तपरिशीलिनी" (वेदान्त का अभ्यास और कान के छोर का स्पर्श) इस कारण भाग व "केशों का बन्धन से मुक्त होना" इस कार्य भाग की केवल ऊपरी तौर पर विरुद्ध प्रतीत होने वाली व्यधिकरणता है। कारण, जो श्रुति परिशीलन करेगा, उसी की बन्धनमुक्ति होगी; किन्तु यहाँ नायिका की दृष्टि श्रुत्यन्तपरिशीलिनी है, जबकि बन्धन से मुक्त होते हैं केश। अतः यहाँ प्रथमतः विरोध प्रतीत होता है। किन्तु इस विषय में विचार करने पर ज्ञात होता है कि नायिका की दृष्टि श्रुति = कानों के छोर का अत्यन्त स्पर्श करने वाली है, अर्थात् उसकी नेत्रदृष्टि कर्णचुम्बी है। उसकी इस शोभाविशेष के ज्ञान से युवकों को कामपीड़ा होती है, जिसके फलस्वरूप रतिक्रीडा में उसके केशों को बन्धनमुक्त होना पड़ता है। इस अर्थ का अनुसन्धान करने पर उक्त विरोध की असङ्गति सिद्ध हो जाती है। स्पष्ट है, उदाहरणबाध्यता से रचा जाने पर भी यह श्लोक अति सुन्दर बन पड़ा है।

इसी प्रकार राजप्रशस्ति का एक सुन्दर उदाहरण भी द्रष्टव्य है, जो एक ओर उदाहरणकोटि पर खरे उतरने के साथ ही दूसरी ओर कवि की सरस भावानुभूति भी है—

सुराणामारामादिह झगिति झञ्झानिलहताः
पतेयुः शाखीन्द्रा यदि तदखिलो नन्दति जनः।
किमेभिर्वा कार्यं शिव शिव विवेकेन विकलै-
श्चिरं जीवन्नास्तामधिधरणि दिल्लीनरपतिः।।[३]

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि०आ० द्वि०भा०, पृ० ४६७।

२. विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः।। (रसगङ्गा, द्वि०आ०, द्वि०भा०, पृ० ४६४)

३. तत्रैव, पृ० ३९३।

अर्थात् यदि देवताओं के उद्यान से आँधी से आहत होकर कल्पवृक्ष आदि तुरंत पृथ्वी पर गिरें, तो सभी मनुष्य प्रसन्न हो जायँ; उनके सभी मनोरथ पूर्ण हो जायँ। अथवा शिव-शिव विवेकरहित (जड़) इन कल्पवृक्षों से संसार को क्या प्रयोजन? सांसारिकों के लिए तो यही सब कुछ है कि दिल्लीनरेश चिरकाल तक धराधाम पर जीवित रहें।

यह श्लोक रसगङ्गाधर में 'आक्षेप' अलंकार के उदाहरणरूप में आया हैं, जहाँ "प्रथमत: वर्णित वस्तु का किसी अन्य पक्ष के आलम्बन के कारण निषेध कर दिया जाता है।"[१] यहाँ श्लोक के उत्तरार्द्ध के द्वारा पूर्वार्द्ध में बताए हुए पक्ष का, एक अन्य पक्ष का आलम्बन करने के कारण प्रतिक्षेप किया जा रहा है, फलत: आक्षेप अलंकार है। यह श्लोक उदाहरण की कसौटी पर सटीक उतरने के साथ ही राजप्रशस्ति की सुन्दर भावना भी है।

राजप्रशस्तिपरक उपर्युक्त श्लोक के अतिरिक्त देवाराधनपरक एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

तीर्थं गङ्गा तदितरदपां निर्मलं सङ्घमात्रं
देवौ तस्याः प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराकाः।
सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्यत्
तां यो नित्यं नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्यः॥[२]

अर्थात् तीर्थ गङ्गा है, उससे भिन्न (अन्य तीर्थ) तो केवल जल का निर्मल सङ्घमात्र है। देव दो ही हैं— एक गङ्गा के उत्पत्तिस्थान (हरि) और दूसरे निवासस्थान (हर), और बेचारे तो स्वर्ग निवासी हैं। जनपद वहीं है, जहाँ गङ्गा हैं, अन्य स्थान मृत्तिकामात्र हैं। गङ्गा को जो नित्य प्रणाम करता है, वह ज्ञानवान् है, उससे भिन्नजन अज्ञानी हैं।

यह श्लोक शाब्दीशुद्धा परिसंख्या अलंकार का सुन्दर उदाहरण है, साथ ही गङ्गा के प्रति कवि की अटल आस्था का प्रतिपादक भी है। इस प्रकार इस श्लोक में उदाहरण कसौटी पर सटीक उतरने की क्षमता व सुन्दर भक्ति-भावना दोनों ही गुणों का सुन्दर समन्वय है।

---

१. पूर्वोपन्यस्तस्यार्थस्य पक्षान्तरालम्बनप्रयुक्तो निषेध आक्षेपः। (रसगङ्गाधर, द्वि०आ०, द्वि०भा०पृ० ३९२)

२. तत्रैव, पृ० ६४६।

इसी प्रकार नीतिपरक एक श्लोक द्रष्टव्य है—

स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी हितं च तद्यत्र परानपक्रियाः।
परे च ते ये श्रितसाधुभावाः सा साधुता यत्र चकास्ति केशवः।।[१]

अर्थात् पण्डित वह है, जिसको अपनी हितकारी वस्तु का ज्ञान हो, हित वह है, जिसमें दूसरे का अपकार न हो, दूसरे वे हैं जो सत्पुरुषतायुक्त हों और सत्पुरुषता वह है, जिसमें भगवान् केशव शोभित हो रहे हैं।

यह श्लोक रसगङ्गाधर में 'एकावली' अलंकार के उदाहरण प्रसङ्ग में उद्धृत है; जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थों की उत्तरोत्तर के प्रति विशेष्य अथवा विशेषण रूपता वर्णित होती है।[२] यहाँ पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर स्थापक है। अत: 'एकावली' अलङ्कार की सटीक उदाहरणता है, साथ ही सुन्दर नीतिवर्णना भी है।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त रसगङ्गाधर में उद्धृत कुछ पद्य मात्र उदाहरण पद्यों के लोक-निर्वाह हेतु ही रचित हुए हैं, जिनमें काव्य का मुख्य तत्त्व रसवत्ता विद्यमान नहीं है; यथा यह श्लोक द्रष्टव्य है—

नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते ।
इयं सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा ।।[३]

अर्थात् यह मनुष्य नववधू की तरह आँगन में जाने में काँपता है और यह काठियावाड़ी स्त्री बड़े योद्धा की तरह उद्दण्ड है, किसी से डरती नहीं।

यह श्लोक उपमा अलंकार के निरुपण प्रसङ्ग में उद्धृत है और मात्र उदाहरण की आवश्यकता पूर्ति हेतु इसकी रचना हुई है। इसमें किसी तरह की आनन्दानुभूति नहीं होती है। इसी प्रकार श्लोक द्रष्टव्य है—

एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे ।
केनोपमीयतां तज्ज्ञै रामो रामपराक्रमः।।[४]

अर्थात् देवता, असुर और मनुष्यों सहित इस इतने बड़े संसार में राम के स्वरूप को समझने वाले लोग, राम के पराक्रम के समान पराक्रम वाले

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि०आ०, द्वि०भा, पृ० ५६१।

२. सैव शृङ्खला संसर्गस्य विशेष्य-विशेषणभावरूपत्वे एकावली। (तत्रैव, पृ० ५६०)

३. तत्रैव, प्र०भा०, पृ० ३८४।

४. रसगङ्गाधर, प्र०भा०, पृ० ४२२।

राम की, उपमा किससे दें? जब उनके समान पराक्रमशाली कोई है ही नहीं, तब फिर उनकी उपमा किसी से बने कैसे?

यह श्लोक "अनन्वय" अलंकार का उदाहरण है और मात्र उदाहरण की आवश्यकता पूर्ति हेतु ही रचित है।

एक अन्य श्लोक द्रष्टव्य है—

कान्तारे विलपन्तीनां त्वदरातिमृगीदृशाम्।
देवनानि समाकर्ण्य हरिद्भिरपि चुक्षुभे ।।[१]

अर्थात् हे राजन्! गहन कानन में विलाप करती हुई आपके शत्रु-स्त्रियों के विलापों को सुन कर दिशाएँ भी क्षुब्ध हो गईं।

यह श्लोक विरोध अलङ्कार के प्रसङ्ग में उदाहृत है और इसकी रचना भी उदाहरणपूर्ति के उद्देश्य से हुई है।

इस प्रकार रसगङ्गाधर में उद्धृत पद्य विषय-विवेचन की दृष्टि से विविध कोटि गण्य हैं। इनमें शृङ्गार, नीति, भक्ति, प्रशस्ति व विविध मनोभावनाओं व उदाहरणबाध्यता को पूरा करने के लक्ष्य निर्वाहपरक पद्यों का सुन्दर संकलन है। इन सभी पद्यों से कवि की कवित्व क्षमता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कारण इनमें एक ओर मनोरम कवित्व का दर्शन होता है, तो दूसरी ओर इन पद्यों के उदाहरण कसौटी पर खरे उतरने से कवि का शब्द, अर्थ, भाषा, भाव, अलंकार, छन्दप्रयोग आदि सभी काव्य-तत्त्वों पर अधिकार सिद्ध होना ज्ञात होता है। वैसे भी सहज भावोच्छ्वास को श्लोकबद्ध करने की अपेक्षा किसी बाध्यता से रचे गये पद्यों का प्रणयन करना अपेक्षाकृत कठिन है और पण्डितराज के रचना-श्लोक इस दृष्टि से भी सफल हैं। शास्त्रीय-दृष्टि से ये श्लोक पण्डितराज के अपने मानदण्डों तथा काव्य के आदर्शों के सर्वथा अनुरूप हैं। जिन काव्यदोषों को वे परिहेय समझते हैं, उनसे वे दूर है। भाषा के वर्णों तथा रचना के जिन आदर्शों की ओर उन्होंने संकेत किये हैं, उनका इनमें उचित रूप में परिपालन है। ये प्राय: उनके अपने आदर्शों के निदर्शन ही हैं। उसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि इन श्लोकों में वे परिमार्जित रुचि का प्रदर्शन करते हैं। उदाहरणों के चुनाव में मम्मट कभी-कभी अपरिमार्जित रुचि का भी प्रदर्शन कर गये हैं; किन्तु पण्डितराज के उदाहरणों में एक नैतिकता की छाया है।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि०आ० द्वि०भा०, पृ०४१५।

इस नैतिकता ने रसात्मकता का हनन कहीं नहीं किया, रमणीयता को भी कहीं नहीं छोड़ा। इसी कारण अपने इस कवि-रूप का आचार्यत्व के लिये उपयोग करते हुए पण्डितराज को आत्म-तुष्टि के साथ अभिमान है—

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ।

फलतः रसगङ्गाधर का काव्यशास्त्रीय विवेचन जहाँ उन्हें उद्भट कवि के रूप में प्रस्थापित करता है, वहीं उसके उदाहरण श्लोक उन्हें ऐसे श्रेष्ठ व शब्द सिद्ध कवि के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं, जिसकी वाणी उसके हृदयस्थ भावों का अनुवर्तन करती है।

●

षष्ठ अध्याय

भाषा एवं शैली

काव्य की प्रतिपादिका भाषा या पदरचना का काव्य में अपना स्वतन्त्र महत्त्व होता है। कारण, भाषा के माध्यम से ही कवि अपनी भावनाओं को काव्य का रूप प्रदान करता है। काव्यतत्त्वों में भाषा ही सर्वप्रथम श्रोता या पाठक के सम्मुख आती है, अत: उसकी वर्णसंयोजना ऐसी होनी चाहिए कि वह सहृदयों के मन:प्रसादन में समर्थ हो सके। यदि वह उनके मन को आकृष्ट करने में सफल न हो सकेगी, तो सहृदयजनों की उसके अर्थ को समझने की ओर प्रवृत्ति ही न होगी और तब कवि का परिश्रम ही निष्फल प्रतीत होने लगेगा। अत: कवि में पदरचना कौशल सर्वाधिक अपेक्षित है। अलङ्कार ग्रन्थों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अलङ्कार तो बाह्य हैं, वस्तुत: वचनों की अलङ्कृति सुप् तथा तिङ् की व्युत्पत्ति है। इसी को सौशब्द्य कहते हैं, अर्थव्युत्पत्ति ऐसी वस्तु नहीं है'[१]। वामनादि आचार्यों ने तो पदरचना को इतना गौरव प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया।[२] इसी प्रकार एक अन्य आचार्य ने पदविन्यास को उत्कृष्टता प्रदान करते हुए 'उस कविता को या वनिता को निष्प्रयोजन ही ठहरा दिया, जो पदविन्यास अर्थात् चरणन्यास तथा पदन्यास मात्र से मन नहीं हर लेती—

किं वा कवितया राजन् किं वा वनितया तया।
पदविन्यासमात्रेण मनो नापहृतं यया।।

स्पष्ट है कवि का पदविन्यास विषयक कौशल ऐसा होना चाहिए कि वह सुगन्धहीन होने पर भी आकर्षक होने के कारण दूर से ही दृष्टि मोहित कर लेने वाली मालती की माला के समान गुणज्ञान (अर्थ ज्ञान) न कराने पर भी कानों में मधुधारा की वृष्टि करे—

अविदितगुणापि सत्कविभणिति:कर्णेषु वमति मधुधाराम्
अनधिगतपरिमलापि च दृशं हरति मालती-माला[३]।।

---

१. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्।। (काव्यालङ्कार, १।१४)

२. रीतिरात्मा काव्यस्य। (काव्यालंकारसूत्राणि १।२।६)

३. वासवदत्ता, श्लोक ११।

पण्डितराज का भाषा-विन्यास

भाषाविन्यास की दृष्टि से विचार करने पर पण्डितराज इस कौशल के भी उत्कृष्ट आचार्य सिद्ध होते हैं। उनके इस भाषा विन्यास का विवेचन दो वर्गों में विभक्त कर किया जा सकता है—१. नियमनिर्माणविषयक कौशल और २. भाषागत विशेषताएँ।

१. नियमनिर्माणविषयक कौशल

पण्डितराज पदविन्यास-विषयक कौशल के श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी कृतियों के अलावा इसका प्रमाण है, रसगङ्गाधर का गुणविवेचन, जहाँ उन्होंने पदरचनाविषयक अनेक नियमों को दृढ़ किया है और शृङ्गारादि रसों में संयुक्ताक्षर विषयक बहुत से नवीन नियमों की सृष्टि की है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि पण्डितराज जगन्नाथ का काल वह काल था, जब हिन्दी में ब्रजभाषा पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी तथा शुद्ध संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप को ग्रहण कर सकने की उसकी क्षमता के कारण उसके स्वाभाविक माधुर्य में और भी निखार आ गया था। उदाहरणार्थ बिहारी के दोहे द्रष्टव्य हैं। जब वे दृष्टि, द्युति, गात्र, कर्कश, स्पर्श आदि शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान पर क्रमशः दीठि, दुति, गात, करकस, परस आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं, तो मूल संस्कृत शब्दों के द्वारा रचित पद्यों की अपेक्षा उन तद्भव शब्दों द्वारा रचित पद्यों में लाख गुना माधुर्य बढ़ जाता है।[१] बिहारी के अतिरिक्त सूर, तुलसी आदि कवियों की कोमलकान्त पदावली इस मिठास की प्रमाण हैं। समसामयिक होने के कारण पण्डितराज पर भी युग की इस कोमलकान्त पदावली के प्रयोग की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था और यह प्रभाव उनकी रचनाओं में परिलक्षित भी होता है।

किन्तु इस प्रभाव को संस्कृत में लाने के लिये उन्हें इसके पदरचना विषयक नियमों में हेर-फेर करना पड़ा। व्याकरण के जटिल नियमों से बद्ध संस्कृतभाषा में मधुर रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का प्रयोग कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव-सा है। टवर्ग, सवर्ण व्यञ्जन, रेफादि संयोग को छोड़कर शृंगार, करुण, शान्त आदि कोमलतम रसों में केवल कोमलपदावली की रचना बहुत कठिन है। इसके उदाहरण रूप में पण्डितराज ने उस अमरुक महाकवि

---

१. दीठि न परत समान दुति कनकु, कनक सौं गात।
भूषन कर करकस लगत परस पिछाने जात।। (बिहारी सतसई १।१५१)

के पद्य को प्रस्तुत किया है,[१] जिनका एक ही पद्य सौ प्रबन्धों के समान माना जाता है[२] और जिसे मम्मट ने भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उद्धृत किया है। परन्तु इस श्लोक के अनेक पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं।[३] इसी प्रकार अन्य आचार्यों द्वारा मधुर रसों के प्रसङ्ग में उदाहृत श्लोक द्रष्टव्य हैं। वस्तुतः कुछ ही श्लोक ऐसे प्राप्त होंगें, जो अलङ्कार ग्रन्थों में प्रतिपादित निषिद्ध संयुक्ताक्षरादि से रहित हों। अतः यही प्रतीत होता है कि आलंकारिकों ने माधुर्य गुण के लिये टवर्गहीन, संयुक्ताक्षर इत्यादि रूप से वर्णों का निषेध तो किया; किन्तु उसे व्यावहारिक प्रयोग में न ला सके।

पण्डितराज ने माधुर्यगुण विषयक इस नियम-दौर्बल्य को दूर करने के लिये रसगङ्गाधर में पदरचना विषयक अनेक नियमों को दृढ़ किया है व शृङ्गार आदि रसों में संयुक्ताक्षर विषयक बहुत से नये नियमों का निर्माण किया। किस वर्ण के अनन्तर किस वर्ण के आने से कटुता बढ़ जाती है, इसका मार्मिक विवेचन भी उन्होंने किया है,[४] जो सम्भवतः किसी भाषा के साहित्य में नहीं प्राप्त होता। उदाहरणार्थ उनके द्वारा आविष्कृत पदविन्यास विषयक कुछ नियम द्रष्टव्य हैं—

१. यदि कोई वर्ण एक ही पद में लगातार दो बार प्रयुक्त हो, तो सुनने में कुछ भद्दा-सा लगता है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिए। जैसे—ककुभसुरभि (कुटज पुष्प के समान सुगन्धित), विततगात्र (विस्तृत अङ्ग वाला), और पललमिवाभाति (मांस-सा दीखता है), इत्यादि स्थलों में। तात्पर्य यह है कि यहाँ क्रमशः क-क, त-त और ल-ल ये अक्षर एक ही पद में लगातार दो-दो बार प्रयुक्त होने के कारण अश्रव्य हो गये हैं।[५]

२. यदि एक ही पद में अनेक बार एक ही अक्षर लगातार प्रयुक्त हो, तब तो और अधिक अश्रव्यतादोष आ जाता है। जैसे—'वितततरस्तरुरेष भाति

---

१. शून्यं वासगृहं विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निंद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २८७-८८)

२. अमरुककवेरेकं पद्यं प्रबन्धशतायते।

३. इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनैः, शनैर्निद्रा, निर्वर्ण्य, पत्युर्मुखम् विस्रब्धम्, परिचुम्ब्य, लज्जानम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं। (देखिये रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २८८)

४. तत्रैव, पृ. २६१-२८५।

५. तत्रैव, पृ. २६२।

भूमौ' इस वाक्य में एक ही पद में लगातार तीन बार तकार का प्रयोग हुआ है।[१]

३. इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर के बार-बार आने से भी कुछ अश्रव्य प्रतीत होता है। जैसे—'शुक! करोषि कथं विजने रुचिम्' इस वाक्य में भिन्न-भिन्न पदों में ककार का तीन बार प्रयोग हुआ है।[२]

४. भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक श्रवणपीड़ादायक होता है। जैसे—'पिक! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्' इस वाक्य में भिन्न-भिन्न पद में ककार का चार बार प्रयोग हुआ है।[३]

५. इसी प्रकार जिस वर्ग का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ उसी-उसी वर्ग के भिन्न अक्षर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार किया जाता है, तो वह भी खटकता है। जैसे—'वितथस्ते मनोरथः' इस वाक्य में 'त' और 'थ' का।[४]

६. एक पद में एक वर्ग के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो, तो और अधिक अश्रव्य होता है। जैसे—'वितथतरं वचनं तव प्रतीमः' इस वाक्य में त-थ-त का प्रयोग है।[५]

७. इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एकवर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अश्रव्य होती है। जैसे—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इस वाक्य में भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एक वर्गीय 'थ' और 'त' का प्रयोग।[६]

८. एक वर्ग के वर्णों का सहप्रयोग प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो, तो अश्रव्य होता है। जैसे—'खग! कलानिधिरेष विजृम्भते' इस वाक्य में 'ख-ग-क' रूप वर्ग के द्वितीय, तृतीय और प्रथम अक्षरों का अनेक बार सहप्रयोग है।[७]

९. पाँचों वर्गों के पञ्चम अर्थात् 'ञमङणन' मधुर हैं, अतः उनमें से किसी भी वर्ग का अपने-अपने वर्ग से किसी भी भिन्न अक्षर के साथ प्रयोग अश्रव्य नहीं होता। जैसे—'तनुते तनुतां तनौ' इस वाक्य में नकार का

१-२. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २६२।

३-६. तत्रैव, पृ. २६३।

७. तत्रैव, पृ. २६४।

तकार के साथ अनेक बार अव्यवधानेन प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं हुई।[1]

१०. 'ञमङणन' इन पञ्चम वर्णों में भी किसी एक ही वर्ण का साथ ही साथ बार-बार प्रयोग तो अश्रव्य होता ही है। जैसे—'मम महती मनसि व्यथाऽऽविरासीत्' इस वाक्य में मकार का प्रयोग।[2]

११. पूर्व में जितनी अश्रव्यताएँ कही गयी हैं, ये सब तब दूर हो जाती हैं, जब दो अश्रव्य व्यञ्जनों के बीच में दीर्घस्वर रख दिया जाता है। जैसे—'सञ्जायतां कथङ्कारं काके केका कलस्वनः' इस वाक्य में यद्यपि ककार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अश्रव्य नहीं लगता, क्योंकि बीच-बीच में आकार आदि दीर्घस्वर आ गये हैं।[3]

१२. इसी प्रकार तीन या तीन से भी अधिक वर्णों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है। जैसे 'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति' इस वाक्य में एक जगह षकार-टकार-रेफों का और दूसरी जगह षकार-टकार-रेफ-यकारों का संयोग है।[4]

१३. पूर्व पद के अन्त में दीर्घस्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य होता है। जैसे—'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते' यहाँ पूर्वपद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है।[5]

१४. परसवर्ण से बने हुए संयोग का दीर्घस्वर के अनन्तर विद्यमान होना, नाममात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह संयोग सर्वथा भिन्न पदगत नहीं होता और मधुर भी होता है। जैसे—'तान्तमाल-तरु-कान्तिलङ्घिनीम्' श्लोक के 'तान्त' और 'लङ्घिनीम्' इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण हुआ है, वह पूर्वपद का अङ्ग है, अतः यह संयोग भिन्न-भिन्न पद में होने वाला नहीं कहा जा सकता है।[6]

१५. अपनी इच्छा से एक बार भी सन्धि का नहीं करना अश्रव्य होता है। जैसे—'रम्याणि इन्दुमुखि ते किलकिञ्चितानि' इस वाक्य में 'रम्याणि' पद का अन्तिम और 'इन्दुमुखि' पद का आदिम इकार का ऐच्छिक सन्धि-विरह अश्रव्य है।[7]

१-३. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २६५

४-५. तत्रैव, पृ. २६८।

६. तत्रैव, पृ. २६९; ७. तत्रैव, पृ. २७१।

१६. प्रगृह्यसंज्ञा के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह बार-बार आए, तभी अश्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं। जैसे—'अहो अमी इन्दुमुखीविलासा:' इस वाक्य में ओ+अ और ई+इ में।[१]

१७. इसी तरह 'य' और 'व' के लोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह भी यदि बार-बार आए तो कर्ण-कटु प्रतीत होती है। जैसे—'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ता:' इस वाक्य में अ+इ और अ+ए में।[२]

१८. लम्बे समास, जिनके आगे झय् प्रत्याहार के वर्णों—अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के संयोग हों, ऐसे ह्रस्वस्वर, विसर्ग, विसर्ग के स्थान में आदेश द्वारा आए हुए सकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, टवर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षर, रेफ अथवा हकार द्वारा बने हुए संयोग, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के उन्हीं के साथ संयोग अर्थात् उनके द्वित्व और वर्गों के प्रथम से लेकर चतुर्थपर्यन्त के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन सबों के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगों को मधुर रसों में छोड़ना चाहिए।[३]

इसी प्रकार भाषा के स्वरूप से सम्बद्ध अनेक अन्य पदविन्यास विषयक नियमों का सोदाहरण विवेचन रसगङ्गाधर में किया गया है। इस समस्त विवेचन से उनका पदविन्यास विषयक पाण्डित्य एवं नियम-निर्माण विषयक कौशल ज्ञात होता है।

पण्डितराज वाग्देवतावतार मम्मट के समान केवल नियमनिर्माण में ही प्रवीण नहीं थे, अपितु स्वकीय उदाहरणों में उन नियमों का पूर्णरूप से अनुवर्तन भी करते थे। उनकी कृतियाँ इस बात की प्रमाण हैं। मधुर रसों व रचना के जो उदाहरण रसगङ्गाधर व अन्य रचनाओं में हैं, वे इन नियमों के अनुसार पूर्णतया दोषरहित हैं। पदरचना विषयक इस समस्त विवेचन व उनकी कृतियों में इसके पूर्ण निर्वाह से उनका पदविन्यासगत पाण्डित्य सम्यक्रूपेण दिग्दर्शित होता है।

२. भाषागत विशेषताएँ

पदविन्यास विषयक इस पाण्डित्य के अतिरिक्त स्वरूपविधान की दृष्टि से पण्डितराज की भाषा सामान्यत: माधुर्य-प्रसाद गुण मिश्रित कोमल-पदावली है; किन्तु परुषभावों के प्रसंग में वह ओज गुणयुक्त परुषपदावली का बाना धारण

१-२. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २७१।

३. तत्रैव, पृ. २७३-७४।

कर लेती है। भाषा के इस भावानुसारी रूप के अतिरिक्त उसमें प्रवाह, आनुप्रासिकता, संगीतात्मक पदयोजना, लयात्मकता, सुन्दर शब्दचयन, आदि अन्य विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी भाषागत इन विशेषताओं का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

(क) भाव व प्रसङ्गविषयानुरूपता

सारस्वतप्रसाद प्राप्त कवियों की भाषा भावानुसार नर्तन करती है। भावप्रसंगानुरूपिणी यह भाषा काव्य के चरम उद्देश्य सद्य:परनिर्वृति की भी सहायिका होती है। उदाहरणार्थ शृङ्गाररस के प्रसङ्ग में यदि कटुवर्ण बहुल भाषा होगी, तो यह चित्ताह्लादन में समर्थ न हो सकेगी। इसी प्रकार वीर तथा रौद्र रसों की वर्णना में कोमलकान्त पदावलीयुक्त भाषा रसदीप्ति ही न कर सकेगी। फलत: कविभाषा को वर्ण्यभाव व प्रसङ्ग के अनुरूप अवश्य होना चाहिए।

भाषा की इस विशेषता की दृष्टि से भी विचार करने पर पण्डितराज एक सिद्धहस्त कवि सिद्ध होते हैं। भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। मृदुभावों व प्रसंगों की वर्णना में उनकी भाषा माधुर्य, सौकुमार्य, प्रसाद गुण प्रधान कोमल कान्त पदावलीयुक्त हो जाती है तथा परुषभावों व प्रसंगों की वर्णना में ओज गुणप्रधान। उदाहरणार्थ कवि की करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी, गङ्गालहरी आत्मसमर्पण की भावना से प्रेरित नितान्त विनीत प्रार्थनापरक रचनाएँ हैं; फलत: इन लहरियों की भाषा माधुर्य-प्रसाद गुणयुक्त ललित पदावली संवलित है; किन्तु सुधालहरी व गङ्गालहरी के जिन श्लोकों में क्रमश: सूर्य व गङ्गा के तेजोमय रूप का वर्णन है, वहाँ उनकी भाषा परुष वर्णों से युक्त ओजगुण प्रधान हो जाती है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कोमलपदावली

स्मरो नामं नामं त्रिजगदभिरामं तव पदं
प्रपेदे सिद्धिं यां कथमिव नरस्तां कथयतु।
यया पातं पातं पदकमलयोः पर्वतचरो
हरो हा रोषार्द्रामनुनयति शैलेन्द्रतनयाम्।।[१]

भगवान् शंकर द्वारा त्रैलोक्यवंदिता देवी के चरण-कमलों में बारम्बार नमन कर उनकी मनुहार करने के कोमलभाव को अभिव्यक्त करने वाले इस श्लोक की

१. लक्ष्मीलहरी, श्लो.११।

पदावली भी भावानुसार ललित-वर्णविन्यास युक्त है। साथ ही सरल शब्दावली, अनुस्वार व अनुप्रासों के प्रयोग से भाषा में माधुर्य व प्रसाद गुण विद्यमान हैं।

परुषपदावली

पद्मद्रोहोद्धुराणां धवलितहरितामैन्दवीनां द्युतीनां
दर्पं द्राग् द्रावयन्तो विदलदरुणिमोद्रेकदेदीप्यमानाः।
दूरादेवान्धकारान्धितधरणितलद्योतने बद्धदीक्षा-
स्ते दैन्यध्वंसदक्षा मुदमुदयदिनोद्वेलदुस्रा दिशन्तु॥[१]

यहाँ कमलों के वैरी, चन्द्रकिरणों का गर्व नष्ट करने वाले और अरुणिमा के उद्रेक से अत्यधिक देदीप्यमान तेजस्वी सूर्य का वर्णन भी ओजस्वी पदावली में किया गया है।

(ख) तीनों गुणों का सद्भाव

भाषा के भावानुसारिणी होने के कारण पण्डितराज की रचनाओं में साहित्यशास्त्र में स्वीकृत माधुर्य, ओज व प्रसाद गुणों का सद्भाव प्राप्त होता है।

पण्डितराज की विशिष्ट मान्यता के अनुसार गुण आनन्दवर्धन, मम्मट आदि अन्य ध्वनिवादी आचार्यों के समान मात्र रस के धर्म नहीं; अपितु शब्द, अर्थ, रस, रचना आदि सभी के धर्म होते हैं।[२] रचना के शब्दबद्ध (भाषाबद्ध) होने के कारण ये प्रकारान्तर से वहाँ भी विद्यमान रहते हैं। फलतः भाषा-विवेचन करते समय गुणों की उपस्थिति विषयक चर्चा भी आवश्यक है। उनके भाषागत गुणों का विवेचन निम्नलिखित है—

१. माधुर्यगुण

माधुर्य वह गुण है, जिसकी उपस्थिति से काव्य मधुर बन जाता है और अन्तःकरण आनन्द से रस-विभोर हो जाता है। इस गुण में ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है, जो मधुरता के व्यञ्जक होते हैं। इस गुण की व्यञ्जिका रचना ट,ठ,ड,ढ को छोड़कर प्रथम व तृतीय वर्णों अर्थात् क-ग, च-ज, त-द, प-ब इनके संयोग से युक्त श, ष, स एवं य, र, ल, व से युक्त, समीप-समीप में प्रयुक्त किए गए अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से शोभित,

१. सुधालहरी, श्लो.२।

२. प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२८)।

समासरहित अथवा अल्प समासयुक्त होती है।[१] शृङ्गार, करुण एवं शान्त रसों के काव्य में यह प्रयुक्त होता है। पण्डितराज की भाषा में इस गुण का प्रयोग अनेकत्र हुआ है। एक पद्य द्रष्टव्य है—

समुन्मीलन्नीलाम्बुजनिकरनीराजितरुचा-
मपाङ्गानां भङ्गैरमृतलहरीश्रेणिमसृणैः।
ह्रिया हीनं दीनं भृशमुदरलीनं करुणया
हरिश्यामा सा मामवतु जडसामाजिकमपि।।[२]

यहाँ पञ्चम वर्णों (म,न,ङ) व अनुस्वारों के प्रयोग ने काव्य-पंक्तियों में श्रुतिमधुर लालित्य व संगीतात्मकता ला दी है।

२. ओजगुण

जिस गुण के रचना विशेष में विद्यमान रहने से चित्त में आवेग या स्फूर्ति उत्पन्न हो जाय, उसे ओजगुण कहते हैं। यह गुण शौर्य, शक्ति और कठोरता का परिचायक है, जिससे ओजगुणपूर्ण काव्य में कोमल पदावली का अभाव होता है। यह गुण वीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस के काव्य में विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इसमें संयुक्त वर्ण, द्वित्व वर्ण, रेफयुक्त संयोग, दीर्घ समास, टवर्ग के पाँचो वर्ण, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग, सकार, झय्, प्रत्याहार आदि प्रयुक्त होते हैं।[३] उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुग-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम्।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीशः स्मरेत्।।[४]

यहाँ टवर्ग (ड), संयुक्ताक्षर व झय् वर्णों के प्रयोग के कारण ओजगुण विद्यमान है। ओज की उपस्थिति से यहाँ भाषा भी ओजस्वितापूर्ण है। हर एक शब्द से ओज छलकता जान पड़ता है।

३. प्रसादगुण

माधुर्य व ओज के अतिरिक्त प्रसाद नामक तीसरा गुण होता है। इसमें सरल, सुबोध व सुनने मात्र से अर्थावबोध कराने वाले शब्द प्रयुक्त होते हैं,

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २५५; २. लक्ष्मीलहरी, श्लो.१।
३. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २५७-५५८; ४. प्राणा. जगदा., श्लो.१४।

फलतः सुगम अर्थप्रतीति इसकी परिचायक है। यह गुण सरलतया अर्थबोधक सभी रसों व सभी प्रकार की रचनाओं में प्राप्त होता है। इसके श्रवण से चित्त विकसित हो जाता है। यह गुण जहाँ विद्यमान रहता है, वहाँ की भाषा भी सरलतापूर्ण हो जाती है।[१] पण्डितराज की कृतियों में इस गुण की बहुलता है—

आयातैव निशा निशापतिकरैः पूर्णं दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरङ्गान्यलङ्कुर्वते।
मुग्धे मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा हा बालमृणालतोऽप्यतितरां तन्वी तनुः क्षाम्यति।।[२]

नायक द्वारा रूठी नायिका को मनाने का अर्थ कितना स्पष्ट है; फलतः प्रसाद गुण है। श्लोक की भाषा भी सरल शब्दावलीपूर्ण है।

(ग) सुन्दर शब्द-चयन

पण्डितराज की काव्यभाषा की एक अन्य विशेषता भावानुसारी सुन्दर शब्दचयन है। शब्द के अनेक पर्याय होते हैं। इनमें से वर्ण्यभाव के अनुरूप शब्दप्रयोग होने से भावव्यञ्जना प्रभावशाली हो उठती है, जिससे कवि की काव्यमर्मज्ञता व रचनानैपुण्य की अभिव्यक्ति होती है। इसे ही सौशब्ध्य कहते हैं। सौशब्ध्यजन्य यह अभिव्यञ्जना क्षमता किसी कवि को केवल वाच्य-वाचक के ज्ञान से नहीं प्राप्त होती।[३] कोई व्याकरण, कोश, मीमांसा आदि का कितना ही बड़ा पण्डित क्यों न हो जाय, यदि उसमें सहृदयता व सूक्ष्म काव्यमर्मज्ञता नहीं, तो उसमें काव्य के शब्द व उसके विवक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति सामर्थ्य नहीं आ सकती।

इस कौशल की दृष्टि से भी विचार करने पर पण्डितराज खरे उतरते हैं। जिन वर्ण्यभावों का जिन शब्दों के द्वारा प्रकटन मनोहर, कलात्मक और सहृदयाह्लादक होगा, वे उन भावों को उन्हीं शब्दों के द्वारा प्रकट कर अपनी अभिव्यञ्जना-क्षमता का परिचय देते हैं। जैसे शृङ्गारविलास का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २५८; २. शृङ्गा.वि., श्लो.५४।

३. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।। (ध्वन्यालोक, १।७)
सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।। (ध्वन्यालोक, १।८)

अनिशं नयनाभिरामया रमया सम्मदिनो मुखस्य ते।
निशि निःसरदिन्दिरं कथं तुलयामः कलयापि पङ्कजम्।।[१]

यहाँ नायिका के मुख का कमल से व्यतिरेक दिखाना कवि का अभीष्ट है। कमल के विशेषण के लिए उसने 'पङ्कजम्' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ वह कमल के अन्य पर्याय जैसे 'नीरजम्' या 'वारिजम्' का भी प्रयोग कर सकता था, लेकिन इनसे कवि का अभीष्ट भाव उतनी सुन्दरता से अभिव्यक्त नहीं हो सकेगा, जितना 'पङ्कजम्' शब्द से। 'पङ्कजम्' का अर्थ है—'कीचड़ से उत्पन्न होने वाला।' जो कीचड़ से उत्पन्न हुआ है, उसकी कहीं स्वच्छ नयनाभिराम सौन्दर्य से युक्त मुख के साथ तुलना की जा सकती है, कभी नहीं। यही आशय 'पङ्कज' पद से ध्वनित होता है और यही कवि का शब्दचयन विषयक कौशल है।

इसी प्रकार एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

अये जलधिनन्दिनीनयननीरजालम्बन
ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्वरभरत्वराभङ्गुरम्।
प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वंकषै-
र्जगत्त्रितयरोचनैः शिशिरयाशु मां लोचनैः।।[२]

यहाँ सन्तप्त कवि की भगवान् से शीतलता प्राप्ति की चाह वर्णित है। फलतः कवि का शब्दचयन विषयक कौशल भी ऐसा है कि उसने जिन पदों का प्रयोग किया है, वे शीतलता प्रदान करने की अतुल क्षमता रखते हैं। कृष्ण को 'जलधिनन्दिनीनयननीरजालम्बन' कहकर सम्बोधित किया गया है व लक्ष्मी के लिए भी किसी अन्य विशेषण का प्रयोग न करके 'जलधिनन्दिनी' कहा गया है। जल का जो आगार है, वह जलधि है और जल का गुण है शीतलता।[३] उस जलधि की नन्दिनी होने के कारण वह और भी शीतल होगी और उसके नेत्रकमल और भी शीतल होंगें। ऐसे कृष्ण के नेत्रों को प्रभातकालीन कमलों के गर्व का सर्वापहरण करने वाला कहा गया है। इससे भगवान् के नेत्रों का अत्यधिक शैत्य ध्वनित होता है। यह है, कवि का सौशब्द्य-जन्य चमत्कार।

(घ) ध्वन्यात्मकता

पण्डितराज के भाषागत शब्दप्रयोग में वर्णों की ध्वन्यात्मकता के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की भी सुन्दर क्षमता है। किसी भाव, वस्तु या दृश्य की वर्णना

१. शृङ्गा.वि., श्लो.७९; २. शान्त वि., श्लो.२।
३. शीतस्पर्शवत्यापः, तर्कसंग्रह, पृ.३१।

करते समय उनकी भाषा उसे ध्वनित होकर मानों सजीव रूप में उपस्थित कर देती है। इस प्रकार नादसौन्दर्य से पूरा वर्ण्यविषय ही ध्वनित हो उठता है। उदाहरणार्थ एक श्लोक देखिये—

यस्मिन् खेलति सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै-
र्मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिद्दन्तावलाः पेदिरे।
सोऽयं तुङ्गतिमिङ्गिलाङ्गकवलीकारक्रियाकोविदः
क्रोडे क्रीडतु कस्य केलिकलहत्यक्तार्णवो राघवः।।[१]

यहाँ महामत्स्य राघव का समुद्रपरिभ्रमण विषयक वर्णन है। परन्तु श्लोक की शब्दावली ही इस प्रकार ध्वनित हो रही है कि उससे राघव की विशालता व विकरालता ध्वनित हो उठी है और ऐसा लगता है, मानो राघव के समुद्रभ्रमण से समुद्र में ज्वारभाटा ही आ गया हो।

यह तो हुई ओजगुणानुकूल वर्णध्वन्यात्मकता। अब प्रसाद गुणयुक्त वर्ण-ध्वन्यात्मकता का उदाहरण द्रष्टव्य है—

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्तास्तव।
आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः।।[२]

यहाँ 'आरोह-मेरोःशिरः', 'पारावारपरम्परास्तर', 'आशा न शान्ताः', 'आधिव्याधिपराहतो', 'रसायनं रसय रे', 'शून्यैः किमन्यैः श्रमैः' में सुन्दर वर्ण-संयोजन के कारण वर्ण स्वयं ध्वनित होकर क्रमशः मेरु-आरोहण, पारावार-तरण, आशाशान्तिराहित्य, आधिव्याधियुक्तता, रसायन-रसास्वाद व अन्य श्रमों की निष्फलता अभिव्यक्त कर देते हैं।

(ङ) चित्राङ्कनक्षमता

पण्डितराज की काव्यभाषा की एक अन्य विशेषता उसकी चित्राङ्कन क्षमता है। स्थलविशेष पर अपनी अनुभूति की सत्यता के कारण वे वर्ण्यविषय का

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.५३।

२. शान्त वि., श्लो.६।

चित्र ही उतार देते हैं। भाषा की इस विशेषता के निदर्शनार्थ गङ्गालहरी का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

द्यूते नागेन्द्रकृत्तिप्रमथगणमणिश्रेणिनन्दीन्दुमुख्यं
सर्वस्वं हारयित्वा स्वमथ पुरभिदि द्राक् पणीकर्तुकामे।
साकूतं हैमवत्या मृदुलहसितया वीक्षितायास्तवाम्ब
व्यालोलोल्लासिवल्गल्लहरिनटघटीताण्डवं नः पुनातु।।[१]

यहाँ वर्णन इतने सजीव रूप में भाषाबद्ध हुआ है कि पाठक के समक्ष द्यूतक्रीड़ारत शंकर-पार्वती तथा पार्वती द्वारा तिर्यक् नेत्रों से देखी जा रही, फलतः लहराती गङ्गा का चित्र उपस्थित हो जाता है।

इसी प्रकार करुणालहरी में कवि ने भगवान् कृष्ण का सुन्दर स्वरूप वर्णन किया है।[२] सुधालहरी के भी कुछ श्लोक भगवान् सूर्य का सुन्दर चित्रण करने के कारण चित्रात्मकता के उदाहरण हैं।[३] गङ्गालहरी में भी गङ्गा के शास्त्रीय स्वरूप की परिकल्पना करने वाले व गङ्गा तथा पार्वती के सापत्न्य का सुन्दर अंकन करने वाले श्लोक चित्रात्मकता के सुन्दर निदर्शन हैं।[४] लक्ष्मीलहरी में भी इसी चित्रात्मकता के दर्शन होते हैं।

(च) आनुप्रासिकता

पण्डितराज की काव्यभाषा की एक बहुत बड़ी विशेषता उसकी गुणानुकूल व रसानुकूल वर्णों की आनुप्रासिकता है। वैसे तो अनुप्रास अलंकार का निवेश प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में पाया जाता है, परन्तु पण्डितराज की तो समग्र पदसंयोजना ही आनुप्रासिक है। उन्होंने एक ध्वनि, एक से स्वर एवं व्यञ्जन वाले शब्दों का अधिकता से प्रयोग किया है, जिससे भाषा में सरसता व विलक्षण प्रवाह उत्पन्न हो गया है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) कलिन्दनगनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी[५]

(ख) मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः[६]।

१. गङ्गालहरी, श्लो.५१; २. करुणालहरी, श्लो.४१-५२।
३. सुधालहरी, श्लो.५-८; ४. गङ्गालहरी, श्लो.३, ३८, ४०, ४७, ४८।
५. शान्तवि., श्लो.३; ६. वही, श्लो.७।

(ग) जलं ते जम्बालं मम जननजालं जरयतु[१]

(घ) नितम्बस्ते बिम्बं हसति नवमम्बाम्बरमणेः[२]

(ङ) तव श्वासा नासापुटविहितवासा विदधताम्[३]

माधुर्य व प्रसाद गुणानुकूल आनुप्रासिकता के उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त ओजगुणानुकूल आनुप्रासिक प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं—

(क) ज्वालाटङ्कविटङ्कघट्टनदलद्ग्रावा न दावानलः[४]

(ख) ज्वालाजालकरालभालफलकः क्रूरः फणी वर्तते[५]

(ग) माद्यत्कुम्भीन्द्रकुम्भस्थलविपुलतटीमुक्तमुक्ताकलापैः[६]

(घ) कण्ठेकालकुटुम्बिनीकरुणया सिक्तः स कण्ठीरवः[७]

भाषा की इस आनुप्रासिकता में अनुप्रास के वर्ण, वृत्ति, श्रुति व पदान्तानुप्रास आदि विविध रूप समाहित हो जाते हैं। पंडितराज की रचनाओं में इनका प्रयोग पग-पग पर हुआ है। इनमें भी पदान्तानुप्रास का आधिक्य है।

पण्डितराज की इस आनुप्रासिकता के सम्बन्ध में विद्वानों का विवेचन[८] है कि उनके समय में ब्रजभाषा के कवियों द्वारा विशेष घनाक्षरी छन्दों[९] में पदान्तानुप्रास का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लगा था। फलतः युगचेतना से प्रभावित पण्डितराज के पद्यों में भी पदान्तानुप्रास की निराली छटा दीख पड़ती है।[१०] इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी भाषा के अमृतध्वनि आदि छन्दों में प्रयुक्त अनुप्रास के चमत्कार का अपने संस्कृत श्लोकों में भी समावेश किया।[११]

---

१. गङ्गालहरी, श्लो.२०; २. लक्ष्मीलहरी, श्लो.१६।

३. वही, श्लो.३२; ४. अव.अन्यो., श्लो.३९४।

५. वही, श्लो.४६३। ६. वही, श्लो.५१९।

७. वही, श्लो.५२७।

८. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, प्रस्ता., पृ.९।

९. तुलसी विलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं, चित्रहूके कपिसों निसाचर न लागिहैं। बीती औधि आवन की लाल मनभावन की ढग भई बाँवन की सावन की रतियाँ।।

१०. नितरां हितयाद्य निद्रया मे बत यामे चरमे निवेदितायाः........। (पं.का.सं., पृ. ९९, श्लो.१२२)

११. वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव.....। (प्राणा. जगदा., श्लो.१४)

(छ) प्रवाहात्मकता

एक ध्वनि, एक से स्वर एवं व्यञ्जन वाले शब्दों के सुन्दर संयोजन व अत्यधिक विन्यास के कारण पण्डितराज की भाषा में अद्भुत गति एवं विलक्षण प्रवाह आ गया है। उनके श्लोकों को पढ़ते समय वाणी निर्बाध गति से आगे बढ़ती है। एक शब्द के बाद दूसरे व दूसरे के पश्चात् तीसरे पर से होती हुई भाषा स्वाभाविक रूप से गतिमान रहती है, न कोई बेडौल शब्द बीच में आता है और न अनावश्यक संधि-समासादि।

भाषागत यह प्रवाह सभी प्रकार की रचनाओं में प्राप्त होता है; अर्थात् भाषा के सुकुमारभाव, माधुर्य-प्रसाद गुणयुक्त व कोमलकान्त पदावली से संयुक्त होने पर जैसा प्रवाह उसमें दिखलाई पड़ता है, उतना ही प्रवाह उसके परुष भाव, विकटबन्ध व कठोर वर्णावलि से युक्त होने पर दिखाई देता है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

पारीन्द्राणां धुरीणैरवनिधरगुहागर्भतः प्रोत्पतद्भिः
स्वापभ्रंशापराधप्रचलितनयनप्रान्तमाकर्ण्यमानः।
त्वत्प्रस्थानान्तरुद्यत्प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरो
धृष्टक्षीरोदतीरो जगति विजयते दुन्दुभिद्वन्द्वनादः॥[१]

यहाँ भाषा के दीर्घसमास व कठोरवर्ण युक्त होने पर भी श्लोक उतने ही प्रवाह से उच्चरित होता है, जितना उसका वर्ण्य दुन्दुभिद्वन्द्वनाद।

(ज) संगीतात्मकता

प्रवाह एवं आनुप्रासिक वर्णयोजना की अन्तिम परिणति संगीत है। इन दोनों गुणों से युक्त होने के कारण पण्डितराज की भाषा मधुर भावों के प्रसंग में स्वाभाविक रूप से संगीतात्मक हो उठती है और यह संगीतात्मकता छन्दों के बन्धन से अतिरिक्त शब्दसंरचना से भी सम्बद्ध है। पण्डितराज की इस संगीतात्मकता का श्रेय भी छन्दों की गति-यति से अधिक उनके शब्द-चयन को हैं। अतः भाषा विवेचन करते समय इस पक्ष का भी विश्लेषण आवश्यक है—

निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः॥[२]

---

१. प्राणा. जगदा., श्लो.३; २. गङ्गालहरी, श्लो.१८।

यह सम्पूर्ण श्लोक पदों के समान रूप व अनुस्वारों के समान प्रयोग के कारण सहज रूप से संगीतात्मक हो उठा है।

संगीतात्मक ध्वनि से पूरित ऐसे कई श्लोक उनकी रचनाओं में कई स्थलों पर पाये जाते हैं। लक्ष्मीलहरी, करुणालहरी व गङ्गालहरी के अधिकांश श्लोक संगीतध्वनि से पूरित हैं। एक अन्य श्लोक द्रष्टव्य है—

हरन्तो निःशङ्कं हिमकरकलानां रुचिरतां
किरन्तः स्वच्छन्दं किरणमयपीयूषनिकरम्।
विलुम्पन्तु प्रौढा हरिहृदयहाराः प्रियतमा
ममान्तःसंतापं तव चरणशोणाम्बुजनखाः॥[१]

यहाँ भी अनुप्रास व अनुस्वारजन्य सुन्दर संगीतच्छटा विद्यमान है।

(झ) अलङ्कृति

अलङ्कृति की दृष्टि से विचार करने पर भाषा के सामान्यतः तीन रूप प्राप्त होते हैं—१. प्रयत्नपूर्वक अलङ्कृत भाषा, जिसमें कलात्मक सज्जा प्रचुर रूप में होती है। २. अनलङ्कृत भाषा, जिसमें कलात्मकता अत्यल्प होती है, और ३. जहाँ भाषागत अलङ्कृति न तो वैचित्र्य की सीमा तक पहुंचती है और न बिल्कुल स्वल्प होती है।

इस दृष्टि से विचार करने पर सामान्यतः पण्डितराज की भाषा स्वाभाविक अलंकरणयुक्त है। भावप्रवाह में वर्ण्यविषय की आवश्यकतानुसार अलंकार स्वयमेव उनके काव्य में चले आये हैं। उनका सायास प्रयोग कवि को नहीं करना पड़ा है। पञ्चलहरियाँ व भामिनीविलास के अधिकांश श्लोक इस स्वाभाविक अलंकरण के निदर्शन हैं।

किन्तु कुछ स्थलों पर उनकी भाषा में प्रयत्नपूर्वक की गई कलात्मक सज्जा के निदर्शन भी प्राप्त होते हैं। इसका सबसे बड़ा निदर्शन है, उनका गद्यकाव्य आसफविलास, जिसमें दीर्घ समास, लम्बे वाक्य व विविध अलंकारों का प्रयत्नसाध्य सन्निवेश है। किन्तु ऐसा काव्य के वर्ण्यविषय शाहजहाँ के राजसी वैभव व पराक्रम तथा कश्मीर प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा के वर्णन में प्रभावशालिता लाने के लिए किया गया है।

---

१. लक्ष्मीलहरी, श्लो.१२।

इसी प्रकार श्लेषात्मक व सानुप्रासिक श्लोकों की रचना में उनकी प्रयत्नसाध्य अलंकृत भाषा के दर्शन होते हैं। सुधालहरी का एक श्लोक दृष्टव्य है, जिसमें 'ग' वर्ण की प्रयत्नसाध्य आनुप्रासिकता कलात्मक सज्जा का उदाहरण है—

गीर्वाणग्रामणीभिर्गगनतलगतैर्गीर्भिरुद्गीथगाभि-
र्गन्धर्वैश्चापि गीता गुणगणगरिमोद्गारिगाथासहस्रैः।
गाहं गाहं गृहालीरगतिकगदिनां गन्धयन्तो गदार्ति
ग्लानिग्रामं ग्रसन्तां ग्रहरुचिगुरवो गोपतेर्गोविलासाः॥[१]

(अ) सुन्दर छन्दोबद्धता

काव्यभाषा के छन्दोबद्ध होने के कारण छन्दोबद्धता की दृष्टि से भी भाषा विवेचन आवश्यक है। कारण, छन्द में एक-एक मात्रा, वर्ण और शब्द का स्थान एवं क्रम निश्चित रहता है। अतः कविभाषा को उसी क्रम के अनुसार निश्चित आकार लेना पड़ता है। इससे छन्दानुसार तुक-निर्वाह के मोह में कभी-कभी भाषा में अनावश्यक शब्दों व अक्षरों का समावेश करना पड़ जाता है, जिससे हृदयानुभूतियों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। परन्तु वाणीसिद्ध कवियों के वाक्प्रवाह में छन्द अपना रूप स्वयं ग्रहण कर लेते हैं। उनकी भाषा को सायास छन्दानुसार नहीं ढलना पड़ता, छन्द उसके अनुसार अनायास स्वयं ढल जाते हैं।

पण्डितराज की काव्यभाषा में भी इसी सुन्दर छन्दोबद्धता के दर्शन होते हैं। छन्दावरण होते हुए भी न तो उनके भाषा-प्रवाह में कोई अन्तर आया है, और न ही पादपूर्ति के लिए अनावश्यक शब्दों व मात्राओं का समावेश करना पड़ा है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी तया
लोकान्तःकरणानुरागरसिकः सभ्यः सभा चामुना।
दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधर
क्षोणीनाथ तया भवांश्च भवता भूमण्डलं भासते॥[२]

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का प्रयोग ऐसे स्थान पर होता है, जहाँ तेजस्विता परिलक्षित हो—'शार्दूलविक्रीडितं धत्ते तेजो जीवितमूर्जितम्'।

१. सुधालहरी, श्लो.१७; २. प्राणा.जगदा., श्लो.११।

यहाँ राजा की तेजस्विता का वर्णन है, फलतः कवि का छन्दचयन उचित है। इस छन्दावरण के होते हुए भी पादपूर्ति के लिए किसी अनावश्यक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। साथ ही भाषा में पर्याप्त प्रवाह भी विद्यमान है।

निष्कर्ष

पण्डितराज की भाषा में भावानुसारी परिवर्तित रूप, सुन्दर शब्दचयन, मीलित वर्णयोजना, गतिमान प्रवाह, ध्वन्यात्मकता, चित्राङ्कनक्षमता, व्याकरण-सुव्यवस्था, अलंकरणसज्जा, सुन्दर छन्दोबद्धता आदि गुणों के सुन्दर समन्वय को देखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पदरचना सौन्दर्य के वे आदर्श हैं। उनकी जैसी भावानुकूल, सरल एवं सानुप्रासिक भाषा अपने में अनूठी है। मीलित वर्णयोजना के शिल्प में उन्हें महारत प्राप्त था। अन्य कवि तो सायास शब्द गढ़ते हैं, पर पण्डितराज निरायास ही उन्हें पकड़ लेते हैं। उनकी इस सधी पकड़ से काव्य स्वतः प्रभावशाली हो उठता है। भाषागत उपर्युक्त गुणों के कारण ही उनके शिष्य ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र ने उन्हें पदरचना सौन्दर्य का आदर्श मानते हुए, इस सौन्दर्य से सरस्वती के भी रीझने का वर्णन किया है—

बकस्यौ पण्डितराय को सरसुति निज भण्डार
जाकी पदरचना सुनत रीझि न रही संभार।।[१]

स्वयं पण्डितराज अपने काव्य की मधुरिमा का प्रख्यापन करते हुए कह उठे हैं—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः।।

अर्थात् सुमेरु पर्वत से लेकर मलयाचल से घिरे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीमण्डल पर काव्यकला निपुण पण्डितजन बताएँ कि द्राक्षारस के समान मसृण रस-निर्झर काव्यरचना का आचार्य मेरे समान कौन है?

शैली

कवि के भावों को अभिव्यक्त करने का साधन तो भाषा होती है, लेकिन भाषाबद्ध भावों के प्रकाशन के लिए कवि अभिधान के जिस प्रकार-विशेष को

१. युक्तितरंगिणी, कुलपति मिश्र, दोहा २३; उद्धृत, आचार्य कुलपति मिश्र, व्यक्तित्व और कृतित्व, विष्णुदत्त शर्मा राकेश, पृ. ७०।

अपनाता है, उसे ही रीति या शैली कहते हैं। यह रीति या शैली काव्य की अभिव्यञ्जनाप्रणाली है। समर्थ और सशक्त अभिव्यञ्जना के बिना सुन्दर भाव विचार भी अपना अभीष्ट प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकते। रस-भावादि तथ्यों को कवि जितने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करेगा, उसका काव्य उतना ही कलात्मक बनेगा। फलतः कवि को अभिव्यक्ति (भाषा) के साथ अभिव्यक्ति कौशल (शैली) में भी निपुण होना चाहिए।

यह तो सुविदित तथ्य है कि एक ही कथ्य एवँ तथ्य को विभिन्न व्यक्ति अभिव्यक्तिजन्य-कौशल की विभिन्नता के कारण विविध प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का अभिव्यक्ति-कौशल भिन्न होता है, उसकी रचना-शैली पृथक् होती है। आचार्य दण्डी ने ठीक ही कहा है—'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्[१]।' अभिव्यक्ति की इसी विभिन्नता के ही कारण काव्यप्रभाव की सीमा भी भिन्न रहती है। इसी कारण अभिव्यक्ति अर्थात् भाषा के साथ अभिव्यक्तिकौशल अर्थात् शैली का साहित्य में विशेष महत्त्व है। फलतः कवि की कृतियों का अनुशीलन करते समय इस कौशल का भी विश्लेषण करना आवश्यक है।

शैली-प्रभेद

गुण व वर्णविन्यास, स्वरूपभेद, विषयप्रतिपादन, अलङ्कृति, छन्दोबन्ध आदि के आधार पर रीति या शैली के कई प्रभेद किये जाते हैं। पण्डितराज की रचनाशैली का विवेचन भी इन्हीं प्रभेदों के अन्तर्गत विवेचित है—

गुण व वर्णविन्यास के आधार पर भेद

भारतीय काव्याचार्यों ने गुणों के आधार पर रीति विवेचन किया है। रीति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन ने गुणों से युक्त विशिष्ट पदसंघटना प्रणाली को रीति कहा।[२] वामन के बाद अन्य आचार्यों ने भी गुण को ही आधार बनाकर रीति-विवेचन किया। आनन्दवर्धन ने सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना (सुन्दर) पदरचना को रीति कहा, जो गुणों का आश्रय लेकर रस को अभिव्यक्त करती है।[३] मम्मट ने रसानुकूल वर्णसंगुम्फन को रीति कहा व इस नियत वर्णगुम्फन का आधार गुणों को माना।[४] इस प्रकार काव्यशास्त्र में वर्णविन्यास के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले गुणों के आधार पर रीति-विवेचन किया जाता रहा।

१. काव्यादर्श, १/४०।
२. विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। (काव्यालङ्कारसूत्राणि, १।२।७-८)।
३. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा। रसान् (ध्वन्यालोक ३।६)
४. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। (काव्यप्रकाश, ९।१०४)

काव्यशास्त्र में माधुर्य, ओज व प्रसाद ये तीन गुण स्वीकृत हैं। अत: इनके आधार पर रीति के भी मुख्यत: तीन भेद किये जाते हैं—१. माधुर्यगुण व्यञ्जक वैदर्भीरीति, २. ओजोगुणप्रकाशिका गौडी और ३. वैदर्भी व गौडी की मध्यवर्तिनी पाञ्चाली।

पण्डितराज की भाषा के भावानुसारी परिवर्तित रूप के कारण उनकी रचनाओं में तीनों गुणों, फलत: तीनों रीतियों, का समावेश प्राप्त होता है। इनमें पाञ्चाली व वैदर्भी का प्रयोग अधिक है, गौडी का अपेक्षाकृत कम।

वैदर्भी-रीति

माधुर्यगुण-व्यञ्जक वर्णों से युक्त श्रुतिमधुर, ललित रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं।[१] इसमें या तो असमस्त या स्वल्प समासयुक्त पद प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

स्मृतं सद्यः स्वान्तं विरचयति शान्तं सकृदपि
प्रगीतं यत् पापं झटिति भवतापं च हरति।
इदं तद् गङ्गेति श्रवणरमणीयं खलु पदं
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्तर्विलसतु॥[२]

यहाँ त् न् संयोग और अनुस्वारों के प्रयोग ने काव्य-पंक्तियों में श्रुतिमधुर लालित्य ला दिया है; साथ ही रचना असमस्त पदावलीयुक्त है, अत: वैदर्भी रीति है।

गौडी-रीति

ओजगुणप्रकाशक, समासबहुल, परुष वर्णों से युक्त रीति गौडीरीति कहलाती है।[३] इसका प्रयोग रौद्र, वीर, वीभत्स एवं भयानक रसों के काव्य में होता है। यथा निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

ब्रह्माण्डं मण्डयन्तो वियति वलयिनो मण्डलैरण्डजानां
पाखण्डान् दण्डयन्तो दनुतनुजनुषां शोभिताखण्डलाशाः।
ये षण्डान् पौण्डरीकान् विदलयितुमथोद्दण्डपाण्डित्यभाज-
स्ते चण्डांशोरचण्डास्त्वरितमिह कराः पाण्डुतां खण्डयन्तु॥[४]

---

१. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥ (साहित्यदर्पण, ९।२)

२. गङ्गालहरी, श्लो.८।

३. ओज:प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर: पुन: समासबहुलागौडी। (साहित्यदर्पण, ९।३।)

४. सुधालहरी, श्लो.२९।

यहाँ ओजगुण प्रकाशक परुष वर्णों के प्रयोगाधिक्य के कारण गौडी-रीति है।

पाञ्चाली-रीति

यह रीति वैदर्भी व गौडी के मध्य की रीति है। पाञ्चाली शैली का प्राण है, वर्ण्यविषय के अनुरूप पदों का विन्यास। इसमें जैसा अर्थ होता है, वैसा ही शब्दप्रयोग कवि द्वारा होता है।[१] यदि वर्ण्य विषय घनघोर अरण्यानी है, तो कवि की वाणी उत्कट पदावली से मण्डित है। यदि वह कामिनी के रूप-लावण्य का चित्रण है, तो कवि का पदविन्यास नितान्त ललित व कमनीय है।

पण्डितराज के काव्यों में यह शैली प्रमुखता से प्राप्त होती है, जहाँ एक ही श्लोक विशेष में वर्ण्य भाव वैभिन्य के आधार पर शब्दावली वैभिन्य प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

हरक्रोधत्रस्यन्मदननवदुर्गद्वयतुलां
दधत् कोकद्वन्द्वद्युतिदमनदीक्षाधिगुरुताम्।
तवैतद् वक्षोजद्वितयमरविन्दाक्षमहिले
मम स्वान्तध्वान्तं किमपि च नितान्तं गमयतु॥[२]

यहाँ श्लोक के प्रथम तीन चरणों में देवी लक्ष्मी के स्तनद्वयों की तेजस्विता व कान्तिमत्ता का वर्णन है, अतः वर्ण्यभाव के अनुरूप ओज गुण युक्त पदावली है। चतुर्थ चरण में अज्ञानान्धकार विनाश हेतु विनीत प्रार्थना है, फलतः यहाँ की पदावली कोमल है।

इस प्रकार अर्थानुरूप शब्दगुम्फन के कारण पाञ्चाली रीति विद्यमान है।

काव्यशास्त्रीय विवेचना के अनुसार प्राचीन आचार्यों की रीति विशिष्ट पदरचना ही है। उन्होंने उसे व्यापक अभिव्यक्ति प्रणाली का रूप नहीं दिया है; परन्तु आधुनिक समालोचना में रीति या शैली से सभी कलात्मक प्रसाधनों से समन्वित एक विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणाली का अर्थ लिया जाता है। फलतः काव्यशास्त्रीय मानदण्डों के अनुसार गुण या वर्णविन्यास के आधार पर रीति विभाजन करने के अतिरिक्त आधुनिक समालोचना में काव्यस्वरूप, विषयप्रतिपादन, अलंकृति व छन्दोबन्धन आदि की दृष्टि से भी रीति या शैली का प्रभेद विभाजन किया जाता है। रीति या शैली के इन आधुनिक मानदण्डों के अनुसार भी पण्डितराज का शैलीगत वैशिष्ट्य निम्नलिखित रूप में विवेचित है—

१. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चालीरीतिरुच्यते। (शार्ङ्गधरपद्धति ८।८।)

२. लक्ष्मीलहरी, श्लो.२२।

काव्यस्वरूप की दृष्टि से शैलीगत भेद

काव्यस्वरूप की दृष्टि से भी शैली के कई रूप होते हैं। सर्वप्रथम इसके दो प्रमुख भेद हैं—१. गद्यशैली और २. काव्यशैली। गद्यशैली के भी आगमन शैली, निगमनशैली, विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक शैली, व्यासशैली, समासशैली आदि कई रूप होते हैं। काव्य के प्रबन्धशैली, मुक्तक शैली, गीतिशैली, प्रगीति-गीति शैली आदि भेद दिखाई पड़ते हैं।

इस दृष्टि से भी विचार करने पर पण्डितराज के काव्य में शैलीगत विविधता दिखाई पड़ती है। उनकी पंचलहरियाँ गीति शैली का निदर्शन हैं, तो प्राणाभरण, जगदाभरण, प्रबन्धशैली के भेद खण्डकाव्य शैली का उदाहरण हैं। भामिनीविलास व अन्य अवशिष्ट अन्योक्तियाँ मुक्तक शैली के उदाहरण हैं। आसफविलास गद्यकाव्य के प्रभेद आख्यायिका शैली का दृष्टान्त है। रसगङ्गाधर में भी विविध शैलियों का आश्रय लिया गया है।

विषयप्रतिपादन की दृष्टि से शैली-प्रभेद

जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, उसी प्रकार एक ही व्यक्ति भाव, विचार, विषय तथा परिस्थिति के अनुसार विभिन्न शैलियों में अपने विचार व्यक्त करता है। कभी वह सरल शैली अपनाता है, कभी अलंकृत, कभी वह प्रश्न द्वारा अपनी बात स्पष्ट करता है, तो कभी उदाहरण द्वारा। कहीं वह प्रत्यक्ष उपदेश दे सकता है, तो कहीं मात्र तथ्यों का आकलन कर सकता है। अत: इस आधार पर भी शैली के कई प्रभेद किये जाते हैं। पण्डितराज ने इस दृष्टि से भी विविध शैलियों को अपनाया है—

सर्वाधिक प्रिय अन्योक्तिशैली

अन्योक्ति का शाब्दिक अर्थ है—अन्य के प्रति कही गई उक्ति। इस प्रकार के वाणी विकल्प में कवि सम्बोधित तो किसी और को करता है, किन्तु प्रबोधन का मुख्य लक्ष्य कोई अन्य ही होता है। पण्डितराज को यह शैली सर्वाधिक प्रिय है। प्रास्ताविक विलास व अन्योक्ति संकलन के अधिकांश श्लोक इसी शैली में विरचित हैं।

दृष्टान्त-शैली

दृष्टान्त अथवा उदाहरण द्वारा अपने कथन को पुष्ट करने का नाम ही दृष्टान्त-शैली है। अलंकारशास्त्र में इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है; किन्तु शैली की दृष्टि से इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। पण्डितराज अपनी बात को दृष्टान्त देकर पुष्ट करने में भी निपुण थे। निम्नलिखित उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट है—

अयमत्यधमोऽपि निर्गुणो दयनीयो भवता दयानिधे।
वमतां फणिनां विषानलं किमु नानन्दयिता हि चन्दनः।।[१]

अहमेव हि दोषदूषितो भगवस्त्वां समुपालभे मुधा।
रमणीविरहज्वरज्वलन्नमृतांशुं कुमतिर्विनिन्दति।।[२]

अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा।।[३]

सूक्ति-शैली

सूक्ति-शैली में कथ्य का सूक्ति रूप में वर्णन किया जाता है। पण्डितराज के काव्यों में यह शैली भी बहुलता से प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः।।[४]

बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किंचिन् न भासते।।[५]

वदनं विना सुकवितां सदनं साध्वीं विना वनिताम्।
राज्यं च विना धनितां न नितान्तं भवति कमनीयम्।।[६]

तथ्यकथनात्मक-शैली

किसी तथ्य की सीधे-सीधे ढंग से अभिव्यक्ति कर देना तथ्य कथनात्मक शैली है। इस शैली के उदाहरण भी उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अमृतस्य चन्द्रिकायाः ललितायाश्चापि कवितायाः।
सुजनस्य च निर्माणं जनयति नहि कस्य सन्तोषम्।।[७]

प्रश्न-शैली

प्रश्न पूछकर तथ्यकथन की शैली को प्रश्नशैली कहते हैं। पण्डितराज ने इस शैली का भी प्रयोग अपने श्लोकों में किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. करुणालहरी, श्लो.१७।
२. करुणालहरी, श्लो.३३;
३. पं.का.सं., पृ. ९०, श्लो.३।
४. प्रास्ता.वि., श्लो.११३;
५. पं.का.सं., पृ. १०१, श्लो.१४६।
६. वही, पृ. १०३, श्लो.१७४;
७. वही, पृ. ९०, श्लो.९।

कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः किमिति बकैरवहेलितानभिज्ञैः।
परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः॥[१]

यहाँ प्रश्नपूर्वक नीतिकथन है। अतः प्रश्नशैली है।

प्रश्नोत्तर-शैली

जहाँ प्रश्न के साथ-साथ उत्तर भी सन्निहित रहता है, वहाँ प्रश्नोत्तर शैली होती है—

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां चयः॥[२]

संवाद-शैली

प्रश्नोत्तर शैली की ही एक भिन्न विधा संवाद-शैली है। प्रश्नोत्तर शैली में प्रश्न करने वाला और उत्तर देने वाला एक ही व्यक्ति विशेषतः कवि होता है; परन्तु जब प्रश्न कोई और करता है व उत्तर कोई और देता है, तो उसे संवाद शैली कहा जाता है। पण्डितराज के रचना-श्लोकों में एकाध स्थल पर इस शैली के भी दर्शन होते हैं—

श्यामं यज्ञोपवीतं तव किमिति मषीसङ्गमात् कुत्र जातः
सोऽयं शीतांशुकन्यापयसि कथमभूत् तज्जलं कज्जलाक्तम्।
व्याकुप्यन्नूरदीनक्षितिरमणरिपुक्षोणिभृत्पक्ष्मलाक्षी-
लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरितां सर्वतः सङ्गमेन॥[३]

यहाँ कवि तथा काल्पनिक पथिक का संवाद वर्णित है, अतः संवाद शैली है।

सम्बोधनात्मक-शैली

इस शैली का प्रयोग पण्डितराज की रचनाओं में बहुलता से प्राप्त होता है। कवि की गङ्गालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी, इसी शैली का उदाहरण हैं। प्रास्ताविकविलास, करुणविलास व शान्तविलास के अधिकांश श्लोकों में इस शैली के दर्शन होते हैं। अवशिष्टान्योक्ति संग्रह में भी इस शैली का प्रयोग है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो.८।
२. प्रास्ता.वि., श्लो.८१;
३. पं.का.सं., पृ. २००, श्लो.९५।

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः सेव्यतां
चिन्तायामसि सस्पृहं यदि तदा चक्रायुधश्चिन्त्यताम्।
आलापं यदि काङ्क्षसि स्मररिपोर्गाथा तदालप्यतां
स्वापं वाञ्छसि चेन् निरर्गलसुखे चेतः सखे सुप्यताम्।।[1]

यहाँ मन को सम्बोधित किया गया है। अतः सम्बोधनात्मक शैली है।

प्रबोधनात्मक-शैली

जहाँ सम्बोधन के साथ प्रबोधन भी रहता है, वहाँ यह शैली होती है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति।।[2]

यहाँ प्रकारान्तर से श्रीकृष्ण से मैत्री के लिए मन को प्रबोधित अर्थात् जाग्रत किया गया है।

निर्णयात्मक-शैली

जहाँ अन्तिम निर्णय के रूप में किसी तथ्य का वर्णन किया जाता है, वहाँ निर्णयात्मक शैली होती है। यथा एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी
हितं च तद् यत्र परानपक्रियाः।
परे च ते ये श्रितसाधुभावा
सा साधुता यत्र चकास्ति केशवः।।[3]

यहाँ वर्णन निश्चित निर्णय के रूप में है, अतः निर्णयात्मक शैली है।

पुनरावृत्त्यात्मक-शैली

पुनरावृत्ति का अर्थ है, एक ही शब्द अथवा भाव का एक से अधिक बार आना। अतः इस प्रयोग से युक्त शैली पुनरावृत्त्यात्मक शैली कहलाती है। पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस शैली के दर्शन होते हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. शान्त वि., श्लो.१३।
२. शान्त वि., श्लो. ९;
३. पं.का.सं., पृ. १०५, श्लो.१९८।

स्थितः स्वर्णपीठे नुतः पण्डितौघैः
श्रितः सत्कवीन्द्रैः रतः सत्कथासु।
स तु क्रूरबुद्ध्या युतः क्ष्मापतिश्चेत्
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥[१]

अलङ्कृति की दृष्टि से शैली-विवेचन

अपनी अभिव्यक्ति को सौन्दर्यमयी व प्रभावोत्पादिका बनाने के लिये कवि जब अलङ्कारों का संनिवेश करता है, तब वहाँ शैली अलङ्कृत हो जाती है। सामान्यतः पण्डितराज की शैली स्वभावतः अलंकृत है और यह अलङ्करण प्रयत्नसाध्य न होकर अपने सहज रूप में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु कुछ स्थलों पर वर्ण्य भाव व विषय के अनुरूप प्रयत्नसाध्य अलंकृति का भी आश्रय लिया गया है। प्राणाभरण, जगदाभरण व आसफविलास इस शैली के प्रमुख निदर्शन हैं। इसमें वर्ण्यविषय राजप्रभाव के वर्णन में चमत्कारिता उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नसाध्य अलंकरण का प्रयोग किया गया है।

छन्दोबद्धता की दृष्टि से शैली-विवेचन

छन्दोबन्धन की दृष्टि से भी पण्डितराज ने विविध छन्दों का प्रयोग करके अपने भावों को गति एवं लय का सुनिश्चित व कलात्मक रूप प्रदान किया है। इन्होने वार्णिक एवं मात्रिक दोनों छन्दों का प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों में आर्या, गीति, उपगीति, उद्गीति व वार्णिक छन्दों में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, स्वागता, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलक, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित, सुन्दरी, स्रग्धरा, कालभारिणी आदि प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

गद्य-शैली

पण्डितराज की गद्य शैली दो रूपों में प्राप्त होती है—(क) काव्यशैली और (ख) काव्यशास्त्रविषयक शैली।

काव्यशैली

पण्डितराज की गद्यकाव्य शैली का दर्शन 'आसफविलास' के उपलब्ध अंश व यमुनावर्णन आख्यायिका की कुछ पंक्तियों में प्राप्त होता है। दुर्भाग्यवश ये ग्रन्थ पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं, जिससे पदवाक्यप्रमाणज्ञ आचार्य एवं कवि पण्डितराज की गद्यकाव्यकारिणी प्रतिभा के सम्पूर्ण परिचय से विद्वज्जन

---

१. पं.का.सं., पृ. १९०, श्लो.५८०।

वञ्चित रह जाते हैं। फलत: 'आसफविलास' के उपलब्ध अंश के आधार पर उनकी गद्यशैली की विवेचना करनी होगी।

'आसफविलास' का जितना अंश प्राप्त होता है, उसके आधार पर पण्डितराज की गद्यशैली पाञ्चाली सिद्ध होती है। पाञ्चाली रीति में विषयानुरूप पदविन्यास होता है। 'आसफविलास' के उपलब्ध अंश में शाहजहाँ के राजवैभव, राजसैन्य, आसफ खाँ के राजप्रभाव व कश्मीर प्रदेश की अलौकिक सुन्दरता का वर्णन है। फलत: राजवैभव व प्रकृति की रमणीयता के चित्रण को सजीव व प्रभावशाली बनाने के लिये पण्डितराज ने दीर्घसमास व अलंकारमण्डित पदावली का प्रयोग किया है, जिससे सहृदय पाठक के मन पर वर्णन अपने सम्पूर्ण रूप में प्रभाव डाल सके। यहाँ यह तथ्य द्रष्टव्य है कि मधुर पदावली से हृदय आह्लादित हो उठता है, जब कि दीर्घसमास, उत्कट अथवा अनुत्कट अलंकारमण्डित पदावली अपने प्रभावी बाह्य रूप के ही कारण हृदय को आश्चर्यान्वित कर प्रभावित कर देती है। फलत: इस पदावली के कारण वर्ण्य राजवैभव व प्राकृतिक सुषमा अधिक सुन्दरता से अभिव्यक्त हो उठते हैं। 'आसफविलास' का भी वर्ण्यविषय यही होने के कारण पण्डितराज ने उपर्युक्त दीर्घसमास, अलंकारमण्डित पदावली का प्रयोग कर वर्णन को प्रभावशालिता प्रदान की है। उदाहरणार्थ राजसैन्य का वर्णन करने वाला निम्नांश द्रष्टव्य है, जहाँ ओजगुणानुकूल आनुप्रासिकता व नाद-सौन्दर्य से युक्त वर्ण ध्वनित होकर धनुष्टंकार से शत्रुनाश, सागर के समान विशाल सेना, मदस्रावी हाथियों के जमघट व घोड़ों के खुरपुटों से उत्पन्न विद्युच्छटा का सजीव चित्रण करते हैं—

'स कदाचित्.....प्रचण्डभुजदण्डमण्डलीभवत्कोदण्डनि:सरत्काण्डखण्डीकृताशेषशात्रव: करटतटनिर्गलन्मदद्रवनिर्झराणां सम्प्रति समुत्पन्नानां धराधरशिशूनामिव रिङ्गतां मतङ्गजानां संघट्टै: ......प्रतिखुरनिकरशिलातलसंघट्टसमुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृतविपुलविस्फुलिङ्गच्छटापटलानां वाजिनां राजिभिश्च समाकुलया सागरसमानया सेनया समावृतो.......कश्मीरदेशमाजगाम'।[१]

काव्यशास्त्रविषयक-शैली

पण्डितराज की काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की निरूपण शैली का दर्शन रसगङ्गाधर में मिलता है। काव्यतत्त्वों के प्रतिपादन के लिये रसगङ्गाधर में सूत्रवृत्ति शैली का प्रयोग किया गया है, जिसमें नव्यन्याय के ढंग की अवच्छेद-अवच्छेदकतावच्छिन्न भाषा अपनाई गई है। अत: रसगङ्गाधर की शैली नैयायिक निरूपण-पद्धति के रूप में समक्ष आती है। वहाँ भी इसके निम्नलिखित रूप

१. आसफ.वि. द्वितीय गद्यांश।

है—१. प्रस्तावना वाक्य, २. सोदाहरण लक्षणविवेचन, ३. परमत समीक्षा, ४. अन्य आचार्यों के प्रमाण, ५. मतभेदों का उपस्थापन और ६. उपसंहार।

उपर्युक्त वर्गों में विभक्त यह सूत्रवृत्त्यात्मक नैयायिक विषय-प्रतिपादन शैली बड़ी प्राञ्जल है। प्रतिपादन शैली का यह अद्भुत वैशिष्ट्य उसमें संनिहित दो प्रमुख विशेषताओं—१. गद्यात्मक सूत्रशैली का प्रयोग और २. नैयायिक भाषाशैली के प्रयोग के कारण हैं। सूत्रशैली के अपनाये जाने के कारण इसमें वक्तव्य वस्तु के स्पष्ट विवेचन के लिये शब्दाभाव बाधक नहीं होता। पद्यबद्ध लक्षण ग्रन्थों में जिस तरह बाध्य होकर लेखक को वर्णनीय विषय सीमित करना पड़ता है, अथवा अन्वय के हेर-फेर से अर्थान्तरकल्पना का अवसर टीकाकारों को प्राप्त हो जाता है, उस प्रकार इस ग्रन्थ में नहीं होता।

रसगङ्गाधर की प्रतिपादन शैली इन दोषों से सर्वथा मुक्त है। गद्यबद्ध होने के कारण इसमें विषय की व्याख्या के लिये पर्याप्त विस्तार है, साथ ही सूत्रशैली पर एक-एक पदावयव को कस कर रखे जाने के कारण अर्थान्तरकल्पना का अवसर भी नहीं मिलता।

नव्यन्याय की भाषाशैली के प्रयोग के कारण इस ग्रन्थ में जिस विषय को विश्लेषण के लिये उठाया गया है, उसका मूर्त रूप मानों पाठकों के आगे खड़ा कर दिया गया है। कारण, नैयायिक भाषा में नैयायिक शैली का प्रयोग करते हुए सर्वप्रथम लक्षण, उसका पदकृत्य, उदाहरण सहित विवेचन, पूर्वपक्ष के रूप में पूर्वाचार्यों के मत का उपस्थापन व उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। इन सब प्रक्रियाओं से होते हुए सम्बद्ध काव्यतत्त्व का परिशुद्ध रूप छन कर पाठकों के समक्ष आ जाता है। इस प्रकार विषय का तलस्पर्शी विवेचन हो जाता है। काव्यलक्षण, भेद, हेतु, रस, भाव, गुण, अलंकार आदि सभी प्रमुख विषयों के विवेचनप्रसंग में यही पाण्डित्य दिखाई देता है।

इसी प्रौढ़ भाषाशैली के प्रयोग के कारण रसगङ्गाधर अलंकारशास्त्र का अभेद्य दुर्ग हो गया है, जिसमें साधारण संस्कृतज्ञों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इसके प्रौढ़ अधिकारी हैं।

निष्कर्ष

पण्डितराज के भाषा-शैलीगत उपर्युक्त कौशल को देखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उत्कृष्ट आलङ्कारिक, कवि, दार्शनिक एवं वैयाकरण होने के अतिरिक्त वे अभिव्यक्ति एवं अभिव्यक्ति-कौशल के भी श्रेष्ठ आचार्य हैं। सुन्दर पदविन्यास, स्वाभाविक अलङ्करण, दोषराहित्य, गुणयुक्तता, शैलीवैविध्य आदि विशिष्टताओं से युक्त एवं स्वयं उनके मूल्यांकन मानदण्डों

पर खरी उतरने वाली[१] उनकी रचना-योजना उन्हें इस विधा के श्रेष्ठ आचार्य के रूप में प्रस्तुत करती है। इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य का विविध प्रकार से प्रशस्तिगान किया गया है। उनकी पदमधुरता के समक्ष अँगूर, ईख, शहद, व अमृत की मिठास को भी तुच्छ बताया गया है[२] और उनकी काव्य-रचना द्वारा सरस्वती के भी रीझने का वर्णन किया गया है।[३] रचनागत इन्हीं वैशिष्ट्यों के कारण उन्हें वाणीविलास का देवता कहा गया है, जिनके पदों (चरण+रचना) की उपासना तत्काल सर्वोच्च आनन्द प्रदान करती है—

जगन्नाथो जगन्नाथो भारतीरतिदैवतम्।
यत्पदोपासना सद्यो विधत्ते परमां मुदम्॥[४]

अतः अभिव्यक्तिगत उपर्युक्त सभी विशिष्टताओं को दृष्टिगत रखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज की काव्यरचना अपने पदविन्यास मात्र से रसिकों के हृदय-हरण में समर्थ है, अतः वह सुगन्धहीन होने पर भी आकर्षक होने के कारण दूर से ही दृष्टि मोहित कर लेने वाली मालती माला के समान, अर्थज्ञान न कराने पर भी पदविन्यास मात्र से ही मधुधारा की वृष्टि करने वाली कवियों की उक्ति के समान मधुस्यन्दिनी है—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनवगतपरिमलापि च दृशं हरति मालतीमाला॥

●

---

१. निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा
.... ॥ (करुण वि., श्लो.६)

२. धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकसुधानाम्
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः ॥ (शान्त वि., श्लो.३१)

३. (क) गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा।
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामतिरसम्॥ (तत्रैव, श्लो.२७)

(ख) बकस्यौ पण्डितराय को सरसुति निज भण्डार।
जाकी पदरचना सुनत रीझि न रही संभार॥ (युक्तितरंगिणी-कुलपति मिश्र, दोहा २३)

४. संस्कृतसूक्तिरत्नाकर, रामजी उपाध्याय, पृ. १९८।

सप्तम अध्याय

रस एवं भाव

'रस' भारतीय वाङ्मय का चिरप्रयुक्त शब्द है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है, यथा पदार्थों का रस, आयुर्वेद का रस, साहित्यरस और भक्तिरस। पदार्थों के रस अर्थ में अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय आदि षड् रसों का प्रयोग होता है और इसका सम्बन्ध जिह्वास्वाद से है। आयुर्वेद में भस्म, रसायन व पारद को रस कहा जाता है। इस अर्थ में इसका सम्बन्ध विशिष्ट चिकित्सा से है। साहित्य में रस का प्रयोग काव्यानन्द या सौन्दर्यानुभूति के लिये होता है। यहाँ रस आनन्दबोध का वाचक है। भक्ति में यह रस ब्रह्मानन्द का बोधक हो जाता है। अत: इसका सम्बन्ध ब्रह्मानन्दानुभव से है। इसके अतिरिक्त रस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार भी "रस्यते आस्वाद्यते इति रस:" अर्थात् जिसका स्वाद लिया जाय या जो आस्वादित हो, उसे 'रस' कहते हैं—'आस्वाद्यत्वाद्रस:'। इसकी द्वितीय व्युत्पत्ति 'सरते इति रस:' अर्थात् जो प्रवाहित हो इस रूप में की गई है। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर 'रस' की दो विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं—द्रव्यत्व एवं स्वाद। इन सभी अर्थों में 'रस' शब्द के प्रयोग में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से 'आस्वादन' की भावना निहित रहती है, चाहे यह आस्वादन ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा द्वारा हो या मन मस्तिष्क अथवा आत्मा द्वारा। अभिप्राय यह है कि रस आस्वादन की वस्तु है, चाहे जिस स्रोत से वह प्राप्त हो और जिस माध्यम से वह आस्वादित हो।

रस की महत्ता

यह 'रस' शब्द भारतीय वाङ्मय में चिरप्रयुक्त होने के अतिरिक्त चिराभिलषित भी है। ईश्वरसम्प्राप्ति अथवा मोक्ष से लेकर इन्द्रियों का सर्वथा स्थूल आनन्द अथवा लौकिक सुखभोग भी रस की परिव्याप्त-परिधि में समाहित हो जाते हैं। इसीलिये जहाँ एक ओर वेद, उपनिषद्, धर्म, दर्शन व आयुर्वेद के उच्चतम ग्रन्थों में रसविषयक चर्चाएँ हैं, तो दूसरी ओर रति-रहस्य, अनङ्ग-तरङ्ग एवं कामसूत्रादि लौकिक स्थूल-सुखों से सम्बद्ध ग्रन्थों में भी। काव्यशास्त्र

या साहित्य का रस इन दोनों का मध्यवर्ती है। वहाँ 'रस' काव्यास्वादजन्य आनन्द का वाचक है। वह लौकिक नायक-नायिकाओं के संयोग-वियोग से सम्बद्ध होते हुए भी ब्रह्मानन्द नहीं तो ब्रह्मानन्दसहोदर अवश्य है।

यह ब्रह्मानन्दसहोदर 'काव्यरस' या 'काव्यानन्द' उदात्त या स्पृहणीय भावजन्य वह मानसिक आह्लाद है, जिसकी अनुभूति सहृदय के हृदय को द्रुत, मन को तन्मय, हृदयव्यापारों को एकात्म, नेत्रों को जलप्लुत, शरीर को पुलकित और वचन को गद्गद करने की क्षमता रखती है और जिसका उदय सहृदय के हृदय को सत्त्वोद्रेक की उस दशा में प्राप्त होता है, जब कि काव्यप्रभाव से उसके आनन्दस्वरूप आत्मचैतन्य पर पड़े हुए अज्ञानावरणांश की निवृत्ति हो जाती है, जिसके फलस्वरूप सहृदय प्रमाता अनादिकाल से वासनारूप में स्थित रत्यादि भावों को प्रकाशमय वास्तविक आनन्द के साथ प्रत्यक्ष करने लगता है। इस रसास्वादन की स्थिति में सहृदय की चित्तवृत्ति उसी प्रकार स्थायी भाव से संवलितस्वरूपा आनन्द से परिपूर्ण हो रसानन्द में लीन हो जाती है, जैसे सविकल्पक समाधि में योगी की चित्तवृत्ति ब्रह्मानन्द में तल्लीन हो जाती है। रस के इसी ब्रह्मानन्दसहोदरत्व की कल्पना के कारण प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में इसको इतना महत्त्व प्रदान किया गया कि इसकी स्थिति के बिना उच्चकोटि के काव्य की कल्पना ही नहीं की जाती थी। काव्य भी उसी वाक्य को कहा गया, जो रसात्मक हो—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। आज भी परमरमणीय तत्त्व के रूप में रस की महत्ता निर्विवाद है।

रस की परिभाषा एवं स्वरूप

रसस्वरूप के ज्ञात व्याख्याताओं में आचार्य भरत सर्वप्रथम हैं। उन्होंने 'रस' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यञ्जनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायीभाव ही (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।'[१]

रस क्या है—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि—'आस्वाद की अनुभूति ही रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का

१. नाट्यशास्त्र, प्र.भा., षष्ठ अध्याय, पृ. २८१-८२।

अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यञ्जित वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन कर हर्षादि को प्राप्त होते हैं।'[१] अत: रससूत्र का स्वयं भरत के अनुसार अर्थ हुआ—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से 'रस' की निष्पत्ति—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'[२]

परवर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा में भरत के इस मौलिक सूत्र का विवेचन व्याख्याकारों की विशिष्ट मान्याताओं के अनुसार विविध प्रकार से होने लगा। भरतसूत्र के इन व्याख्याताओं में अभिनवगुप्त के मत को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली और काव्यशास्त्र में अन्तत: उनका मत ही मान्य हुआ। उन्होंने शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के पुष्ट आधार पर जिस आत्मास्वाद-रूप रस की प्रकल्पना की थी, उसने परवर्ती समस्त काव्यशास्त्रीय चिन्तनप्रक्रिया को प्रभावित किया। उनके मत के अनुसार प्रत्येक सहृदय के हृदय में स्थायी भाव (रति, शोक, क्रोध, आदि) वासना रूप में विद्यमान रहते हैं। रसपरिपोष के लिए इन अनादिवासनात्मक संस्कारों की आवश्यकता होती है।[३] इसी वासनात्मक स्थायीभाव की अभिव्यञ्जना रागद्वेषादि से रहित वीतविघ्न सहृदय सामाजिक के हृदय में विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के द्वारा होती है। विभाव-अनुभाव और व्यभिचारीभावों की सामूहिक संश्लिष्टता से काव्य अथवा नाट्याभिनय को देखते समय सहृदयों की कल्पनाशक्ति उद्बुद्ध हो उठती है और इस उद्बुद्ध कल्पनाशक्ति के प्रभाव से प्रेक्षक अपने परिमित व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने आपको सामान्य रूप में ग्रहण करने लगता है। उस स्थिति में उसे अपने व्यक्तित्व का बोध तल्लीनता के कारण हो ही नहीं पाता। विभावादि के व्यक्तित्वलोप के साथ यह वासनात्मकतया स्थित स्थायीभाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते हैं। ये ही उद्बुद्ध साधारणीकृत स्थायीभाव वीतविघ्न सहृदय के द्वारा आस्वादित होने पर आनन्दमयी विश्रांति का लाभ कराते हैं।[४] इस वीतविघ्न स्थिति में साधारणीकृत भाव द्वारा प्राप्त होने वाली आनन्दात्मक

१. नाट्यशास्त्र षष्ठ अध्याय, पृ. २८४; २. वही, पृ. २२८।

३. अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः सुतरां रस परिपोषाय। सर्वेषामनादिवासना-चित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्॥ (अभि.भा. संवलित नाट्यशास्त्र, पृ. २५४)

४. तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादि-बुध्यंतरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविश-मानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। (वही, पृ. २५३।)

शान्ति अपने आप में इतनी चमत्कारपूर्ण होती है कि उसे ही रसन, आस्वाद, भोग, समापत्ति, विश्रान्ति, संवित् इत्यादि अनेकानेक पर्यायों द्वारा कहा जाता है।[१] यह चमत्कार अद्भुत भोगरूप अथवा स्पन्दरूप होता है।[२] इसे ही 'रस' कहते हैं।[३]

इस तरह अभिनव के अनुसार सहृदयों के सुप्त स्थायीभाव निर्वैयक्तिक रूप में अभिव्यक्त होकर संविद्विश्रान्ति की सृष्टि द्वारा जो आनन्द का आस्वादन कराते हैं, यही आनन्द 'रस' की संज्ञा से अभिहित होता है।

इसी प्रकार के भाव कुछ अन्य आचार्यों ने भी व्यक्त किये हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार लोक में रति आदि चित्तवृत्तियों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे ही काव्य अथवा नाटक में विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी या व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं तथा उन विभावादि के द्वारा व्यक्त (व्यञ्जनागम्य) होकर स्थायी भाव रस कहा जाता है।[४]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी भावों के द्वारा व्यक्त या प्रकट होकर जब स्थायीभाव पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँच जाता है, तो उसे रस कहते हैं।[५]

पण्डितराज की मान्यता

पण्डितराज भी अभिनव के इसी सिद्धान्त से प्रभावित हुए और उन्होंने इसका सार ग्रहण कर उसे अद्वैत वेदान्ती चेतना से संयुक्त कर, अपने सिद्धान्त पक्ष के रूप में रसगङ्गाधर में प्रस्तुत किया। अभिनव के स्वारस्य से युक्त पण्डितराज सम्मत इस सिद्धान्त के अनुसार—'समुचित एवं ललित रचना से मनोहर काव्य के द्वारा प्रस्तुत किये गये भाव सहृदयों के हृदय में वासनारूप में प्रविष्ट होकर, उन्हीं की सहृदयता से सहकृत (युक्त) भावना-विशेष की महिमा से, शकुन्तला आदि विभाव 'दुष्यन्त की रमणी' की विशिष्टता का त्याग कर अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी आदि शब्दों से प्रयुक्त होने लग जाते हैं। तब शकुन्तलादि आलम्बन के कारणों, चन्द्रिकादि उद्दीपनों, अश्रुपातादि

---

१. तथाहि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्ति-व्ययविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। (अभि.भा. संवलित नाट्यशास्त्र, पृ. २५७)

२. भुञ्जानस्याद्भुतभोगात्मस्पन्दाविष्टस्य च मनःकरणं चमत्कार इति। (वही, पृ. २५५)

३. सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। (वही, पृ. २५६)

४. काव्यप्रकाश, ४।२७-२८।

५. साहित्यदर्पण, ३।१।

कार्यों एवं चिन्ता आदि सहकारी कारणों से संपृक्त होकर अपूर्व अलौकिक व्यापार उत्पन्न होता है, जिससे उस समय आनन्दांश के आवरणस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, वह हट जाता है। उस समय सहृदय प्रमाता इस बात को भूल जाते हैं कि वे रसास्वादन कर रहे हैं। इस प्रकार प्रमाता जब अनादि काल से स्थित रत्यादि भाव को, जो उसके हृदय में वासना के रूप में विद्यमान हैं, प्रकाशमय वास्तविक आनन्द के साथ प्रत्यक्ष अनुभव करता है, तब उसी रत्यादि की संज्ञा 'रस' होती है।'[१]

यहाँ पण्डितराज 'व्यक्त स्थायीभाव' को ही 'रस' मानते हैं। 'व्यक्त' से उनका अभिप्राय 'अभिव्यक्ति का विषय' होने से है और 'व्यक्ति' 'आत्मचैतन्य या भग्नावरणचित्' का द्योतक है।[२] जिस प्रकार शरावादि से ढंका हुआ दीपक उसके हटा देने पर निरावृत्त होकर अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है और पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार की स्थिति निरावृत्त चैतन्य की भी होती है। आत्मा का चैतन्य भी विभावादि से संवलित रत्यादि को प्रकाशित कर स्वयं भी प्रकाशित होता है।[३] पण्डितराज यहाँ 'चिद्' को प्रधानता देते हैं, जब कि अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने स्थायीभाव को ही प्रमुखता दी है। उनके अनुसार अन्तःकरण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही रसास्वाद (रस-चर्वणा) है या चैतन्य के आवरण को निरावृत करने को रसास्वादन कहते हैं। पण्डितराज ने रसचर्वणा को परब्रह्म के आस्वादरूप समाधि से विलक्षण माना है, क्योंकि उसका आलंबन विभावादि विषयों से युक्त आत्मानन्द होता है।[४]

इस प्रकार पण्डितराज ने अभिनव एवं मम्मट के मत को शाङ्कर वेदांत की पीठिका पर प्रस्तुत कर रस के स्वरूप का वर्णन किया है। उनके अनुसार, रत्यादि से युक्त आवरण-रहित चैतन्य ही रस है।[५] वे अन्तःकरण की वृत्ति के

---

१. '.....प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः। (रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ. ८८)

२. व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्। (वही, पृ. ९०,९१)

३. यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तनिवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्।

४. आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। (वही, पृ. ९५)

५. रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। वही, पृ. ९७।

आनन्दमय हो जाने या चैतन्य के आवरण के निवृत्त हो जाने को रस कहते हैं।[१]

पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त रसों का विवेचन

पण्डितराज की काव्यकृतियों में आए विभिन्न रसों के उदाहरणों की प्रस्तुति के पूर्व यह समझना आवश्यक है कि उद्भट काव्यशास्त्री एवं उत्कृष्ट कवि होते हुए भी पण्डितराज की प्रतिभा ने महाकाव्य अथवा प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन न कर मुक्तककाव्यों की रचना ही की थी। रसनिष्पत्ति के क्षेत्र में महाकाव्यकार अथवा प्रबन्धकार को जितनी सुविधा व अवकाश रहता है, मुक्तककार को वह नहीं प्राप्त होता। कारण, 'प्रबन्ध की विस्तृतभूमि में रस-सामग्री जुटा रखने के लिये पर्याप्त स्थान रहता है; परन्तु मुक्तक की संकीर्ण नली में इस सामग्री को भरना बहुत ही कठिन काम है।'[२] पण्डितराज के रचना-श्लोकों के साथ यह समस्या ज्यादा गम्भीर है। कारण, उनके अधिकांश श्लोकों की रचना या तो रसगङ्गाधर के विविध काव्यशास्त्रीय प्रसङ्गों पर घटित होने वाले उदाहरण पद्यों के रूप में हुई है या वे देवस्तुति व राजप्रशस्ति से सम्बन्धित हैं अथवा उनमें नीति के उपदेशात्मक भावों की अभिव्यञ्जना प्रत्यक्ष या अन्योक्तिपरक ढंग से हुई है।

इन रचनाओं में देवस्तुति व राजप्रशस्ति से सम्बन्धित रचनाएँ नव रसों की कोटि में न आकर 'भाव' की श्रेणी में आती हैं, फलतः इस प्रसङ्ग से सम्बद्ध उनकी कई रचनाएँ यथा पंचलहरियाँ, प्राणाभरण, जगदाभरण, आसफविलास, व शान्तविलास तथा रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्यों की एक विशाल सीमा नवरसात्मक आनन्द की कोटि में न आकर 'भाव' ध्वनि की श्रेणी में परिगणित होती हैं। इसी प्रकार रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्यों में रसानुभूति का सहज उच्छ्वास न होकर उदाहरण कसौटी पर ठीक-ठीक उतरने का आग्रह ही है। नीतिपरक श्लोकों में भी विभावानुभावादि संवलित रसों के साङ्गोपाङ्ग उदाहरण खोजना दुष्कर है। कारण, लौकिक आधार पर सफलता, असफलता अथवा तत्सम्बन्धी नियमाचरणों के विधायक क्रियात्मक नीतिकथनों को शास्त्रीय आधार पर विशुद्धतः किसी रस विशेष की कोटि में समाहित करना दुष्कर है। प्रायः नीति को शान्तरस में समाहित किया जाता है; किन्तु यह उचित नहीं, कारण, शान्तरस पारलौकिक निर्वेद, ज्ञान वैराग्य से सम्बन्धित आत्मविश्राम व निरति

१. चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रगुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा। (रसगङ्गाधर, प्र.आ. पृ. ९८)

२. संतसई सप्तक, डॉ. श्यामसुन्दरदास, भूमिका, पृ. २।

का रस है, जबकि नीतिकथन लोकानुरक्ति के। उनमें एक ओर जहाँ सर्वलोकोपकारिता, आत्मवत् सभी प्राणियों को समझने तथा सभी प्राणियों के सुख एवं निरामय होने से सम्बद्ध देवसुलभ सुन्दर नीतिकथन वर्णित होते हैं, तो दूसरी ओर लौकिक सफलता प्राप्त करने तथा दुष्टादि दमन से सम्बन्धित प्रतिद्वन्द्वितादि भाव भी। इस प्रकार नीति की व्याप्त सीमाओं में अनुदात्त, घोर एवं कठोर तथा उदात्त, कोमल एवं मनोहर सभी नीतिभावों का संग्रह हो जाता है।

शान्तरस के पदों का मूल उद्देश्य संसार की असारता की ओर ध्यान आकृष्ट कर, उससे वैराग्य उत्पन्न कर जीव को सर्वथा दिव्य व लोकोत्तर परमेश्वर की ओर उन्मुख करना रहता है, तो नीति पूर्णतया लोकसाफल्य हेतु साम-दाम-द्रण्ड-भेदादि पर आधारित रहती है। अत: नीतिश्लोकों को शान्त रस की कोटि में विशुद्धत: नहीं रखा जा सकता। फलत: उनमें वर्णित प्रसङ्गों के आधार पर ही उनसे प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति को लक्ष्य कर उनके विशिष्ट रसात्मक अथवा भावात्मक स्वरूप की कल्पना की जाती है।

पण्डितराज की नीतिपरक अन्योक्तियों व प्रत्यक्ष सुभाषित श्लोकों में भी विविध रसों के विभावानुभावादि संवलित साङ्गोपाङ्ग उदाहरण खोजना दुष्कर है। उनमें भी संचारी भावों की ध्वनि के उदाहरण अधिक हैं। कुछ श्लोकों में शृङ्गार, शान्त, करुण, भयानक व अद्भुत रसों की व्यञ्जना हुई है। इस तरह यह ज्ञात होता है कि पण्डितराज के रचना श्लोकों का एक बड़ा परिमाण 'भावध्वनि' की कोटि में आता है। अवशिष्ट श्लोकों की संख्या इतनी न्यून है कि उनमें रस-वैविध्य प्रचुरता से नहीं प्राप्त होता है। इनमें 'शृङ्गारविलास' के श्लोकों में शृङ्गाररस व 'करुणविलास' के श्लोकों में करुणरस का प्रयोग हुआ है। 'शान्तविलास' के एक-दो श्लोकों में शान्तरस तथा प्रास्ताविक विलास के कुछ श्लोकों में शान्त, करुण, भयानक व अद्भुत रसों की व्यञ्जना हुई है। यही स्थिति अवशिष्ट अन्योक्तियों के संकलन में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज की रचनाओं में शृङ्गार, करुण व शान्त के उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक तथा भयानक व अद्भुत रसों के उदाहरण अपेक्षाकृत अति न्यून रूप में तो फिर भी प्राप्त हैं, जब कि हास्य, रौद्र, वीर व वीभत्स रसों की अभिव्यञ्जना रसगङ्गाधर में इन रसों के उदाहरणरूप में आए श्लोकों के अलावा अन्यत्र नहीं हुई है। उदाहरणस्वरूप पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त रसाभिव्यक्ति का विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है।

रस-संख्या विषयक मान्यता एवं पण्डितराज

पण्डितराज के काव्यों में आगत रसों की उदाहरण प्रस्तुति से पूर्व यह तथ्य द्रष्टव्य है कि पण्डितराज भरत व अभिनवसम्मत नौ रसवादिनी मान्यता के पक्षधर थे। यद्यपि भरत ने प्रथमत: आठ[१] रसों का ही विवेचन किया है—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत; किन्तु आगे चलकर अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के किसी पाठ के आधार पर भरत-सम्मत नौ रसों का उल्लेख किया[२] और बताया कि उन्हें (भरत को) भी नवां शान्तरस मान्य है, पर वे इसका उपयोग नाटक में नहीं करते।[३] भरत के पश्चात् की काव्यशास्त्रीय परम्परा में अनेक रसों का विवेचन होता रहा और कई नवीन रसों की उद्भावना हुई। इनमें विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रेयान्, उदात्त, उद्धत, स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग, संगम, प्रीति, स्नेह, वात्सल्य, लौल्य, मृगया, अक्ष, सुख, दुःख, ब्रह्म, माया, कार्पण्य, व्रीडनक, भक्ति इत्यादि अनेक रसों की उद्भावना हुई; किन्तु इन्हें अपेक्षित मान्यता नहीं मिल पाई और परवर्ती आचार्यों द्वारा इनका अन्तर्भाव अन्य रसों, भावों एवं संचारियों में कर दिया गया। अन्तत: अभिनवसम्मत नव रसस्वीकारिणी धारा को ही पर्याप्त सम्मान मिला। पण्डितराज ने भी प्राचीन आचार्यों की इस व्यवस्था को सम्मान एवं महत्त्व देते हुए भरतसम्मत व अभिनवसमर्थित नवरसवादिनी मान्यता ही अपनाई और तदनुसार रसगङ्गाधर में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त इन नौ रसों को ही रस संज्ञा प्रदान की।[४] प्राचीन मान्यता के अनुकूल ही उन्होंने इन रसों के अतिरिक्त इतर प्रसङ्गों को भाव के अन्तर्गत समाहित कर लिया। रस एवं भाव सम्बन्धिनी उनकी इसी धारणा के आधार पर उनके काव्य में प्रयुक्त रसों व भावों का विवेचन प्रस्तुत है—

---

१. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका:।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:।। (नाट्यशास्त्र ६।१६)

२-३. वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसा: स्मृता:। (द्रष्टव्य, अभि.भा.संवलित नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय)

४. शृङ्गार: करुण: शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव वीभत्सश्चेति ते नव।। (रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १३२)

शृङ्गाररस

रसों में शृङ्गाररस को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। इसे आदि रस और रसराज कहा गया है। इस रस की भित्ति प्राणिमात्र की उस सर्वशक्तिमयी भावना पर आधृत है, जिसे शास्त्रीय भाषा में स्थायीभाव 'रति' की संज्ञा दी गई है।

शृङ्गार शब्द 'शृङ्ग' तथा ऋ + अण् = 'आर' के योग से निष्पन्न हुआ है। 'शृङ्ग' का अर्थ 'कामोद्रेक' और 'आर' का अर्थ 'वृद्धि' या 'प्राप्ति' है। 'शृङ्गं कामोद्रेकं गच्छत्यनेन शृङ्गारः', कामोद्रेक की प्राप्ति ही इसका विषय एवं लक्ष्य है, अतः इसे 'शृङ्गार' कहते हैं।[१] लेकिन यह कामोद्रेक या प्रेम जहाँ 'शृङ्ग' अर्थात् उच्चता या उदात्तता को प्राप्त कर जाय, वहीं शृङ्गार होगा। अभिप्राय यह है कि सच्चे या उदात्त प्रेम के वर्णन में ही शृङ्गार होगा, अनुचित प्रेमप्रदर्शन में शृङ्गार न होकर शृङ्गाराभास होगा।

इस रस का स्थायीभाव रति है। स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसको रति कहते हैं। नायक-नायिका इसके आलम्बन एवं आश्रय विभाव, चन्द्रज्योत्स्ना, वसन्तऋतु, उद्यान, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रियपात्र का मुखदर्शन, उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, विवर्णता, अश्रुपात, प्रलय के आठों 'सात्विक भाव' अनुभाव तथा उग्रता, मरण, जुगुप्सा एवं आलस्य के अतिरिक्त सभी सञ्चारी भाव इस रस के सहायक हैं। अवस्थानुसार इसके मुख्यतः दो भेद हैं—(क) संयोगशृङ्गार और (ख) विप्रलम्भ शृङ्गार।

(क) संयोगशृङ्गार

नायक और नायिका की संयोगावस्था की पारस्परिकी रति संयोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति करती है। पण्डितराज की विवेचना के अनुसार 'संयोग का अर्थ स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना नहीं है, क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि का भाव रहता है, तब वहाँ संयोग नहीं; अपितु विप्रलम्भशृङ्गार होता है। अतः संयोग का अर्थ ऐसी चित्तवृत्ति को मानना चाहिए, जिसके चलते 'संयुक्त हूँ' इस प्रकार का मनोभाव होता है।'[२] पण्डितराज की कृतियों में शृङ्गार के इस भेद के कई उदाहरण प्राप्त होतें हैं, निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

---

१. शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः। साहित्यदर्पण ३।१८३।

२. तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ यत् संय्युक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः। (रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १५१)

केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येङ्गितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः।
जानन्त्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि
श्रान्तासीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममासञ्जितः॥[१]

नायक की उक्ति है—सखियों को धीरे से इशारों से हटाकर मैं केलीमन्दिर में आया और वहाँ क्रोधसहित सोई हुई कमलनयनी को पंखा झलने लगा, उसने जानते हुए भी न जानती हुई के समान कपट से आँखे मूँदे हुए ही 'सखि तुम थक गई हो' यह कहकर मेरा हाथ वक्षस्थल पर रख लिया।

यहाँ परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका की एक दूसरे के प्रति प्रीति रति स्थायीभाव है। इसमें नायक आलम्बन तथा नायिका आश्रय है। एकान्तस्थान आदि उद्दीपन हैं। नायिका का नायक के हाथों को अपने वक्षःस्थल पर रखना तथा उसे सखी समझकर उसके श्रमित होने की बात कहना अनुभाव तथा नायक को देखने की इच्छा आदि के कारण प्रकट होने वाला औत्सुक्य तथा क्रोधशान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न आशा, संतोष, चपलता, मृदुलता आदि संचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से 'संयोग-शृङ्गार' की निष्पत्ति होती है।

विप्रलम्भ-शृङ्गार

जहाँ वियोगावस्था में नायक-नायिका उत्कट प्रेम की पीर से व्यथित हों, वहाँ विप्रलम्भ अथवा वियोग शृङ्गार होता है। पण्डितराज के अनुसार 'मैं वियुक्त हूँ' इस प्रकार की मनोवृत्ति का होना ही वियोग को जन्म देता है।[२] मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के अनुसार इस शृङ्गार के पाँच भेद हैं—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप। परन्तु पण्डितराज को इन भेदों में कोई विशेष विलक्षणता या चमत्कार नहीं ज्ञात होता है।[३] उनकी कृतियों में विप्रलम्भ के इन भेदों में से प्रवास, विरह व ईर्ष्या के चित्रणपरक श्लोक अपेक्षाकृत अधिक हैं। एक श्लोक में अभिलाष का वर्णन है। शाप विप्रलम्भ का चित्रण इनमें नहीं है। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

अभिलाष

जब प्रिय के गुण-श्रवण, दर्शनादि से प्रेमी में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, उससे मिलने की तीव्र अभिलाषा से उसमें एक प्रकार की छटपटाहट या

१. शृङ्गा.वि., श्लो. ८३।
२. वियुक्तश्चास्मीति धीः (रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ. १५१); ३. तत्रैव, पृ. १५५।

आतुरता-सी बनी रहती है; तो इस अवस्था विशेष को अभिलाष कहते हैं। पण्डितराज की कृतियों में विप्रलम्भ के इस भेद का चित्रण केवल एक श्लोक में है, जहाँ गोपियों को कृष्ण के स्वरूपदर्शन से व्यथित वर्णित किया गया है—

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन् निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डमूले
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत्।।[१]

जिस समय से नन्दनन्दन की समस्त संसार के नेत्रों को आकृष्ट करने की जादूगरी एवं मधु बरसाने वाली कोई अनिर्वचनीय कान्ति उत्पन्न हुई, उसी समय से कुलाङ्गनाओं के मुख में लम्बी सांस, कपोल-मूल पर पाण्डुता तथा हृदय में शून्यवृत्ति उत्पन्न हो गई।

यहाँ नायिकाओं (गोपियों) ने साक्षात् कृष्ण की अनिर्वचनीय शरीर कान्ति देखी है, किन्तु उनका समागम अभी कृष्ण से हुआ नहीं है और दर्शनमात्र से ही उनमें मिलन की तीव्र आसक्ति उत्पन्न हो गई है, अत: अभिलाष विप्रलम्भ है। इसमें नन्दनन्दन आलम्बन हैं, नायिकाओं की लम्बी साँसें, पीले कपोल मूल, हृदय की शून्यवृत्ति आदि अनुभाव हैं, चिन्ता, औत्सुक्य, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से कुलकामिनीनिष्ठ वियोगकालिक रति ध्वनित होकर अभिलाष विषयक विप्रलम्भशृंगार को परिपुष्ट करती है।

विरह

गुरुजनों की लज्जादि के कारण समागम से वंचित रहने पर विरह विप्रलम्भ की स्थिति होती है। पण्डितराज के कुछ श्लोक इस विप्रलम्भ के उदाहरण हैं। यथा एक श्लोक द्रष्टव्य है—

गुरुजनभयमद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावमावहन्त्याः।
दरदलदरविन्दसुन्दरं हा हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि।।[२]

गुरुजनों के डर से मुझे देखने के लिये भीतर से उठती हुई व्याकुलता को धारण करती हुई, मृगनयनी की कुछ-कुछ विकसित होती हुई कमल के समान सुन्दर आँखों को, हाय! मैं नहीं भूल पा रहा हूँ।

१. शृङ्गार वि., श्लो. ६३; २. तत्रैव, श्लो. ७।

यहाँ विरही नायक की, नायिका का मुखदर्शन प्राप्त न होने से उत्पन्न व्यथा की अभिव्यञ्जना हुई है। अत: यहाँ नायक आश्रय व नायिका आलम्बन विभाव है। नायिका की नेत्र सुन्दरता उद्दीपन विभाव है तथा 'स्मृति' और 'हा' पद से अभिव्यक्त होने वाला संलाप रूप अनुभाव वर्णित है। ये सब संयुक्त होकर विप्रलम्भशृङ्गार को परिपुष्ट करते हैं।

मान

पूर्वराग या अभिलाष के पश्चात् प्रेम स्थापित होने के अनन्तर प्रेमी-प्रेमिकाओं का थोड़ी-थोड़ी बात पर परस्पर रूठना आरम्भ होता है। रूठने की इस प्रवृत्ति को ही मान कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—१. प्रणयमान और २. ईर्ष्यामान। जहाँ प्रेमवश एक दूसरे को रूठने-मनाने का व्यापार वर्णित हो, वहाँ प्रणयमान और जहाँ प्रियतम की पराङ्गनासक्ति के कारण नायिका, रोष या ईर्ष्या के कारण मान कर बैठती है, उसे ईर्ष्याहेतुक मान कहते हैं।[१] पण्डितराज के रचना-श्लोकों में प्रणयमान के ही चित्र प्राप्त होते हैं, ईर्ष्यामान के नहीं। निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

आयातैव निशा निशापतिकरैः पूर्णं दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरङ्गान्यलङ्कुर्वते।
मुग्धे मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा हा बालमृणालतोऽप्यतितरां तन्वी तनुः क्षाम्यति॥[२]

हे मुग्धे! रात आ ही गई, चन्द्रमा की किरणों से दिशाओं का अन्तराल व्याप्त हो गया, रमणियाँ घरों में अलंकारों से अंगों को सजा रही हैं, (तो भी) आज भी तू मान को जरा-सा भी दूर नहीं कर रही है, हाय! हाय! क्रोध से तुम्हारा अभिनव मृणाल से भी अत्यधिक दुबला शरीर झुलसा जा रहा है।

यहाँ किसी नायक द्वारा अपनी रूठी हुई प्रियतमा से मनुहार करने का वर्णन है। फलत: नायक आश्रय व नायिका आलम्बन विभाव है। रात्रि आदि उद्दीपन हैं, शरीर का क्षीण होना आदि अनुभाव है तथा रोष आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से सहृदयों को प्रणयमान विषयक विप्रलम्भ का आस्वादन होता है।

---

१. मान: कोप: स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः। (साहित्यदर्पण, ३।१९८।)

२. शृङ्गार वि., श्लो. ५४।

प्रवास

अनुरक्त नायक-नायिका में से किसी एक के कार्यवश परदेश में रहने पर प्रवासविप्रलम्भ की स्थिति होती है।[१] पण्डितराज के श्लोकों में इस विप्रलम्भ का चित्रण अधिक हुआ है। निदर्शनार्थ निम्नोद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य है—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजम्।
निःश्वासग्लपिताधरं परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव! शिव! प्राणेशमालोकते।।[२]

प्रियतम की परदेश यात्रा के समय लोगों के मङ्गलकारी वचनों के कहते समय, क्रीड़ागृह की खिड़की के सामने मुखकमल को रखे हुए, आँसुओं से गीले हो गये स्तनों वाली एवं चंचल नेत्रों वाली बाला, शिव! शिव! निश्वासों से सूखते हुए अधर से युक्त होकर प्राणनाथ को देख रही है।

यहाँ नायक आलम्बन विभाव है, नि:श्वासों से अधरों का सूखना, आँसुओं का गिरना आदि अनुभाव हैं, तथा विषाद, चिन्ता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से नायिकानिष्ठ नायकविषयक रति व्यंजित होती है और यह रति प्रवासकाल में होने के कारण प्रवास-विप्रलम्भ को प्रस्तुत करती है।

करुण-रस

करुणरस शोकानुभूति रूप है। जब मानव की प्रेम-भावना, पालनवृत्ति, वात्सल्य आदि की सहचर भावना इष्टवियोग या मरण से विकल हो उठती है, तब शोक का आविर्भाव होता है।[३] इस शोक की अभिव्यक्ति ही करुणरस है। यह शोकात्मक करुण-भावना जब काव्य या नाटकादि में स्थान पाती है, तब वह भी सुखात्मक हो जाती है।

इष्ट की हानि, अनिष्ट की प्राप्ति, धननाश या प्रिय व्यक्ति की मृत्यु में करुणरस होता है।[४] इसका स्थायीभाव शोक है।[५] प्रिय-वियोग, इष्ट-हानि, पराभव

---

१. प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्। (साहित्यदर्पण ३।२०४।)

२. शृङ्गार वि., श्लो. ५५।

३. पुत्रादिवियोग-मरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः। (रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १४१)

४. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्। (साहित्यदर्पण ३।२२२)

५. शोकोऽत्र स्थायिभावः। वही, ३।२२३।

आदि इस रस के आलम्बन विभाव, प्रियवस्तु के यश, गुण आदि का स्मरण, वस्त्राभूषण, चित्र आदि का दर्शन उद्दीपन विभाव, रुदन, उच्छ्वास, वक्षःप्रहार, मूर्च्छा, भूमिपतन, प्रलाप, देवनिन्दा आदि अनुभाव तथा व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद इस रस के सञ्चारी भाव हैं। पण्डितराज की रचनाओं में इस रस का प्रयोग बहुलता से हुआ है। समग्र करुण-विलास इसमें ही निबद्ध है। प्रास्ताविक विलास व अवशिष्ट अन्योक्तियों के संकलन में भी कई पद्य करुणरस विषयक हैं। उदाहरणार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा पुरेव
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले
हा लेशतोऽपि न कथं शिशिरीकरोषि॥[१]

हाय! प्रियतमे! किस कारण से मुझसे पूर्ववत् विनयपूर्वक न मिल करके कामदेव की सहायक मुस्कुराहटों, रसभरी निगाहों और मनोहर रचना वाले वचनों से जरा-सा भी शीतलता नहीं प्रदान कर रही हो?

यहाँ नायिका आलम्बन विभाव है, पूर्वकाल की स्मृति उद्दीपन है अनुमानित किये जाने वाले निःश्वासादि अनुभाव हैं और व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनके संयोग से नायकगत नायिका विषयक शोक स्थायीभाव परिपुष्ट होकर, करुणरस की सृष्टि करता है।

एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

लूनं मत्तगजैः कियत् कियदपि च्छिन्नं तुषारार्दितैः
शिष्टं ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैर्भस्मीकृतं काननम्।
एषा कोणगता मुहुः परिमलैरामोदयन्ती दिशो
हा कष्टं ललिता लवङ्गलतिका दावाग्निना दह्यते॥[२]

वन का कुछ भाग तो मतवाले हाथियों ने रौंद डाला, कुछ शिशिर के उपद्रवों ने नष्ट कर दिया, और शेष को ग्रीष्मकालीन सूर्य की भीषण किरणों ने जला दिया, हाय! अफसोस! बार-बार अपनी सुगन्ध से दिशाओं को सुगन्धित करती हुई एक कोने में विद्यमान इस रमणीय लवङ्गलतिका को दावानल जलाए दे रहा है।

१. करुण वि., श्लो. २; २. प्रास्ता.वि., श्लो. ५४।

यहाँ लवङ्गलतिका आलम्बन है; मत्तमतङ्ग्ज, दावाग्नि आदि के व्यापार उद्दीपन हैं, गम्यमान अश्रुपातादि अनुभाव हैं, चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे वक्तृगत शोक स्थायीभाव अभिव्यञ्जित होकर सहृदयों को करुणरस की प्रतीति कराता है। इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

भूमौ स्थिता रमण नाथ मनोहरेति
सम्बोधनैर्यमधिरोपितवत्यसि द्याम्।
स्वर्गं गता कथमिव क्षिपसि त्वमेण-
शावाक्षि तं धरणिधूलिषु मामिदानीम्।।[१]

ऐ मृगशावकनयनी! धरती पर रहते हुए तुमने जिसे 'प्रियतम! स्वामिन्! चितचोर! इत्यादि सम्बोधनों के द्वारा स्वर्ग पर चढ़ा दिया था, अब स्वर्ग पहुँच कर तुम उसको धरती की धूलि में कैसे फेंक रही हो?

यहाँ नायिका आलम्बन विभाव, पूर्वकाल की स्मृतिं, उद्दीपन विभाव, प्रलाप, उच्छ्वास आदि अनुभाव तथा दैन्य, स्मृति, वितर्क, ग्लानि आदि संचारी-भाव है, जिनके संयोग से नायकगत शोक की अभिव्यक्ति करुणरस के रूप में आस्वादित होती है।

शान्तरस

मानवीय आत्मा की सुखात्मक प्रवृत्ति रति एवं दुःखात्मक शोक के अतिरिक्त एक अन्य मूल प्रवृत्ति शम या निर्वेद है, जो स्वभाव से ही शान्तिप्रदायक है। यही शम या निर्वेद स्थायीभाव; वैराग्य, तत्त्वज्ञान, संसार की असारता आदि आलम्बन विभाव, वेदान्तशास्त्र का श्रवण, तपोवन तथा तपस्वियों के दर्शन आदि उद्दीपन विभाव, सांसारिक विषयों से अरुचि, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता, निश्चेष्टता, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर रखना आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, मति आदि व्यभिचारी-भावों के संयोग से आस्वादनयोग्य बनकर शान्तरस के रूप में अभिहित किया जाता है।

पण्डितराज की कृतियों में इस रस के आस्वादनपरक कुछ पद्य भी प्राप्त होते हैं। निम्नोद्धृत श्लोक द्रष्टव्य हैं—

१. करुण.वि., श्लो. १३।

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझंकारसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलदृशां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते॥[१]

मेरे पास मतवाले हाथियों के मदजल के लिये भ्रमण करने वाली भ्रमर पंक्तियों के मधुर झंकार से मनोहर सम्पत्तियाँ क्षणभर के लिये भी न रहें, जिसमें डूबे हुए धनरूपी मदिरा से चढ़ी हुई आँखों वाले लोगों का भगवान् के चरणों की सेवा का पुण्य नष्ट हो जाता है।

यहाँ राज-सम्पत्तियों की असारता के ज्ञानरूपी आलम्बन विभाव, धनमदिरा से भगवच्चरणों के सेवापुण्य का वैभव नष्ट होना रूपी उद्दीपन विभाव, राजसम्पत्ति विषयक उदासीनता व उन्हें नकारना आदि अनुभावों के संयोग से वक्तृगत निर्वेद की अभिव्यक्ति शान्तरस के रूप में हुई है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रतिपलमखिलाल्लोकान् मृत्युमुखं प्रविशतो निरीक्ष्यापि।
हा हन्त किमिति चित्तं विरमति नाद्यापि विषयेभ्यः॥[२]

हाय! अफसोस! इस संसार में पल-पल पर समस्त लोगों को काल के गाल में जाते हुए देखकर हृदय आज भी विषयों से आखिर क्यों नहीं हटता?

यहाँ संसार की अनित्यता की भावना आलम्बन, समस्त लोगों को काल-कवलित होते हुए देखना उद्दीपन, 'हा' और 'हन्त' पदों से अभिव्यक्त होने वाली निन्दा, तृष्णा की शून्यता आदि अनुभाव हैं, जिनके संयोग से वक्तृगत निर्वेद की भावना पुष्ट होकर शान्तरस के रूप में आस्वादित होती है।

रौद्ररस

विरोधियों के उत्तेजक कार्यों, अपमान, अपकार, गुरु अथवा पुत्रादि प्रभृति बन्धुओं के वध या निन्दा, देश, धर्म, जाति के अपमान आदि से जब प्रतिशोध की भावना जागृत होती है, तब रौद्ररस की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण गुरु अथवा पुत्र के वधादि परम असहनीय अपराध से उत्पन्न होने वाली प्रज्वलन नामक चित्तवृत्ति 'क्रोध' इस रस का स्थायीभाव है।[३] अपराध करने वाला व्यक्ति

---

१. शान्त वि., श्लो. १८; २. शान्त वि., श्लो. ४२।

३. गुरुबन्धुवधादि-परमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः। (रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १४४)

इसका आलम्बन विभाव, उसके द्वारा किये जाने वाले अनिष्ट, अपमानजनक अपराधादि कार्य उद्दीपन विभाव, आँखे लाल करना, दाँत कटकटाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि अनुभाव तथा अमर्ष, उद्वेग, उग्रता, चञ्चलता आदि व्यभिचारी भाव हैं।

रसगङ्गाधर में इस रस के उदाहरण रूप में आये श्लोक के अतिरिक्त इसके आस्वादनपरक अन्य पद्यों का उनकी कृतियों में अभाव है। फलतः रसगङ्गाधर का उक्त श्लोक ही द्रष्टव्य है—

नवोच्छलितयौवनस्फुरदखर्वगर्वज्वरे
मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गल-
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः॥[१]

नवीन उछलती हुई युवावस्था के कारण बढ़े हुए अत्यधिक अभिमान रूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरु शिव जी के धनुष को तोड़ डाला है। अच्छा, अब युद्ध में काटे गये गर्वीले भूपों के गले से टपकते हुए शोणित को पीने वाला यह मेरा भयंकर फरसा उसके ऊपर निर्दयतापूर्वक गिरे।

यह, स्वगुरु शिव के धनुष के भङ्ग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर प्रतिशोधाग्नि में कुपित परशुराम जी की उक्ति है। यहाँ गुरु शिव के धनुष को तोड़ने वाला राम आलम्बन, विलक्षण ढंग की जगद्व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ निर्भय होकर धनुष का तोड़ देना उद्दीपन, कटुवचन अनुभाव तथा गर्व और उग्रता आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे संयुक्त होकर परशुरामनिष्ठ रामविषयक प्रतिशोध रूपी क्रोधभावना 'रौद्र' रस के रूप में अभिव्यक्त होती है। लम्बे समासों से युक्त, संयुक्ताक्षरमय, 'परुषा' नाम की वृत्ति भी इस पद्य में 'रौद्र-रस' की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है।

वीररस

पराक्रम, शौर्यप्रदर्शन, आत्मरक्षा, पररक्षा, निर्भयता, युद्ध, दान, दया, परदुःखविमोचन आदि कार्यों में चित्त के उत्साह भाव का परिपोषण होता है।[२] इसी भाव के परिपोषित होने पर 'वीररस' की अभिव्यक्ति होती है। यह 'उत्साह'

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १६०।

२. परपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः। (वही, पृ. १४४)

इस रस का स्थायीभाव है। फलतः जहाँ उत्साह का संचार हो, वहीं वीररस का अविर्भाव होता है।

वीर मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर, दानवीर! तदनुसार वीररस के भी चार प्रकार होते हैं—युद्धवीर रस, दयावीर रस, धर्मवीर रस और दानवीर रस। वैसे तो सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर, बलवीर, इत्यादि वीर के अनेक भेद हो सकते हैं और पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में इनका सयुक्तिक उल्लेख भी किया है;[१] किन्तु प्राचीन आचार्यों के मतानुरोध से उन्होंने वीर के चार भेदों को ही मुख्यतया मान्यता प्रदान की है।

युद्धवीर—आलम्बन—शत्रु, शत्रु के उत्तेजक कार्य; अनुभाव—गर्वोक्ति, युद्ध-कौशल आदि तथा सञ्चारीभाव-हर्ष, आवेग, औत्सुक्य, असूया आदि हैं।

दयावीर—आलम्बन—दया के पात्र, उद्दीपन-दयापात्र की दैन्यस्थिति, अनुभाव-सान्त्वना के शब्द तथा सञ्चारीभाव—धृति, मति, हर्ष आदि।

धर्मवीर—आलम्बन धर्मग्रंथ के विचार, उद्दीपन—धर्म की प्रशंसा, मुक्ति, कामना आदि; अनुभाव—धर्माचरण तथा सञ्चारीभाव—धृति, मति, विबोध आदि हैं।

दानवीर—आलम्बन—याचक, उद्दीपन—अन्य दानदाताओं की प्रशंसा, दानपात्र की प्रशंसा, पुण्यप्राप्ति का मत, अनुभाव—याचक का सम्माननीय कार्य तथा सञ्चारीभाव—हर्ष, गर्व आदि हैं।

पण्डितराज की रचनाओं में इस रस के भी आस्वादनपरक पद्यों का अभाव है। अतः इसके उदाहरण रूप में रसगङ्गाधर में इस रस के उदाहरण प्रसंग में आये पद्य ही प्रस्तुत हैं—

युद्धवीर

रणे दीनान् देवान् दशवदन! विद्राव्य वहति,
प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः।
ललाटोद्यज्ज्वाला-कवलितजगज्जालविभवो
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु।।[२]

हे दशमुख रावण! पराक्रमहीन दीन देवताओं को युद्ध में खदेड़कर महा सामर्थ्यशाली बनने वाले तेरे विषय में तो मेरी तैयारी क्या हो सकती है, हाँ

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १७५-१८०; २. वही, पृ. १७३।

जिनके ललाट से निकलती हुई ज्वालाएँ समग्र सृष्टि के वैभव को ग्रास बना लेती हैं, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष से निकले हुए बाणों के वेग को सम्हालें।

यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है। यहाँ शिव आलम्बन हैं, युद्ध-दर्शन उद्दीपन है, रावण का तिरस्कार अनुभाव है और उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यङ्ग्य होने वाला राम का गर्व सञ्चारीभाव है।

दयावीर

न कपोतकपोतकं तव स्पृशतु श्येन मनागपि स्पृहा।
इदमद्य मया समर्पितं, भवते चारुतरं कलेवरम्।।[१]

हे श्येन! (बाज) तेरी स्पृहा (मारने की इच्छा) दयनीय इस कबूतर के बच्चे का थोड़ा भी स्पर्श न करे। मैंने आज तेरे लिये इस सुन्दरतम शरीर को अर्पित किया। अर्थात् तू मेरे शरीर को खाकर अपनी क्षुधा-ज्वाला को शान्त कर और कबूतर के उस बच्चे को मत मार।

यह राजा शिवि की बाज के प्रति उक्ति है। यहाँ कबूतर का बच्चा आलम्बन है, उसकी व्याकुलता उद्दीपन है और उसकी रक्षा के लिये अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है। इसी तरह धैर्य आदि संचारी हैं, इन सब भावों के संयोग से 'दया-वीररस-ध्वनि' अभिव्यञ्जित होती है।

धर्मवीर

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरा शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात्।।[२]

चाहें राज्यलक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाय अथवा खड्गों की धाराएँ मेरे ऊपर गिरें, या स्वयं यम मेरे शिर को काट लें, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होती।

यहाँ 'अधर्म' से भी शत्रु को जीतना चाहिए, ऐसा कहने वाले के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है। यहाँ धार्मिक विषय आलम्बन है, 'काम, भय अथवा लोभ के लिए, अधिक क्या प्राण के लिये भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए' इत्यादि वचनों का विचार करना उद्दीपन है, मस्तककर्तन आदि का स्वीकार करना अनुभाव है और धैर्य सञ्चारीभाव है।

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १७२; २. वही, पृ. १७५।

दानवीर

कियदिदमधिकं मे यद् द्विजायार्थयित्रे
कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि।
अकरुणमवकृत्य द्राक् कृपाणेन निर्यद्-
बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि॥[१]

याचक रूप में ब्राह्मणवेष धारण करके उपस्थित इन्द्र को कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर उस दान से चकित लोगों के प्रति कर्ण की उक्ति है—मेरे लिये यह कौन बड़ी बात है कि मैं याचक ब्राह्मण को, साधारण, कवच और कुण्डल अर्पण कर रहा हूँ। निर्दयतापूर्वक तलवार से तत्काल काट कर बहती हुई प्रगाढ़ रुधिर-धारा से युक्त अपने मस्तक को भी उनके आगे निवेदित करता हूँ।

यहाँ याचक द्विजवेषधारी इन्द्र आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रशंसा उद्दीपन है, कवच आदि का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' पद से व्यक्त होने वाला गर्व तथा अलौकिक पिता सूर्य से अपनी उत्पत्ति का स्मरण संचारीभाव है।

अद्भुत-रस

विस्मयकारक पदार्थों व कर्मों को देख-सुन कर आश्चर्यचकित होना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। शास्त्रीयभाषा में इसे ही विस्मय कहते हैं—

'अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः'[२]

यह विस्मय ही अद्भुत रस का स्थायीभाव है। अलौकिक वस्तु अथवा अनपेक्षित घटना इस रस के आलम्बन विभाव, उस वस्तु की अद्भुत विलक्षणता का दर्शनादि उद्दीपन, नेत्र विस्फारण, स्तम्भ, सम्भ्रम, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, अश्रु, हर्ष, करतलनाद आदि अनुभाव तथा जड़ता, दैन्य, आवेग, शंका, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, चापल्य, औत्सुक्य आदि इसके संचारीभाव हैं।

पण्डितराज ने कुछ घटनाओं एवं तथ्यों से आश्चर्यान्वित होकर जो श्लोक रचे हैं, उनमें इस रस की झलक देखी जा सकती है; परन्तु मात्रा की दृष्टि से इस रस का प्रयोग अल्प ही हुआ है। यहाँ निम्नोद्धृत श्लोक द्रष्टव्य है—

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १६४; २. वही, पृ. १४५।

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चण्डातपो दुःसहः।
एवं धन्वनि चम्पकस्य सकले संहारहेतावपि
त्वं सिञ्चन्नमृतेन तोयद कुतोऽप्याविष्कृतो वेधसा॥[१]

ऐ जलद! उपवन का स्वामी विवेकहीन है, निश्चितरूप से पृथ्वी जलहीन है, दशों दिशाएँ झंझावातों के द्वारा कठोर बना दी गई हैं, तेज धूप असह्य है, इस प्रकार मरुस्थल में चम्पक के समस्त विनाश हेतुओं के विद्यमान रहने पर भी विधाता ने अमृत (जल) से सींचते हुए तुम्हें न जाने कहाँ से पैदा कर दिया।

यहाँ, मरुस्थल में चम्पक वृक्ष के विनाश के लिये समस्त कारणों के विद्यमान होने पर भी अचानक मेघवृष्टि द्वारा उसके सिञ्चन की अनपेक्षित घटना आलम्बन, उपवन के स्वामी के विवेकहीन, पृथ्वी के जलहीन, दशों-दिशाओं के झंझावातों द्वारा कठोर बना दिये जाने, तेज धूप की असह्यता व मरुस्थल की विद्यमानता होने पर भी मेघोदय उद्दीपन 'कुतोऽप्याविष्कृतो वेधसा' पद से अनुमानित किये गये नेत्रविस्फारण, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभाव तथा वितर्क, हर्ष, औत्सुक्य, शंका आदि संचारी भावों के संयोग से वक्तृगत विस्मय की अभिव्यक्ति अद्भुत-रस के रूप में प्रतिफलित हुई है।

हास्य-रस

अन्य प्रवृत्तियों के समान हास्य का भी जीवन में अपना महत्त्व है। यह चित्त का एक ऐसा विकास है, जो प्रेम (प्रीति) के एक विशेष रूप में परिलक्षित होता है—

'प्रीतिर्विशेषः चित्तस्य विकासो हास उच्यते' (भावप्रकाश)

फलतः यह प्रियचित्तानुरञ्जक है। यह हास्य, जीवन की नीरसता, आलस्यादि को दूर कर, सरसता, उत्फुल्लता तथा हल्कापन प्रदान करता है। इसकी उत्पत्ति विकृतवेष, वचनविन्यास, भूषण, अङ्गादि में असंगति या विकार से होती है—'वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः'[२] और उद्दीप्ति उन अङ्गादि विकारों से होती है। व्यङ्ग्यकथन, कपोल-स्फुरण, हर्षज-दीप्ति, मुस्कान आदि अनुभावों तथा हर्ष, चपलता, रोमांच, उत्सुकता अवहित्था आदि संचारी भावों से पुष्ट होकर स्थायी भाव 'हास' रसत्व को प्राप्त होता है।

१. प्रास्ता.वि., श्लो. २९; २. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १४५।

रसगङ्गाधर में हास्य के आत्मस्थ और परस्थ भावों का उल्लेख है। आत्मस्थभाव उसे कहा गया है, जो विभाव के दर्शनमात्र से द्रष्टा में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, उसको हास्य-रस के विशेषज्ञजन परस्थ कहते हैं। इसे भी उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न बताकर इसकी तीन अवस्थाएँ कहीं गई हैं। इसी तरह हास्य के दूसरे छ: भेदों की विवेचना की गई है। इन हास्यों के समय शारीरिक भावों की स्थिति-विशेष की भी यहाँ विस्तृत चर्चा की गई है।[१]

पण्डितराज के काव्यों में इस रस के आस्वादनपरक पद्यों का भी अभाव है। अवशिष्ट अन्योक्तियों के संकलन के केवल एक पद्य में इसका आस्वादन होता है, जिसमें भगवान् शंकर के स्वरूप की असंगति का वर्णन है।[२] वस्तुतः पण्डितराज की हास्यवर्णनयुक्त श्लोकरचना की ओर विशेष प्रवृत्ति न थी। इस रस के निदर्शनार्थ रसगङ्गाधर में इसके उदाहरणरूप में आया श्लोक ही द्रष्टव्य है—

श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं कथं न वा रासभधर्मपत्न्याः॥[३]

किसी तार्किक का पुत्र कहता है—श्रीमान् पिता जी से रचे गये निबन्ध में यह एक नवीन युक्ति दीख पड़ी कि जब गायों का पूर्व अङ्ग पवित्र है, तब गदहे की धर्मपत्नी का वह अङ्ग पवित्र क्यों नहीं माना जाय, अर्थात् गौ और गर्दभी एक समान है। धर्मशास्त्र में गौ के पश्चार्ध भाग को ही पवित्र कहा गया है, परन्तु यहाँ उसके पूर्वार्ध भाग को पवित्र घोषित किया गया है और तत्तुल्यन्याय से गर्दभी के उस भाग को भी पवित्र मानने की सलाह दी गई है, यही असङ्गत बात यहाँ हास्यास्पद है।

यहाँ तार्किक का पुत्र आलम्बन है, उसका निःशङ्क कथन उद्दीपन है, दाँत का निपोड़ना अनुभाव है और उद्वेग संचारीभाव है।

भयानक-रस

भयानक पदार्थों के दर्शन, श्रवण, प्रबल शत्रु के विरोध अथवा अचानक आपत्ति आ जाने की परिस्थिति में भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसका

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १८४-८५।

२. पं.का.सं., पृ. १८९, श्लो. ५७०; ३. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १८४।

स्थायी-भाव भय है।[१] व्याघ्र, सर्प, हिंसकप्राणी, शत्रु, बीहड़स्थान आदि आलम्बन विभाव हैं। हिंसक जीवों की चेष्टाएँ, शत्रुओं के भयोत्पादक व्यापार विस्मयोत्पादक ध्वनियाँ आदि उद्दीपन हैं। रोमांच, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य, रुदन, आर्तनाद आदि अनुभाव तथा शंका, चिन्ता, ग्लानि, आवेग, त्रास, मूर्छा, जुगुप्सा, दीनता आदि संचारी भाव हैं।

पण्डितराज की कृतियों में इस रस के आस्वादनपरक पद्यों का अत्यल्प प्रयोग है। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत श्लोक द्रष्टव्य है—

रे चाञ्चल्यजुषो मृगाः श्रितनगाः कल्लोलमालाकुला-
मेतामम्बुधिकामिनीं व्यवसिताः संगाहितुं वा कथम्।
अत्रैवोच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्तैः समावर्तितो
यद् ग्रावेव रसातलं पुनरसौ यातो गजग्रामणीः॥[२]

पहाड़ों का आश्रयण करने वाले ऐ चपल हरिणों! तरङ्गमालाओं से व्याप्त समुद्रगामिनी इस नदी में नहाने की तुम सबने हिम्मत कैसे की? क्योंकि इसी में उछलते हुए पानी की बड़ी-बड़ी भँवरों के द्वारा, पहाड़ की तरह खूब नचाया गया यह गजराज रसातल को चला गया है।

यहाँ तरङ्गव्यापिनी समुद्रगामिनी नदी आलम्बन, उसकी उछलती तरङ्गों व उन तरङ्गों में पहाड़ की तरह गजराज के घुमाये जाकर रसातल पहुँचने की बात उद्दीपन, अन्य मृगों को उस नदी में स्नान करने की हिम्मत पर आश्चर्य प्रकट करना अनुभाव तथा इस आश्चर्य करने से अभिव्यक्त होने वाला रोमांच, कम्प, स्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनके संयोग से वक्तृगत भय की भयानक रस के रूप में अभिव्यक्ति हुई है।

वीभत्स-रस

लौकिक जीवन में प्रेम और घृणा दोनों शाश्वत एवं आवश्यक सत्य हैं। इच्छित एवं कल्याणकारी पदार्थों से प्रेम तथा अनभीप्सित एवं हानिकारक वस्तु-व्यापारों से जुगुप्सा या घृणा का भाव नितान्त स्वाभाविक है। यही जुगुप्सा, वीभत्स रस का स्थायी भाव है। जब किसी ऐसी वस्तु या दृश्य का दर्शन अथवा स्मरण होता है, जिससे मन में घृणा के भाव उदित होते हैं, तब इस रस का आविर्भाव

१. व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्, (रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १४५)।
२. प्रास्ता.वि., श्लो. ५७।

होता है।[१] घृणास्पद वस्तु यथा श्मशान, शव, रुधिर, मांस, मल-मूत्र आदि इसके आलम्बन, उनके कुत्सित रूप, रंग, गन्धादि उद्दीपन, अंगों की निष्क्रियता, मुखसंकोचन, वमन, थूकना, नासिकाच्छादन आदि अनुभाव तथा आवेग, मोह, जड़ता, व्याधिवैवर्ण्य, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि सञ्चारी भाव हैं।

रसगङ्गाधर में इस रस के उदाहरणरूप में आये श्लोक के अतिरिक्त पण्डितराज के काव्यों में इस रस के प्रयोग का सर्वथा अभाव है। अतः निदर्शनार्थ रसगङ्गाधर का उक्त उदाहरणश्लोक ही यहाँ द्रष्टव्य है—

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम्।
आननेष्वनुलिम्पन्ति हृष्टा वेतालयोषितः॥[२]

हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियाँ नखों से मुरदों की अँतड़ियों को फाड़कर मवाद और रुधिर को मुखपर लेप रही हैं। यहाँ श्मशान अथवा रणक्षेत्र का वर्णन है।

यहाँ मुरदे आलम्बन हैं, अतड़ियों का फाड़ना उद्दीपन है, आक्षेप के द्वारा लब्ध रोमाञ्च, आँखों का मूँदना आदि अनुभाव है और आवेग आदि सञ्चारी-भाव हैं।

भाव

रससिद्धान्त के प्रसङ्ग में 'भाव' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है— व्यापक अर्थ एवं विशेष अर्थ में। व्यापक अर्थ में 'भाव' रसावयव अर्थात् रस सामग्री का बोधक है और उसकी परिपक्वावस्था को ही 'रस' कहते हैं; किन्तु इसका प्रयोग जब विशेष अर्थ में होता है, तो यह अपुष्ट रस का द्योतक हो जाता है। पण्डितराज ने मम्मट मतानुसार ही देवता, मुनि, गुरु, राजा तथा पुत्र आदि विषयक रति को तथा प्रधानता से व्यञ्जित सञ्चारीभाव को भाव की संज्ञा दी है।[३] इस प्रकार उनके अनुसार भाव के दो भेद हैं—१. देवादिविषयक रतिभाव अर्थात् जब देवता आदि के प्रति रति या श्रद्धा का भाव व्यंजित हो और वहाँ उसका प्राधान्य हो तो उसे भाव कहा जायेगा। २. जब रस की अपेक्षा निर्वेदादि किसी एक सञ्चारी भाव की प्रधानता से अनुभूति हो, तो वहाँ वे भाव ही कहलाते हैं। जैसा कि पूर्व कथित है, पण्डितराज के

१. कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा। (रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १४६)
२. वही, पृ. १८६।
३. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः॥ काव्यप्रकाश, ४।३५।

रचनाश्लोकों का एक बड़ा परिमाण नव रसात्मक आनन्द की कोटि में न आकर 'भाव' की श्रेणी में आता है। अत: उनकी रचनाओं में रस की अपेक्षा 'भाव' ध्वनि का प्राधान्य लक्षित है। उनकी पञ्चलहरियाँ, शान्तविलास व रसगङ्गाधर के स्तुतिपरक श्लोक, देवविषयक रति के, प्राणाभरण, जगदाभरण, आसफविलास व राजप्रशस्तिपरक अन्य पद्य नृपविषयक रति के व अन्य अनेक उदाहरणपद्य तथा नीतिपरक श्लोक विभिन्न सञ्चारी भावों की ध्वनि के उदाहरण हैं। इस प्रकार उनके काव्यों में रस वैविध्य की अपेक्षा 'भाव' वैविध्य के स्थल अधिक प्राप्त होते हैं। उनके 'भाव' ध्वनि के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

(१-क) देवविषयक रतिभाव

अव्याख्येयां वितरति परां प्रीतिमन्तर्निमग्ना
कण्ठे लग्ना हरति नितरां यान्तरध्वान्तजालम्।
तां द्राक्षाद्यैरपि बहुमतां माधुरीमुद्गिरन्तीं
कृष्णेत्याख्यां कथय रसने यद्यसि त्वं रसज्ञा।।[१]

अरे जीभ! यदि तू सचमुच रसास्वाद में निपुण है, तो जो हृदय में पैठकर अनिर्वचनीय एवं उत्कृष्ट आनन्द को प्रदान करती है, तथा गले में लिपट कर अच्छी तरह से आन्तरिक अन्धकार के समूह का नाश कर देती है, उस द्राक्षा आदि के द्वारा भी बहुत सम्मानित माधुर्य्य को उगलती हुई 'कृष्ण' इस संज्ञा का उच्चारण कर।

यहाँ वक्तृगत भगवान् कृष्णविषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति प्रधान रूप से होती है। फलत: 'भाव' है।

(१-ख) राजविषयक रति

सुराणामारामादिह झगिति झञ्झानिलहृता:
पतेयु: शाखीन्द्रा यदि तदखिलो नन्दति जन:।
किमेभिर्वा कार्यं शिव शिव विवेकेन विकलै:
चिरं जीवन्नास्तामधिधरणि दिल्लीनरपति:।।[२]

यदि देवताओं के उपवन में से तूफान के मारे बड़े-बड़े वृक्ष (कल्पवृक्ष) पृथ्वी पर गिर पड़ें, तो सभी मनुष्य प्रसन्न हो जायँ; फिर उनके मनोरथ सिद्ध

१. शान्त वि., श्लो. १०।
२. पं.का.सं., पृ. १०६, श्लो. २१२।

होने में विलम्ब न होगा। अथवा शिव! शिव! इन विवेकरहित (जड़ों) का संसार क्या करेगा, पृथ्वी पर तो दिल्लीनरेश चिरञ्जीव रहें।

यहाँ कविगत दिल्लीनरेश विषयक रति प्रधानता से ध्वनि होने के कारण 'भाव' का उदाहरण है।

(१-ग) मुनिविषयक रति

ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि नियमेन।
आरोहति स्मृतिपथं तदेव भगवान् मुनिर्व्यासः॥[1]

कवि का कथन है—जब मैं ऋतुराज वसन्त के बारे में सुनता हूँ कि वह 'भ्रमरहित' (भौरों का हितकारी) है, तभी भगवान् व्यासमुनि मेरे स्मृति-पथ में आरूढ़ हो जाते हैं; क्योंकि वे भी भ्रमरहित (यथार्थ-ज्ञाता) हैं।

यहाँ कविगत मुनि व्यासविषयक रति प्रधानता से ध्वनित हो रही है, फलतः भावध्वनि है।

२. प्रधानता से व्यंजित सञ्चारी

पण्डितराज की कृतियों में विविध सञ्चारी भावों की ध्वनि के उदाहरण भी बहुलता से प्राप्त होते हैं। वैसे तो रसगङ्गाधर के भावविवेचन के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने तैतीसों सञ्चारी भावों की ध्वनि के स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त भी इन सञ्चारियों की ध्वनि के उदाहरण उनके काव्य में पर्याप्त रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें जिन सञ्चारी भावों की ध्वनि के उदाहरण उनके काव्य में अधिक प्राप्त हैं, वे प्रसङ्गतः द्रष्टव्य हैं। जैसे उनके कई श्लोकों में सञ्चारी भाव 'गर्व' की अभिव्यञ्जना हुई है—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते-
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः॥[2]

यहाँ पण्डितराजगत गर्व अभिव्यक्त होता है। गर्व का लक्षण है—'रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः'[3] अर्थात् रूप, धन और विद्या

१. पं.का.सं., पृ. ९२, श्लो. ३३।
२. शान्त वि., श्लो. २७; ३. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. ३२०।

आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरों की अवहेलना करने का मनोभाव पैदा होता है, उसी मनोभाव को 'गर्व' कहते हैं। यहाँ देवी सरस्वती द्वारा स्ववीणा की झंकार को मन्द कर स्वकविता का पान करने की बात विभाव, तथा अपनी कविता को सुनकर सिर न हिलाने वाले मनुष्यों को नरपशु अथवा पशुपति की संज्ञा देना अनुभाव है, जिससे पण्डितराजगत गर्व व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है।

गर्वभाव के अतिरिक्त उनकी कृतियों में 'मति' व्यभिचारी भाव की अभिव्यञ्जना अधिक हुई है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां चयः॥[१]

यहाँ 'मति' भाव की ध्वनि विद्यमान है। मति का लक्षण है—

'शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः।'[२] अर्थात् शास्त्र तथा लौकिक वृत्तान्तों से किसी वस्तु के विषय में जो निर्णयात्मक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे 'मति' कहते हैं।

यहाँ शास्त्रों के श्रवण से वास्तविक तीर्थ, रत्न, शास्त्र, मित्र, शत्रु इत्यादि के विषय में निर्णयात्मक चित्तवृत्ति उत्पन्न हुई है, फलतः 'मति' सञ्चारी भाव की ध्वनि है।

पण्डितराज के कई श्लोकों में 'असूया' भावध्वनि के उदाहरण प्राप्त होते हैं। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

मुहुरर्थितयाद्य निद्रया मे बत यामे चरमे निवेदितायाः।
चिबुकं सुदृशो मृशामि यावन् मयि तावन् मिहिरोऽपि निर्दयोऽभूत्॥[३]

नायक की उक्ति है—आज बार-बार प्रार्थित मेरी नींद द्वारा (रात के) चौथे प्रहर प्राप्त कराई सुनयना की ठुड्डी को जब तक मैं स्पर्श करूँ, हाय! तब तक सूर्य भी मुझपर निर्दय हो उठा।

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ८१।
२. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. ३२३; ३. शृङ्गार वि., श्लो. ३२।

यहाँ सूर्य के प्रति नायकगत असूया भाव की ध्वनि विद्यमान है। 'परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया।'[१]

अर्थात् उस चित्तवृति का नाम 'असूया' है, जिसके विभाव (कारण) दूसरे का उत्कर्ष देखना आदि हैं और अनुभाव दूसरे की निन्दा आदि है। यहाँ सूर्य के प्रति नायकगत असूया का विभाव पद्य में वर्णित सूर्योदय है और उसे निर्दय आदि कहना अनुभाव है।

असूया के अतिरिक्त उनके कई श्लोकों में 'अमर्षभाव' ध्वनि की भी व्यञ्जना हुई है, यथा निम्नोद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य है—

उषसि प्रतिपक्षकामिनीसदनादन्तिकमञ्चति प्रिये।
सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयारुणद्युतिः।।[२]

प्रातःकाल प्रियतम के सपत्नी के घर से पास आने पर सुनयना के नयन कमलों के दोनों कोरों में तुरन्त अरुण कान्ति उत्पन्न हो गई।

यहाँ नायिकागत 'अमर्ष' व्यभिचारी भाव की ध्वनि विद्यमान है। 'दूसरों के द्वारा किये हुए अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति को अमर्ष कहते हैं। मौन तथा कठोर भाषण इसके अनुभाव हैं।'[३] प्रस्तुत पद्य में सपत्नी के साथ रात बिताने से किया गया नायिका का अपमान विभाव है, आखों का लाल हो जाना अनुभाव है, जिससे नायिकागत अमर्ष व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है।

इसी प्रकार 'वितर्क' व्यभिचारी भाव की ध्वनि का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

साकं ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयस्तीरेऽर्कबिम्बोपमा
नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः।
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमपि च प्रौढिं परामुन्नतेः
किं निन्दान्यथवा स्तवानि कथय क्षीरार्णव त्वामहम्।।[४]

ऐ क्षीरसागर! तुम्हारे तट पर पत्थरों के साथ सूर्यमण्डल सदृश मणियाँ लोट रही हैं, जल में जलचरों के साथ वे प्रसिद्ध भगवान् विष्णु शयन करते

---

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. ३५४; २. शृङ्गार वि., श्लो. १०९।

३. परकृतावज्ञादि-नानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः। (रसगङ्गाधर, पृ. ३३३)

४. प्रास्ता.वि., श्लो. ३९।

हैं, इस प्रकार तुम्हारी विवेकहीनता और साथ ही अभ्युदय के परम उत्कर्ष को देखकर क्या मैं तुम्हारी निन्दा करूँ अथवा प्रशंसा करूँ? तुम्हीं बताओ!

यहाँ वक्तृगत 'वितर्क' व्यभिचारी भाव की ध्वनि है। वितर्क का लक्षण है 'तर्को विचार: सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तक:'[१] अर्थात् सन्देह के कारण उत्पन्न विचार को वितर्क कहते हैं। इसमें भौहों का टेढ़ी होना, सिर हिलाना, अंगुलियों को नचाना आदि क्रियाएँ होती हैं। यहाँ पर सागरगत अविवेक तथा विष्णु आदि की स्थिति विभाव है, और अनुमान कर लिये जाने वाले भ्रूनर्तन इत्यादि अनुभाव हैं, जिनसे वक्तृगत 'वितर्क' व्याभिचारी भाव ध्वनित होता है।

निष्कर्ष

पण्डितराज के काव्यों में आगत रसों व भावों के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि, महाकाव्यकार न होने के कारण यद्यपि उनके काव्यों में रस वैविध्य के स्थल प्रचुरता से नहीं प्राप्त होते हैं और उनकी कृतियों का बड़ा परिमाण नव रसात्मक आह्लाद की कोटि में न आकर 'भाव' ध्वनि की श्रेणी में परिगणित होता है, तथापि उनके काव्यश्लोकों की रसात्मक व भावात्मक आह्लादप्रदायक क्षमता निःसन्देह रूप से उत्कृष्ट है।

●

---

१. साहित्यदर्पण ३।१७१।

अष्टम अध्याय

अलङ्कार

अलङ्कार का तात्पर्य

'अलम्' शब्द का अर्थ है—'भूषण', जो अलङ्कृत, भूषित या सुशोभित करे, वही अलङ्कार है—'अलङ्करोतीति अलङ्कारः' या 'अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः' अर्थात् सौन्दर्यसंवर्धन व शोभाप्रसाधन के उपकरण ही अलङ्कार कहे जाते हैं। लौकिक जगत् में मनुष्य जैसे अपने शरीर को वस्त्रभूषणादि से सुसज्जित करके अपनी सुन्दर प्रतिच्छवि समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता है, वैसे ही कवि अपनी काव्यकृति को रस, भाव, विचार, गुण, रीति, जीवन-दृष्टि सभी दृष्टियों से सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। उसकी इस प्रस्तुति को अधिक रमणीय और कलात्मक बनाने वाले उपकरणों को अलङ्कार कहते हैं।

अलङ्कार विषयक विविध मत

संस्कृतकाव्यशास्त्रियों में अलङ्कारों के स्वरूप व महत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं। अलङ्कारवादी भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि विद्वानों ने अलङ्कार को काव्य का शोभाकारक सहज धर्म तथा प्राण माना है और काव्य में अलङ्कारों का आग्रह किया है। इनमें आचार्य दण्डी ने 'अलङ्कारों को काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाला धर्म बतलाते हुए रस, भाव, रीति, गुण इत्यादि काव्याङ्गों और सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग आदि नाट्यतत्त्वों को भी अलंकारों के अन्तर्गत समाहित कर लिया।'[१] आचार्य वामन के अनुसार 'अलङ्कार के कारण ही काव्य ग्रहणीय होता है और वह अलङ्कार सौन्दर्य है।'[२] भामह ने भी अलङ्कार को सर्वोपरि तत्त्व माना। उनका क़हना है कि नारी का सुन्दर मुख भी आभूषण के बिना शोभा नहीं पाता—

---

१. (क) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श, २।१)

(ख) यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्ग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टम् अलङ्कारतयैव नः।। (वही, २।३६७)

२. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १-१-२)

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'[१]

इसके विपरीत रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कार को रसभावादि अलङ्कार्य का उपकारक, शोभावृद्धि का साधन तथा शब्दार्थ का अनित्य धर्म स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट की मान्यता है कि जैसे हारादि आभूषण शारीरिक सौन्दर्य के संवर्धक होते हैं, वैसे ही अलङ्कार काव्य में विद्यमान अङ्गी रस के उपकारक होते हैं—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।[२]

आचार्य विश्वनाथ ने भी 'काव्य की शोभा बढ़ाने वाले शब्द व अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलङ्कार कहा है, जो रसादि के उसी प्रकार उपकारक होते हैं, जैसे आभूषण शरीर के सौन्दर्यवर्धक होते हैं।'[३]

इसी प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने अङ्लकार की मूल भावना का निर्देश इन शब्दों में किया है—'अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते'[४]—अर्थात् अलङ्कार काव्य में चारुता के कारण रूप में प्रसिद्ध तत्त्व हैं। इस चारुत्वहेतु अनन्तप्रकारात्मक अलङ्कार को उन्होंने रसादि अन्तरङ्ग तत्त्वों का प्रकाशक तत्त्व माना है—'तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः।'[५]

आचार्य अभिनवगुप्त ने अलङ्कार को सदा ही विच्छित्तिप्रकार स्वीकार किया है और 'चारुत्वक्षयवतामित्यर्थः' कहकर चारुत्व प्रदान करने वाले अर्थ को ही अलङ्करण माना।

पण्डितराज ने अलङ्कार सामान्य की कोई विशिष्ट परिभाषा नहीं दी है, फिर भी अलङ्कार निरूपण के प्रारम्भ में—'अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते'[६] कहते हुए अलङ्कार विवेचन प्रारम्भ किया है। इससे ज्ञात होता है कि पण्डितराज त्रिविध (वस्तु, अलङ्कार तथा रसादि) व्यङ्ग्यों को काव्यात्मा मानते हैं और उस काव्यात्मा की रमणीयता का वर्णन करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार कहते हैं। परन्तु पण्डितराज ने उपमानिरूपण प्रकरण के एक स्थल पर लिखा है—'इयं

१. काव्यालङ्कार, १।१३;
२. काव्यप्रकाश, ८।६७
३. साहित्यदर्पण, १०।१;
४. ध्वन्यालोक, द्वितीयोद्योत पृ. १०८
५. वही, द्वितीयोद्योत पृ. १०७;
६. रसगङ्गा.द्वि.आ., पृ. २१०

चैव भेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चो-पकारकतया पञ्चधा।'[1] अर्थात् उपमा पाँच प्रकार की होती है, क्योंकि वह कहीं वस्तुरूप प्रधान व्यङ्ग्य को, कही अलङ्कार रूप प्रधान व्यङ्ग्य को, कहीं रसादि रूप प्रधान व्यङ्ग्य को और कहीं प्रधानवाच्य वस्तु और प्रधान वाच्य अलङ्कार को उपस्कृत करती है। इस उल्लेख से पण्डितराज की काव्यात्मत्व विषयक धारणा कुछ भिन्न प्रतीत होती है। कारण, जिस तत्त्व को काव्यात्मा कहा जाता है, वही अलङ्कार्य होता है। यदि पण्डितराज त्रिविध व्यङ्ग्यमात्र को काव्यात्मा मानते, तो वाच्यवस्तु (अलङ्कार) को अलङ्कार्य नहीं कहते। अत: ज्ञात होता है कि पण्डितराज सभी प्रकार के रमणीय अर्थों को काव्यात्मा मानने वाले हैं। इसी वक्तव्य की असङ्गति को लक्ष्य कर श्री मदनमोहन झा ने रसगङ्गाधर की भूमिका में[2] विभिन्न अलङ्कारों के निरूपण-प्रसङ्ग में पण्डितराज द्वारा उद्धृत बिखरे वक्तव्यों को संगृहीत कर इनके आधार पर पण्डितराज-सम्मत अलङ्कार सामान्य का लक्षण इस प्रकार बनाया है—'कविप्रतिभानिर्वर्तितमुख्य-वाक्यार्थोपस्कारकसुन्दरशब्दार्थधर्मत्व'[3] अर्थात् कविप्रतिभाप्रसूत मुख्य वाक्यार्थ का उपस्कारक सुन्दर शब्दार्थधर्मत्व अलङ्कार है।

अलङ्कार सम्बन्धी विद्वानों के उपर्युक्त सभी मतों में ऊपरी दृष्टि से यद्यपि कुछ अन्तर है, तथापि इनका मूल निष्कर्ष यही है कि अलङ्कार अभिधान का प्रकार विशेष हैं व सौन्दर्य तथा चमत्कारोत्पादकता इनका मूल तत्त्व है। ये अपने अभिव्यक्ति सौन्दर्य से काव्य को बाह्य एवं आभ्यन्तर सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

अलङ्कारों का वर्गीकरण

शब्दसौन्दर्य व अर्थसौन्दर्य के आधार पर अलङ्कारों के मुख्यत: तीन भेद किये जाते हैं। ये हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। जहाँ अलङ्कार अपने बाह्य स्वरूप से सौन्दर्यवर्धन करते हैं, वहाँ शब्दालङ्कार, जहाँ काव्य के भावसौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, वहाँ अर्थालङ्कार तथा जहाँ इन दोनों पक्षों का सौन्दर्यवर्धन करते हैं, वहाँ इनका तीसरा भेद उभयालङ्कार माना गया है।

पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त अलङ्कारों का विवेचन

पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त अलङ्कारों का विवेचन करने के पूर्व दो तथ्यों का ध्यान रखना आवश्यक है। पहला यह कि पण्डितराज कवि होने के

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. २७४; २. वही, द्वि.भा., भू., पृ. ४३-४४

३. वही, द्वि.भा., प्रस्ता., पृ. ४४

अतिरिक्त एक अत्युत्कृष्ट काव्यशास्त्री भी थे। उन्होंने रसगङ्गाधर में उपमादि ७० अलङ्कारों का बड़ा प्रौढ़ व मौलिक विवेचन किया है तथा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से बचाते हुए अपनी विशिष्ट नैयायिक भाषा-शैली में इन अलङ्कारों का स्वरूप-निर्धारण किया है। अत: उनके काव्यों में आगत अलङ्कारों का यह विवेचन उनकी ही काव्यशास्त्रीय समालोचनाओं पर आधारित हैं। दूसरे, इन अलङ्कारों के उदाहरण रूप में यहाँ प्राय: उन्हीं श्लोकों को प्रस्तुत किया गया है, जो रसगङ्गाधर में इनके उदाहरण रूप में आगत हैं। कारण, काव्यप्रणयन के क्षेत्र में पण्डितराज की प्रतिभा महाकाव्यकार की नहीं थी। इस क्षेत्र में उन्होंने लघु रचनाओं का ही प्रणयन किया है। इन रचनाओं में भी पञ्चलहरियों को छोड़कर प्राय: अन्य सभी कृतियों में आगत श्लोकों में से अधिकांश या तो रसगङ्गाधर में विविध काव्यशास्त्रीय प्रसङ्गों पर घटित होने वाले उदाहरणपद्य के रूप में उद्धृत हुए हैं अथवा रसगङ्गाधर के उदाहरणपद्यों का ही इनमें संकलन हुआ है। अत: इन अलङ्कारों के उदाहरणरूप में रसगङ्गाधर में आगत इन उदाहरणपद्यों को ही प्रस्तुत करना पड़ा है। उपरिवर्णित इन्हीं सीमाओं के आधार पर उनके काव्यों में आगत यह अलङ्कार-निरूपण निम्नलिखित रूप में विवेचित है—

शब्दालङ्कार

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में शब्दालङ्कारों का विवेचन नहीं किया है सम्भवत: इसका कारण रसगङ्गाधर का अपूर्ण रह जाना है; परन्तु उनके काव्यों में अनुप्रास, यमक और श्लेष इन तीन शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है, जिनका विवेचन निम्नोद्धृत है—

१. अनुप्रास

जहाँ व्यञ्जनों की समता हो, किन्तु उनके स्वर मिलें, अथवा नहीं, वहाँ अनुप्रास अलङ्कार होता है।[१] अनुप्रास शब्द अनु+प्र+आस के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है, वर्णों का क्रमिक विन्यास। आलङ्कारिकों के अनुसार अनुप्रास के मुख्यत: पाँच भेद होते हैं—(क) छेकानुप्रास, (ख) वृत्त्यनुप्रास, (ग) अन्त्यानुप्रास, (घ) श्रुत्यनुप्रास और (ङ) लाटानुप्रास।

(क) छेकानुप्रास

जहाँ एक या अनेक व्यञ्जनों की क्रमपूर्वक केवल एक बार आवृत्ति होती है, वहाँ छेकानुप्रास होता है।[२] पण्डितराज के श्लोकों में अनुप्रास के इस प्रभेद का अनेकत्र प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

१. वर्णसाम्यमनुप्रास:। (काव्यप्रकाश ९।१०३); २. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व:। (वही, ९।१०५)

स्वापं स्वापाकुलानां गदमथ गदिनामन्धकारं त्रिलोक्याः
पापं पापाविलानां सपदि परिहरन्नागतो वासवाशाम्।
नित्यप्रस्थानलीलाकुपितकमलिनीनर्मनिर्माणकर्मा
विश्वार्तित्राणधर्मा गगनमणिरसौ पातु शर्मानिशं वः॥[१]

यहाँ 'स्वापं-स्वापाकुलानां', 'गदमथगदिनां', 'पापं-पापाविलानां', 'कुपित-कमलिनी', 'नर्म-निर्माण' में क्रमशः स्, व, प, ग, क, न की स्वरूप एवं क्रम से एक बार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास की सुन्दर छटा विद्यमान है।

(ख) वृत्त्यनुप्रास

जहाँ एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो, वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है।[२] इसमें रसानुरूप वर्णविन्यास होता है। फलतः यह वृत्त्यनुप्रास कहलाता है। वृत्तियाँ तीन प्रकार की मानी जाती हैं—उपनागरिका, परुषा एवं कोमला। यह अनुप्रास भी इन वृत्तियों के अनुसार चलता है। पण्डितराज की रचनाओं में अनुप्रास के इस प्रभेद का भी बहुलता से प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

गीर्वाणग्रामणीभिर्गगनतलगतैर्गीर्भिरुद्गीथगाभि
र्गन्धर्वैश्चापि गीता गुणगणगरिमोद्गारिगाथासहस्त्रैः।
गाहं गाहं गृहालीरगतिकगदिनां गन्धयन्तो गदार्तिं
ग्लानिग्रामं ग्रसन्तां ग्रहरुचिगुरवो गोपतेर्गोविलासाः॥[३]

यहाँ एक ही वर्ण 'ग' की आवृत्ति समस्त श्लोक में हुई है, फलतः वृत्त्यनुप्रास एवं परुषावृत्ति है।

(ग) अन्त्यानुप्रास

छन्द के तुकान्त में स्वर-व्यञ्जनों की समानता ही अन्त्यानुप्रास है।[४] पण्डितराज के काव्यों में अनुप्रास के इस रूप का बहुलता से प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

त्रातामीवार्तलक्षाः प्रतिदिनविहितानेकगीर्वाणरक्षा
भक्तानां कल्पवृक्षाः स्फुरदनलगतस्वर्णभासां सदृक्षाः।
लोकक्षेमात्तदीक्षा नलिनपरिषदां दत्तसौभाग्यलाक्षा
दुर्वृत्तध्वंसदक्षा मम रविकिरणाः सन्त्वघानां विपक्षाः॥[५]

१. सुधालहरी, श्लो. १२; २. एकस्याप्यसकृत्परः। (काव्यप्रकाश ९।१०६)
३. सुधालहरी, श्लो. १७; ४. साहित्यदर्पण, १०।६ ५. सुधालहरी, शलो. ३।

यहाँ 'क्ष' की पदान्त में सुन्दर आवृत्ति होने से अन्त्यानुप्रास विद्यमान है।

(घ) श्रुत्यनुप्रास

जहाँ एक ही उच्चारणस्थान के अनेक व्यञ्जनों का एक साथ प्रयोग भाषा में लालित्य ला देता है, वहाँ वह श्रुतिमधुर होने के कारण श्रुत्यनुप्रास कहलाता है। पण्डितराज की कृतियों में अनुप्रास के इस रूप का भी अनेकत्र प्रयोग हुआ है। यथा एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः
पठन्ति विरुदावली महितमन्दिरे वन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो यदवधि प्रवृद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥[१]

यहाँ त, द, न, ल, स आदि दन्त्य वर्णों की एवं दन्त्योष्ठ 'व' की एक साथ अनुकूल आवृत्ति हुई है, फलतः श्रुत्यनुप्रास है।

लाटानुप्रास का प्रयोग पण्डितराज ने नहीं किया है।

२. यमक

सार्थक अथवा निरर्थक भिन्न अर्थ वाले वर्ण समुदाय की क्रमशः आवृत्ति या पुनःश्रवण को यमक अलंकार कहते हैं।[२]

'यमक' शब्द का अर्थ है युग्म, जोड़ा या दो। फलतः समान स्वरूप वाले भिन्नार्थक दो शब्द युग्मों की आवृत्ति के कारण इसे यमक कहते हैं। श्लोक के चरण अथवा उसके एकदेश भाग आदि में रहने से यह यमक अनेक प्रकार का हो जाता है। फलतः इसके कई प्रभेद होते हैं। पण्डितराज ने अपने रचना श्लोकों में इस अलंकार का अत्यल्प प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि पण्डितराज को इसके प्रयोग में विशेष रुचि नहीं थी; फिर भी उनके द्वारा इस वाणीविकल्प का प्रयोग कर रचे गये कुछ सुन्दर श्लोक प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

वित्तभूचित्तभूमत्तभूपालकोपासनावासनायासनादन्वहम्
साधुता सा धुता साधिता साधिता किं तया चिन्तया चिन्तयामो हरिम्[३]**॥**

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो. १९

२. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। (काव्यप्रकाश ९।११६)

३. पं.का.सं., पृ. १८९, श्लो. ५७२

वित्तभू, चित्तभू व मत्तभूपालकों (राजाओं) की उपासना में निरन्तर रत रहने की वासना के कारण मेरी सज्जनता तो धुल गई तथा मानसिक व्याधिमत्ता साधित (प्राप्त) कर ली गई। लेकिन इस चिन्ता से अब क्या? अब तो हरि की चिन्ता शेष है।

यहाँ 'साधुता', 'साधिता' व 'चिन्तया' इन तीन भिन्नार्थक शब्दों की आवृत्ति पूर्वक्रम से हुई है। प्रथम 'साधुता' का अर्थ सज्जनता व द्वितीय 'साधुता' का अर्थ 'वह धुल गई' (सा धुता) से है। इसी प्रकार प्रथम 'साधिता' पद का अर्थ 'मानसिक व्याधिमत्ता' से है व द्वितीय 'साधिता' का अर्थ 'साधित या सिद्ध कर ली गई' से है। 'चिन्तया' पद में भी प्रथम 'चिन्तया' का अर्थ 'चिन्ता से' व द्वितीय चिन्ता का अर्थ 'चिन्तक करुँ' से है; फलत: यमक है।

३. श्लेष

श्लिष्ट या अनेकार्थवाची शब्दों द्वारा अनेक अर्थों के अभिधान में श्लेष अलङ्कार होता है।[२] रसगङ्गाधरकार के शब्दों में 'श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेष:'[३] अर्थात् एक श्रुति से अनेक अर्थों के प्रतिपादन को श्लेष कहते हैं।

श्लेष शब्द 'श्लिष' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है चिपकना या सटना। इसमें ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिनमें एकाधिक अर्थ चिपके हुए होते हैं, अत: इसे श्लेष कहा जाता है। श्लेष दो प्रकार का होता है—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। जो श्लेष शब्दाश्रित होता है, उसे शब्दश्लेष कहते हैं और अर्थाश्रित श्लेष को अर्थश्लेष कहा जाता है। अर्थात् शब्दश्लेष में शब्दपरिवृत्तिसहत्व नहीं होता, जबकि अर्थश्लेष में शब्दपरिवर्तन की पूर्ण क्षमता विद्यमान रहती है।

पण्डितराज की कृतियों में कुछ श्लोकों में श्लेष अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि वे श्लेषात्मक श्लोकों की रचना-चातुरी में भी दक्ष थे। निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

नासत्ययोगो वचनेषु कीर्तौ तथार्जुनः कर्मणि चापि धर्मः।
चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वशंवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः॥[३]

हे राजन्! आपके वचनों में जो 'नासत्ययोग' (असत्य का योग नहीं, अन्यत्र-अश्विनीकुमारों=नकुल सहदेवों का संयोग) है; कीर्ति में अर्जुन (श्वेतता;

---

१. श्लिष्टै: पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। साहित्यदर्पण १०।११

२. रसगङ्गाधर, द्वि.आ.द्वि.भा., पृ. २९४; ३. प्राणा.जगदा., श्लो. २८

अन्यत्र-अर्जुन) है; कर्म में 'धर्म' (पुण्य, अन्यत्र युधिष्ठिर है) और चित्त में जगत्प्राणभव (परमेश्वर अन्यत्र भीम) है, सो क्या पाण्डव आपके वशवर्ती हैं?

उपर्युक्त शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त उनकी कृतियों में निम्नलिखित अर्थालङ्कारों का प्रयोग हुआ है—

सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार

१. उपमा

जहाँ उपमेय की उपमान से भिन्नता होने पर भी उनकी समानता का स्पष्ट कथन हो, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है।[१] उपमा का मूल तत्त्व है, सादृश्य या समानता और सुन्दर सादृश्यवर्णन के कारण ही इसकी स्थिति मनोरम होती है। फलत: पण्डितराज के शब्दों में 'वाक्यार्थ को शोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य का नाम उपमा अलङ्कार है।'[२]

उपमा के मुख्यत: दो भेद होते हैं—पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा। जब उपमा के चारों अङ्ग स्पष्ट रूप से प्रकट हों, तो पूर्णोपमा और इनमें से एक, दो या तीन के अभाव में लुप्तोपमा की स्थिति होती है। इन दोनों प्रकार की उपमाओं के भी अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, जिनका रसगङ्गाधर में अतिविशद विवेचन है। यहाँ भेद-प्रभेद परिगणन में न पड़कर पण्डितराज की कृतियों में प्राप्त उपमा प्रयोग के कुछ सुन्दर उदाहरणों को ही प्रस्तुत किया जायेगा। निदर्शनार्थ निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

कर्पूरवर्तिरिव लोचनतापहन्त्री
फुल्लाम्बुजस्त्रगिव कण्ठसुखैकहेतु:।
चेतश्चमत्कृतिपदं कवितेव रम्या
नम्या नरीभिरमरीव हि सा विरेजे।।[३]

कपूर से बने हुए अञ्जन के समान नेत्रों के सन्ताप को हर लेने वाली, खिले हुए कमलों की बनी माला के समान गले को आनन्द पहुँचाने का एक मात्र साधन, मनोहारिणी कविता के समान हृदयाह्लाद की स्थली, मानुषियों द्वारा वन्दनीय देवाङ्गना की तरह वह प्रियतमा सुशोभित होती थी।

१. साधर्म्यमुपमा भेदे। काव्यप्रकाश १०।सू. १२४
२. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृति:। रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. २११
३. करुण वि., श्लो. १६

यहाँ 'सा' अर्थात् प्रियतमा रूप एक ही उपमेय की कर्पूरवर्ति, फुल्लाम्बुजस्रक्, कविता और अमरी रूप अनेक उपमानों से उपमा दी गई है। अलङ्कारशास्त्र के अनुसार यहाँ मालोपमा की स्थिति है। एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं, जहाँ श्लिष्ट विशेषणों के कारण उपमाचमत्कार द्विगुणित हो उठा है—

परगुह्यगुप्तिनिपुणं गुणमयमखिलैः समीहितं नितराम्।
ललिताम्बरमिव सज्जनमाखव इव दूषयन्ति खलाः॥[१]

दुष्ट लोग मूषकों की तरह दूसरों के गोपनीय (अंगों) को ढकने में निपुण, तन्तुवों से बने हुए एवं सभी के द्वारा अत्यधिक समीहित रमणीय वस्त्र की तरह दूसरों के दोषों को छिपाने में निपुण, गुणी एवं सभी के द्वारा अत्यधिक सम्प्रार्थित सज्जन को दूषित कर देते हैं।

यहाँ कवि ने दुष्टों की उपमा चूहों से दी है तथा सज्जन की उपमा रमणीय वस्त्र से प्रस्तुत की है। इस उपमा में 'परगुह्यगुप्तिनिपुणं' और 'गुणमयं' पद द्व्यर्थक होने के कारण श्लिष्ट हैं और वे सज्जन की ललिताम्बर से दी गई उपमा को सिद्ध करने में सहायक हैं, फलतः श्लिष्ट परम्परित उपमा का प्रयोग है।

२. *अनन्वय*

एक वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय दोनों होने पर अनन्वय अलङ्कार होता है।[२] अर्थात् जब एक ही पदार्थ को उपमेयता व उपमानता प्रदान कर दी जाय, तो वहाँ अनन्वय अलङ्कार की स्थिति होती है। पण्डितराज के शब्दों में 'दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो, उस वर्णन में आने वाला और एक ही उपमान उपमेय वाला सादृश्य अनन्वय अलङ्कार कहलाता है।'[३]

अनन्वय का अर्थ ही है, अन्य उपमान का सम्बन्ध न होना। इसमें किसी वस्तु की लोकोत्तरता सिद्ध करने के लिये उस वस्तु के सम्बन्धान्तरों का निषेध करके उसकी समता उसी के साथ की जाती है। पण्डितराज की कृतियों के

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ८७

२. उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः। काव्यप्रकाश १०।सू. १३४

३. द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः। (रसगङ्गाधर, पृ. ४११)

कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का प्रयोग सुन्दर ढंग से हुआ है। यथा निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि संतप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे।।[१]

हे माँ गङ्गे! छोटे-छोटे पापों को कर लेने के पश्चात् तुरन्त मन में सन्ताप का अनुभव करनेवाले मनुष्यों का उद्धार करने के लिये त्रिभुवन में तीर्थों का एक विशाल समुदाय तैयार है। पर प्रायश्चित्तों के समूह से परे चरित्र वाले महापातकियों को भी निष्पाप बनाकर अपनाने वाली तुम्हारे जैसी तुम ही हो। अर्थात् तुम्हारी तुलना किसी से नहीं हो सकती।

यहाँ भगवती गङ्गा के उपमानान्तर का अभाव वर्णित है, फलतः अनन्वय है।

३. असम अलङ्कार

अलङ्कारजगत् में अल्पमत मान्य 'असम' अलङ्कार को पृथक् अलङ्कार मान कर रसगङ्गाधर में इसका भी निरूपण किया गया है। 'उपमा के सर्वथा निषेध को 'असम' नामक अलङ्कार कहा गया है'।[२] इस सम्बन्ध में इनका विचार है कि यह अलंकार यद्यपि अनन्वय अलङ्कार में व्यङ्ग्य रहता है, पर वहाँ अनन्वय के चमत्कार का पोषक होने के कारण अलङ्कार नहीं कहा जाता, जैसे रूपक, दीपक आदि में सादृश्य के व्यङ्ग्य होने के कारण उपमा को पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जाता।[३] निषेध के वाच्य होने पर ही अर्थात् निषेध के स्वतन्त्रतया चमत्कारी होने के कारण इसे पृथक् अलङ्कार मानते हैं। यथा निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

भूमीनाथ शहाबदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धातानूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः।।[४]

---

१. गङ्गालहरी, श्लो. १७

२. सर्वथैवोपमानिषेधोऽसमाख्योऽलङ्कारः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ४३३)

३. वही, पृ. ४३४; ४. रसगङ्गाधर, उदा. श्लो. १५०, पं.का.सं., पृ. १०१।

हे शहाबुद्दीन नृपति! गुणसमूह के कारण तुम्हारे समान, इस भूत और वर्तमान सृष्टि में कोई नहीं है, यह तो क्या कहें; यह तो बिना कहे ही सिद्ध है। पर यदि विधाता नए कारणों से पुनः नई सृष्टि तैयार करें, तो भी तुम्हारी तुलना के लेश को भी धारण करने वाला मनुष्य हो ही नहीं सकता।

यहाँ शाहजहाँ के योग्य उपमा के सर्वथा निषेध के कारण असम अलङ्कार है।

४. उदाहरण अलङ्कार

यह अलङ्कार भी अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों का बहुमत नहीं प्राप्त कर सका है, पर पण्डितराज का समर्थन इसे प्राप्त है। इसका लक्षण उन्होंने इस रूप में किया है—'सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिये, उसके एक देश का वर्णन करके, सामान्य पदार्थ और उसके एकदेश का शब्द से उक्त अङ्गाङ्गिभाव 'उदाहरण' कहलाता है।'[1] अर्थात् सामान्य ढंग से वर्णित किए गए किसी अर्थ का बोधन, बिना विशेष पदार्थ के निरूपण के बिना कठिन होता है। फलतः उसको सुगमतापूर्वक समझाने के लिए उसी के किसी एकदेश का निरूपण करके, उन सामान्य एवं विशेष पदार्थों के अवयवावयविभाव का शब्द से कहा जाना 'उदाहरण' अलङ्कार होता है।

लक्षण में 'उच्यमान' पद का विन्यास अर्थान्तरन्यास में लक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिए है। यह उच्यमानता 'यथा', 'इव', 'वा', 'निदर्शन', 'दृष्टान्त' आदि शब्दों के द्वारा होती है। अर्थान्तरन्यास में ये शब्द प्रयुक्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त उदाहरण अलङ्कार में सामान्य एवं विशेष दोनों अर्थों का अन्वय एक ही क्रिया के द्वारा होता है। निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

उपकारमेव तनुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः॥[2]

यहाँ सामान्य रूप से इस तथ्य का निरूपण किया गया है कि सद्गुणी व्यक्ति (पदार्थ) विपत्तियों में पड़कर भी उपकार ही करता है। इसे सुगमतापूर्वक समझाने के लिये सद्गुण पदार्थ के एकदेशभूत पारद रस का निरूपण किया गया है कि जैसे मूर्च्छित अथवा मृत पारा परम लाभदायक औषधि होता है,

१. सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ४४३)

२. प्रास्ता.वि., श्लो. ७७

वैसे सद्गुणी व्यक्ति भी विपत्ति में पड़कर उपकार ही करता है। इन दोनों के अङ्गाङ्गिभाव को निदर्शन शब्द प्रस्तुत करता है, जो शब्दत: उपात्त है। साथ ही इन दोनों का 'उपकारमेव तनुते' क्रिया से ही अन्वय है, अत: उदाहरण अलङ्कार है।

५. स्मरण

स्मरण का अर्थ है, 'स्मृति'। इसमें पहले देखे गये पदार्थ के समान अन्य पदार्थ को देखकर पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति हो जाती है। सादृश्य इस अलङ्कार का मूल तत्त्व है और इस सादृश्य का भी चमत्कारपूर्ण होना आवश्यक है। रसगङ्गाधरकार पण्डितराज ने 'सादृश्य के बोध द्वारा उद्बुद्ध संस्कार के फलस्वरूप स्मरण को स्मरणालङ्कार कहा है।'[१] पण्डितराज कृत इस लक्षण में कुछ नवीनता है। प्राय: आलङ्कारिकों ने 'सदृशपदार्थानुभवजन्य स्मृति' को स्मरण अलङ्कार माना है; परन्तु पण्डितराज ने इस लक्षण की विवेचना करते हुए सोदाहरण यह तर्क उपस्थित किया है कि जहाँ सदृश पदार्थ के स्मरण से 'संस्कारोद्बोधक्रमेण' स्मरण उत्पन्न होता है, वहाँ इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। फलत: उन्होंने 'सादृश्यज्ञान से उद्बुद्ध जो संस्कार है, उससे साक्षात् या परम्परया सम्पन्न होने वाले स्मरण को स्मरणालङ्कार माना है।[२] निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है---

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुग-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम्।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीशः स्मरेत्।।[३]

हे राजन्! दोनों बाहुदण्डों से कुण्डल के समान गोल किए सुन्दर धनुष की प्रचण्ड ध्वनि से उद्दण्ड शत्रुसमूह को नष्ट कर देने वाले तुम्हें युद्ध के मध्य में देखकर कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो वाचाल गाण्डीव धनुष से निकले बाणसमूह की ज्वालावली के ताण्डव नृत्य से भ्रष्ट होते हुए खाण्डव (वन) में स्थित क्रुद्ध पाण्डव (अर्जुन) का स्मरण न करे।

यहाँ यह सादृश्य वर्णित है कि जिस प्रकार अर्जुन ने क्रुद्ध होकर अपने प्रचण्ड बाणों से खाण्डव वन को छिन्न-भिन्न कर दिया था उसी तरह तुम अपने

१. सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः। रसगङ्गा.द्वि.आ., पृ. ४५५
२. वही, पृ. ४७३-७४; ३. प्राणा.जगदा., श्लो. १४

प्रचण्ड बाणों की वर्षा से समरभूमि को छिन्न-भिन्न किए दे रहे हो। इस प्रकार यहाँ सदृश वस्तु के दर्शन के कारण राजा को देखकर अर्जुन का स्मरण किया जा रहा है, अतः स्मरण अलङ्कार है।

६. रूपक

'अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रसिद्ध भेद वाले उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक अलङ्कार कहलाता है।'[१] रूपक का अर्थ है, 'रूप का आरोप।' इसमें उपमेय व उपमान में अत्यन्त सादृश्य के कारण उपमान उपमेय को अपना रूप देकर उसके साथ अभेद स्थापित कर लेता है। अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति व निदर्शना अलंकारों में भी इसी तरह उपमेय पर उपमान का आरोप होता है, अतः रूपक के लक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति न हो, इस कारण पण्डितराज ने प्राचीनों के 'तद्रूपकमभेदो यः उपमानोपमेययोः' इस लक्षण को सुधार कर, अपनी विशिष्ट शैली में रूपक का लक्षण इस प्रकार निश्चित किया है कि 'उपमेयतावच्छेदक (उपमेय में रहने वाले असाधारण धर्म मुखत्व) आदि को आगे रखकर, उपमेय (मुख आदि में) शब्द प्रमाण के द्वारा निश्चित की जाने वाली उपमान (चन्द्र) आदि की एकरूपता (अभेद) को 'रूपक' कहते हैं। यह रूपक यदि किसी अन्य का उपस्कारक अर्थात् शोभाजनक हो, तो रूपक अलङ्कार कहलाता है।'[२]

इस लक्षण में 'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर' इस विशेषण को लगाने से अपह्नुति आदि उपर्युक्त चारों अलंकारों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि अपह्नुति में उपमेय का निषेध कर दिया जाता है। भ्रान्तिमान् में भ्रान्ति के कारण उपमेय का उपमेय के रूप में ज्ञान ही नहीं होता, फलतः इनमें उपमेयतावच्छेदक का ज्ञान नहीं होता। अतिशयोक्ति व निदर्शना का मूल है, साध्यवसाना लक्षणा, जिनमें उपमेयतावच्छेदक का ग्रहण नहीं होता।

'निश्चित की जाने वाली' इस विशेषण के लगाने से सम्भावना रूप उत्प्रेक्षा का निवारण हो जाता है। उत्प्रेक्षा में अभेद सम्भावनारूप रहता है, जब कि रूपक में निश्चित।[३]

---

१. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। (काव्यप्रकाश, १०।सू. १३८)

२. उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्। तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कारः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ४८३)

३. वही, पृ. ४८४-८५

रूपक के भेद

रूपक अलङ्कार के मुख्यतः तीन भेद होते हैं—(क) सावयव, (ख) निरवयव और (ग) परम्परित।

(क) सावयव रूपक

जिन रूपकों को सिद्ध करने में एक दूसरे की अपेक्षा हो, ऐसे रूपक के समूह का नाम 'सावयवरूपक' है। इस रूपक में एक आरोप प्रधान होता है व शेष आरोप उसके अङ्ग के रूप में आते हैं। इसके दो प्रकार होते हैं—क-समस्तवस्तुविषय और ख-एकदेशविवर्ति। जहाँ सभी आरोप शब्दतः कथित होते हैं, वहाँ समस्तवस्तुविषय होता है और जहाँ कुछ आरोप शब्दतः कथित होते हैं और कुछ का ज्ञान अर्थ द्वारा होता है, वहाँ एकदेशविवर्ति रूपक होता है।

(ख) निरवयव रूपक

जहाँ परस्पर सापेक्ष रूपकों का समूह न हो, वहाँ निरवयव रूपक होता है। इसमें अङ्गों से रहित उपमेय में केवल उपमान का आरोप होता है। इसके भी दो भेद होते हैं—(क) शुद्ध निरवयव, (ख) मालारूपनिरवयव। जहाँ एक उपमेय में एक उपमान का आरोप हो, वहाँ शुद्ध निरवयव रूपक होता है और जहाँ एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप हो, वहाँ मालारूपनिरवयव रूपक होता है।

(ग) परम्परित रूपक

जब एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो, तो परम्परित रूपक होता है। इसमें एक आरोप से दूसरे आरोप की सिद्धि होती है। यदि एक आरोप हटा दिया जाय तो दूसरा आरोप व्यर्थ हो जाता है। इसके चार प्रकार होते हैं—(क) केवल श्लिष्टपरम्परित, (ख) मालारूप श्लिष्टपरम्परित, (ग) केवल शुद्धपरम्परित, (घ) मालारूप शुद्धपरम्परित। इनमें श्लिष्ट परम्परित में श्लेष मूल में रहता है तथा शुद्ध परम्परित श्लेषरहित होता है। मालारूप परम्परित में एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप होता है।

रसगङ्गाधर में इन सभी भेदों-प्रभेदों का विशद विवेचन हुआ है। परन्तु यहाँ प्रभेद संगणना न कर पण्डितराज की कृतियों में प्राप्त 'रूपक' प्रयोग के कुछ सुन्दर उदाहरणों को प्रस्तुत किया जायेगा। पण्डितराज ने अपनी कृतियों

में इस वाणी विकल्प का प्रयोग बहुलता से किया है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

शुद्धं ब्रह्मालवालं प्रकृतिशबलितं यस्य मूलं करास्त-
द्राधिष्ठस्वर्णशाखा विकसदरुणिमा पल्लवानां विलासः।
नीलं व्योमालिमाला सुरसफलभरो धर्मकामार्थमोक्षाः
स श्रीमान् वाञ्छितार्थं वितरतु सततं सूर्यकल्पद्रुमो वः॥[1]

यहाँ सूर्य का कल्पवृक्ष के रूप में वर्णन किया गया है। जैसे किसी वृक्ष में आलवाल, मूल, शाखाएँ, पल्लव, फलसमूह व गुंजारवान् भ्रमरावलियाँ होती हैं, वैसे ही सूर्यरूपी कल्पवृक्ष का आलवाल शुद्ध ब्रह्म, उस ब्रह्म का प्रकृति से शबलित होना मूल, स्वर्णमय शाखाएँ उसकी किरणें व लालिमा ही पल्लव है। नील व्योम ही भ्रमर पंक्ति व धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी सुन्दर फल हैं।

यहाँ उपमान व उपमेय दोनों का अंगों के साथ अभेद कथन है और यह आरोप शब्दतः कथित है, अतः समस्त वस्तुविषयक रूपक है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुभरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम्॥[2]

यहाँ उपमेयभूत कृष्ण रूप वर्णद्वय पर वज्र, सिद्धौषध आदि अनेक उपमानों का आरोप किया गया है। यहाँ पापसमूह में पर्वतों का आरोप हैं, जो कृष्ण नामाक्षर में वज्र के आरोप का हेतु है। इसी प्रकार मिथ्याज्ञान में घनघोर रात्रि, संसार में प्रबल रोग, क्लेश में वृक्ष व मुक्ति में गृह का आरोप कृष्णनामाक्षर में क्रमशः सूर्यमण्डल का प्रकाश, औषधि, अग्नि व गृहद्वार के आरोप का हेतु है।

इस प्रकार यहाँ कार्यकारणरूप में आरोपों की परम्परा होने के कारण रूपक का परम्परित मालारूपक भेद है।

---

१. सुधालहरी, श्लो. २६; २. शान्त वि., श्लो. ८।

रूपक का एक अन्य सुन्दर उदाहरण लक्ष्मीलहरी से द्रष्टव्य है, जहाँ देवी की नाभि को कमल रूप में माना गया है—

निदानं शृङ्गारप्रकरमकरन्दस्य कमले
महानेवालम्बो हरिनयनरोलम्बवरयोः।
निदानं शोभानां निधनमनुतापस्य जगतो
जवेनाभीतिं मे दिशतु तव नाभीसरसिजम्।।[१]

हे कमले! शृङ्गारसमूह रूपी मकरन्द के निदान अर्थात् आदिकारण, हरि अर्थात् भगवान् विष्णु के नयनरूपी दो श्रेष्ठ भ्रमरों के महान् आश्रयस्थान, शोभा की निधि, जगत् के अनुताप की समाप्तिस्वरूप तुम्हारा नाभिरूप कमल मुझे अभय प्रदान करे।

यहाँ देवी की नाभि की सरोवर के रूप में कल्पना की गई है। जैसे कमल में मकरन्द रहता है, वैसे ही नाभिरूपी कमल में शृङ्गार समूहरूपी पराग है। कमल में भ्रमर आश्रय पाते हैं, यहाँ लक्ष्मी के नाभिकमल को भगवान् के नेत्ररूपी दो श्रेष्ठ भ्रमरों का आश्रय कहा गया है। फलतः सावयव रूपक है।

इसी प्रकार रूपक अलङ्कार के अन्य कई सुन्दर उदाहरण उनकी कृतियों में द्रष्टव्य हैं।

७. परिणाम अलङ्कार

'जहाँ उपमान उपमेय रूप से ही प्रसङ्गोपयोगी हो, स्वतन्त्रतया नहीं, वहाँ उपमान में उपमेय का वह अभेद 'परिणाम' होता है।'[२]

परिणाम का अर्थ है—परिणति, परिवर्तन। इस अलङ्कार में उपमान की पूर्वस्थिति में परिवर्तन आता है। इसमें उपमान स्वयं कोई कार्य करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु उपमेय के साथ एकरूपता स्थापित कर, उसके साहचर्य से उस काम को करने में समर्थ होता है।

'परिणाम' में उपमेय का अभेद उपमान में प्रतीत होकर प्रकृतोपयोगी होता है। अर्थात् उपमान को उपमेय से अभिन्न समझ लेने पर ही प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है। पर रूपक में ऐसा नहीं होता, वहाँ उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होकर प्रकृतोपयोगी होता है—अर्थात् उपमेय को उपमान से अभिन्न समझने पर प्रस्तुत वाक्यार्थ की संगति होती है। यही इन दोनों में भेद है।

१. लक्ष्मीलहरी, श्लो. १९

२. विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ५७५)।

निदर्शनार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है—

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलयः
समन्तात् संतापं हरिनवतमालस्तिरयतु॥[१]

सूर्यकन्या यमुना के तट का निवासी यह कृष्ण रूप नवीन तमालवृक्ष, भयंकर विषयरूपी जंगल के मार्गभूत अपार संसार में बिना किसी तरफ रुके हुए एवं बार-बार घूम कर थक गये हुए जड़ बुद्धि मेरे सन्ताप को एकदम नष्ट कर दे। यहाँ उपमान तमाल वृक्ष, उपमेय हरि के रूप में होने पर ही संसार के ताप को दूर कर सकता है, फलतः 'परिणाम' अलङ्कार है।

८. सन्देह अलङ्कार

सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान के संशय को 'सन्देह' नामक अलङ्कार कहते हैं। सन्देह का अर्थ है, संशय। इसमें सादृश्य के कारण प्रस्तुत वस्तु को देखकर उसमें अप्रस्तुत वस्तु के सन्देह का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया जाता है।

'सन्देह' के इस सामान्य स्वरूप का पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में विभिन्न लक्षणों से अतिव्याप्ति बचाते हुए यह लक्षण प्रस्तुत किया है— 'सादृश्य के कारण होने वाला और निश्चयात्मक तथा सम्भावनात्मक ज्ञान से भिन्न, संशयात्मक ज्ञान का बोध सुन्दर होने पर सन्देह अलङ्कार कहलाता है।'[२]

'सन्देह' के मुख्यतः तीन भेद होते हैं (क) शुद्ध सन्देह (ख) निश्चयगर्भ सन्देह और (ग) निश्चयान्त सन्देह। इसके अतिरिक्त यह सन्देह वास्तविक, आहार्य एवं परम्परित रूप से भी अनेक प्रकार का होता है।

निदर्शनार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है—

विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्तिरथवा वैरीन्द्रवंशाटवी
दावाग्निः किमहो महोज्वलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः।
किं वानङ्गभुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणां
केषामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः॥[३]

---

१. शान्त वि., श्लो. ३६

२. यद्वा 'सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशयालङ्कृतिः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ६०७)।

३. प्राणा.जगदा., श्लो. १८

यह राजा विद्वानों के दारिद्र्यरूप अन्धकार के लिये त्रिमूर्ति (सूर्य) है, अथवा शत्रुओं में श्रेष्ठ राजाओं के वंशरूपी वन के लिये दावानल है, किं वा अतिनिर्मल यशरूप चन्द्र के लिये क्षीरसागर है, अथवा कामरूपी सर्प से डँसी हुई कामिनियों के लिये जीवनौषध है। इस तरह यह नरेश किन्हें अनेक कल्पनाएँ (संशय) उत्पन्न नहीं करता। अर्थात् सभी के हृदय में इसे देखकर ऐसी कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ राजा की त्रिमूर्ति सूर्य, दावानल, क्षीरसागर, जीवनौषध आदि अनेक उपमानों के रूप में सन्देह होने की स्थिति वर्णित होने से 'सन्देह' अलङ्कार है। यहाँ का सन्देह, प्रभेद की दृष्टि से आहार्य है और दारिद्र्य आदि में अन्धकार आदि के आरोप से राजा में सूर्यादि का आरोप वर्णित होने से परम्परित आहार्य सन्देह का वर्णन है।

९. भ्रान्तिमान्

'अत्यन्त सादृश्य के कारण वास्तविक समझे गए, उपमेय में उपमान के भ्रमात्मक निश्चय के चमत्कारपूर्ण वर्णन को 'भ्रान्ति' अलङ्कार कहते हैं और यह भ्रान्ति जिस वचन-सन्दर्भ में आती है, वह सन्दर्भ भ्रान्तिमान कहलाता है।'[१]

'भ्रान्ति' का अर्थ है, भ्रम के कारण एक पदार्थ को अन्य पदार्थ समझ लेना। इसमें निश्चयात्मक भ्रम का वर्णन होता है और यह वर्णन चमत्कारपूर्ण होना चाहिये। अर्थात् अत्यन्त सादृश्य के कारण भ्रमवश उपमेय में उपमान के मिथ्याज्ञान का चमत्कारपूर्ण निरूपण भ्रान्तिमान् अलङ्कार कहलाता है।

पण्डितराज ने रूपक, सन्देह, उल्लेख आदि अलंकारों में अतिव्याप्ति न होने देने के लिये इसके लक्षण में क्रमशः वास्तविक समझे गये, भ्रमात्मक निश्चय को इसका हेतु कहा है। कारण, रूपक में अभेद वास्तविक नहीं, काल्पनिक होता है और सन्देह में भ्रम का संशय रहता है, निश्चय नहीं। एक ही भ्रमात्मक निश्चय भ्रान्तिमान् कहलाता है, इसलिये पण्डितराज ने लक्षण में 'निश्चयः' इस एकवचनान्त पद का प्रयोग किया है, ताकि भ्रान्ति समूहात्मक उल्लेख अलंकार में भ्रान्तिलक्षण प्राप्ति का निरास हो। पण्डितराज ने कुछ श्लोकों में इस वाणीविकल्प का सुन्दर प्रयोग किया है। निदर्शनार्थ सुधालहरी का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

१. सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः। सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन् वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते, स भ्रान्तिमान्। (रसगङ्गाधर, पृ. ६३९)

निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रां गतेषु
द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त थित्सन्ति पादान्।
यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकशिशवस्तेऽशवः पान्तु भानोः॥[1]

यहाँ सूर्यकिरणों के वृक्षों के अत्यन्त घने भाग को भेदकर पृथ्वीतल पर पड़ने से सुनहले रङ्ग के अतिसाम्य के कारण तोतों के बच्चों को स्वर्णदण्ड का निश्चयात्मक भ्रम हो गया है, जिससे वे उन पर पैर रखने लगते हैं व पुनः उन्हीं किरणों के ओसमिश्रित पत्तों पर पड़ने से उन्हें अनार के दाने समझ कर अपनी चोंचे चञ्चल करने लगते हैं।

यहाँ साम्य पर आधारित तोतों के बच्चों के निश्चयात्मक भ्रम का वर्णन होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

१०. उल्लेख

ज्ञाता या विषय के भेद से एक वस्तु का अनेकधा वर्णन उल्लेख अलङ्कार कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—(क) प्रथम उल्लेख और (ख) द्वितीय उल्लेख।

(क) प्रथम उल्लेख

'एक वस्तु का निमित्तों के अधीन होकर अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का ज्ञान प्रथम उल्लेख कहलाता है।'[2] अर्थात् इसमें एक व्यक्ति या वस्तु का वर्णन अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से किया जाता है।

उदाहरणार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है—

नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसंघैरपि।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्गैरियं
तनोतु मम शं तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना॥[3]

---

१. सुधालहरी, श्लो. ५

२. एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद्यनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः। (रसगङ्गाधर, पृ. ६५३)

३. रसगङ्गाधर, उदा.श्लो. ५२; पं.का.सं., पृ. १९७

मनुष्यों द्वारा उत्तम गति देने वाली, देवताओं द्वारा अपनी नदी, सभी सिद्ध समूहों द्वारा बड़ी भारी सिद्धि देने वाली, और आसक्तिरहित मुनियों द्वारा भगवान् का स्वरूप समझकर आश्रय की हुई यह शान्तनु की पत्नी गङ्गा मेरे शरीर का कल्याण करें।

यहाँ लाभ की इच्छा व रुचि इन दो कारणों से मनुष्य, देवता, सिद्ध समूह व निरासक्त मुनि समूहरूपी अनेक ज्ञाताओं द्वारा गङ्गा को क्रमशः उत्तम गति देने वाली, सिद्धिदात्री व भगवत्स्वरूपा के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार एक गङ्गा का अनेकधा वर्णन होने से प्रथम उल्लेख है।

(ख) द्वितीय उल्लेख

'जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय, आश्रय अथवा साथ रहने वाले सम्बन्धियों में से किसी की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार हों, तो द्वितीय उल्लेख की स्थिति होती है।'[1] यथा निम्नोद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य है—

दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किं च मृद्वी
काव्यालापेषु तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना।
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि परविपद्दर्शने कान्दिशीका
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः॥[2]

हे राजन्! दीनों के समूह पर दया से आर्द्र, समस्त शत्रुसमुदाय पर निर्दय, काव्यों की कथा में कोमल, तर्कों के प्रत्युत्तर में कठोरता धारण करने वाली, धर्म में लाभयुक्त, धन में लोभरहित और अन्य की विपत्ति का दर्शन होने पर अतिभीरु अतएव अनेक प्रकार की सहज सुन्दर आपकी चित्तवृत्ति स्फुरित हो रही है।

यहाँ दीनों के समूह आदि विषय के अनेक होने से एक ही चित्तवृत्ति का अनेक प्रकार से वर्णन है, फलतः द्वितीय उल्लेख है।

११. अपह्नुति

उपमेय का निषेध कर उपमान के प्रस्थापन को 'अपह्नुति' अलङ्कार कहते हैं। यह सादृश्यमूलक अभेदप्रधान अलङ्कार है। रूपक से इसमें यह अन्तर है

१. यत्रासत्यपि ग्रहीतृनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्। (रसगङ्गाधर, पृ. ६६४)

२. प्राणा.जगदा., श्लो. २४

कि रूपक में जहाँ निषेधरहित आरोप होता है, वहाँ अपह्नुति में उपमेय में उपमान के निषेधसहित आरोप का वर्णन होता है। रूपक से इसकी इसी अतिव्याप्ति को बचाने के लिये पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इसका लक्षण इस प्रकार किया कि 'उपमेयतावच्छेदक के निषेध को साथ रखते हुए, आरोपित किया जाने वाला उपमान का ताद्रूप्य 'अपह्नुति' अलङ्कार कहलाता है।'[१]

पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

श्यामं सितं च सुदृशोर्न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः॥[२]

यह श्याम और श्वेत सुनयना के नयनों का स्वरूप नहीं है, किन्तु स्पष्ट है कि यह विष तथा अमृत है। कारण, यदि ऐसा न हो तो इन आँखों के दृष्टिपात से तत्काल युवकगण मोह और हर्ष को कैसे प्राप्त करते हैं?

यहाँ सुनयना के नेत्रों के श्याम व श्वेत स्वरूप का निषेध कर उन्हें विष और अमृत बताया गया है; अतः अपह्नुति है।

१२. उत्प्रेक्षा

उपमेय में उपमान की सम्भावना के वर्णन को उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहते हैं।[३] पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इस अलङ्कार की परिभाषा दी है कि 'जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ की वैसे भिन्न पदार्थ के रूप में की जाने वाली ऐसी सम्भावना जो उन दोनों पदार्थों में रहने वाले किसी मूल धर्म को मानकर की गई हो, उत्प्रेक्षा कहलाती है।'[४]

रसगङ्गाधर में इस अलङ्कार के भेदों-प्रभेदों का विशद विवेचन है, परन्तु विस्तारभय से यहाँ प्रभेद संगणना न कर पण्डितराज के काव्यों में आये उत्प्रेक्षा

---

१. उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६७७)

२. शृङ्गा.वि., श्लो. ७६

३. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। (काव्यप्रकाश, १०।सू. १३६)

४. तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६९६)

अलङ्कार के कुछ सुन्दर उदाहरणों को ही प्रस्तुत किया जाएगा। पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

कपोलपालिं तव तन्वि मन्ये
लावण्यधन्ये दिशमुत्तराख्याम्।
विभाति यस्यां ललितालकायां
मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः।।[1]

हे लावण्यधन्ये कृशाङ्गी! तुम्हारी कपोलपंक्ति को मैं उत्तर नाम की दिशा मानता हूँ, जिसमें सुन्दर अलकोंवाली (सुन्दर अलका नगरी वाली) कानों की (कुबेर की) रमणीय शोभा (सम्पत्ति) सुशोभित हो रही है।

यहाँ नायिका की कपोलभित्ति रूप उपमेय की उत्तरदिशा रूप उपमान के रूप में कल्पना की गई है। यहाँ उपमेय 'कपोलभित्ति' का धर्म है, 'सुन्दर अलकों वाली होना' तथा उपमान 'उत्तर दिशा' का धर्म है, 'सुन्दर अलका नगरी वाली होना' तथा उपमेय में 'कानों की शोभा' व उपमान में 'कुबेर की सम्पत्ति' है। इन दोनों धर्मों को श्लेष द्वारा सम्पृक्त कर दिया गया है, फलतः उत्प्रेक्षा है। इसी प्रकार एक अन्य सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव
द्वितीय इव चन्द्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव।
नराकृतिरिवाम्बुधिर्गुरुरिव क्षमामागतो
नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कामरूपेश्वरः।।[2]

मानों दो नेत्रों वाला इन्द्र हो, मानों दो कर वाला सूर्य हो, मानों द्वितीय चन्द्रमा हो, मानों देहधारी कामदेव हो, मानों मनुष्य के समान आकार वाला समुद्र हो, मानों पृथ्वी पर अवतीर्ण बृहस्पति हो, ऐसे सकल ब्राह्मणों से अभिनन्दित कामरूपेश्वर सर्वोत्कृष्ट हैं।

यहाँ एक कामरूपेश्वर रूप उपमेय में इन्द्रादि अनेक उपमानों की सम्भावना की गई है; अतः उत्प्रेक्षा है, और यहाँ अनेक पदार्थों की सम्भावना किए जाने के कारण मालोत्प्रेक्षा विद्यमान है।

---

१. शृङ्गा वि., श्लो. ९; २. प्राणा.जगदा., श्लो. २३

उत्प्रेक्षा का एक अन्य सुन्दर उदाहरण लक्ष्मीलहरी से द्रष्टव्य है, जहाँ भगवान् विष्णु द्वारा शङ्ख को हाथ में धारण किये जाने के विषय में बड़ी सुन्दर कल्पना वर्णित हुई है—

तपस्तेपे तीव्रं किमपि परितप्य प्रतिदिनं
तव ग्रीवालक्ष्मीलवपरिचयादाप्तविभवम्।
हरिः कम्बुं चुम्बत्यथ वहति पाणौ किमधिकं
वदामस्तत्रायं प्रणयवशतोऽस्यै स्पृहयति।।[१]

हे हरिप्रिये! तुम्हारे ग्रीवासौन्दर्य के लवमात्र के परिचय से वैभवप्राप्त शङ्ख को विष्णु अपने हाथ में धारण करते हैं, चुम्बन करते हैं व स्नेहवशीभूत हो इसकी याचना करते हैं। अतः ज्ञात होता है, मानों शङ्ख ने प्रतिदिन तप्त होकर तीव्र तपस्या की है।

यहाँ क्रिया तपस्या की है, की सम्भावना के साथ हेतु रूप में 'विष्णु द्वारा शङ्ख का हाथ में धारण किया जाना'—इत्यादि वर्णित है। फलतः हेतूत्प्रेक्षा है।

१३. अतिशयोक्ति

'विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) के निगरण को अतिशय कहते हैं। इस अतिशय की उक्ति का नाम है, 'अतिशयोक्ति।'[२]

अतिशयोक्ति का अर्थ है, अतिशय कथन या बढ़ा-चढ़ाकर कहना। इस अलङ्कार में उपमान उपमेय को छिपाकर उसके साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। अतः उपमेय का ज्ञान उपमान के द्वारा होता है। पण्डितराज के कुछ श्लोकों में अतिशयोक्ति अलङ्कार का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा रसगङ्गाधर का मङ्गलकामनात्मक प्रथम श्लोक ही इसका सुन्दर उदाहरण है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी।।[३]

१. लक्ष्मीलहरी, श्लो. २९

२. विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः। तस्योक्तिः।। रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. २

३. रसगङ्गाधर प्रथम पृष्ठ श्लो.१

जो स्मृतिमात्र का विषय होकर ही (न कि दृष्टि का विषय होकर) मनुष्यों के (न कि किसी एक मनुष्य के) तीव्र आतप को दया से हर लेती है, जो कभी भग्न न होने वाली शरीरप्रभा से युक्त (न कि क्षणस्थायी) विद्युन्माला से वेष्टित है और जो कलिन्दकन्या यमुना के तीर के सुरतरु को आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त घनघटा मेरी मति को चूमने वाली बने।

यहाँ सन्ताप, गोपिका व कृष्णमूर्ति रूप उपमेयों का क्रमश: आतप, विद्युत् व कादम्बिनी रूप उपमानों के द्वारा निगरण होने के कारण व्यतिरेक मिश्रित अतिशयोक्ति अलङ्कार है। यह अतिशयोक्ति का प्रथम प्रभेद है, जहाँ उपमेय कृष्ण व उपमान मेघमाला का अभेद वर्णन किया गया है।

अतिशयोक्ति के अन्य प्रभेद

अतिशयोक्ति के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त रसगङ्गाधर में इसके चार अन्य प्रभेदों का भी विवेचन किया गया है। ये इस प्रकार हैं—

१. जहाँ अलौकिकता का प्रतिपादन करने के लिये अभेद होने पर भी भेद वर्णन किया जाय, वहाँ अतिशयोक्ति का दूसरा भेद होता है।
२. जहाँ वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष के लिये अयोग्य में योग्यता या सम्बन्ध न रहने पर सम्बन्ध दिखलाया जाय तो वहाँ अतिशयोक्ति का दूसरा भेद होता है।
३. जहाँ सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध का वर्णन होता है, वहाँ अतिशयोक्ति का तीसरा प्रकार होता है।
४. जहाँ अतिशयिता वर्णित करने के लिये कार्यकारण की पूर्वापरता की विपरीतता का वर्णन हो, वहाँ अतिशयोक्ति का चौथा प्रकार होता है।

ये सभी प्रभेद रसगङ्गाधर में उदाहृत है। विस्तारभय के कारण यहाँ पृथक् प्रभेद विभाजन नहीं किया गया है।

१४. तुल्ययोगिता

'प्रस्तुत अनेक पदार्थों अथवा अप्रस्तुत अनेक पदार्थों का गुण-क्रियादिरूपी एक धर्म के साथ जो सम्बन्ध वर्णित होता है, उसे तुल्ययोगिता कहते हैं।'[१]

---

१. प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. ३९)

निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रिये विषादं जहिहीति वाचं प्रिये सरागं वदति प्रियायाः।
वारामुदारा विजगाल धारा विलोचनाभ्यां मनसश्च मानः॥[१]

कवि की उक्ति है कि—'प्रिये विषाद छोड़ो', पति के इस प्रकार स्नेहपूर्वक कहने पर प्रियतमा की आँखों से आँसू की विपुल धारा व मन से मान दोनों निकल भागे।

इस पद्य में मानिनी नायिका वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत है और मानिनी से सम्बन्ध रखने के कारण अश्रु तथा मान व मन तथा नेत्र के समान धर्म के रूप में विगलन क्रिया कही गई है। इस प्रकार अनेक प्रस्तुत पदार्थों का एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता है।

१५. दीपक अलङ्कार

'प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों का एक साधारण धर्म में अन्वय 'दीपक' अलङ्कार कहलाता है।'[२] इस अलङ्कार को दीपक इसलिये कहा जाता है कि इसमें प्रकृत (धर्मी) के लिये ग्रहण किया हुआ धर्म प्रसंगवशात् अप्रकृत को भी दीपित अर्थात् प्रकाशित करता है। अर्थात् दीपक जिस तरह प्रकाशनार्थ अभीष्ट वस्तु के साथ अनभीष्ट सन्निहित वस्तु को भी प्रकाशित करता है, उसी तरह यहाँ का धर्म प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत को भी प्रकाशित करता है।[३] पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकान्ते।
सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा॥[४]

मरे हुए की लाभेच्छा, कृपण की दानेच्छा, परपुरुषगामिनी नारी की अपने पति में प्रीति, सर्प की शान्ति और कपटी पुरुष की मित्रता विधाता की सृष्टि में कभी नहीं देखी जातीं।

यहाँ शीलहीना नायिका की स्वकान्तगत प्रीति रूप प्रस्तुत वस्तु का तथा मृत व्यक्ति की लिप्सा आदि अप्रस्तुत वस्तुवों का, पूर्वकालिक दर्शनाभाव रूप एक साधारण धर्म के साथ अन्वय होने से दीपक अलङ्कार है।

---

१. शृङ्गा वि., श्लो. १५१; २. प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्॥
३. प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम्। (रसगंगा. द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. ५९)
४. प्रास्ता.वि., श्लो. ११९

पण्डितराज के मत में दीपक व तुल्ययोगिता का भेद

पण्डितराज के अनुसार दीपक से तुल्ययोगिता का भेद वस्तुत: उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि एक ही साधारण धर्म के एक बार ग्रहण करने से होने वाला चमत्कार इन दोनों अलङ्कारों में समान रूप से विद्यमान रहता है, जब कि चमत्कारों की पृथक्-पृथक् विलक्षणता ही नये अलङ्कारों के नामकरण का हेतु होती है। वे इस भेद से भी सहमत नहीं हैं कि तुल्ययोगिता में केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत धर्मियों का ग्रहण होता है व दीपक में प्रकृत-अप्रकृत दोनों का। उनका कहना है कि तब ऐसा मानने पर धर्मियों के केवल प्रकृत या केवल अप्रकृतरूप होने के कारण तुल्ययोगिता के दो भेद होने लगेंगे। उनका यह भी तर्क है कि जब प्रकृताप्रकृतता के लिये पृथक् अलङ्कार 'दीपक' माना जाता है, तब केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत धर्मियों के लिये दो अलग-अलग अलङ्कार क्यों नहीं माने जाते? यदि ऐसा मान लिया जाय, तो श्लेष के भी सभङ्ग व अभङ्ग रूप से दो अलङ्कार होने लगेंगे। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के भी अनेक भेद होने लगेंगे।

फलत: उनके अनुसार एक ही अलङ्कार तुल्ययोगिता के तीन भेद होना उचित है—१. प्रकृतों के ही धर्म का एक बार ग्रहण करने वाली, २. अप्रकृतों के ही धर्म का एक बार ग्रहण करने वाली और ३. प्रकृत और अप्रकृत दोनों के ही धर्म का एक बार ग्रहण करने वाली।[1]

१६. प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा का अर्थ है प्रति+वस्तु+उपमा, अर्थात् प्रत्येक वस्तु या वाक्य में उपमा। इसमें दो वाक्यार्थों की स्थिति मान्य रहती है—१. उपमेय वाक्य और २. उपमान वाक्य। इन दोनों वाक्यों में एक ही साधारण धर्म होता है, जिसका कथन पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा किया जाता है। इसको वस्तु-प्रतिवस्तु भाव कहते हैं। अत: जहाँ उपमेय वाक्य एवं उपमान वाक्यों में एक ही साधारण धर्म दो भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाय व इन दोनों वाक्यों का सादृश्य वाच्य न रहकर व्यङ्ग्य रहता है, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है। पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इस अलङ्कार की परिभाषा इस प्रकार की है कि 'वस्तुप्रतिवस्तु भाव से युक्त साधारण धर्म वाले दो वाक्यार्थों में अर्थत: (न कि शब्दत:) प्रतीत होने वाले औपम्य अर्थात् सादृश्य को प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार कहा जाता है।'[2]

१. रसगङ्गाधर,द्वि.आ., पृ. ७१-७३

२. वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. ८६)

पण्डितराज के कई श्लोकों में इस अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥[१]

सहृदयों में मूर्धन्य पण्डित ग्रन्थ रच-रच कर साहित्य पदार्थों का विवेचन करते रहें, परन्तु उनके विवेचन से रसगङ्गाधर के निर्माण में होने वाला मेरा श्रम किसी तरह निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है। बड़े-बड़े मत्स्य समुद्र को क्षुब्ध करते हैं, सो करें, परन्तु इससे क्या मन्दराचल का प्रयास व्यर्थ होता है?

यहाँ जैसे मत्स्यों के आलोडन से रत्नोद्धरण रूप प्रयोजन की सिद्धि न हो पाने से रत्नों को निकालने वाले मन्दराचल का मथनक्लेश विफल नहीं होता, उसी तरह अन्य विद्वानों के विवेचनों से साहित्यसिद्धान्तनिर्णय रूप प्रयोजन की सिद्धि न हो पाने के कारण, निर्णायक इस ग्रन्थ के निर्माण में मेरा श्रम किसी भी तरह व्यर्थ नहीं है, ऐसा सादृश्य इन दोनों वाक्यार्थों में गम्यमान है तथा 'किं भवति' व 'न भविता' इन दोनों से एक ही सत्ता का अभाव रूपी धर्म दो वाक्यों में निर्दिष्ट है, अतः प्रतिवस्तूपमा है।

१७. दृष्टान्त

दृष्टान्त का अर्थ है, उदाहरण। इसमें पहले किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिये दूसरी बात कही जाती है। फलतः एक ही तथ्य की अभिव्यक्ति दो वाक्यों में दो रूपों में होती है। प्रथम वाक्य की छाया दूसरे वाक्य में दिखाई देती है। अतः इनमें परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है।

पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है कि 'दो वाक्यों के अवयवभूत सभी पदार्थों अर्थात् उपमेय, उपमान, साधारण धर्म आदि यदि बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव युक्त हों, तो वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार कहलाता है।[२] उनके कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. रसगङ्गाधर, उप.प. ५; पं.का.सं., पृ. ८९

२. प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः। (रसगङ्गाधर द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. ११३)

सत्पुरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि॥[1]

श्रेष्ठ व्यक्ति बिना कहे ही भले आचारों से समस्त संसार को अति आनन्दित करता है। बताओ? किसके द्वारा आराधित होकर चन्द्रमा अपनी उदार किरणों से कुमुदिनियों को खिला देता है।

यहाँ प्रथम उपमेय वाक्य एवं द्वितीय उपमान वाक्य में एक ही भाव की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें सत्पुरुष व इन्दु, हिताचरण व किरणदान, अनुक्त एवं कथय केन आराधितः, कैरवकुल व अखिललोक, आनन्दयति व विकासयति में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। इसके अतिरिक्त इसमें सादृश्य वाच्य न होकर आर्थ है। फलतः दृष्टान्त अलङ्कार की पूर्ण संगति है।

१८. निदर्शना

दो पदार्थों का सम्भव अथवा असम्भव सम्बन्ध उनमें सादृश्य की कल्पना कराये, तो निदर्शना अलङ्कार होता है।

निदर्शना का अर्थ है, दृष्टान्त या उदाहरण। इस अलङ्कार में दो भिन्न या असङ्गत वाक्यों में उदाहरण या दृष्टान्त देकर सङ्गति स्थापित की जाती है। पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इसका लक्षण करते हुए कहा है कि 'वर्णित दो अर्थों (पदार्थों अथवा वाक्यार्थों) की अर्थतः ज्ञात होने वाली वह अभिन्नता, जिसका पर्यवसान सादृश्य में हो, तो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[2]

पण्डितराज ने कई सुन्दर उदाहरण पद्यों की रचना कर रसगङ्गाधर में इस अलङ्कार का स्वरूप निरूपण सम्यक्रूपेण किया है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक शोधयन्तः।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्तं
चिन्तामणिं क्षितिरजः सुगवेषयन्ति॥[3]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ७३
२. उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. १२३)
३. रसगङ्गाधर, उदा.श्लो. १०२; पं.का.सं., पृ. ९७

भगवान् शङ्कर के प्रति भक्त की उक्ति है—हे मदनान्तक शिव! तुम तो वस्तुत: अनन्त होकर सदा प्राणियों की अन्तरात्मा में सुशोभित होते रहते हो। फिर जो अज्ञजन तुम्हें तीर्थस्थानों में खोजते फिरते हैं, वे सचमुच कण्ठ में चमकते हुए चिन्तामणि को भूलकर उसे पृथ्वी की धूलियों में ढूँढ़ते हैं। हन्त! यह खेद का विषय है।

इस श्लोक में दो वाक्यार्थ उपात्त हैं। एक 'हृदयस्थ शिव का हृदय से भिन्न तीर्थस्थलों में अज्ञजन द्वारा शोधन' और दूसरा 'कण्ठस्थित चिन्तामणि का धूलियों में तादृश जन द्वारा अन्वेषण।' इन दोनों वाक्यों में अत्यधिक समता है। अत: इन दोनों वाक्यार्थों का अर्थत: अभेद ज्ञात होता है। अर्थात् शिव का तीर्थादिक में अन्वेषण करना कण्ठस्थित चिन्तामणि का धूलि में अन्वेषण करने के समान है। फलत: निदर्शना अलङ्कार है।

१९. व्यतिरेक

'किसी विशेष गुण से युक्त होने के कारण उपमान से उपमेय का उत्कर्ष व्यतिरेक कहलाता है।'[१]

व्यतिरेक का अर्थ है, 'वि' विशेष प्रकार का आधिक्य (अतिरेक)। इसमें गुणविशेष के कारण उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है। पण्डितराज के रचनाश्लोकों में इस अलङ्कार का अनेकत्र सुन्दर प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

हरद् गर्वं सर्वं करिपतिकराणां मृदुतया
भृशं भाभिर्दम्भं कनकमयरम्भावनिरुहाम्।
लसज्जानुज्योत्स्नातरणिपरिणद्धं जलधिजे
तवोरुद्वन्द्वं नः श्लथयतु भवोरुज्वरभयम्।।[२]

कोमल होने के कारण गजपति ऐरावत के शुण्डादण्ड के सम्पूर्ण गर्व को हरते हुए, अत्यधिक शोभा से स्वर्णकदली वृक्ष के सम्पूर्ण दम्भ को हरते हुए, सुशोभित जानु की ज्योत्स्ना से परिणद्ध, हे समुद्रकन्ये! तुम्हारे उरुयुगल हमारे संसार के ज्वरभय को शिथिल करें।

यहाँ कोमलता व अत्यधिक शोभा इन दो गुणों के कारण उपमेय उरु-युगल का उपमान ऐरावत की सूड़ तथा स्वर्णकदली वृक्ष से आधिक्य वर्णित किया गया हैं। फलत: व्यतिरेक अलङ्कार है।

---

१. उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेक:।। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. १५०)
२. लक्ष्मीलहरी, श्लोक १५।

२०. सहोक्ति

'जिनमें से एक गौण हो और एक प्रधान, ऐसे दो अर्थों का 'सह' शब्द के अर्थ के साथ सम्बन्ध 'सहोक्ति' है।'[१]

इस अलङ्कार में सह, समं, साकं, सार्धं आदि शब्दों का प्रयोग कर एक पदार्थ का प्रधानता के साथ एवं अन्य का गौणभाव से एक ही क्रिया के साथ अन्वय होता है। इसमें सहयुक्तता के सम्बन्ध का चमत्कारपूर्ण वर्णन होना चाहिए। सहोक्ति की यह सुन्दरता 'कार्यकारण की पूर्वापरता की विपरीतता रूप, श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान रूप, केवल अभेदाध्यवसान रूप इन तीन रूपों में अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होने पर होती है। इस तरह इस अलङ्कार के मूल में अतिशयोक्ति सदैव विद्यमान रहती है। पण्डितराज ने कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग किया है। निदर्शनार्थ निम्नोद्धृत उदाहरण द्रष्टव्य है—

केशैर्वधूनामथ सर्वकोषैः प्राणैश्च साकं प्रतिभूपतीनाम्।
त्वया रणे निष्करुणेन गाढं चापस्य जीवा चकृषे जवेन।।[२]

हे राजन्! युद्ध में निर्दय तुमने विपक्षी राजाओं की स्त्रियों के केश, सब खजाने और प्राणों के साथ धनुष की प्रत्यञ्चा वेग से खींच ली।

यहाँ केश खींचना आदि व धनुष का खींचना दोनों साथ वर्णित हैं, जबकि वे कार्यकारण रूप होने के कारण क्रमशः पश्चाद् पूर्वभावी हैं। अर्थात् धनुष खींचना कारण होने के कारण पहले होने वाला व केशादि खींचना कार्य होने के कारण तदनन्तर होने वाले हैं; परन्तु यहाँ उनका क्रम उल्टा कर कार्यकारण का साथ होना वर्णित है, जो अतिशयोक्ति का एक प्रकार है। साथ ही प्रधान धनुष का गौण केशादि के साथ सहसम्बन्ध है, फलतः सहोक्ति है।

सहोक्ति की अलङ्काररूपता के सम्बन्ध में पण्डितराज का मत

रसगङ्गाधर में सहोक्ति अलङ्कार के अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता व दीपक से सम्बन्ध को लेकर विस्तृत विवेचन किया गया है। केवल प्राचीन विद्वानों के मत का समादर करते हुए पण्डितराज ने 'सहोक्ति' को पृथक् अलङ्कार माना है, अन्यथा वे इसके 'कार्य-कारण की पूर्वापरता की विपरीतता' रूपी प्रथम भेद को अतिशयोक्ति तथा शुद्ध व श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान रूपी दोनों शेष भेदों को तुल्ययोगिता व दीपक में समाहित कर देने के पक्ष में हैं।[३]

---

१. गौणप्रधानभावावच्छिन्नसहार्थसम्बन्धः सहोक्तिः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. १८९)
२. प्राणा.जगदा., श्लो. ३०; ३. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. २०२-६।

२१. विनोक्ति

'विना शब्द के अर्थ के सम्बन्ध को ही 'विनोक्ति' अलंकार कहते हैं।'[१]

इस सम्बन्ध में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि वही विनार्थ सम्बन्ध विनोक्ति अलङ्कार रूप माना जाता है, जो सुन्दर हो तथा विच्छित्ति विशेषोत्पादक हो। लौकिक विनार्थ सम्बन्धस्थल में यह अलङ्कार नहीं होता है।

यह सुन्दरता यहाँ जिस वस्तु के साथ विना शब्द का अर्थ अन्वित हो, उसकी रमणीयता तथा अरमणीयता से होती है। अर्थात् एक वस्तु का अन्य वस्तु के बिना रमणीय अथवा अरमणीय होना विनोक्ति है। पण्डितराज ने इस अलंकार के स्वरूप के निदर्शनार्थ इस वाणीविकल्प का प्रयोग कर कई सुन्दर श्लोकों की रचना की है। यथा एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना॥[२]

बिना कीचड़ के सरोवर, बिना खलजनों के सभा, बिना कर्णकटु अक्षरों के काव्य और बिना सांसारिक विषय वासनाओं के मन सुशोभित होता है।

यहाँ तालाब, सभा, काव्य व मन का क्रमशः कीचड़, दुष्ट, कटुअक्षर व विषय-वासना से रहित होने पर शोभित होना बताया गया है; फलतः रमणीयता होने पर विनोक्ति की स्थिति है।

इसी प्रकार अरमणीयत्वपर्यवसायिनी विनोक्ति का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

वदनं विना सुकवितां सदनं साध्वीं विना वनिताम्।
राज्यं च विना धनितां न नितान्तं भवति कमनीयम्॥[३]

मुख उत्तम कविता के बिना, गृह पतिव्रता पत्नी के बिना, राज्य धन के बिना नितान्त सुन्दर नहीं होता।

यहाँ मुख, घर, राज्य का, काव्य, स्त्री व धनधान्य के बिना शोभित न होना बतलाया गया है, फलतः अरमणीयता होने पर होने वाली विनोक्ति है।

---

१. विनार्थसम्बन्ध एव विनोक्तिः॥ (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. २१३)

२. प्रास्ता.वि., श्लो. ११०

३. रसगङ्गाधर, उदा.श्लो. १७४; पं.का.सं., पृ. १०३

२२. समासोक्ति

समासोक्ति का अर्थ है—'संक्षेपेण उक्तिः' अर्थात् संक्षिप्त उक्ति। इसमें विशेषणों की समानता द्वारा प्रस्तुत वस्तु के वर्णन से अप्रस्तुत धर्मों के व्यवहार की व्यञ्जना में संक्षिप्त कथन वर्णित होता है। अर्थात् एक के वर्णन से दो का ज्ञान होता है। यही संक्षिप्त उक्ति अर्थात् समासोक्ति है। पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इसका लक्षण इस प्रकार किया है कि 'जहाँ प्रस्तुत धर्मी से सम्बन्ध रखने वाला व्यवहार केवल साधारण (उभयान्वयी) विशेषणों के द्वारा, न कि विशेष्य के द्वारा भी, उपस्थित कराये गये अप्रस्तुत धर्मी से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहार से अभिन्न रूप में प्रतीत होता है, वहाँ उस (वर्णनीय वस्तु सम्बद्ध) व्यवहार को समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं।'[१] अर्थात् विशेषण साम्य के द्वारा प्रस्तुत वस्तु के वर्णन से अप्रस्तुत धर्मी के व्यवहार की व्यञ्जना में 'समासोक्ति' अलङ्कार होता है।

समासोक्ति में विशेषण या तो श्लिष्ट होते हैं या साधारण और विशेष्य सदा अश्लिष्ट होता है। यही इसका श्लेष से भेद है। श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट रहते हैं। श्लेष में दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं; पर समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ वाच्य व अप्रस्तुत व्यङ्ग्य रहता है।

समासोक्ति के भेद

समासोक्ति में विशेषणों की समानता दो प्रकार से होती है—१. श्लेष से और २. शुद्ध साधारणता से। इस प्रकार समासोक्ति के दो भेद होते हैं—१. श्लिष्ट विशेषणा समासोक्ति और २. सामान्य विशेषणा समासोक्ति। इन दोनों रूपों में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति दो प्रकार से होती है—१. कहीं किसी धर्म को आगे रखकर और २. कहीं कार्य को आगे रखकर। इस प्रकार समासोक्ति के चार भेद होते हैं। यह चार प्रकार की समासोक्ति पुनः चार प्रकार की होती है—१. लौकिक व्यवहार में लौकिक व्यवहार का आरोप, २. शास्त्रीय व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप, ३. लौकिक व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार का आरोप और ४. शास्त्रीय व्यवहार में लौकिक व्यवहार का आरोप।

रसगङ्गाधर में इन सभी भेदों-प्रभेदों का विशद विवेचन है। अतः यहाँ केवल समासोक्ति के कुछ सुन्दर उदाहरण ही प्रस्तुत किये जायेंगें। निदर्शनार्थ श्लोक द्रष्टव्य है—

१. यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिता प्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते, सा समासोक्तिः। रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. २२२

उत्क्षिप्ताः कबरीभरं विवलिताः पार्श्वद्वयं न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुगं रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम्।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवां
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः॥[1]

हे राजन्! कौन ऐसे वृक्ष हैं, जो कण्टकचित (कँटीले+पुलकित) होकर सघन वन में वेग से भागती हुई आपके शत्रुभूत राजाओं की रमणियों के, ऊँचे उठाने पर केशपाश को, टेढ़े करने पर दोनों पार्श्वों को, नीचे झुकाने पर दोनों चरणकमलों को और रोष से दूर हटाने पर वस्त्र के छोर को न पकड़ लेते हों।

यहाँ वृक्ष रूप प्रस्तुत आश्रय से सम्बद्ध व्यवहार 'कण्टकचित, कबरीग्रहण' आदि विशेषणों की समता से परस्त्री लम्पट पुरुषरूप अप्रस्तुत आश्रय से सम्बद्ध व्यवहार से अभिन्न होकर प्रतीत होता है। यहाँ विशेषण श्लिष्ट नहीं हैं, फलतः यह अश्लिष्ट समानविशेषणा समासोक्ति है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

देव त्वां परितः स्तुवन्तु कवयो लोभेन किं तावता
स्तुत्यस्त्वं भवितासि यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना।
क्रोडान्तः कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः समालिंङ्गति
द्यां चुम्बत्यमरावतीं च सहसा गच्छत्यगम्यामपि॥[2]

राजा के प्रति कवि की उक्ति है कि हे देव, कविलोग सब तरह से लोभवश तुम्हारी स्तुति भले ही करें—पर इससे क्या तुम स्तुतियोग्य हो जाओगे, जिसके धनुष का तरुण प्रताप वसुमती (पृथ्वी) को छाती से लगाता है, दिशाओं का आलिङ्गन करता है, द्यौ (स्वर्ग) का चुम्बन लेता है और अगम्य (अप्राप्य+गमन के अयोग्य) भी अमरावती (इन्द्रपुरी) का गमन करता है।

यहाँ प्रस्तुत राज-प्रताप वृत्तान्त, वसुमती—आलिङ्गन आदि समान लिङ्ग व कार्यबोधक विशेषणों के द्वारा परस्त्री-कामुक रूप अप्रस्तुत वृत्तान्त से अभिन्न होकर प्रतीत होता है। यहाँ वसुमती, आशा, द्याम् व अमरावती इत्यादि स्त्रीलिङ्ग हैं, जिनसे अन्य नायिका की प्रतीति होती है, और राजप्रताप पुलिङ्ग है, जिससे अप्रस्तुत अन्य कामुक की प्रतीति होती है। इनके आलिङ्गन, चुम्बनादि कार्य

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो. १३; २. प्राणा.जगदा., श्लो. ८

भी नायक-नायिका पर घटित होते हैं। फलतः यह लिङ्गसाम्य व कार्यसाम्य समासोक्ति का उदाहरण है।

२३. परिकर

'विशेषणों की साभिप्रायता को परिकर अलङ्कार कहते हैं।'[१]

'परिकर' शब्द का अर्थ है, उत्कर्षक या शोभाकारक पदार्थ। इसमें साभिप्राय विशेषण चमत्कारी व्यङ्ग्य के सन्निवेश के कारण शोभाकारक होकर विशेष्य का उपस्कारक होता हैं। साभिप्रायता का अर्थ ही है, विशेषणों में ऐसा चमत्कारी व्यङ्ग्य, जो प्रकृत अर्थ का उपपादन करे, अर्थात् वर्णनीय वस्तु को सङ्गत बनाये या उसे पुष्ट करे।[२] पण्डितराज के रचना-श्लोकों में इस अलङ्कार का अनेकत्र सुन्दर प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है—

अये जलधिनन्दिनीनयननीरजालम्बन-
ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्वरभरत्वराभङ्गुरम्।
प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वंकषै-
र्जगत्त्रितयरोचनैः शिशिरयाशु मां लोचनैः॥[३]

ऐ समुद्रसुता लक्ष्मी के नयन कमलों के आलम्बन कृष्ण! प्रातःकालीन कमलों की बढ़ती हुई गुरुता के घमण्ड का सर्वस्व छीन लेने वाले, त्रिभुवन को आनन्दित करने वाले नेत्रों के द्वारा जलती हुई अग्नि को भी जीत लेने वाले सन्ताप-समूह के वेग से विनष्ट होते हुए मुझको शीघ्र शीतलता प्रदान करो।

प्रस्तुत पद्य में कवि सन्तप्त है और भगवान् से स्वयं को शीतलता प्रदान करने की याचना कर रहा है। फलतः यहाँ भगवान् विष्णु के वाचक विशेषण रूप में उसने जिन पदों का प्रयोग किया है, वे शीतलता प्रदान करने की अतुल शक्ति रखते हैं। जल का जो आगार है, वह है जलधि। जल का गुण है, शीतलता। उस जलधि की नन्दिनी (कन्या) जल से उत्पन्न होने के कारण और भी शीतल होगी और उसके नेत्र कमल और भी शीतल होंगें। नेत्रकमलों का भी जो आश्रय होगा, वह तो अत्यधिक शीतल होगा। ऐसे शीतलता के आगार ही कवि के सन्तापातिशय को मिटाने में समर्थ हैं। 'प्रातःकालीन कमलों के बढ़ते हुए गर्व का सब कुछ छीन लेने वाले', इस विशेषण से भगवान् के

१. विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. २८०)
२. तच्च प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिव्यङ्ग्यकत्वम्। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., द्वि.भा., पृ. २८०)
३. शान्त वि., श्लो. २।

लोचनों का शैत्यातिशय ध्वनित होता है। 'तीनों लोकों को मनोहर लगने वाले', इस विशेषण से नेत्रों का सर्वजनप्रिय होना ज्ञात होता है। यहाँ नेत्रों के सभी विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त हैं, फलतः परिकर अलङ्कार है।

परिकर की अलङ्काररूपता

रसगङ्गाधर में परिकर की अलङ्काररूपता को लेकर पर्याप्त चर्चा की गई है। प्रयोजनरहित विशेषण के ग्रहण करने में अयुष्टार्थ दोष माना जाता है। अतः प्रयोजनसहित विशेषण होना केवल दोष का अभाव है। फलतः दोषाभाव रूप में प्राप्त परिकर को पृथक् अलङ्कार क्यों माना जाता है? पूर्वपक्षियों के इस प्रश्न का समाधान उन्होंने इस प्रकार किया है कि—'सुन्दर होकर उपस्कारक होना', अलङ्कार का लक्षण है और 'चमत्कार के अपकर्ष का अभाव' दोषाभाव का लक्षण है। ये दोनों धर्म 'परिकर' के लक्षण में समाविष्ट हो जाते हैं। फलतः यह अलङ्कार रूप भी है और दोषाभाव रूप भी। किन्तु, सभी दोषाभाव अलङ्कार नहीं होते, अतः उनसे विलक्षणता बताने के लिये इसका अलङ्कारों में गिनना उचित है। जैसे—समासोक्ति गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदरूप से संगृहीत होने पर भी पुनः अलङ्कारों में गिनी जाती है, वैसे ही यहाँ इसे भी अलङ्कार गिनने में दोष नहीं। अन्यथा प्राचीनों का 'काव्यलिङ्ग' भी अलङ्कार नहीं होगा; क्योंकि वह भी निर्हेतुत्वरूप दोष का अभाव है।[१] फलतः 'परिकर' को पृथक् अलङ्कार मानने में कोई दोष नहीं है।

२४. अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की प्रतीति होने को अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहते हैं। इसमें 'प्रशंसा' शब्द स्तुतिवाचक न होकर कथन या वर्णन का बोधक है।[२] फलतः इसमें अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन कर प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार की प्रतीति कराई जाती है।

यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' पाँच प्रकार की होती है—

१. अप्रस्तुत के द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो।

२. कार्य से कारण की अभिव्यक्ति हो।

३. कारण से कार्य की अभिव्यक्ति हो।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. २८९-९१

२. प्रशंसनं तु वर्णनमात्रम्, न तु स्तुतिः। (तत्रैव, पृ. ३२८)

४. सामान्य से विशेष की अभिव्यक्ति हो।

५. विशेष सें सामान्य की अभिव्यक्ति हो।

'इन सादृश्यादि प्रकारों में से किसी एक प्रकार से (वाच्य) अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा (व्यङ्ग्य) प्रस्तुत व्यवहार की जब प्रशंसा (वर्णन) की जाय, तो उस तरह की यह प्रशंसा ही 'अप्रस्तुतप्रशंसा' कहलाती है।'[१]

यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार पण्डितराज का सर्वाधिक प्रिय अलङ्कार है। उनके रचना श्लोकों की एक बड़ी संख्या इस अलङ्कार के सादृश्यनिबन्धना, विशेषनिबन्धना व सामान्यनिबन्धना भेदों के अन्तर्गत आती है। इसे ही आधुनिक सन्दर्भ में अन्योक्ति नाम से कहा जाता है। उनकी रचनाओं में इस शैली में विरचित श्लोकों के आधिक्य को ही देखकर इनकी गणना संस्कृत नीति के अन्योक्ति सम्राट् के रूप में होती है। इस अलङ्कार के प्रयोग में उनके वैशिष्ट्य के निदर्शनार्थ कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं—

१. सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा

जब अप्रस्तुत समान से प्रस्तुत समान की प्रतीति हो, तब सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। यथा निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रान्तनयना
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः।
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो
हरेरद्य द्वारे शिव-शिव शिवानां कलकलः॥[२]

जहाँ पर झरते हुए मदजल के उद्रेक के कारण मँडराते हुए भ्रमर समुदाय वाले हाथी अत्यन्त भय के कारण भ्रान्त आँखों वाले होकर (कभी) ठहर नहीं पाते थे, शिव! शिव! आज परलोक सिधार गये हुए सिंह के लुढ़कती हुई गजमुक्ताओं के समूह वाले (उसी) दरवाजे पर सियारों का कोलाहल हो रहा है।

यहाँ अप्रस्तुत रूप से कवि ने सिंह और सियारों का वृत्तान्त वर्णित किया है, जिसके द्वारा प्रस्तुत किसी महामहिमाशाली व्यक्ति एवं उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके स्थान को कलंकित करने वाले दुकौड़िया लोगों की प्रतीति होती है; अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है।

---

१. अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते, साप्रस्तुतप्रशंसा। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ३२७)

२. प्रास्ता.वि., श्लो. ३०।

२. कार्यनिबन्धना

जब अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति हो, तो कार्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन् धराखण्डल
क्रीडाकुण्डलितभ्रुशोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः॥[१]

हे राजन्! हम आपकी उस वीरता का क्या वर्णन करें, जिसके कारण लीला से भौंहों के कुण्डलित (गोल) और आँखे लाल करके भुजमण्डल के देखने मात्र से विन्ध्य तथा गन्धमादन की गुफाओं के वृक्ष, अनेक प्रकार के भूषणों तथा रत्नों के समूह से तत्काल ही व्याप्त हो उठते हैं।

इस पद्य में विन्ध्याटवी के वृक्षों के भूषित होने रूपी कार्य से शत्रु समूहों का पलायन रूप कारण प्रतीत होता है, फलत: कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा है।

३. कारणनिबन्धना

जब अप्रस्तुत कारण के वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति हो, तो कारणनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

आनम्य वल्गुवचनैर्विनिवारितेऽपि
रोषात्प्रयातुमुदिते मयि दूरदेशम्।
बाला कराङ्गुलिनिदेशवशंवदेन
क्रीडाबिडालशिशुनाशु रुरोध मार्गम्॥[२]

किसी मित्र के द्वारा यह पूछे जाने पर कि आप तो जा रहे थे, रुक कैसे गये? नायक ने कहा कि—'नम्र होकर मधुर वचनों द्वारा रोके जाने पर भी प्रियतमा ने शीघ्र ही हाथ के इशारे पर चलने वाले पालतू बिल्ली के बच्चे द्वारा रास्ता रुकवा दिया। यहाँ मार्गरोध के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कार्यभूत 'नायक की प्रवासगमन से निवृत्ति' प्रतीत होती है, अत: कारणनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो. ४।

२. शृङ्गा.वि., श्लो. १५७

४. सामान्यनिबन्धना

जब अप्रस्तुत सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत विशेष का ज्ञान हो, तब सामान्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कम्।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति।।[२]

संसार में सर्प का सहोदर खल व्यक्ति, किये हुए महान् उपकार को भी दूध की तरह निश्शङ्कतापूर्वक पीकर उल्टा मारने को तैयार होता है।

यहाँ अप्रस्तुत सामान्य अर्थ (खल मात्र के व्यवहार) से प्रस्तुत विशेष अर्थ (किसी खलविशेष का कार्य) अवगत होता है, फलतः सामान्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

५. विशेषनिबन्धना

जब अप्रस्तुत विशेष के वर्णन से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति हो, तब विशेषनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। पण्डितराज ने अप्रस्तुतप्रशंसा के इस भेद का भी कई श्लोकों में सुन्दर निबन्धन किया है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

इयत्यां संपत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना
न तृष्णामार्तानां हरसि यदि कासार सहसा।
निदाघे चण्डांशौ किरति परितोऽङ्गारनिकरान्
कृशीभूतः केषामहह परिहर्तासि खलु ताम्।।[१]

ऐ सरोवर! अगर तुम इस समय जल की इतनी अगाध समृद्धि के विद्यमान रहने पर भी प्यासों की प्यास सहसा नहीं हर लेते, तो भला ग्रीष्मकाल में प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के चारों ओर से अँगारे बिखेरते रहने पर, अत्यन्त कृश होकर, हाय, किसकी प्यास का परिहार करोगे।

यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से सरोवर विशेष के दृष्टान्त को अभिव्यक्त किया है। उस वृत्तान्त से इस सामान्य तथ्य की प्रतीति होती है कि 'धनिकों के पास जब तक धन है, उन्हें खूब दान-पुण्य कर लेना चाहिए, अन्यथा लक्ष्मी तो चञ्चला है। यदि चली गई तो दानेच्छा रहते हुए 'का वर्षा जब कृषी सुखानी'

---

१. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. ६०; पं.का.सं., पृ. ९४; २. प्रास्ता.वि., श्लो ४१।

की स्थिति होगी'। फलतः अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होने से विशेषनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

२५. पर्यायोक्ति

'विवक्षित अर्थ का (सीधे-सीधे न कहकर) किसी दूसरे ढंग से कथन पर्यायोक्त अलङ्कार कहलाता है।'[१]

पर्यायोक्ति का अर्थ ही है, प्रकारान्तर से कथन। इसमें कवि या वक्ता अपने अभीष्ट अर्थ को सीधे ढंग से न कहकर घुमा-फिरा कर दूसरे ढंग से कहता है, जिससे उसमें चमत्काराधिक्य उत्पन्न हो जाय। इसमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों प्रस्तुत होते हैं और वाच्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार होता है।

पर्यायोक्ति के भेद

रसगङ्गाधर में पर्यायोक्ति के मुख्य तीन भेदों का विवेचन किया गया है। ये हैं १. कारण के वाच्य होने पर और कार्य के गम्य होने पर, २. कहीं कार्य के वाच्य होने पर और कारण के गम्य होने पर और ३. कहीं कार्य-कारण भाव से रहित एक सम्बन्धी द्वारा अन्य सम्बन्धो के गम्य होने पर। रसगङ्गाधर में इन सभी भेदों का सोदाहरण निरूपण है, जो विस्तारभय से यहाँ उद्धृत नहीं है। निदर्शनार्थ एक पद्य द्रष्टव्य है—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य वासो रञ्जयतः करैः।
अङ्गरागं सृजत्यग्निस्तं वन्दे परमेश्वरम्।।[२]

शिव की स्तुति है—जिसके वस्त्र को सूर्य और चन्द्रमा अपनी किरणों से रँगते हैं और जिसके अङ्गराग को अग्नि उत्पन्न करता है, उस परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

यहाँ दिगम्बर (नग्न) इस रूप से अभीष्ट अर्थ को 'सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों से जिसका वस्त्र रँगा जाता है', इस रूप में कहा गया है व 'जिसका अङ्गराग भस्म है', इस बात को 'जिसके अङ्गराग को अग्नि उत्पन्न करता है', इस रूप से कहा गया है, फलतः पर्यायोक्ति अलङ्कार है।

१. विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्। रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ३५४
२. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. २१४; पं.का.सं., पृ. १०६

२६. व्याजस्तुति

'प्रथमत: प्रतीत होने वाली निन्दा का स्तुति में और स्तुति का निन्दा में पर्यवसान होना व्याजस्तुति है।'[१]

व्याजस्तुति शब्द के दो यौगिक अर्थ होते हैं। १. तृतीया तत्पुरुष द्वारा— 'व्याजेन स्तुति:' अर्थात् व्याज से स्तुति=प्रशंसा और २. कर्मधारय से—व्याज: स्तुति:' अर्थात् व्याज रूपा स्तुति=निन्दा। फलत: 'व्याजस्तुति' शब्द के द्वारा स्तुति व निन्दा दोनों अर्थ व्यक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि 'व्याज से स्तुति' इस कथन का अभिप्राय होगा 'आपातत: निन्दा; किन्तु परिणामत: स्तुति' और 'व्याजरूपा-स्तुति' इस उक्ति का आशय होगा—'आपातत: स्तुति; किन्तु परिणामत: निन्दा।'

पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूपनिदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) निन्दा से स्तुति

क्षोणीं शासति मय्युपद्रवलवः कस्यापि न स्यादिति
प्रौढं व्याहरतो वचस्तव कथं देव प्रतीमो वयम्।
प्रत्यक्षं भवतो विपक्षनिवहैर्द्यामुत्पतद्भिः क्रुधा
यद् युष्मत्कुलकोटिमूलपुरुषो निर्भिद्यते भास्करः॥[२]

कवि द्वारा किसी राजा की व्याजस्तुति करते हुए कथन है कि—हे देव! 'मेरे पृथ्वी का शासन करते समय किसी को भी उपद्रव का लेश नहीं होगा', ऐसा दृढ़तापूर्वक कहते हुए आप के वचन का विश्वास हम कैसे करें? कारण, आपके सामने ही स्वर्ग की ओर उछलकर जाते हुए आपके शत्रुओं द्वारा क्रोध से आपकी कुलपरम्परा के मूलपुरुष सूर्य का भेदन किया जाता है।

यहाँ 'जिसकी कुलपरम्परा के मूलपुरुष का ही शत्रुओं द्वारा भेदन हो रहा है, उस आपके द्वारा अपने शासनकाल में सबके निरुपद्रव रहने का कथन मिथ्या है, इस तरह की निन्दा आपातत: प्रतीत होती है, पर वह बाधित होकर 'आपके शत्रु आपके द्वारा हत होकर स्वर्ग सिधारते हैं', इस तरह की स्तुति में पर्यवसित होती है। फलत: यह निन्दामुख स्तुतिरूपा व्याजोक्ति का उदाहरण है।

---

१. आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः। (रसगङ्गाधर, पृ. ३७५)

२. प्राणा.जगदा., श्लो. १०।

(ख) स्तुति से निन्दा

यैस्त्वं गुणगणवानपि सतां द्विजिह्वैरसेव्यतां नीतः।
तानपि वहसि पटीरज किं कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम्॥[1]

हे चन्दन! तमाम गुणों से युक्त होने पर भी जिन विषधर भुजङ्गों ने तुम्हें सज्जनों से असेवनीय बना दिया है, अर्थात् जिनसे लिपटे रहने के कारण सज्जन लोग तुम्हारे पास आने में डरते हैं, उन्हें भी तुम धारण किये रहते हो, तो तुम्हारी इस महत्ता का क्या वर्णन करें।

यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से चन्दन का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है, जिससे प्रस्तुत किसी मूर्ख की प्रतीति होती है, जिसने अपना अपकार करने वाले दुष्टों को भी अपना बना रखा है। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के साथ यहाँ व्याजस्तुति भी है। खलों की खलता जानकर भी उन्हें आश्रय दिये रहते हो, बड़े उदारचित्त हो, इस स्तुति से यह निन्दा व्यक्त होती है कि प्रतिक्षण खलों से घिरे रहते हो, इसलिये सज्जन तो तुम्हारे पास आ भी नहीं पाते, अतः तुम्हारी क्या महत्ता कहें।

२७. आक्षेप अलङ्कार

आक्षेप अलङ्कार के स्वरूप के विषय में विद्वानों की विविध मान्यताएँ हैं। रसगङ्गाधरकार ने भी आक्षेप अलङ्कार का विवेचन करते समय पहले इससे सम्बन्धित पाँच मान्यताओं को सोदाहरण प्रस्तुत किया है व अन्त में इन सभी मतों का संग्रह करने वाला सर्वमतमान्य लक्षण प्रस्तुत करते हुए 'निषेधमात्रमाक्षेपः'[2] अर्थात् चमत्कारी निषेध मात्र को आक्षेप अलङ्कार कहा है, जिससे उनका यह आशय है कि जिस निषेध से कोई चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ ज्ञात हो, ऐसा व्यङ्ग्यार्थ युक्त निषेध आक्षेप अलङ्कार है। पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप के निदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है। यथा निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥[3]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. १९।

२. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ४०२;   ३. शान्त वि., श्लो. ९

रे हृदय! तेरे लिये यह कल्याण की बात कहता हूँ कि तुम (भूलकर भी) वृन्दावन में गायों को चराते हुए, नवीन जलधर के समान आकृति वाले, किसी को बान्धव न बनाना, क्योंकि वह तुमको चारों ओर से सौन्दर्य सुधा को उगलती हुई मधुर मुस्कानों से अच्छी तरह मोहित करके तुम्हारे प्रिय विषयों को शीघ्र नष्ट कर देगा।

यहाँ कवि को अभीष्ट है, हृदय की श्रीकृष्ण से मैत्री करवाना; परन्तु उसका वह निषेध कर रहा है, जिससे इस व्यङ्ग्य की प्रतीति होती हैं कि विषयों से मुक्त होने के लिये श्रीकृष्ण से मैत्री अवश्य कर। फलत: आक्षेप अलङ्कार है।

विरोधमूलक अलङ्कार

'वास्तविक विरोध न होने पर भी (विरोध की प्रतीति कराने वाले) विरुद्ध रूप से वर्णन करने को विरोध अलङ्कार कहते हैं।'[१] अभिप्राय यह है कि जहाँ वर्णित विषयों में परस्पर विरोध दिखाया जाय; परन्तु वह विरोध वास्तविक सिद्ध न हो सके; अपि तु उसका उचित कारणों से समाधान होकर शमन हो जाय, तो वहाँ विरोध अलङ्कार की स्थिति होती है। इसमें वास्तविक विरोध न रह कर विरोध का आभास मात्र रहने से विरोधाभास अलङ्कार के नाम से भी इसे कहा जाता है। पण्डितराज के अनुसार किसी एक आश्रय से संबद्धरूप में वर्णित दो वस्तुवों की प्रतीत होने वाली उस एक आश्रय से असंबद्धता अथवा उस तरह की दो वस्तुवों के विषय में होने वाला उस एक आश्रय से असंबद्धता का ज्ञान विरोध कहलाता है। अथवा जो दो पदार्थ एक आश्रय में नहीं रहने वाले के रूप में प्रसिद्ध हों, उन दो पदार्थों का एकाश्रयवर्ती के रूप में किया जाने वाला वर्णन विरोध कहलाता है।[२]

विरोध अलङ्कार के भेद

इस विरोध अलङ्कार के दस भेद होते हैं। कारण, शब्द जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्यवाचक इन चार प्रकारों के होते हैं। फलत: शब्दार्थ भी जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य इन चार प्रकार के होते हैं। इनमें जाति रूप पदार्थ का जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य इन चारों से, गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीन से, क्रिया का क्रिया और द्रव्य इन दो से एवं द्रव्य का द्रव्य से विरोध वर्णित होता है। रसगङ्गाधर में इन सभी भेदों का सोदाहरण विवेचन है। परन्तु विरोध अलङ्कार के इन भेदों के विषय में पण्डितराज का

---

१. विरोध: सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच:। काव्यप्रकाश १०।सू. १६५

२. एकाधिकरणसंबद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयो र्भासमानैकाधिकरणासंबद्धत्वम्, एकाधिकरणासंबद्धत्व-भानं वा विरोध: यद्वा एकाधिकरणासंबद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरणसंबद्धत्वेन प्रतिपादनं स:। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ४११)

स्वयं का मत है कि जाति, गुण, द्रव्य आदि के आधार पर किये गये इन भेदों में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं प्राप्त होता, फलत: विरोध अलङ्कार का विभाजन शुद्ध व श्लेषमूलक इन दो प्रकार से ही करना चाहिए। उन्होंने इस अलङ्कार के स्वरूप के निदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है। यथा कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं—

(क) शुद्ध विरोधाभास

त्वयि दृष्टे त्वया दृष्टे भवन्ति जगतीतले।
महान्तोऽप्यणवो राजन्नणवश्च महत्तरा:॥[१]

हे राजन्! तुम्हें देखने पर महान् भी अणु हो जाते हैं और अणु भी महान् हो जाते हैं। यहाँ महत्त्व व अणुत्व का प्रथमत: विरोध प्रतीत होता है, परन्तु राजा के माहात्म्यवर्णन के ज्ञान से इस विरोध का परिहार हो जाता है।

(ख) श्लेषमूलक विरोधाभास

स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनि पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम्।
सा सम्प्रति प्रचलितासि गुणैर्विहीनं
प्राप्तुं कथं कथय हन्त परं पुमांसम्॥[२]

जिस प्रियतमा ने स्वप्न में भी कभी अपने पति से भिन्न किसी अन्य (स्वरूपवान् व गुणवान्) पुरुष की ओर साभिलाष दृष्टिपात तक नहीं किया था, वही पतिव्रता आज निर्गुण (सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों से हीन) परपुरुष (परब्रह्म) को प्राप्त करने के लिये कैसे चल पड़ी है?

यहाँ पहले तो अन्य की ओर दृष्टिपात तक न करना व बाद में पतिव्रता होते हुए भी निर्गुण परपुरुष को प्राप्त करने की चाह विरोध प्रस्तुत करती है। परन्तु, जब हम गुणों से सत्त्व, रजस् व तमस् का ग्रहण कर उन गुणों से ही निर्गुण गुणातीत व परपुरुष का अर्थ परब्रह्म से लेते हैं, तो इस विरोध का परिहार हो जाता है। फलत: निर्गुण व परब्रह्म में श्लेष होने के कारण श्लेषोत्थापित विरोधाभास अलङ्कार है।

२९. विभावना

कारण के बिना कार्योत्पत्ति होने को विभावना अलङ्कार कहते हैं। पण्डितराज ने अपनी विशिष्ट शैली में इसका लक्षण इस प्रकार किया है कि

१. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. ३८; पं.का.सं., पृ. १९६; २. करुण वि., श्लो. १७

'जिस अधिकरण (आधार विशेष) में जो कारण रहता है, उस अधिकरण में उस कारण का कार्य उत्पन्न होता है, यह सामान्य सत्य है। किन्तु जिस अधिकरण में जो कारण नहीं है, उस अधिकरण में यदि उस कारण के कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो, तब उस कार्योत्पत्ति को विभावना अलङ्कार कहते हैं।'[१]

इस अलङ्कार में कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति वर्णित होने पर यद्यपि ऊपरी तौर पर विरोध दिखाई पड़ता है, परन्तु यह विरोध वास्तविक नहीं होता। प्रसिद्ध कारण के अभाव में उससे भिन्न कारण की कल्पना द्वारा यह विरोध दूर हो जाता है। इस अलङ्कार के विवेचनार्थ भी पण्डितराज ने कुछ सुन्दर उदाहरण-श्लोकों की रचना की है। निदर्शनार्थ एक पद्य द्रष्टव्य हैं—

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः।
अनल्पमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्यः।।[२]

अपरिमित मायामय मनोहर लीलाओं से युक्त, नीलकमल दल के समान विशाल नयनों वाली वे रमणियाँ संसार में सर्वोत्कृष्ट हैं, जो बिना शस्त्र के ही विवेकयुक्त युवा पुरुषों के भी हृदयों को विदीर्ण करती रहती हैं।

यहाँ दारण (काटने) का कारण शस्त्र है। उसके अभाव में किया गया दारण का वर्णन सामान्यत: विरुद्ध प्रतीत होने पर भी, दारण के कारण रूप में कामिनी-विलासों की कल्पना कर लेने पर विरुद्ध नहीं होता, फलत: विभावना अलङ्कार है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

नापेक्षा न च दाक्षिण्यं न प्रीतिर्न च सङ्गतिः।
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो घनः।।[३]

यद्यपि इसको न तो (कोई प्रत्युपकारादि की) अपेक्षा है, न लोभादिजन्य कोई चातुर्य है, न (कोई) प्रेम है और न (किसी तरह का) कोई सहायक ही है, फिर भी यह ऊँचा मेघ मनुष्यों के सन्ताप को हरता है।

यहाँ अपेक्षादि कारण के न होने पर भी जल बरसाना रूपी कार्य वर्णित होने से विभावना अलङ्कार है। ऊपरी तौर पर इसमें विरोध दिखाई पड़ने पर भी मेघ की उदारता या अकारण परोपकार परायणता की कारण रूप में कल्पना कर लेने पर इस विरोध का परिहार हो जाता है। फलत: विभावना है।

३०. विशेषोक्ति

जहाँ जिस कार्य का लोकप्रसिद्ध कारणसमूह वर्तमान हो, वहाँ

---

१. कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना। (रसगङ्गाधर, पृ. ४३३)
२. शृङ्गा.वि., श्लो. १५९, ३. प्रास्ता.वि., श्लो. ३७

यदि उस कार्य की अनुत्पत्ति वर्णित हो, तब वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।'[1] अर्थात् कार्योत्पत्ति के लिये पर्याप्त कारण होते हुए भी कार्य का न होना एक विशेष बात है और यही विशेषोक्ति है।

इस अलंकार में 'कारण के रहने पर भी कार्य नहीं होता', यह बात प्रथमत: विरुद्ध प्रतीत होती है, फिर भी प्रसिद्ध कारण के रहने पर भी अप्रसिद्ध कारण के अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस रहस्य के ज्ञान के पश्चात् यह विरोध दूर हो जाता है।

पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ भी कुछ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है। निदर्शनार्थ निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

उपनिषद: परिपीता गीतापि च हन्त मतिपथं नीता।
तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद् बहिर्याति।।[2]

उपनिषदों का पान पूर्णतया कर लिया—अर्थात् पूर्णरूप से उपनिषदों का अध्ययन कर लिया और गीता को भी बुद्धिपथ में ले आया, तथापि खेद है कि वह चन्द्रमुखी मनमन्दिर से बाहर नहीं निकलती।

यहाँ उपनिषद और गीता के समझ लेने पर, सम्पूर्ण लोक की अनित्यता का ज्ञान हो जाने पर भी, उससे विरति होनी चाहिए, परन्तु उस विराग या विरति की यहाँ अनुपपत्ति दिखलाई गई है। अत: कारण विरागज्ञान के रहने पर भी कार्य विरागोत्पत्ति का अभाव यहाँ वर्णित है, जो ऊपरी तौर पर विरुद्ध दिखाई देता है। परन्तु विराग-कारणों से अतिरिक्त रागाधिक्यरूपी कारण का अभाव भी विराग की उत्पत्ति में हेतु है। इस रागाधिक्य का अभाव इस पद्य में नहीं है, अर्थात् अतिशयराग विद्यमान है, अत: कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति का वर्णन न होने का रहस्य समझ में आ जाता है, फलत: विशेषोक्ति है।

३१. असङ्गति अलङ्कार

'कारण और कार्य की उस व्यधिकरणता (भिन्न-भिन्न आधार में रहना) को असङ्गति अलङ्कार कहते हैं, जो ऊपरी तौर पर विरुद्ध प्रतीत होती है।'[3]

असङ्गति का अर्थ है—सङ्गति का अभाव। सांसारिक नियम के अनुसार कारण और कार्य में सङ्गति होती है। अर्थात् जहाँ कारण विद्यमान रहता है, वहीं

१. प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्ति:। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ४५३)

२. शृङ्गा.वि., श्लो. ३८

३. विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगति:। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ४६४)

कार्योत्पत्ति होती है। परन्तु असङ्गति अलङ्कार में कारण-कार्य का स्वाभाविक सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और दोनों की भिन्न-भिन्न आधार में स्थिति होने लगती है। अर्थात् कारण अन्यत्र विद्यमान रहता है, तो कार्य की अन्यत्र स्थिति होती है, और ऐसी ही स्थिति के चमत्कारपूर्ण वर्णन को असंगति अलङ्कार कहते हैं।

इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ भी पण्डितराज ने कुछ सुन्दर उदाहरण-श्लोकों की रचना की है। यथा एक श्लोक द्रष्टव्य है—

दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलिनी।
मुच्यन्ते बन्धनात् केशा विचित्रा वैधसी गतिः॥[१]

मृगाक्षी नायिका की दृष्टि श्रुत्यन्त (वेदान्त+कानों के छोर) का अत्यन्त परिशीलन (अभ्यास+स्पर्श) करने वाली है और बन्धन से मुक्त होते हैं केश। विधाता की गति विचित्र है।

यहाँ 'श्रुत्यन्त' परिशीलन रूप कारण नयनों में है और मुक्ति रूपी कार्य केशों में। अत: वैयधिकरणरूपा असंगति विद्यमान है। यहाँ कारण और कार्य की भिन्न देशता देखकर ऊपरी तौर पर विरोध दिखाई देता है, परन्तु श्लेष मूलक अभेदाध्यवसान से नायिका के कर्णचुम्बी नेत्रों से अभिव्यक्त होने वाले नयनसौन्दर्य से आकर्षित मन वाले, फलत: रतिक्रिया में रत प्रियतम के द्वारा रति-चेष्टाओं से केशों का बन्धनमुक्त होना, इस अर्थ का अनुसन्धान होने पर उक्त विरोध दूर हो जाता है। इस प्रकार यहाँ असंगति अलङ्कार की सुन्दर स्थिति विद्यमान है।

३२. विषम अलङ्कार

'उस संसर्ग (सम्बन्ध) विशेष को 'विषम' कहते हैं, जो अननुरूप हो।'[२] 'अनुरूपं यत्र न विद्यते' इस विग्रह के अनुसार 'अननुरूप' का अर्थ योग्यतारहित होता है व योग्यता से 'यह उचित है'। इस प्रकार औचित्यरूपी अर्थ लिया जाता है। अर्थात् जिस संसर्ग को संसार उचित कहता है, वह अनुरूप और जिस संसर्ग को अनुचित कहता है, वह अमनुरूप है।

संसर्ग का अर्थ है, सम्बन्ध। यह सामान्यत: दो प्रकार का होता है— एक उत्पत्तिरूप और दूसरा संयोगादि रूप। इनमें उत्पत्ति रूप संसर्ग की

---

१. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. १०६, पं.का.सं., पृ. ९८

२. अननुरूपसंसर्गो विषमम्॥ (रसगङ्गाधर, पृ. ४७९)

अयोग्यता दो स्थितियों में होती है, १. प्रथम, कारण के गुणों से विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति होने पर और २. द्वितीय इष्टसाधन के रूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति होने पर।

संयोगादिरूप संसर्ग की अयोग्यता तब मानी जाती है, जब दो संसर्गियों में से एक के गुण अथवा स्वरूप से दूसरे के गुण व स्वरूपों का तिरस्कार हो।

इस प्रकार 'अननुरूप संसर्ग पद' के व्यापक अर्थ ग्रहण से उसमें विषम के सभी भेद संगृहीत हो जाते हैं। रसगङ्गाधर में इन सभी भेदों का सोदाहरण विवेचन है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

१. उत्पत्तिरूप संसर्ग की अननुरूपता

(क) कारण से विरुद्ध गुण वाले कार्य की उत्पत्ति

अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्नारमावदनाम्बुजा-
न्यधरितवतो निर्मर्यादप्रसादमहाम्बुधेः।
उदभवदयं देव त्वत्तः कथं परमोल्बणः
प्रलयदहनज्वालाजालाकुलो महसां गणः॥[१]

हे राजन्! आपने अमृत की लहरी, चन्द्रमा की चाँदनी और लक्ष्मी के मुखकमल को अपने सामने तुच्छ कर दिया है, आप असीम प्रसन्नता के महासमुद्र हैं, ऐसे आपसे यह परम प्रचण्ड प्रलयाग्नि के ज्वालाजाल से परिपूर्ण प्रतापपुञ्ज कैसे उत्पन्न हुआ?

यहाँ अमृतलहरी तिरस्कार द्वारा सूचित माधुर्य, चन्द्रिकाधःकरण द्वारा सूचित शैत्य और लक्ष्मीमुखकमल कदर्थना द्वारा अवगत आह्लादकत्व एवं प्रसन्नता आदि अनेक गुणों से युक्त कारण से उन गुणों से विरुद्ध गुणयुक्त प्रताप रूप कार्य की उत्पत्ति वर्णित है। यह कार्यकारण भाव अनुरूप नहीं है, फलतः विषम अलङ्कार है।

(ख) इष्ट साधनरूप में ज्ञात कारण से अनिष्ट कार्योत्पत्ति

प्रभातसमयप्रभां प्रणयिनि हनुवाना रसा
दमुष्य निजपाणिना दृशममीलयल् लीलया।
अयं तु खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरै
रवेरुदयमध्यगादधिकचारुतैर्मारुतैः॥[२]

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो. ५२; २. शृङ्गा.वि., श्लो. ५९

प्रेमवश प्रियतम से प्रभातकाल की प्रभा को छिपाती हुई नायिका ने विलासपूर्वक इस नायक के नेत्र को अपने हाथ से ढक दिया, लेकिन् इसने तो कमलिनियों के सुगन्ध समूह को चुराने वाले उन प्रसिद्ध पवनों के द्वारा सूर्य के उदय को अधिक सुन्दर ढंग से जान लिया।

यहाँ प्रियतम को प्रभातविषयक ज्ञान न हो, यह नायिका का अभीष्ट था, इसके लिये उसने प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं प्राप्त हुई, अतः इष्ट की अप्राप्ति है। इसप्रकार विषम अलङ्कार की स्थिति है।

२. संयोगादि रूप संसर्ग की अननुरूपता

क्व सा कुसुमसाराङ्गी सीता चन्द्रकलोपमा।
क्व रक्षःखदिराङ्गारमध्यसंवासवैशसम्।।[1]

कहाँ वह श्रेष्ठ कुसुम के समान अङ्गों वाली चन्द्रकला तुल्य सीता और कहाँ खैर के अङ्गारों के समान राक्षसों के मध्य निवास रूपा क्रूरता?

यहाँ कुसुम सार (शीतलता) व खैर के अङ्गारों (उष्णता) में सम्बन्ध की अननुरूपता है, फलतः विषम का द्वितीय प्रभेद है।

(३३) सम अलङ्कार

'लोकदृष्टि से अनुरूप (उचित) सम्बन्ध को सम अलङ्कार कहते हैं।'[2]

यह विषम अलङ्कार का उल्टा है। इसमें यह संसर्ग दो प्रकार का होता है—१. उत्पत्ति रूप संसर्ग और २. संयोगादि रूप संसर्ग। इनमें से उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता तीन तरह से होती है—(क) कारण से समान गुण वाले कार्य की उत्पत्ति द्वारा, (ख) जैसी वस्तुवों का संसर्ग हो, वैसे गुणों की उत्पत्ति द्वारा और (ग) जिस इष्ट की प्राप्ति के लिये कारण-प्रयोग किया जाय, उससे उस इष्ट की प्राप्ति द्वारा।

संयोगादि रूप संसर्ग की अनुरूपता दो प्रकार की होती है, एक स्तुति में पर्यवसित होने वाली और दूसरी निन्दा में पर्यवसित होने वाली।

रसगङ्गाधरकार ने इन सभी भेदों के निदर्शनार्थ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है तथा रसगङ्गाधर में इनका विस्तृत विवेचन किया है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

---

१. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. ७३, पं.का.सं., पृ. ९५।

२. अनुरूपसंसर्गः समम्। रसगङ्गाधर द्वि.आ., पृ. ५०३

(क) उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता

कुवलयलक्ष्मीं हरते तव कीर्तिस्तत्र किं चित्रम्।
यस्मान् निदानमस्या लोकनमस्याङ्घ्रिपङ्कजो हि भवान्॥[1]

राजा की स्तुति में कवि की उक्ति है कि—आपकी कीर्ति कुवलय (रात्रिविकासी कमल+भूमण्डल) की शोभा का हरण करती है, इसमें आश्चर्य क्या? क्योंकि, इसके उत्पादक आप हैं, जिनके चरण-कमल लोक से नमस्करणीय हैं।

यहाँ कीर्ति के कारण राजा में जब लोकजयित्व और कमलजयित्व गुण हैं, तब उससे जन्मी हुई कीर्ति में भी इन गुणों का होना उचित है, फलतः सम का प्रथम प्रभेद है।

(ख) संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदां
पतन् विश्वोद्धर्त्रीं गदविगलितः सिद्धभिषजम्।
सुधासिन्धुं तृष्णाकुलितहृदयो मातरमयं
शिशुः संप्राप्तस्त्वामहमिह विदध्याः समुचितम्॥[2]

कवि की उक्ति है—हे गङ्गे! अत्यन्त छोटा बालक मैं आप माता की शरण में आया हूँ। मैं अनाथ हूँ और आप स्नेहार्द्र हैं, मैं गतिहीन हूँ और आप पवित्र गति देने वाली हैं, मैं पतित हूँ और आप संसार का उद्धार करने वाली हैं, मैं रोगग्रस्त हूँ और आप सिद्ध-औषध हैं, मैं तृषार्त हूँ और आप अमृत समूह का खजाना हैं। अब आप जो उचित समझें, करें।

यहाँ स्नेहार्द्रता आदि गुणों से युक्त गङ्गा के साथ अनाथता आदि धर्मों से युक्त भक्त का अनुरूप संयोग-संसर्ग वर्णित हुआ है और यह अनुरूपता गङ्गा की स्तुति में पर्यवसित होने वाली है; फलतः सम अलङ्कार है।

३४. विचित्र अलङ्कार

'इष्ट सिद्धि के लिये इष्टाभिलाषी के द्वारा किये जाने वाले इष्ट के विपरीत आचरण को 'विचित्र' कहते हैं।'[3]

---

१. प्राणा.जगदा., श्लो. ४२; २. गङ्गालहरी, श्लो. २४

३. इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम्॥ (रसगङ्गाधर,द्वि.आ., पृ. ५१५)

इस अलङ्कार को मानने का मूल है, इष्टाभिलाषी की भ्रान्तता की अभिव्यक्ति। यह इष्टाभिलाषी द्वारा इष्टसिद्धि के लिये इष्ट के विपरीत आचरण करने पर जिस तरह होती है, उसी तरह इष्ट के स्वतः सिद्ध रहने पर भी इष्टाभिलाषी द्वारा इष्टसाधनाभास का प्रयोग करने पर भी होती है। अतः इष्ट के विपरीत आचरण और इष्टसाधनाभास दोनों का प्रयोग होने पर विचित्र अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ भी पण्डितराज ने कुछ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है। यथा एक पद्य द्रष्टव्य है—

बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते कर्मपाशा-
नन्तःशान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्तां भजन्ते।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः
सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजां नराणाम्॥[१]

इस संसार में भ्रम में पड़े हुए मनुष्यों के सभी कार्य प्रामादिक होते हैं। कारण, बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये ये लोग यज्ञादिक कर्मपाशों की रचना करते हैं, अन्तःकरण की शान्ति के लिये सैकड़ों मुनियों के मतों की (शास्त्रों) चिन्ता करते हैं और अशुभ समुद्र से पार जाने की इच्छा से तीर्थ में डुबकी लगाते हैं।

यहाँ बन्धन से छूटने के लिये पाशरचना करना, अन्तःकरण की शान्ति के लिये चिन्ता करना व समुद्र को पार करने की इच्छा से गोता लगाना विपरीत प्रयत्न है; फलतः विचित्र अलङ्कार है।

३५. अधिक अलङ्कार

'आधार और आधेय दोनों में से किसी एक को अतिविस्तृत सिद्ध करने के लिये दूसरे की अतिन्यूनता की कल्पना अधिक अलङ्कार है।'[२]

लोकानां विपदं धुनोषि तनुषे सम्पत्तिमत्युत्कटा-
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल मा गा मदम्।
यत् कीर्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डभाण्डोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनुं कष्टेन हा वर्तते॥[३]

१. शान्त वि., श्लो. १५
२. आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम्। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ५१९)
३. प्राणा.जगदा., श्लो. ९

हे राजन्! 'आप लोगों की विपत्ति दूर करते हैं और अत्यन्त उत्कट सम्पत्ति का विस्तार करते हैं', इस तरह मूढ़मतियों की बड़ी-बड़ी बातों से गर्व न करें; क्योंकि आपकी वल्लभा कीर्ति इस छोटे से ब्रह्माण्ड रूपी गृह के मध्य में अपने अतिविशाल शरीर को सिकोड़ कर बड़े कष्ट से रहती है। अर्थात् जो आप अपनी वल्लभा के कष्ट का भी शमन नहीं कर पाते, उनके लिये आप लोगों की विपत्ति का निवारण करते हैं, इस तरह की उक्ति कहना व्यर्थ है।

यहाँ ब्रह्माण्डरूपी आधार की अति लघुता की कल्पना द्वारा कीर्तिरूप आधेय की अत्यधिक महत्ता व्यक्त होती है, फलतः अधिक अलङ्कार है।

३६. अन्योन्य अलङ्कार

'दो वस्तुवों में से एक दूसरे द्वारा परस्पर विशेषता उत्पन्न करने को अन्योन्य अलङ्कार कहते हैं।'[१]

यह विशेषता क्रियादिरूपता में होती है। पारस्परिक सहयोग ही इस अलङ्कार के चमत्कार का मूल तत्त्व है। पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप स्पष्टार्थ कुछ उदाहरण-पद्यों की रचना की है। यथा एक श्लोक द्रष्टव्य है—

परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदयं प्रियस्य सीता।
अविशत् परकामिनीभुजङ्गीभयतः सत्त्वरमेव सोऽपि तस्याः॥[२]

परपुरुष के दृष्टिपात रूप वज्र के आघात से डरी हुई सीता अपने प्रिय के हृदय में प्रविष्ट हुई और परस्त्री रूपी सर्पिणी के भय से वह (राम) भी तत्काल उसके (सीता) के हृदय में प्रविष्ट हो गये।

यहाँ 'प्रवेश' क्रिया के परस्पर चमत्कारपूर्ण वर्णन के कारण अन्योन्य अलङ्कार विद्यमान है।

३७. विशेष अलङ्कार

कविप्रतिभानिर्मित व लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाले आधाराधेय के विशेष कथन का वर्णन करने को 'विशेष' अलङ्कार कहते हैं। इसकी विलक्षणता तीन स्थितियों में होती है—१. प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय का होना, २. एक आधेय का एक साथ, एक ही रूप में अनेक आधारों में रहना और ३. किसी कार्य को करने वाले के द्वारा अशक्य अन्य वस्तु का सम्पादन।

---

१. द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ५२४)

२. शृङ्गा.वि., श्लो. ९०

पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

अये राजन्नाकर्णय कुतुकमाकर्णनयन
त्वदाधारा कीर्तिर्वसति किल मौलौ दशदिशाम्।
त्वदेकालम्बो यं गुणगणकदम्बो गुणनिधे
मुखेषु प्रौढानां विलसति कवीनामविरतम्॥[1]

हे विशालनेत्र राजन्! आप जिसके आधार हैं, वह कीर्ति दशों दिशाओं के मस्तक पर निवास करती है और हे गुणनिधे! जिसके एकमात्र आलम्बन आप हैं, ऐसा यह गुणावली-समूह प्रौढ़ कवियों के मुख में निरन्तर क्रीड़ा कर रहा है।

यहाँ प्रसिद्ध आधार राजा के बिना कीर्ति का दिशाओं के मस्तक रूप अन्य आधार में वर्णन हुआ है। इसी प्रकार गुणसमूह, जिनका प्रसिद्ध आधार राजा है, उनका कविमुख रूप अन्य आधार में वर्णन किया गया है, फलत: विशेष अलङ्कार है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद् विनाशः।
इदं तु चित्रं भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्तिः॥[2]

आसफ खाँ रूपी चन्द्रमा के स्वर्ग चले जाने पर उनके आश्रितों का जो विनाश हुआ, वह तो उचित ही था, पर आश्चर्य यह है कि लोकों के मध्य उनकी कीर्ति निराश्रय होकर खेल रही है।

यहाँ आधार आसफ खाँ के सर्वथा अभाव में आधेय कीर्ति की स्थिति का वर्णन होने से विशेष अलङ्कार है।

३८. व्याघात अलङ्कार

'जहाँ एक कर्ता ने जिस कारण से कोई कार्य बनाया हो अथवा बनाना चाहा हो, वह दूसरे कर्ता द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य के बना देने द्वारा अथवा बना देने की इच्छा द्वारा बिगाड़ दिया जाय, तो उसे व्याघात अलङ्कार कहते हैं।'[3] इस प्रकार इसके दो रूप होते हैं—एक बने कार्य का

---

१. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. १६, पं.का.सं., पृ. ९१; २. तत्रैव, श्लो. १६३, पृ. १०२।

३. यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किंचिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद् विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः। (तत्रैव द्वि.आ., पृ. ५४१)

बिगाड़ना और दूसरा बनाने के लिये अभिलषित कार्य का बिगाड़ना। पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण-पद्यों की रचना की है। निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य हैं—

दीनद्रुमान् वचोभिः खलनिकरैरनुदिनं दलितान्।
पल्लवयन्त्युल्लसिता नित्यं तैरेव सज्जनधुरीणाः।।[1]

दुष्टसमूहों द्वारा वचनों से प्रतिदिन दलित दीनजन रूप वृक्षों को सज्जनों में अग्रणी उल्लसित होकर नित्य उन्हीं (वचनों) के द्वारा पल्लवित करते हैं।

यहाँ दुष्टसमूहरूप कर्ता द्वारा वचनों से किये गये दीनजन दलन-रूप कार्य का सज्जनों से उन्हीं वचनों द्वारा व्याहत होना वर्णित है, फलतः व्याघात का प्रथम प्रभेद है।

द्वितीय-प्रभेद

व्याघात का द्वितीय-प्रभेद वहाँ होता है जहाँ बनाने के लिये इच्छित कार्य का बिगाड़ना वर्णित हो।

विमुञ्चसि यदि प्रिय प्रियतमेति मां मन्दिरे
तदा सह नयस्व मां प्रणययन्त्रणायन्त्रितः।
अथ प्रकृतिभीरुरित्यखिलभीतिभङ्गक्षमान्
न जातु भुजमण्डलादवहितो बहिर्भावय।।[2]

दण्डकारण्य जाने के लिये तैयार भगवान् राम के प्रति देवी सीता की उक्ति है—

हे प्रिय! मैं आपकी प्रियतमा हूँ, इस कारण यदि आप मुझे घर पर छोड़ना चाहते हैं, तो प्रेम की वेदना से व्यथित आप मुझे साथ ही ले चलिए और यदि मैं स्वभावतः भीरु हूँ ऐसा समझकर आप मुझे छोड़ना चाहते हैं, तो सावधान होकर, सभी भयों को भङ्ग करने में समर्थ अपने भुज-मण्डल से मुझे कभी बाहर मत रखिए।

यहाँ 'प्रियतमात्व' व 'भीरुत्व' जिन्हें राम घर छोड़ना चाहने का कारण मानते हैं, उन्हीं कारणों से सीता घर पर नहीं छोड़ना सिद्ध कर रही हैं, फलतः व्याघात है।

---

१. रसगङ्गाधर, उदा. श्लो. ४१, पं.का.सं., पृ. १९६

२. तत्रैव, श्लो. १८५, पृ. १०४

शृङ्खलामूलक अलङ्कार

शृङ्खलामूलक अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करने से पहले पण्डितराज ने 'शृङ्खला' शब्द का लक्षण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'पंक्ति रूप से वर्णित अर्थों में से, पूर्व-पूर्व अर्थ का अग्रिम-अग्रिम अर्थ में अथवा अग्रिम-अग्रिम अर्थ का पूर्व-पूर्व अर्थ में सम्बद्ध होना शृङ्खला कहलाता है।'[1]

यह शृङ्खलायुक्त सम्बन्ध कार्यकारण भाव, विशेषणविशेष्यभाव आदि कई रूप का हो सकता है व इसी सम्बन्ध विशेष को लेकर पण्डितराज ने शृङ्खलामूलक अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। ये निम्नलिखित हैं।

३९. कारणमाला

'जब पूर्व-पूर्व का अग्रिम-अग्रिम के साथ अथवा अग्रिम-अग्रिम का पूर्व-पूर्व के साथ कार्यकारण भाव सम्बन्ध वर्णित हो, तो यही शृङ्खला 'कारणमाला' कहलाती है।'[2] पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ भी कुछ सुन्दर उदाहरण पद्यों की रचना की है। यथा निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीः
दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः।
समृद्धिमल्पेतरभागधेयं
भाग्यं च शम्भो तव पादभक्तिः॥[3]

दानलक्ष्मी स्वर्ग तथा मोक्ष को उत्पन्न करती है। दान को विपुल समृद्धि उत्पन्न करती है, समृद्धि को महान् भाग्य उत्पन्न करता है और हे शम्भो! भाग्य को आपके चरणों की भक्ति उत्पन्न करती है।

यहाँ पूर्व-पूर्व कार्य व उत्तर-उत्तर कारण हैं, जैसे स्वर्गापवर्ग कार्य हैं और दानलक्ष्मी कारण, दान कार्य है और समृद्धि कारण, समृद्धि कार्य है और भाग्य कारण तथा भाग्य कार्य है और शम्भु की चरणभक्ति कारण। फलतः कारण-माला अलङ्कार है।

---

१. पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्, उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन्संसृष्टत्वं शृङ्खला। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ५५०)

२. सैव शृङ्खला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला। (तत्रैव, पृ. ५५१)

३. तत्रैव, उदा., श्लो. २१८, पं.का.सं., पृ. १०६

४०. एकावली

'पूर्वोक्त शृङ्खला ही संसर्ग के विशेष्यविशेषण भावरूप होने पर एकावली कहलाती है।'[१]

इस एकावली के प्रथमत: दो प्रकार होते हैं—१. उत्तर-उत्तर पदार्थ के प्रति जब पूर्व-पूर्व विशेष्य होता है और २. उत्तर-उत्तर पदार्थ के प्रति जब पूर्व-पूर्व पदार्थ विशेषण होता है। इनमें से प्रथम प्रकार के भी दो उपभेद हो जाते है; क्योंकि विशेषणभूत पदार्थ कहीं स्थापक (स्थापना करने वाला) और कहीं अपोहक (निषेध करने वाला) होता है। इन सभी भेदों का रसगङ्गाधर में सोदाहरण विवेचन है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

प्रथम प्रभेद

स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी हितं च तद् यत्र परानपक्रियाः।
परे च ये ते श्रितसाधुभावा सा साधुता यत्र चकास्ति केशवः।।[२]

वह पण्डित है, जिसको अपनी हितकारी वस्तु का ज्ञान हो, हित वह है, जिसमें दूसरे का अपकार न हो, दूसरे वे हैं जो सत्पुरुषता युक्त हों और सत्पुरुषता वह है, जिसमें भगवान् केशव सुशोभित हो रहे हों।

यहाँ पूर्व-पूर्व विशेष्य है और उत्तरोत्तर विशेषण और ये विशेषण-स्थापक हैं। अर्थात् विशेष्य 'पाण्डित्य' की स्थापिका हितार्थदर्शिता है। दूसरे का अपकार न करना हितार्थदर्शिता का स्थापक है; फलत: एकावली का प्रथम प्रभेद हैं।

द्वितीय प्रभेद

धर्मेण बुद्धिस्तव देव शुद्धा
बुद्ध्या निबद्धा सहसैव लक्ष्मीः
लक्ष्म्या च तुष्टा भुवि सर्वलोका
लौकैश्च नीता भुवनेषु कीर्तिः।।[३]

हे देव! आपकी बुद्धि धर्म से शुद्ध है, बुद्धि के द्वारा लक्ष्मी सहसा बाँध ली गई है, लक्ष्मी के द्वारा संसार में सब लोग सन्तुष्ट हैं और लोग आपकी कीर्ति को सब लोकों में ले गए हैं।

१. सैव शृङ्खला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ५६०)
२. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. १९८, पं.का.सं., पृ. १०५
३. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. ४५; पं.का.सं., पृ. १९६

यहाँ पूर्व-पूर्व विशेषण व उत्तर-उत्तर विशेष्य है, जैसे धर्म विशेषण बुद्धि विशेष्य, फिर बुद्धि विशेषण लक्ष्मी विशेष्य है, फलतः एकावली का द्वितीय प्रभेद है।

मालादीपक की एकावली में गतार्थता

काव्यप्रकाशकारादि प्राचीन विद्वानों ने 'मालादीपक' नामक दीपक के एक प्रभेद को स्वीकार करते हुए उसका यह लक्षण बनाया है कि 'मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्' अर्थात् यदि पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर का उपकार करें, तो मालादीपक होता है।

पण्डितराज को यह मत मान्य नहीं है। उनकी मान्यता है कि 'पूर्व-पूर्व विशेषण के द्वारा उत्तर-उत्तर को विशिष्ट बनाना' रूप एकावली का जो द्वितीय प्रभेद है, उसमें पूर्व-पूर्व पदार्थों के द्वारा किया जाता हुआ उत्तरोत्तर का उपकार यदि एक क्रियादिरूप हो, तो एकावली के इस द्वितीय प्रभेद में मालादीपक का अन्तर्भाव भी माना जा सकता है। उनका कहना है कि 'मालादीपक' में माला शब्द का अर्थ है, 'शृङ्खला' और 'दीप इव' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दीपक शब्द का अर्थ है 'दीपक के समान जो एकस्थान पर स्थित रहकर सबका उपकार करें।' फलतः 'मालादीपक' का अर्थ हुआ, 'एक स्थान पर रहकर भी सर्वोपकारक क्रियादि से शोभित होने वाली शृङ्खला।' अतः यह सिद्ध है कि मालादीपक विशेष्य-विशेषण-भावापन्न शृङ्खला है।

उनका दूसरा तर्क है कि दीपक के मूल में सादृश्य विद्यमान रहता है, पर मालादीपक में शृङ्खला के अवयवभूत पदार्थों में परस्पर सादृश्य नहीं रहता है। अतः मालादीपक को दीपक का प्रभेद नहीं माना जा सकता।

तीसरे, दीपक में कुछ पदार्थ प्रस्तुत रहते हैं, कुछ अप्रस्तुत। परन्तु शृङ्खला में आये हुए सभी पदार्थ या तो प्रस्तुत होते हैं, या अप्रस्तुत।

अतः पण्डितराज की समीक्षा के अनुसार 'मालादीपक' नामक दीपक का कोई प्रभेद नहीं होता है। यह एकावली के ही द्वितीय प्रभेद के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है।[१]

४१. सार अलङ्कार

'पूर्वोक्त शृङ्खला ही संसर्ग के उत्कृष्टापकृष्टत्व रूप होने पर सार कहलाती है।'[२] अर्थात् जहाँ वर्णनीय वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष या अपकर्ष वर्णित किया

१. रसगङ्गा.द्वि.आ., पृ. ५६३-६४।

२. सैवसंसर्गस्योत्कृष्टाप्रकृष्टभावरूपत्वे सारः। (वही, पृ. ५६५)

जाय, वहाँ सार अलङ्कार होता है। इस प्रकार सार के दो भेद होते हैं—१. पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के उत्कृष्ट होने पर और २. पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के अपकृष्ट होने पर।

पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण पद्यों की रचना की है। यथा एक श्लोक द्रष्टव्य है—

संसारे चेतनास्तत्र विद्वांसस्तत्र साधवः।
साधुष्वपि स्पृहाहीनास्तेषु धन्या निराशयाः॥[1]

संसार में चेतन प्राणी, चेतनप्राणियों में विद्वान्, विद्वानों में साधु पुरुष और साधु पुरुषों में भी निस्पृहजन तथा निस्पृह जनों में भी वासनाहीन जन धन्य हैं।

यहाँ पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर उत्कृष्ट हैं। फलतः यह उत्कृष्टता सार अलङ्कार रूप है।

तर्कन्यायमूलक एवं अन्य अलङ्कार

४२. काव्यलिङ्ग

जहाँ किसी वाक्य या पद के अर्थ का वर्णनीय विषय के हेतुरूप में कथन हो, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। काव्यलिङ्ग का अर्थ है—काव्य का कारण। इसमें वर्णनीय विषय की पुष्टि के लिये वाक्यार्थ या पदार्थ को कारण रूप में उपस्थित किया जाता है।

पण्डितराज ने विविध अलङ्कारों से इसकी अतिव्याप्ति बताते हुए अपनी विशिष्ट शैली में इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'प्रस्तुत अर्थ के उपपादक (सयुक्तिक सिद्ध करने वाले) के रूप में विवक्षित अर्थविशेष, जो अनुमिति का कारण न हो सके और जो सामान्य विशेष भाव से युक्त न हो, काव्यलिङ्ग अलङ्कार कहलाता है।'[2]

यहाँ 'उपपादक' उस अर्थ को कहा जाता है, जिसके ज्ञान से प्रस्तुत अर्थ का निश्चय होता है। 'उपपादक के रूप में विवक्षित' यह अंश इस तथ्य

---

१. रसगङ्गा.उदा., श्लो. २०४, पं.का.सं., पृ. १०५

२. अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गम्॥ (रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ५७१)

की अभिव्यक्ति के लिए है कि काव्यलिङ्ग में उपपादक अर्थ की उपपादकता का बोध शब्दतः नहीं होना चाहिए, फलतः हेतु अलंकार में जहाँ हेतु का प्रतिपादन व्याकरण की पञ्चमी विभक्ति तथा तसिल् प्रत्यय द्वारा होता है, वहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त आलङ्कारिकों ने जिस हेतु की हेतुता व्यङ्ग्य होती है, वाच्य नहीं, उसी को सुन्दरता के कारण काव्यलिङ्ग माना है।

अनुमान व अर्थान्तरन्यास इन दोनों अलङ्कारों में भी किसी कथन की सत्यता का प्रतिपादन करने के लिये क्रमशः किसी हेतु या अन्य कथन का वर्णन होता है। अतः 'अनुमिति कारणता से अनालिङ्गित', यह अंश अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में अतिव्याप्ति निवारण के लिये कहा गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि काव्य में वर्णित तथ्य की सिद्धि के लिए जहाँ उसका कारण वाक्य के अर्थ या पद (शब्द) के अर्थ में दे दिया जाता है, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।

पण्डितराज के कई श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ शिक्षामदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्मराम्यहमहंभावावृतो निस्त्रपः।
इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तो परः॥[१]

प्रभो! अत्यन्त स्वच्छ और अमृत से भी मीठी वाणी द्वारा जिस शिक्षा को आपने दिया था, उसे अहंभाव से घिरा हुआ निर्लज्ज मैं सपने में भी नहीं याद करता हूँ। हे यदुराज कृष्ण! इस प्रकार के सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर भी मुझे स्वजनों में धारण करते हुए आप से बढ़कर दूसरा दयानिधि नहीं है और मुझसे बढ़कर दूसरा कोई प्रमादी है।

यहाँ 'भगवन् आपसे बढ़कर दयानिधि कोई नहीं है', इसका हेतु दिया, 'सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर और 'शिक्षा को न मानने पर भी जो आप मुझे अपना समझते हैं।' साथ ही 'मुझसे बढ़कर कोई उन्मत्त नहीं है', इसका हेतु दिया कि 'आपकी अमृतमयी शिक्षा को मैं निर्लज्ज अहंभावावृत्त होकर स्वप्न

१. शान्त वि., श्लो. ५

में भी स्मरण नहीं करता। अत: यहाँ सम्पूर्ण वाक्य के ही श्लोक की चतुर्थ पंक्ति के कथन-विशेष का कारण होने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है।

४३. अर्थान्तरन्यास अलङ्कार

'सामान्य से विशेष का या विशेष से सामान्य का जो समर्थन होता है, उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं।'[१]

अर्थान्तर का अर्थ है, अन्य अर्थ और न्यास का अर्थ है, रखना। इस प्रकार इस अलङ्कार में किसी कथन की पुष्टि के लिये अन्य अर्थ की योजना की जाती है। सामान्यकथन का विशेष कथन के द्वारा व विशेष का सामान्य के साथ समर्थन किया जाता है। यह समर्थन साधर्म्य व वैधर्म्य दोनों से सम्भव है। पण्डितराज के कई श्लोकों में इस अलङ्कार की सुन्दर योजना हुई है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

सामान्य से विशेष का समर्थन

करिकुम्भतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभिर्विशृङ्खलैः।
कथमालि शृणोषि सादरं विपरीतार्थविदो हि योषितः।।[२]

हे सखि! उच्छृङ्खल कवियों द्वारा करिकुम्भ के साथ ही दी जाने वाली अपने स्तनों की तुलना को तुम आदरपूर्वक कैसे सुन लेती हो। निश्चय ही स्त्रियाँ विपरीत ज्ञानवाली होती है।

यहाँ पूर्वार्द्ध में कथित उक्ति विशेष है, जिसके समर्थन में उत्तरार्द्ध में सामान्य कथन वर्णित है। साथ ही यह समर्थन साधर्म्य के आधार पर है, क्योंकि प्रथम व द्वितीय दोनों वाक्य स्वीकारात्मक हैं।

विशेष से सामान्य का समर्थन

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन् मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्।।[३]

---

१. सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः। (रसगङ्गाधर, द्वि. आ., ५८९)

२. शृङ्गा.वि., श्लो. ९५; ३. प्रास्ता.वि., श्लो. ९६

स्वार्थ के लिये धनी लोगों से धन स्वीकार करने वाले व्यक्ति का मुँह अगर मलिन हो जाय, तो यह कौन सा आश्चर्य है? अन्यथा क्यों यह सम्पूर्ण मेघ दूसरों के लिये ही सागर के जल को ग्रहण करता हुआ भी कालिमा को प्राप्त करता है।

यहाँ प्रथम वाक्यगत सामान्य उक्ति का उत्तरार्द्धगत मेघ की विशेष उक्ति से समर्थन किया गया है। यह समर्थन साधर्म्य के आधार पर कथित है। फलत: विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

४४. अनुमान अलङ्कार

'अनुमान' में 'अनु' और 'मान' दो शब्द हैं; जिनका अर्थ है, लक्षण या चिह्न (अनु) का ज्ञान (मान)। अत: अनुमान का अर्थ हुआ, चिह्न के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना। इसमें चिह्न साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

पण्डितराज ने इसका लक्षण निर्धारित करते हुए 'अनुमितिकारण-मनुमानम्'[1] अर्थात् अनुमितिरूप ज्ञान विशेष के कारण अर्थात् व्याप्तिज्ञान को अनुमान कहा है। इस अलंकार के विवेचनार्थ भी पण्डितराज ने कुछ सुन्दर उदाहरण पद्यों की रचना की है। यथा निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

अम्लायन् यदरातिकैरवकुलान्यम्लासिषुः सत्वरं
दैन्यध्वान्तकदम्बकानि परितो नेशुस्तमां तामसाः।
सन्मार्गाः प्रसरन्ति साधुनलिनान्युल्लासमातन्वते
तन् मन्ये भवतः प्रतापतपनो देव प्रभातोन्मुखः॥[2]

हे देव! शत्रुरूप कुमुदकुल म्लान हो गये, दीनतारूप अन्धकार-समूह शीघ्र क्षीण हो गये, चारों तरफ फैले हुए तामस लुप्त हो गये, सन्मार्ग फैल रहे हैं और सज्जन रूप कमल उल्लास को प्राप्त कर रहे हैं। इन सब कारणों से मैं मानता हूँ कि आपका प्रतापरूपी सूर्य प्रभात की ओर उदित हो रहा है।

यहाँ 'जब-जब सूर्य प्रभातोन्मुख होता है, तब-तब कुमुद म्लान होते हैं, अन्धकार क्षीण होता है, निशाचर नष्ट होते हैं, सन्मार्ग का प्रसार होता है और कमलों का विकास होता है'। इस सामान्य व्याप्ति के आधार पर राजा के प्रतापसूर्य की प्रभातोन्मुखता के साथ शत्रुरूप कुमुद की म्लानता आदि की

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ६०९; २. प्राणा.जगदा., श्लो. १२

व्याप्ति निश्चित होने पर 'अभी आप का प्रतापसूर्य प्रभातोन्मुख है, क्योंकि अभी शत्रुकुल रूप कुमुद म्लान हो गये हैं, दारिद्र्यान्धकार क्षीण हो गया हैं, इत्यादि इस तरह की अनुमिति होती है। फलतः अनुमान अलङ्कार है।

४५. यथासंख्य अलङ्कार

'जिस क्रम से शब्दों का उच्चारण किया जाय, उसी क्रम से होने वाला उन शब्दों के अर्थों का परस्पर अन्वय यथासंख्य अलङ्कार कहलाता है।'[१] पण्डितराज ने इस अलङ्कार के स्वरूप निदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण-पद्यों की रचना की है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

वृन्दापितृगहनचरौ कुसुमायुधजननहननशक्तिधरौ।
अरिशूललाञ्छितकरौ भीतिं मे हरिहरौ हरताम्।।[२]

वृन्दावन और पितृवन (श्मशान) में विचरण करने वाले, कामदेव की उत्पत्ति और विनाश की शक्ति को धारण करने वाले एवं सुदर्शन तथा शूल से चिह्नित कर वाले हरि तथा हर मेरे भय का हरण करें।

यहाँ हरि का वृन्दावन-सञ्चरण, कामदेव की उत्पत्ति व सुदर्शन चक्र से तथा हर का पितृवन-सञ्चरण, कामदेव-विनाश व शूल से क्रमिक सम्बन्ध होने के कारण यथासंख्य अलङ्कार है।

४६. पर्याय अलङ्कार

पर्याय का अर्थ है, अनुक्रम या क्रम। इस अलङ्कार में एक ही वस्तु या एक आधेय की क्रमशः अनेक आधारों में अथवा अनेक वस्तुवों की एक आधार में स्थिति वर्णित होती है। इस प्रकार इसके दो भेद होते हैं, जिनका निर्देश करते हुए रसगङ्गाधरकार ने कहा है कि 'क्रम से अनेक अधिकरण वाला एक आधेय' एक प्रकार का पर्याय है और 'क्रम से अनेक आधेय वाला एक अधिकरण' दूसरे प्रकार का पर्याय है।[३]

पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य हैं—

---

१. उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम्। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६१६)

२. रसगङ्गाधर, उदा., श्लो. ९२, पं.का.सं., पृ. २००

३. क्रमेणानेकाधिकरणमेकमाधेयमेकः पर्यायः। क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६२५)

आयाता कमलासनस्य भवनाद् द्रष्टुं त्रिलोकीतलं
गीर्वाणेषु दिनानि कानिचिदथो नीत्वा पुनः कौतुकात्।
भ्रान्त्वा भूवलये महाकविकुलोपास्या तवास्याम्बुजे
राजन् सम्प्रति सत्यधामनि गिरां देवी सुखं वर्तते।।[१]

वाग्देवी सरस्वती ब्रह्मलोक से त्रिलोकीतल देखने को आई। इसके बाद उन्होंने कुछ दिन देवताओं के लोक में बिताये। पुन: कौतुक से महाकवि कुलोपास्या वह भूमण्डल में भ्रमण करती रहीं। हे राजन्। अब वह सत्य के निवासस्थान तुम्हारे मुखमण्डल में सुखपूर्वक रह रही हैं।

यहाँ ब्रह्मलोक, देवलोक, भूलोक आदि अनेक अधिकरणों में सरस्वती रूप एक आधेय की स्थिति वर्णित होने से पर्याय अलङ्कार है।

एक अधिकरण में अनेक आधेयरूप

विदूरादाश्चर्यस्तिमितमथ किंचित्परिचया-
दुदञ्चच्चाञ्चल्यं तदनु परितः स्फारितरुचिः।
गुरूणां संघातं सपदि मयि याते समजनि
त्रपाघूर्णत्तारं नयनमिह सारङ्गजदृशः।।[२]

गुरुजनों के समुदाय में मेरे सहसा पहुँच जाने पर कमल के समान आँखों वाली मेरी प्रेयसी नायिका की आँखे, दूर से मुझे आते हुए देखकर पहले तो आश्चर्यवश निश्छल हो गईं, फिर कुछ-कुछ पहचानने पर उनमें चञ्चलता उत्पन्न हो गई व उसके बाद सर्वथा पहचान लेने पर आँखों की कान्ति चारों तरफ फैल गई, तदनन्तर गुरुजनों के मध्य प्रीति प्रकाशन हो जाने पर लज्जा से चञ्चल पुतलियों वाली हो उठीं।

यहाँ प्रिय को अचानक देखने वाली नायिका के नयन युगल रूप एक अधिकरण में अपरिचय, अल्पपरिचय व पूर्ण परिचय रूप कारणों से निश्चलता, चञ्चलता, कान्तिमत्ता आदि अनेक आधेयों की स्थिति क्रमशः वर्णित है, फलतः द्वितीय पर्याय है।

४७. परिवृत्ति अलङ्कार

'दूसरे की किसी वस्तु को लेकर उसके बदले में अपनी किसी वस्तु का उसके लिये समर्पण परिवृत्ति कहलाता है।[३] अर्थात् एक शब्द में इसका लक्षण 'क्रय' कहा जा सकता है।

१. प्राणा.जगदा., श्लो. १६; २. शृङ्गा.वि., श्लो. ६०

३. परिकीययत्किंचिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किंचिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः।
(रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६३६)

वस्तु-विनिमय का यह व्यापार जहाँ कवि कल्पित होता है, वहीं इस अलङ्कार की स्थिति होती है। जहाँ वास्तविक लेन-देन होता है, वहाँ यह अलङ्कार नहीं होता।

परिवृत्ति के भेद

परिवृत्ति के प्रथमत: दो भेद होते हैं—१. सम परिवृत्ति और २. विषम परिवृत्ति। समपरिवृत्ति के भी दो प्रकार हैं—उत्तम वस्तुवों से उत्तम वस्तु की परिवृत्ति और न्यून वस्तुवों से न्यून वस्तु की परिवृत्ति। इसी तरह विषम परिवृत्ति के भी दो प्रकार हैं—उत्तम वस्तुओं से न्यून वस्तु की परिवृत्ति और न्यूनों से उत्तमों की। रसगङ्गाधरकार ने इन सभी भेदों के निदर्शनार्थ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना कर रसगङ्गाधर में इनका विस्तृत विवेचन किया है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

१. समपरिवृत्ति

अस्थिमालामयीं दत्त्वा मुण्डमालामयीं तनुम्।
गृह्णतां त्वत्पुरस्थानां को लाभः स्मरशासन॥[1]

हे कामदेव के शत्रु! अस्थिमालामय शरीर देकर मुण्डमालामय शरीर का ग्रहण करने वाले तुम्हारे नगर काशी के वासियों को क्या लाभ?

शास्त्रकारों के धार्मिक विश्वास के अनुसार काशी में मरने वाले शिवरूप हो जाते हैं। अत: यह कहा गया है कि काशी में मरने वाले अपने अस्थिमालामय शरीर को देकर मुण्डमालामय अलङ्कृत शरीर को खरीद लेते हैं। परन्तु इस विनिमय में उन्हें लाभ नहीं होता है; क्योंकि अस्थिमालामय और मुण्डमालामय शरीर समान हैं। इस प्रकार यहाँ न्यून से न्यून की क्रयरूप समपरिवृत्ति है।

२. विषमपरिवृत्ति

किमहं कथयामि योषितामधरं बिम्बफलं समर्प्य याः।
सुरसानि हरन्ति हन्त हा विदुषां पुण्यफलानि सत्वरम्॥[2]

स्त्रियों से मैं क्या कहूँ, जो अधर (निकृष्ट ओष्ठ) रूपी बिम्बफल का समर्पण करके बदले में खेद है कि विद्वानों के सुरस (रसीले+स्वर्ग सुखद) पुण्यफलों को तत्काल हर लेती हैं।

---

१. रसगङ्गा.उदा.श्लो. १२, पं.का.सं., पृ. १९४।

२. वही, श्लो. ५१, पृ. ९३

यहाँ न्यून से उत्तम क्रय रूप विषम परिवृत्ति है।

४८. परिसंख्या अलङ्कार

'किसी विशेष विलक्षणता को सूचित करने के लिये सामान्यत: प्राप्त वस्तु का निषेध परिसंख्या कहलाता है।'[१] अभिप्राय यह है कि किसी पदार्थ की अन्य स्थानों में स्थिति सम्भव रहने या प्राप्त होने पर भी, किसी विशिष्ट विलक्षणता को सूचित करने के लिये उस वस्तु का अन्यत्र निषेध वर्णित कर उसे एक स्थल पर नियन्त्रित करने पर परिसंख्या अलङ्कार होता है।

परिसंख्या के भेद

परिसंख्या के प्रथमत: दो भेद होते हैं—एक शुद्धा अर्थात् प्रश्नरहिता और दूसरी प्रश्नपूर्विका। इन दोनों के ही शाब्दी व आर्थी ये दो भेद होते हैं। इसप्रकार परिसंख्या के चार भेद होते हैं।

पण्डितराज ने इन भेदों के निदर्शनार्थ सुन्दर उदाहरण श्लोकों की रचना की है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मति:
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदय:।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोध: सखे
क: शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां चय:॥[२]

हे मित्र कहो, तीर्थ क्या है? भगवान् के चरणकमल का भजन। रत्न क्या है? स्वच्छ बुद्धि। शास्त्र क्या है? जिसके सुनने से द्वैतरूप अन्धकार का उदय विनष्ट हो जाय। निरन्तर उपकार में रसिक मित्र कौन है? तत्त्वज्ञान। कष्ट देने में निपुण शत्रु कौन है? दुर्वासनाओं का सञ्चय।

यहाँ भगवच्चरण भजनादिक ही तीर्थादिक हैं, अन्य नहीं, यह अर्थ वक्ता की इच्छा के आग्रह से ज्ञात होता है। यह प्रतीति शाब्द नहीं, आर्थ है। फलत: आर्थी परिसंख्या है और प्रश्न संनिहित होने के कारण प्रश्नपूर्विका है।

४९. अर्थापत्ति अलङ्कार

'तुल्ययुक्ति के बल पर किसी एक अर्थ से दूसरे अर्थ की आपत्ति होने पर अर्थापत्ति अलङ्कार होता है।'[३]

१. सामान्यत: प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद्व्यावृत्ति: परिसंख्या॥ (रसगङ्गाधर, पृ. ६४१)
२. प्रास्ता.वि., श्लो. ८१
३. केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्ति:॥ (रसगङ्गाधर, पृ. ६५०)

इस अलङ्कार में एक अर्थ की सिद्धि के लिये अन्य अर्थ की स्वतः उपस्थिति का वर्णन होता है। पण्डितराज ने इस अलङ्कार के निदर्शनार्थ कुछ सुन्दर उदाहरण पद्यों की रचना की है। निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

लीलालुण्ठितशारदापुरमहासंपद्भराणां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत् पामराः।
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां शशाः
सिंहानां च सुखेन मूर्धसु पदं धास्यन्ति शालावृकाः॥[१]

अनायास सरस्वती नगर के ज्ञान को लूट लेने वाले अर्थात् प्रगाढ़ विद्वत्ता वाले हम लोगों के सामने यदि विद्यामन्दिर से गिरते हुए कणों को चुराने वाले मूर्ख लोग डींग हाँकते हैं, तो आज या कल पक्षियों के बच्चे साँपों के, खरगोश हाथियों के और कुत्ते सिंहों के सिर पर अनायास पैर रखेगें।

यहाँ प्रस्तुत विद्वान् और मूर्खों के वृत्तान्त के समान युक्ति के आधार पर अप्रस्तुत सर्प-पक्षीशावक, खरगोश-गज, कुत्ता-सिंह के वृत्तान्त की उपस्थिति हुई है, फलतः अर्थापत्ति है।

५०. विकल्प अलङ्कार

'दो विरोधी पदार्थों की पाक्षिक (जब एक प्राप्त हो, तब दूसरा न प्राप्त हो) प्राप्ति को विकल्प अलङ्कार कहते हैं।'[२]

विकल्प अलंकार में दोनों पदार्थ समान बल वाले होते हैं, फलतः ऐसे दो धर्मों का जब एक धर्मी में वर्णन रहता है, तो उसका यही अर्थ रहता है कि उन धर्मों की पाक्षिक स्थिति बारी-बारी से वर्णित होती है। एक काल में दोनों पदार्थों में से एक का रहना ही यहाँ सम्भव होता है।

इस अलङ्कार में विकल्पित होने वाले पदार्थों में सादृश्य की स्थिति होना आवश्यक है। जहाँ सादृश्य की प्रतीति नहीं होती, वहाँ केवल विकल्प होता है, विकल्प अलङ्कार नहीं। उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

प्राणानर्पय सीतां वा गृध्रांस्तर्पय वा द्विजान्।
यमं भजस्व रामं वा यथेच्छसि तथा चर॥[३]

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ७०
२. विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः॥ (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६६१)
३. रसगङ्गाधर उदा., श्लो. ६०, पं.का.सं., पृ. १९८

रावण के प्रति वक्ता का कथन है कि—हे रावण! तू प्राणों का अर्पण कर या सीता का, गृध्रों को तृप्त कर अथवा ब्राह्मणों को, यम की सेवा कर अथवा राम की, जैसी इच्छा हो कर।

यहाँ अर्पण, तर्पण या सेवन तीन क्रियाएँ हैं। उनके कर्मरूप में प्राणनाश प्रमाण से अर्थात् रावण को यदि अपने प्राणों की आहुति देना अभीष्ट हो, तो क्रम से प्राण, गृध्र और यम प्राप्त हैं। इसी तरह जीवनरक्षण प्रमाण से अर्थात् रावण को अपने जीवन की सुरक्षा जब अभीष्ट हो, तो उन्हीं क्रियाओं में क्रमश: सीता, ब्राह्मण और राम कर्म के रूप में प्राप्त हैं। विरुद्ध होने के कारण उनकी स्थिति एक साथ सम्भव नहीं है। अर्थात् प्राणों का अर्पण करना हो तो सीता का अर्पण प्राप्त नहीं है, सीता का अर्पण करना हो तो प्राणों का अर्पण प्राप्त नहीं। दोनों ही समबल हैं, अत: क्रमश: एक अथवा दूसरे की स्थिति मानी जाएगी।

तीनों क्रियाओं के दोनों कर्मयुग्मों (प्राण-सीता, गृध्र-द्विज) का परस्पर सादृश्य भी प्रतीत होता है और सादृश्य के नियामक धर्म हैं, अपनी-अपनी क्रिया का फल। गृध्र व ब्राह्मण का समान धर्म तर्पण क्रिया का फल और यम तथा राम का समान धर्म है, भजन क्रिया का फल। इस प्रकार विकल्प के सभी लक्षण घटित होने के कारण यह पद्य विकल्प अलङ्कार का उदाहरण है।

५१. समुच्चय अलङ्कार

अनेक पदार्थों के एक साथ होने वाले अन्वय को समुच्चय अलङ्कार कहते हैं।'[१]

समुच्चय का अर्थ है, समूह। इस अलङ्कार में अनेक भावों, गुणों, क्रियाओं एवं कारणों का समूह एक स्थान पर एकत्रित हो जाता है। पण्डितराज के कुछ रचना-श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

आताम्रा सिन्धुकन्याधवचरणनखोल्लासिकान्तिच्छटाभि-
र्ज्योत्स्नाजालैर्जटानां त्रिपुरविजयिनो जातजाम्बूनदश्री:।
स्वाभाव्यादच्छमुक्ताफलरचितलसद्गुच्छसच्छायकाया
पायादायासजालादमरसरिदघव्रातजातश्रमान् न:।।[२]

१. युगपत्पदार्थानामन्वय: समुच्चय:। (रसगङ्गाधर, पृ. ६७०)
२. रसगङ्गा.उदा.श्लो. १९, पं.का.सं., पृ. १९४

गङ्गाभक्त की उक्ति है—लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के चरणनखों की उल्लासमय कान्ति की छटाओं से रक्तवर्णा, शिव की पीली-पीली जटाओं के कान्ति-समूह से सुवर्ण की सी शोभावाली और स्वभावतः स्वच्छ मोतियों से बनाए गये सुन्दर गुच्छों के समान शरीरवाली गङ्गा, पाप समूह से थके हुए हम लोगों की कष्ट-समूह से रक्षा करे।

यहाँ रक्तता, स्वर्णिमता, शुभ्रता इत्यादि अनेक गुणों का गङ्गारूपी एक धर्मी में एक साथ अन्वय है, फलतः समुच्चय है।

५२. समाधि अलङ्कार

'किसी एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में जो अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से कार्यसिद्धि में सुगमता आ जाती है, उसे समाधि अलङ्कार कहते हैं।'[१]

समाधि का अर्थ है—'सम्यक् आधिः' अर्थात् कार्य का सुगमतापूर्वक सिद्ध होना। इसका अन्य अर्थ सौकर्य भी होता है, जिसका अर्थ है कार्य की अनायास सिद्धि। अतः इस अलङ्कारं का सौन्दर्य अनायास प्रस्तुत हो जाने वाले कारण के द्वारा कार्य-सिद्धि में है। पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा एक श्लोक द्रष्टव्य है—

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती
मानो मे कथमेष सम्प्रति निरातङ्कं हृदि स्थास्यति।
ऊहापोहमिमं सरोजनयना यावद् विधत्तेतरां
तावत् कामनृपातपत्रसुषमं बिम्बं बभासे विधोः॥[२]

मृगनयनियों के हृदय को जगाती हुई (उत्सुक करती हुई) रात्रि आ ही गई। 'अब यह मान निर्भय होकर मेरे मन में कैसे ठहरेगा', इस प्रकार ऊहापोह करती हुई कमलनयनी नायिका जबतक जल्दी करती है, तबतक राजा कामदेव के छत्र की उत्कृष्ट शोभा के समान शोभा वाला चन्द्रमण्डल चमक उठा।

यहाँ केवल रात हो जाने और नायिका के मान परित्याग की इच्छा करने से ही जिस मानभङ्ग की सिद्धि हो सकती थी, उसकी सिद्धि चन्द्रोदय होने के कारण अनायास हो गई। अतः समाधि अलङ्कार है।

१. एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधिः। (रसगङ्गाधर, पृ. ६८२)
२. शृङ्गा.वि., श्लो. ५८

५३. प्रत्यनीक अलङ्कार

'प्रतिपक्ष (शत्रु) से सम्बद्ध व्यक्ति अथवा वस्तु के तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं।'[१]

व्यूहरचनाकार सैन्य को अनीक कहते हैं और अनीक के सदृश को प्रत्यनीक कहते हैं। संसार में शत्रु के तिरस्कार के लिये अनीक (सेना) का प्रयोग किया जाता है; परन्तु अपने बलवान् शत्रु का तिरस्कार करने में असमर्थ होकर शत्रु के किसी सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाता है। इस तिरस्कार का भी सेना की तरह प्रयोग किया जाता है। अत: ऐसे तिरस्कार को प्रत्यनीक कहा जाता है। ऐसे तिरस्कार में शत्रु की बलवत्ता और अपनी दुर्बलता की अभिव्यक्ति होती है। शत्रु के सम्बन्धी, उपजीव्य, उपजीवक इत्यादि के भेद से इसके अनेक प्रकार होते हैं।

पण्डितराज ने सुन्दर उदाहरण-श्लोकों की रचनाकर इस अलङ्कार का स्वरूप निरूपण किया है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

रे रे मनो मम मनोभवशातनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम्।
किं मां निपातयसि संसृतिगर्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोक:॥[२]

रे मेरे मन! तू निरन्तर कामशत्रु शङ्कर के चरण-कमल युगल को अच्छी तरह प्रणाम करते हुए मुझे संसार रूपी गड्ढे के बीच ढ़केल रहा है। इतने से तो तेरा पुत्र शोक मिट नहीं जाएगा।

मन के पुत्र कामदेव हैं और कामदेव को शङ्कर ने भस्म किया था। अब मन अपने पुत्र के वैरी भगवान् शङ्कर का अहित करने में असमर्थ हैं, फलत: वह उनके चरण-कमलों की वन्दना करने वाले वक्ता (भक्त) को बार-बार माया-मोह के जाल में फँसा-फँसा कर संसाररूपी गर्त में ढकेल रहा है। अत: प्रत्यनीक अलङ्कार है।

५४. प्रतीप अलङ्कार

प्रतीप का अर्थ है—विपरीत, तिरस्कार, उल्टा या विलोम। इस अलङ्कार में उपमान तथा उपमेय के स्वाभाविक सम्बन्ध को उल्टा कर दिखाया जाता

१. प्रतिपक्षसंबन्धिनस्तिरस्कृति: प्रत्यनीकम्॥ (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ६८६)

२. शान्त.वि., श्लो. २१

है। इसमें उपमान की उपमेय के रूप में कल्पना करने के कारण विपरीतता का भाव दिखलाई पड़ता है।

इस अलङ्कार की स्थिति पाँच रूपों में होती है। ये इस प्रकार हैं— १. लोकप्रसिद्ध उपमा से विपरीत रूप में वर्णित होने वाली उपमा प्रतीप का प्रथम प्रकार है, २. किसी गुणविशेष के कारण होने वाले उपमान के अद्वितीयता रूप उत्कर्ष का परिहार करने के लिये द्वितीय तत्समक्ष वस्तु को दिखलाकर उठाया जाता हुआ सादृश्य प्रतीप का द्वितीय प्रकार है, ३. किसी गुणविशेष के कारण होने वाले उपमेय के अद्वितीयता रूप उत्कर्ष का परिहार करने के लिये द्वितीय तादृश वस्तु को दिखलाकर वर्णित होने वाली समता प्रतीप का तृतीय प्रकार है, ४. उपमान के विषय में 'यह क्यों है' इस तरह की जिज्ञासा वर्णित होने पर प्रतीप का चतुर्थ प्रकार होता है और ५. सादृश्य के विघटन का वर्णन होने पर प्रतीप का पञ्चम प्रकार होता है।[1]

पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार की सुन्दर स्थिति विद्यमान है। निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

माहात्म्यस्य परोऽवधिर्निजगृहं गम्भीरतायाः पिता
रत्नानामहमेक एव भुवने को वाऽपरो मादृशः।
इत्येवं परिचिन्त्य मा स्म सहसा गर्वान्धकारं गमो
दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीप्राणनारायणः॥[2]

हे क्षीर समुद्र! मैं अकेला ही माहात्म्य की पराकाष्ठा हूँ, गम्भीरता का निज भवन हूँ और रत्नों का जनक हूँ। संसार में मुझ-सा और कौन है? इस प्रकार सोचकर सहसा गर्वान्धकार में मत डूब। तेरे समान प्राणनारायण विजयित हैं।

यहाँ माहात्म्य की चरम सीमा होने आदि गुणों के कारण उत्पन्न दुग्ध समुद्र रूप उपमान के अद्वितीयात्मक उत्कर्ष को दूर करने के लिये प्राणनारायण को द्वितीय के रूप में दिखलाकर सादृश्य का वर्णन किया गया है, अत: यह पद्य प्रतीप अलङ्कार का उदाहरण है।

५५. प्रौढोक्ति अलङ्कार

'किसी पदार्थ में किसी धर्म के कारण अतिशय (उत्कर्ष) के प्रतिपादन की इच्छा से, जिसमें वह धर्म प्रसिद्ध हो, उस पदार्थ के साथ, इस पदार्थ के सम्बन्ध का उद्‌भावन (कल्पना) प्रौढोक्ति है।'[3]

१. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ६९२-९३; २. प्राणा.जगदा., श्लो. ५
३. कस्मिंश्चिदर्थे किंचिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवतासंसर्गस्योद्‌भावनं प्रौढोक्तिः। (रसगङ्गाधर, पृ. ७०३)

यह सम्बन्ध वास्तविक तथा काल्पनिक दोनों तरह का हो सकता है। पण्डितराज ने इस अलंकार के निदर्शनार्थ भी सुन्दर उदाहरण-पद्यों की रचना कर इसका विवेचन रसगङ्गाधर में सम्यक् रूपेण किया है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

वल्मीकोदरसम्भूत-कपिकच्छूसहोदराः।
हा पीडयित्वा निघ्नन्ति सज्जनान् दुष्टदृष्टयः॥[१]

हाय! वल्मीकों (कीटों द्वारा निर्मित मिट्टी के बिल) के उदर (मध्य) से उत्पन्न कपिकच्छू (कोंछ=कवांछ एक प्रकार की लता, जिसके स्पर्श मात्र से भयंकर खुजली हो जाती है) के सहोदर (समान) दुष्ट-दृष्टि वाले (दुर्जन) सज्जनों को पीड़ा देकर मारते हैं।

यहाँ कवि का अभिलषित अर्थ है, दुष्ट व्यक्तियों में पीड़ोत्पादनपूर्वक मारणरूप अतिशय की प्रतीति कराना। परन्तु इस अर्थ की प्रतीति दुष्ट-दृष्टियों के विशेषण के रूप में केवल 'कपिकच्छू सहोदर' कहने से नहीं होती। कारण, कपिकच्छू में केवल पीड़ाजनकता होती है, मारकता नहीं। अत: कवि ने मारकता की प्रतीति कराने के लिये 'कपिकच्छू' के विशेषण के रूप में 'वल्मीकोदरसम्भूत' इस विशेषण की कल्पना की है। 'वल्मीकोदरसम्भूत' का अर्थ है, सर्प के रहने की जगह रहना। अत: इस विशेषण से कपिकच्छू की सर्पनिवास में स्थिति सूचित होती है। इससे उसकी विषयुक्तता ज्ञात होती है, जिसके फलस्वरूप उसकी मारकता की प्रतीति होती है। इस तरह 'कपिकच्छू' के सहोदर होने से दुष्ट-दृष्टियों में मारकता सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार यहाँ मारकतारूपी अतिशय की प्रतीति कराने के लिये दुष्ट दृष्टियों के साथ 'वल्मीकोदरसम्भूत कपिकच्छू' के सहोदर सम्बन्ध की कल्पना करने के कारण प्रौढोक्ति अलङ्कार है।

५६. ललित अलङ्कार

जब वर्णनीय वृत्तान्त का कथन न कर उसके प्रतिबिम्ब का वर्णन हो, तो ललित अलङ्कार होता है। रसगङ्गाधरकार ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि, 'प्रस्तुत धर्मी में प्रस्तुत व्यवहार का उल्लेख न करके निरूपित किया जाता हुआ अप्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध ललित अलङ्कार कहलाता है।'[२]

१. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. ७०४
२. प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणो प्रकृतव्यवहारसम्बन्धो ललितालङ्कारः। (रसगङ्गाधर, द्वि.आ. पृ. ७१२)

पण्डितराज ने सुन्दर श्लोक संरचना कर इस अलङ्कार का निरूपण भी रसगङ्गाधर में सम्यक् रूपेण किया है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

क्व वा रामः कामप्रतिभटललाटन्तपबल-
स्तव क्वामी वीरा रणशिरसि धीरा मखभुजाम्।
दिधक्षोस्त्रैलोक्यं प्रलयशिखिनः पद्ममथन-
प्रगल्भैः प्रालेयैः प्रशममसि कर्तुं व्यवसितः॥[1]

रावण के प्रति किसी का कथन है कि—कामविनाशक शिवजी के ललाट को भी तपा देने वाला बल है जिसका, ऐसे भगवान् राम कहाँ और यज्ञभोक्ता देवताओं के युद्ध के अग्रभाग में धीर बने रहने वाले तेरे ये वीर योद्धा कहाँ? तुम तो कमलों को नष्ट करने में निपुण हिमकणों से त्रिलोकी को जलाने की इच्छा करने वाले प्रलयाग्नि की शान्ति करने के लिये उद्यत जान पड़ते हो।

यहाँ प्रस्तुत धर्मी है रावण, उसमें 'दूसरों से दिए गए पुरोडाश को खाते हुए देवताओं के आगे धीरता दिखाने वाले कुम्भकर्ण आदि वीरों से भगवान् राम के पराभाव की इच्छा करता हुआ', इस रूप में इच्छित प्रस्तुत व्यवहार का उल्लेख शब्दत: न करके 'कमलविनाश में निपुण जलकणों से जगत्त्रयदाहक प्रलयाग्नि के शमन की इच्छा' रूप अप्रस्तुत व्यवहार से किया गया है। अत: ललित अलङ्कार है।

५७. प्रहर्षण अलङ्कार

'वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति के उद्देश्य से साक्षात् यत्न न करने पर भी वाञ्छितार्थ की प्राप्ति को प्रहर्षण कहते हैं।'[2]

प्रहर्षण का अर्थ है प्र+हर्षण अर्थात् प्रकृष्ट रूप से हर्षण। इसमें प्रयत्न के अभाव में भी वाञ्छितार्थ की सिद्धि या अभीष्ट से अधिक लाभ होने से उत्कट हर्ष की प्राप्ति होती है। इसके तीन प्रकार होते हैं—१. अकस्मात् बिना यत्न के वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति, २. वाञ्छितार्थ की सिद्धि के लिए यत्न किए जाने पर उस वाञ्छित से भी अधिकतर अर्थ की प्राप्ति और ३. उपाय की सिद्धि के लिए किये जाने वाले यत्न से साक्षात् फल का लाभ।

---

१. रसगङ्गा.उदा., श्लो. ७१, पं.का.सं., पृ. ९५।

२. साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम्॥ (रसगङ्गाधर, पृ. ७२६)

रसगङ्गाधर में इन सभी भेदों का सोदाहरण निरूपण है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

तिरस्कृतो रोषवशात् परिष्वजन्
प्रियो मृगाक्ष्या शयितः पराङ्मुखः।
किं दुःखितोऽसाविति कांदिशीकया
कयाचिदाचुम्ब्य चिराय सस्वजे॥[1]

किसी मृगाक्षी नायिका ने आलिङ्गन करते हुए प्रिय का रोषवश तिरस्कार कर दिया। प्रिय मुँह घुमाकर सो गया, तब 'क्या यह मूर्च्छित हो गया' ऐसा समझकर घबराई हुई उस नायिका ने चुम्बन लेकर देर तक उसका आलिङ्गन किया।

यहाँ आलिङ्गन के लिये सर्वथा यत्न छोड़कर सोए हुए नायक को आलिङ्गन, चुम्बन रूप अभीष्ट लाभ का वर्णन हुआ है, अतः प्रहर्षण है।

५८. विषादन अलङ्कार

'इष्ट से विरुद्ध वस्तु की प्राप्ति का नाम विषादन है।'[2]

'विषादन' का अर्थ है, विशेष दुःख होना। अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति में दुःख होता है, फलतः इष्टार्थ के विपरीत फल की प्राप्ति के वर्णन में विषादन अलङ्कार होता है—

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटितारपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः संप्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः॥[3]

अपने-अपने कार्यों में लोगों के तल्लीन हृदय हो, मेरे पास से हट जाने पर मैं अपनी चोंच की नोक से दरवाजे को तोड़कर पिंजड़े से निकल भागूँगा, इस प्रकार श्रेष्ठ तोते के संकल्पात्मक अमृत का आस्वादन करते समय ही हाथी की सूँड़ के आकारवाला नागराज (पिंजड़े के) भीतर घुस आया।

यहाँ अप्रस्तुत शुक वृत्तान्त से प्रस्तुत भग्नाश पुरुष वृत्तान्त की अभिव्यक्ति होने के कारण अङ्गीरूप में अप्रस्तुतप्रशंसा विद्यमान है। साथ ही तोते

१. शृङ्गा.वि., श्लो. ९६

२. अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम्॥ (रसगङ्गाधर, पृ. ७३३); ३. प्रास्ता.वि., श्लो. ५६।

के 'पिंजड़े से निकल भागने रूप' इष्टार्थ से विरुद्ध 'सर्पराज का पिंजड़े में प्रवेश' रूप अर्थ प्राप्त है। अतः विषादन अलङ्कार है।

उपर्युक्त श्लोक के अतिरिक्त पण्डितराज के कई अन्य श्लोकों में भी इस अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

५९. उल्लास अलङ्कार

'एक के गुण दोष के कारण दूसरे में गुणदोष का आधान उल्लास अलङ्कार कहलाता है।'[१]

यहाँ आधान का अर्थ है—एक के गुणदोष के कारण दूसरे की गुणदोष युक्तता का ज्ञान। यह आधान चार प्रकार का होता है—१. गुण से गुण का, २. गुण से दोष का, ३. दोष से गुण का और ४. दोष से दोष का। इन सभी प्रभेदों का रसगङ्गाधर में विस्तृत विवेचन हुआ है। पञ्चलहरियों में इस अलङ्कार का प्रयोग अधिक हुआ है। निदर्शनार्थ निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य है—

अलभ्यं सौरभ्यं हरति सततं यः सुमनसां
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतभृताम्।
त्वदीयानां लीलाचलितलहरीणां व्यतिकरात्
पुनीते सोऽपि द्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम्॥[२]

हे गङ्गे! जो वायु पुष्पों की अलभ्य सुगन्धि का सदा हरण करती है और विरह रूपी शस्त्र से आहत हृदयवालों अर्थात् विरहियों के प्राणों का भी क्षणभर में हरण कर लेती है, आश्चर्य है, वह भी तुम्हारी लीला से चलित लहरियों के संसर्ग मात्र से तत्काल तीनों लोकों को पवित्र करने वाली बन जाती है।

यहाँ गङ्गा तरङ्गों में विद्यमान उत्कृष्ट पवित्रता रूपी गुण से वायु में पवित्रता गुण के ज्ञान का वर्णन हुआ है। अतः यहाँ गुण से गुण का आधान रूप उल्लास अलङ्कार है।

६०. अवज्ञा अलङ्कार

'उसके विपर्यय को 'अवज्ञा' कहते हैं।'[३] अर्थात् उल्लास का अभाव अवज्ञा है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक में रहने वाले गुण-दोष से दूसरे सम्पर्की का प्रभावित न होना 'अवज्ञा' अलङ्कार है।

---

१. अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लासः। (रसगङ्गाधर, पृ. ७३७)
२. गङ्गालहरी, श्लो. ३५; ३. तद्विपर्ययोऽवज्ञा। (रसगङ्गाधर, पृ. ७४३)।

पण्डितराज ने इस अलंकार के निदर्शनार्थ भी सुन्दर उदाहरण-पद्यों की रचना की है। निम्नोद्धृत पद्य द्रष्टव्य है—

मध्येगलं विहरतां गरलं निकामं
नागाधिपः शिरसि भालतले हुताशः।
ध्याता भवज्वलनमध्यगतैस्तथापि
तापं तदैव हरते हर ते तनुश्रीः॥[1]

हे हर! आपके गले के मध्य गरल, सिर पर सर्पराज और भाल पर अग्नि भले ही विहार करे, तथापि भवाग्नि में पड़े हुए लोगों द्वारा ध्यान में लाई गई आपकी तनुकान्ति तत्काल ताप का हरण करती है।

यहाँ गरल, सर्पराज और अग्नि की दोषतापकता के कारण भगवान् शिव की मूर्ति में क्रूरता, तीक्ष्णता आदि दोषों के आधान का अभाव वर्णित है; फलतः अवज्ञा अलङ्कार है।

६१. अनुज्ञा अलङ्कार

'किसी गुणविशेष की उत्कट लालसा से दोष रूप में प्रसिद्ध वस्तु की प्रार्थना (इच्छा) अनुज्ञा अलङ्कार है।'[2]

प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिबद्धाञ्जलिरेकमेव याचे।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम्॥[3]

हे भगवन्! आपसे हाथ जोड़कर प्रणाम करने के बाद एक ही यथार्थ प्रार्थना करता हूँ कि मेरा जन्म कृषकों के कुल में भले हो, पर ऐसे कृषकों के, जो भगवान् के चरण-कमलों के सेवक हों।

यहाँ भगवद्भक्ति की उत्कट लालसा से कृषक कुल में जन्म की प्रार्थना की गई है, जो दोष रूप में प्रसिद्ध है।

६२. तिरस्कार अलङ्कार

'किसी दोष के सम्बन्ध से गुण रूप में प्रसिद्ध वस्तु का भी द्वेष 'तिरस्कार' अलङ्कार कहलाता है।'[4] उदाहरणार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

१. पं.का.सं., पृ. १०१, श्लो. १५२
२. उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा। (रसगङ्गाधर, पृ. ७४७)
३. करुणालहरी, श्लो. ५५
४. दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः। (रसगङ्गाधर, पृ. ७४८)

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझंकारसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलदृशां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते।।[1]

मेरे पास मतवाले हाथियों के मदजल के लिये घूमती हुई भ्रमरपंक्ति के मधुर संगीत से सुन्दर सम्पत्तियाँ क्षण भर के लिये भी न हों, जिसमें डूबे हुए धन रूपी मदिरा से चढ़ी हुई आँखों वाले लोगों का भगवान् के चरणों की सेवा का पुण्य नष्ट हो जाता है।

यहाँ भगवच्चरण की सेवा छूटने के भय से राज्यसुख का द्वेष वर्णित है, फलतः तिरस्कार अलङ्कार है।

६३. लेश अलङ्कार

'अनिष्ट का साधन हो जाने से गुण का द्वेष रूप में और इष्ट का साधन हो जाने से दोष का गुण रूप में वर्णन लेश अलङ्कार है।'[2]

पण्डितराज के कुछ श्लोकों में इस अलङ्कार का बड़े सुन्दर ढंग से प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः।।[3]

हे माँ गङ्गे! पृथ्वीतल वासियों के शोक को दूर करने के लिये स्वर्गलोक से आई हुई तुम शिव जी के द्वारा जटा-जूट की गाँठ में बाँध ली गई हो, इसमें किसी का दोष नहीं है, अपितु निर्लोभियों के मन में भी लोभ उत्पन्न करने वाले तुम्हारे गुणों के ही कारण यह दोष उंत्पन्न हुआ है।

यहाँ गुणों की दोषरूपता वर्णित है, फलतः लेश है।

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम्।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः।।[4]

---

१. शान्त वि., श्लो. १८

२. गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन, दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनं लेशः। (रसगङ्गाधर, पृ. ७५६)

३. गङ्गालहरी, श्लो. १४; ४. प्रास्ता. वि., श्लो. ८३

निर्गुणता ही अच्छी है। गुणों के गौरव को धिक्कार है, वन में दूसरे वृक्ष तो सुशोभित रहते हैं, लेकिन चन्दन के वृक्ष काट डाले जाते हैं।

यहाँ दोष का गुण रूप में वर्णन है, फलत: लेश है।

६४. तद्गुण अलङ्कार

'अपने गुण का त्याग करके निकटस्थ अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण 'तद्गुण' अलङ्कार है।'[१] उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

नीतो नासान्तिकं तन्व्या मालत्या: कुसुमोत्कर:।
बन्धूकभावमानिन्ये रागेणाधरवर्तिना।।[२]

कृशाङ्गी नायिका ने मालती के जिस उजले पुष्पसमूह को अपनी नाक के पास रखा, वह अधर की लाली से बन्धूक बन गया।

यहाँ मालती पुष्प-समूह ने अधर के रङ्ग की निकटता से अपने शुभ्रता गुण का त्याग कर रक्तिमा गुण का ग्रहण कर लिया है, अत: तद्गुण है।

६५. अतद्गुण अलङ्कार

'तद्गुण का विपर्यय अतद्गुण है।'[३] अर्थात् अपने गुण का त्याग न करने के कारण निकटस्थ अन्य के गुण का ग्रहण न करना अतद्गुण अलङ्कार कहलाता है। निदर्शनार्थ एक श्लोक द्रष्टव्य है—

कुचाभ्यामालीढं सहजकठिनाभ्यामपि रमे
न काठिन्यं धत्ते तव हृदयमत्यन्तमृदुलम्।
मृगाङ्गानामन्तर्जननि निवसन्ती खलु चिरं
न कस्तूरी दूरीभवति निजसौरभ्यविभवात्।।[४]

हे माँ लक्ष्मी! तुम्हारा अत्यन्त कोमल हृदय कठिन कुचों से व्याप्त होकर भी कठोरता नहीं धारण करता। ठीक ही है, चिरकाल तक मृग के अङ्गों में निवास करती हुई कस्तूरी अपनी सौरभ-सम्पत्ति से दूर नहीं होती!

यहाँ अतद्गुण की द्विविध स्थिति है। पूर्वार्द्ध में हृदय अपनी स्वाभाविक कोमलता नहीं छोड़ता व कुचों की कठिनता का ग्रहण नहीं करता, फलत: अपने

१. स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुण:। (रसगङ्गाधर, द्वि. आ. पृ. ७६१)
२. रसगङ्गा.उदा., श्लो. १२९, पं.का.सं., पृ. ९९
३. तद्विपर्ययोऽतद्गुण:। (रसगङ्गाधर, पृ. ७६३)
४. रसगङ्गा.उदा., श्लो. ५५, पं.का.सं., पृ. ९४

गुण का त्याग न करना व दूसरे के गुण के ग्रहण न करने के कारण अतद्गुण है तथा उत्तरार्द्ध में यह गुण अत्याग कस्तूरी करती है व कस्तूरी मृग के अङ्गों की निर्गन्धतारूपी गुण का ग्रहण नहीं करती है, फलतः अतद्गुण है।

६६. मीलित अलङ्कार

'अत्यन्त समानता के कारण, स्पष्ट उपलब्ध हो रही किसी वस्तु के लिङ्गों (ज्ञापकों) से, भिन्नता से न प्रतीत होने वाले किसी अन्य वस्तु के लिङ्गों द्वारा अपने कारण (अन्य वस्तु) के अनुमान न करवाने को मीलित अलङ्कार कहते हैं।'[१]

अभिप्राय यह है कि स्पष्ट प्रतीत न होने वाली वस्तु की भी अनुमिति उसके स्पष्ट प्रतीत अनुमापक चिन्हों द्वारा हो जाती है। पर यदि वे चिह्न किसी अन्य स्पष्ट रूप से ज्ञात वस्तु के चिह्नों में अत्यन्त समानता के कारण घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, पृथक् प्रतीत नहीं होते, तो उस स्थिति में वे लिङ्ग अपने कारण (स्पष्ट ज्ञात न रहने वाली) वस्तु की भी अनुमिति नहीं करा पाते हैं। इसी का नाम मीलित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

जलकुम्भमुम्भितरसं सपदि सरस्याः समानयन्त्यास्ते।
तटकुञ्जगूढसुरतं भगवानेको मनोभवो वेद॥[२]

छोटे जलाशय से शीघ्रतापूर्वक जल परिपूर्ण घड़े को लाती हुई तेरे तट के कुंज में किये गये गुप्त सम्भोग को भगवान् कामदेव जानते हैं।

तात्पर्य यह है कि कोई नायिका जल भरने के लिये जलाशय की ओर गई और जल से भरे भारी घड़े को उठाकर वेग से लौट भी आई। फलतः भारी घड़े को उठाकर लाने के कारण उसके अङ्गों में पसीना, कम्प व निःश्वास उत्पन्न हुआ; परन्तु ये सब चिह्न केवल भारी घड़े को शीघ्रतापूर्वक लाने के कारण नहीं हुए; अपितु जलाशय के समीप किसी कामुक के साथ किये गये सम्भोग के कारण भी हुए। इन दोनों में से एक घड़े का शीघ्रतापूर्वक लाना प्रत्यक्ष था और दूसरा सम्भोग अप्रत्यक्ष। ऐसी स्थिति में यह सम्भव हो सकता था कि कम्प निःश्वासादि चिह्नों से अप्रत्यक्ष सम्भोग का ज्ञान हो जाय; परन्तु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि सम्भोग के चिह्न प्रत्यक्ष घड़े लाने के चिह्नों से समानता के कारण ऐसे घुल-मिल गये कि उनका पृथक् ज्ञान न हो सका। अतः

---

१. स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणानां वस्त्वन्तर-लिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम्। (रसगङ्गाधर, द्वि. आ. पृ. ७६७)

२. शृङ्गा.वि., श्लो. १६५

वे अपने कारण सम्भोग की अनुमिति कराने में असमर्थ हो गये। अतः मीलित अलङ्कार हैं।

६७. सामान्य अलङ्कार

'बलवान् सजातीय पदार्थ के ज्ञान के कारण प्रत्यक्ष वस्तु का भी सजातीय पदार्थ से भिन्न रूप में ज्ञान न होना सामान्य अलङ्कार कहलाता है।'[१]

पण्डितराज ने निम्नलिखित श्लोक की रचना कर सामान्य अलङ्कार का स्वरूप निरूपित किया है—

यस्मिन् हि मानीनिकरावदाते चन्द्रांशुकैवल्यमिव प्रयाते।
पुच्छाश्रयाभ्यां विकला इवाद्रौ चरन्ति राकासु चिरं चमर्यः॥[२]

बर्फ के समूह से धवल पर्वत जिस समय चन्द्रकिरणों के साथ मानों एकता को प्राप्त हो जाता है, उस समय उस पर्वत पर पूनों की रातों में चमरियाँ चिरकाल तक पूँछ और आधार से रहित-सी घूमती हैं।

इस पद्य में प्रबल सजातीय चाँदनी से अपने में लीन कर लिए जाने के कारण प्रत्यक्षभूत हिमालय रूप आधार और पुच्छ का चाँदनी से भिन्न रूप में ग्रहण न होना वर्णित है, अतः सामान्य अलङ्कार है।

६८. उत्तर अलङ्कार

'प्रश्न को प्रतिबद्ध कर देने वाले ज्ञान के विषयीभूत अर्थ का नाम उत्तर है—अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान होने से प्रश्न रुक जाय, वह अर्थ उत्तर है।'[३]

उत्तर अलङ्कार प्रथमतः दो प्रकार का होता है—१. उन्नीत प्रश्न अर्थात् जिसमें अवर्णित प्रश्न का वर्णित उत्तर के आधार पर ऊह किया जाय और २. निबद्ध प्रश्न अर्थात् जहाँ उत्तर के साथ-साथ प्रश्न भी शब्दतः कथित हो।

१. उन्नीतप्रश्न

त्वमिव पथिकः प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गमयति क्लेशम्।
किमितोऽन्यत्कुशलं मे सम्प्रति यत्पान्थ जीवामि॥[४]

---

१. प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम्। (रसगङ्गाधर, पृ. ७७०)

२. वही, पृ. ७७१

३. प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम्। (रसगङ्गाधर, द्वि. आ. पृ. ७८४)

४. शृङ्गा.वि., श्लो. १६६

हे पथिक! मेरा प्रिय तेरे ही जैसा पथिक है और वृक्ष समूहों में श्रम पीड़ाओं को मिटा रहा है। इसके अतिरिक्त मेरी कुशल क्या है कि मैं जी रही हूँ।

इस श्लोक में किसी पथिक की पत्नी द्वारा किसी दूसरे पथिक के प्रति दिया गया उत्तर वर्णित है। इस उत्तर से पथिक के प्रश्न की अनुमिति कर लेने से उन्नीत प्रश्न उत्तर अलङ्कार है।

२. *निबद्धप्रश्न*

किमति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीयवृत्तान्तैः।
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति याहि पान्थ तव जाया॥[१]

पथिक का सुन्दरी से प्रश्न है—हे कृशोदरि तुम दुर्बल क्यों हो? नायिका ने उत्तर दिया—तुम्हें दूसरों के वृत्तान्तों से क्या प्रयोजन? पथिक ने फिर कहा—तब भी कहो, मुझे हर्ष होगा। फिर नायिका ने कहा—हे पथिक! जाओ तेरी पत्नी कह देगी।

यहाँ पथिक व नायिका का उत्तर-प्रत्युत्तर वर्णित होने से निबद्धप्रश्न उत्तर अलङ्कार है।

६९. अलङ्कार-संसृष्टि

'एक ही छन्द में दो या दो से अधिक अलङ्कारों का परस्पर निरपेक्ष प्रयोग संसृष्टि है।'[२] संसृष्टि में अलङ्कारों की स्थिति तिल-तण्डुल न्याय से मानी जाती है। अर्थात् विद्यमान एकाधिक अलङ्कार स्वतः स्पष्ट रहते हैं। उन्हें खोजने के लिये मिले हुए श्वेत चावलों (तण्डुल) को काले तिलों से पृथक् करने के समान किसी सूक्ष्म प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। पण्डितराज के काव्य से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम्॥[३]

जिस भँवरे ने अक्षीण मकरन्द वाले, खिलते हुए कमल में दिन बिताए थे; उसी भँवरे ने इस कुटज में भला कैसे निवास करने की इच्छा की?

१. शृङ्गा.वि., श्लो. १०१
२. सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः। (काव्यप्रकाश १०।१३९)
३. प्रास्ता.वि., श्लो. ९

यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर वृत्तान्त से किसी ऐसे प्रस्तुत याचक का वृत्तान्त प्रतीत होता है, जो इच्छानुकूल समस्त वस्तुवों को प्रदान करने में समर्थ स्वामी के यहाँ याचना कर पुन: किसी साधारण व्यक्ति से याचना करने की इच्छा करता है। अत: सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। साथ ही 'तेनेहा तेने हा' में यमक शब्दालंकार है। प्रथम 'तेनेहा' का अर्थ तेन ईहा=उसने इच्छा और द्वितीय 'तेनेहा' का अर्थ हा=खेद तेने=व्यक्त की, से है। यमक और अप्रस्तुत प्रशंसा के अतिरिक्त अरविन्द के विशेषण रूप गें आये 'दलद्' और 'अमन्दमरन्दे' विशेषण साभिप्राय हैं। 'दलद्' से अभिप्राय है कि अभी जो विकसित हो रहा है, जिसका किसी ने मधुपान नहीं किया है तथा 'अमन्दमरन्दे' से अभिप्राय है, जिसमें मकरन्द की कमी नहीं, भरपूर है। ऐसे कमल में जिसने दिन बिताये, वह कुटज में कैसे बिताये? फलत: साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग के कारण परिकर अलंकार भी विद्यमान है।

इस तरह यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा, यमक और परिकर इन तीन अलंकारों की संसृष्टि है।

७०. अलङ्कार-संकर

'एक ही छन्द में एकाधिक अलङ्कारों के नीर-क्षीर विवेक से मिले रहने पर अलङ्कार संकर माना जाता है।'[१] इन्हें पृथक्-पृथक् करने के लिये विशेष बौद्धिक प्रयास अपेक्षित रहता है। पण्डितराज के कई श्लोकों में इस अलङ्कार का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। निदर्शनार्थ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसम्पूर्णसकलकामस्य।
पुष्पान्तरसेवेयं भ्रमरस्य विडम्बना महती।।[२]

देववृक्ष के पुष्पों की सुगन्ध के सेवन से भलीभाँति पूर्ण हो गयी समस्त अभिलाषाओं वाले भँवरे की यह दूसरे पुष्पों की सेवा बहुत बड़ी प्रवञ्चना है।

यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर के वृत्तान्त से प्रस्तुत किसी ऐसे लोभी एवं क्षुद्र व्यक्ति की प्रतीति होती है, जिसने पहले किसी बहुत बड़े राजा अथवा सर्वज्ञ गुरु का आश्रयण किया, फिर भी अब किसी साधारण राजा अथवा अल्पज्ञ गुरु की सेवा में लगा हुआ है। अत: यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है। साथ ही परिकर और काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी हैं। कारण, भ्रमर का जो विशेषण कवि

---

१. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः। (काव्यप्रकाश, १०।२०७)

२. प्रास्ता.वि., श्लो. २६

ने प्रस्तुत किया है, उसका अभिप्राय है कि भ्रमर की दूसरे पुष्प की सेवा केवल अनुचित ही नहीं, सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उसने जी भरकर किसी साधारण वृक्ष के पुष्प की सुगन्ध का सेवन नहीं किया है, बल्कि देववृक्ष की पुष्पगन्ध का सेवन किया है। फलत: परिकर है। साथ ही चतुर्थ वाक्यार्थ के समर्थक हेतु रूप में पहले तीन चरणों का वाक्यार्थ उपनिबद्ध किया गया है। इसलिए वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है।

इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा, परिकर और काव्यलिङ्ग इन तीन अलंकारों का संकर है। इसमें अप्रस्तुतप्रशंसा तो सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है; किन्तु परिकर और काव्यलिङ्ग को खोजने में तनिक प्रयास करना पड़ता है। अत: इस श्लोक में संकर अलङ्कार की स्थिति स्वीकार की जा सकती है।

इस अध्ययन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पण्डितराज अलङ्कारों के स्वरूप-निरूपण और उनके लिये सटीक उदाहरणों के निर्माण की दृष्टि से भी एक श्रेष्ठ कवि एवं सिद्धहस्त काव्यशास्त्री सिद्ध होते हैं। विभिन्न अलङ्कारों से अतिव्याप्ति बचाते हुए उन्होंने अलङ्कारों के जो लक्षण प्रस्तुत किये हैं, वे निस्सन्देह उनकी गहन अध्ययन सूक्ष्मता के परिचायक हैं। इन अलङ्कारों के उदाहरण रूप में जिन पद्यों को उन्होंने प्रस्तुत किया है, वे प्रयत्नसाध्य होने पर भी अनेकत्र सुन्दर भावसौन्दर्य के निदर्शन हैं। इस प्रकार उदाहरण निरूपण के लिये यद्यपि वे प्रयत्नपूर्वक सचेष्ट रहे हैं, तथापि उनके काव्यों में आगत अलङ्कार बरबस ठूँसे हुए नहीं लगते। वे वर्ण्यविषय की आवश्यकता के अनुरूप ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ पञ्चलहरियों के अलङ्कार स्तुति की भावना के अनुरूप स्वाभाविक अलङ्करण के निदर्शन हैं, जबकि 'प्राणाभरण', 'जगदाभरण', व 'आसफविलास' के श्लोक वर्ण्यविषय राजवैभव का चित्रण करने के कारण प्रयत्नसाध्य अलङ्कृति का निदर्शन हैं। इस तरह उनकी कविताकामिनी न तो सामान्य नायिकाओं की भाँति आपादमस्तक अलङ्कारों से लदी है, न विधवाओं की भाँति सर्वथा अलङ्कारविहीना है। वह शिष्ट कुलाङ्गनाओं की भाँति स्वाभाविक रूप से समलङ्कृत होते हुए भी प्रसङ्गानुरूप प्रसाधनकारिणी भी है।

अलङ्कारों के स्वरूपनिरूपण और उनकी उदाहरणप्रस्तुति के इस समन्वित विवेचन में हमें उनके उद्भट काव्यशास्त्री एवं उत्कृष्ट कवि इन दोनों रूपों का परिचय मिलता है।

●

नवम अध्याय

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति[१]।।

जल कमल का पोषण करता है, किन्तु उसे विकसित कर शोभा प्रदान करना सूर्य का काम है। इसी प्रकार सुकवि काव्यरचना मात्र करता है; किन्तु उसके गुणों की ख्याति 'सुजनों' अर्थात् काव्यानुरागी श्रोताओं व रसज्ञ आचार्यों द्वारा ही विस्तारित होती है। वस्तुतः मङ्खक ने ठीक ही कहा है—

विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः[२]।।

साहित्यज्ञों के बिना कवियों के गुणों का विस्तार नहीं होता। जिस प्रकार तेल की बूँद पानी पर तो गिरते ही फैल जाती है; किन्तु अन्यत्र प्रसरणशील नहीं हुआ करती। स्पष्ट है, कविताकालिन्दी का एक कूल यदि कवि है तो दूसरा कूल आलोचक हुआ करता है। कवि जहाँ आनन्दानुभाविनी हार्दिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है, अभिराम कल्पनाओं के मुक्ताकाश में मानस-विहग को मुक्त उड़ान का अनिर्वर्णनीय आस्वाद प्रदान करता है, वहीं आलोचक आचार्य आनन्दानुभाविका पारखी दृष्टि प्रदान करता है, कल्पना के अनन्त विस्तारित आकाश में उड्डीयन क्षमता का अनुमापक हुआ करता है, साथ ही इस कला के वैशिष्ट्यों का विश्लेषक हुआ करता है। इस प्रकार कवि और आचार्य ये दोनों परस्पर उपकारक प्रतिभाओं के पृथक्-पृथक् रूप हैं। जैसे सान पर घिसे जाने से मणियाँ अधिक परिष्कृत व विभासित हो उठती हैं, वैसे ही काव्यशास्त्रीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में काव्यकृतियों की सुषमा भी द्विगुणित हो उठती है।

'ह्लादैकमयप्रवाहयुता' इस काव्यसरित् के ये कूलद्वय आलोचक व आचार्य कई बार मिलते हुए से होकर 'क्षितिज' का निर्माण करने लगते हैं, एकीकृत हो अपनी प्रतिभा का प्रकर्ष प्रस्थापित करने लगते हैं, तब आविर्भाव होता है उस मनीषी का, जिसका शरीर माँ सरस्वती के कवित्व व पाण्डित्य रूपी दोनों स्तनों का पानकर सर्वाङ्गसुन्दर बना हो—

---

१. सुभाषितावलि, श्लो. १५४; २. तत्रैव, श्लो. १७३।

सरस्वतीमातुरभूच्चिरं न यः कवित्वपाण्डित्यघनस्तनन्धयः।
कथं स सर्वाङ्गमनाप्तसौष्ठवो दिनाद्दिनं प्रौढिविशेषमश्नुते।।

पण्डितराज जगन्नाथ इसी वैशिष्ट्य से मण्डित आचार्य हैं। रसगङ्गाधर में उन्होंने काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विशिष्ट प्रतिमान स्थापित किए हैं, तो पञ्चलहरियों एवं भामिनीविलासादि कृतियों के माध्यम से कोमल कविहृदय की भावोर्मियों को भी सुतरां सम्प्रेषित किया है। वस्तुतः वे उस कोटि के विरले कवीश्वर हैं, जिन्होंने अपनी बुद्धि रूपी कुञ्जिका से वक्रभंगियों से सुशोभित सरस्वती के शब्द व अर्थ रूपी भण्डार को खोलकर विश्व को विभूषित कर दिया है—

स्वप्रज्ञया कुञ्चिकयेव कश्चित् सारस्वतं वक्रिमभङ्गिभाजम्।
कवीश्वरः कोऽपि पदार्थकोशमुद्घाट्य विश्वाभरणं करोति।।

उनकी यह प्रतिभा निश्चय ही राजशेखर की भाँति हमें यह कहने को बाध्य करती है—

न ह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानाम्।
एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः।।

तथापि—

कश्चिद् वाचां रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्ताम्।
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।।

'काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त' नामक प्रस्तुत अध्याय में पण्डितराज के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन है। इस प्रसङ्ग में रसगङ्गाधर में विवेचित प्रमुख साहित्य-सिद्धान्तों का ही अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है, ताकि विज्ञजन उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृष्टता से परिचित हो सकें। ये विवेच्य विषय इस प्रकार हैं—

१. काव्यलक्षण, २. काव्यहेतु, ३. काव्यप्रभेद, ४. रस, ५. भाव, ६. गुण, ७. ध्वनि, ८. रसादिध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता, ९. नानार्थस्थलीय चिन्तन, १०. शब्दशक्ति विवेचन-अभिधा एवं लक्षणा।

काव्यलक्षण

काव्यलक्षणविषयक विभिन्न मान्यताएँ :

पण्डितराज के काव्यलक्षण की शास्त्रीय समीक्षा एवं स्पष्ट विवेचना हेतु उससे पूर्व काव्याचार्यों की काव्यलक्षण विषयक मान्यताओं पर एक संक्षिप्त

दृष्टिपात आवश्यक है। पण्डितराज के काव्यशास्त्रविषयक प्रौढ़ ग्रन्थ रसगङ्गाधर की निर्मिति से पूर्व संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अग्निपुराणकार से लेकर आचार्य विश्वनाथ, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित प्रभृति आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार काव्यलक्षण प्रस्तुत किया था। इस विवेचन के फलस्वरूप अलंकारजगत् में काव्यलक्षण सम्बन्धी दो धाराएँ प्रमुख रूप से प्रचलित हुईं। प्रथमधारा में शब्द व अर्थ दोनों के सहभाव में काव्यत्व स्वीकार किया गया। इसके समर्थक आचार्य हैं—भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ एवं वाग्भट आदि। द्वितीयधारा में केवल शब्दमात्र में काव्यत्व माना गया। इसके समर्थक प्रमुख आचार्य हैं—अग्निपुराणकार, दण्डी, जयदेव एवं पण्डितराज। पण्डितराज ने न केवल इस धारा को अपनाया बल्कि युक्तिपूर्वक यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि इस काव्यधारा को ही अपनाना क्यों आवश्यक है? पूर्वाचार्यों ने कभी इस बात पर खण्डन-मण्डन करना उचित नहीं समझा था कि केवल शब्द को अथवा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानना क्यों आवश्यक है? पण्डितराज ने शब्द को काव्य मानने का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कर शब्दार्थ के सहभाव में काव्यत्व स्वीकार करने में विविध आपत्तियों का विवेचन कर अपना सुविचारित विशिष्ट काव्यलक्षण प्रस्तुत किया व अलंकारशास्त्र के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

शब्दार्थवादिनी मान्यता के पक्षधर आचार्यों में मम्मट का लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की चिन्तन धाराओं का परिमार्जित समन्वय एवं व्यावहारिक सरलता से युक्त होने के कारण सर्वाधिक प्रतिष्ठित व अनुगत भी हुआ। इस लक्षण की सर्वजनप्रियता के विरुद्ध उत्तरध्वनि युग में दो मान्यताएँ प्रतिक्रियास्वरूप सम्मुख आईं। इनमें एक रसवादी आचार्य विश्वनाथ की व दूसरी अलंकारवाद के पक्षपाती जयदेव की थी। इनमें जयदेव की अलंकाररहित काव्य को उष्णतारहित अग्नि[१] की भाँति स्वीकार करने वाली मान्यता को तो पर्याप्त प्रसार व समर्थन नहीं प्राप्त हुआ; किन्तु रसाग्रही आचार्य विश्वनाथ की काव्यपरिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' सर्वाधिक प्रचलित हुई। इसमें रसवादी शौद्धोदनि आदि आचार्यों की पूर्ववर्ती मान्यताओं का सुन्दर संग्रह था। इस प्रकार सर्वाधिक लोकप्रतिष्ठित एवं पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का चिन्तनसार होने के कारण पण्डितराज के समक्ष ये ही दोनों

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।। (चन्द्रालोक १/८)

मान्यताएँ प्रमुख चिन्तनधारा के रूप में सम्मुख आईं; जिसे उन्होंने अपने आलोचनानिकष पर विधिवत् कसा व उनपर खरा न पाकर इनका खण्डन करते हुए अपना विशिष्ट काव्यलक्षण प्रस्तुत किया। अत: उनके काव्यलक्षण की विवेचना करने से पूर्व उनके द्वारा की गई पूर्वपक्षियों मम्मट व विश्वनाथ के लक्षणों की आलोचना समीक्षणीय हैं—

शब्दार्थोभयवादिनी मान्यता का खण्डन

१. सिद्धान्त यह है कि किसी पदार्थ या वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण के द्वारा होती हैं—'लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'। यदि प्रमाण नहीं है तो प्रमेय भी नहीं है। इस आधार पर 'शब्दार्थौ काव्यम्' माननेवाले आचार्यों से उनका प्रश्न है कि शब्दार्थयुगल काव्य है?, इसमें प्रमाण क्या है?

प्रतिद्वन्दी उत्तर है कि 'शब्द: काव्यम्' इसमें क्या प्रमाण है? पण्डितराज इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि किसी पदार्थ का निश्चय करने में लोक व्यवहार सबसे बड़ा प्रमाण है। लोकव्यवहार शब्द में काव्यत्व मानता है। कारण, लोक में व्यवहार होता हैं—'काव्यम् उच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः' अर्थात् पाठ शब्द का होता है, अर्थप्रतीति शब्द से होती है, श्रवण शब्द का होता है, इन विश्वजनीन व्यवहारों से शब्दमात्र में काव्यता सिद्ध होती है।

इस पर शब्दार्थयुगल-काव्यतावादी यदि यह कहें कि काव्य तो शब्दार्थ युगल ही है, परन्तु व्यवहार लक्षणावृत्ति से केवल शब्द में भी होता है। अत: पूर्वपक्षियों के इस सम्भावित तर्क पर पण्डितराज का वक्तव्य है कि पहले शब्दार्थयुगल काव्य है, यह किसी प्रमाण से निश्चित हो जाय, तब केवल शब्द में काव्य शब्द का प्रयोग लक्षणा से माना जा सकता है। परन्तु शब्दार्थयुगल काव्य है, इसमें ही जब कोई प्रमाण नहीं तो लक्षणा का प्रश्न कहाँ?[१]

२. पण्डितराज का अग्रिम तर्क है कि यदि पूर्वपक्षी कहें कि शब्दप्रमाण भी है और वह शब्द आप्तवाक्य रूप भी है। यथा काव्यप्रकाशकारादि ने शब्दार्थयुगल को काव्य माना है, अत: उनकी उक्ति ही इस बात का प्रमाण

१. यत्तु प्राञ्चः—'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः। तत्र विचार्यते शब्दार्थ युगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्, काव्यमुच्चैः पठ्यते काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतम् अर्थो न ज्ञातः इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च। व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत् स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढ़तरं किमपि प्रमाणं स्यात्. तदेव तु न पश्यामः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ.१५-१६)

है। इस पर पण्डितराज का तर्क है कि शब्दार्थयुगल के काव्यत्व का खण्डन करने पर जितने शब्दार्थोभयवादी आचार्य हैं, वे पूर्वपक्ष की श्रेणी में आ जाते हैं। फलतः पूर्वपक्ष की उक्ति प्रमाण योग्य नहीं मानी जा सकती—'विमतवाक्यं तु अश्रद्धेयमेव'।[१]

३. पण्डितराज का तृतीय तर्क है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि काव्य रसोद्बोधक होता है और यह रसोद्बोधकता या आह्लादक-शक्ति शब्द और अर्थ में समान रूप से रहती है; अत शब्दार्थयुगल को काव्य मानना युक्तिसंगत है; इस तर्क का खण्डन करते हुए उनका कथन है कि यह आह्लादकता या रसोद्बोधकता तो संगीत की रागों, नाटक के विविध अङ्गों यथा नृत्य, वाद्य, गीत, नेपथ्यविधान एवं यवनिकाविधान आदि में भी रहती हैं; अतः ये सभी काव्य कहलाने लगेंगें।[२]

४. शब्दार्थयुगल काव्य नहीं हैं, इस मान्यता के पक्ष में पण्डितराज ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया है, जिसका भाव यह है कि किसी समुदाय में रहने वाला धर्म व्यासज्यवृत्ति कहलाता है—'वि विविधम् आसज्य वर्तते या सा वृत्तिः व्यासज्यवृत्तिः'। जैसे द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि इस कोटि के धर्म हैं। इसके विपरीत किसी एक वस्तु या पदार्थ में रहने वाला धर्म प्रत्येकपर्याप्ति कहलाता है—'प्रत्येकं (परि+आप्ति) पर्याप्तिरूपेण व्याप्य वर्तते'। मनुष्य में रहने वाला मनुष्यत्व इसी कोटि का धर्म है। इन दोनों वृत्तियों को दृष्टिगत कर पण्डितराज का अग्रिम तर्क है कि काव्यत्व इनमें से किस श्रेणि का धर्म है? अर्थात् वह शब्दार्थयुगल में व्यासज्यवृत्ति से रहने वाला धर्म है अथवा शब्द एवं अर्थ प्रत्येक में पर्याप्ति (पूरा-पूरा होना) सम्बन्ध से रहने वाला? यदि प्रत्येकपर्याप्ति सम्बन्ध से शब्द और अर्थ में काव्यत्व माना जाएगा, तो शब्द में पृथक् काव्यता रहेगी और अर्थ में पृथक्। इस प्रकार एक ही काव्य में काव्यद्वय व्यवहार होने लगेगा।[३]

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. १६।

२. यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः तन्न रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकं सम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुवरैव। (तत्रैव पृ. १८)

३. अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्? प्रत्येकपर्याप्तं वा? नाद्यः 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। (तत्रैव, पृ. १९)

यदि यह कहा जाय कि काव्यत्व व्यासज्यवृत्या शब्दार्थयुगल में रहने वाला धर्म है, तो एक बाधा उपस्थित होती है कि जहाँ काव्य शब्द तो है; परन्तु उससे प्रतिपादित अर्थ भूतकाल की वस्तु है, वहाँ एक के रहने पर भी दूसरा नहीं है—शब्द है, अर्थ नहीं। ऐसी स्थिति में श्लोकवाक्य काव्य नहीं कहला सकेंगें, कारण वहाँ श्लोकवाक्य अर्थात् शब्द तो हैं, परन्तु उनके अर्थ दिलीपादि या नलादि नहीं हैं। अतः रघुवंश या नैषधादि के श्लोक काव्य नहीं कहलायेगें। शब्दार्थयुगल में काव्यत्व मानने पर शब्दार्थौ एकत्वानवच्छिन्न अर्थात् एकत्व से युक्त नहीं बल्कि द्वित्वावच्छिन्न अर्थात् द्वित्व विशिष्ट है। अतः दोनों के विद्यमान रहने पर ही कोई श्लोक काव्य कहलाएगा। इन दोनों में से किसी एक के न रहने पर काव्यत्व नहीं रहेगा।[१]

इस प्रकार पण्डितराज काव्यलक्षण के विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' की समीक्षा कर विशेषणांश 'अदोषौ', 'सगुणौ', 'सालङ्कारौ' पदों की विवेचना हेतु सन्नद्ध होते हैं। यह विवेचना चण्डीदास, विश्वनाथ से होती हुई पण्डितराज तक के मतों को समेटती है। 'अदोषौ' पद की विवेचना करते हुए पण्डितराज का प्रश्न है कि इस पद का अर्थ क्या है? दोषत्वसमानाधिकरणाभाव अर्थ है? अथवा दोषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव? अर्थात् दोषत्व के किसी एक आधार का अभाव अर्थ विवक्षित है अथवा सकल-दोषाभाव विवक्षित है। यदि केवल एक दोष का अभाव विवक्षित हो तो 'अदोषौ' कहना व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि अनेक दोषों के रहने पर भी कोई एक दोष न हो तो भी 'अदोषौ' पद का प्रयोग होगा। यदि सकल दोषों का अभाव अर्थ लिया जाएगा, तो काव्यत्व निर्विषय हो जाएगा या प्रविरल विषय होगा; क्योंकि मानव कृति सर्वथा निर्दुष्ट नहीं हो सकती।

यदि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' यह माना जाय तो सर्वथा निर्दुष्ट की काव्यता बाधित हो जाएगी, काव्य कहलाने के लिये दोष अपेक्षित हो जाएगा। इस दोष को 'अव्याप्यवृत्ति' भी नहीं कहा जा सकता। 'अव्याप्यवृत्ति' का तात्पर्य है, जो समग्र को व्याप्त कर न रहे। जैसे किसी वृक्ष की जड़ में पक्षी बैठा है, लेकिन डाल पर नहीं, तो इसे 'संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगी' अर्थात् इस वृक्ष की शाखा पर पक्षी नहीं है, लेकिन जड़ में है, जैसे व्यवहार होता है,

---

१. अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्? प्रत्येकपर्याप्तं वा? नाद्यः 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. १९)

उसी प्रकार अंशभेदेन दोषरहित एवं अंशभेदेन दोषयुक्त यह व्यवहार होगा। जिस अंश में दोषराहित्य होगा, वह काव्य एवं जहाँ दोषयुक्तता होगी, वह अकाव्य कहलाएगा। परन्तु ऐसा होने पर इस तरह काव्यत्व और अकाव्यत्व की खींचतान में वह काव्य या अकाव्य कुछ भी नहीं रह जाएगा।

पुनः दोष 'अव्याप्यवृत्ति' भी नहीं है। कारण, काव्यात्मभूत रस का जब तक वह अपकर्षक नहीं होगा, तब तक दोष नहीं कहलाएगा। क्योंकि 'रसापकर्षका दोषाः' और यदि आत्मा का अपकर्ष हो गया तो समग्र काव्य ही दूषित हो जाएगा।[१]

पण्डितराज का यह भी तर्क है कि संसार में 'इदं काव्यं दुष्टम्' यह काव्य दोषयुक्त है, ऐसा प्रयोग होता है। यदि 'अदोषौ' का अर्थ सर्वथा दोषरहित से लिया जाएगा, तो यह व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि यह लाक्षणिक व्यवहार है, तो मुख्यार्थबाध के बिना लक्षणा की प्रसक्ति नहीं होती।[२]

पण्डितराज के वक्तव्य का तात्पर्य है कि दोष स्वरूप के विघातक नहीं होते, केवल अपकर्षक होते हैं। अतः लक्षण में अपकर्षकदोष का अभाव कहना उचित नहीं। पुनः यदि दोषरहित को ही काव्य मानेगें, तो 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' जिसे आनन्दवर्धन सदृश आचार्य ने उत्तमकाव्य का उदाहरण माना है, 'विधेयाविमर्श' दोष से दूषित होने के कारण काव्य नहीं कहलाएगा।

पण्डितराज के मत में काव्यलक्षण में गुणालङ्कारादि का निवेश उचित नहीं। इस सम्बन्ध में उनका प्रथम तर्क है कि यदि गुणालङ्कारादि विशिष्ट शब्दार्थ को ही काव्य मानेगें, तो 'गतोऽस्तमर्कः', 'उदितं मण्डलं विधोः', ये वाक्य काव्य नहीं कहला सकेगें। कारण 'उदितं मण्डलं विधोः', इस वाक्य का प्रयोग दूती, अभिसारिका, वासकसज्जा, विरहिणी आदि के द्वारा किए जाने पर वक्तृबोद्धव्य वैशिष्ट्य से इनके भिन्न-भिन्न चमत्कारी अर्थ निकलेंगें। अर्थात् दूती के द्वारा कहे जाने पर दो अर्थ होंगें, श्वेताभिसारिका के लिए अभिसरणविधि का प्रारम्भ व

---

१. न च संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगीतिवदंशभेदेन दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्, 'मूले महीरुहो विहङ्गमसंयोगी, न शाखायाम् इति प्रतीतेरिवेदं पद्यं पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनी विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तिताया अपि तस्यायोगात्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. १९)

२. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. २४।

कृष्णाभिसारिका के लिए निषेध। विरहिणी के द्वारा कहे जाने पर विरहव्यथा की असह्यता, फलतः जीवन में सन्देह की प्रतीति। वासकसज्जा के द्वारा कहे जाने पर 'प्राप्तप्रायः प्रेयान्', प्रियतम आ चुके हैं, इत्यादि अर्थों की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'गतोऽस्तमर्कः' भी वक्तृबोद्धव्य वैशिष्ट्य से अनेकानेक चमत्कारी अर्थों का प्रदायक है। ये वाक्य चमत्कारी अर्थ प्रदान करने के कारण काव्य हैं, परन्तु लक्षण में गुणालङ्कारादि का प्रयोग होने के कारण गुणालङ्कारादि रहित होने से ये काव्य नहीं कहलायेगें। ये अकाव्य भी नहीं कहे जा सकते।[१] यदि यह कहा जाय कि ये काव्य ही नहीं हैं, तो पण्डितराज का आक्षेप है कि ऐसी स्थिति में जिन्हें पूर्वपक्षी काव्य कहेंगें, उन्हें हम भी अकाव्य कहेंगें।[२]

पण्डितराज का अग्रिम तर्क है कि गुण व अलङ्कारों का स्वरूप, संख्या व आश्रय निश्चित न होने के कारण लक्षण में इनका निवेश करने से काव्य स्वयं अननुगत हो जाएगा।[३]

इसके अतिरिक्त जैसे शूरता, वीरता आदि आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं, वैसे ही गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं, फलतः शब्द और अर्थ में नहीं रह सकते। इसी प्रकार अलङ्कार भी शरीर के उपकरण हैं, शरीर के अवयव नहीं, अतः वे शब्दार्थ के धर्म नहीं हो सकते।[४]

काव्यलक्षण

काव्यलक्षण के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने केवल शब्द को काव्यत्व प्रदान करने की विशिष्ट शब्दवादिनी मान्यता अपनाई है और तदनुसार 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहकर अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने नैयायिक लक्षण-शैली अपना कर काव्य का लक्षण सामान्य, परिष्कृत व फलित इन तीन रूपों में प्रस्तुत किया है। उनका सामान्य लक्षण है—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[५]

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२।

२-३. लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावादिपरे गतोऽस्तमर्कः इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः। न चेदकाव्यमिति शक्यं काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। काव्यजीवितं चमत्कारित्वं, चाविशिष्टमेव। गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च। 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च। (तत्रैव, पृ. २२-२४)

४. शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानां हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२-२५)

५. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १०।

यहाँ 'रमणीयता' से उनका तात्पर्य लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान के विषय से है—'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता'[१] अर्थात् रमणीय अर्थ उसे कहते हैं जो हमारे ज्ञान का विषय बनकर हमें लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति कराये। पुनः लोकोत्तर आह्लाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने लोकोत्तरता से सातिशय, निरतिशय का अर्थ न लेकर सहृदयों को चमत्कृत करने वाले अर्थ को लिया है एवं उसे 'चमत्कारत्व' का दूसरा नाम दिया है। नैयायिक मानदण्डों के अनुसार इसकी व्याख्या करते हुए इसे सहृदयो को अनुभूत होने वाला अनुभवसाक्षिक जातिविशेष कहा है—

'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः'[२]

जाति न्यायदर्शन की मान्यतानुसार एक पदार्थ है, जो नित्य, एक व अनेकानुगत होता है।[३] पण्डितराज ने नैयायिक मानदण्डों के अनुसार लोकोत्तरत्व या चमत्कारत्व की 'जातिविशेष' के रूप में व्याख्या करते हुए जहाँ आह्लाद की विविधरूपता को सिद्ध किया है एवं अपने 'रमणीयार्थ' में काव्याह्लाद के विविध रूपों यथा रसध्वनिजन्य भावात्मक-आह्लाद, वस्तुध्वनिजन्य बौद्धिक आह्लाद व अलंकारध्वनिजन्य कल्पनात्मक-आह्लाद को समेट लिया है, वहीं इसी आधार पर पुत्रजन्म की सूचना या धनप्राप्ति की सूचना से होने वाले आह्लादों से वे काव्याह्लाद को पृथक् कर सके हैं। इस प्रकार लोकोत्तरत्व या चमत्कारत्व की 'जातिविशेष' के रूप में व्याख्या का प्रयोग उन्होंने निर्णायक तत्त्व के रूप में किया है।

रमणीयता में इसी लोकोत्तर या चमत्कारी आह्लाद को उत्पन्न करने की शक्ति होती है और उनके अनुसार इस चमत्कारी आह्लाद की उत्पत्ति का कारण हैं, एक प्रकार की बारम्बार की जाने वाली भावना, जो पुनः पुनः अनुसन्धान रूप होती है अर्थात् जिसका बारम्बार परिशीलन करने से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है—

'कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा'।[४]

अभिप्राय यह है कि जब सहृदयजन किसी काव्यांश को सुनते हैं, तो उसका 'रमणीयार्थ' उनकी अनुभूति में विशेष रुचिकर लगने के कारण उनके

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११;
२. तत्रैव, पृ. ११।
३. नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ८ पृ, ३६)
४. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १२।

चित्त को आकृष्ट कर लेता है, जिससे उनके मन में बारम्बार उसका चिन्तन होता है, उस विषय की ज्ञानधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने लगती है। इसे ही 'भावना' कहते हैं, जिसके वशीभूत होकर सहृदयों को अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार सामान्यलक्षण के अनुसार चमत्कारी आह्लाद के प्रदायक रमणीय अर्थों के प्रतिपादक शब्द काव्य हैं।

पुनः अपने काव्यलक्षण को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव रूप दोषों से बचाने के लिए एवं छात्रबुद्धि के वैशद्यार्थ उन्होंने इस लक्षण का क्रमिक परिष्कार भी किया है—

'इत्थं चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थ-विषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्'।[१]

अर्थात् चमत्कारजनक या लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाली भावना (धारावाहिक अनुभूति) के विषय बनने वाले अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

नव्यन्याय की शैली में वर्णित इस परिष्कृत लक्षण का अभिप्राय यह है कि लोकोत्तर चमत्कारदायक अनुभूति के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो पण्डितराज ने 'रमणीयता' का विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'रमणीय' अर्थ वह है, जो लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान का विषय हो—'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वा-परपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः'; पुनः परिष्कार करते समय उन्होंने चमत्कारजनक भावना का विषय जो अर्थ है, उसके प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है—'चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्' अर्थात् पहले लोकोत्तराह्लाद का जनक ज्ञान को माना 'पुनः 'चमत्कारत्वापरपर्याय' उसी लोकोत्तर आह्लाद का जनक भावना को माना। अब प्रश्न यह है कि पण्डितराज जैसे आचार्य द्वारा इस प्रकार पाला बदलने या ज्ञान को छोड़कर भावना को स्वीकार करने का कारण क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—ज्ञान दो प्रकार का होता है। प्रथम, एकविषयात्मक एवं द्वितीय समूहालम्बनात्मक। इनमें द्वितीय प्रकार के समूहालम्बनात्मक ज्ञान में बुद्धि अनेक विषयों का अवगाहन करती है। वहाँ ज्ञान

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १३।

तो एक होता है, पर उसके विषय भिन्न-भिन्न होते हैं। जिस समय रमणीय या चमत्कारी अर्थ का अवगाहन होता है, वहीं कार्यकारणवश किसी सामान्य या अरमणीय पदार्थ का ज्ञान हो जाय तो ज्ञान तो एक है। उस ज्ञान का विषय जैसे रमणीय पदार्थ बनेगा, वैसे अरमणीयार्थ भी बनेगा। इस प्रकार ज्ञान का विषय द्विविध प्रकारक होने के कारण दोनों अर्थों के प्रतिपादक शब्द काव्य कहलाने लगेंगें। इससे लक्षण में अतिव्याप्ति होगी। इसी दोष के निवारण के लिए पण्डितराज ने ज्ञान शब्द को छोड़कर भावना शब्द को लिया। यह भावना धारावाहिक ज्ञानरूपा होती है। अरमणीय अर्थ का ज्ञान यदि रमणीय अर्थ के साथ यथाकथञ्चित् संयुक्त हो भी जाय, तो इतना तो स्पष्ट है कि उस अरमणीय अर्थ की ज्ञानधारा या भावना नहीं बनेगी। अतः उसके प्रतिपादक शब्द को काव्य नहीं कहा जा सकेगा।

परन्तु यह भावना भी समूहालम्बनात्मिका होती है। जैसे किसी स्थान विशेष पर चित्त को प्रभावित करने वाली कोई घटना घटित हो जाय, तो जब-जब उस स्थान का स्मरण होगा या प्रत्यक्ष होगा तब-तब उस घटना का स्मरण हो जाएगा, तद्विषयक चिन्तन होने लगेगा। इससे ज्ञात होता है कि भावना भी समूहालम्बनात्मिका होती है। ऐसी स्थिति में यदि अरमणीय अर्थ की भावना बनी, तो उस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाएगा और यह दोषपूर्ण होगा। अतः पण्डितराज लक्षण का पुनः परिष्कार करते हैं—

'यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्त्वम्'[१]।

अर्थात् जिस शब्द से प्रतिपादित अर्थविषयक भावना चमत्कारजनिका होगी, उस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहेंगें। ऐसा कहने से अरमणीय अर्थ की भावना के प्रतिपादक शब्द को काव्य माने जाने का जो दोष उत्पन्न हुआ था, उसका निवारण हो गया।

इस प्रकार द्वितीय परिष्कार करने पर भी एक असङ्गति सामने आती है। इस लक्षण में 'यत्' शब्द है, जो सर्वनामवाचक है। सर्वनाम सबका वाचक होता है और लक्षण किसी पदार्थविशेष का अनुगम अर्थात् बोध कराने के लिए किया जाता है। यहाँ 'यत्' शब्द का अर्थ स्वयं अननुगमक है; अतः अननुगमक (जो स्वयं स्पष्ट न हो) शब्द से बोधित लक्षण सुस्पष्ट कैसे होगा?

पुनश्च यह लक्षण दण्डायमान अर्थात् दीर्घ है, जबकि लक्षण लघु होना चाहिए। अतः उन्होंने लक्षण का तृतीय परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया—

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १३।

'स्वविशिष्टजनकताऽच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्'।[१]

यहाँ 'स्व' पद का अर्थ है, चमत्कारत्व। समवायसम्बन्ध से तद्विशिष्ट होगा चमत्कार, उसकी जनकता रहेगी भावना अर्थात् ज्ञानधारा में, उस जनकता से निरूपित विषयतासम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में। अर्थात् विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह काव्यार्थ भी भावनानिष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा, उस काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द। अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध से 'स्व' अर्थात् चमत्कारत्व शब्द में रहेगा।

नैयायिक शैली के अतिशय भार से आक्रान्त इस लक्षण का सरल शब्दों में आशय इस प्रकार है—

चमत्कार आनन्द विशेष है और यह आनन्द काव्यार्थ की भावना से प्राप्त होता है। उस काव्यार्थ की प्रतिपादकता शब्द में है, अतः अर्थ-प्रतिपादकता सम्बन्ध से वह चमत्कार शब्द में चला गया। अर्थात् चमत्कार इस सम्बन्ध से शब्दनिष्ठ माना गया।

यहाँ लक्षण केवल 'चमत्कारत्ववत्वमेव' है। 'स्वविशिष्टजनकताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण' यह संसर्ग या सम्बन्ध है, अतः यह लक्षण लघु भी है। इसमें दीर्घ होने का आरोप नहीं किया जा सकता।

किन्तु इस लक्षण में एक प्रश्न उठता है। यदि द्वितीय लक्षण में 'यत्' शब्द प्रयुक्त है, जो अननुगमक है, तो यहाँ भी 'स्व' शब्द प्रयुक्त है; जो सर्वनामवाची होने के कारण अननुगमक है। लेकिन सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह दोष यहाँ नहीं है। कारण, एक तो यहाँ प्रयुक्त स्वशब्द लक्षण घटक नहीं; अपितु सम्बन्ध घटक है, दूसरे इसका अर्थ भी अनुगत अर्थात् स्पष्ट है। जिसका निरूपण करना होता है; वही 'स्व' शब्द से लिया जाता है। यहाँ पर 'चमत्कारत्ववत्वम्' में चमत्कार शब्द से 'त्व' प्रत्यय, पुनः 'मतुप्' प्रत्यय, पुनः 'त्व' प्रत्यय प्रयुक्त है। नियमानुसार प्रकृत्यर्थ में जो विशेषण होता है, वही भावार्थक प्रत्ययों का अर्थ होता हैं—'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः'।[२]

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १३।

२. 'तस्य भावस्त्वतलौ', अष्टाध्यायी ५/१/११९ पर वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजि दीक्षित।

उदाहरणार्थ वाचक शब्द से 'त्व' प्रत्यय करने पर प्रकृति है, वाचक व प्रत्यय है, 'त्व'। वाचक का अर्थ है—'वक्तीति वाचकः' अर्थात् अर्थ का अभिधान करने वाला। यहाँ अर्थ का अभिधान है, विशेषण व विशेष्य है, करने वाला। इस प्रकार वाचकत्व का तात्पर्य है—अर्थ का अभिधान व अभिधान ही अभिधा है। अतः वाचकत्व का अर्थ हुआ, अभिधा। कारण जो विशेषण हैं (अर्थ का अभिधान) वही नियमानुसार 'त्व' प्रत्यय का अर्थ है।

परन्तु यही 'त्व' प्रत्यय यदि तद्धितान्त या कृदन्त या समास से किया जाय, तो उसका अर्थ सम्बन्धमात्र होता है—'कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन'।[१] 'चमत्कारत्ववत्त्व' में मतुबन्त चमत्कारत्ववत् शब्द से 'त्व' प्रत्यय हुआ है। यह तद्धितान्त है। अतः इसका अर्थ हुआ, 'चमत्कारत्वविशिष्ट सम्बन्ध'। यहाँ पुनः बाधा उपस्थित होती है कि जैसे घटत्व घट में रहेगा, वैसे ही चमत्कारत्व चमत्कार में ही रहेगा। ऐसी स्थिति में चमत्कारत्व का सम्बन्ध शब्द से कैसे? अतः इसका निरूपण करते हुए उन्होंने लक्षण प्रस्तुत किया—

'स्वविशिष्टजनकताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्'। यहाँ 'स्व' पद का अर्थ है, चमत्कारत्व, तद्विशिष्ट जनकता अर्थात् चमत्कारत्व से विशिष्ट होगी जनकता, लेकिन यह सम्भव नहीं। कारण, चमत्कारत्व से विशिष्ट होगा चमत्कार, न कि जनकता। यहाँ स्वविशिष्टजनकता कहा गया है, वह कैसे? इसका समाधान हैं—'स्वाश्रयनिष्ठ-जन्यतानिरूपितत्त्व' सम्बन्ध से जिसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं— स्व = चमत्कारत्वधर्म, उसका आश्रय = चमत्कार, तन्निष्ठजन्यता = चमत्कारनिष्ठ = तन्निरूपितजनकता = भावनानिष्ठ अर्थात् चमत्कार है, जन्य व जनकता विद्यमान है भावना में, क्योंकि भावना से चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार इतना अंश समाधेय हो गया—स्वविशिष्टजनकता। अब व्याख्येय है—अवच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण। 'अवच्छेदक' कहते हैं—अन्यूनातिरिक्त धर्म को, अर्थात् जो न्यून में न रहे, अतिरिक्त में भी न रहे, अर्थात् अपने किसी हिस्से को न छोड़े व दूसरे में न जाए। 'अवच्छेदक' विशेषण को भी कहते हैं, जैसे घटत्वावच्छिन्न होता है घट। यहाँ घटत्व धर्म है, उससे युक्त या अविच्छिन्न है, घट। इस प्रकार घटत्व विशेषण हुआ व घट विशेष्य। फलतः अवच्छेदक घटत्व कहलाएगा। पुनः अवच्छेदक इतरव्यावर्तक भी होता है, अर्थात् दूसरे पदार्थों से अलग कराने वाला। जैसे घटत्व घट में रहेगा व पटत्व

१. 'तस्यभावस्त्वतलौ' सूत्र पर ही विज्ञानभिक्षुकृत तत्त्वबोधिनी टीका।

पट में। यहाँ स्व=चमत्कारत्व, तद्विशिष्ट=उससे युक्त चमत्कार=तद्जनकता= अविच्छिन्न ज्ञानधारारूपिणी भावना, उस भावना का अवच्छेदक अर्थात् विशेषण जो अर्थ है, उस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

पण्डितराजीय लक्षण की समीक्षा

पण्डितराज की केवल शब्द को काव्यत्व प्रदान करने की मान्यता का तर्कसहित खंडन उनके टीकाकार नागेश ने किया है। पुन: जनमान्यता भी शब्द के बिना अर्थ व अर्थ के बिना शब्द की कल्पना के विरुद्ध है। अत: पण्डितराज का यह लक्षण मौलिक होते हुए भी प्राय: लोगों को संस्कारापेक्षी लगता है। जिन तर्कों के आधार पर उन्होंने शब्दार्थयुगलत्व की समीक्षा की है, उनकी तीक्ष्णता भी समीक्षणीय है, ताकि विज्ञजनों के समक्ष शब्दवादिनी एवं शब्दार्थवादिनी मान्यताओं का स्वरूप समग्र खण्डन-मण्डन के साथ प्रस्तुत किया जा सके।

१. पण्डितराज ने 'शब्दविशेष: काव्यम्', इस मान्यता के पक्ष में प्रमाण रूप से लोकव्यवहार को प्रस्तुत किया है—'काव्यमुच्चै: पठ्यते', 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञात:', 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' इत्यादि। लेकिन विचार किया जाय, तो यही लोकव्यवहार 'शब्दार्थौ काव्यम्' में भी प्रमाण है। जैसे 'काव्यं श्रुतम्' यह व्यवहार होता है, वैसे ही 'काव्यं बुद्धम्' यह व्यवहार भी होता हैं। श्रवण शब्द का होता है, तो बोध अर्थ का होता है। अत: इस आधार पर शब्दार्थ की काव्यता में आपत्ति नहीं मानी जानी चाहिए। यदि यह कहें कि अर्थ का श्रवण नहीं होता तो 'काव्यं श्रुतम्' यह व्यवहार कैसे होगा? इसका उत्तर इस श्रुतिवचन के द्वारा समवलोकनीय हैं—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:, श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति'।[१]

लेकिन यहाँ एक बाधा दिखाई देती है कि आत्मा तो अर्थ है और अर्थ का श्रवण होगा नहीं। अत: इस बाधा का निवारण लाक्षणिक व्यवहार से होता है। इसी प्रकार शब्दार्थ की काव्यता भी समझनी चाहिए।

२. लोकव्यवहार से शब्दार्थ की काव्यता जब सिद्ध हो गई, तो केवल 'शब्द' में काव्य शब्द का प्रयोग लाक्षणिक होगा। नियम भी है कि समुदाय में जिस शब्द का प्रयोग होता है, उसका एकदेश अर्थात् अवयव में भी प्रयोग होता है, जैसे घृतं भुक्तम्, तैलं भुक्तम् इत्यादि। अर्थात् बाजार में सैकड़ों टन घी होता

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.५.६।

है। हम एक टीन घी लाए व उसमें से एक चम्मच घी खाया। सब घी है। सारे टीन, एक टीन व एक चम्मच का घी भी घी ही है। अर्थात् समुदाय में प्रयुक्त शब्द का अवयव में भी प्रयोग होता है। यही स्थिति हाथ शब्द के सन्दर्भ में दर्शनीय है। हाथ शब्द अङ्गुलि से कन्धे तक के लिए प्रयुक्त होता है। लेकिन लोग अङ्गुलि पकड़ कर भी पूछते हैं कि यह किसका हाथ है? स्पष्ट है कि अङ्गुलि मात्र भी हाथ है व समस्त बाहु भी। अवयवावयवी सम्बन्ध से लक्षणा से अङ्गुलि में हस्त शब्द का अर्थ गृहीत होता है। इसी कारण महाभाष्यकार कहते हैं—'समुदायप्रवृत्तः शब्दः अवयवेष्वपि दृश्यते'।[१] अतः काव्य शब्द का प्रयोग शब्दमात्र में, शब्दार्थयुगल में व अर्थमात्र में भी प्रयुक्त होता है।

३. कविकर्म को काव्य कहते हैं। कवि-कर्मता शब्द के गुम्फन में है, शब्द के निर्माण में नहीं। लेकिन कवि शब्द का गुम्फन अर्थ की अभिव्यक्ति के अनुरूप करता है। कवि की प्रथम कर्मता अर्थनिष्ठ होती है, गुम्फन-कर्मता तदनन्तर शब्दनिष्ठ होती है। इस प्रकार देखा जाय तो कविकर्मता शब्दार्थोभय-निष्ठ होती है। इस प्रकार काव्य शब्द की सिद्धि समाख्या बल से भी 'शब्दार्थौ काव्यम्' सिद्ध होती है। अतः केवल शब्द या अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग करने पर लाक्षणिक व्यवहार ही माना जाएगा।

४. जहाँ तक वेद-पुराण की शब्दमात्रता का पण्डितराज का तर्क है, तो ऐसा मानना भी उचित नहीं। वेदपुराण भी वस्तुतः शब्दार्थयुगल ही हैं। इसमें पाणिनि स्वयं प्रमाण हैं। पाणिनि का सूत्र है—'तदधीते तद्वेद'।[२] इस पर महाभाष्यकार कहते हैं—'किमर्थम् इमौ उभौ अप्यर्थौ निर्दिश्येते, अधीते वेद इति च'।[३] अर्थात् अधीते व वेद इन दोनों का निर्देश क्यों करते हो? तात्पर्य यह है कि जो अध्ययन करेगा, वह जानेगा भी और जो जानता है वह पढ़ता भी है। अतः दोनों को कहने की क्या आवश्यकता है? इस पर भाष्यकार का चिन्तन है—'नैतयोरावश्यकः समावेशः' 'भवति हि कश्चित् सम्पाठं पठति न च वेत्ति कश्चित् वेत्ति न च संपाठं पठति'।[४] अर्थात् यह कोई आवश्यक नहीं कि जो जाने वह पढ़े भी और जो पढ़े वह जाने भी। ऐसा देखा जाता है कि कोई पाठ पढ़ता है, पर अर्थ जानता नहीं। कोई जानता है, पर पाठ पढ़ना नहीं जानता। इस पर कैयट की टिप्पणी हैं—'अर्थावबोधो वेदनमभिप्रेतम्'[५] अर्थात्

१. व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक १.१.१। २. अष्टाध्यायी ४.२.५९।

३,४. तदधीते तद्वेद सूत्र पर व्याकरणमहाभाष्य एवं प्रदीप टीका।

५. 'तदधीते तद्वेद' सूत्र पर व्याकरणमहाभाष्य एवं प्रदीप टीका।

अर्थज्ञान यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शब्द भी वेद है, क्योंकि अध्ययन शब्द का होता है व अर्थ भी वेद है, क्योंकि ज्ञान अर्थ का होता है। इसी प्रकार पुराण भी शब्दार्थमय है व काव्य भी शब्दार्थमय है।

पुनश्च 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ' कवि प्रतिभाप्रसूत ही होता है, फलत: कवि अर्थ का निर्माता भी होता है। इस प्रकार कविकर्मता शब्दार्थयुगल में होने के कारण शब्दार्थयुगल की काव्यता निर्विवाद है। पुनश्च शब्दमात्र में काव्यता स्वीकार करने पर दृश्य-काव्य की काव्यता बाधित हो जाएगी।

५. जहाँ तक संगीत के रागों, नृत्य वाद्यादि के द्वारा रसोद्बोधकता होने व उनके काव्य कहे जाने का तर्क है, तो यह भी उचित नहीं है। कारण संगीत के रागों, वाद्ययन्त्रों के वादन, नृत्य, तौर्यत्रादिकों एवं रङ्गमञ्चीय विधान में कविकर्मता कुछ भी नहीं होती। इसलिये इन्हें काव्य नहीं कह सकते। जहाँ गीतादि से रसोद्बोध होता है, वहाँ ये उद्दीपन विभाव होने के कारण अन्य का आक्षेप कर रसोद्बोध करते हैं।

६. काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त (काव्यत्व) शब्दार्थयुगल में व्यासज्यवृत्ति से ही रहेगा, प्रत्येकपर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं। इस सम्बन्ध में पण्डितराज का यह तर्क कि श्लोक में शब्द तो है, पर उससे प्रतिपादित अर्थ भूतकाल की वस्तु हो गया, अत: अर्थ के विद्यमान न रहने पर काव्यत्व बाधित हो गया, फलत: व्यासज्यवृत्ति से (शब्दार्थ दोनों के रहने पर) काव्यत्व में बाधा आ गई, उचित नहीं। इस सम्बन्ध में पहला समाधान यह है कि वहाँ काव्य का व्यवहार अर्थ के सम्बन्ध में लाक्षणिक होगा।

इस सम्बन्ध में दूसरा समाधान यह है कि कवि द्वारा वर्णित नायकादि अर्थ कविकल्पित व कवि प्रतिभाप्रसूत होते हैं। अत: वे ज्ञानमय होने के कारण कभी विनष्ट नहीं होते। फलत: वहाँ 'एकसत्वेऽपि द्वयं नास्ति' का कोई प्रसङ्ग नहीं।

७. पुनश्च यह तथ्य भी स्मरणीय है कि अर्थ की काव्यता यदि न मानी जाय तो अर्थगुण, अर्थालङ्कार, अर्थदोष आदि का इतना विशद विवेचन कोई महत्त्व नहीं रखता।

८. पुन: चमत्काराधान काव्य में रस से होता है व रस की निष्पत्ति विभावानुभावव्यभिचारी संयोग से होती है, जो काव्यार्थ रूप होते हैं। प्रश्न यह है कि जिस अर्थ से चमत्कार या रस की निष्पत्ति हो, वह काव्य ही नहीं;

चमत्काराधान करने वाला अर्थ विशेषणीभूत कर गौण बना दिया जाय और वही काव्य न हो, यह कहाँ तक तर्कसंगत है?

काव्यलक्षण की समीक्षा के प्रसंग में आचार्य परम्परा भी समवेक्षणीय है। भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, तदनुसार अभिनव, कुन्तक, मम्मट, वाग्भट, विद्यानाथ, विद्याधर, अच्युतराय प्रभृति आचार्यों की दीर्घ परम्परा ने शब्दार्थयुगल की काव्यता मानी है, परन्तु अग्निपुराणकार, दण्डी, जयदेव, विश्वनाथ, केशव मिश्र एवं पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों की विशिष्ट दृष्टि ने शब्दमात्र में काव्य की सत्ता स्वीकार की है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि क्या ये आचार्य पण्डितराज के समान शब्दार्थयुगल के विरोधी हैं? इनमें अग्निपुराणकार, दण्डी, जयदेव, केशवमिश्र, विश्वनाथादि के काव्य-लक्षणों में वाक्यम् या पदावली शब्द होते हुए भी शब्दार्थयुगल का विरोध नहीं है। यह तथ्य विश्वनाथ के लक्षण की समीक्षा से स्वत: सिद्ध है। विश्वनाथ का लक्षण है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।[१] परन्तु तत्काल लिखते हैं—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्'। यदि शब्दार्थयुगल शरीर है तो शरीर ही तो स्वरूपलक्षण है। उनका शब्दार्थौ से विरोध नहीं। यदि वे शब्दमात्र को काव्य मानते तो षष्ठपरिच्छेद के प्रारम्भ की प्रथम कारिका में 'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्यं द्विधा मतम्' क्यों लिखते? कारण, शब्द तो कभी भी दृश्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में दृश्यकाव्य का भेद ही अनुपपन्न हो जाएगा।

जयदेव के काव्यलक्षण में जो 'वृत्तिर्वाक्‌काव्यनामभाक्'[२] शब्द का प्रयोग है तो वहाँ 'वाक्' शब्द एवं अर्थ दोनों का बोधक है। 'वक्तीति वाक् शब्द:, उच्यते असौ वागर्थ:'। अत: वहाँ भी शब्दार्थयुगल का विरोध नहीं।

अग्निपुराणकार व दण्डी ने तो 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'[३] को काव्य की संज्ञा दी है। वहाँ भी अर्थ से विरोध नहीं।

१०. वस्तुत: शब्दार्थ का सयुक्तिक खण्डन करने वाले एकमात्र आचार्य पण्डितराज हैं। इनके भी विरोध की उपजीव्यता चण्डीदास की है। उन्होंने ही इस प्रश्न को सर्वप्रथम उठाया है, जिसका विशद स्थापन पण्डितराज ने किया; परन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'शब्दार्थौ' का साडम्बर खंडन करके

---

१. साहित्यदर्पण १.३।

२. निर्दोषालक्षणवती रसभावपूर्णा सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् (चन्द्रालोक १/७।)

३. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (काव्यादर्श १/१०।)
संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (अग्निपुराण ३३७/६।)

भी वे स्वयं स्वसिद्धान्त से विचलित हो गए। उन्होंने काव्य-हेतुओं के विवेचन-प्रसंग में काव्य का कारण एकमात्र प्रतिभा को माना है और प्रतिभा की व्याख्या इस प्रकार की है—'सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः'।[१] अब विचार कीजिए, जब कारण ही शब्दार्थयुगल है तो कार्य काव्य भी शब्दार्थयुगल ही होना चाहिए; क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होता है। कृष्णसूत्र से कृष्णवस्त्र की ही निर्मिति होती है। पुनश्च उत्तम काव्य के लक्षण में उन्होंने 'शब्दार्थौ' को प्रधानतया प्रयुक्त किया—'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्'[२] अर्थात् शब्द और अर्थ जहाँ अपने को गुणीभूत कर किसी चमत्कारी अर्थ को प्रधानतया व्यक्त करते हैं, वे उत्तमोत्तम काव्य कहलाते हैं। प्रश्न यह है कि जब चमत्कारी अर्थ को शब्दार्थयुगल दे रहे हैं व उत्तम काव्य का सृजन कर रहे हैं तो शब्दार्थयुगल की काव्यता क्यों नहीं?

११. कविदृष्टि से भी विचार करने पर शब्दार्थयुगल की काव्यता ही सिद्ध होती है। माघकवि की उक्ति है—'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते'[३]। रघुवंश के प्रारम्भ में कालिदास की भी यही वन्दना है—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ'।। इसी प्रकार किरातार्जुनीयम् में 'स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्'[४] प्रयोग में कविदृष्टि शब्दार्थयुगल पर ही केन्द्रित है। स्पष्ट है, जब अपने काव्यप्रणयन से संस्कृतभारती का शृङ्गार करने वाले कविगण शब्दार्थयुगल दोनों को काव्यनिर्मिति का मूल कारण मानते हैं तो काव्याचार्यों को इसके एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग 'अर्थ' को सर्वथा दूर छिटक देने का क्या अधिकार?

१२. पण्डितराज ने 'सगुणौ', 'सालङ्कारौ' और 'अदोषौ' पदों का विवेचन करते हुए कहा है कि लक्षण में गुणालङ्कारादि का निवेश करना उचित नहीं हैं। विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि लक्षण में गुणालङ्कारादि का विन्यास न किया जाय तो काव्य में चमत्काराधान की शक्ति कहाँ से आएगी? एवं काव्य के शब्द लोक तथा शास्त्र के शब्दों से विलक्षण कैसे सिद्ध होंगें? इस सम्बन्ध में पण्डितराज की उक्ति स्वयं प्रमाण है। 'रस' निरूपण करते हुए पण्डितराज ने स्वयं कहा है—'समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः......'[५] अर्थात् औचित्य व लालित्यविशिष्ट शब्द से चारु काव्य से समर्पित। प्रश्न यह है कि गुणालङ्कारादि से विहीन शब्दों में औचित्य व लालित्य कहाँ से आएगा? क्या दोषयुक्त व गुणालङ्कारादिविहीन शब्दों में लालित्य हो सकता है?

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. २७;
२. तत्रैव, प्रथमानन, पृ. ३७।
३. शिशुपालवधम्, २.८६;
४. किरातार्जुनीयम् २.२७।
५. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ८७।

वामन ने 'काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: तददतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा:'[१] कहते हुए शोभाधायक तत्त्वों को गुण एवं शोभावर्धक तत्वों को अलङ्कार माना है। दण्डी 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते'[२] कहते हुए अलङ्कार को ही शोभाधायक तत्त्व मानते हैं। भामह का मत है कि—'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्'[३]। आचार्यों का यह मन्तव्य सिद्ध करता है कि काव्य गुणालङ्कारादि विशिष्ट ही होता है।

पण्डितराज का यह तर्क कि यदि गुणालङ्कारादि विशिष्ट शब्दार्थ में काव्यत्व स्वीकार किया जाय तो 'उदितं मण्डलं विधो:', 'गतोऽस्तमर्क:' इत्यादि चमत्कारी वाक्यों में काव्यत्व अव्याप्य हो जाएगा। इस पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि इन वाक्यों में प्रसङ्गानुकूल रसवत्ता तो है ही, फलत: रसधर्म गुण व तदन्तर्गत माधुर्य भी यहाँ विद्यमान है ही। यद्यपि माधुर्यव्यञ्जक वर्णों में टवर्ग परिगण्य नहीं; तथापि इसका सकृत् प्रयोग दोषावह नहीं होता।

गुणत्व व अलङ्कारत्व के अननुगत होने, उनके स्वरूप, संख्या व आश्रय के नियत न होने सम्बन्धी पण्डितराज के तर्क के सम्बन्ध में अस्मद् गुरुप्रवर आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय के शब्दों में यही समाधान देय है कि गुण रस अर्थात् काव्यात्मा के धर्म हैं। अलङ्कार शरीरभूत शब्दार्थ के धर्म हैं, अत: इनका आश्रय नियत हो गया। स्वरूप भी नियत हैं—'रसवृत्तित्वे सति रसोत्कर्षकत्वं गुणत्वम्, शब्दार्थवृत्तित्वे सति परम्परया रसोत्कर्षकत्वम् अलङ्कारत्वम्'।

इस प्रकार गुणों व अलङ्कारों के स्वरूप निश्चित हैं। गुणों की संख्या भी निश्चित है; क्योंकि काव्यार्थ के अनुशीलन से सहृदयों की तीन प्रकार की चित्तवृत्ति बनती है। द्रुति होती है या दीप्ति या विकास। ये तीनों वृत्तियाँ काव्यगुणों से ही आती हैं। अत: इन तीनों वृत्तियों के प्रायोजक भी तीन ही हैं और वे तीनों गुण ही हैं।

जहाँ तक अलङ्कारों की संख्या का प्रश्न है तो संख्या अनियत होने के कारण कोई वस्तु अननुगत नहीं होती। इस सम्बन्ध में साहित्य के मनीषी विद्वान् डॉ. वायुनन्दन पाण्डेय जी का तर्क है कि आज मानव संख्या अनियत है तो क्या मानवता अननुगत मानी जाएगी?

---

१. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.१, ३.१.२।

२. काव्यादर्श, २.१।

३. काव्यालङ्कार १.१३।

आचार्य पाण्डेय का इस सम्बन्ध में अगला तर्क है कि पण्डितराज काव्यलक्षण की भूमिका में स्वयं कहते हैं—'गुणालङ्कारादिनिरूपणीये तस्मिन्'[१] और काव्यलक्षण प्रसङ्ग में कहते हैं, गुणालङ्कारादि का संनिवेश उचित नहीं। उनका यह तर्क कहाँ तक उचित है?; इस विषय में वे स्वयं विचार कर लें।

आचार्य वायुनन्दन जी का अग्रिम तर्क यह है कि यदि हम पण्डितराज के वक्तव्य का यह आशय लें कि गुण व अलङ्कार उत्कर्षाधायक हैं, स्वरूपाधायक नहीं, ऐसे ही दोष भी स्वरूप के विघातक नहीं, केवल अपकर्षकारी होते हैं, अत: इनका लक्षण में निवेश उसी प्रकार नहीं करना चाहिए, जैसे हम मानवता के लक्षण में विद्वत्ता, शूर-वीरता या कटककुण्डलादि-अलङ्कारयुक्तता या काणत्वादि दोषराहित्य का प्रयोग नहीं कर सकते; क्योंकि इनके अभाव में भी मानव मानव ही रहेगा। अत: लक्षण में गुणालङ्कार का निवेश नहीं किया जाना चाहिए। लौकिक दृष्टान्तों के आधार पर काव्य के सन्दर्भ में पण्डितराज का यह चिन्तन उचित नहीं। यदि शब्दार्थ गुणालङ्कारादि विहीन होंगें या दोषयुक्त होंगें तो उनसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादन सम्भव नहीं। इस तरह 'घटमानय', 'पटमानय', 'गौश्चरति' आदि वाक्य भी काव्य होने लगेगें।

पण्डितराज ने दोषांश के सन्दर्भ में जो यह तर्क दिया है कि यदि दोषाभाव को काव्यलक्षण में स्थान देंगें तो 'दुष्टं काव्यम्' यह व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसका समाधान भी इस प्रकार है कि जैसे अनुमान में हेतु निर्दुष्ट होना चाहिए, लेकिन यदि कोई दोषयुक्त हेतु देता है तो कहा जाता है—'तवायं हेतुराभास:', अर्थात् आपका यह हेतु हेत्वाभास है, उसी प्रकार 'दुष्टं काव्यम्' का प्रयोग जहाँ होगा वहाँ काव्य नहीं, काव्यत्वाभास होगा।

पण्डितराज का यह तर्क है कि आत्मधर्म गुण व हारादि के समान उपस्कारक अलङ्कारों को शरीरघटक मानना उचित नहीं, समीक्षणीय है। कारण, लौकिक अलङ्कार तो शरीर से पृथक् किये जा सकते हैं, क्योंकि वे संयोग सम्बन्ध से शरीर में रहते हैं। गुण शरीर से पृथक् नहीं किए जा सकते। वे संयोग सम्बन्ध से नहीं समवाय सम्बन्ध से शरीर में रहते हैं। गुण आत्मधर्म होने के कारण आभ्यन्तर ही हैं। पुन: काव्य में दोषराहित्य को तो सभी आचार्यों का समर्थन प्राप्त है। भामह का स्पष्ट कथन है—'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते'[२]। इसे ही दण्डी ने इस प्रकार कहा है—

१. तत्र कीर्तिपरमाह्लाद गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया गुणालङ्कारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताऽवच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते। (रसङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १)।

२. काव्यालङ्कार १.११।

गौर्गोः कामदुधा लोके सुप्रयुक्ता स्मृता बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुरेव शंसते॥[१]

अन्यत्र उनका वक्तव्य है—'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्'[२]। वामन तो 'दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्'[३] कहकर दोष के अभाव व गुणालङ्कार के आदान में ही सौन्दर्य मानते हैं। अग्निपुराणकार तो अलङ्कारों से रहित भारती को विधवा के समान मानते हैं—'अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती'।[४]

वस्तुतः काव्य में दो ही चमत्काराधायक तत्त्व होते हैं—रस एवं अलङ्कार। सरस काव्य में तो स्फुट अलङ्कार की अपेक्षा नहीं लेकिन नीरस काव्य में यदि अलङ्कार भी न हो तो फिर चमत्कार कहाँ से उत्पन्न होगा? अतः काव्य में गुणालङ्कारादि निवेश सर्वथा आवश्यक है।

काव्यहेतु

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यसृष्टि के मुख्यतया तीन हेतु माने गये हैं—१. प्रतिभा, २. व्युत्पत्ति और ३. अभ्यास। काव्यनिर्माण की शक्ति या संस्कारभूत बीज को प्रतिभा कहा जाता है, जिसके कारण कवि नित्यनूतन उद्भावनाओं की सृष्टि में समर्थ होता है[५]। इसे ही नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का अभिधान दिया गया है[६]। विद्वानों ने इसे विविधप्रकार से परिभाषित किया है। राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किए हैं—१. कारयित्री एवं २. भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्यसर्जना से सम्बन्धित है व भावयित्री सहृदय की भावानुभूति से। कारयित्री प्रतिभा के भी दो भेद बताये गये हैं—सहजा एवं उत्पाद्या। सहजा प्रतिभा कवि में जन्मजात होती है व उत्पाद्या व्युत्पत्तिं तथा अभ्यास द्वारा उपार्जित होती है।

व्युत्पत्तिं का अर्थ हैं, कुशलता या निपुणता। यह निपुणता लोकव्यवहार, शास्त्रानुशीलन एवं काव्यादि के पर्यालोचन से प्राप्त होती है। काव्यकृति को सहज व सुन्दर बनाने के लिए यह व्युत्पत्ति नितान्त आवश्यक है।

निरन्तर काव्य साधना में निरत रहना ही अभ्यास है, जिससे काव्यरचना में सतत परिष्कार आता है।

१. काव्यादर्श १.६; २. तत्रैव १.७।
३. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १।१।३; ४. अग्निपुराण ३४४.२।
५. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः (काव्यप्रकाश १.३ वृत्ति।)
६. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, (ध्वन्यालोकलोचन १.६ का लोचनांश।)
प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयं नूतनोल्लेखशालित्वम्, वर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेष प्रतिभानम् ध्वन्यालोकलोचनांश ४।१।

काव्यनिर्माण में इन तीनों काव्य हेतुवों की भूमिका के सम्बन्ध में काव्य-शास्त्रियों की मुख्यतया दो प्रकार की मान्यताएँ हैं। एक मान्यता के अनुसार काव्य का कारण मात्र 'प्रतिभा' होती है और 'व्युत्पत्ति तथा अभ्यास' उसके संस्कारक तत्व होते हैं। दूसरी मान्यता के अनुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों मिलकर काव्य के कारण होते हैं।

पण्डितराज काव्यनिर्माण का कारण एकमात्र 'प्रतिभा' को मानते हैं। अतः उन्हें केवल प्रतिभावादी कहा जा सकता है। उन्होंने कारयित्री प्रतिभा का ही विवेचन किया है, भावयित्री का नहीं। इस प्रतिभा के भी दो कारण उन्होंने बतलाए हैं—१. अदृष्ट, २. व्युत्पत्ति और अभ्यास। देवता, महापुरुष आदि के प्रसाद व वरदान से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। इस विषय में उनका प्रमुख तर्क है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना भी किसी-किसी में बाल्यावस्था से ही काव्यसृजन की प्रतिभा होती है। अतः व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना कहीं केवल स्वतन्त्ररूप से प्रतिभा का कारण अदृष्ट को स्वीकार किया जा सकता है—'**न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः**'[१]।

पण्डितराज ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी अदृष्ट से अलग प्रतिभोत्पत्ति का स्वतन्त्र कारण माना है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि पहले काव्यरचना की प्रतिभा न होने पर भी परिश्रम व साधना करते रहने से व्यक्ति में काव्यसृजन की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः अदृष्ट से पृथक् व्युत्पत्ति और अभ्यास भी काव्यप्रतिभा के कारण हैं।[२]

पुनः प्रतिभा की भी एक विशिष्ट सीमा या स्तर है। जो व्युत्पत्ति और अभ्यास उस स्तर तक नहीं पहुँच पाते, वे प्रतिभा को नहीं उत्पन्न कर सकते। अतः व्युत्पत्तिवर्धन व अभ्यास होते रहने पर भी प्रतिभोत्पत्ति न होने में दो कारण हो सकते हैं—

१. काव्यनिर्मिति के स्तर के अनुरूप व्युत्पत्ति व अभ्यास के स्तर का अभाव।

२. जन्मान्तर का कोई पापात्मक अदृष्ट।

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ३०।

२. नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तश्चित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्। (तत्रैव पृ. ३२।)

अत: पण्डितराज का मत है कि काव्यनिर्मात्री प्रतिभा की उत्पत्ति में कारणीभूत व्युत्पत्ति व अभ्यास को विलक्षण कहना चाहिए।[१]

पण्डितराज ने 'प्रतिभा' की विविधता को भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि जन्मान्तर के कर्मजन्य संस्कारों से उत्पन्न होने वाला एवं वरदानादि से सिद्ध होने वाला अदृष्ट तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास सभी व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् होते हैं। अत: प्रतिभा के कारणभूत तत्त्वों की विविधता से कार्यरूपा प्रतिभा में वैविध्य या अनेकरूपता आनी स्वाभाविक है, जिसके फलस्वरूप काव्य में विलक्षणता या विविधता आती है।

इस प्रतिभा के स्वरूप का निरूपण करते हुए पण्डितराज का वक्तव्य है कि 'काव्यसृष्टि के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति करने वाली क्षमता ही प्रतिभा हैं—

'सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति:'।[२]

पुन: प्रतिभा के कार्यपक्ष और स्वरूप पक्ष का नैयायिक शैली से निरूपण करते हुए उनका विवेचन है—

'तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष: उपाधिरूपं वा खण्डम्'[३]।

अर्थात् प्रतिभा में रहने वाला मूलधर्म प्रतिभात्व काव्य का कारणतावच्छेदक होने से सिद्ध जातिविशेष है अथवा सखण्ड उपाधिरूप है।

आशय यह है कि कारण में रहने वाले मूलधर्म को नैयायिक 'कारणतावच्छेदक' कहते हैं। प्रतिभा काव्य की कारण है। अत: प्रतिभा में रहने वाला मूलधर्म 'प्रतिभात्व' काव्य का कारणतावच्छेदक धर्म है। पण्डितराज ने इस प्रतिभात्व को 'सिद्ध जातिविशेष' कहा है।

न्यायदर्शन के अनुसार जाति नित्य, एक व अनेकानुगत होती है— 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्त्वम्'[४] फलत: वह अनेक वस्तुवों में एकाकार प्रतीति कराती है। प्रतिभा में रहने वाला मूल धर्म 'प्रतिभात्व' भी विविधरूपा प्रतिभाओं में प्रतिभा की एकाकार अनुभूति कराता है। इस प्रकार प्रतिभात्व एक जाति है। जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है—१. कार्यतावच्छेदकतया अर्थात् कार्य

१. न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्ति: तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वात्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३५।)

२,३. तत्रैव, पृ. २७;

४. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, १.८ वृत्तिभाग।

में रहने वाले धर्म से एवं २. कारणतावच्छेदकतया अर्थात् कारण में रहने वाले धर्म से। इनमें घटत्वादि या गोत्व आदि जाति कार्यतावच्छेदकतया सिद्ध होती है; क्योंकि सभी कार्य घटों या गौओं को देखने पर 'घट: घट: या गौ: गौ:' की एक जैसी अनुगताकार प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। परन्तु जिन पदार्थों में अनुगताकारा प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती, उनमें कारणतावच्छेदकतया अनुमान प्रमाण से जाति सिद्ध की जाती है। यथा घी को देखने से सर्वत्र 'घृतं-घृतम्' यह अनुगताकार प्रतीति नहीं होती; क्योंकि पिघले घी व तैल में कोई भेद नहीं होता। अत: ऐसे पदार्थों में अनुमान प्रमाण से जाति सिद्ध की जाती है। प्रतिभा में भी प्रतिभात्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। कारण प्रतिभात्व को हम प्रत्यक्ष देख-सुन नहीं सकते। इस अनुमान का आकार है—'काव्यं प्रति कविसमवेता प्रतिभा कारणम्, या या कारणता सा सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्यतानिरूपितदण्डनिष्ठकारणतावत्' अर्थात् काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है। कारण में कारणता होती है। जो-जो कारणता होती है, वह किसी न किसी धर्म से युक्त होती है। प्रतिभा में जो कारणता है, वह भी प्रतिभात्व से अविच्छिन्न है। इस प्रकार अनुमान से प्रतिभात्व की सिद्धि हुई, जो जातिविशेष है। इसी बात को पण्डितराज इस प्रकार कहते हैं—

'काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः'।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि पण्डितराज ने इसे 'जातिविशेष' कहा है। वस्तु के धर्म सिद्ध व साध्य दो प्रकार के होते हैं। साध्य धर्म क्रियारूप होता है व सिद्ध वस्तुधर्म जाति व गुण रूप होता है। इसके बिना वस्तु की स्थिति ही नहीं होती, कारण जाति पदार्थ का प्राणाधार मूलधर्म होता है[१]। प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व भी ऐसा ही धर्म है। इसी कारण पण्डितराज ने इसे 'सिद्धजातिविशेष' कहा है।

परन्तु इस प्रतिभात्व को जातिविशेष मानने में कोई प्रमाणविशेष न होने के कारण इसे उन्होंने 'सखण्डोपाधि' माना है—'उपाधिरूपं वा खण्डम्'[२]।

दर्शन की मान्यतानुसार उपाधि वह धर्मविशेष है, जो अनेक में न रहता हो। यह उपाधि दो प्रकार की होती है—सखण्ड और अखण्ड। 'पदार्थान्तरघटितत्वं

१. वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः। सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः। पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये—'नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' इति। (काव्यप्रकाश २।१० सू. वृत्त्यंश।)

२. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २७।

सखण्डत्वम् पदार्थान्तराघटितत्वमखण्डत्वम्' अर्थात् जो दूसरे पदार्थान्तर से घटित हो, उसे सखण्ड कहते हैं और जो पदार्थान्तर से अघटित हो, वह अखण्ड है। अत: प्रतिभा पदार्थ, जिसे पण्डितराज ने स्वयं इस प्रकार परिभाषित किया हैं—'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति:'[१], शब्द-अर्थ, काव्यानुकूल भाव-भाषादि कई पदार्थों से निर्मित है; फलत: यह सखण्डोपाधि है।

अब पण्डितराज के समक्ष एक समस्या उपस्थित होती है। समस्या यह है कि प्रतिभा काव्य का कारण हो ही नहीं सकती। कारण, कारणता का निर्णय अन्वय व व्यतिरेक से होता है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वय:, तदभावे तदभावो व्यतिरेक:' अर्थात् जिसके रहने पर जो हो, वह अन्वय और जिसके न रहने पर जो न हो, वह व्यतिरेक कहलाता है। प्रश्न यह है कि जहाँ अदृष्टजन्य प्रतिभा न हो, व्युत्पत्ति और अभ्यासजन्य प्रतिभा से काव्य बन जाए, वहाँ काव्यरूप कार्य तो हो गया, परन्तु अदृष्टजन्य प्रतिभा नहीं है, तो न तो व्यतिरेक हुआ और न ही अन्वय, अत: इसके अभाव में प्रतिभा को कारण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जहाँ अदृष्टजन्य प्रतिभा से काव्य बन गया व व्युत्पत्ति तथा अभ्यासजन्य प्रतिभा नहीं है; वहाँ भी अन्वय-व्यतिरेक नहीं बना। अत: पण्डितराज प्रतिभा के द्विविध स्वरूप के पक्षधर हैं—

१. अदृष्टजन्य प्रतिभा, २. व्युत्पत्ति तथा अभ्यासजन्य प्रतिभा। इन द्विविध प्रतिभाओं से जन्य द्विविध काव्य के भी वे पक्षधर हैं। अपने इस मत को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—'तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचार:। प्रतिभात्वं च कविताया: कारणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि स:। न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्ति: तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वात्'।[२]

समीक्षा :

काव्यहेतु सम्बन्धी पण्डितराज के इस मत के विश्लेषण से कतिपय विचारणीय बिन्दु उभरते हैं। यह सत्य है कि कवित्व का बीज प्रतिभा ही है। प्रतिभा के बिना काव्य का निर्माण व प्रसार नहीं होता, तथापि यह भी निर्विवाद रूप से सत्य है कि अनुपहसनीय एवं सहृदयश्लाघनीय उत्कृष्ट काव्यसृजन के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास नितान्त अपेक्षित हैं। स्थावरजङ्गमात्मक संसार के व्यवहार का ज्ञान, कोशग्रन्थों का पर्यालोचन, विविध कलाओं के प्रतिपादक

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २७; २. तत्रैव, पृ. ३४-३५।

ग्रन्थों, चतुर्वर्ग, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षादि के प्रतिपादक ग्रन्थों, लक्षण-ग्रन्थों, छन्दोविज्ञान, कामशास्त्र, दण्डनीति, इतिहास, पुराण, स्मृत्यादि ग्रन्थों तथा अन्यान्य कवियों द्वारा प्रणीत काव्य-कृतियों का अध्ययन एवं अनुशीलन काव्य के वर्ण्यविषयों के समुचित निरूपण हेतु सुतरां आवश्यक है। इसके अभाव में काव्य-सर्जनानुकूल शब्दार्थचयन, छन्दोबन्धन, वर्ण्यविषयों का शास्त्रलोकादि सम्मत समुत्थापन असम्भव होगा। कल्पना कीजिए, जिस व्यक्ति को लोकवृत्त का ज्ञान नहीं होगा, वह दक्षिण में केसर का वर्णन करने लगेगा, कश्मीर में नारिकेलोद्यान से हरीतिमा को प्राप्त धरती की सुषमा के अङ्कन में संलग्न हो उठेगा, लोकवृत्त के अभाव में उसका यह वर्णन निश्चय ही उपहासास्पद हो जायेगा। इसी प्रकार विविध कलाओं का ज्ञान न रहने, छन्दनिर्माण विषयक कौशल न होने, कोश-ग्रन्थों का पारायण न करने की स्थिति में जो काव्य बनेगा, वह आज उलटी-सीधी रेखाएँ खींच देने से संयोगवशात् निर्मित चित्रकर्म के समान या अनगढ़ पत्थरों से बनी बेतुकी निर्माणकला की भाँति होगा, जिसका अनुभव सहृदयजन स्वयं कर सकने में समर्थ होंगे।

जहाँ तक पण्डितराज का यह तर्क कि महापुरुषप्रसाद से बालादिकों को काव्यनिर्माण की प्रतिभा प्राप्त हो जाती है, अतः प्रतिभोत्पत्ति का कारण कहीं स्वतन्त्र रूप से अदृष्ट होता है और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास। इस तर्क का यही कहकर शमन किया जा सकता है कि महापुरुष-प्रसाद से जैसे अदृष्टवश बालादिकों को काव्यनिर्माण की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, वैसे ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की भी उत्पत्ति नहीं हो जाती इसमें क्या प्रमाण है? वस्तुतः निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यही ज्ञात होता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास तीनों मिलकर काव्य के कारण हैं। मूल बीज तो प्रतिभा ही है, जिसके विषय में मम्मट ने कहा है—'**शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्**'।[१]

इसी बात को वाग्भट ने अधिक परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः इत्याद्यकविसङ्कथा।।[२]

वस्तुतः प्रतिभा को एकमात्र काव्य का हेतु मानना अतिवादी दृष्टिकोण है। पुनः प्रतिभा का जो लक्षण प्रस्तुत किया गया है—काव्यरचना के अनुकूल शब्दार्थ की योजना कराने वाली क्षमता ही प्रतिभा है, उचित नहीं। काव्य में

१. काव्यप्रकाश १.३; २. वाग्भटालङ्कार १.३।

शब्दार्थ की उपस्थिति ही उसका सर्वस्व नहीं। विषयवस्तु का चयन, उसका प्रस्तुतीकरण, विकास, विस्तार, समाप्ति, रसभावादिपूर्ण स्थलों का सौन्दर्य प्रस्फुटीकरण इत्यादि विभिन्न पक्ष नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के नाम से अभिहित प्रतिभा के विस्तृत आयाम में स्वत: सिमट आते हैं। व्युत्पत्ति और अभ्यास इनसे संस्कारित होकर ही यह प्रतिभा काव्योत्पत्ति में समर्थ होती है। लोकनिरीक्षण, शास्त्रों के परिशीलन एवं काव्यपरम्परा के अध्ययन से प्रतिभाशाली कवि के वर्णन में सौन्दर्य, परिष्कृति, आह्लादोत्पादकता व व्यवस्था का समावेश होता है और उसकी कृति लोकोत्तर आह्लाददायक रमणीयार्थ से संवलित हो सहृदयों के मन:प्रसादन में समर्थ हो सकती है।

काव्य-प्रभेद

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यविभाजन के विभिन्न आधार हैं। इस सम्बन्ध में ध्वनिपूर्वीय एवं ध्वनिपरवर्ती आचार्यों की मान्यताओं में विशेष अन्तर है। ध्वनिपूर्वीय भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के बहिरङ्ग तत्त्वों पर जोर देते हुए इनके अनुसार काव्य-विभाजन किया। छन्द के सद्भाव व अभावजन्य रचनाशैली का आधार लेकर गद्य, पद्य, चम्पू; काव्यस्वरूप के आधार पर प्रबन्ध, खण्ड, मुक्तक, कथा, आख्यायिकादि; इन्द्रियजन्य आस्वाद के आधार पर दृश्य एवं श्रव्य; भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के रूप में काव्यों का विभाजन किया गया; परन्तु ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना व प्रतिष्ठा के साथ ध्वनिवादी आनन्दवर्धनाचार्य ने व्यङ्ग्यार्थ को मूल केन्द्र-बिन्दु मानकर उसके आधार पर काव्यभेदों का विवेचन किया। इसके फलस्वरूप काव्य के उत्तम, मध्यम व अधम तीन स्वरूप स्वीकृत हुए। तदन्तर रसवादी विश्वनाथ ने काव्य के तृतीय प्रभेद 'अधमकाव्य' को, जिसमें शब्दचित्र व अर्थचित्र आते हैं, अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान की। इसका मूल कारण यह था कि विश्वनाथ ने काव्यविभाजन व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर नहीं; अपितु रस के आधार पर किया था। चित्रकाव्य में सामान्यत: रस का अभाव होता है, अत: विश्वनाथ को उसकी काव्यता स्वीकार नहीं।[१] ध्वनि के उत्तरवर्ती युग में भी ध्वनिवादी मान्यताएँ ही प्रचलित रहीं।

---

१. केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति। तदाहु:—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् इति तन्न यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्। ईषद्व्यङ्ग्यत्वमिति चेत् किं नामीषद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्याव्यङ्ग्यत्वं वा? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्त:पात:। द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात्। (साहित्यदर्पण ४.समापनांश)

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने व्यङ्ग्यार्थ की उच्चावच स्थिति या तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद किए थे—१. ध्वनि, २. गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा ३. चित्र काव्य। वाच्यार्थ के गौण व व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने की स्थिति को ध्वनिकाव्य,[१] व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ के चारुत्व के अधिक होने को गुणीभूतव्यङ्ग्य[२] तथा शब्दार्थ के वैचित्र्य के प्रधान होने व व्यङ्ग्यार्थ के अभाव को चित्र-काव्य की संज्ञा दी गई थी।[३] ध्वनिवादी मान्यताओं की ही स्वीकृति मम्मट के काव्यप्रभेदविषयक विवेचन में है, जिसे उन्होंने क्रमशः उत्तम, मध्यम व अधम काव्य का नाम दिया था।[४]

काव्यों का प्रभेद निरूपण करते हुए पण्डितराज ने ध्वनिवादी आचार्यों के मूल दृष्टिकोण को यथावत् रखते हुए अपनी मौलिक चिन्तन शक्ति से उनका और अधिक परिष्कार व परिमार्जन किया तथा अपने दृष्टिकोण से काव्य के चार भेद किए—१. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम, एवं ४. अधम। ध्वनिवादी आचार्यों ने वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अतिशयिता या रमणीयता को आधार बनाकर काव्यविभाजन किया था; परन्तु पण्डितराज ने व्यङ्ग्यार्थ के उच्चावच तारतम्य की स्थिति का निर्णायक चमत्कार को बनाया। इस प्रकार उन्होंने व्यङ्ग्यार्थ की वाच्यातिशायिता के साथ उसकी चमत्कारिता को भी काव्य प्रभेदों के विभाजन में हेतु तत्त्व बनाया। इसी आधार पर उन्होंने काव्य के चार प्रभेद किए एवं इसके अतिरिक्त 'अधमाधम' नामक पञ्चम प्रभेद की ओर भी संकेत किया है—

उत्तमोत्तम काव्य

"शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्[५]"।

जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण या अप्रधान बनाकर किसी चमत्कारजनक अतएव प्रधान अर्थ को अभिव्यक्त करें, उसे 'उत्तमोत्तम काव्य' कहते हैं।

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक १.१३।

२. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्।। तत्रैव ३.३५।

३. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैव व्यवस्थितेः
काव्ये उभे ततोऽन्यत् तच्चित्रमभिधीयते।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।। तत्रैव ३.४२।

४. काव्यप्रकाश १/२,३,४

५. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ३७।

यहाँ पण्डितराज ने दो तथ्यों की ओर संकेत किया है—एक वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का प्रधान होना, दूसरे व्यङ्ग्य के चमत्कार का भी रमणीय व उत्कृष्ट होना। व्यङ्ग्य की चमत्कारिता को लक्षण में निविष्ट करने का उनका विशेष प्रयोजन है। उनका कथन है कि अतिगूढ व अत्यन्त स्पष्ट व असुन्दर व्यङ्ग्य-काव्यों में भी व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होता है; परन्तु अतिगूढ़ता, अत्यन्त स्फुटता या असुन्दरता के कारण उसके चमत्कार का क्षय हो जाता है। लक्षण में व्यङ्ग्य की चमत्कारिकता का निवेश कर देने से अतिगूढ़ एवं अस्फुट व्यङ्ग्य-काव्यों में वाच्यातिशायी व्यङ्ग्यार्थ के होते हुए भी चमत्कार का ह्रास रहने के कारण उसका 'उत्तमोत्तम' काव्य में परिगणन नहीं किया जा सकेगा।[1] दूसरी ओर अपराङ्ग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग) और वाच्यसिध्यङ्ग (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ की सिद्धि असम्भव हो) व्यङ्ग्यों में चमत्कार तो होता है, पर वह वाच्यार्थ से प्रधान नहीं होता। फलतः उनका काव्य की इस कोटि में परिगणन नहीं हो सकता।[2] अतः 'उत्तमोत्तम' काव्य के लक्षण में पण्डितराज ने इन सभी असंगतियों को ध्यान में रखते हुए इन्हें दूर करने के उद्देश्य से ही या इनकी लक्षण में अतिव्याप्ति बचाने के लिए वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने की मूल कसौटी को और अधिक कसते हुए उत्तमोत्तम काव्य के इस लक्षण में व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ से प्रधान होना व व्यङ्ग्य के चमत्कार का भी उत्कृष्ट होना इन दोनों ही विशेषताओं को संयुक्त कर दिया है।

उत्तम काव्य

"यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्[3]"

जहाँ व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा व व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा अप्रधान होते हुए भी चमत्कारी होता है, वहाँ 'उत्तम' काव्य होता है। यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि व्यङ्ग्य जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान व व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा अप्रधान हो, ऐसे स्थलों में इस द्वितीय काव्यप्रभेद का लक्षण न चला जाय, इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए पण्डितराज ने 'एव' शब्द का प्रयोग किया है और यह स्पष्ट किया है कि इस द्वितीय काव्यप्रभेद में व्यङ्ग्य अप्रधान होकर भी चमत्कार का कारण होता है।

१-२. कमपीति चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोर्निरासः। अपराङ्गवाच्यसिध्यङ्गव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणायगुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्याभिप्रायकम्। रसगङ्गाधर, प्रथमाननम् पृ. ३७।

३. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ७७।

'उत्तम' काव्य के विवेचन-प्रसंग में पण्डितराज ने अर्थालङ्कारों की कोटिबद्धता का भी सुन्दर विवेचन किया है। सामान्यत: अर्थालङ्कारों को विद्वान् अर्थचित्रता के आधार पर अधम काव्य की कोटि में रखतें हैं। परन्तु पण्डितराज ने अर्थालङ्कारों की अर्थचित्रता के साथ उनके द्वितीय पक्ष गुणीभूतव्यङ्ग्य की भी सुन्दर विवेचना की है। वस्तुत: यह सभी सहृदयों का अनुभव है कि अर्थालङ्कारों में गुणीभूतरूप में व्यङ्ग्य का संस्पर्श विद्यमान रहता है। अत: इसके दो पक्ष सम्मुख आते हैं—१. अर्थचमत्कार का, एवं २. गुणीभूतव्यङ्ग्य का। इनमें कुछ अलङ्कारों में तो अर्थचमत्कार में चारुत्व विद्यमान रहता है व उनका गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप विशेष चमत्कारजनक नहीं होता; किन्तु कुछ में गुणीभूत-व्यङ्ग्य पक्ष विशेष चमत्कारजनक होता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि प्रथम पक्ष के निदर्शन हैं व समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति इत्यादि द्वितीय पक्ष के। इस प्रकार अर्थालङ्कारों के दो रूप सम्मुख आते हैं—१. जागरूक गुणीभूतव्यङ्ग्य वाले, २. अजागरूक गुणीभूतव्यङ्ग्य वाले। इनमें से प्रथम प्रकार के अलङ्कारों को पण्डितराज उत्तम काव्य की श्रेणी में रखते हैं व द्वितीय प्रकार के अलङ्कारों को मध्यम काव्य के प्रभेद में।

मम्मट ने अर्थालङ्कारों के इन दोनों रूपों को काव्य के 'अधम' नामक तृतीय प्रकार में रखा; जबकि व्यङ्ग्य की चमत्कारिता के भेद को ध्यान में रखते हुए इनका एक कोटि में रखना किसी भी प्रकार से उचित नहीं था। पण्डितराज के विवेचन में ऐसी दुर्बलता नहीं है। अलङ्कारों का इतना सुन्दर विवेचन भी किसी अन्य ध्वनिवादी ने नहीं किया। विश्वनाथ ने जिस चित्रकाव्य को काव्य की कोटि में ही रखना नहीं स्वीकार किया व मम्मट ने उसे 'अवर' काव्य की संज्ञा दी, पण्डितराज ने उसे अपनी सुन्दर समीक्षा के सहारे 'उत्तम काव्य' की कोटि में स्थान दिया।[१]

मध्यम काव्य

''यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्[२]''

जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर

१. न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति। अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययो: प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ७८)

२. तत्रैव पृ. ७६।

भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में अन्तर्भुक्त हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत न हो, वह 'मध्यम' काव्य कहलाता है।

इस काव्यप्रभेद में अर्थालङ्कार के अजागरूक व्यङ्ग्य वाले प्रभेद आते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें वे प्रभेद भी आते हैं, जहाँ अर्थचमत्कार व शब्दचमत्कार समान रहता है।[१]

अधम काव्य

जहाँ अर्थचमत्कार से परिपोषित शब्दचमत्कृति प्रधान होती है; वहाँ 'अधम' नामक काव्य का चतुर्थ प्रभेद होता है—

"यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्[२]"

इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने 'अधमाधम' नामक काव्य के पञ्चम प्रभेद की ओर भी संकेत किया है।[३] जहाँ अर्थचमत्कृति का सर्वथा अभाव हो व मात्र शब्द का चमत्कार प्रधान हो, जैसे एकाक्षर पद्य, पद्मबन्ध, अर्धावृत्ति यमक इत्यादि, वहाँ पण्डितराजीय विवेचना के अनुसार 'अधमाधम' काव्य की स्थिति होती है। वस्तुतः इस प्रभेद को उनकी स्वीकृति नहीं प्राप्त है। कारण, स्वयं उनके अनुसार काव्य का लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' है। काव्यपदवी प्राप्त करने के लिए रमणीय अर्थ का रहना आवश्यक है, जब कि इस रूप में उसका सर्वथा अभाव रहता है। उनका वक्तव्य है कि यद्यपि माघ आदि महाकवियों ने प्राचीन परिपाटी का अनुपालन करते हुए इस तरह के श्लोकों का प्रणयन किया है, तथापि हम इसे काव्यप्रभेद में स्थान नहीं देते। वस्तुतः वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है, न कि अन्ध-परम्परा का[४]।

इस प्रकार पण्डितराज ने काव्य के चार प्रभेदों पर ही अपनी स्वीकृति की मुहर लगाई है। मम्मटादि आलंकारिकों ने काव्य के तीन ही भेद माने थे; परन्तु पण्डितराज की सूक्ष्म, सार्थक व तर्कसंगत विवेचना है कि शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों में चमत्कार की न्यूनाधिकता का स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

---

१. यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यम्, तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ८३)

२. तत्रैव पृ. ७८।

३. यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत् पञ्चममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम्। यथैकाक्षरपद्यार्धावृत्तियमकपद्मबन्धादि। (तत्रैव पृ. ८०।)

४. तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूपकाव्यसामान्यलक्षणाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात्। (तत्रैव पृ. ८०)

अत: उन दोनों कीं एक श्रेणी में गणना उचित नहीं।[१] उनका प्रश्न है कि, ऐसा कौन सहृदय है जो 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' तथा स्वच्छन्दोच्छलदच्छ-कच्छकुहरच्छातेतराम्बुजछटा' जैसे काव्यों को एक भेद में रख सकता है? यदि चमत्कार का स्पष्ट अन्तर विद्यमान रहने पर भी उन्हें एक भेद में गिना जाता है, तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में ही कौन अधिक अन्तर है? उन्हें भी एक भेद में गिनना चाहिए।[२]

इस प्रकार पण्डितराज ने अपनी मौलिक विवेचना के अनुसार व्यङ्ग्य के चमत्कार को मूल आधार मानकर आनन्दवर्धन एवं मम्मटसम्मत काव्यभेदों का और अधिक परिमार्जन किया, जिसके फलस्वरूप आचार्यों की एक प्रतिष्ठित परम्परा की शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार को एक श्रेणी में परिगणित करने की शास्त्रीय न्यूनता का परिक्षालन हुआ। चित्रकाव्य सम्बन्धी इतना सुन्दर वर्गीकरण हमें मम्मट व विश्वनाथ में नहीं प्राप्त होता। उनके द्वारा विवेचित वर्गीकरण में अपेक्षाकृत स्थूलदृष्टि अधिक थी, जबकि पण्डितराज के इस विवेचन में काव्य-भेदों से सम्बन्धित सभी सूक्ष्मताओं का समावेश है। अत: यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र के इतिहास में पण्डितराजकृत यह काव्य वर्गीकरण नि:सन्देह पूर्वाचार्यों की अपेक्षा सर्वाधिक तर्कसम्मत, शास्त्रीय-दुर्बलताओं से रहित व अपने में परिपूर्ण है।

रसमीमांसा

रसगङ्गाधर में पण्डितराज का रसविषयक विवेचन दो रूपों में प्राप्त होता है—

१. रस के स्वरूप और उसकी निष्पत्ति से सम्बन्धित विवेचन।

२. रसों के भेद, उपभेद, रसव्यञ्जक सामग्री, रसविरोध एवं रसदोषादि से सम्बन्धित विवेचन।

रसनिष्पत्ति विषयक विवेचन

रससिद्धान्त के व्याख्याताओं में पण्डितराज जगन्नाथ अन्तिम प्रौढ़ आचार्य हैं। अपने रसगङ्गाधर में उन्होंने भरतसूत्र पर की गई अभिनव व मम्मटसम्मत

१. तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषणाधमत्वमयुक्तं वक्तुं तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धे:।

रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ८१

२. को ह्येवं सहृदय: सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्', 'सच्छिन्नमूल: क्षतजेन रेणु:' इत्यादिभि: काव्यै: 'स्वच्छन्दोच्छलद्' इत्यादीनां पामरश्लाध्यानामविशेषं ब्रूयात्। सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कर्स्ताहं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रह:।

(रसगङ्गाधर:, प्रथमानन, पृ. ८२)

अभिव्यक्तिवादी व्याख्या को स्वकीय सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और अपनी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि से इसका विवेचन करते हुए रस का सम्बन्ध अद्वैतवेदान्त के साथ स्थापित कर दिया है। इस प्रकार रसालोचन के इतिहास में वे एक मौलिक चिन्तक एवं नव्यबोध के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में प्रख्यात हुए हैं। उनकी रसविषयक दार्शनिक मान्यता श्रुतिसम्मत है। वे रस को 'आत्मानन्द' के समान मानते हैं। यह आत्मा रसरूप है, रस को पाकर ही वह आनन्दस्वरूप हो जाती है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति', इस श्रुतिवचन को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य मम्मट के व्यक्तिवाद की भी वेदान्ती व्याख्या करते हुए 'व्यक्तः' का अर्थ 'व्यक्तिविषय' व 'व्यक्ति' का अर्थ 'भग्नावरणाचित्' से लिया। इस प्रकार उन्होंने अभिनव व मम्मट की मान्यताओं की मौलिक समीक्षा प्रस्तुत कर अपनी विशिष्ट संस्कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया है।

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने अभिनव व मम्मटसम्मत जिस अभिव्यक्तिवादी मत के वेदान्तीकृत रूप को अपने सिद्धान्त पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—

'समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः'।[१]

समुचित तथा ललित रचना से मनोहर काव्य के द्वारा प्रतिपादित विभावादि सहृदय के हृदय में प्रविष्ट होकर, उन्हीं की सहृदयता से युक्त भावना विशेष की महिमा से, शकुन्तलादि विभाव 'दुष्यन्त की रमणी' आदि की विशिष्टता का त्यागकर अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि शब्दों से प्रयुक्त होने लगते हैं और तब शकुन्तलादि आलम्बन के कारणों, चन्द्रिकादि उद्दीपनों, अश्रुपातादि कार्यों एवं चिन्ता आदि सहकारी कारणों से संयुक्त होकर अपूर्व अलौकिक व्यापार उत्पन्न होता है, जिससे उस समय आनन्दांश के

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ८७-८८।

आवरणस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है व प्रमाता की चेतना परिमित सीमाओं से मुक्त हो जाती है। ऐसे मुक्तहृदय प्रमाता की चेतना द्वारा जब अनादिकाल से वासनारूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव प्रकाशमय आनन्दस्वरूप चैतन्य के साथ प्रत्यक्ष अनुभव किए जाते हैं, तब उस रत्यादि की 'रस' संज्ञा होती है।

पण्डितराज के उपर्युक्त विस्तृत वक्तव्य को समझने के लिए उसका विश्लेषणात्मक विवेचन आवश्यक हैं, जो इस प्रकार हैं—

यहाँ पण्डितराज ने प्रमाता के अपने आत्मचैतन्य के ही स्वरूपभूत आनन्द के साथ गोचर किए हुए, अपने ही वासनारूप में निहित रहने वाले रति आदि स्थायीभाव को 'रस' कहा है—

'प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण: प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रस:'।

'रति' आदि स्थायी भाव हमारे चित्त के स्थिर मनोविकार हैं। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के फलस्वरूप ये हमारे मन में वासनारूप में सदा विद्यमान रहते हैं—'प्राग्विनिविष्टवासनारूपो' जब इनके उद्दीपक हेतु विद्यमान रहते हैं, तो ये ही वासनागत भाव उद्दीप्त हो उठते हैं। वस्तुत: रसपरिपोष के लिए सामाजिक में अनादिवासना की आवश्यकता होती है। अभिनव के शब्दों में यह 'वासनासंवाद' ही रस का मुख्य हेतु है। ये स्थायी भाव सहृदय के अन्त:करण में उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार मिट्टी में गन्ध। जिस प्रकार मिट्टी में पूर्वविद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रगट हो जाती है, उसी प्रकार स्थायीभाव भी विभावादि के संयोग से व्यक्त हो 'रस' की संज्ञा प्राप्त करते है[१]—

'प्रमात्रा निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाण:..........रत्यादिरेव रस:'।

जिस काव्य के द्वारा उद्दीप्त होने पर ये स्थायीभाव 'रस' संज्ञा प्राप्त करते हैं, उसकी भी विशेषता बतलाई गई है—'समुचितललितसन्निवेशचारुणा'।

काव्य के संविधान में औचित्य और लालित्य अर्थात् विविध काव्याङ्गों का उचित निवेश व मनोहरता रससमायोजन के लिए आवश्यक है—'अनौचित्यादृते

१. न हि एतत् चित्तवृत्तिवासनाशून्य: प्राणी भवति। केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्ति: काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिताकस्यचिदन्यथा।

(अभिनवभारती-अभिनवरस सिद्धान्त पृ. ४२।)

नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौ चित्तबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा'।[१] अभिनव ने भी इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ के किसी धरातल का अनौचित्य विषय में प्रमाता की चेतना को लीन नहीं होने देता। लालित्य से प्रमातृचेतना सांसारिक भावभूमि के झंझटों से मुक्त होकर मुक्ताकाश में उड़ान भरने का अवसर प्राप्त करती है। वस्तुत: रसविघ्नों के निवारण में शब्दार्थ संविधान के औचित्य व लालित्य का महद् योगदान होता है। इन विशेषताओं से संवलित काव्य ही सहृदय की अन्तश्चेतना को प्रभावित कर उसे वास्तविकता के परिमित धरातल से ऊपर उठाकर कल्पना के अपरिमित रमणीय धरातल में विहार कराने में सहायक होता है। यही कारण है कि पण्डितराज ने अपने मत को इस प्रकार व्यक्त किया है कि उचित व ललित शब्दार्थगुम्फन से रमणीय काव्य के द्वारा प्रतिपादित विभावादि सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं—

'समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः'।

यहाँ 'सहृदयहृदयं प्रविष्टै:' कहकर इस सत्य की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि रसाह्लाद हेतु व्यक्ति में सहृदयता का होना आवश्यक है। अभिनव के शब्दों में सहृदयता के लिए काव्यानुशीलनाभ्यास, लौकिक अनुभव व विगलित प्रतिभानशालित्व हृदय आवश्यक है। इनमें भी काव्यानुशीलनाभ्यास महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उससे मनोमुकुर विशद हो जाता है; बाह्य अनुभवों का आन्तरिक प्रत्यक्षानुभव के समान प्रतिभासन होता है। इस विशदीभूत हृदय से ही हृदय संवादरूप रसास्वाद हो सकता है[२] एवं सहृदयसंवाद की भूमि में ही विभावादि सामग्री लोकोत्तर होकर रसाह्लाद हेतु उपयुक्त बनती है।[३]

इस प्रकार काव्यचारुत्व व सहृदय की सहृदयता के कारण प्रमाता की चेतना में एक विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है जिसकी महिमा से काव्य में प्रतिपादित विभावादिकों का लौकिक कार्य-कारण रूप विशिष्ट सम्बन्ध विनष्ट

---

१. ध्वन्यालोक ३.१४ वृत्तिभाग।

२. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज: सहृदया:। (ध्वन्यालोक, १.१ लोचनांश)

३. तन्निदानभूताया हृदयसंवाद्यादुपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्—

ध्वन्यालोकलोचन, पृ. १८७।

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्त: काष्ठकुड्याश्मसन्निभा:।। साहित्यदर्पण ३।८, वृत्त्यंश।

होकर साधारणीकरण होता है—'तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभि:'।

यथार्थजगत् में प्रेमव्यापार के जो कारण कार्य व सहकारी होते हैं, वे ही काव्य में प्रतिपादित होने पर विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के नाम से कहे जाते हैं। काव्यचारुत्व, सहृदय सामाजिक की सहृदयता व उसकी उद्दीप्त कल्पनाशक्ति के कारण उसके 'मानसपटल' में विद्यमान विभावादि अपने विशिष्ट सम्बन्धों से रहित हो जाते हैं व एक साथ प्रमाता के मन पर प्रभाव डालते हैं, जिसके फलस्वरूप सामाजिक के मन में एक अलौकिक प्रक्रिया उत्पन्न होती है—'**विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्द-व्यपदेश्यैः .....सम्भूय प्रादुर्भावितेन अलौकिकव्यापारेण**'। इस अलौकिक व्यापार से सामाजिक के अपने आनन्दस्वरूप चैतन्य या आत्मा पर छाये हुए अज्ञान का आवरण आंशिक रूप से हट जाता है—

'**अलौकिकव्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेन.......प्रमात्रा**'।

वेदान्त के अनुसार आत्मा सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। वह पूर्ण, अखण्ड एवं स्वत: प्रकाशमान है; किन्तु अज्ञान के आवरण से आच्छादित होने के कारण बद्धवत् प्रतीत होती है। इसी अज्ञानावरण के कारण सांसारिक व्यक्ति उसके स्वत: प्रकाशमान शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सकते। यह अज्ञान सत्-असत् से अनिर्वचनीय एक त्रिगुणात्मक जड़ पदार्थ है जिसकी सत्ता वास्तविक नहीं पारमार्थिक है। इसकी दो शक्तियाँ हैं—१. आवरण एवं २. विक्षेप। इनमें से प्रथम के द्वारा शुद्ध चैतन्य का स्वरूप आच्छादित हो जाता है व दूसरी के द्वारा विभिन्न प्रातिभासिक रूपों की सृष्टि। ज्ञानोदय होने पर आत्मा के इस अज्ञानावरण की निवृत्ति हो जाती है व पूर्ण, अखण्ड तथा विशुद्ध आत्मा की सत्ता रह जाती है।[१]

काव्य की विभावित वर्णना के कारण सहृदय सामाजिक के मन में जो अलौकिक प्रक्रिया उत्पन्न होती है, उससे आनन्दस्वरूप चैतन्य पर पड़े हुए अज्ञान का आवरणभङ्ग हो जाता है। यह 'आवरणभङ्ग' मोक्षदशा में होने वाली ब्रह्माकाराकारित चित्तवृत्ति से भिन्न आंशिक आवरणभङ्ग होता है; कारण इसकी अनुभूति विभावादि की चर्वणापर्यन्त ही रहती है, यह कल्पना-क्षेत्र की होती है, वास्तविक नहीं और इस स्थिति में चित्त में वासनागत संस्कार व विभावादि विषय बने रहते हैं।

१. वेदान्त दर्शन के अध्ययन पर आधारित।

सामान्यतः प्रमाता की अज्ञानावृत आत्मचेतना माया के अज्ञानावरण के कारण व्यक्तिगत सुख, दुःख, क्लेश, मोह, अल्पज्ञता, राग-द्वेष, देश, काल आदि की परिमित सीमाओं में आबद्ध रहती है। काव्यसामग्री जन्य अलौकिक व्यापार से जब सामाजिक की आत्मचेतना का 'अज्ञानांशावरणभङ्ग' होता है, तब उसकी सीमित चेतना भी समाप्त हो जाती है। वह परिमित प्रमाता न रहकर, उन्मुक्त प्रमाता हो जाता हैं—'अतएव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादि निजधर्मेण प्रमात्रा'।

ऐसे आनन्दस्वरूप, प्रकाशमान, निरावृत चैतन्य, मुक्तहृदय प्रमाता द्वारा जब रत्यादि अनुभव किए जाते हैं, तो वे भी आनन्दस्वरूप बन जाते हैं और यही 'रस' है।

'प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः'।

अभिनव ने रस के इसी स्वरूप का निरूपण शैवदर्शन की मान्यताओं के अनुसार किया था। शैवदर्शन के अनुसार आत्मतत्त्व रूप परम शिव से अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। सब कुछ उस सत् तत्त्व से उत्पन्न होने के कारण 'सत्' है। इस परम तत्त्व के दो रूप हैं—१. विश्वोत्तीर्ण एवं २. विश्वात्मक। प्रथमरूप वेदान्त के शुद्ध ब्रह्म के समान अनिर्वर्णनीय, अतर्क्य व अगोचर है। इसके प्रकाशमय रूप में शक्ति अपने सभी रूपों के साथ विद्यमान रहती है। शक्ति के असंख्य रूप हैं; जिनमें चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति प्रमुख हैं। चित्शक्ति ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण है। सृष्टिकाल में उन्मीलित हो फैल जाती है व संहार में अन्तर्मुखी होकर अपने में लीन हो जाती है। जब उसका बाह्य रूप अपने स्वरूप में विश्रान्त हो जाता है तब बाह्य वस्तुओं का उपसंहार होकर आन्तरिक प्रशान्त पद की प्राप्ति हो जाती है।[१]

इस प्रकार शैवदर्शन के अनुसार आनन्द का मूल है, संविद्विश्रान्ति। जब और जहाँ चिति की बहिर्गामिता रुक कर विश्रान्त अवस्था होती है, आनन्द की सम्भावना हो जाती है।

अभिनव ने भी शैवदर्शन की इसी आधारभित्ति को लेकर रस की व्याख्या की और रसात्मक आनन्द का मूल 'संविद्विश्रान्ति'को माना। वैयक्तिक सम्बन्धों से परे शुद्ध साधारणीकृत भावों की स्थिति में आत्मपरामर्श होने से

१. शैवदर्शन के अध्ययन पर आधारित।

सकलविघ्नविनिर्मुक्त प्रतीतिग्राह्य भाव ही रस हैं; जिसे चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय व विश्रान्ति आदि अनेक शब्दों से कहा जाता है—

'लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोग-समापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते.......स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्[१]'।

न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः; किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोग बलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणज-नितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात् सकल-वैषयिकोपरामशून्यशुद्धपरयोगिगत स्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते।[२]

इस प्रकार अभिनव ने शैवदर्शन के आलोक में जिस संविद्विश्रान्ति को 'रस' की संज्ञा दी, पण्डितराज की वेदान्ती चेतना ने उसे आनन्दस्वरूप आत्मा के आलोक से आलोकित कर दिया—

'प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।[३]

अभिनव के साथ-साथ पण्डितराज ने मम्मट की मान्यता को भी वेदान्ती-चेतना से संयुक्त कर प्रस्तुत किया। मम्मट ने रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः'[४]। पण्डितराज की व्याख्या के अनुसार यहाँ 'व्यक्तः' का अर्थ है—'व्यक्ति का विषय बनना' अर्थात् चित्शक्ति का विषय बनना, उसके द्वारा भासित होना और 'व्यक्ति' का अर्थ है—'वह चैतन्य जिसका आवरणभङ्ग हो चुका हो—भग्नावरणाचित्'[५]। उनका वक्तव्य है कि जिस प्रकार किसी सकोरे से ढका दीपक न तो स्वयं प्रकाशित होता है, न पास रखी अन्य वस्तुवों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अज्ञानावृत चैतन्य की स्थिति होती है। काव्य के रमणीय प्रभाव से जैसे ही अज्ञान का आवरण दूर होता है, वह अपने प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होता है और विभावादि से मिश्रित रत्यादि को भी प्रकाशित करता है। यही 'रस' है।

---

१. अभिनवभारती, अभिनव-रस-सिद्धान्त पृ. ३४, २ तत्रैव पृ. ४८-४९।
२. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ८८।
३. काव्यप्रकाश ४.२८।
४. व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः, व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्। रसगङ्गाधर प्रथमानन पृ. ९०।
५. यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। (तत्रैव पृ. ९१)

विभावादिकों की साक्षिभास्यता : शङ्का एवं समाधान

यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है। 'व्यक्ति' की व्याख्या में यह कहा गया है कि रति आदि स्थायीभाव अन्त:करण के धर्म होने के कारण साक्षिभास्य हैं। उन्हें साक्षात् आत्मचैतन्य प्रकाशित करता है। अन्त:करण के जितने धर्म हैं, वे सब साक्षिभास्य हैं—'अन्त:करणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगते:'[१] इस बात को हम इस प्रकार समझ सकते हैं। वेदान्तदर्शन के अनुसार किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में तीन कारण होते हैं—१. प्रमाणचैतन्य जैसे आँख, कान आदि २. प्रमेयचैतन्य जैसे घटपटादि, ३. प्रमाता चैतन्य जैसे जीवात्मा। पहले दृष्टि पदार्थ पर जाती है, उस दृष्टि के साथ-साथ यह चित्त भी उस वस्तु पर जाता है। जैसे नाली से पानी क्यारियों में बहता है, तो यदि वह क्यारी गोलाकार है तो पानी गोलाकार हो जाता है, क्यारी चतुष्कोण है तो पानी चतुष्कोण हो जाता है, ठीक उसी प्रकार दृष्टिमार्ग से गया चित्त भी जिस वस्तु पर जाता है, उसी आकार का बन जाता है। उस वस्तु या विषय का दर्शन कर विषयाकार बनकर जब वह लौटता है, तो तदाकार ही लौटता है। विषयाकारचित्त को आत्मचैतन्य प्रकाशित करता है। अगर चित्त की तदाकाराकारित वृत्ति न हो, तो वस्तु का कभी ज्ञान नहीं हो सकता। अत: यह ज्ञान वृत्तिभास्य कहलाता है; लेकिन जो वस्तु बाह्यरूप नहीं हैं, सुखदु:खादि रूप अन्त:करण के धर्म हैं, वे साक्षात् आत्मा द्वारा भास्य या प्रकाशित होने के कारण साक्षिभास्य हैं—साक्षिणा=आत्मना भास्यते इति साक्षिभास्य:।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मचैतन्य के अज्ञानांशावरणभङ्ग होने पर चैतन्य स्वयं प्रकाशित होता है और विभावादि से संवलित रत्यादि को भी प्रकाशित करता है, तो रत्यादि तो वासनारूप में अन्त:करण में विद्यमान होने के कारण उसके धर्म होने के कारण साक्षिभास्य होते हैं, किन्तु काव्यार्थ प्रतिपादित विभाव, अनुभाव व सञ्चारीभाव तो बाह्य वस्तुएँ हैं, आत्मधर्म नहीं, अत: ये कैसे साक्षिभास्य होंगें?

वेदान्ती पण्डितराज इसका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। वे इसे जाग्रत व स्वप्न दो अवस्थाओं के दृष्टान्त से समझाते हैं। स्वप्नावस्था का दृष्टान्त है स्वप्नतुरग। जैसे हम स्वप्न में घोड़ा देखते हैं। यह घोड़ा तो बाह्य वस्तु है, अन्त:करण का धर्म नहीं। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ मुद्रित रहती हैं, इसलिए इन्द्रियप्रणाली से चित्त का जाना सम्भव नहीं, तो उस घोड़े का साक्षात्कार 'साक्षिभास्य' ही है। जाग्रत अवस्था का दृष्टान्त है, रङ्गरजत अर्थात् जब हम रङ्ग को

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ९१।

देखते हैं तो दृष्टिप्रणाली से चित्त भी वहाँ जाकर तदाकार बन जाता है, पुनः रङ्गाकार चित्त को साक्षी जब प्रकाशित करता है, तो वहाँ रङ्ग का ज्ञान होना चाहिए, न कि रजत का; परन्तु वहाँ रजत का ज्ञान होता है तो यह रजत साक्षात् आत्मभास्य है। इसी प्रकार विभावादि बाह्यपदार्थ हैं, लेकिन काव्य के द्वारा समर्पित होते हैं। यह समर्पण क्या है? अर्थात् उनका ज्ञान होता है। वे साक्षात् आत्मभास्य होते हैं। इस प्रकार विभावादि का साक्षिभास्य होना कोई विरुद्ध बात नहीं।[१]

रस की नित्यता : शङ्का एवं समाधान

पुनः दूसरी शङ्का उपस्थित होती है कि जब रस आत्मचैतन्य का ही स्वरूपानन्द है—'रसो वै सः' तो आत्मा तो नित्य है, अतः रस को भी नित्य होना चाहिए फिर लोक में 'उत्पन्नो रसः, विनष्टो रसः' यह व्यवहार क्यों किया जाता है? पण्डितराज को यह शङ्का भी अस्वीकार्य है। उनका समाधान इस प्रकार है—रसाभिव्यञ्जक है, विभावादि की चर्वणा एवं अज्ञानांशावरणभङ्ग। जब तक विभावादि की चर्वणा व 'आवरणभङ्ग' रहता है तभी तक रसास्वाद होता है। अतः विभावादि की चर्वणा या आवरणभङ्ग की उत्पत्ति और विनाश को हम रस में आरोपित कर लेते हैं और इसी आधार पर 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। वस्तुतः उत्पत्ति व विनाश रस के लिए औपचारिक है। उसका वास्तविक सम्बन्ध तो चर्वणा व आवरणभङ्ग से है। उनके अनुसार रस को नित्य होने पर भी अनित्य मानना वर्णों की नित्यता होने पर भी उनके अनित्य, नाशवान् व उत्पत्तिवान् होने के सिद्धान्त के समान है। आशय यह है कि मीमांसक-सिद्धान्त में वर्ण नित्य माने जाते हैं, नित्यवस्तु न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है, अतः हर समय तत्-तद् वर्ण सुनाई देने चाहिए; फिर 'उत्पन्नो गकारः', 'विनष्टो गकारः' यह व्यवहार कैसे होता है? वस्तुतः वर्ण का व्यञ्जक जो कण्ठताल्वादि अभिघात है, उसकी उत्पत्ति व विनाश होता है। उसे ही हम वर्णों में आरोपित कर 'उत्पन्नो गकारः', 'विनष्टो गकारः' यह व्यवहार करते हैं। यही स्थिति 'रस' की है। रस आत्मानन्द होने से सर्वदा नित्य है; परन्तु जब तक अज्ञानांशावरणभङ्ग रहता है; तभी तक वह आनन्द प्रकाशित होता है, आवरण पड़ते ही आनन्द तिरोहित हो जाता है।[२]

---

१. विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्गरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्।
रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १२।

२. व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसं उपचर्येते, वर्णनित्यतायामिव, व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ।

यहाँ एक प्रश्न सहज उठता है कि जब आवरणभङ्ग हो गया तो स्थायी भाव का सदा प्रकाश क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि आवरणभङ्ग तभी तक रहता है, जब तक विभावादि की चर्वणा होती है। चर्वणा के निवृत्त हो जाने पर प्रकाश भी आवृत्त हो जाता है व अन्त:करण में विद्यमान स्थायी भी प्रकाशित नहीं होता।[१]

तन्मयीभवन के माध्यम से रस की व्याख्या :

रसमीमांसा के विविध प्रसंगों में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्मयीभवन की स्थिति का उल्लेख किया है, जब प्रमाता स्वगत-परगत के बन्धन से ऊपर उठ जाता है, निज सुख-दु:खादि की स्थितियों से परे हो जाता है और उसका चित्त विश्रान्त या तल्लीन हो जाता है। अभिनव के इसी सिद्धान्त को उनके मत के उपस्थापक पण्डितराज ने भी विशेष महत्त्व दिया व उसके माध्यम से 'रस' की व्याख्या प्रकारान्तर से प्रस्तुत की। पण्डितराज की यह रस व्याख्या भी वेदान्तीय विभा से विभासित है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

'यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्'।[२]

सहृदयों को अपनी सहृदयता रूपी विशेषयोग्यता के कारण उद्दीप्त कल्पनाशक्ति से साधारणीकृत विभावादिकों का जो आस्वादन होता है, उसके प्रभाव से उनके चित्तों में रति आदि स्थायीभावों से युक्त अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचैतन्य स्वरूप आनन्दाकारवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे सहृदयजन उस आनन्द में उसी प्रकार तल्लीन हो उठते हैं, जैसे योगीजनों की निर्विकल्पक समाधि में स्वस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जहाँ वे बाह्य सांसारिक पदार्थों से परे रहकर ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं। अत: रति आदि तत्-तद् स्थायी भावों से युक्त आनन्दाकारा चित्तवृत्ति को साहित्यशास्त्र में 'रस' कहा गया है। इसे ही तन्मयीभवन भी कहते हैं—

'तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा........चित्तवृत्तिरुपजायते'।

इस व्याख्या में विवेचन है कि रसानुभूति में चित्तवृत्ति 'तत्तत्स्थाय्युपहित-

---

१. विभावादि चर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्य आवृत्तत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ ९३,९४)

२. तत्रैवं, पृ. ९४।

स्वस्वरूपानन्दाकारा' होती है। वेदान्त-दर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का स्वभाव है विषयाकाराकारित परिणति। जिस पदार्थ को वह अपना दृष्टिविषय बनाती है, उसी के आकार से आकारित हो उठती है। रसानुभूति में 'रति' आदि तत्-तत् स्थायी भावों से युक्त आनन्दस्वरूप चैतन्य की स्थिति रहती है, फलतः रसानुभूति की इस स्थिति में चित्तवृत्ति रत्यादि से उपहित आनन्दस्वरूप आत्मचैतन्य के स्वरूप में आकारित हो उठती है। चित्तवृत्ति का यह आनन्दमय हो उठना ही 'रस' है।

इस प्रकार पण्डितराज ने चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति के वेदान्ती सिद्धान्त को स्वीकार कर अभिनव के 'तन्मयीभवन' के माध्यम से की गई 'रस' की द्वितीय व्याख्या को भी वेदान्तीचेतना से संयुक्त कर दिया।

अभिनव के 'तन्मयीभवन' में चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति के स्थान पर शैवदर्शन सम्मत विषय की ही आत्मरूपता होती है। अभिनव ने इसे घट प्रत्यक्ष के दृष्टान्त से विवेचित किया है। जब कोई घड़ा हमारे नेत्रों का विषय बनकर मानस में उपस्थित होता है, तो मन:पटल के भी शैवदर्शन के अनुसार प्रकाशविमर्शमयी सत्ता का प्रकटित रूप होने के कारण वह घट भी प्रकाश विमर्शमयी सत्ता का अङ्ग बन जाता है। विषय की यह आत्माकारा परिणति ही तन्मयीभवन है—

'तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः। मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टः मद्रूपतामापन्न एव चिन्मयत्वात्'[१]।

शैवदर्शन के अनुसर संसार के समस्त पदार्थ प्रकाशविमर्शमयी सत्ता के प्रकट रूप हैं। अतः बाह्य पदार्थों का जो रूप व्यक्ति की चेतना में आता है, वह मूलतः शुद्धप्रकाश से पृथक् नहीं, किन्तु माया के द्वारा पृथक् प्रतीत होकर व्यक्ति की संकुचित सीमा के समक्ष आता है। सामाजिक की चेतना उस वस्तु के साक्षात्कार के समय व्यापक होकर फैल जाती है और फैल कर उस वस्तु को अपना अङ्ग बना लेती है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही तन्मयीभाव है[२]।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भा.१ पृ. ४२, सन्दर्भ अभिनवगुप्त, डॉ॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय पृ. २८६।

२. ग्रहणसमये भावस्य मायया भावत्वेन भासितं निजं सहजशुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटीभवति, यतः प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकीभवति। यदुक्तम् :—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते।।

व्यापकीभवश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावासादनं च वस्तुतः शुद्धप्रकाशरूपत्वासादनमेव, प्रमातुः शुद्धप्रकाशमात्ररूपत्वात्।

अभिनवगुप्त : डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ. २८६-८७

इस प्रकार अभिनव के अनुसार 'तन्मयीभाव' का अर्थ है; विषय की आत्माकारा परिणति व पण्डितराज के अनुसार चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति।

रसचर्वणा की विलक्षणता एवं लौकिक सुखों से भिन्नता :

इस प्रकार पण्डितराज ने रसचर्वणा का निर्वचन दो रूपों में किया है— १. चिद्गत आवरणभङ्ग के रूप में एवं २. स्थाय्युपहित आनन्दाकाराकारित चित्तवृत्ति के रूप में। इन दोनों ही रूपों में रस की आनन्दरूपता निस्सन्दिग्ध है; क्योंकि 'रस' रूप आनन्द तो वस्तुतः 'आत्मानन्द' है। यह रसचर्वणा आनन्द स्वरूप होते हुए भी परब्रह्मास्वादरूपी समाधि से विलक्षण है। कारण, समाधि में विषयों से सर्वथा निरासक्त ब्रह्माकाराकारित वृत्ति या शुद्ध आत्मानन्द विलसित होता है, जबकि रसात्मक समाधि में विभावादि व स्थायीभाव संवलित आनन्द रहता है[१]।

पण्डितराज ने रसात्मक आनन्द को न केवल ब्रह्मास्वाद रूप समाधि से, बल्कि समस्त लौकिक सुखों से भी सर्वथा विलक्षण माना है। कारण लौकिक सुख अन्तःकरण के वृत्तिरूप हैं। वहाँ अन्तर्मन में भावना बनती है, 'अहं सुखी'। किन्तु यह रसानन्द अन्तःकरणवृत्ति रूप नहीं साक्षात् 'आत्मानन्द' है, जिसके अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनन्दमय हो उठती है। इस तरह काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर है, लौकिक सुख से सर्वथा पृथक्[२]। यह रस भाव्य है, जो केवल व्यञ्जनाव्यापार मात्र से अभिव्यक्त होता है।

रस की सुखात्मक प्रतीति में प्रमाण :

यदि कोई यह प्रश्न करे कि 'रस' में सुखांश की प्रतीति होती है? इसमें क्या प्रमाण है? पण्डितराज इस प्रश्न का उत्तर इस प्रति प्रश्न से देते हैं कि समाधि में सुखांश की प्रतीति होती है, इसमें क्या प्रमाण है? यदि यह कहा जाय कि समाधि में सुख की प्रतीत्ति होने में शब्दप्रमाण है। गीता में स्वयं वर्णित हैं—'सुखमात्यन्तिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' अर्थात् समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह बुद्धि मात्र से वेद्य है, इन्द्रियों से नहीं।

---

१. इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ९८)

२. आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। (तत्रैव पृ. ९५)

इस पर पण्डितराज का प्रत्युत्तर है कि रस में भी आनन्द होता है, इसमें श्रुति प्रमाण है—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'। पुनश्च सकल सहृदयों का अनुभव इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है[१]।

शाब्दी अपरोक्षात्मिका

पण्डितराज के विवेचन के अनुसार रसप्रतीति शाब्दी अपरोक्षात्मिका है। शब्द के व्यापार व्यञ्जना से प्रादुर्भूत होने के कारण शाब्दी तथा प्रत्यक्ष आत्मानन्द की अनुभूति कराने के कारण अपरोक्ष सुखस्वरूपा 'अपरोक्षात्मिका' है[२]।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है, शाब्दी प्रतीति प्रत्यक्षात्मिका कैसे हो सकती है? कारण जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई पड़ जाती है, वह शाब्दबोध का नहीं प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होती है, जबकि शाब्दीप्रतीति परोक्षात्मक वस्तुवों का ज्ञान कराने के कारण परोक्षात्मिका ही होती है। पण्डितराज इस शङ्का का समाधान भी अपनी वेदान्ती चेतना के अनुसार इन शब्दों में करते हैं—'तत्त्वं वाक्यं बुद्धिवत्'। अर्थात् ब्रह्मोपदेश करते हुए ऋषि ने जब श्वेतकेतु से कहा कि वह जो सर्वज्ञ चैतन्य परमात्मा है, वह तुम ही हो—'तत् त्वमसि'। यहाँ श्वेतकेतु ने जब ऋषि द्वारा उपदिष्ट बात को हृदयंगत किया तो उसे यह ज्ञान शब्द से भी हुआ व प्रत्यक्ष अनुभव से भी[३]। इसी प्रकार रस प्रतीति है। शब्द के व्यञ्जना-व्यापार से उसकी प्रतीति होती है व उसकी प्रत्यक्षात्मक अनुभूति भी होती है।

इस प्रकार पण्डितराज ने अभिनव-प्रतिपादित एवं मम्मट-समर्थित रस विश्लेषण का सार अपने सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया, जिसका निष्कर्ष उन्होंने इन शब्दों में प्रस्तुत किया—

---

१. सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्, (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ११।)

२. 'येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता, सा शब्दव्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका। (तत्रैव, पृ. १००)

३. इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक लघु दृष्टान्त श्रावणीय है। दस व्यक्ति कहीं जा रहे थे। रास्ते में नदी पड़ी। नाव आदि कोई साधन न होने के कारण सबको तैर कर नदी पार करनी थी। अतः सबने निश्चय किया कि नदी पार करने से पहले सबकी गिनती कर लेते हैं। पार उतरने पर फिर सबकी गिनती कर लेगें। पार उतरने पर एक ने अपने को छोड़कर सबकी गिनती की, व्याकुल होकर कहा, एक कम है। इसी प्रकार सबने किया। सब परेशान हो गए कि एक डूब गया। तब हठात् एक राहगीर वहाँ आया और उनकी परेशानी का कारण पूछा। पता चलने पर उसने गिनती करवाई और गिनती करने वाले से कहा, दशमस्त्वमसि। यहाँ जो ज्ञान हुआ वह शब्दजन्य व प्रत्यक्ष भी है।

'इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणाचिद्विशिष्टा रत्यादिः स्थायीभावो रस इति स्थितम्'।

यहाँ आवरण से मुक्त शुद्धचैतन्य के विषयीभूत रत्यादि स्थायीभाव को 'रस' कहा गया है। मम्मट ने भी इसी तथ्य को इस रूप में व्यक्त किया था— 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः'; जिसकी व्याख्या पण्डितराज ने इस प्रकार की—'व्यक्तः=व्यक्तिविषयीकृतः, व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्' अर्थात् भग्नावरणाचित् से विशिष्ट रत्यादि स्थायीभाव रस है। परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित इस व्याख्या को वेदान्ती पण्डितराज ने वेदान्तसमर्थित मान्यताओं के आलोक में प्रस्तुत करना चाहा; क्योंकि उनकी दृढ़ आस्था इसी वेदान्तीय सिद्धान्त में है कि रसरूप आनन्द वस्तुतः आत्मा का ही स्वरूप है, इससे पृथक् अन्य किसी को 'आनन्द' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस तथ्य की पुष्टि उन्होंने 'रसो वै सः' के श्रुतिवाक्य से भी की। फलतः रस विषयक अपनी वेदान्त-समर्थित मान्यता का नवनीत उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया—

'वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः'[१]।

अर्थात् रत्यादि स्थायीभाव जिसके विषय हों, वह आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य ही 'रस' है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पण्डितराज ने अभिनव समर्थित रस के रमणीय प्रासाद को शैवाद्वैत की दार्शनिक आधारभित्ति से दूरकर अद्वैत वेदान्त की सुदृढ़, अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित व लोकाकर्षक आधारभूमि प्रदान की। इस प्रकार वे 'समकालीन युगचेतना से पूर्णतः परिचित होकर परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर रससिद्धान्त को तर्कसंगत व व्यावहारिक आधार प्रदान करने वाले जागरूक आचार्य हैं'।

रस-विषयक अन्य मत

अभिनवसम्मत एवं मम्मटसमर्थित अभिव्यक्तिवादी मत को अपने सिद्धान्त-पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने के अतिरिक्त पण्डितराज ने अपने तार्किक स्वभाव एवं प्रबुद्ध चिन्तन के अनुरूप रसगङ्गाधर में रस-मीमांसा को पूर्णता देने के उद्देश्य से रसविषयक अन्य मतों का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ९७।

१. भट्टनायक का भुक्तिवादी मत
२. प्रथम नव्य मत
३. द्वितीय नव्य मत
४. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवादी मत
५. श्रीशङ्कुक का अनुमितिवादी मत
६. विभावादिसमुदयवादी मत
७. तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है
८. भाव्यमान विभाववादी मत
९. भाव्यमान अनुभाववादी मत
१०. भाव्यमान व्यभिचारिवादी मत

इनमें प्रथम तीन मत विस्तृत रूप से व शेष अत्यन्त संक्षिप्त रूप में विवेचित हैं। पण्डितराज की विशिष्ट समीक्षा-दृष्टि प्रथम तीन मतों की प्रस्तुति में ही विशेषतः दिखाई देती है। इनमें जहाँ एक ओर भट्टनायक के भुक्तिवाद का वेदान्तीकृत रूप वर्णित है, तो दूसरी ओर नव्यमतों में दार्शनिक दृष्टि से रस के स्वरूप पर विचार किया गया है। रस के स्वरूप पर विचार करते समय इन मतों की विवेचना भी आवश्यक है।

भट्टनायक का मत

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने रससिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याताओं में एक भट्टनायक के मत को सविस्तार प्रस्तुत किया है। भट्टनायक का मूल मन्तव्य है कि स्थायीभाव ही परिपुष्ट होकर 'रस' होता है। यह स्थायीभाव संस्कार रूप से सभी के हृदय में विद्यमान रहता है, तो प्रश्न उठता है कि रसप्रतीति किसमें मानी जाय? भट्टनायकीय मत की प्रस्तुति के सन्दर्भ में पण्डितराज ने इन सभी पक्षों का विधिवत् विश्लेषण किया है।

भट्टनायक का विवेचन है कि काव्यार्थ पढ़ते, सुनते या अभिनय देखते समय सामान्यतः तीन पक्ष उपस्थित रहते हैं। १. चरित्र-चित्रण के माध्यम से नायक एवं नायिकादि, २. अभिनय के माध्यम से नट एवं, ३. दर्शन के माध्यम से सामाजिक। इनमें नायक व नट तटस्थ हैं व सामाजिक आत्मगत। प्रश्न यह है कि रसप्रतीति किसको होती है? तटस्थ को या सामाजिक को? यदि रसनिष्पत्ति तटस्थगत मानें, तो सामाजिकों को रसानुभूति नहीं होगी, तब वे नाट्य देखने में प्रवृत्त क्यों होंगें?

तटस्थभाव से अर्थात् दुष्यन्त शकुन्तलादि विषयक रतिवाला है या तत्-तत् चरित्र का अभिनयकर्ता नट तत् चरित्रधारिणी नटी के प्रति रतिमान् है, इस रूप में रस की प्रतीति मानने पर इसमें आस्वाद्यता ही नहीं रहेगी। आस्वाद्य-जन्य चमत्कार के अभाव में इस प्रतीति का 'रस' नाम ही निरर्थक हो जाएगा। रस के लिए तो यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥[१]

पुनः श्रुति भी कहती है कि 'सर्वं खल्वात्मनः कामाय प्रियं भवति'[२], अपने लिए ही संसार के समस्त पदार्थ प्रियकर हुआ करते हैं। अतः अपने में प्रतीयमान किसी का प्रेम ही आनन्ददायक हुआ करता है। फलतः तटस्थभाव से रसप्रतीति हो ही नहीं सकती।[३]

इस पर एक प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रतीति को आत्मगत मान लिया जाय अर्थात् 'मैं शकुन्तला विषयक रतिमान् हूँ', यह स्वीकार कर लिया जाय तो रसास्वादन की चमत्कृति में कोई शंका न रहेगी। लेकिन ऐसा मानना भी ठीक नहीं। कारण शकुन्तलादि सामाजिकों के आलम्बन विभाव नहीं। उनसे सामाजिकों का कोई प्रेमगत सम्बन्ध नहीं। अतः उदासीन शकुन्तला व उदासीन सामाजिक का ताटस्थ्य आनन्द में कैसे परिणत हो सकता है? अगर कोई यह कहे कि विभाव के बिना रस की प्रतीति होती है, तो यह भी उचित नहीं। कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता। प्रेमपात्र के अभाव में प्रेमी या प्रेयसी की भूमिका का निर्वहन सम्भव नहीं।[४]

इस पर पुनः एक शंका उठती है कि विभावादि के बिना रति की प्रतीति नहीं हो सकती, यह तथ्य सर्वस्वीकृत है; परन्तु यहाँ विभाव का अभाव कहाँ? शकुन्तला प्रभृति आलम्बनविभाव हैं ही। रही बात सामाजिक के साथ उनके सम्बन्ध की, तो शकुन्तलागत जो कान्तात्व है, वह सर्वसाधारण विभावता-

---

१. साहित्य दर्पण ३।३ वृत्तिभागोद्धृत।

२. न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (बृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।५)

३,४. ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम्। आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः शकुन्तलादीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात्। विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १०१)

वच्छेदक है, उसी को लेकर रत्युद्बोध हो जाएगा। शकुन्तला का कमनीय कान्ता होना ही सामाजिकों की रति का आलम्बनविभाव होने का पर्याप्त आधार है। ऐसी स्थिति में पुन: शङ्का होती है कि यह साधारण कान्तात्व तो माँ बहनादि में भी है। यदि कान्तामात्र से रत्युद्बोध मानेंगें तो वहाँ भी रत्युद्बोध होने लगेगा। फलत: पण्डितराज भट्टनायक के मत की प्रस्तुति में नाना विकल्प एवं तर्क-वितर्क रखकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि 'अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानविरहविशिष्टकान्तात्व' इस रत्युद्बोध का विभावतावच्छेदक अर्थात् कारण होगा। अर्थात् जिस नायिका में नायक को 'यह अगम्या है, सम्भोगयोग्य नहीं है, ऐसा ज्ञान न हो, वही नायिका इस नायक की रति का आलम्बन विभाव हो सकती है। माँ, बहनों के प्रति पुत्र-भ्रातादिकों में वैसा ज्ञान (यह अगम्या है), रहता है, अत: वे उनके प्रेम का कारण नहीं होतीं।[१]

अगर इस दृष्टि से विचार किया जाय कि शकुन्तलादि के विषय में सामाजिकों को अगम्या न होने का भाव होगा, तो यह विचार भी उचित नहीं। कारण सीता शकुन्तलादि के प्रति श्रद्धा-बुद्धि के कारण उनके प्रति अगम्या न होने का ज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अत: सामाजिकों के लिए वे अगम्या ही रहेंगीं। एक ही स्थिति में नाट्यादि में वर्णित नायिकाओं का सामाजिकों के लिए अगम्या होने का ज्ञान नहीं रहेगा, जब इसका कोई प्रतिबन्धक उपस्थित हो।[२]

यदि यह कहा जाय कि शकुन्तलादि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान का प्रतिबन्धक होगा, सामाजिकों द्वारा स्वयं में दुष्यन्तादि का आरोप; किन्तु यह तर्क भी ठीक नहीं; क्योंकि दुष्यन्तादि प्राचीनकाल के धराधीश व धीरत्वादि गुणविशिष्ट थे; जबकि सामाजिक वर्तमानकालिक व कापुरुषत्वादि विगुणविशिष्ट होता है। अत: विपरीत धर्मी होने के कारण सामाजिकों द्वारा दुष्यन्तादि से अभेद-बुद्धि सम्भव नहीं।[३]

---

१. न च कान्तात्वं साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, अप्रमाण्यनिश्चया-नालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. १०२-३)

२. तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपाद:, (तत्रैव पृ. १०४।)

३. स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत् न नायके धराधौरेयत्वधीरत्वादेरात्मनि चाधुनिक-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. १०५)

पुनः शंका उत्पन्न होती है कि यदि किसी कारणवश सामाजिक को दुष्यन्तादि व स्वयं के मध्य विपरीत धर्मों का बोध न होकर 'दुष्यन्तोऽहम्' ऐसी अभेदबुद्धि या इच्छामूलक आहार्य बुद्धि हो जाय तो, अभेदबुद्धि विशिष्ट सामाजिक की रति काव्यादि में वर्णित शकुन्तलादि के प्रति उद्बुद्ध हो जाएगी और तब रसप्रतीति में कोई बाधा न रहेगी। अतः इन तर्कों का खण्डन करते हुए पण्डितराज भट्टनायकीय पक्ष का उपस्थापन इस प्रकार करते हैं—

'किं च केयं प्रतीतिः? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत् न व्यावहारिक-शब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः। नापि मानसी चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्याः वैलक्षण्योपलम्भात् न च स्मृतिः, तथा प्रागननुभवात्'।[१]

अर्थात् यह रसप्रतीति है क्या? काव्य के शब्दार्थ से जनित होने के कारण शाब्दी है; यह कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि लौकिक प्रेम-सम्बन्धों का वृत्तान्त सुने जाने पर यह प्रतीति क्यों नहीं होती? लोक-व्यवहार में प्रेमी प्रेमिका का व्यवहार सुने जाने पर हृद्य अर्थात् मनोरम नहीं प्रतीत होता। इसे मानसी मानें तो यह भी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि इन्हीं बातों को जब हम मन से चिन्तन करते हैं, तो वे उतनी मनोरम नहीं प्रतीत होतीं, जितनी काव्यार्थ को पढ़ते या सुनते समय होती हैं। इसे स्मृति भी नहीं मान सकते; क्योंकि स्मरण पुर्वानुभूत वस्तु का होता है, रस पूर्वानुभूत नहीं। ऐसी स्थिति में रस की प्रतीति होगी कैसे?

रसप्रतीति के सम्बन्ध में इन नाना प्रकार के विकल्पों का खण्डन कर पण्डितराज भट्टनायकाभिमत रसस्वरूप का विवेचन इन शब्दों में करते हैं—

'तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादि-रसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयो-अवस्थादिषु, पङ्क्तौ पूर्वव्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारमहिम्ना निगीर्णो यो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः'।[२]

आशय यह है कि श्रव्यकाव्य में अभिधा के द्वारा एवं दृश्यकाव्य में

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १०५-६।
२. तत्रैव पृ. १०७।

चक्षुरिन्द्रिय से पहले शकुन्तलादि पदार्थों का बोध होता है। उसके पश्चात् काव्य में रहने वाले भावकत्वव्यापार से शकुन्तलादि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान निरुद्ध हो जाता है। दुष्यन्तपत्नीत्व, कण्वपुत्रीत्व आदि विशेष धर्मों का भी बाध हो जाता है एवं सामान्य कान्तादि रूप से उनकी उपस्थिति हो जाती है। यह भावकत्व व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, काल, वय, संयोग, वियोग आदि सभी वैशिष्ट्यों को मिटाकर सबको साधारण बना देता है, उनमें ऐसी कोई विशेषता नहीं रहने देता जिससे रसोद्बोध में बाधा पड़े। इसके पश्चात् 'भोगकृत्त्व भोजकत्व' नामक तृतीय काव्यव्यापार से रजोगुण एवं तमोगुण निगीर्ण कर लिए जाते हैं और सत्त्वगुण प्रबुद्ध हो जाता है। इससे सामाजिक समस्त सांसारिक विषयों से छुटकारा पाकर अपने चित्स्वभाव आनन्दस्वरूप आत्मा में विश्रान्त हो जाता है। उस आत्मसाक्षात्कार या आत्मानन्दानुभव का विषय बनाया गया साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव ही रस है। इस प्रकार सत्त्वगुण के उद्रेक से जो आत्मानन्द प्रकाशित होता है, उस ज्ञान को भोग कहते हैं, जिसका विषय बन जाने पर रत्यादि स्थायीभावों की संज्ञा 'रस' होती है।

इसमें श्रुतिस्वारस्य के रक्षणार्थ पण्डितराज विकल्पद्वय प्रस्तुत करते हैं—

'तत्र भुज्यमानो रत्यादिः रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः'[१]

अर्थात् भुज्यमान रत्यादि स्थायीभाव रस हैं या रत्यादि का भोग रस है। वस्तुतः दोनों ही पक्ष रस हैं। प्रथम मत मानें तो रत्यादि स्थायी विशेष्य व भोग विशेषण होगा। द्वितीय मत स्वीकार करने पर रत्यादि विशेषण व भोग विशेष्य होगा।

यह भोग या रसास्वाद ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती है। यह रसास्वाद भोग विभावादि से विशिष्ट स्थायीभाव को विषय रूप में रखे रहता है, जबकि ब्रह्मास्वाद निर्विषय हुआ करता है।

दार्शनिक चिन्तन एवं रसप्रतीति

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर रस ज्ञानविशेष सिद्ध होता है। दर्शन में ज्ञान की प्रामाणिकता व अप्रामाणिकता के आधार पर इसके दो भेद किए गए हैं—१. यथार्थ ज्ञान एवं २. अयथार्थ ज्ञान। विभावादि संवलित रत्यादि स्थायीभाव रूप रस कल्पना क्षेत्र की वस्तु होने के कारण दार्शनिक दृष्टि के

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १०८।

अनुसार अयथार्थ ज्ञान की कोटि में आता है। इस पक्ष को भी सामने रखकर रसगङ्गाधर में रस के स्वरूप के विषय में शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है।

भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में दार्शनिक मान्यताएँ एक-सी नहीं हैं। विविध दर्शनों में विविध प्रकार से इसका निरूपण किया गया है। इनमें वेदान्त, सांख्य एवं योग जहाँ भ्रम को अनिर्वचनीय मानकर उसका विवेचन करते हैं, वहीं नैयायिक, बौद्ध और मीमांसक उसे निर्वचनीय बताते हैं। पण्डितराज की प्रबुद्ध दार्शनिक चेतना ने इन दोनों ही दृष्टियों के अनुसार रसगङ्गाधर में रस की व्याख्या नव्यमत एवं अपरमत के रूप में प्रस्तुत की है।

नव्यमत

इस मत में रस को भ्रमात्मक ज्ञान मानकर उसकी अनिर्वचनीयतावादी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस मत के अनुसार काव्य में कवि द्वारा और नाटक में नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि प्रकाशित होकर सहृदयों के समक्ष उपस्थित होते हैं, तो व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा सहृदयों को दुष्यन्तादि में रहने वाली शकुन्तलादि विषयक रति का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् सामाजिकों को अपनी सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना पैदा होती है, जिससे वे दुष्यन्तादि के सम्बन्ध में पुनः पुनः चिन्तन करने लगते हैं। दुष्यन्तादि के विषय में यह पुनः पुनः चिन्तन या अनुसन्धान एक ऐसी दोष रूप भावना है, जिससे सामाजिक का मन कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है और सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझने लगता है। जब सामाजिक अपने को दुष्यन्त मानने लगते हैं, तो उन्हें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई भ्रम नहीं रहता।

इस प्रकार भावनारूपी दोष की महिमा से कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तलादि विषयक रति भी भासित होने लगती हैं—जैसे चाकचिक्य रूपी दोष से हम अज्ञानवश सीपी को रजत मान बैठते हैं, उसी प्रकार कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न अन्तःकरण में रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि सामाजिक में न तो शकुन्तलादि विषयक रति वास्तविक रूप से रहती है, न सीपी के टुकड़ों में चाँदी; तथापि साक्षी आत्मा उनका ज्ञान करा देता है। इस प्रकार वे दोनों अर्थात् सामाजिक के अन्तर्मन में भासित शकुन्तलादिविषयक रति और सीपी के टुकड़ों में प्रतीयमान चाँदी अनिर्वचनीय हैं। कल्पित होने के कारण वे असत् भी नहीं कही जा सकतीं। अतः सत्-असत् इन दोनों शब्दों द्वारा न कहे जाने योग्य होने के कारण ये अनिर्वचनीय

ही सिद्ध होती हैं। इस प्रकार काव्यार्थानुशीलन या नाट्याभिनय दर्शन के पश्चात् दुष्यन्तगत शकुन्तलादि विषयक रति-ज्ञान के बाद भावनारूप दोष के कारण 'मैं दुष्यन्त हूँ', इस भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तलादि विषयक रति आदि स्थायीभाव ही 'रस' है—

'काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जना-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः'[१]।

यह 'रस' वस्तुतः भावनारूपी दोष का कार्य है और उसके नाश के साथ ही इसकी भी समाप्ति हो जाती है। अर्थात् सहृदय के मन में जब तक उस दोष का प्रभाव होता है, तभी तक उस रस का भी अनुभव होता है—

'अयं च कार्यो दोषविशेषस्य, नाश्यश्च तन्नाशस्य'[२]।

यह भ्रमरूप अनिर्वचनीय साक्षिभास्य रत्यादि रूप रस न तो आनन्द रूप है और न इसका वर्णन हो सकता है, फिर भी इसकी प्रतीति के तत्काल बाद जो लोकोत्तर आह्लाद की प्राप्ति होती है, उससे इस रत्यादि रूप 'रस' को पृथक् कर न देख पाने के कारण हम उन दोनों को अभिन्न समझकर 'रस' सुखरूप है, ऐसा व्यवहार करने लगते हैं। वस्तुतः आनन्दतत्त्व तो अनिर्वचनीय रति की परवर्तिनी अनुभूति है—

'स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति'[३]।

इसी प्रकार 'रस' अज्ञानावच्छिन्न आत्मा में उत्पन्न अनिर्वचनीय एवं कल्पित साक्षिभास्य रति रूप है, जो न व्यंग्य है और न वर्णनीय, फिर भी इसे व्यङ्ग्य व वर्णनीय कहा जाता है। वस्तुतः व्यङ्ग्य तो वह रति है, जिसे इस रस के उत्पन्न होने से पूर्व सहृदय सामाजिक काव्यार्थानुशीलन के अनन्तर व्यञ्जना-वृत्ति से शकुन्तलादि के विषय में दुष्यन्तादि में ग्रहण करता है। उस व्यङ्ग्य और भावना रूपी दोष से कल्पित इस साक्षिभास्य रति में कोई अन्तर न कर पाने के कारण इसे भी व्यङ्ग्य कह दिया जाता है।[४]

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११०। २. तत्रैव, पृ. ११२। ३. तत्रैव, पृ. ११२।

४. स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११३)

पण्डितराज का विवेचन है कि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर अनेक प्रकार के तर्कों का स्वतः विलय हो जाता है। प्रथम तो दुष्यन्तादि में रहने वाली शकुन्तलादि की रति परकीय होने से 'रस' रूप में परिणत नहीं हो सकती, तटस्थ सामाजिक को उससे कोई आनन्द नहीं होगा। द्वितीय रति को स्वनिष्ठ मानने पर इसके विभावरूप में शकुन्तलादि को मानना होगा; किन्तु शकुन्तलादि से सामाजिक का कोई सम्बन्ध होता नहीं, अतः वे उसके विभाव हो नहीं सकते। यदि यह कहा जाय कि दुष्यन्तादि से अपने को अभिन्न समझ लेने पर शकुन्तलादि के साथ तादात्म्य हो जाता है और फिर शकुन्तला से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति 'रस' रूप में परिणत हो सकती है, तो यह तर्क भी उचित नहीं। दुष्यन्त के प्राचीनकालीन व धीरसम्राट् होने व स्वयं के वर्तमान कालीन सामान्य मानव होने का प्रत्यक्ष अनुभव तादात्म्यस्थापन में बाधक होगा, इत्यादि अनेक बाधाओं का निराकरण इस बात की स्वीकृति से हो जाता है। सहृदयतामूलक भावनाविशेष रूप दोष से सामाजिक की चेतना को कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न मान लेने पर इन सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है और तब काव्य शब्दों द्वारा प्रतिपादित शकुन्तलादिनिष्ठ रति का सामाजिक से सम्बन्ध मान लेने पर कोई बाधा नहीं रह जाती।[१]

दोषविशेष रूप भावना की कल्पना के सम्बन्ध में भी पण्डितराज का तर्क है कि—प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य साधारणीकरण का सिद्धान्त भी वस्तुतः दोष रूप ही है। बिना दोषविशेष की कल्पना किए साधारणीकरण के बल से शकुन्तलादि साधारण कान्ता के रूप में प्रतीत नहीं हो सकते। अतः जब भावना रूप एक दोष विशेष की कल्पना करनी ही है, तो फिर उसी के आधार पर दुष्यन्तादि के साथ अभेद सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर उपर्युक्त सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है।[२]

करुणादि रसों की आनन्दानुभूति

रस-विषयक इस नव्यमत की व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर एक शङ्का अनुत्तरित रह जाती है कि शृङ्गारादि रसों के स्थायी भाव रत्यादि सुखस्वरूप हैं—अतः उनकी अनुभूति की स्थिति में सहृदयों को आनन्दानुभव होता है; परन्तु वास्तविक शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि तो संसार में

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११४।

२. तत्रैव, पृ. ११४।

दुःखजनकरूप से ही प्रसिद्ध हैं; फिर जब वे करुणादि रसों में कल्पित होकर रसरूपता को प्राप्त होंगें तो फिर वे सुखस्वरूप कैसे कहलाएगें? शङ्का होती है कि जैसे वास्तविक नायक को दुःख हुआ था, उसी तरह सहृदयों को भी उनसे दुःख ही होना चाहिए। यदि यह कहें कि वास्तविक शोक ही दुःखजनक होता है, कल्पित नहीं, सत्य शोक नायक को होता है, अतः उसका दुःखित होना स्वाभाविक है; किन्तु कल्पित शोकादि का अनुभव करने वाले सहृदयों को दुःख नहीं होता। ऐसा मानने पर यह प्रश्न उठता है कि रज्जु में जो सर्प की प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं होती, लेकिन उससे भय व कम्प होता है, यदि कल्पित शोक में दुःखजनकता नहीं मानेंगें, तो कल्पित रज्जुसर्प से भी भयादिक नहीं होना चाहिए।

दूसरी आपत्ति यह है कि जब कल्पित शोक से दुःख की उत्पत्ति नहीं होती तो सहृदयों में कल्पित रति से सुख की उत्पत्ति भी नहीं माननी चाहिए।[१]

पण्डितराज इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जिस प्रकार शृङ्गार-रस-प्रधान काव्यों से सुख उत्पन्न होता है, उसी प्रकार करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी सुख ही उत्पन्न होता है, यह बात यदि सहृदयों के हृदय द्वारा प्रमाणित हो चुकीं हो, तो कार्य के अनुकूल कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस नियम के अनुसार यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि लोकोत्तर काव्य-व्यापार की ही यह महिमा है कि जैसे यह व्यापार सुख का प्रयोजक होता है, वैसे ही दुःख का प्रतिबन्धक भी होता है।[२]

यदि सहृदयों को आनन्द के साथ-साथ दुःख की भी अनुभूति होती हो, तो प्रतिबन्धक की कल्पना नहीं करनी चाहिए। सहृदयों को अपने-अपने कारणों से सुख-दुःखादि दोनों होंगे।[३]

यहाँ एक प्रश्न पुनः उठता है कि करुणादि-रस-प्रधान काव्यों से यदि दुःखोत्पत्ति होती है, तब ऐसे काव्यों की रचना करने के लिए कवि की व सुनने में सहृदयों की प्रवृत्ति क्यों होती है? ऐसे काव्यों के अनिष्ट का साधन

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११५।

२. सत्यम्, शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरव्यापारस्यैवाह्लाद-प्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्।

३. अथ यद्याह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११६-११७)

होने से उनसे निवृत्ति ही उचित है। पण्डितराज इसका समाधान करते हैं कि इन रसों में दुःख के होने पर भी उसकी मात्रा अत्यल्प रहती है और सुख की अधिक। जैसे चन्दन घिसने में अल्प श्रम होता है; परन्तु लेप करने पर उसकी शीतलता व सुगन्धि का अधिक अनुभव होता है। अतः लोग इस कष्ट में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। यही स्थिति काव्य-सृजन की है।[१]

करुणादि रसों की आनन्दस्वरूपता के विषय में एक प्रश्न पुनः उठता है कि इन रसों की अनुभूति के समय अश्रुपातादि क्यों होते हैं? इसका समाधान पण्डितराज इस प्रकार करते हैं कि आनन्द में चित्त द्रवित हो जाने से अश्रुपात स्वाभाविक है। भगवत्कथा श्रवणकाल में भी भक्तों की आँख से अविरल अश्रुपात होता है, वहाँ दुःख का रंचमात्र भी अनुभव नहीं रहता, अत्यधिक आनन्द ही विद्यमान रहता है। इसी प्रकार करुणरसानुभव से होने वाला अश्रुपात भी आनन्दातिरेक का ही सूचक है।[२]

यहाँ एक प्रश्न पुनः उठता है कि यदि करुणादि रस में सहृदय अपनी आत्मा में शोकादिमत् दशरथ का तादात्म्यारोप करके आनन्द का अनुभव करते हैं, तो स्वप्न व सन्निपातादि में भी स्वयं में शोकादिमत्व दशरथ आदि के आरोप से आनन्द ही होना चाहिए, परन्तु वहाँ केवल दुःख की ही प्रतीति होती है, इसका कारण क्या है?

पण्डितराज इस प्रश्न का भी यह कहकर उत्तर देते हैं कि लोकोत्तर काव्य-व्यापार की ही महिमा है कि उसके प्रभाव से अरमणीय शोकादि पदार्थ भी आनन्दावह होते हैं। काव्य का कमनीय व्यापारजन्य प्रभाव प्रत्यक्षादि प्रमाण-जन्य अनुभूति से विलक्षण हुआ करता है।[३]

अपर नव्यमत

रसमीमांसा के प्रकरण में पण्डितराज ने अपर मत के रूप में एक अन्य मत प्रस्तुत किया है, जिसमें 'रस' को भ्रम रूप मानकर उसकी निर्वचनीयतावादी

---

१. इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।
(रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ११७।)

२. अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात् न तु दुःखात्। अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्-वर्णनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति। (तत्रैव, पृ. ११८)

३. अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति।
विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।
(तत्रैव, प्रथमानन, पृ. ११९)

व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस मत के अनुसार 'रस' न तो व्यङ्ग्य है, न उसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। काव्य के मनोरम प्रभाव व सहृदयता के कारण उत्पन्न भावनाविशेष रूप दोष के प्रभाव से सामाजिक अपनी आत्मा में शकुन्तलादि के सम्बन्ध में दुष्यन्त का तादात्म्य मानस-संनिकर्ष से कर लेता है, जिससे उसे यह भ्रमात्मक अनुभव होने लगता है कि मैं शकुन्तलादि के प्रति रतिमान् दुष्यन्त से अभिन्न हूँ। काव्यार्थ के बारम्बार अनुशीलन से उत्पन्न यह विलक्षण भ्रमात्मक मानस-प्रतीति ही रस है।[१]

इस मत की विवेचन-प्रक्रिया में पण्डितराज ने इससे सम्बन्धित कई शङ्काओं को उपस्थित कर उनका समुचित निवारण भी किया है। सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मनःकल्पित ज्ञान को रस माना जाता है, तो स्वप्नादि मानस ज्ञान भी रस की श्रेणी में आ जाएगें। पण्डितराज इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि काव्यार्थ के बारंबार अनुशीलन से ही मनःकल्पित ज्ञान रसरूपता को प्राप्त होता है। स्वप्नगत ज्ञान काव्यार्थजन्य न होने के कारण आनन्ददायी नहीं होते। वस्तुतः काव्यार्थजनित मानसज्ञान रूप रस भ्रमात्मक होने पर भी कल्पनाजनित होने के कारण अन्य ज्ञानों से विलक्षण होता है।[२]

दूसरी शङ्का है कि सामाजिक को वस्तुतः शकुन्तलादि विषयक रति होती नहीं, वह तो मनःकल्पित होती है, अतः प्रश्न उठता है कि उन मनःकल्पित भावों का अनुभव कैसे सम्भव होगा? इसका समाधान इस प्रकार है कि लोक में किसी विषय के साक्षात्कार के लिए विषय की सत्ता अपेक्षित होती है; परन्तु भ्रम के लिए लौकिक वस्तुओं के समान वस्तु की सत्ता आवश्यक नहीं होती। उदाहरणार्थ रस्सी में सर्प व सीपी में चाँदी की प्रतीति के समय सर्प या चाँदी की वास्तविक सत्ता नहीं रहती। अतः सामाजिक में भ्रमरूप रत्यादि के मनःकल्पित होने पर भी उसके ज्ञान या अनुभव में कोई बाधा नहीं।[३]

---

१. परे तु व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १२०)

२,३. स्वप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः। तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः। न ह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं विषय सद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्। अपि तु भ्रमः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १२१)

पुनः तीसरी शङ्का यह समुत्पन्न होती है कि जब रस भ्रमात्मक ज्ञान रूप है, तब रस का आस्वादन होता है यह व्यवहार असङ्गत हो जाएगा। क्योंकि आस्वादन भी एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा? पण्डितराज इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि वस्तुतः आस्वादन तो भ्रमात्मक रत्यादि का होता है। हम उस विषयगत आस्वादन को विषयी अर्थात् भ्रमात्मक रस में आक्षेप कर स्थायी का आस्वादन न कहकर रसास्वादन कहने लगते हैं।[१]

इस प्रकार संक्षेप में इस मत के अनुसार नटादि की चेष्टा रूप कारणों या अनुभावादिरूप चेष्टाओं के आधार पर अनुमान से सामाजिक को दुष्यन्त की शकुन्तलादि के प्रति विद्यमान रति का ज्ञान होता है। तदनन्तर उद्बुद्ध कल्पना या भावनारूप दोष के प्रभाव से भेदज्ञान समाप्त हो जाता है और वह शकुन्तलादि के प्रति रतिमान् दुष्यन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, जिसके फलस्वरूप उसके हृदय में विलक्षण मानस प्रतीति उत्पन्न होती है, यही रस है।

पण्डितराज ने रसमीमांसा से सम्बन्धित उपर्युक्त चार मतों की प्रस्तुति के अनन्तर रसगङ्गाधर में रसनिष्पत्ति से सम्बद्ध सात अन्य मतों को भी प्रस्तुत किया है। इनमें भट्टलोल्लट व श्रीशंकुक के मतों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से व शेष मतों का केवल सूचनात्मक उपनिबन्धन हुआ है। चूँकि पण्डितराज की मौलिक समीक्षकीय चेतना इन मतों की प्रस्तुति में नहीं दिखाई देती, अतः इस प्रकरण में उन मतों की चर्चा को विराम देना ही श्रेयस्कर है।

रस निष्पत्तिविषयक विविध मतों की प्रस्तुति के अनन्तर पण्डितराज ने रसों के भेद, उपभेद, स्थायी भावों, विभावादि रसव्यञ्जक सामग्रियों, रसों के विरोध-अविरोध एवं रसदोषादि विषयों से सम्बद्ध विस्तृत विवेचन किया है, जो उनकी प्रखर मेधा का स्वतः परिचायक है।

भाव-विवेचन

रसविवेचन के समान पण्डितराज का भावविवेचन भी पाण्डित्यपूर्ण है। 'भाव' का लक्षण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने आचार्य मम्मट की भावसम्बन्धिनी मूल मान्यताओं के प्रति ही अपना समर्थन व्यक्त किया है, फलतः उनके अनुसार व्यञ्जित सञ्चारी एवं कान्तेतर देवादि विषयक रति ही भाव है। 'भाव' लक्षण

---

१. आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बन इत्यपि वदन्ति।

रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १२२

प्रस्तुत करने से पूर्व विषय का स्पष्ट व तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत करने की दृष्टि से उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में भावविषयक दो लक्षणों को प्रस्तुत किया व इन्हें अपनी आलोचनाकसौटी पर सुवर्णसम खरा न पाकर अस्वीकृत कर दिया। यह विवेचन निष्प्रयोजन नहीं; अपितु भाव की व्यापक सीमाओं को समझने में सहायक है। ये लक्षण हैं—

१. विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वम्[१]

२. रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्[२]

प्रथमलक्षण में विभाव और अनुभाव से भिन्न रस के व्यञ्जक तत्त्वों को 'भाव' कहा गया है। परन्तु यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होने के कारण असंगत है। कारण विभाव और अनुभावों से अतिरिक्त रसात्मक काव्य के शब्द भी अर्थद्वारा रसाभिव्यञ्जक हुआ करते हैं। इस लक्षण को स्वीकार कर लेने पर उन्हें भी 'भाव' कहना पड़ेगा, जो सर्वथा असंगत है। इस पर पूर्वपक्षी यदि यह तर्क प्रस्तुत करें कि इस लक्षण में जो किसी को द्वार न बनाकर रसों के व्यञ्जक हों, यह द्वारान्तर निरपेक्षता रूप विशेषण और प्रयुक्त कर दिया जाय तो काव्य-वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी; क्योंकि वह अर्थ को द्वार बनाकर रसव्यञ्जक है। इस पर पण्डितराज का तर्क है कि तब इस लक्षण में असम्भव दोष आ जाएगा; क्योंकि स्वयं भाव भी भावना द्वारा रसाभिव्यञ्जक हुआ करते हैं। दूसरी बात यह लक्षण रसव्यञ्जक भावों पर ही घटित हो सकता है, प्रधानतया ध्वनित भावों पर नहीं।[३]

द्वितीय लक्षण में उस चित्तवृत्ति को 'भाव' कहा गया है, जो रस को अभिव्यक्त करने वाली चर्वणा का विषय हो। परन्तु इसके साथ भी आपत्ति है। यह लक्षण अनुभावों में अतिव्याप्त है। पण्डितराज ने इसका **'कालागुरु द्रवं सा'** श्लोक उद्धृत कर विवेचन भी किया है कि कोई विरहिणी नायिका वियोग के आधिक्य में कालागुरु द्रव को हालाहल विष समझती है व नीलकमलों की माला को सर्पिणी। उसका यह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभव है, जो वियोग के कारण उत्पन्न हुआ है। अतः कार्य रूप होने के कारण अनुभाव है। फलतः शृङ्गाररस की व्यञ्जक चर्वणा का विषय भी है। पुनः भ्रमात्मक ज्ञान विशेष

१,२. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. २८९, २९२।

३. रसवाक्येऽतिव्याप्तिः। अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्। द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि भावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात्। भावनाया-मतिव्याप्त्यापत्तेश्च। तत्रैव, पृ. २८९-९०

होने के कारण यह चित्तवृत्ति रूप भी है; अत: यह द्वितीय लक्षण अनुभावों में अतिव्याप्त हो जाता है।[१]

इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में कल्पित किए गए इन दोनों लक्षणों का खण्डन करने के अनन्तर पंण्डितराज ने अपना सिद्धान्तभूत भावलक्षण प्रस्तुत किया—

'विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्'[२]

हर्षादयस्तु—हर्ष-स्मृति-व्रीडा-मोह-धृति-शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-श्रम-गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-त्रास-सुप्तविबोधाऽमर्षाऽवहित्थोग्रतोन्मादमरणवितर्क-विषादौत्सुक्याऽऽवेगजडताऽऽलस्यऽसूयाऽपस्मारचपलता:। प्रतिपक्षकृत-धिक्कारादिजन्मानिर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिण:। गुरुदेवनृपपुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।[३]

अर्थात् विभावादि से ध्वनित किए जाने वाले हर्षादिकों में से कोई भी भाव है। पुन: हर्षादिकों की गणना करते हुए हर्ष-स्मृति-व्रीडादि उपर्युक्त तैंतीस भावों व गुरुदेवराजपुत्रादि विषयक रति रूप चौंतीसवें भाव को 'भाव' की सीमा में गिना गया है। अपनी इस मान्यता के समर्थन में उन्होंने मम्मट का मत भी प्रस्तुत किया है—

'यदाहु: व्यभिचार्यञ्जितो भाव: इति'[४]

भाव-ध्वनि के प्रकार

पण्डितराज ने केवल 'भाव' को ही नहीं अपितु 'रसादिध्वनि' में परिगणित अन्य प्रकारों यथा भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता को भी 'भावध्वनि' ही कहा है—

'य एते भावशान्त्युदयसन्धिशबलता ध्वनय उदाहृता:, तेऽपि भावध्वनय एव'[५]।

---

१. नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्, भावादिचर्वणायामतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति, चितवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. २९२)

२. तत्रैव, पृ. २९२।

३. तत्रैव, पृ. २९७।

४. तत्रैव, पृ. २९४।

५. तत्रैव, पृ. ३८४।

उनका कथन है कि जब हम 'भावों' का आस्वादन करते हैं, वहाँ भी तो 'भावों' की एक अवस्था 'विद्यमानता' रहती है, फिर भी जिस तरह वहाँ 'भावों' का ही प्राधान्य माना जाता है, उस विद्यमानता अवस्था का नहीं, उसी तरह 'भावोदय' आदि अवस्थाओं में जहाँ विनष्ट होते हुए, उत्पन्न होते हुए, एक दूसरे से मिले हुए व एक साथ रहते हुए भावों का ही आस्वादन होता है, वहाँ भी भावों की प्रधानता माननी चाहिए। विनाश, उत्पत्ति, सन्धि या शबलता रूप अवस्थाओं की नहीं; क्योंकि इस स्थिति में चमत्काराह्लाद 'भावों' के आस्वादन में होता है, केवल अवस्था में नहीं।[1]

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब 'अवस्था' व 'भाव' दोनों का आस्वादन साथ-साथ होता है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि भाव-प्रधान है या चमत्कार का श्रेय 'भाव' को है व अवस्थाएँ गौण हैं? इस प्रश्न का समाधान पण्डितराज ने इसी उत्तर से दिया है कि स्थिति की अवस्था में जैसे भाव व अवस्था दोनों होने पर चमत्कार भावों में ही माना जाता है, उसी प्रकार भावशान्त्यादि स्थलों में तत्तद्भावों की ही प्रधानता होती है, न कि अवस्थाओं की। अन्तर यही रहता है कि-वहाँ शान्तिविशिष्टत्वेन, उत्पत्ति विशिष्टत्वेन और शबलताविशिष्टत्वेन भावध्वनि होती है।[2]

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में इस पक्ष का भी सोदाहरण विवेचन किया है कि अवस्थाओं की अपेक्षा आस्वादन का आधार भावों को मानने से ऐसे स्थलों पर जहाँ शान्त्यादि अवस्थाएँ वाच्य रहती हैं व भावव्यङ्ग्य; वहाँ भी भावध्वनि हो सकती है। इसके विपरीत भाववाच्य व अवस्था के व्यङ्ग्य होने पर ऐसा व्यवहार न हो सकेगा।[3]

पण्डितराज ने इस पक्ष पर भी प्रकाश डाला है कि उपर्युक्त रीति से 'भावध्वनि' व 'भावशान्त्यादि' ध्वनियों में कोई पार्थक्य न रह जाने से, सर्वत्र भावों की ही प्रधानता हो जाने से भावशान्त्यादि ध्वनियों की पृथक् नामकरण योजना ही व्यर्थ है? इस सम्बन्ध में उनका मत है कि भाव-ध्वनियों की अपेक्षा भावशान्त्यादि ध्वनियों के आह्लाद में विलक्षणता है; क्योंकि भावध्वनियों में

१. विद्यमानतया चर्व्यमाणेष्विव उत्पत्त्यवच्छिन्नत्वविनश्यदवस्थत्वसन्धीयमानत्वपरस्पर-सामानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्व्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्र विश्रान्तेः।
(रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३८४।)

२. तत्रैव, पृ. ३८५।

३. तत्रैव, पृ. ३८६-३९१।

आस्वादन शुद्ध भावों का होता है और भावशान्त्यादि ध्वनियों में स्थलभेद से शान्ति, उदय आदि अवस्थाओं से युक्त भावास्वादजन्य आह्लाद होता है।[१] सारांश यह है कि इन भावध्वनियों में भाव इन अवस्थाओं से समन्वित होकर ही चमत्कारी होता है, शुद्ध रूप में नहीं, इस कारण इनका पृथक् नामकरण व्यर्थ नहीं।

भावशान्ति एवं भावोदय–

काव्यशास्त्रियों की विवेचनानुसार विभिन्न भावों की स्थिति, उत्पत्ति एवं प्रशमरूप अवस्थाएँ क्रमशः 'भाव', 'भावोदय' एवं 'भावशान्ति' रूप भावध्वनि की स्थितियाँ हैं। 'भावसन्धि' दो भावों की व 'भावशबलता' अनेक भावों की विशिष्ट स्थिति है। पण्डितराज का इस सन्दर्भ में भी विशेष आकलन है। उनका वक्तव्य है कि यह सुनिश्चित तथ्य है कि जहाँ किसी भाव की शान्ति होती है, वहाँ किसी दूसरे भाव का उदय भी होता है। इसी प्रकार जहाँ किसी भाव का उदय होता है, वहाँ उससे पहले किसी भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, तब 'भावशान्ति' और 'भावोदय' के अमिश्रित रूप की प्राप्ति कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का समाधान भी वे स्वतः करते हैं। उनका कहना है कि दोनों स्थितियों में समान चमत्कार नहीं रहता, चमत्कार का मूल बिन्दु कोई एक ही रहता है। भावशान्ति में अन्य भाव का उदय निश्चित रहकर भी चमत्कारी नहीं रहता, इसी प्रकार भावोदय में भी पूर्वभाव की शान्ति रहने पर भी चमत्कारक नहीं होती, फलतः चमत्कारांश को देखते हुए ही उन्हें अलग-अलग नाम दिए जाते हैं—

'तथापि द्वयोरेकत्रचमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य अस्ति विषयविभागः'[२]।

भाव-सन्धि–

भावसन्धि के विषय में भी पण्डितराज का विशिष्ट विवेचन है। उनका कथन है कि— 'एक दूसरे से दबे हुए न हों, पर एक दूसरे को दबाने की

---

१. इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्—यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरपीति। अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरपीति।
रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३९१

२. तत्रैव, पृ. ३७९।

योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरण्य अर्थात् एक जगह रहने को 'भावसन्धि' कहते हैं।[१]

भाव-शबलता

पण्डितराज के अनुसार 'भावशबलता' अनेक भावों के सम्मिश्रण में है। यह मिश्रण चाहें परस्पर बाध्य-बाधक भावों में हो या परस्पर उदासीन भावों में[२]। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उत्तरोत्तर भाव के द्वारा पूर्ववर्ती भाव के उपमर्दन को 'भावशबलता' कहा था; परन्तु पण्डितराजीय प्रतिभा इसे स्वीकृति देने हेतु सहमत नहीं। उनकी मान्यता है कि जैसे नारियल के जल, दूध, चीनी व केलों के मिश्रण से एक विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही भावों के सम्मिश्रण से भावशबलता का आस्वादन प्राप्त होता है—

नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावानां संहतौ तथा।।[३]

भाव-ध्वनियों की महत्ता

भावध्वनि के प्रसङ्गों में भावों की व्यञ्जना ही चमत्कार का बिन्दु होती है। इसी कारण इसे 'रस' से पृथक् 'भावध्वनि' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। परन्तु इस परिप्रेक्ष्य में पूर्वाचार्यों की मान्यताएँ तनिक परिष्करणीय हैं। रसाग्रही अभिनवगुप्तपादाचार्य का विचार है कि भावध्वनि के स्थलों में रस के पूर्णतया विद्यमान रहने पर भी व्यञ्जित व्यभिचारी के चमत्कार के कारण ही आस्वादजन्य आनन्द होता है—

'यद्यपि रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्यैकघनस्य चमत्कारात्मनोपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः'[४]।

मम्मट ने भी इसे इस प्रकार व्यक्त किया—

---

१. भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्।
रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ.३८०

२. भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्।
(तत्रैव, पृ. ३८१)

३. तत्रैव, पृ. ३८४।

४. ध्वन्यालोक, २/३ लोचनांश।

'मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्'[१]।

परन्तु अभिनव व मम्मट समर्थित यह विचारधारा उचित नहीं। जहाँ रस पूर्ण रूप से विद्यमान है, वहाँ रसाह्लाद ही प्रधान होगा, अन्य कोई सञ्चारी भाव प्रधान रूप से आह्लाद का विषय न बन सकेगा। पण्डितराज की तीक्ष्ण मेधा से यह दोष ओझल न रह सका। उन्होंने इसका परिष्कार किया कि यदि 'भावध्वनि' के सभी स्थलों में पार्यन्तिक रूप से रस की अभिव्यक्ति मान ली जाएगी, तो 'रस' के प्रधान होने के कारण 'रसध्वनि' का ही व्यवहार होने लगेगा। फलतः भावध्वनि रहेगी कहाँ? यदि यह कहा जाय कि 'भावध्वनि' स्थल में रस के होने पर भी 'रसध्वनि' इसलिए नहीं कही जाती कि वहाँ रसाभिव्यक्ति चमत्कारजनक नहीं रहती, तो यह तथ्य भी ग्राह्य नहीं। 'रस' कभी चमत्कारहीन नहीं हुआ करता। वहाँ आनंदांश का 'अविनाभाव' सम्बन्ध रहता है। फलतः उनका स्पष्ट मत है कि भावध्वनि में 'भाव' व रसध्वनि में 'रस' का ही चमत्कार मुख्य होता है।[२]

भाव-ध्वनि के व्यञ्जक तत्त्व

रसाभिव्यक्ति के लिए स्थायी भाव के साथ विभाव अनुभाव व संचारी भाव तीनों की व्यञ्जकता की आवश्यकता होती है। जहाँ किसी का निरूपण नहीं भी रहता, वहाँ उन्हें आक्षेपगम्य मान लिया जाता है; किन्तु 'भावध्वनि' में भावव्यञ्जना के लिए विभाव और अनुभाव ही भावव्यंजक तत्त्व माने जाते हैं। कारण, एक व्यभिचारी को अभिव्यञ्जित करने में दूसरे व्यभिचारी के व्यञ्जक मानने पर व्यञ्जक व्यभिचारी भी अभिव्यक्त होकर अधिक व्यञ्जक होने से प्रधान हो जाएगा। फलतः पण्डितराज का स्पष्ट मत है कि 'भावध्वनि' में विभाव और अनुभाव ये ही दो व्यञ्जक तत्त्व विद्यमान रहते हैं।[३]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ. ४/५।

२. प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताऽभावादव्याप्त्यापत्तेश्च। न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोपप्रसङ्गात्। भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्काररहित-रसव्यक्तौ मानाभावात्। रसे हि धर्मिग्राहकमानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. २९०-९१)

३. विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकौ, न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. २९५)

विभाव

'रसध्वनि' में विभाव के आलम्बन व उद्दीपन दोनों रूप विद्यमान रहते हैं; किन्तु 'भावध्वनि' में इनकी साकल्येन प्रतीति आवश्यक नहीं होती। इस सम्बन्ध में पण्डितराज की मान्यता है कि 'भावध्वनि' के प्रसंग में 'विभाव' पद से व्यभिचारी भाव के साधारण निमित्त कारण को लेना चाहिए, रस की तरह उसका आलम्बन व उद्दीपन रूप अपेक्षित नहीं।[१] उनके अनुसार कोई भाव या धारणा विशेष ही किसी भाव की व्यञ्जना में कारण रूप हो सकते हैं। उदाहरणार्थ इष्टप्राप्ति से हर्ष मिलता है, रोगादिजन्य दुःख ग्लानि विशेष है, रूप एवं विद्या धनादि के कारण हैं। दूसरों की अवहेलना का मनोभाव ही गर्व है। फलतः भावाभिव्यक्ति के स्थलों में कोई भाव ही दूसरे भाव का कारण हो सकता है।

अनुभाव

आन्तरिक भावों की बाह्य अभिव्यक्ति की प्रकाशिका आङ्गिक चेष्टाएँ ही अनुभाव कही जाती हैं। इनके सन्दर्भ में भी पण्डितराज की विशिष्ट मान्यता है। उनका कथन है कि जैसे कोई 'भाव' विभाव बन जाता है, वैसे ही कार्य रूप में कोई 'भाव' दूसरे 'भाव' का अनुभाव भी हो सकता है। यथा ईर्ष्या निर्वेद भाव का विभाव व 'असूया' का अनुभाव होता है। चिन्ता निद्रा के प्रति विभाव व औत्सुक्य के प्रति अनुभाव है।[२]

व्यभिचारी भाव

सामान्यतः पण्डितराज भावों की व्यञ्जना में विभाव और अनुभाव को ही व्यञ्जक मानते हैं। एक सञ्चारी की अभिव्यक्ति के लिए अन्य सञ्चारी भावों का होना, उन्हें ज्यादा अपेक्षित नहीं। कारण, उनकी मान्यता है कि ऐसे स्थलों में व्यञ्जक सञ्चारी ही व्यञ्जकता के अधिक हो जाने से प्रधान हो जाएगा, फिर भी उनका वक्तव्य है कि कुछ प्रसङ्ग ऐसे हो सकते हैं—जहाँ एक व्यभिचारी की व्यञ्जना में अन्य 'भाव' सहायक हो जाएँ और यह तभी हो सकता है जब प्रसंग-प्राप्त 'भाव' की अपेक्षा यह दूसरा 'भाव' गौण रहे। प्रधान 'भाव' अङ्गी व गौण

---

१. विभावस्तत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्येव, सर्वथैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २९७)

२. एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये केचन केषाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति। तथाहि ईर्ष्याया निर्वेदं प्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम्। चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम्। (तत्रैव, पृ. ३६५।)

'भाव' अङ्ग बनकर रहे। जैसे 'गर्व' के प्रधानतया व्यङ्ग्य होने पर 'अमर्ष' व्यङ्ग्य व 'अमर्ष' के प्रधान व्यङ्ग्य होने पर 'गर्व' अङ्ग होता है।[१]

इस मान्यता के स्वीकार करने के साथ ही एक अन्य आपत्ति उठ खड़ी होती है। भावध्वनि स्थल में एक भाव को अङ्गी व दूसरे को अङ्गरूप से व्यङ्ग्य मानने पर वह काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाएगा, भावध्वनि नहीं। इस सम्बन्ध में पण्डितराज की स्पष्ट व्यवस्था है कि व्यञ्जक भाव की अभिव्यक्ति के लिए पृथक् विभावादि अपेक्षित नहीं होते। 'भावध्वनि' से जिन विभावानुभावादि रूप सामग्रियों से अङ्गभूत भाव व्यञ्जित होते हैं, उन्हीं से अङ्गी भाव भी, जबकि गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्थलों में गुणीभूतता का कारण अन्य आकस्मिक गौण भाव रहता है। भावध्वनि के स्थल में तो उसी भाव की अभिव्यक्ति होती है जो व्यङ्ग्य प्रधानभाव के साथ नान्तरीयक रूप से रहे, प्रधानभाव के ध्वनित होने पर ही ध्वनित हो।[२]

सञ्चारी भावों के लक्षण

पण्डितराज के भावविषयक विवेचन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने रसगङ्गाधर में तैतीसों संचारी भावों का सोदाहरण विशद स्वरूप निरूपण भी किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने तत्-तद् भावों के कारणों अर्थात् विभावों व कार्यों अर्थात् अनुभावों का भी उल्लेख करते हुए उनका लक्षण निर्धारित किया है। इन सभी भावों को चित्तवृत्ति रूप मानकर ही इनका स्वरूप निर्धारित किया गया है—'चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु'।[३] चित्तवृत्ति की यह मान्यता भी दार्शनिक भावभूमि पर आधृत है, जिसके अनुसार सुखात्मक, दुःखात्मक व ज्ञानात्मक अवस्थाएँ चित्तवृत्तियों की परिचायिका हुआ करती हैं, साथ ही चित्त की अक्रियाशीला वृत्ति भी चित्तवृत्ति की ही अवस्था विशेष है। इसी आधार पर व्रीडा, मोह, धृति, शङ्का, दैन्य, चिन्ता, मद, त्रास, अमर्ष, उग्रता, आवेग,

---

१. वस्तुतस्तु प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद् भावे, तदीय सामग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया, तनिमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि न क्षतिः। यथा गर्वादावमर्षस्य अमर्षादौ वा गर्वस्य। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २९५)

२. न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात्।

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति। अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव भवेत्। (तत्रैव, पृ. २९६)

३. तत्रैव, पृ. ३३९।

जड़ता, असूया, चपलता, निर्वेदादि के लक्षण में तो उन्हें स्पष्ट रूप से चित्तवृत्ति-रूप कहा गया, वहीं हर्ष, स्मृति, ग्लानि, गर्व, मति, उन्माद, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आलस्यादि तो सुखात्मक, दुःखात्मक, ज्ञानात्मक व अक्रियात्मक अवस्थाओं में परिगणित होने के कारण चित्तवृत्ति रूप हैं ही।

इस सन्दर्भ में पण्डितराजीय मेधा का प्रकर्ष समवलोकनीय है। उन्होंने भावों की चित्तवृत्ति के रूप में व्याख्या कर एवं चित्तवृत्तियों का स्वरूप निरूपण दार्शनिक आधार पर कर ऐसे अनेक प्रश्नशूलों को प्रहारोन्मुख होने से परे कर दिया है, जो उत्तरवर्ती काल में उठाए जा सकते थे। उदाहरणार्थ 'मद' को चित्तवृत्ति रूप न होने से 'भाव' मानने से मना किया जा सकता था; परन्तु पण्डितराज ने उसके सेवन से उत्पन्न होने वाले आनन्द को ध्यान में रखकर 'उल्लासात्मक चित्तवृत्ति विशेष' को 'मद' कहा।[१] इसी प्रकार 'श्रम' का निरूपण करते हुए उन्होंने 'शारीरिक व्यापार से उत्पन्न होने वाले मानसिक खेद' को 'श्रम' कहा, शारीरिक व्यापार को नहीं।[२] निद्रा को भी उन्होंने चित्त की 'सम्मीलनात्मक अवस्था' कहते हुए चित्तवृत्तिरूपता प्रदान की।[३] नेत्रों का बन्द करना तो उनके अनुसार उसका अनुभाव है।

इस प्रकार 'निद्रा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान' को 'सुप्त' कहा गया है, शरीर की चेष्टाविहीन अवस्था व नेत्रनिमीलनादि को नहीं।[४] 'विबोध' को भी शारीरिक नहीं; अपि तु 'ज्ञानात्मकदशा' कहा गया है। अर्थात् आँखों का खुलना ही विबोध नहीं; अपि तु 'मन की सम्मीलन दशा की समाप्ति की विबोधात्मक दशा विबोध' है।[५]

'अपस्मार' की चितवृत्तिरूपता का भी उन्होंने सुन्दर निरूपण किया है। वे रोग को नहीं; अपि तु रोग-शोक-वियोगादि से उत्पन्न होने वाले मनस्ताप को 'व्याधि' कहते हैं।[६] फलतः 'अपस्मार' भी मानसिक व्याधिविशेषरूपा वृत्ति है।[७]

---

१. मद्याद्युपयोगजन्मा उल्लासाख्यः शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः, (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३१६।)

२. बहुतरशरीरव्यापारजन्मानिश्वासाङ्गसम्मर्दनिद्रादिकारणीभूतः खेदविशेष; श्रमः—(तत्रैव पृ. ३१८)।

३. श्रमादि प्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा, नेत्रनिमीलनगात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावा (तत्रैव, पृ. ३९९)

४. निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम्। (तत्रैव, पृ. ३२७)

५. निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः। (तत्रैव, पृ. ३३०)

६. रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः। (तत्रैव, पृ. ३२४)

७. वियोगशोकभयजुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः। (तत्रैव, पृ. ३५७)

'जड़ता' को भाव की भूमिका प्रदान करने में पण्डितराजीय दृष्टि की स्पष्ट समीक्षा है। उनके अनुसार शरीर की स्पन्दनविहीन अचल स्थिति 'जड़ता' की द्योतक नहीं; अपितु चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरहादि से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था विशेष का नाम 'जड़ता' है, जहाँ कर्तव्याकर्तव्य की चेतना नहीं रहती।[१]

इसी प्रकार 'मरण' को मृत्यु कहकर धनञ्जय व विश्वनाथ ने इसकी 'भावरूपता' पर प्रश्नचिह्न उठाने की भूमिका तैयार कर दी थी; परन्तु पण्डितराज ने इस प्रसङ्ग में भी अपनी पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने 'मरण' से मृत्यु का अर्थ न लेकर मरण से पूर्व होने वाली मूर्च्छात्मक चित्तवृत्ति को 'मरण'[२] की संज्ञा देकर उसकी चित्तवृत्तिरूपता, फलतः भावरूपता निश्चित कर दी। उनका स्पष्ट कथन है—

'रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम्'।

'न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम् चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तेः'[३]

'मरण' से प्राणवियोगात्मक मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं; क्योंकि भावों की 'चित्तवृत्ति' रूपता मानने पर 'मुख्य मरण' से उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में इन तैंतीसों भावों का सोदाहरण अत्यन्त सुन्दर व पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। धनञ्जय, विश्वनाथादि आचार्यों ने भी अपने दशरूपक व साहित्यदर्पणादि ग्रन्थों में इन सभी भावों का स्वरूपविश्लेषण किया है; परन्तु उनके विवेचन में कुछ शिथिलताएँ रह गईं, फलतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन में इन भावों की 'शरीरपक्षता को ही ध्यान में रखकर, इन्हें 'भाव' कोटि में परिगणित करने की आलोचना की गई; परन्तु पण्डितराज के प्रौढ़ विवेचन में इन शिथिलताओं के लिए स्थान नहीं है। उन्होंने सभी भावों की 'चित्तवृत्तिपक्षता' को प्रमुखता देते हुए इनकी भावरूपता निस्सन्दिग्ध बना दी।

---

१. चिन्तोत्कण्ठाभयविरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थप्रतिसन्धानविकला चित्तवृत्ति-र्जडता। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३४९)

२. मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते; (दशरूपक, ४।२१।)
शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्; (साहित्यदर्पण ३।१५५।)

३. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३३९।

निर्वेद की सञ्चारिभावता–

तैंतीस सञ्चारी भावों में परिगणित 'निर्वेद' के निरूपण-प्रसंग में भी पण्डितराज का काव्यशास्त्रीय चिन्तन अपनी विशिष्ट विभा बनाए हुए है। भरत ने आठ रस ही माने थे; परन्तु अभिनव व मम्मट दोनों ने नवें रस के रूप में शान्तरस को मान्यता दी। पण्डितराज भी इसी मान्यता के समर्थक हैं। 'शान्त रस' का स्थायीभाव भी निर्वेद है। पण्डितराज ने शान्तरस के स्थायीभावरूप 'निर्वेद' व सञ्चारीरूप 'निर्वेद' का अन्तर स्पष्ट करते हुए उनका स्वरूप निर्धारित किया है। स्थायीभावरूप 'निर्वेद का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने उसे 'नित्यानित्य वस्तुवों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली विषयविरक्ति रूप चित्तवृत्ति अर्थात् तत्त्वज्ञान कहा है—

'नित्यानित्य वस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः गृहकलहजादिस्तु व्यभिचारी'[१]।

सञ्चारी 'निर्वेद' का स्वरूप निरूपण करते हुए उन्होंने इसे आलम्बनभेद से दो प्रकार का माना— १. नीचपुरुषगत एवं २. उत्तमपुरुषगत। इनमें से प्रथम की उत्पत्ति गाली-गलौज, तिरस्कार, रोग, अभीष्ट की अप्राप्ति आदि से होती है व उत्तम पुरुष में होने वाली निर्वेद रूप मनोदशा 'अवज्ञा' से होती है। अर्थात् नीच पुरुष को गाली आदि देने से जो कष्ट होता है, वैसा ही कष्ट उत्तम पुरुष को साधारण अवमानना से होता है और मनोदशा की यही अवस्था 'निर्वेद' है—

'नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिक्षेपव्याधिताडनदारिद्र्येष्टविरहपरसम्पद्दर्शनादिभिः उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या रोदनदीर्घश्वास—दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः'[२]।

इस प्रकार पण्डितराज ने 'निर्वेद' के दो रूपों की व्याख्या कर उसके स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डाला है।

सञ्चारी-भावों की संख्या–

रससंख्या के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों की मान्यताओं में मतभेद के फलस्वरूप स्थायी व सञ्चारी भावों की संख्या के विषय में भी कई मत प्रस्तुत

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १४३-४४।

२. तत्रैव, पृ. ३६१।

किए गए। आचार्य भरत ने आठ रस व तैंतीस सञ्चारी भावों को स्वीकार किया था। अभिनव ने नवें शान्त-रस को मान्यता प्रदान की। फलतः उत्तरवर्ती मम्मटादि आचार्यों ने भी नवें रस के रूप में शान्त को मान्यता प्रदान की। परन्तु भोज, नाट्यदर्पणकार, भानुदत्त आदि आचार्यों ने अनेक नवीन रसों की कल्पना की जिसके फलस्वरूप प्रेयान्, उदात्त, उद्धत, स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग, संगम, माया, कार्पण्य, व्रीडनक, ब्राह्म, लौल्य, सुख, दुःख आदि रसों की उद्भावना हुई। विश्वनाथ ने वात्सल्य को मान्यता दी व रूपगोस्वामी आदि आचार्यों ने भक्ति को रस के रूप में प्रतिष्ठित किया। रसों की संख्या में इतने अधिक नामों के जुड़ जाने से इनके स्थायी भावों के रूप में या तो पृथक् भावों की कल्पना की गई या सञ्चारी भावों में परिगणित भावों को स्थायी की कोटि प्रदान की गई। नए सञ्चारी भावों की भी उद्भावना हुई।

परन्तु इस विषय में पण्डितराज की प्रतिभा नानाविध मौलिक समीक्षाएँ प्रस्तुत करने पर भी भरत-विरोधिनी नहीं है। उन्होंने नाट्याचार्य के प्रति अपना आदर प्रदर्शित करते हुए उनके द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर ही अपना 'रस' व 'भाव' विषयक विवेचन प्रस्तुत किया। 'भक्तिरस' को उनका मौन समर्थन प्राप्त है; परन्तु भरत मुनि के वचनों में आस्था के कारण उन्होंने इसे देवादिविषयक भाव के ही अन्तर्गत परिगणित किया[१]। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि साहित्यशास्त्र में रस-भावादि के विषय में भरत मुनि के वचनों को प्रमाण मानने के कारण स्वतन्त्रता के लिए स्थान नहीं। ऐसी प्रमाण-व्यवस्था न मानने पर तो सकल साहित्यशास्त्र ही उलट जाएगा।[२]

यही दृष्टि उन्होंने सञ्चारी भावों के परिगणन के सम्बन्ध में भी रखी। उन्होंने तैंतीस सञ्चारी भावों को ही माना है। यद्यपि उनका कथन है कि काव्य में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कौतूहल, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता आदि भाव दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इन सबका अन्तर्भाव उपर्युक्त तैंतीसों भावों में ही हो जाता है। उदाहरणार्थ मात्सर्य असूया में, उद्वेग त्रास में, दम्भ अवहित्था में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक और निर्णय मति में; क्लैव्य दैन्य में, क्षमा धृति में, कौतूहल व उत्कण्ठा

---

१. भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. १९१।)

२. भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात् अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्। न स्यात् वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम्, इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात्। (तत्रैव, पृ. १९२।)

औत्सुक्य में, विनय लज्जा में, संशय तर्क में और धृष्टता चपलता में समाविष्ट हो जाती है। उनका यह भी मत है कि इन अन्तर्भूत भावों में परस्पर सूक्ष्म भेद रहने पर भी एक भाव दूसरे के साथ नान्तरीयक रूप से रहता है। फलतः उन्हें दो भावों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार पण्डितराज की रस-भावसम्बन्धिनी दृष्टि भरत मुनि की मर्यादाओं का अनुपालन करने वाली है।

पण्डितराज का भावविषयक यह समग्र विवेचन संस्कृत साहित्य के एतद् विषयक विवेचनों में सर्वाधिक व्यवस्थित, स्पष्ट, मौलिक व पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें नैयायिक शैली का आश्रय लेकर भावविषयक सूक्ष्म से सूक्ष्म तथ्यों को आलोचना-निकष पर परीक्षित करते हुए उसके परिष्कृत रूप को प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ 'भावलक्षण' प्रस्तुत करते हुए उससे सम्बद्ध विभिन्न पक्षों को पूर्वपक्ष के रूप में कल्पित कर उनका सयुक्तिक खण्डन किया गया है, तदनन्तर स्वकीय मत व्यक्त किया गया है। इससे उनके पाण्डित्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है; जिसके बल पर उन्होंने लक्षण में एक-एक पद के निवेश की सयुक्तिक व्याख्या की। पुनः भावों के व्यंजकत्व, भावादिध्वनियों के प्रभेदों, भावों के स्वरूपनिरूपण, भावध्वनि की स्वतन्त्र-सत्ता, भावों की चित्तवृत्तिरूपता आदि के सम्बन्ध में अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचना से उन्होंने समग्र विवेचन को निस्सन्देह पण्डितजनानुसेवी बना दिया है।

गुण-विवेचन

गुणविवेचन के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने सिद्धान्तपक्ष में ध्वनि सिद्धान्तानुसार गुणत्रयवाद प्रस्तुत किया है एवं साथ ही विषय को स्पष्टतः समीक्षित करने की दृष्टि से वामनसम्मत सभी विंशति गुणों का पूर्वपक्ष के रूप में सोदाहरण विवेचन किया है। उन्होंने ध्वनिमत में मान्य माधुर्य, ओज व प्रसाद इन तीन गुणों में वामन द्वारा मान्य सभी बीस गुणों का सयुक्तिक अन्तर्भाव भी दिखलाया है व अन्त में निष्कर्ष रूप में मम्मट का मत प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार पण्डितराज ने गुणवाद की ध्वनिसम्मत मान्यताओं का स्वकीय सिद्धान्तपक्ष के रूप में उपस्थापन किया एवं गुण-निरूपण से सम्बद्ध विविध पक्षों का सविस्तार विवेचन किया है। इन विविध पक्षों को व्याख्यायित करने के क्रम में उन्होंने पूर्वाचार्यों की मान्यताओं का पिष्टपेषण ही नहीं किया है, वरन् जिन स्थलों पर वे उनकी मान्यताओं से सहमत नहीं हो सके हैं, उनका

उन्होंने विधिवत् विश्लेषण किया है। इस सम्बन्ध में गुणों की रसधर्मता का प्रसङ्ग सर्वप्रथम दर्शनीय है।

पण्डितराज से पूर्व गुणों की रसधर्मता व शब्दार्थधर्मता विषयक विवेचन से सम्बन्धित दो प्रमुख मान्यताएँ प्राप्त होती हैं। इनमें एक मान्यता दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों की है व दूसरी ध्वनिवादी आनन्दवर्धन एवं मम्मट की है। प्राचीन आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म नहीं; अपितु शब्दार्थ का धर्म मानकर उसकी व्याख्या की है। वामन इनमें मुख्य हैं। वे काव्य की आत्मा 'रस' को नहीं; अपितु 'रीति' को मानते हैं, जो 'गुणविशिष्ट पदरचना' है।[१] अतः उनके अनुसार गुण रस के धर्म न रहकर पद-रचना के धर्म बन जाते हैं—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः

ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओज-प्रसादादयः। न यमकोपमादयः'।[२]

इसके विपरीत ध्वनिवादी आनन्दवर्धन व मम्मट की मान्यता है कि काव्य के आत्मभूत रसादिरूप ध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण होते हैं और अलङ्कार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ के धर्म होते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥[३]
ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[४]

पण्डितराजीय मत

इन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में पण्डितराज की दृष्टि भी समवलोकनीय है। ध्वनिवादी आचार्य होते हुए भी पण्डितराज को गुणों की रसधर्मता मान्य नहीं है। वे किसी प्रमाण के अभाव में प्राचीन आचार्यों की रसधर्मता विषयक मान्यता को स्वीकार करने के पक्षधर नहीं हैं। उनका तर्क है कि यदि रसों का आस्वादन होने में चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होने से यह

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १।२।६-८।)

२. तत्रैव, ३।१।१।

३. ध्वन्यालोक, २।६।

४. काव्यप्रकाश ८।६६।

कहा जाता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, तो यह मत भी मान्य नहीं है। कारण-धर्म तथा कार्य दोनों का अनुभव हमें पृथक्-पृथक् होना चाहिए। अग्नि का धर्म है, उष्णता तथा कार्य है, दाहादि, किसी पदार्थ को जलाना। दोनों का अग्नि से भिन्न एवं पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। यह बात रसगुणों के सम्बन्ध में नहीं दिखाई देती। रस का कार्य है, चित्त की द्रुति, विस्तार या विकासात्मक अवस्था। इससे भिन्न अन्य कुछ भी रसगत धर्म के रूप में हमें परिलक्षित नहीं होता—

येऽमी माधुर्यौजप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्ताः, तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेत् न, दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथाभिन्नतयाऽनुभवः, तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्।[१]

यदि रसमात्रधर्मवादी यह तर्क देते हैं कि चित्त की द्रुति, विकास आदि विभिन्न अवस्थाओं का कारण केवल रसों को न मानकर गुणविशिष्ट रसों को माना जा सकता है और तब 'कारणतावच्छेदक' अर्थात् कारण में रहने वाले धर्म विशेष के रूप में गुणों का अनुमान हो सकेगा; तो पण्डितराज इस गुणविशिष्टतावाद को भी नहीं मानते। उनका तर्क है कि यह मत स्वीकार करने पर लाघव की अपेक्षा गौरव ही बढ़ेगा। शृङ्गाररस माधुर्यगुण विशिष्ट है, अतः चित्त को द्रवित करता है, इसकी अपेक्षा यह कहना ज्यादा उचित है कि 'रस' सीधे चित्त को द्रवित करता है—

'तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात् कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत् (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्'[२]।

इस पर यदि रसमात्रधर्मवादी यह कहते हैं कि उपर्युक्त मान्यता स्वीकार करने पर तो शृङ्गार द्रुति का कारण है, करुण द्रुति का कारण है, आदि करके नौ कार्यकारणभाव स्वीकार करने पड़ेंगें, जब कि गुणविशिष्टतावाद में द्रुति के प्रति माधुर्यगुण युक्त रस कारण है, दीप्ति के प्रति ओजगुण युक्त रस कारण है व विकास के प्रति प्रसादगुण युक्त रस कारण है— ये तीन कारण मानने पड़ेंगें। पण्डितराज इस धारणा के खण्डनार्थ भी समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनका तर्क है कि मम्मट ने शृङ्गारादिक त्रिक में क्रमशः माधुर्य का, वीरादित्रय में

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२३-२४।

२. तत्रैव, पृ. २२४।

क्रमश: ओज का व अद्भुतादि त्रिक में क्रमश: प्रसाद का आधिक्य माना है और तदनुसार द्रुति, अतिद्रुति, दीप्ति, अतिदीप्ति इत्यादि रूप से तारतम्य माना है। अत: श्रृङ्गाररस माधुर्य—गुणविशिष्ट है; अत: चित्त को द्रवित करता है, करुणरस उससे अधिक माधुर्यगुणयुक्त है; अत: श्रृङ्गार की अपेक्षा चित्त को अधिक द्रवित करता है। इस गुणविशिष्टवाद को मानने पर इनके कारणभूत गुणों में भी तारतम्य मानना पड़ेगा और तब और अधिक गौरवदोष होगा। अत: पण्डितराज के अनुसार तो यही उचित है कि रसों को स्वतन्त्र रूप से द्रुति का कारण माना जाय।[१]

पण्डितराज की दार्शनिक चेतना भी गुणों की रसधर्मता स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि अद्वैतवेदान्त की है, जिसके अनुसार आनन्द आत्मा का स्वरूप है, गुण नहीं। आत्मा तो निर्गुण है। अत: रस को 'आत्मानन्द' मानने वाले पण्डितराज द्वारा माधुर्यादि को निर्गुण 'रस' रूप आत्मा के गुण कहना व नित्यधर्म मानना कैसे सम्भव है?

'किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्'[२]।

यदि यह कहा जाय कि 'गुण रस के धर्म हैं', इस उक्ति का यह तात्पर्य है कि गुण रस के उपाधिभूत रत्यादि स्थायीभावों के धर्म हैं, तो यह मत भी दार्शनिक पण्डितराज को मान्य नहीं है। कारण, प्रथम तो वे इसमें किसी प्रमाण को नहीं देखते, दूसरे काव्यप्रकाशकारादि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार वे इस सिद्धान्त से सहमत हैं कि रत्यादि चित्तवृत्तियाँ स्वयं सुख-दु:खात्मक होती हैं, अत: वे स्वयं गुणरूप हैं। इस स्थिति में माधुर्यादि को गुणरूप रत्यादियों का धर्म कैसे कहा जा सकता है? गुण किसी द्रव्य या पदार्थ के धर्म होते हैं, स्वयं गुण के नहीं। अत: उनकी दृष्टि में माधुर्यादि को रत्यादि का भी गुण मानना असंगत है—

'एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्। पररीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च'।[३]

---

१. श्रृङ्गारकरुणशान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरतरादिगुणानां पृथक् द्रुततरत्वादिकार्य तारतम्यप्रयोजकतयाऽभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारणताया गडुभूतत्वात्। इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२५)।

२,३. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२६-२७।

इस प्रकार पण्डितराज की विवेचनानुसार माधुर्यादि गुण न तो वामनादि के समान शब्द और अर्थ के गुण हैं और न मम्मटादि के समान मात्र रस के या अन्यान्य आलोचकों के अनुसार 'रस' के उपाधिभूत रत्यादि स्थायी भावों के। उन्होंने गुणों का निरूपण सर्वथा मौलिक दृष्टि से किया है। उनके अनुसार गुण का स्वरूप है—'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता'।[१] अर्थात् गुण वह शक्ति है, जो चित्त को द्रुत, विस्तृत और विकसित कर देती है और चित्तवृत्तियों को द्रुत, विस्तृत व विकसित करने की यह क्षमता मात्र रस में नहीं; अपितु शब्द, अर्थ, रचना सभी में रहती है, अत: गुण केवल रसगत धर्म नहीं, शब्दगत, अर्थगत और रचनागत भी हैं।[२]

'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व' के रूप में गुणों का स्वरूप निर्धारित करने के क्रम में पण्डितराज अपनी नैयायिक शैली में उसका स्वरूपनिरूपण इस प्रकार करते हैं—

'तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु'[३]।

अर्थात् द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व; चित्त को द्रुत, विकसित व विस्तृत करने का कारण होना ही माधुर्यादि गुण है अथवा प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं अर्थात् उक्त चित्तवृत्तियाँ जब रसादि के साथ उभारने का प्रयोजकत्व सम्बन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्यादि गुण कहते हैं। द्वितीय परिष्कार में पण्डितराज प्रयोजकत्व को सम्बन्धकोटि तक ले आते हैं। प्रयोजकत्व एक सम्बन्ध है, सम्बन्धकोटि में प्रविष्ट पदार्थों का ज्ञान स्वरूपत: होता है। अत: द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व को नैयायिक पदावली में प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा जाएगा—'प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं'।

पण्डितराज के अनुसार यह प्रयोजकता सामान्य प्रयोजकता नहीं; अपितु विशिष्ट है। कारण नैयायिक मान्यतानुसार धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि संसार के समस्त कार्यों के प्रयोजक माने जाते हैं। अत: द्रुत्यादि की प्रयोजकता उनमें भी आ जाएगी और तब अदृष्टादि में भी उस प्रयोजकत्व के होने के कारण 'अदृष्ट मधुर है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा। इस अतिव्याप्ति

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२७

२. प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्। अतो न व्यवहारातिप्रसक्ति:। तत्रैव, पृ. २२८।

३. तत्रैव, पृ. २२७-२८।

के निवारण के लिए ही पण्डितराज रस में रहने वाली द्रुत्यादिप्रयोजकता को अदृष्टादि से विलक्षण मानते हैं, जो शब्द, अर्थ और रचना इन सब में रहती हैं—

'प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः'[१]।

पण्डितराज का यह स्वरूप-निरूपण व्यवहार की कसौटी पर भी खरा उतरता है। प्रायः यह शंका होती है कि 'मधुरः रसः', 'शृङ्गारः मधुरः', 'मधुरः शब्दः' इत्यादि व्यवहार कैसे प्रयुक्त होते हैं? मम्मट ने इन व्यवहारों को लाक्षणिक माना था। वे गुणों को मुख्यतः रस के धर्म मानते हैं; परन्तु गौणीवृत्ति से वे शब्दार्थ के भी धर्म हैं; ऐसी उनकी मान्यता है—'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'[२]। पण्डितराज ने अपनी दार्शनिक चेतना के कारण गुणों को रस का ही धर्म नहीं माना; बल्कि 'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व' के रूप में उनकी व्याख्या कर गुणों का सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रस व रचना सबके साथ स्थापित कर दिया। इसके प्रमाण रूप में उन्होंने वाजिगन्धा (अश्वगन्ध) का दृष्टान्त दिया। उनका कहना है कि अश्वगन्ध को लोग उष्ण कहते हैं; परन्तु वह स्पर्श में उष्ण नहीं होती, प्रयोग करने पर व्यक्ति पर उष्णप्रभाव छोड़ती है। फलतः 'अश्वगन्ध' उष्ण है, यह व्यवहार होता है। इसी प्रकार शब्द, अर्थ, रस व रचना स्वयं मधुर नहीं होते, सहृदय सामाजिक के मन पर मधुर प्रभाव डालते हैं। इसी प्रकार द्रुति आदि चित्त की प्रयोजकता के कारण होते हैं, अतः प्रयोजकता सम्बन्ध से मधुर कहे जाते हैं।[३]

गुणों की व्यञ्जकता–

'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व' के रूप में गुणों का स्वरूप निरूपण करके पण्डितराज ने गुणों का सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रस व रचना सभी के साथ स्थापित कर दिया। फलतः उनके अनुसार वर्ण एवं रचना स्वयं स्वतन्त्र रूप से गुणों के अभिव्यञ्जक हैं, उसके लिए गुणों की रसधर्मता या रसाभिव्यञ्जन की अनिवार्य मध्यस्थता उन्हें मान्य नहीं—

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च।[४]

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२७-२८। २. काव्यप्रकाश ८।७१।
३. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. २२७। ४. तत्रैव, पृ. ४०२।

इस पर यदि कोई यह कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुणों के आश्रय रसादि को भी मध्यस्थ रूप में व्यञ्जक मानना ही पड़ेगा; क्योंकि जो गुणी (आश्रयभूत रस) का व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक नहीं हो सकता, अर्थात् गुणों के आश्रयों की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। पण्डितराज इस मान्यता का भी सयुक्तिक खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि गुणी की अभिव्यक्ति के बिना गुणों का अभिव्यञ्जन नहीं हो सकता, ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि यह नियम माना जाएगा तो घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय व श्रोत्रेन्द्रिय में व्यभिचार आ जायेगा, कारण घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के बिना ही गन्ध की अभिव्यक्ति कर देती है। श्रोत्रेन्द्रिय को शब्द की अभिव्यक्ति हेतु आकाश की अपेक्षा नहीं होती। रसनेन्द्रिय रस मात्र की अभिव्यक्ति करती है, जल की नहीं। अतः गुणी रस की अभिव्यक्ति के बिना भी शब्द, अर्थ, वर्ण व रचना गुणों की अभिव्यक्ति करते हैं, अतः गुणों की रसमात्रधर्मता मान्य नहीं—

'न हि गुणाभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रियत्रये व्यभिचारात्'[१]।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार वर्ण एवं रचना स्वतन्त्र रूप से गुणों के अभिव्यञ्जक हैं, रस के माध्यम से नहीं; किन्तु किसी स्थल विशेष में जहाँ मधुर रस के साथ मधुर रीति भी हो, वहाँ गहन रसास्वादन या चित्त का विगलन हो सकेगा। अतः निष्कर्षभूत तत्त्व यह है कि गुण रसों के साथ या विलग, परस्परोपश्लेष या औदासीन्य दोनों प्रकार से वर्ण, शब्द, रचनादि से अभिव्यंजित होते हैं।[२]

गुणों की शब्दार्थ-रस-रचनाधर्मता के सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण के पश्चात् पण्डितराज ने त्रिविध गुणों के व्यञ्जक वर्णों का निरूपण करते हुए इनमें वर्जनीय वर्णों का भी सविस्तार वर्णन कर विषय को पूर्णता प्रदान की है।[३]

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ४०३।

२. इत्थं च स्वस्वव्यञ्जकोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नव्याः।

तत्रैव, पृ. ४०३।

३. तत्रैव, पृ. २५५-२८६।

गुण सम्बन्धी पण्डितराज का यह समस्त विवेचन प्रौढ़ पाण्डित्य व मौलिकता का सुन्दर निदर्शन है। 'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व' के रूप में गुणों का स्वरूप निरूपण करने की उनकी सर्वथा मौलिक मान्यता तर्कसंगत भी है। सभी सहृदयों का अनुभव इस सत्य का प्रत्यक्ष साक्षी है कि भाषा लालित्य, शब्दमाधुरी, सानुप्रासिक पदावली हृदय को स्पष्टत: प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ रीतिकालीन रचना या ब्रज-भाषा की कविता में जो अनोखी मिठास होती है या बंगला गीतों में जो मधुरता होती है, उससे व्यक्ति अर्थ समझे बिना ही आकृष्ट हो जाता है, जो रसानुभूति के अतिरिक्त वर्णमाधुरी या भाषा-लालित्य के स्वतन्त्र प्रभाव का सूचक है। इसी प्रकार जयदेव के गीतगोविन्द, शङ्कराचार्य की स्तुतिलहरियों को सुनते ही मन झूम जाता है, तो हठात् यही उक्ति स्मरण हो आती है—

अविदितगुणाऽपि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलाऽपि हि दृशं हरति मालतीमाला॥

यही नहीं माधुर्य, ओज या प्रसाद व्यञ्जक वर्णों को सुनकर ही चित्त में तत्-तद् प्रभाव उत्पन्न हो जाते हैं। फलत: पण्डितराज की यह मान्यता कि चित्त को द्रुत, विस्तृत व विकसित करने की सामर्थ्य रस के अतिरिक्त भाषा, वर्ण, शब्द, अर्थ, रचना सब में होती है; सर्वाधिक तथ्यसम्मत व मान्य है।

ध्वनि

काव्य की आत्मा के रूप में सुप्रतिष्ठित, सहृदयश्लाघ्य, परम रमणीय ध्वनितत्त्व अपनी प्रतिष्ठा के काल से ही काव्याचार्यों एवं काव्यमर्मज्ञों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। सहृदय श्रोताओं को जहाँ इसकी रमणीयता ने लुभाया, वहीं अनेकानेक काव्याचार्यों को इसने इसी रमणीयता के बल पर स्वसिद्धान्त के प्रस्थापन, सुदृढ़ीकरण, समर्थन व सौन्दर्योद्‌घाटन हेतु प्रेरित किया। कुछ आचार्य इसकी चमत्कृति से आक्रान्त हो विरोध में स्व-स्व सिद्धान्त लेकर उपस्थित हुए; किन्तु इस तत्त्व का यह लावण्य था, इसकी हृदयाह्लादन क्षमता थी एवं आकर्षणक्षुरिका का प्रभाव ही था, जिसने समस्त प्रतिपक्षी आचार्यों व ध्वनिविरोधियों को धूलिसात् कर इसकी विजय-पताका फहरा दी। अभिनवगुप्त, मम्मट, भोज, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, पण्डितराजजगन्नाथादि अनेकानेक आचार्यों के प्रतिपादनों से यह सिद्धान्त अपना परिष्कृत व व्यवस्थित रूप पाकर सहृदयजगत् के समक्ष सतत विलसित होता रहा। ध्वनिसिद्धान्त के समर्थक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में ध्वनि के स्वरूप एवं इसके नानाविध प्रभेदों का सविस्तार निरूपण किया है। पण्डितराज भी इससे

पराङ्मुख नहीं। रसगङ्गाधर में उन्होंने ध्वनि के विविध प्रभेदों का सविस्तार निरूपण किया है, विविध प्रसङ्गों में अपनी मौलिक समीक्षा प्रदर्शित की है एवं अपने गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है। समस्त प्रसङ्ग अत्यन्तविस्तृत है, तथापि सङ्क्षेपत: उनके मत के निदर्शनार्थ प्रस्तुत है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[१]

इस आनन्दवर्धनोक्ति में आस्था रखकर 'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्'[२] जहाँ शब्द व अर्थ अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारजनक प्रधान अर्थ को व्यक्त करें, वह 'ध्वनि' है। इस मान्यता को व्यक्त करने वाले पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के प्रथम एवं द्वितीय दोनों आननों में ध्वनि के विभिन्न प्रभेदों का सविस्तार निरूपण किया है।

ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार प्रथमत: ध्वनि के दो भेद हैं—१. अभिधामूल ध्वनि एवं २. लक्षणामूल ध्वनि। जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति के मूल में अभिधाशक्ति मुख्य भूमिका निभाती है, वहाँ अभिधामूल ध्वनि की स्थिति होती है एवं जहाँ यह दायित्व लक्षणा का होता है, वहाँ लक्षणामूल ध्वनि की स्थिति होती है। इसे ही मम्मट ने अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का नाम दिया[३]। इनमें अभिधामूल या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य व असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये दो भेद होते हैं[४]। असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि रसभावादि रूप होती है[५]; जब कि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव व उभयशक्त्युद्भव ये तीन भेद होते हैं।

लक्षणामूल या अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित होकर लक्ष्यार्थ की प्रतीति करा कर तब व्यंग्यार्थ का बोध कराता है। चूँकि इसमें वाच्यार्थ में वक्ता की विवक्षा नहीं होती, वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है या वाच्यार्थ का पूर्ण तिरस्कार होता है एवं लक्ष्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्य

---

१. ध्वन्यालोक, १/४। २. रसगङ्गाधर, प्रथमानन १/२।

३. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।।
विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु स:। (काव्यप्रकाश ४/२४,२५)

४. कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम: पर:। (काव्यप्रकाश ४/२५)

५. रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम:।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थित:।। (तत्रैव ४/२६)

की रमणीयता का आस्वादन होता है, इसी कारण इसे अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनि की संज्ञा दी जाती है। इसके भी दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य[१]। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के प्रथमानन में इन सभी ध्वनिप्रकारों को वर्गीकृत किया है[२]।

अभिधामूल ध्वनि

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का पूर्वापरक्रम संलक्षित नहीं होता, कब वाच्यार्थ की प्रतीति हुई व कब व्यङ्ग्यार्थबोध हुआ, इसका अनुभव पाठक या श्रोता को हो नहीं पाता, शतपत्रभेदनन्याय की भाँति झटिति रसबोध होने लगता है, उसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिभेद का नाम दिया गया है। इसके अनेक भेद सम्भव हैं, पर आचार्यों ने इसे एक प्रकार के रूप में माना है—'रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते'। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता इसी के अन्तर्गत परिगणित हैं।

रसगङ्गाधर के प्रथमानन में पण्डितराज ने इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के नाना प्रभेदों का सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने नवों रसों, इन रसों के व्यञ्जक विभावानुभाव, सञ्चारी भावों एवं मूल उत्स स्थायीभावों का सविस्तार निरूपण किया है साथ ही रसाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, वर्णरचनादि की रसाभिव्यञ्जकता आदि का सोदाहरण निरूपण कर विषयविवेचन को पूर्णता प्रदान की है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि जैसा कि नाम से स्पष्ट है, उसमें वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम लक्षित रहता है[३]। पण्डितराज ने इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के दो प्रभेद माने हैं—१. शब्दशक्तिमूल ध्वनि एवं २. अर्थशक्तिमूल ध्वनि। इसमें शब्दशक्तिमूल ध्वनि के पुनः दो भेद होते हैं—

---

१. काव्यप्रकाश ४/२४।

२. तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासङ्ख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते। द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधः रसवस्त्वलङ्कारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरित्य-संलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानां ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च।

(रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ८५,८६)

३. कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः।। (काव्यप्रकाश ४/२५)

१. शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि एवं २. शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि। द्वितीय अर्थशक्तिमूल ध्वनि का भेदनिरूपण करते हुए उनका कथन है कि काव्य के अर्थ दो प्रकार के होते हैं—१. वस्तुरूप एवं २. अलङ्काररूप। ये दोनों अर्थ लोकसिद्ध अर्थात् स्वतःसम्भवी व कविप्रतिभा से निष्पन्न अर्थात् कवि प्रौढोक्ति सिद्ध हुआ करते हैं। अतः व्यञ्जक अर्थ चार प्रकार के होंगें। पुनः इन चारों अर्थों से कहीं वस्तुरूप और कहीं अलङ्काररूप अर्थ व्यङ्ग्य होगा। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के आठ प्रभेद हुए—१. स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि २. स्वतःसम्भवी वस्तु से अलङ्कारध्वनि ३. स्वतःसम्भवी अलङ्कार से वस्तुध्वनि ४. स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि ५. कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि ६. कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कारध्वनि ७. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तुध्वनि व ८. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि[1]।

इस सम्बन्ध में ध्वनिमतानुयायी आचार्यों की मान्यताएँ भी समीक्षणीय हैं। आचार्य मम्मट ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद माने हैं। उनका कथन है कि व्यञ्जक अर्थ तीन प्रकार का होता है—१. स्वतःसम्भवी २. कविप्रौढोक्ति सिद्ध एवं ३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। ये तीनों वस्तु व अलङ्कार रूप होने से कुल छह प्रकार के हुए। पुनः इन छहों अर्थों से कहीं वस्तुरूप और कहीं अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ अभिव्यक्त होगा, अतः कुल बारह भेद होंगें।

आचार्य मम्मट की इस मान्यता के परिप्रेक्ष्य में पण्डितराज का वक्तव्य है कि चाहे अर्थ कविप्रतिभाप्रसूत या कविनिबद्धवक्ता की प्रतिभा से प्रसूत हो, दोनों प्रतिभा निवर्तित ही हैं। ऐसी स्थिति में इसे एक ही प्रकार का माना जाय। इनकी अलग-अलग गणना करना उचित नहीं। यदि कविनिबद्धप्रौढोक्ति व कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति की गणना अलग-अलग करते हैं, तो कविनिबद्धवक्तृनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति की गणना भी अलग की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ नैषधीयचरित में श्रीहर्ष कवि हैं और नल कविनिबद्ध वक्ता हैं। नल

१. स च तावद् द्विविधः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। तत्राद्यो द्विविधः व्यङ्ग्यस्य वस्तुत्वालंकारत्वाभ्यां द्वैविध्यात्। द्वितीयोऽपि वस्त्वलंकारात्मना लोकसिद्धेन तथा भूतेनैव प्रतिभामात्रनिवर्तितेन च व्यञ्जकेनार्थेन चतुर्विधेन वस्त्वलङ्कारात्मनो द्विविधस्य व्यङ्ग्यस्य प्रत्येकं व्यञ्जनादष्टमूर्तिः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. २)

२. अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवीस्वतः।।
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेः तेनोम्भितस्य वा।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत्।।
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः। (काव्यप्रकाश ४/३९,४०)

द्वारा दमयन्ती के पास भेजा गया हंस कविनिबद्धवक्तृनिबद्धवक्ता है। अत: उसकी उक्ति की पृथक् गणना करनी चाहिए। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के सोलह भेद हो जाएगें।. यदि यह कहा जाय कि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति एवं कविनिबद्धवक्तृनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति इन दोनों में कविप्रौढोक्ति ही है, नल भी कविनिबद्ध है और हंस भी; अत: कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति में कविनिबद्ध-वक्तृनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति आ जाएगी, इनकी पृथक् गणना उचित नहीं।

इस सन्दर्भ में पण्डितराज का मत है कि ऐसी स्थिति में प्रथमत: जो कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति है, उसकी पृथक् गणना करना उचित नहीं, कारण वह भी कविप्रौढोक्ति ही है। लोकोत्तर वर्णनानिपुण को कवि कहते हैं। यह लोकोत्तर वर्णनानिपुणत्व रूप कवित्व कवि में भी है व कविनिबद्ध वक्ता में भी। अत: कवि प्रौढोक्ति में ही कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति रूप अर्थ भी गतार्थ हो जाएगा[1]। इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के आठ भेद हैं।

पण्डितराज की यह मान्यता यूँ तो तर्कसम्मत प्रतीत होती है, तथापि कुछ समालोचकों का मत है कि कवि की अपेक्षा नायक अधिक रागाविष्ट होता है। अत: कवि की उक्ति व कविनिबद्ध वक्ता की उक्ति में भेद प्रतीत होता है। इस भेद को नागेशभट्ट ने 'गुरुमर्मप्रकाश' में इस प्रकार व्यक्त किया है कि प्रौढ व्यक्ति के भाषण व शिशु के मधुरवचन में जो अन्तर होता है, वही अन्तर कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति व कविप्रौढोक्ति में होता है। इससे एक चरण आगे बढ़ने पर अर्थात् कविनिबद्धवक्तृनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति में अत्यन्त अवधानता अपेक्षित होगी, जिसके कारण विगलितवेद्यान्तरता नहीं रह जाएगी, चमत्कारानुभूति मन्द पड़ जाएगी[2]। अत: इस भेद की गणना उचित नहीं।

वस्तुत: इन दोनों ही सिद्धान्तों का मूल ध्वनिकारिका है। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में कारिका आगत है—

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीरः सम्भवीस्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः[3]॥

---

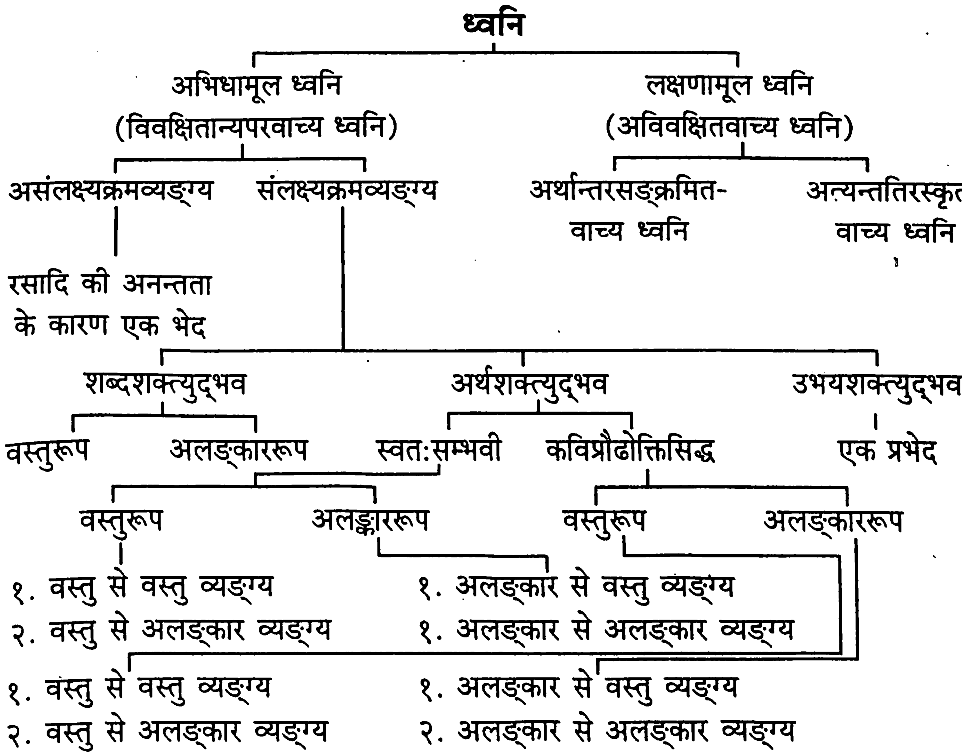
१. प्रतिभानिर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवितदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः। न च तस्यापि कव्युम्भितत्वानपायात्तत्प्रयोज्यभेदान्तर्गतत्वमेवेति वाच्यम्, प्रथमोम्भितस्यापि लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वलक्षणकवित्वानपायात् पृथग्भेदप्रयोजकतानुपपत्तेः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ३)

२. वृद्धोक्तिविषयाच्छिशूक्तिविषय इव कव्युक्तिविषयात्कविनिबद्धोक्तिविषये चमत्काराधिक्यानुभविकत्वात् पृथगुक्तिः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, गुरुमर्मप्रकाश पृ. १३५)

३. ध्वन्यालोक २/२४।

सम्भवत: इस कारिका को आधार बनाकर पण्डितराज ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के व्यञ्जक अर्थ को दो प्रकार का माना है। परन्तु इसी कारिका की वृत्ति में 'अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ, कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतःसम्भवी च द्वितीयः'[1], ऐसा लिखा है तथा कविप्रौढोक्ति एवं कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के उदाहरण पृथक्-पृथक् दिए गए हैं। इस वृत्त्यंश तथा इस पर अभिनवगुप्त-पादाचार्य की 'अधुनाऽस्य प्रभेदनिरूपणं करोति प्रौढोक्तीत्यादिना। योऽर्थान्तरस्य दीपकोऽर्थ उक्तः, सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः, सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपि शब्दस्यार्थः। प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह कवेरिति। तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति'[2]। इस लोचनोक्ति को आधार बनाकर मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के व्यञ्जक अर्थ को मूलत: तीन प्रकार का माना है, जिससे ध्वनि के बारह भेद हो जाते हैं।

पण्डितराज की दृष्टि से इन समस्त ध्वनि भेदों को हम निम्नलिखित रूप में तालिकाबद्ध कर प्रस्तुत कर सकते हैं—



---

१. ध्वन्यालोक २/२४ वृत्त्यंश; २. ध्वन्यालोकलोचन, २/२४ लोचनांश।

इस प्रकार कुल ध्वनिभेद होंगे—

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अभिधामूल रसादिध्वनि	१ भेद
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अभिधामूल ध्वनि	११ भेद
	योग १२ भेद
शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि	२ भेद
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि	८ भेद
उभयशक्त्युद्भव ध्वनि	१ भेद
	योग ११ भेद
लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य ध्वनि	२ भेद
अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि	१ भेद
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि	१ भेद
	योग २ भेद
	कुल योग १२ + २ = १४ भेद

पण्डितराज सम्मत तालिकागत उपर्युक्त विवेचन ध्वनिसम्प्रदाय की मान्यताओं के आलोक में ही दर्शनीय है। पण्डितराज की स्वकीय मान्यता तो रसादिध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता भी माने जाने के पक्ष में ही है। इस प्रसङ्ग को लेकर रसगङ्गाधर में विशद विवेचन भी किया गया है व सङ्गतिनिर्धारण का दायित्व विज्ञ आलोचकों व पाठकों पर डाल दिया गया है। रसादि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माने जाने पर तो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के चार और प्रभेद बढ़ने पर कुल बारह प्रभेद तथा समस्त् १८ प्रभेद होते, लेकिन सम्भवत: किसी सुनिश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच पाने की स्थिति में उन्होंने इस सन्दर्भ में अपनी मान्यता तो व्यक्त कर दी; लेकिन सङ्गति निर्धारण का कार्य साहित्यशास्त्रविशारदों पर डाल दिया।

रसगङ्गाधर में प्रतिपादित ध्वनिविषयक इस समग्र सिद्धान्त पक्ष का अवलोकन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के प्रति प्रेरित करता है कि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में ध्वनि के मूलप्रासाद की आन्तरिक सुषमा को यथावत् बनाए रखते हुए उसे अधिक अलङ्कृत, परिष्कृत व सुरम्य बनाने का कार्य किया है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्तादि आचार्यों के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखते हुए भी उनकी समीक्षा दृष्टि अन्धानुकरण की अभ्यस्त नहीं है। विभिन्न पक्षों के निरूपण में उन्हें जहाँ उचित प्रतीत हुआ है, उन्होंने

अपनी मौलिक विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं, अपनी प्रतिभा का प्रकर्ष प्रदर्शित किया है एवं अपनी विद्वत्ता की अमिट छाप छोड़ी है। ध्वनिसिद्धान्त के आलोक में ही पण्डितराज की अप्रतिहता, अकुण्ठिता, वैदुष्यपूर्णा लेखनी का संस्पर्श पाकर 'रस' की वेदान्तानुसारिणी दार्शनिक व्याख्या हुई, भावों की चित्तवृत्तिरूपता का विवेचन हुआ, गुणों का सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रस व रचना सबके साथ निर्धारित किया गया। व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार के आधार पर काव्य के चार प्रभेदों को स्वीकृति मिली एवं रसादि ध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता विषयक चर्चा भी उठी। इसके अतिरिक्त अन्यान्य अनेक स्थल हैं, जहाँ पण्डितराजीया शेमुषी अपनी विलक्षण विच्छित्ति प्रदर्शित करने में समर्थ रही है, जिसके साक्षी हैं रसगङ्गाधर का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले शास्त्रानुरागी जन।

रसादिध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता विषयक विवेचन

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने रसादि ध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता के सन्दर्भ में भी अपना सुविचारित मौलिक पक्ष प्रस्तुत किया है। ध्वनिवाद की परम्परागत मान्यता के अनुसार अभिधामूल ध्वनि के दो भेद माने जाते हैं— १. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवं २. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य[१]। इनमें से प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत रसादि ध्वनियों के रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता आदि सभी भेद आ जाते हैं[२]। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत वस्तु और अलङ्कार रूप ध्वनियाँ आती हैं[३]। इनमें असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य के अन्तर्गत परिगणित रसादि ध्वनियों के विषय में ध्वनिवाद की यह प्रचलित मान्यता है कि इनमें काव्यार्थोपस्थिति व भावानुभूति इतनी शीघ्रता से होती है कि वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति का एक क्रम होते हुए भी शीघ्रता के कारण वह दिखाई नहीं देता, अपितु क्रम की अलक्ष्यता होती है। इस कारण इसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा जाता है[४]।

इस विषय में पण्डितराज की मान्यता ध्वनिवाद की परम्परागत मान्यता से हट कर है। उन्होंने रसादिध्वनियों को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही नहीं; अपितु

१. कोप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः। (काव्यप्रकाश ४/२५)

२. रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः।। (तत्रैव ४/२६)

३. अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।। (तत्रैव ४/३७)

४. न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते। (तत्रैव ४/२५ वृत्त्यंश)

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भी माना है। उनका कथन है कि जहाँ प्रकरणादि स्पष्ट होते हैं, वहाँ सहृदय को विभावादि की प्रतीति शीघ्रता से हो जाती है, जिसके कारण वह अतिशीघ्र रसमग्न हो उठता है। इस अनुभूति में विभावादि की प्रतीति कारण रूप है व रसादि की अनुभूति कार्यरूप। इन कारण व कार्यरूप अनुभूतियों का ज्ञान-क्रम होते हुए भी शीघ्रता के कारण अनुभूत नहीं होता, इसी कारण इसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं। यही विगलितवेद्यान्तरता की स्थिति है।

परन्तु जहाँ प्रकरण स्पष्ट नहीं होता या विभावादि की दूरारूढ़ कल्पना करनी होती है, वहाँ अनुभूति देर से होने के कारण रसानुभूति की गति मन्द पड़ जाती है, फलतः रसाह्लाद की, चमत्कृति की अनुभूति भी मन्थर हो उठती है। अतः उनका कथन है कि ऐसे स्थलों में रसादि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही कहना चाहिए[१]। अपनी इस धारणा का उन्होंने सोदाहरण समर्थन भी किया है। उदाहरण इस प्रकार है—

तल्पगतापि च सुतनुः श्वासाङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति[२]॥

यहाँ नवोढ़ा नायिका का चित्रण है। यह नायिका पहले स्वाभाविक लज्जा के कारण प्रियतम के श्वाससम्पर्क को भी सहन नहीं कर पाती थी; परन्तु आज वह वक्षःस्थल पर रखे प्रिय के हाथ को धीरे से हटा रही है। यहाँ वाच्यार्थ बोध के अनन्तर विभावादि की प्रतीति में प्रसङ्ग समझने की आवश्यकता होती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रियगमन की पूर्वरात्रि है। प्रियतम को कल परदेश चले जाना है। फलतः भावी विरह की अनुभूति उसे उद्वेलित किए हुए है। अतः उसके मुग्धात्व में शिथिलता है। इस प्रकार जब हम प्रकरण समझते हैं व उसको प्रियतमसङ्ग के लिए तनिक समुत्सुक पाते हैं, तब रसविह्वल हो जाते हैं। परन्तु रसानुभूति यहाँ क्रमशः होती है। अतः पण्डितराज का मत है कि ऐसे स्थलों में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि ही माननी चाहिए—

'अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यते'[३]।

१. सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटप्रकरणे, झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु सहृदयतमेन प्रमात्रा सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३९२-९३)

२. तत्रैव, पृ. ४५; ३. तत्रैव, पृ. ४७।

पण्डितराज ने अपनी इस मान्यता के समर्थन में आनन्दवर्धनाचार्य व अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत मतों को भी उद्धृत किया है[१]। आनन्दवर्धन ने इस प्रसंग में कालिदास के कुमारसम्भव का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है—

'एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती'॥

इसकी व्याख्या करते हुए उनका वक्तव्य है कि यहाँ लीलाकमल के पत्रों की गणना रूप अर्थ गुणीभूत होकर लज्जा रूप व्यभिचारी भाव को व्यक्त कर रहा है। इस लज्जा रूप अर्थ को व्यक्त करने में कारण शब्द का अभिधादिव्यापार नहीं है, अपितु व्यञ्जना है। यद्यपि यहाँ भावध्वनि है, तथापि सभी भाव अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के ही विषय नहीं होते। अत: जहाँ पर साक्षात् शब्द से निवेदित विभावानुभाव—व्यभिचारियों से रसादि की प्रतीति होती है, वहीं केवल अलक्ष्यक्रमध्वनि का प्रसङ्ग होता है, जैसे कुमारसम्भव में वसन्तवर्णन के प्रसंग में भगवती पार्वती के आगमन का वर्णन करते हुए कालिदास का कथन—'अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्। मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती[२]'; कामदेव का शरसन्धान, भगवान् शिव का धैर्य से विचलित होना व तीनों नेत्रों से उन्हें देखना साक्षात् शब्दत: वर्णित हैं। यहाँ विभावादि शब्द से साक्षात् निवेदित हैं, फलत: झटिति रसप्रतीति होने के कारण असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के विषय बनते हैं, 'एवं वादिनि देवर्षौ' पद में साक्षात् शब्द से लज्जा रूप व्यभिचारी भाव प्रतिपादित नहीं है; अपितु अर्थसामर्थ्य से आक्षिप्त है, अत: यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि का भेद है—

'अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्यैव ध्वनेर्विषय:। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादिप्रतीति:, स तस्य केवलस्य मार्ग: यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसंगे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साच्छाच्छब्द-निवेदितम्। इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीति:। तस्मादयमन्यो ध्वने: प्रकार:'[३]।

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ३९५।
२. कुमारसम्भव, ३/५३।
३. ध्वन्यालोक, २/२२ वृत्त्यंश।

आनन्दवर्धन के इसी वृत्त्यंश पर टीका करते आचार्य अभिनवगुप्त का वक्तव्य है—

'यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति, न वाच्यः कदाचिदपि तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रमः.....। इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयम्; अपितु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोति इति क्रमव्यङ्ग्यतैव'[१]।

यद्यपि रसभावादि अर्थ ध्वन्यमान अर्थात् व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य कभी भी नहीं होते, तो भी सभी असंलक्ष्यक्रम के विषय नहीं होते। जहाँ पर विभावानुभावव्यभिचारी भावों की स्थायी भावों से पूर्ण संयोजना होकर शीघ्र ही रसाभिव्यक्ति होती है, वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता ही रहती है। यहाँ तो कमल-पत्रों की गणना व नीचे मुख करना ये कुमारी स्वभाववश भी हो सकते हैं। इसलिए बिना प्रकरणानुसन्धान किए शीघ्रता से लज्जा की प्रतीति सहृदय-हृदय में नहीं होती; किन्तु उनके जो तपश्चर्यादि वृत्तान्त हैं, उनके स्मरण से लज्जा की अनुभूति होती है। यह लज्जा यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है।

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की इन्हीं मान्यताओं के आलोक में पण्डितराज ने भी रसादि की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता विषयक अपना विवेचन प्रस्तुत किया व प्रमाणरूप से इन्हीं के मन्तव्य को रसगङ्गाधर में इस प्रकार व्यक्त किया—

'कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्योपपत्त्या-मनाग्विलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं व्रीडायाश्चमत्करणाल्लक्ष्य-क्रमोऽयं ध्वनिः इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः। रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव न वाच्यः, तथापि, न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः; इति चाभिनवगुप्तपादाचार्याः'[२]।

साक्ष्यप्रस्थापन में काठिन्य

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त इन आचार्यद्वय की मान्यताओं को प्रमाण रूप में उपस्थित करने में एक असङ्गति दृष्टिपथ में आती है। इन आचार्यों ने एक ओर तो रसादि को प्रकरण की अस्पष्टता के आधार पर

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, २/२२; २. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ३६५।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माना है, दूसरी ओर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के प्रभेदों की गणना करते समय इसके वस्तु व अलङ्काररूप व्यञ्जकों के आधार पर बारह प्रभेदों की ही गणना की है। रसादि ध्वनियों को संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य मानने की अपनी धारणा को पुष्टि प्रदान करने के क्रम में उन्हें इसके भी छह प्रभेद मानकर कुल अठारह प्रभेदों को स्वीकृति प्रदान करनी थी। लेकिन इन दोनों ही आचार्यों ने ऐसा नहीं किया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि या तो उन्हें रसादि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में स्वीकार करना अभीष्ट ही नहीं था, उस स्थिति में वे रस को वस्तु रूप मानते हों अथवा इस ओर उनकी दृष्टि ही न गई हो। फलतः उनके सम्प्रदाय के उत्तरवर्ती उत्तराधिकारी पण्डितराज पर इस दायित्वसंवहन का कार्य आ गया कि वे इस असङ्गति का निवारण करें। उन्होंने इस समस्या पर विचार भी किया है कि रत्यादि स्थायी-भावों के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माने जाने की स्थिति में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद माने जाने की मान्यता में अन्तर आ जाएगा। यह तो स्पष्ट ही है कि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रथमतः तीन भेद होते हैं— १. शब्दशक्त्युद्भव २. अर्थशक्त्युद्भव ३. उभयशक्त्युद्भव। इनमें शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि वस्तु व अलङ्कार रूप दो प्रकार की होती है। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के तीन भेद होते हैं—१. स्वतःसम्भवी २. कविप्रौढोक्ति-सिद्ध एवं ३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। तीनों भेदों में वस्तुध्वनि व अलङ्कारध्वनि होकर प्रत्येक के चार भेद होकर कुल बारह भेद हो जाते हैं। उभयशक्त्युत्थ ध्वनि का एक भेद होता है। 'रस' को भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माने जाने की स्थिति में उसके भी छह प्रभेद होकर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के कुल अठारह प्रभेद हो जाएगें[१]।

काठिन्यनिवारण—पण्डितराज इस आपत्ति का समाधान इस रूप में करते हैं कि जो 'रति' आदि स्थायीभाव स्पष्टतः प्रतीत होने वाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, वे ही 'रस' रूप होते हैं। इसके विपरीत जो रत्यादि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में व्यक्त होते हैं, वे 'रस' रूप नहीं; अपि तु वस्तुमात्र

१. यद्ययं रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, तेनायं द्वादशात्मकः इति मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधे वाच्येन स्वतस्सम्भवित्व-कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभिस्त्रैविध्यमापन्नेन षडात्मना वस्त्वलङ्कारयोरिव रसादेरप्य-भिव्यञ्जनादष्टादशत्वप्रसङ्गात्। (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. ३९५-९६)

होते हैं। रसरूपता का आशय ही यही है कि चमत्कार रूप रसादिप्रतीति झटिति हो—'रसीभावो हि नाम झगिति जायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम्'। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में ध्वनित होने वाला रत्यादि स्थायीभाव रसरूप या भावरूप नहीं होता, वस्तुमात्र रहता है। अभिनवगुप्त के मत का अभिप्राय इन शब्दों में व्यक्त कर देने पर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद हैं, इन उक्तियों में कोई विरोध नहीं होता। संलक्ष्यक्रम के रूप में ध्वनित होने वाले 'रति' आदि को वस्तुमात्र मान लेने पर वस्तुरूप व्यङ्ग्य के जो छह भेद होते हैं, उन्हीं में वे आ जाएगें, तब अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के अठारह भेद होने की सम्भावना न रह जाएगी—

'प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादि: स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया। रसीभावो हि नाम झगिति जायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम्। संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमात्रतैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तीनां विरोध:'[१]।

इस प्रकार पण्डितराज अभिनव की अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह प्रभेद माने जाने की धारणा को संगत ठहराने के लिए अपनी ओर से उपर्युक्त समाधान प्रस्तुत करते हैं; परन्तु यह समग्र विवेचन उन्हें किञ्चित् व्यग्र कर देता है। एक ओर आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त द्वारा रसादिध्वनि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भी माने जाने की मान्यता व दूसरी ओर ध्वनि के १२ प्रभेद इनमें संगति कैसे बिठाई जाय? अपनी ओर से उन्होंने संगति बैठाने का उपर्युक्त रूप में प्रयास भी किया। चूँकि स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ऐसा कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया था, अत: पण्डितराज भी उनके शब्दों में कोई समुचित उत्तर न दे सके। यद्यपि उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया; परन्तु उसमें स्वयं विरोध देखकर विवश हो गए और बड़े कौशल से यह बात विज्ञ समालोचकों व पाठकों के ऊपर डाल दी कि वे इस सङ्गति का स्वत: निर्धारण कर लें—

'उपपत्तिस्त्वस्मिन्नर्थे विचारणीया[२]'

वस्तुत: पण्डितराज इस प्रसङ्ग में न जाने क्यों कुछ शिथिलमना से लगते हैं। विभिन्न काव्यशास्त्रीय विषयों के विश्लेषणप्रसङ्ग में बड़े से बड़े आचार्यों की मान्यता को भी अपनी आलोचना कसौटी पर खरा न पाकर उसके

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ३९६।

२. तत्रैव, पृ. ३९७।

खण्डन हेतु मनःप्राण से तत्पर हो जाने वाले पण्डितराज न जाने क्यों यहाँ मौन रह जाते हैं? वे आचार्यों के मत में विप्रतिपत्ति दिखाकर अभिनव व आनन्दवर्धन सम्मत १८ भेद सिद्ध कर सकते थे। स्वयं इसी के परिप्रेक्ष्य में स्वकीय मान्यतानुसार कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के ४ भेद हटाकर (जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया है) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य 'रस' के ४ भेद जोड़कर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद स्वीकार कर सकते थे, पर ऐसा न कर वे 'उपपत्तिस्त्वस्मिन्नर्थे विचारणीया' कहकर मौन रह गए हैं।

इस प्रकार इस समग्र विवेचन का निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारे समक्ष ध्वनिसिद्धान्त के दो महान् आचार्यों, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की रसादिध्वनियों की संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यता के विषय में व्यक्त मान्यताएँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ प्रभेद माने जाने की उन्हीं की मान्यताओं से मेल नहीं खातीं। मतवैभिन्य स्पष्टतः उभर आता है। पण्डितराज ने यथाकथञ्चित् अभिनव की मान्यता के परिप्रेक्ष्य में 'रस' को संलक्ष्यक्रम माने जाने पर 'वस्तु' रूप भेद के अन्तर्गत परिगणित करने का समाधान दिया, पर यह समाधान भी स्वीकार्य नहीं। इससे तो आचार्य की इस सन्दर्भ में व्यक्त मान्यता ही—'यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति, न वाच्यः कदाचिदपि तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्व-लक्ष्यक्रमः.....'[१]। खंडित हो जायेगी। अच्छा होता पण्डितराज इन्हीं मान्यताओं के आलोक में आनन्दवर्धन व अभिनवगुप्तपादाचार्य की प्रभेदविषयक मान्यताओं में विप्रतिपत्ति दिखाकर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १८ प्रभेद माने जाने की मान्यता व स्वयं के मत में १२ प्रभेद माने जाने की मान्यता सयुक्तिक सिद्ध करते।

नागेशभट्ट द्वारा प्रस्तुत उपपत्ति—इस समस्त विवेचन प्रसङ्ग में नागेश भट्ट ने स्वकीय मान्यता इस रूप में व्यक्त की है—'विभावादिप्रतीते रसप्रतीतेश्च विद्यमानस्य सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सहृदयेनाकलने तस्य विगलित-वेद्यान्तरत्वापत्या रसभङ्गापत्तिः विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकलसहृदयानु-भवसाक्षिकमिति तदुपपत्तिर्बोध्या'[२]।

रसानुभूति में यदि विभावादि प्रतीति एवं रसप्रतीति के बीच की प्रक्रिया के क्रम का बोध सहृदय के मानस में बना रहा, तो फिर विगलितवेद्यान्तरता कहाँ से आएगी और विगलितवेद्यान्तरता के अभाव में उसे 'रस' भी नहीं कहा

१. ध्वन्यालोकलोचन २/२२; २. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, गुरुमर्मप्रकाश पृ. १३२।

जा सकेगा। विगलितवेद्यान्तरता तो समस्त सहृदयों का अनुभवसिद्ध सत्य है। इसे देखते हुए उपर्युक्त मान्यताओं की उपपत्ति स्वयं निर्धारित कर ली जानी चाहिए।

नागेशभट्ट ने इस सङ्गति को प्रदर्शित कर इस समस्त प्रकरण में अपना पक्ष स्पष्टतः सामने रख दिया। प्रथमतः उन्होंने इस पक्ष को समर्थन दिया कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसभावादि ही रसरूपता को प्राप्त होते हैं, जहाँ कहीं वे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होते हैं, जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य व अभिनवगुप्त ने अपने विवेचनों में स्पष्ट किया है, वहाँ वे वस्तुरूप हो जाते हैं। द्वितीय उन्होंने पण्डित राज की रसभावादि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य मानने की धारणा के विपक्ष में अपना मत व्यक्त कर दिया है। यही नहीं नव्यों के नाम से उन्होंने पण्डितराजीय मान्यता का इस रूप में खण्डन भी किया है—

'नव्यास्तु वक्तृवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात् तत्सहित-विभावादिज्ञानोत्तरं जायमानरसप्रतीतेर्विभावादिज्ञानापेक्षया विद्यमानक्रमालक्षणे चालक्ष्यक्रमत्वम्। तच्च प्रकरणाद्विज्ञानविलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणेऽक्षतमेव। न हि विभावादिज्ञानस्य तज्जनकस्य च क्रममादाया-लक्ष्यक्रमत्वम्; अपितु तज्जन्यस्य। एतदेवाभिप्रेत्य अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदा इत्यभिनवगुप्तोक्तिर्यथाकथंचिन्नेया। न हि विभावादिप्रतीतिरहितं यत्किंचिद्वाच्यार्थ-मात्रप्रतीतौ विगलितवेद्यान्तरता सहृदयानुभवसाक्षिका'[१]।

वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य और प्रकरणादि के ज्ञान से समन्वित जब वाच्यार्थ व्यञ्जित होता है, तो विभावादि के ज्ञान के पश्चात् जो रसप्रतीति होती है, वहाँ विभावादि ज्ञान व रसप्रतीति में क्रम लक्षित न होने के कारण अलक्ष्यक्रमता की स्थिति होती है। परन्तु प्रकरणादि ज्ञान में विलम्ब होने से विभावादि का ज्ञान यदि विलम्ब से होता है, तो भी 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इस पद्य में अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता सुस्पष्ट है। कारण विभावादिज्ञान व उसके जनक प्रकरणादि के ज्ञान में जो क्रम है, उसके मध्य यदि विलम्ब है, तो उसे लेकर अलक्ष्यक्रमता की हानि नहीं मानी जाती है। विभावादि व विभावादि से जन्य जो रसप्रतीति है, उसमें क्रम का भान नहीं होना चाहिए। इसी बात को लेकर अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह भेद होते हैं, इस अभिनवगुप्तोक्ति का आशय लगाया जा सकता है। विभावादि की प्रतीति से रहित किसी वाच्यार्थ मात्र की प्रतीति में विगलितवेद्यान्तरता होना सहृदयों के अनुभव से सिद्ध नहीं होता।

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन, गुरुमर्मप्रकाश पृ. १३२।

नागेश के इस विस्तृत वक्तव्य का सारांश यही है कि सहृदयों की आस्वादानुभूति के तीन धरातल हैं। १. प्रकरणादि का ज्ञान व वाच्यार्थबोध २. विभावादि की उपस्थिति एवं ३. रसाह्लाद। यहाँ वाच्यार्थ के सम्यक् बोध हेतु प्रकरणादि का सुस्पष्ट ज्ञान आवश्यक है, तभी विभावादि का ज्ञान होकर रसोद्बोध होता है। यदि प्रकरण की अस्पष्टता के कारण विभावादि की सविलम्ब उपस्थिति होती है, तो वाच्यार्थबोध व विभावादि की उपस्थिति के मध्य क्रम का भान होता है, न कि विभावादि का ज्ञान होने पर रसोद्बोध होने के मध्य क्रम लक्षित होता है। वस्तुतः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता व संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता की निर्णायिका विभावादि की सामग्री होती है, न कि प्रकरणादि की अनुभूति। प्रकरण के अस्पष्ट होने पर विभावादि की प्रतीति में विलम्ब भले हो; किन्तु विभावों के उपस्थित हो जाने पर रसप्रतीति में विलम्ब नहीं होता। फलतः रसादि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नहीं होते, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं।

नागेशभट्ट कृत आपत्ति का समाधान

नागेशभट्ट की उपर्युक्त आपत्ति को दृष्टिगत रखने पर ज्ञात होता है कि पण्डितराज के मूल मन्तव्य को नागेश यहाँ ठीक-ठीक समझ नहीं सके हैं, या फिर समझे भी हैं तो अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ प्रभेद माने जाने विषयक मान्यता उन पर हावी रही है, फलतः पूर्व मतों के आलोक में उन्होंने अपना पक्ष प्रस्तुत किया है। उनके इस तर्क में बल अवश्य है कि प्रकरणादिज्ञान व विभावादि ज्ञान के मध्य क्रम संलक्षित रह सकता है। किन्तु विभावादिप्रतीति व रसानुभूति में क्रम लक्षित नहीं होना चाहिए, कारण विभावादि ज्ञान के उपरान्त रसानुभूति झटिति होती है। अतः वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता ही मानी जानी चाहिए, तभी विगलित वेद्यान्तरता की स्थिति आ सकती है।

परन्तु पण्डितराज के कथन का आशय यह है कि ध्वन्यमान अर्थ वस्तुरूप हो, अलङ्कार रूप हो, भाव रूप हो, या रस हो, विभावादिसामग्री की मन्थर उपस्थिति उसके आस्वाद की, आनन्दोद्बोध की गति मन्थर कर देती है और गति के मन्थर होने पर उसके क्रम का ज्ञान होना नितान्त स्वाभाविक है—

'यत्र विचारवेद्यं प्रकरणं उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्री विलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति'[२]। हाँ, एक बार आस्वादन हो गया, तो वहाँ आकण्ठमग्नता की ही अनुभूति होती है, फलतः रसभावादि जहाँ प्रकरणादि के विलम्ब से उपस्थित होने पर क्रम लक्षित होने का अनुभव कराते हुए आस्वादन कराते हैं, वहाँ आस्वादन की प्रगाढ़ता में तो कोई अन्तर नहीं

१. रसगङ्गाधर, प्रथमानन पृ. ३९३; २. काव्यप्रकाश, २/१९।

होता पर आस्वादन की प्रक्रिया में क्रम लक्षित होने के कारण संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहे जाते हैं। वस्तुतः हर एक तथ्य को तर्क की कसौटी पर कसने वाले पण्डितराज इस तथ्य को ओझल न कर सके कि जहाँ प्रकरणादि की विलम्ब से उपस्थिति होगी विभावादि परिज्ञान की प्रक्रिया शिथिल होगी, हठात् रसोद्बोध न होगा, हाँ आस्वादन में अन्तर न आएगा, फलतः विगलितवेद्यान्तरता में तो अन्तर न आएगा, पर रसानुभव की पूर्वप्रक्रिया मन्थर होने से क्रम संलक्षित होने से ये संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहे जाएगें।

इस प्रकार इस समग्र विवेचन को दृष्टिगत कर हम सहज आकलन कर सकते हैं कि पण्डितराज ने ध्वनिवादी प्रौढ़ आचार्यों के मत को ही साक्षी रूप में उपस्थित कर रसादि ध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता विषयक अपना मौलिक पक्ष उपस्थित किया व इस सन्दर्भ में आगत विप्रतिपत्तियों का यथासम्भव समाधान भी दिया। निस्सन्देह उनके विश्लेषण से काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण, विवेचन व समीक्षण विषयक उनकी प्रकृष्ट भावयित्री प्रतिभा पर प्रकाश पड़ता है।

नानार्थस्थलीय चिन्तन

अभिधामूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव प्रभेद के निरूपण प्रसङ्ग में पण्डितराज ने मम्मटाचार्य की नानार्थक शब्दों से होने वाले व्यङ्ग्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में कही गई **'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्'**[१]; कारिका को आधार बनाकर गहन विचार विमर्श किया है। जैसा कि पूर्वकथित है, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का होता है, वस्तुरूप तथा अलङ्काररूप। दोनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ कभी शब्दसामर्थ्य से व्यक्त होते हैं, कभी अर्थसामर्थ्य से और कभी शब्द तथा अर्थ का समन्वित चमत्कार आस्वाद का हेतु बनता है। इसका यह अर्थ नहीं कि शाब्दी व्यञ्जना में अर्थव्यञ्जकता का अभाव होता है अथवा आर्थी व्यञ्जना में शब्दनिरपेक्षता रह सकती है। मम्मट ने स्पष्टतः इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है कि शाब्दी व्यञ्जना में शब्द मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है व उसके साथ अर्थ उसका सहकारी होता है[२]। इसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में अर्थ के मुख्यरूप से व्यञ्जक होने पर भी शब्द भी सहकारी होता है[३]।

---

१. काव्यप्रकाश, २/१९।

२. तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः।
यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा.
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।। (तत्रैव, २/२०)

३. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।। (तत्रैव ३/२३)

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने मम्मटादि आलङ्कारिकों के इस मत का सन्दर्भ लेकर कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ अनेकार्थक शब्दों की अभिधाशक्ति प्रकरणादि द्वारा प्रस्तुत अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, फलतः ऐसे स्थलों में अप्रस्तुत अन्य अर्थ वाच्य न रहकर शब्दनिष्ठ व्यञ्जनावृत्ति से व्यङ्ग्य होता है, विस्तृत विवेचन किया है। उनका वक्तव्य है कि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में यदि सहृदय को समान रूप से सभी अर्थों में संकेतग्रह हो, अर्थात् वह जानता हो कि हरि शब्द विष्णु, सूर्य, सिंह, तोता, यम, अनिल, चन्द्रमा आदि चौदह अर्थों का वाचक है। अतः इस तरह के नानार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर इन सभी अर्थों का स्मरण उसे एक साथ हो आता है। फिर सन्देह होता है कि वक्ता का किस अर्थ में तात्पर्य है? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए श्रोता वक्ता के तात्पर्य को निर्णीत करने वाले प्रकरणादि की पर्यालोचना करता है, जिससे उक्त सन्देह की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकरणादि पर्यालोचन में कुछ तथ्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' में किया है और जिन्हें आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में सादर उद्धृत किया है[१]। इस प्रकार प्रकरणादि पर्यालोचन के उपरान्त अभिधा उसी अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, जिसमें वक्ता का तात्पर्य होता है। अन्य अर्थ प्रतिबन्धित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कहीं-कहीं श्रोता को अन्य अर्थों का भी बोध होता है, तब प्रश्न उठता है कि इस दूसरे अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति किस वृत्ति से होगी? इसका समाधान करते हुए आचार्यों का वक्तव्य है कि इस द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ की बोधिका व्यञ्जना ही होगी[२]।

इस मत की पुष्टि हेतु पण्डितराज एक दृष्टान्त देते हैं। साले व बहनोई का पारस्परिक सम्बन्ध हास-परिहास से भी युक्त हुआ करता है। किसी ने बहनोई के विषय में साले से पूछा—'आवुत्तः किं करोति'? साले ने परिहासमय उत्तर दिया—'सुरभिमांसं भक्षयति'। यहाँ 'सुरभि' शब्द के दो अर्थ हैं—सुगन्धित एवं गौ। फलतः श्रोता को सन्देह होगा कि यहाँ किस अर्थ में 'सुरभि' शब्द का प्रयोग किया गया है? सन्देह की निवृत्ति के लिए वह प्रकरणादि का पर्यालोचन

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।। (काव्यप्रकाश २/१९ उद्धरणांश)

२. इत्थञ्च सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादेर्वाक्याज्जायमाना द्वितीया प्रतीतिर्गवाद्युपस्थितेरभावात् कथं स्यादिति तदुपस्थित्यर्थं व्यञ्जनाव्यापारोऽभ्युपेयः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ६)

करेगा तो प्रकरण से अभिधा 'सुगन्धित मांस' अर्थ में नियन्त्रित हो जाएगी। परन्तु उसे यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ परिहासात्मक सम्बन्ध है, फलत: श्रोता को 'सुरभि' का 'गोमांस' अर्थ भी स्मृत होता है। अब प्रश्न उठता है कि अभिधा तो प्राकरणिक 'सुगन्धित' अर्थ में नियन्त्रित हो चुकी है, अत: इस द्वितीय 'गोमांस' रूप अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति किस वृत्ति से होगी? निश्चय ही वहाँ द्वितीय 'गोमांस' रूप अर्थ की प्रतीति कराने के लिए व्यञ्जना स्वीकार करनी होगी[१]।

इसी प्रसङ्ग में विषयविवेचनार्थ एवं सन्देहों के निराकरणार्थ पण्डितराज व्यञ्जना की स्वीकृति के सन्दर्भ में मतान्तरों की आपत्ति प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम मत

अनेकार्थनिरूपिका अनेक अभिधा की स्वीकृति

आपत्ति यह है कि नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में उन पृथक्-पृथक् अर्थों का बोध कराने के लिए अनेकार्थ-निरूपिका अनेक अभिधावृत्ति को स्वीकार कर लिया जाय तो व्यञ्जना की आवश्यकता ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में 'सुरभिमांसं भक्षयति' इत्यादि स्थल में तात्पर्यनिर्णय के उपरान्त एक अभिधा शक्ति 'सुगन्धितमांस' रूप अर्थमात्र का बोध कराकर समाप्त होगी, उसके बाद द्वितीय अभिधाशक्ति से ही उस अप्राकरणिक 'गोमांस' रूप अर्थ की उपस्थिति होगी। जहाँ तक द्वितीय अर्थ के प्रतिबन्धन का प्रश्न है, तो उक्त प्रतिबन्धक प्रथम अर्थ 'सुगन्धितमांस' का बोधन कराने के समय द्वितीय अप्रस्तुत 'गोमांस' रूप अर्थ का प्रतिबन्धन कर अपना कार्य समाप्त कर देता है। पुन: उसमें प्रतिबन्धन का सामर्थ्य नहीं रहता। फलत: द्वितीय अर्थ का बोध कराने के लिए द्वितीय अभिधाशक्ति स्वीकार करने पर व्यञ्जना की आवश्यकता न होगी।

मान्यता का खण्डन—पण्डितराज इस शङ्का का समाधान व्यञ्जना-वादियों की दृष्टि से इस रूप में करते हैं कि इस प्रकार द्वितीय अभिधा को स्वीकार करने का प्रावधान सम्भव नहीं। कारण एक बार प्रतिबन्धक प्रतिबन्ध करने के उपरान्त सामर्थ्यविहीन हो जाता है, ऐसा मानना उचित नहीं। वस्तुत: प्रतिबन्धक जब तक रहता है, तब तक बारम्बार प्रतिबन्ध करता है। फलत: द्वितीय अभिधाशक्ति से अर्थोपस्थिति काल में पुन: अप्राकरणिक अर्थ का प्रतिबन्ध हो जाएगा व 'गोमांस' रूप अर्थ की उपस्थिति नहीं हो पाएगी। अगर

१. इत्यञ्च सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादेर्वाक्याज्जायमाना द्वितीया प्रतीतिर्गवाद्युपस्थितेरभावात् कथं स्यादिति तदुपस्थित्यर्थं व्यञ्जनाव्यापारोऽभ्युपेयः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ६)

ऐसा न होता तो द्वितीय अभिधा शक्ति की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी? प्रथम अभिधाशक्ति से ही प्रथम प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होकर पुनः अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतिभासित क्यों नहीं हो जाएगा? प्रतिबन्ध तो उस स्थिति में एक बार नियन्त्रण कर अपना सामर्थ्य खो ही चुका होगा। इन समस्त स्थितियों को देखकर यही मानना उचित है कि प्रतिबन्धक जब तक रहेगा, अनभीष्ट अर्थ का प्रतिबन्धन करेगा। फलतः द्वितीय अभिधाशक्ति से भी अप्रस्तुत अन्य अर्थ की प्राप्ति न हो सकेगी। अतः द्वितीय अभिधाशक्ति की कल्पना ही व्यर्थ होगी[1], व्यञ्जना ही मान्य होगी।

प्रकरणादिज्ञान से समस्त अप्रस्तुत अर्थों का प्रतिबन्धन : मान्यता एवं खण्डन

पण्डितराज का अग्रिम वक्तव्य है कि यदि अभिधा समर्थक यह तर्क देते हैं कि नानार्थक स्थलों में प्रकरणादि के बल पर एकार्थ में नियन्त्रण करने वाला प्रतिबन्धक व्यञ्जनावृत्ति से होने वाले अन्य अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति का प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता? यदि यह कहा जाए कि प्रकरणादि का ज्ञान नानार्थक पदों के प्रयोगस्थल में प्रस्तुत से भिन्न सभी प्रकार के अप्रस्तुत अर्थों, चाहे वे अभिधा-प्रतिपादित हों, या व्यञ्जना-प्रतिपादित, का प्रतिबन्धक होता है, फिर व्यञ्जना से भी अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कैसे होगी? पण्डितराज इसका प्रत्युत्तर यह कह कर देते हैं कि तब ऐसी स्थिति में व्यञ्जना जिसका उल्लास ही अप्रस्तुत अर्थ के द्योतन हेतु है, व्यर्थ हो जाएगा। अतः प्रकरणादिज्ञान को व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न वृत्ति अभिधादि के द्वारा होने वाले अप्राकरणिक अर्थों की प्रतीति के प्रति ही प्रतिबन्धक मानना चाहिए। यदि कोई इस बात से सहमत नहीं होता एवं समस्त अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति के प्रति प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबन्धक मानता है, तो वह ऐसा मान सकता है, पर उस स्थिति में व्यञ्जना को उत्तेजक मान लें एवं जैसे चन्द्रकान्तमणि रूप प्रतिबन्धक के रहने पर भी सूर्यकान्तमणि रूप उत्तेजक के बल से दाहरूपी कार्य सम्पन्न हो जाता है, रुकता नहीं, उसी प्रकार प्रतिबन्धक के रहने पर भी व्यञ्जनावृत्ति रूप उत्तेजक ज्ञान से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति हो जाएगी[2]।

---

१. अथैकया शक्त्या प्राकरणिकार्थोपस्थितेरनन्तरं द्वितीयया शक्त्या द्वितीयार्थोपस्थितिस्तथापि स्यादिति चेत्? न स्यादेव, प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकस्यानुपरमात्। अन्यथा प्राकरणिकार्थोपस्थितावेव प्राकरणिकस्याप्यर्थस्य विषयत्वं स्यात्। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ७)

२. न च प्रकरणादिज्ञानस्य तादृशपदजन्यार्थोपस्थितिसामान्य एव प्रतिबन्धकत्वाद् व्यक्त्याऽपि कथमर्थान्तरोपस्थितिरिति वाच्यम्, धर्मिग्राहकमानेनाप्राकरणिकोपस्थापकतयैव तादृशव्यक्तेरुल्लासात्तद्जन्योपस्थितिं प्रत्येव प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। व्यक्तिज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पनाद्वा। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ८)

द्वितीय मत

नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में शाब्दबोध सम्बन्धी द्वितीय मत को प्रस्तुत करते हुए पण्डितराज का वक्तव्य है कि अन्य आचार्यों के अनुसार नानार्थक शब्द से होने वाले शाब्दबोध के प्रति स्वतन्त्ररूप से तात्पर्य निश्चय को कारण मानना आवश्यक है। अगर इस बात को स्वीकार न किया जाय, तो श्रोता जानता है कि वक्ता ने सिंह आदि का बोध कराने के लिए 'हरि' पद का प्रयोग किया है, विष्णु का बोध कराने के लिए नहीं, तब 'हरि' पदश्रवण के बाद भी उस श्रोता को विष्णु अर्थ का बोध होना चाहिए; क्योंकि शाब्दबोध के सभी साधन पदज्ञान, संकेतग्रहादि विद्यमान हैं। यदि यह शङ्का की जाय कि कौन कहता है उस स्थिति में विष्णु अर्थ का बोध नहीं होता, अर्थात् होता है तो यह तर्क स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता, ऐसा ही लोगों का अनुभव है। विष्णुविषयक अर्थज्ञान के प्रति 'यह हरिपद विष्णु का बोध कराने के लिए वक्ता से कहा गया है, सिंहादि का ज्ञान कराने के लिए नहीं', इस तात्पर्यनिश्चय को कारण मानने पर तो विष्णुविषयक बोध का होना व सिंह पद का अर्थ न होना ठीक बनता है, क्योंकि शाब्दबोध के समस्त साधनों के विद्यमान रहने पर भी उक्त तात्पर्यनिर्णय रूपी कारण का यदि अभाव होगा तो अन्यार्थ की उपस्थिति होगी ही। तात्पर्यनिर्णय यदि विद्यमान रहेगा तो अन्यार्थ का बाध हो जाएगा।

इस प्रकार द्वितीय मत के पक्षधरों की दृष्टि में तात्पर्यनिश्चय ही अनेकार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में शाब्दबोध का हेतु है। उनका यह भी तर्क है कि इस मत को स्वीकार कर लेने पर पूर्वमत में जो प्राकरणिक अर्थमात्र की द्वितीय बार स्मृति मानी गई है या अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति में प्रकरणादिज्ञान रूप प्रतिबन्धक की कल्पना की गई है, उन सबकी आवश्यकता न रहेगी। नानार्थक शब्दों के श्रवण के बाद सभी प्राकरणिक—अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति होगी; परन्तु अन्वयबोध होगा केवल प्राकरणिक अर्थ का ही; क्योंकि शाब्दबोध के कारणों में अन्यतम तात्पर्यनिर्णय उस प्राकरणिक अर्थ के अनुकूल है[१]।

द्वितीय मत के अनुसार व्यञ्जना की आवश्यकता

नानार्थक शब्दों के शाब्दबोध-सम्बन्धी विवेचन के क्रम में पण्डितराज

१. अपरे त्वाहुः—नानार्थशब्दजशाब्दबुद्धौ तात्पर्यनिर्णयहेतुताया अवश्यकल्प्यत्वात् प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थापनेऽपि प्रकरणादिभिस्तात्पर्यनिर्णयहेतुभिरुत्पादिते तस्मिन् यत्र तात्पर्यनिर्णयस्तस्यैवार्थस्यान्वयबुद्धिर्जायते, नान्यस्येति सरणावाश्रीयमाणायां नैकमात्रगोचर-स्मृत्यपेक्षा, नाप्यपरार्थोपस्थानप्रतिबन्धकत्वकल्पनम्। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १०)

द्वितीय मत के उपस्थापन के प्रसङ्ग में भी व्यञ्जना की आवश्यकता को सिद्ध करते हैं। उनका वक्तव्य है कि अनेकार्थक शब्दों के शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण रूप में स्वीकार कर लेने पर तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का ही अभिधा से बोध होता है, अन्य अप्राकरणिक अर्थों का नहीं। फलत: 'सुरभिमांसं भक्षयति' इत्यादि स्थलों में प्रकरणादिज्ञान से तात्पर्यनिर्णय होकर 'सुगन्धित मांस' रूप अर्थ अभिधा से उपस्थित होता है, अत: वही अर्थ अभिधेय या वाच्य होता है। परन्तु इस स्थल में 'गोमांस' रूप अर्थ भी बोधित होता है, क्योंकि वक्ता ने कहा भी साभिप्राय कहा। फलत: उस अर्थ के बोधन के लिए शाब्दीव्यञ्जना की स्वीकृति अनिवार्य है—

'एवं च प्रागुपदर्शितनानार्थस्थले प्रकरणादिज्ञानाधीनात्तात्पर्यनिर्णयात्प्राकरणिकार्थशाब्दबुद्धौ जातायामतात्पर्यविषयाऽपि शाब्दबुद्धिस्तस्मादेव शब्दाज्जायमाना कस्य व्यापारस्य साध्यतामवलम्बताम्, ऋते व्यञ्जनात्'[१]।

यदि कोई कहे कि अप्राकरणिक अर्थ का बोध भी व्यञ्जना से न होकर अभिधा से हो जाएगा तो यह मानना भी उचित नहीं। कारण, इस अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि अभिधाजन्य ज्ञान के प्रति तात्पर्यनिर्णय को हेतु मान लिया गया है[२]। अगर यह तर्क दिया जाय कि नानार्थक स्थल में अप्राकरणिक अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं रहता, तब उसका बोध व्यञ्जना से कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि— 'व्यक्त्यधीनबोधस्तु नावश्यं तात्पर्यज्ञानमपेक्षते[३]' अर्थात् व्यञ्जना प्रतिपादित बोध के प्रति तात्पर्यज्ञान नियमत: कारण नहीं हुआ करता। जब अतात्पर्यविषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ के बोध कराने के लिए ही व्यञ्जना की स्वीकृति है, तो उसके द्वारा बोधित अर्थ में तात्पर्यनिर्णय को कारण कैसे माना जा सकता है?

द्वितीयमतविषयक शङ्काएँ एवं समाधान–

इस द्वितीय मत की स्वीकृति के साथ एक असंगति दृष्टिगत होती है। इसे स्वीकार कर लेने पर नानार्थकस्थल में 'संयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि भर्तृहरि कारिका द्वारा एकार्थविषयक उपस्थिति एवं 'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते' इत्यादि रूप में मम्मटोक्त संयोगादि के द्वारा वाचकता-नियन्त्रण की

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ११।

२. न च शक्तिसाध्या सेति वाच्यम्, तदधीनबोधं प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वात्, (तत्रैव पृ. १२।)

३. तत्रैव, पृ. १२।

बात संगत कैसे होगी? पूर्वपक्षियों की इस आपत्ति का आकलन कर पण्डितराज इसके समाधानार्थ आचार्यमत प्रस्तुत करते हैं कि भर्तृहरि के कारिकांश में 'विशेषस्मृतिहेतवः' में विशेष स्मृति का अर्थ है, तात्पर्यनिर्णय द्वारा एकार्थमात्र में वक्ता के तात्पर्यनिर्णय द्वारा शाब्दबोध का अनुशीलन। इसी प्रकार अवाच्यार्थ का अर्थ है, अतात्पर्यार्थ, क्योंकि नानार्थस्थल में व्यङ्ग्य रूप में ध्वनित होने वाला अप्राकरणिक अर्थ तात्पर्य का विषय नहीं रहता[१]।

इस प्रकार इस द्वितीय मत के स्वीकृत होने की स्थिति में कतिपय लाभ हैं। इसमें न तो आचार्य-परम्परा के विरुद्ध जाने का प्रश्न है, न ही विस्तार-भय, लाघव ही अधिक है[२]। इसका निष्कर्ष यही है कि नानार्थकस्थल में तात्पर्यार्थ का बोध अभिधा से होगा व अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ व्यङ्ग्य का बोध व्यञ्जना से निष्पन्न होगा।

द्वितीयमत के पक्षधर तात्पर्यनिर्णयवादियों की व्यञ्जना की स्वीकृति के सम्बन्ध में पुनः शङ्काएँ हैं। इस मत के अनुसार नानार्थक शब्दों के शाब्दबोध प्रसङ्ग में सर्वप्रथम पद का श्रवण होता है, तदनन्तर सकल पदार्थोपस्थिति, तत्पश्चात् तात्पर्यनिर्णय, तदुपरान्त अभिधाजन्य प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध एवं तदनन्तर व्यञ्जना के स्वीकार कर लिए जाने की स्थिति में अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है। यहाँ शङ्का होती है कि प्रथमतः जो पदज्ञान होता है, वह द्विक्षणस्थायी रहकर तृतीय तात्पर्यनिर्णय में विनष्ट हो जाता है। तदनन्तर तात्पर्य निर्णय जिसे हम पदज्ञान रूप मान लेते हैं, अभिधाजन्य प्राकरणिक अर्थ के प्रतिपादनोपरान्त विरत हो जाता है, फिर वैयञ्जनिक अप्राकरणिक अर्थ के प्रतिपादन के समय पदज्ञान रहता नहीं, अतः व्यञ्जना से अप्राकरणिक अर्थ का बोध कैसे होगा? कारण पदज्ञान जैसे अभिधा से अर्थबोध का कारण है, वैसे ही व्यञ्जना से भी—'अथ प्राकरणिकार्थबोधानन्तरं तादृशपदज्ञानस्योपरमात् कथं व्यक्तिवादिनाप्यर्थान्तरधीः सूपपादेति चेत्[३]?

रसगङ्गाधर में इस शङ्का का भी सुविचारित समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हेतु त्रिविध प्रत्युत्तर दिए गए हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार वैयञ्जनिक

१. इत्थम्-स्मृतिशब्दस्य निश्चयपरतया विशेषस्मृतिशब्देन विशेषविषयस्तात्पर्यनिर्णयो गृह्यते। संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रणं त्वैकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयजननद्वारा शाब्दबोधानुकूलत्वम्। अवाच्यार्थोऽतात्पर्यार्थः। एवं च न ग्रन्थासंगतिरित्यपि वदन्ति।

(रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १३)

२. एवं च न ग्रन्थासंगतिरित्यपि वदन्ति। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १३)

३. तत्रैव, पृ. १४।

बोधप्रसङ्ग में भी प्रथमार्थ प्रतीति का व्यापार विद्यमान रहने से पदज्ञान मान लिया जायेगा—'प्रथमार्थप्रतीतेर्व्यापारस्य सत्त्वाददोष इत्येके[1]'।

आशय यह है कि न्यायसिद्धान्त के अनुसार शब्दव्यापार त्रिक्षणावस्थायी है। अर्थात् प्रथम क्षण में वह उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में रहता है व तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रथम क्षण में श्रोता जब नानार्थक शब्द का श्रवण करता है तो द्वितीय क्षण में उसके सामने सकल अर्थ उपस्थित होते हैं, तृतीय क्षण में उसे सन्देह होता है कि वक्ता का किस अर्थ में तात्पर्य है? तब वह तात्पर्यनिर्णय के लिए प्रकरणादि का पर्यालोचन करेगा। इस पर्यालोचन से जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्यनिर्णय होगा, उसी अर्थ का शाब्दबोध होता है। फलतः यहाँ तक शब्द के अभिधाव्यापार की प्रवृत्ति हुई। अतः निराकरण है कि कारण विद्यमान हो या कारण का व्यापार, वहाँ पदज्ञान के नष्ट होने का दोष नहीं माना जाएगा। यहाँ भी प्रथमार्थप्रतीति का व्यापार विद्यमान रहने से पदज्ञान मान लिया जाएगा।

इस शङ्का के प्रत्युत्तर में द्वितीय समाधान यह है कि अर्थप्रतीति में शक्यतावच्छेदक का भान विशेषण रूप में होता है। जैसे 'गो' शब्द के उच्चारण से गोत्वावच्छिन्न 'गौ' का बोध होता है, वैसे ही अर्थोपस्थिति काल में पद का भी विशेषण रूप में भान होता है। फलतः पदज्ञान पुनः हो जाता है, वह नष्ट नहीं हो पाता—

'अर्थप्रतीतौ शक्यतावच्छेदकस्येव पदस्यापि विशेषणतया भानात् प्राथमिक-शक्यार्थबोधस्यैव पदज्ञानत्वादित्यपरे[2]'।

तृतीय समाधान यह है कि तात्पर्यनिर्णय क्षण में पदों की आवृत्ति से पदज्ञान सुलभ हो जाता है, वह विनष्ट नहीं हो पाता—

'आवृत्या पदज्ञानं सुलभमित्यपि कश्चित्[3]'।

इस प्रकार वैयञ्जनिक अर्थप्रतिपादन-काल में पदज्ञान के नष्ट हो जाने विषयक जो शङ्काएँ थीं, वे निर्मूल सिद्ध हो गईं। अतः व्यञ्जना से अप्राकरणिकार्थ बोधन के सन्दर्भ में प्रश्नचिह्न उठाने का अवसर नहीं रह जाता।

इस प्रकार रसगङ्गाधर में पण्डितराज नानार्थकस्थलों में व्यञ्जना की स्वीकृति सम्बन्धी मतान्तरों व उन मतानुयायियों द्वारा प्रस्तुत शङ्काओं का विनिवारण कर शब्दशक्तिमूलक व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकृति प्रदान करते हैं—

१,२,३. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १४।

'तदित्थं नानार्थस्थलेऽनुरणनीयं व्यञ्जनं शब्दशक्तिमूलम्, शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादिति ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयन्ति'[१]।

अर्थात् नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में जो द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य होता है, वह अनुरणनीय व शब्दशक्तिमूलक कहा जाता है। शब्द के पर्याय परिवर्तन कर देने पर यह व्यङ्ग्यार्थ बोध नहीं होगा, इसी कारण इसे शब्दशक्तिमूल कहते हैं।

अन्यमत–

नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में अप्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादनार्थ व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकृति के सन्दर्भ में विभिन्न मतों व उन मतों से सम्बद्ध शङ्काओं, प्रतिशङ्काओं के पूर्व एवं उत्तरपक्ष के रूप में सयुक्तिक निवारण के पश्चात् वृत्तिवार्तिककार अप्पय दीक्षित के मत का अन्य मत नाम से उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। इस मत के अनुसार नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में प्रथम मत के पक्षधर आचार्यों की दृष्टि में जहाँ प्रथमबार पदश्रवण होने के उपरान्त सकल अर्थों की उपस्थिति एवं तदनन्तर प्रकरणादि-पर्यालोचन द्वारा तात्पर्यनिर्णय से अन्य अर्थों का प्रतिबन्धन हो जाता है एवं प्रस्तुत एकार्थमात्र विषयक बोध होता है, तो ऐसा मानना उचित नहीं। नानार्थक शब्दों से अनेक अर्थों की उपस्थिति होने पर भी प्रकरणादि-ज्ञानाधीन तात्पर्यनिर्णय की महिमा से विवक्षित अर्थ का शाब्दबोध हो जाएगा, पुनः एकार्थमात्र विषयक उपस्थिति में कोई प्रमाण नहीं। यदि यह कहा जाय कि प्रकरणादि का ज्ञान अप्राकरणिक उपस्थिति का प्रतिबन्धक होता है, तो यह सिद्धान्त अनुभवविरुद्ध होने के कारण मान्य नहीं। यदि प्रस्तुत-अप्रस्तुत सभी अर्थों की उपस्थिति कराने वाली सामग्री पदज्ञान, अनुभवजन्य संस्कार, संकेतग्रहादि दृढ़ हैं, तो अप्रस्तुत अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध मानना किसी भी शास्त्र से सम्मत नहीं और यह अनुभव विरुद्ध भी है[२]।

यदि पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि अन्य स्थलों पर भले ही अप्राकरणिक अर्थों के प्रतिबन्धन की स्थिति न देखी गई हो; परन्तु नानार्थक शब्दों के अर्थप्रतिपादन के सन्दर्भ में इस प्रतिबन्ध की कल्पना करनी ही पड़ेगी, ताकि अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति न हो, तो पूर्वपक्षियों के इस तर्क का खण्डन

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १५।

२. न च प्रकरणादिज्ञानं तदधीनतात्पर्यज्ञानं वा परार्थोपस्थाने प्रतिबन्धकमिति शक्यं वक्तुम्। संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्त्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य क्वाप्यदृष्टत्वात्। (तत्रैव, पृ. १७)

दो आधारों पर प्रस्तुत है। प्रथम तो यह कि तात्पर्यनिर्णय को स्वीकार कर लेने पर अन्य अप्राकरणिक अर्थों का प्रतिबन्धन होने की बात तो पहले ही व्यक्त की जा चुकी है, द्वितीय स्मृतिप्रतिबन्ध की बात अनुभवविरुद्ध है। जिनका शक्तिज्ञान ही अधूरा हुआ है कि पद-पदार्थषियक संस्कार दृढ़ नहीं हो सका है, उनको यदि नानार्थक पदश्रवण के बाद सभी अर्थों का स्मरण नहीं होता, तो यह पृथक् बात है, पर जिनको नानार्थप्रतिपादन विषयक ठोस ज्ञान है व उस शक्ति का संस्कार भी सुदृढ़ है, उनको प्रकरणज्ञान रहने पर भी अन्य अर्थों की उपस्थिति अनुभवसिद्ध है[1]। इस बात के स्पष्टीकरणार्थ पण्डितराज दृष्टान्त उपस्थित करते हैं, जो इस प्रकार है—

एक कमरे में दो व्यक्ति बैठे थे। एक ने दूध पिया व पीकर कहा— 'पयो रमणीयम्'। इतने में एक दूसरा व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ। उस आगन्तुक की 'पयो रमणीयम्' वाक्य के प्रति जिज्ञासा शान्त करने के लिए पहले से कमरे में बैठे दूसरे व्यक्ति ने कहा—'नूनमस्य पयः शब्दस्य दुग्धे तात्पर्यम्, न तु जले' अर्थात् निश्चय ही इसके द्वारा कहे गये 'पयस्' शब्द का तात्पर्य 'दूध' में है, जल में नहीं। यहाँ प्रश्न है कि यदि प्रकरणज्ञान अप्राकरणिक अर्थ का प्रतिबन्धक होता, तो पहले से बैठे हुए प्रकरण को जानने वाले व्यक्ति को 'जल' अर्थ की स्मृति ही नहीं होती। फिर वह जल में तात्पर्य नहीं, यह निषेध कैसे करता? अतः स्पष्ट है प्रकरणादिज्ञान अप्राकरणिक अर्थोपस्थिति का प्रतिबन्धक होता है, यह बात हृदयङ्गम नहीं होती[2]।

तात्पर्यनिर्णय–कारणता एवं अभिधाव्यापार

जहाँ तक प्रकरणादि ज्ञान से वक्ता के तात्पर्य का निर्णय होकर अभिधा वृत्ति से प्राकरणिक अर्थ का बोधन व तदनन्तर प्रतीत होने वाले अप्राकरणिक अर्थ का व्यञ्जना-व्यापार से ध्वनन रूप द्वितीय मत है, तो पण्डितराज इस सन्दर्भ में पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न उपस्थित करते हैं कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध सर्वत्र व्यञ्जनावृत्ति से होता है, या कहीं-कहीं? यदि सर्वत्र व्यञ्जना ही द्वितीय अर्थ की पोषिका होती है, ऐसा माना जाय तो

१. अत्रैव स्मृतावयं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावः कल्प्यते न स्मृत्यन्तरे इत्यप्यहृदयङ्गमम्, तादृश कल्पनाया निष्फलत्वात्, अनुभवविरुद्धत्वाच्च। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १७)

२. तथा हि नानार्थशक्तिविषयकदृढ़संस्कारशालिनां प्रकरणज्ञानवतामपि पयोरमणीयमित्यादे-र्वाक्यात् प्रथममर्थद्वयोपस्थितिरनुभवसिद्धा। ....यदि च प्रकरणादिज्ञानं नानार्थ-शब्दाज्जायमानामप्राकरणिकार्थोपस्थितिं प्रति बध्नीयात्तत्कथमेते तदानीमनुपस्थितजलाः प्रकरणज्ञाः जलतात्पर्यं निषेधेयुरित्यहृदयङ्गम एवायमप्राकरणिकार्थोपस्थापनप्रतिबन्धकभावः प्रकरणादिज्ञानस्य। (तत्रैव, पृ. १८)

तात्पर्यनिर्णय को अभिधा द्वारा अर्थबोध के प्रति कारण मानना ही निरर्थक है। अर्थात् पहले तात्पर्यनिर्णय के आधार पर अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति को प्रतिबन्धित कर फिर उसी अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए व्यञ्जना की स्वीकृति की कल्पना कहाँ तक उचित है?

'तत्र किमयं नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोल्लासः, आहोस्वित् क्वचिदेवेति सम्मतम्? नाद्यः। प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोः शाब्दबुद्धौ सर्वत्राभ्युपगम्यमानायां तात्पर्यज्ञानकारणतायाः कल्पनस्य नैरर्थक्यापत्तेः'[१]।

यदि पूर्वपक्षी यह मत व्यक्त करते हैं कि तात्पर्यनिर्णय अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण है, व्यञ्जना-प्रतिपादित अर्थ के प्रति नहीं, तो पण्डितराज इस तर्क का भी यह कहकर खण्डन करते हैं कि जब तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणिकार्थ का बोध सर्वत्र मान्य ही है, तब वह अभिधा-प्रतिपादित हो या व्यञ्जना से, दोनों समान हैं—

'अतात्पर्यार्थबोधस्य सार्वत्रिकत्वे तस्य शक्तिजतायामपि बाधकाभावात्'[२]।

पूर्वपक्षी तात्पर्यनिर्णयकारणता को युक्तियुक्त सिद्ध करने हेतु पुनः तर्क उपस्थित करते हैं कि नानार्थकस्थल में अर्थद्वय की उपस्थिति होने के अनन्तर जब प्रकरणादिज्ञान से तात्पर्यनिर्णय होकर प्राकरणिक अर्थ का पहले शाब्दबोध होता है, अन्य अप्राकरणिक अर्थ का नहीं, तो इस अनुभवसिद्ध नियम की रक्षा के लिए तात्पर्यज्ञान की कारणता मानना आवश्यक है, अन्यथा प्राकरणिक तात्पर्यार्थ के समान अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का भी पहले शाब्दबोध हो जाएगा। जब कि अनुभवसिद्ध सत्य यह है कि प्राकरणिक तात्पर्यार्थ का बोध प्रथमतः व अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का ज्ञान तदनन्तर अभीष्ट है। फलतः तात्पर्यनिर्णय कारणता को अभिधा के प्रति कारण मानना उचित है[३]।

पूर्वपक्षियों के तात्पर्यनिर्णयकारणता के सम्बन्ध में व्यक्त मत का पण्डितराज स्वमनीषानुसार सोदाहरण खण्डन करते हैं कि अभिधा से प्राकरणिक अर्थ का ही बोध होता है, अप्राकरणिक का नहीं, ऐसी मान्यता उचित नहीं। उदाहरणार्थ 'सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादि श्लेष काव्य के स्थल में 'इष्टे भुजङ्गानां हारः वलयञ्च भूषणे यस्य सः तादृशः उमा+धवः' अर्थात् जिनको सर्पों के हार व वलय आभूषण के रूप में प्रिय हैं, वे उमा के पति शिव एवं 'इष्टः भुजङ्गस्य हारः = हरणं यस्य तादृशं यद् बलं तद् बलं यस्य स तेन गरुडेन याति संचरतीति तादृशः सर्वदो माधवः त्वाम् अव्यात्' अर्थात्

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १९। २-३. तत्रैव, पृ. २०।

सर्पों का हरण करने वाला बल है जिसका, उस गरुड के द्वारा इष्ट है गमन जिसको, वे सब कुछ देनेवाले माधव = लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

इस श्लेषकाव्य के स्थल में शिव और विष्णु दोनों ही अर्थों की उपस्थिति एक साथ होती है, वैसे ही नानार्थक प्रसङ्गों में भी प्राकरणिक व अप्राकरणिक दोनों अर्थ अभिधा से ही उपस्थित हो जाएगें[१]।

यदि पूर्वपक्षी इस सन्दर्भ में यह तर्क व्यक्त करते हैं कि श्लेषस्थल का दृष्टान्त देकर नानार्थस्थल में अभिधा से ही प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों अर्थों का बोध मानना उचित नहीं; क्योंकि श्लेष के प्रसङ्ग में दोनों अर्थ प्रस्तुत हैं, क्योंकि दोनों रक्षक हैं, फलतः अभिधाबोध्य हैं, परन्तु जहाँ एक ही अर्थ में तात्पर्य है, वहाँ अन्य अर्थ न आ जाएँ, इसके लिए प्रकरणादिज्ञान को अप्रस्तुत अर्थ की उपस्थिति में प्रतिबन्धक माना गया है[२]।

पण्डितराज पूर्वपक्षियों के इस तर्क का भी यह कहकर खण्डन करते हैं कि यह तब स्वीकृत होता, जब अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्यज्ञान की कारणता निश्चित रहती; किन्तु वही सिद्ध नहीं, अतः इस तर्क को स्वीकृति दिए जाने का प्रश्न नहीं—

'तात्पर्यज्ञानकारणताया एवासिद्धत्वेन युगपदर्थद्वयबोधानुपपत्तिवाचोयुक्तेर-मणीयत्वात्। तादृशज्ञानहेतुतासिद्धौ तु शक्येतापीत्थं वक्तुम्'[३]।

पूर्वपक्षियों की इस शङ्का का कि जब तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं माना जाएगा, तब उसका औचित्य ही क्या?; पण्डितराज स्वतः अनुमान करते हुए उत्तर देते हैं कि—'अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रमाणमयमर्थः प्रमाणवेद्य इत्यादिनिर्णये प्रवृत्त्याद्युपयोगिनीति गृहाण'[४]। अर्थात् इस अर्थ में यह शब्द प्रमाणभूत है और इस शब्द का यही अर्थ प्रामाणिक है, इत्यादि अर्थनिर्धारण के प्रवृत्ति-निवृत्तिपरक प्रसङ्ग में तात्पर्यज्ञान उपयोगी है। आशय यह है कि नानार्थक शब्दों के श्रवणकाल में अनेकार्थों को समझने वाले श्रोता की वक्ता के तात्पर्य के विषय में जिज्ञासा होने पर यह तात्पर्यज्ञान ही उसे इस निर्णय में सहायक हुआ करता है कि यहाँ यह नानार्थक शब्द इस अर्थ में ही प्रामाणिक है। इसी निर्णयपरिज्ञान के बाद वह उसके अभीष्ट वक्तव्य को समझता है।

इस प्रकार एकार्थक, अनेकार्थक समस्त स्थलों में शाब्दबोध प्रसङ्ग में तात्पर्यनिर्णय-ज्ञान की कारणता शिथिल कर दिए जाने की स्थिति में भी

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. २१; २. तत्रैव, पृ. २२।
३. तत्रैव, पृ. २३; ४. तत्रैव, पृ. २३।

अप्राकरणिक अर्थ के बोध हेतु व्यञ्जना की स्वीकृति आवश्यक नहीं। अभिधा से ही प्राकरणिक–अप्राकरणिक समस्त अर्थों का बोध हो जाएगा—

'इत्थं च नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यधियः कारणतायां शिथिलीभवन्त्याम-तात्पर्यार्थविषयशाब्दबुद्धिसम्पादनाय व्यक्तिस्वीकारोऽनुचित एव शक्त्यैव बोधद्वयोपपत्तेः'[१]।

नानार्थकस्थल में क्वचित् व्यञ्जनाविलास

यदि वक्ता के तात्पर्यज्ञान अथवा श्रोता की विशिष्ट बुद्धि को कारण मानकर यह माना जाय कि अप्राकरणिक अर्थ को समझाने वाली व्यञ्जना कहीं विलसित होती है, कहीं नहीं, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं। कारण जब तात्पर्यज्ञान को व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति कारण ही नहीं माना गया है, तो फिर वक्ता के तात्पर्य को लक्ष्य कर यह कहना कि यह विशिष्ट शब्द वक्ता ने इस विशिष्ट व्यङ्ग्य का बोध कराने के लिए कहा है, उचित नहीं।[२]

पुनः यदि व्यङ्ग्यार्थ बोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानना भी चाहें, तो वहाँ 'व्यतिरेकव्यभिचार' रूप दोष उपस्थित हो जाएगा। जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य नहीं भी रहेगा उसका भी बोध व्यञ्जना से होने लगेगा। उदाहरणार्थ जहाँ अश्लीलत्वदोष रहता है, वहाँ दूषित अर्थ में कवि का तात्पर्य नहीं होता; परन्तु फिर भी व्यञ्जना से उस द्वितीय अर्थ का बोध होता है। जैसे 'रुचिङ्कुरु' में मध्यवर्ती 'चिङ्कु' पद कश्मीरी भाषा में अश्लील अर्थ का द्योतक है, इस अर्थ में कवि का अभिप्राय भी नहीं है, तथापि यह अर्थ व्यंजित होता है। अतः तात्पर्यज्ञान को व्यञ्जना के उल्लास का कारण नहीं माना जा सकता[३]।

जहाँ तक सूक्ष्म बुद्धि वाले श्रोता द्वारा नानार्थकस्थल में व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति का प्रश्न है और इस आधार पर यह कहा जाता है कि श्रोता की शक्तिविशेष व्यञ्जना के उल्लास का कारण है, तो यह शक्ति चमत्कारी अर्थ में ही व्यङ्ग्यार्थ का बोधन करती है, चमत्कारविहीन अर्थ में नहीं, फलतः व्यञ्जना क्वाचित्की हो गई। परन्तु यह मान्यता भी उचित नहीं, कारण जब श्रोता की विशिष्ट बुद्धि ही व्यञ्जना की उद्भाविका होगी, तो उसी विशिष्ट बुद्धि

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २४।

२. नापि द्वितीयः हेतोरभावात्। व्यङ्ग्यार्थविषयककवितात्पर्यज्ञानं तथेति चेत्? न व्यक्तिजबोधे तात्पर्यज्ञानकारणतायास्त्वयानभ्युपगमात्। (तत्रैव, पृ. २५)

३. यत्राश्लीलं दोषस्तत्राप्राकरणिकेऽर्थे सकलानुभवसिद्धे कवितात्पर्यस्य विरहात् तज्ज्ञानस्य तादृशबुद्धिहेतुताया व्यभिचारदूषितत्वाच्च। (तत्रैव, पृ. २५)

को प्रकरणादि से नियन्त्रित अप्राकरणिक अर्थ वाली अभिधा की ही उद्भाविका क्यों न मान लिया जाय? ऐसा होने पर अभिधा ही नानार्थक शब्दों के प्रयोग स्थल में अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध करा देगी[१]।

व्यञ्जना के क्वाचित्की होने पर भी उसके सम्बन्ध में यह तो सुस्पष्ट सत्य है कि व्यञ्जना से उसी को अप्राकरणिक अर्थ का बोध होगा, जिसे अप्राकरणिक अर्थ की अभिधाशक्ति ज्ञात रहती है। यह बोध उसे नहीं होता, जिसे अप्राकरणिकार्थ विषयक शक्तिज्ञान ही नहीं है, अथवा ज्ञान होने पर भी किसी कारणवश विस्मृत हो गया। फलतः उसे सर्वथा अप्रस्तुतार्थबोध नहीं होगा। परन्तु श्रोता की सूक्ष्मार्थान्वेषिणी शक्तिविशेष को चमत्कारी अर्थ के सन्दर्भ में व्यञ्जनोल्लास का कारण मानने पर अज्ञातशक्ति अथवा विस्मृतशक्ति व्यक्ति को भी व्यञ्जना से अप्राकरणिक अर्थ का बोध होना चाहिए; क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारी है; परन्तु अनुभव इसे स्वीकृति नहीं देता। जिसे अप्रस्तुतार्थ का ज्ञान ही नहीं या उसकी विस्मृति हो चुकी है, उसे व्यङ्ग्यार्थबोध ही न होगा—

'नानार्थव्यञ्जकस्थलेऽगृहीतद्वितीयार्थशक्तिकस्य गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुंसः सर्वत्रैव व्यञ्जनया द्वितीयार्थबोधानुदयात्तत्र तया तदापत्तिस्तव दुर्वारा'[२]।

इस दोष के निराकरण के लिए व्यञ्जनावादियों द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि जिस शब्द से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञान ही अप्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में व्यञ्जना के आविर्भाव का कारण है। अर्थात् शब्दार्थ में शक्तिज्ञान ही व्यञ्जना का उद्भावक है। पूर्वपक्षी अभिधावादी आचार्य इस तर्क का भी प्रत्युत्तर तैयार रखते हैं। उनका वक्तव्य है कि ऐसा कथन समुचित नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर 'निःशेषच्युतचन्दनं......' इत्यादि उदाहरण में 'वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्' में 'अधम' पद से अभिव्यञ्जित होने वाले 'रमण' अर्थ में अभिधाशक्ति का ज्ञान किसी को नहीं है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति यहाँ तक कि वैयाकरण भी 'अधम' पद का अर्थ रमण नहीं समझता। तब 'अधम' पद से 'रमण' अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए, जब कि ऐसी अनुभूति होती

---

१. अथ श्रोतुः शक्तिविशेषो व्यक्तेरुल्लासे हेतुः, स च फलबलाच्चमत्कारिण्ये वार्थे व्यक्तिमुल्लासयति नाचमत्कारिणीति सिद्धं व्यञ्जनोल्लासस्य क्वाचित्कत्वमिति चेत्? न हन्तैवं स नियन्त्रितशक्तेरेव वोल्लासकोऽस्त्विति कृतं नानार्थस्थले व्यक्तिकल्पनया।
(रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २६)

२. तत्रैव, पृ. २७।

है, यह अनुभवसिद्ध सत्य है। यदि दुराग्रहपूर्वक यह कहा जाय कि 'अधम' पद की शक्ति का ज्ञान 'रमण' अर्थ में है, नायक को तो अवश्य ही है, तो एक तो यहाँ केवल नायक की अनुभूति से सकल सहृदयों की अनुभूति का मापन नहीं हो सकता। दूसरे यह मानने पर अभिधा को ही प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों अर्थों की प्रतिपादिका मान लीजिए। अप्रस्तुतार्थ के बोधन में शक्तिग्रह का नियन्त्रण ही हटा दीजिए। व्यञ्जना की कल्पना ही व्यर्थ है[१]।

व्यञ्जनास्वीकृति की अनिवार्यता, बाधित नानार्थकस्थल में

यदि अभिधावादियों की यह उक्ति स्वीकार कर ली जाय कि नानार्थक स्थलों के शाब्दबोध प्रसङ्ग में प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों का बोध अभिधा से ही हो जाय, पर यह शाब्दबोध वहीं होगा, जहाँ अप्राकरणिक अर्थ बाधित न हो। जहाँ वह बाधित होगा, वहाँ अप्राकरणिकार्थ की प्रतीति अभिधा से न हो सकेगी, कारण, शाब्दबोध में योग्यता अर्थात् पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध बाधित न होना प्रमुख कारण है। अत: बाधित अर्थ का बोध अभिधा न कराएगी। बाधनिश्चय प्रतिबन्धक हो जाएगा। उदाहरणार्थ 'जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विज:' इस वाक्य में 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर अत्यधिक जैमिनीय मुनि प्रतिपादित मीमांसाशास्त्र धारण करता है', यह मुख्यार्थज्ञात होता है। इस अर्थ के अतिरिक्त इसका एक अन्य अप्रस्तुतार्थ भी है, जो परिहासोक्ति रूप है एवं 'अग्निसिञ्चन' की तरह बाधयुक्त है। अर्थ है, यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर जैमिनीय के मल को धारण करता है। स्पष्ट है, यह द्वितीय अर्थ बाधित है। कोई ब्राह्मण जीभ पर मल नहीं धारण कर सकता, पर परिहासगोष्ठी में इसका अनुभव किया जाता है। इस बाधित अर्थ का बोध अभिधा से हो नहीं सकता; जब कि व्यञ्जनावादियों के अनुसार इस बाधित अप्रस्तुत अर्थ का बोध व्यञ्जना से हो जाएगा। व्यञ्जना से होने वाले इस अप्रस्तुतार्थ ज्ञान में बाधनिश्चय प्रतिबन्धक नहीं माना जाएगा। आशय यह है कि अभिधावादियों के मत को स्वीकार कर 'सुरभिमांसं भक्षयति' जैसे अबाधित नानार्थक शाब्दबोध प्रसङ्ग में अप्रस्तुत गोमांस रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा से भले हो जाय, पर बाधित अर्थ वाले 'जैमिनीय मलं धत्ते......' इत्यादि स्थलों में विष्ठाधारण रूप बाधित

---

१. न च येन शब्देन योऽर्थो व्यज्यते, तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरुल्लासे हेतुरिति वाच्यम्, 'निःशेषच्युत' इत्यादौ रमणव्यक्त्यनापत्तेः। न ह्यधमपदस्य कस्यचिद्रमणे शक्तिग्रहोऽस्ति। सति वा तस्मिन् एवोपपत्तौ व्यक्तिकल्पनवैयर्थ्यापत्तेश्च।

(रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २८)

अप्रस्तुत अर्थ अभिधा से कथमपि बोध्य न हो सकेगा। उसके लिए व्यञ्जना की स्वीकृति आवश्यक है[1]।

व्यञ्जनास्वीकृति की अनिवार्यता, बाधित नानार्थकस्थल में

व्यञ्जनावादियों के पूर्वोक्त तर्क का कि 'बाधित अप्राकरणिक अर्थ वाले नानार्थकस्थलों में अप्राकरणिकार्थ बोध के लिए व्यञ्जना आवश्यक है; अभिधावादी पूर्वपक्षियों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं। अपने मत की पुष्टि हेतु वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि—'गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्' सचमुच पतञ्जलि के बहाने से पृथ्वी पर सरस्वती उतर आई हैं; एवं 'सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः' अर्थात् इस नगर के प्रासादों के शिखर सूर्य से मिलते हैं, वाक्यों में अतिशयोक्ति अलङ्कार है और यह अतिशयोक्ति वाच्य है; परन्तु वाच्यार्थ बाधित है; क्योंकि सरस्वती का पतञ्जलि रूप में पृथ्वी पर अवतरण एवं प्रासाद शिखरों का सूर्य से मिलन ये कभी सम्भव हो नहीं सकते, फलतः बाधित हैं। यदि बाधित अर्थ को व्यञ्जना से गम्य मानेंगे, तो अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार भी व्यङ्ग्य हो जाएँगें, वाच्य रहेंगे ही नहीं एवं यह स्थिति प्रायः अधिकांश अलङ्कारों के साथ होगी। अतः जैसे अलङ्कारप्रधान स्थलों में वाच्यार्थ के बाधित रहने पर भी उन अर्थों का बोध अभिधा से ही माना जाता है, वैसे ही बाधित अप्राकरणिक अर्थों का बोध भी अभिधा से हो जाएगा, उसके लिए व्यञ्जना की स्वीकृति आवश्यक नहीं[2]। जहाँ तक बाधित अर्थ के अभिधा द्वारा बोध का प्रश्न है कि यह सम्भव कैसे है? इसका उत्तर इस प्रकार है—

'तदवत्ताज्ञानं प्रति तदभाववत्तानिश्चयः प्रतिबन्धकः' यह शास्त्रसिद्धान्त है, अर्थात् उस धर्म से युक्त पदार्थ के ज्ञान के प्रति उस पदार्थ में उस धर्म के अभाव का निश्चय प्रतिबन्धक होता है। जैसे मुख में चन्द्रत्वप्रकारक मुखविशेष्यक ज्ञान के प्रति मुख में चन्द्रत्व धर्म का अभाव है, यह निश्चय प्रतिबन्धक होता है;

---

१. अथास्त्वप्राकरणिकोऽप्यर्थः शक्तिवेद्य एवान्वयधीगोचरः; परन्तु यत्र न बाधितः स्यात्। यत्र तु बाधितस्तत्र 'जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः' इत्यादौ जुगुप्सितोऽर्थो वह्निना सिञ्चतीत्यादौ वह्निकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात्। बाधनिश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकतायाः सर्वजनसिद्धत्वात्। व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोष इति। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. ३०)

२. मैवम्, 'गामवतीर्णासत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्, सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः'; इत्यादौ वाच्यार्थान्वयोपपादनायानुसरणीयेन यत्नेन नानार्थस्थलेऽपि बाधितार्थ-बोधस्योपपत्तिः स्यात्, अन्यथा प्रायशः सर्वेष्वप्यलङ्कारेषु वाच्यार्थबोधोपपत्तये व्यञ्जनाङ्गी-करणीया स्यात्। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ३१)

परन्तु यह प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धकभाव अनाहार्य, रोगविशेषाद्जन्य, शाब्दान्य अर्थात् शाब्दबोध से भिन्न अभिव्यक्ति के प्रति ही प्रतिबन्धक हुआ करता है। उदाहरणार्थ जिसे पीलिया रोग है, उसे शङ्ख पीला दिखेगा; यद्यपि उसे निश्चय है कि शङ्ख पीला नहीं होता। फलतः जब वह 'पीतः शङ्खः' कहेगा, तो यहाँ बाध नहीं होगा, क्योंकि यह ज्ञान उसे रोगविशेष के कारण हो रहा है। इसी प्रकार 'शशश‍ृङ्गः' जैसे प्रयोग में हमें निश्चय होता है कि शश को श‍ृङ्ग नहीं होता, तब भी 'शशश‍ृङ्गः धनुर्धरः' इत्यादि प्रयोग होते ही हैं। स्पष्ट है, शब्दजन्य बोध में बाधबुद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती।

इसी प्रकार अनाहार्यस्थल में भी बाधबुद्धि प्रभावी नहीं होती। अनाहार्य का अर्थ है, आहार्य का अभाव। आहार्य का अर्थ है, बाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान। अर्थात् मुखचन्द्र नहीं है, यह हमें निश्चय है; तथापि हम अपनी इच्छा से मुख को चन्द्र कहते हैं, अर्थात् मुख में चन्द्रत्वप्रकारक ज्ञान करते हैं। ऐसे स्थलों में बाधबुद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती।

इन्हीं यत्नों से, अर्थात् शाब्दान्यत्व अथवा आहार्य मानकर बाधित अर्थ का बोध भी अभिधा से हो जाएगा, व्यञ्जना मानने की आवश्यकता न रहेगी।

इस प्रकार रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने नानार्थक शब्दों से होने वाले शाब्दबोध-प्रसङ्ग में व्यञ्जना समर्थकों व अभिधावादियों के मत-मतान्तरों को सविस्तार युक्तियुक्त विश्लेषण सहित प्रस्तुत कर निष्कर्ष उपस्थित किया कि— 'तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति प्राचां सिद्धान्तः शिथिल एव'[१]।

अर्थात् नानार्थक स्थलों में अप्राकरणिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से होता है, यह प्राचीन आचार्यों का मत शिथिल ही है। इस स्वीकारोक्ति के साथ नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में अप्रस्तुत अर्थ का ध्वनन ही शब्दशक्तिमूल ध्वनि है, इस प्राचीन मान्यता की युक्ति-युक्तता भी वैचारिक विश्लेषण के केन्द्र में आ जाती है।

शब्दशक्तिमूल-ध्वनि एवं पण्डितराज

अपनी तीक्ष्ण तार्किक शक्ति एवं सुदृढ़ समीक्षा के बल पर शब्दशक्तिमूल-ध्वनि के सम्बन्ध में प्राचीन ध्वनिवादी मम्मटादि आचार्यों की मान्यता को शिथिल प्रदर्शित कर देने की उद्भट आचार्यीय क्षमता रखनेवाले एवं नानार्थक शब्दों से होनेवाले शाब्दबोध के सन्दर्भ में प्राकरणिक-अप्राकरणिक उभयविध अर्थों के

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ३२।

प्रतिपादन में व्यञ्जना के साथ अभिधा को भी स्वीकृति देने वाले पण्डितराज कुछ ऐसे स्थल प्रस्तुत करते हैं, जहाँ शब्दशक्तिमूल ध्वनि का अभिव्यञ्जन व्यञ्जना से ही सम्भव होगा, अभिधा से नहीं। उदाहरणार्थ शब्द के त्रिविध प्रभेदों रूढ़ि, यौगिक व योगरूढ़ि में से योगरूढि के स्थलों में यौगिक अर्थ वाच्य होता है; परन्तु यदि रूढ़िजन्य अर्थ यौगिक अर्थ से भिन्न हो तो 'रूढिर्योगापहारिणी' सिद्धान्त से रूढ़िशक्ति योगशक्ति को बाँध लेगी। जैसे 'पङ्कज' शब्द है, यहाँ दो अवयवात्मक अङ्ग हैं—पङ्क + ज। योगशक्ति से अर्थ होगा—"पङ्के जात:' अर्थात् पङ्क से उत्पन्न होने वाला। पङ्क में तो कुमुद, कमल, सेवार, घोंघा आदि कई पदार्थ उत्पन्न होते हैं। योगशक्ति से पङ्कज से ये सभी अर्थ ज्ञात हो जाएगें; परन्तु रूढ़ि है, केवल कमल में। अत: रूढ़िशक्ति यौगिक अर्थों को बाँध कर केवल कमल अर्थ का बोध कराती है। परन्तु कहीं-कहीं एक ही योगरूढ़ पद से रूढ्यर्थ का बोध हो जाने के बाद भी योगार्थ की प्रतीति देखी जाती है। पण्डितराज का विवेचन है कि ऐसे स्थलों में इस योगार्थ की प्रतीति अभिधा से तो हो नहीं सकती; क्योंकि उस प्रतीति में योगशक्ति का रूढ़िशक्ति से बाध हो गया रहता है। अत: उस प्रतीति की अभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना की स्वीकृति ही अनिवार्य होगी—

'एवमपि योगरूढ़िस्थले रूढिज्ञाने योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धतया रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थालिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीतिर्दुरुपपादा[१]।'

इस मत की पुष्टि हेतु पण्डितराज उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

यहाँ 'अबला', 'वारिवाह' और 'चपला' शब्द योगरूढ हैं। रूढिशक्ति से इनका अर्थ क्रमशः स्त्री, मेघ व विद्युत् है, जबकि यौगिक शक्ति से अर्थ होगा—१.नास्ति बलं येषां ते अबला:, अर्थात् दुर्बल २. वारि जलं वहन्तीति वारिवाहा:, अर्थात् मेघ ३. चपला अर्थात् चञ्चला। 'रूढिर्योगापहारिणी' सिद्धान्त से प्रथमत: रूढ्यर्थ ज्ञात होगा कि जिस समय विद्युल्लताएँ स्त्रियों की शोभा (गौरत्व, कृशत्व व चाञ्चल्य) को हर कर मेघों के साथ निवास करती हैं, वह काल (वर्षा) आ गया है। चूँकि रूढ़ि शक्ति यौगिक शक्ति को बाँध लेती है, अत: यौगिकार्थ का बोध अभिधा से नहीं होगा। परन्तु इस पद्य का यह यौगिकार्थ भी सहृदयों

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, प्र.भा. पृ. ३४।

के अनुभवपथ में आता है, वह यह है कि जिस समय में चपलाङ्गनाएँ (वाराङ्नाएँ) निर्बल पुरुषों की श्री अर्थात् धनादिक का अपहरण करके जलवहन करने वाले पुरुषों के साथ निवास करती हैं, वह काल आ गया है। इस द्वितीय अर्थ का बोध अभिधा से होगा नहीं, अत: इसकी अभिव्यक्ति हेतु व्यञ्जना स्वीकृति की अनिवार्यता होगी। यदि कोई यह तर्क दे कि उक्त द्वितीय अर्थ इस पद्य का होगा ही नहीं, तो यह तर्क माना ही नहीं जा सकता; क्योंकि इस स्थिति में प्रस्तुत पद्य में कोई चमत्कार होगा ही नहीं एवं काव्यत्व का व्यवहार चमत्कार के ही अधीन है। यदि यह तर्क दिया जाय कि द्वितीय अर्थ का बोध योगरूढ़शक्ति से न हो, योगशक्ति से ही हो जाएगा, तो यह बात भी उचित नहीं, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त शब्द योगरूढ़ है; यौगिक नहीं। यदि पूर्वपक्षी यह हठ करें कि यहाँ योगरूढ़ शब्दों के प्रयुक्त होने पर भी हम द्वितीयार्थ की प्रतीति का कारण यौगिक शब्दों को ही मान लेंगें, तो ऐसा कहना भी न्यायसंगत नहीं होगा; क्योंकि यौगिकशक्ति से भी वाराङ्गना पुरुष एवं रमण रूप अर्थों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाएगी। इनके बोध के लिए शाब्दी-व्यञ्जना की स्वीकृति की अनिवार्यता होगी[१]। यही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का स्थान होगा।

अपने मत की पुष्टि हेतु पण्डितराज योगरूढ़ि स्थल का ही एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जहाँ शाब्दी-व्यञ्जना की स्थिति अनिवार्य होगी—

चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं हरति॥

यहाँ नयन, जलज एवं मृग पद योगरूढ़ हैं। रूढ़िशक्ति से इनका अर्थ नेत्र, कमल एवं हरिण होगा, फलत: पद्य का अर्थ निष्पन्न होगा—तुम्हारे चञ्चल नेत्र, उन कमलों की शोभा का जो चाञ्चल्यगुणरहित हैं, हरण कर लेते हैं, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे चाञ्चल्यगुणशाली मृगों की नेत्र-शोभा का तिरस्कार करते हैं।

रूढ़िशक्ति प्रतिपादित इस वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर योगशक्ति से इस श्लोक का एक अन्य अर्थ भी प्रतीत होता है। वह यह है कि जलज =

---

१. अत्राशक्तानां द्रव्यमपहृत्य जलवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्चल्यो रमन्त इत्यर्थान्तरं न तावदबलावारिवाहचपलाशब्दैर्योगरूढ्या शक्यते बोधयितुम्, मेघत्वविद्युत्त्वाद्यघटितस्यैव तस्यार्थस्य प्रतीतेः, अन्यथा चमत्कारो न स्यात्। अतएव न योगशक्त्यापि केवलया। रूढ्यर्था संवलितार्थबोधकत्वस्य तस्या रूढिसमानाधिकरणाया असंगतेः। पुंश्चलीत्वादेः सर्वथैव तदविषयत्वात्। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ३४)

(डलयोरभेदात्) अर्थात् मूर्खों के पुत्रों की सम्पत्ति का हरण कर लेना नयन = नेता (ले जाने वाले) चोरों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो इस बात का है कि वन में रहने वाले चञ्चल, चतुर व अन्वेषकों के भी धन का हरण वे कर ले पाते हैं।

जैसा कि पूर्वकथित है यहाँ जलज, नयन व मृग पद योगरूढ़ि युक्त है। रूढ़ि प्रतिपादित अर्थ का अनुभव हम कर चुके हैं। यौगिक अर्थ होगा, जलज अर्थात् जडज (मूर्खपुत्र) नयन = नेता (हरण) कर ले जाने वाले एवं मृग = गवेषक। इसी योगशक्ति के बल से उपर्युक्त द्वितीय अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस द्वितीयार्थ का बोध व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य किसी वृत्ति से नहीं हो सकता। फलत: शाब्दी-व्यञ्जना की स्थिति है[१]।

पण्डितराज का स्पष्ट अभिमत है कि योगरूढ़ पद केवल योगशक्ति से अन्य अर्थ का बोध नहीं कराता। वहाँ रूढ्यर्थ अभिधा से प्रतिपादित होता है व योगार्थ की प्रतीति में सहायिका व्यञ्जना हुआ करती हैं। इस मत की पुष्टि हेतु वे अन्य आचार्यों की सम्मतियाँ भी प्रदर्शित करते हैं। उनका कथन है कि योगरूढिशक्ति युक्त 'पङ्कज' पद से अभिधाशक्ति से पङ्क से जन्म ग्रहण करने वाले कमल पद का ही जो बोध होता है, वह उसका रूढ्यर्थ है। वहाँ केवल योगशक्ति के बल पर 'पङ्कज' पद से कुमुद, घोंघा, सेवारादि का बोध नहीं होता। यदि कहीं 'पङ्कज' पद के यौगिक अर्थ को लेकर कुमुद, सेवारादि का अर्थग्रहण कराना अभीष्ट रहता है, तो उसके लिए 'पङ्कज' पद में लक्षणावृत्ति से कुमुद आदि अर्थ का ग्रहण नैयायिक मानते हैं—'अतएव पङ्कजादिपदेभ्य: पङ्कजनिकर्तृत्वेन कुमुदाद्युपस्थितिर्लक्षणयैवेति नैयायिका मन्यन्ते'[२]।

यही स्थिति वेदान्तियों की भी है। वे भी योगरूढ पद से केवल योगार्थ का बोध नहीं मानते। उदाहरणार्थ—'अङ्गुष्ठमात्रपुरुष: ज्योतिरिवाधूमक:। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व:' अर्थात् निर्धूम अग्निज्योति के समान अङ्गुष्ठमात्र प्रमाण वाला पुरुष ही आज एवं भूत तथा भावी का स्वामी है तथा

१. अत्र नैवाश्चर्यकारी चाञ्चल्यगुणरहितानां कमलानां चाञ्चल्यगुणाधिकेन तवलोचनेन शोभायास्तिरस्कार: आश्चर्यकृत्तु हरिणानां तद्गुणयुक्तानां तस्या: स इति वाच्यार्थे पर्यवसन्नेऽपि रूढिनिर्मुक्तकेवलयोगमर्यादया मूर्खपुत्राणामतएव 'प्रमत्तानां नेतृभिश्चोराद्यै: श्रियो धनस्य हरणं सुशकम् न तु गवेषकाणामतएवाप्रमत्तानामिति जलजनयनमृगशब्देभ्य: प्रतीयमानोऽर्थ: कथं नाम व्यञ्जनाव्यापारं विनोपपादयितुं शक्यते। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ३६)

२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ३७।

भविष्य में भी रहेगा। इस उपनिषद्वाक्य के श्रवण पर प्रथमतः सन्देह होता है कि यहाँ किसी ऐश्वर्यशाली जीव का वर्णन है या परब्रह्म परमेश्वर का? इसका उत्तर प्रथमतः यह आता है कि जीव का; क्योंकि अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणरूप चिह्न परब्रह्म में नहीं हो सकता। तदनन्तर उत्तरमीमांसाकार भगवान् बादरायण वेदव्यास ने इस सन्देह के निवारणार्थ सूत्र बनाया—'शब्दादेव प्रमितः'। अर्थात् इस उपनिषद्वाक्य में परब्रह्म का ही वर्णन किया गया है; जीव का नहीं, यह बात 'ईशान' शब्द से ही प्रमित अर्थात् यथार्थ रूप में निश्चित है। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार भगवान् बादरायण का आशय यह है कि 'ईशान' शब्द योगरूढ़ है। यौगिक अर्थ हुआ, ऐश्वर्यशाली राजादि के सम्बन्ध में व रूढ्यर्थ हुआ, शिव या ब्रह्म के पक्ष में। ऐसी स्थिति में 'रूढिर्योगापहारिणी' सिद्धान्त से वह ब्रह्म का ही द्योतक होगा, केवल योगमर्यादा से वह ऐश्वर्यशाली जीवादि का बोधक नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि योगरूढ़ि स्थलों मे जो यौगिक अर्थ की प्रतीति सहृदयों को कहीं-कहीं होती है, वह व्यञ्जना से ही होती है, अभिधा से नहीं—

'तस्मादर्थान्तरमिह न शक्तिवेद्यम् अपि तु व्यक्तिवेद्यमेव[1]'

नानार्थक शब्दों के योगरूढ़ि-स्थलपरक प्रसङ्गों में लक्षणा से भी द्वितीय अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती, कारण, मुख्यार्थबाध होने पर ही लक्षणा होती है, और इन उदाहरणों में मुख्यार्थ की बाधा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहता। जहाँ तक 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस उदाहरण वाक्य के समान योगरूढ़ि स्थलपरक शब्दों में तात्पर्य की अनुपपत्ति, फलतः लक्षणा को स्वीकार किए जाने का प्रश्न है, तो ऐसा मानना भी उचित नहीं। 'अबलानां श्रियं हत्वा......' एवं 'चाञ्चल्ययोगिनयनं......' इत्यादि उदाहरण-पद्यों में द्वितीयार्थ में वक्ता का तात्पर्य है, यह बोध ही श्रोता को कैसे होगा? फलतः ऐसे स्थलों में व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है। यदि कोई यह तर्क प्रस्तुत करता है कि उपर्युक्त पद्यों से अप्राकरणिक अर्थों की प्रतीति होती ही नहीं, तो ऐसी बात अल्पज्ञ ही कह सकते हैं। शब्दार्थ की प्रगाढ़ व्युत्पत्ति से मँजे अन्तःकरण वाले ऐसा कभी नहीं कह सकते—'तादृशार्थप्रतिपत्तिरेव नास्तीति तु गाढतर-शब्दार्थव्युत्पत्तिमसृणीकृतान्तःकरणैर्न शक्यते वक्तुम्'[2]।

फलतः पण्डितराज की स्पष्ट मान्यता है कि योगरूढ़ पद की योगशक्ति जब रूढ़िशक्ति से नियन्त्रित कर दी जाती है, तब योगशक्ति से प्रतिपादित होने योग्य अर्थ का बोध जिस वृत्ति से होता है, उसी का नाम है व्यञ्जना।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ३८;

२. तत्रैव, पृ. ४०।

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा[1]॥

निष्कर्ष

नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थल में अप्राकरणिकार्थ के बोध हेतु व्यञ्जना की स्वीकृति एवं अभिधा की स्थिति विषयक दीर्घ विवेचन के उपरान्त पण्डितराज निष्कर्ष रूप में इस तथ्य से सहमत दीखते हैं कि जब योगरूढ़ि स्थलों में यौगिकार्थ के बोध हेतु व्यञ्जना की स्वीकृति अनिवार्य है एवं प्राकरणिक—अप्राकरणिक अर्थबोध में उपमानोपमेयभाव हेतु भी व्यञ्जना माननी ही है, तो अप्राकरणिक अर्थ का बोध भी उसी व्यञ्जना से हो जाय, इसके लिए क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं। इस दृष्टि से प्राचीन आचार्यों द्वारा नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ के लिए मानी गई व्यञ्जना उचित ही है, दोषावह नहीं—

'एवं स्थिते नानार्थस्थलेऽप्युपमायाः प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थगतायाः प्रतिपत्तयेऽवश्यं वाच्यया व्यञ्जनयैवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य प्रतिपत्ताबलं क्लिष्ट-कल्पनयेत्याशयेन प्राचीनैरुक्तं नानार्थव्यञ्जकत्वमपि न दुष्यति'[2]।

शब्दशक्ति विवेचन

जिस साधन या शक्ति द्वारा शब्द के अर्थ का बोध होता है, उसे शब्द-शक्ति कहते हैं। साहित्यशास्त्र में तीन शब्दशक्तियाँ स्वीकृत हैं—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने अभिधा एवं लक्षणा का ही विवेचन किया है। व्यञ्जना का विवेचन वहाँ नहीं प्राप्त होता। इसका यही कारण प्रतीत होता है कि ध्वनिकार से प्रारम्भ होकर मम्मट तक अपना परिनिष्ठित स्वरूप पा जाने वाली व्यञ्जना के सर्वमान्य स्वरूप के सम्बन्ध में सम्भवतः उन्हें कोई नई बात कहनी अभीष्ट नहीं थी, फलतः ध्वनिविवेचन में व्यञ्जना को समाहित कर लेने वाले पण्डितराज ने शब्दशक्ति प्रसङ्ग में व्यञ्जनाविषयक विवेचन कर पिष्टपेषण करना उचित न समझते हुए अपना ध्यान अभिधा एवं लक्षणा पर केन्द्रित किया।

ध्वनिसिद्धान्त के प्रबल समर्थक होने के कारण पण्डितराज ने इन दोनों शब्दशक्तियों की निरूपणिका पङ्क्तियों में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इनका काव्यात्मभूत ध्वनि के साथ भी सम्बन्ध है—

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. ४१; २. तत्रैव, पृ. ४१।

१. 'अथ केयमभिधा नाम, यन्मूलः प्रथमं निरूपितोऽयं ध्वनिप्रपञ्चः उच्यते'[१]—

२. 'अथ केयं लक्षणा, यन्मूलश्चरमं निरूपितो ध्वनिः? उच्यते'[२]

अभिधा

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्धविशेष का नाम अभिधा है। पण्डितराज ने इसका लक्षण इन शब्दों में निर्धारित किया है—'शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा'[३]।

अर्थ का शब्द के साथ अथवा शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्धविशेष है, जिसे 'शक्ति' के नाम से पुकारा जाता है, वही अभिधा है।

अभिधा-विषयक मान्यताएँ–

पण्डितराज ने अभिधा का लक्षण देने के पश्चात् उससे सम्बन्धित दो मतों को प्रस्तुत किया है। एक मत वैयाकरण व मीमांसक सम्मत है तथा दूसरा नैयायिकों का।

'सा च पदार्थान्तरमिति केचित्। अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा। तस्याश्च विषयता सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात्। अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यम्, इत्यपरे[४]।

'एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथममतमेव ज्यायः इत्यपि वदन्ति'[५]।

अर्थात् यह सम्बन्धविशेष रूप जो शब्दशक्ति है, वह पदार्थान्तर है, अर्थात् नैयायिकों द्वारा स्वीकृत जो सात पदार्थ हैं[६], उनसे अतिरिक्त है, ऐसा मीमांसादिकों का मत है। नैयायिकों के अनुसार इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए, इस रूप में होने वाली ईश्वर की इच्छा ही अभिधा है। परन्तु ईश्वरेच्छा एक है और नित्य है, वह विषयता-सम्बन्ध से समग्र पदार्थों में रहती है, अतः जैसे ईश्वरेच्छा का विषय घट पदार्थ है, वैसे ही पटादि पदार्थ भी हैं। अतः घट पद की ईश्वरेच्छा रूपा शक्ति पट पदार्थ में भी रहेगी। फलतः घट पद

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १३३; २. तत्रैव, पृ. १६१।
३,४. तत्रैव, पृ. १३४; ५. तत्रैव, पृ. १३४।
६. द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः।। (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १/२)

का अर्थ पट भी हो जाएगा। घट पद से पट अर्थ भी बोध्य होने लगेगा। इस दोष के परिमार्जन के लिए नैयायिकों द्वारा ईश्वरेच्छा रूप संकेत को व्यक्तिविशेष की उपाधि से विशिष्ट रूप में ग्रहण करने की व्यवस्था की गई। अर्थात् 'घटपदात् बोधव्यो घट:' यह घटोपहिता ईश्वरेच्छा का स्वरूप घट के विषय में होगा व 'पटपदात् बोधव्य: पट:' यह पटोपहिता ईश्वरेच्छा का स्वरूप पट के विषय में होगा। फलत: पट पदार्थ से उपहित ईश्वरेच्छा घट में नहीं जाएगी व घट से उपहित ईश्वरेच्छा पट में नहीं जाएगी।

इस समाधान पर एक अन्य आपत्ति मीमांसकों व वैयाकरणों द्वारा की जाती है। नियम यह है कि 'जानाति इच्छति ततो यतते' अर्थात् प्रथमत: किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तदनन्तर तद्विषयक इच्छा होती है और तब तद्विषयक प्रयत्न किया जाता है। ईश्वर का ज्ञान भी नित्य है व प्रयत्न भी, फिर ज्ञान व प्रयत्न को छोड़कर इच्छा को ही शक्ति क्यों माना जाय?

पण्डितराज के अभिधा-सम्बन्धी मीमांसक-सम्मत इस सुदीर्घ वक्तव्य को भलीभाँति समझने के लिए उस नैयायिक मत को भी सम्यग्रूपेण परीक्षित करना आवश्यक है, जिसका मीमांसक खण्डन करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार शाब्दबोध प्रक्रिया में व्यक्ति की चेतना में पहले पद उपस्थित होता है। पदज्ञान से पदार्थज्ञान होता है और तब शाब्दबोध होता है[१]। पद से पदार्थज्ञान कैसे होता है, इसके लिए नैयायिकों ने ईश्वरेच्छा को कारण माना है। उनके अनुसार प्रत्येक पद में अपना अर्थ देने का संकेत निहित रहता है; जो ईश्वरेच्छा द्वारा प्राप्त होता है। इसी ईश्वरेच्छा रूप संकेत को वह वृत्ति या शक्ति कहते हैं। इन्हीं वृत्तियों द्वारा प्रतिपादित अर्थ पदार्थ कहा जाता है[२]।

यह संकेत रूप ईश्वरेच्छा दो प्रकार की होती है—१. अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्य: २. इदं पदममुमर्थं बोधयतु अर्थात् इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए अथवा यह पद इस अर्थ का बोधन कराए। परन्तु ईश्वरेच्छा के संसार की सभी वस्तुवों में विद्यमान रहने के कारण घटादि पदार्थ भी संकेतयुक्त होने के कारण पटादि के वाचक हो जाएगें। अत: इस दोष के निवारणार्थ नैयायिक ईश्वरेच्छा को व्यक्तिविशेष की उपाधि से उपहित रूप में ग्रहण करते हैं, जिसके अनुसार

---

१. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधी:।
शाब्दबोध: फलं तत्र शक्तिधी: सहकारिणी।।
(कारिकावली—सिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड ८१)

२. वृत्त्या प्रतिपाद्य एव पदार्थ इत्यभिधीयते। (शक्तिवाद, पृ. २)

गोत्व विशिष्ट ईश्वरेच्छा रूप संकेत गो पदार्थ में होता है, पट में नहीं, पटत्व विशिष्ट ईश्वरेच्छा रूप संकेत पट में होता है, घट में नहीं।

परन्तु इस मत को स्वीकार करने पर पण्डितराज की तार्किक बुद्धि ने कुछ दोष देखे, जो मीमांसकों की दृष्टि में भी आगत हैं। यदि ईश्वरीय इच्छा को ही अभिधा माना जाता है, तो ईश्वरीय ज्ञान व यत्न को अभिधा क्यों नहीं माना जाता? कारण, ईश्वरीय इच्छा के समान ईश्वरीय ज्ञान व यत्न भी सब जगह विद्यमान है। फलत: पण्डितराज इस नैयायिक मान्यता से सहमत नहीं दीखते कि ईश्वरेच्छा ही अभिधा है—'एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथममतमेव ज्यायः, इत्यपि वदन्ति'[१]।

वस्तुत: अभिधा के सम्बन्ध में पण्डितराज की स्थापनाएँ मीमांसकों व वैयाकरणों से प्रेरित हैं, जो शब्द को नित्य मानते हैं—'नित्यः शब्दः, नित्योऽर्थः, नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः'[२]। वैयाकरणों की मान्यता है कि जिस प्रकार आँख में देखने की शक्ति व कान में सुनने की शक्ति स्वाभाविक रूप में रहती है, उसी प्रकार शब्द व अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है[३]। मीमांसकों के अनुसार भी वर्णनित्य हैं, उनमें अर्थप्रतिपादन की क्षमता भी नित्य है[४]। शब्द तथा अर्थ के इस सम्बन्ध को ही वैयाकरण अभिधा कहते हैं—'तस्मात्पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्यवाचकाभावापरपर्याया'[५]।

पण्डितराज ने 'पदार्थान्तरमिति केचित्' कहते हुए मीमांसकों व वैयाकरणों के इसी दृष्टिकोण को समेट लिया है, एवं नैयायिक मान्यता में कतिपय असंगतियों को लक्ष्य कर वैयाकरण व मीमांसासम्मत प्रथम मान्यता को उचित ठहराया है। उनका अभिधा लक्षण भी शब्द व अर्थ के नित्य सम्बन्ध की स्थापना पर जोर देने वाले इन दोनों मतों से साम्य रखता है—'शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा'[६]।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १३४।

२. 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक पर सिद्धेशब्देऽर्थे सम्बन्धे च नित्यपर्यायवाचीसिद्धशब्दः, (व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

३. इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।। (वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध २९)

४. सर्वे च शब्दाः सर्वाभिधानसमर्थाः इति सर्वैरर्थैः सर्वेषां शब्दानां सम्बन्धः। ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकः। अतएव नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः इति तान्त्रिकाः।
योगवाचस्पत्यम्, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा पृ. ४९

५. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, पृ. २६।

६. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १३४।

अभिधा के प्रभेद–

अभिधा का लक्षण निरूपित करने के अनन्तर पण्डितराज ने प्राचीन आचार्यों द्वारा रूढ़ि, यौगिक व योगरूढ़ि नाम से किए गए उसके प्रकारों का केवलसमुदायशक्ति, केवलावयवशक्ति व इन दोनों का संकर समुदायावयव-शक्तिसंकर इन तीन प्रभेदों पर विचार किया है। इसके अतिरिक्त एक चतुर्थ प्रभेद यौगिकरूढ़ि का भी एक मत के रूप में उपस्थापन किया है।

जहाँ पर शब्द में प्रकृति–प्रत्यय ज्ञात न हो, अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से शब्द अव्युत्पन्न हो व शब्द का कोई विशेष अर्थ प्रसिद्ध हो, वहाँ अभिधा का 'केवलसमुदायशक्ति' प्रभेद होता है। इसके उदाहरण 'डित्थादि' शब्द हैं। किसी ने काष्ठहस्ती बनाकर उसे 'डित्थ' नाम दे दिया, इस नाम में प्रकृति प्रत्यय का कुछ भी योगदान नहीं। केवल समुदायशक्ति से हस्ति अर्थ निकलता है— 'डित्थ: काष्ठमयो हस्ती'। फलत: यहाँ केवल समुदायशक्ति नामक अभिधा का प्रथम प्रभेद है। इसी प्रकार मणि, नूपुर, किसलय, समुद्र आदि शब्दों से भी केवल समुदायशक्ति से रत्न, आभूषणादि अर्थ ज्ञात होते हैं।

'केवलावयवशक्ति' रूप अभिधा का प्रभेद वहाँ होता है, जहाँ प्रकृति प्रत्यय के योग से शब्द की निष्पत्ति हो व तदनुसार अर्थनिर्धारण हो। जैसे पाचक, पाठक, नर्तक, वादक आदि शब्द पच्, पठ्, नृत् वद् आदि धातुवों में 'ण्वुल्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हैं। इन दोनों के योग से अर्थ निष्पन्न हुआ पाककर्ता या पाठकर्ता। यहाँ पर इन अर्थों के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अत: केवलावयवशक्ति है।

जहाँ समुदाय व अवयवशक्ति से निष्पन्न अर्थ संयुक्त रूप से किसी एक शब्द में सङ्गत हो, वहाँ 'समुदायावयवशक्तिसंकर' नामक अभिधा का तृतीय प्रभेद होता है। इसका उदाहरण 'पङ्कज' शब्द है। इसकी अवयव शक्ति से व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—'पङ्के जात: पङ्कज:'। 'पङ्क' उपपदपूर्वक 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय। 'पङ्क' का अर्थ है, कीचड़, 'जन्' धातु का अर्थ है, उत्पन्न होना व 'ड' प्रत्यय का अर्थ है, वाला। अर्थात् कीचड़ से उत्पन्न होने वाला। किन्तु 'पङ्कज' पद से केवल यही अर्थ ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उस स्थिति में 'पङ्क' से उत्पन्न होने वाले शैवाल, घोंघा, कुमुद आदि सभी 'पङ्कज' कहलाने लगेंगे। अत: स्पष्ट है कि अवयवशक्ति के अतिरिक्त यहाँ समुदायशक्ति भी कार्यरत है जिससे 'पङ्कज' का अर्थ कमलत्व जाति से युक्त पुष्पविशेष है। इस प्रकार यहाँ दोनों शक्तियों समुदाय व अवयव का साङ्कर्य है। कमल कीचड़ से उत्पन्न भी होता है व कमलत्व जाति से भी युक्त है।

इन प्रभेदों के निरूपण के पश्चात् पण्डितराज की तीक्ष्ण मेधा में कुछ ऐसे शब्द स्मृतिपथ में आते हैं, जिनके विषय में उन्हें अलझन है कि ये किस प्रभेद के अन्तर्गत परिगणित होंगें। ये हैं—अश्वगन्धा, मण्डप, अश्वकर्ण, निशान्त, कुवलयादि। इस प्रश्न के समाधानार्थ उन्होंने कुछ विद्वानों के मत को प्रस्तुत किया है। इस वक्तव्य का आकलन है कि जहाँ पर 'अश्वगन्धा रसं पिबेत्' इस वाक्य का प्रयोग हो तो 'अश्वगन्धा' में केवलसमुदायशक्ति से 'औषधि-विशेष' अर्थ प्रतीत होगा; किन्तु यदि 'अश्वगन्धा वाजिशाला' शब्द का प्रयोग हो, तो अश्वगन्धा में केवल अवयवशक्ति से 'अश्वस्य गन्धो यस्यां सा अश्वगन्धा' इस व्युत्पत्ति से, 'अश्वगन्ध से युक्त वाजिशाला' अर्थ द्योतित होगा। यहाँ पर समुदायशक्ति व अवयवशक्ति से बोध्य अर्थों का किसी एक शक्ति से अन्वय न होने के कारण दोनों में क्रमश: केवल समुदायशक्ति व केवल अवयवशक्ति है। केवलत्व का तात्पर्य है, दोनों अर्थों के साथ अन्वय योग्य अर्थ का न होना। अर्थात् समुदायार्थ का अन्वय अवयवार्थ के साथ व अवयवार्थ का समुदायार्थ के साथ अन्वय नहीं होगा।

इस प्रकरण में कुछ आचार्यों की पृथक् मान्यता है। उनके अनुसार 'समुदायावयवसङ्कर' नामक तृतीय प्रभेद के भी दो भेद हैं—१. योगरूढ़ि २. यौगिकरूढि। 'पङ्कज' में योगरूढ़ि है व 'अश्वगन्धा' में यौगिकरूढ़ि। इसके विपरीत कुछ आचार्यों का मन्तव्य है कि यहाँ तृतीय प्रभेद के दो उपभेद स्वीकार करना ठीक नहीं। अभिधा के ही स्वतन्त्रतया चार प्रभेद मान लिए जाने चाहिए—'चतुर्थ एवायमभिधाया भेद: इत्यप्यन्ये'[१]।

ये भेद होंगे—रूढ़ि, योग, योगरूढि एवं यौगिकरूढ़ि।

पदों की अखण्डता-विषयक सिद्धान्त–

अभिधा के भेद-प्रभेद सम्बन्धी इस समस्त विवेचन-प्रसङ्ग में पण्डितराज ने एक अन्य सिद्धान्त पक्ष भी प्रस्तुत किया है कि शब्द अखण्ड अर्थात् निरवयव हुआ करते हैं। केवल सुगमरीति से शब्दज्ञान कराने के लिए वैयाकरणों ने समास में भिन्न-भिन्न पदों का व कृदन्त, तद्धितान्त व तिङन्त पदों में प्रकृति प्रत्यय का विभाग मान लिया है। वस्तुत: यह विभाग काल्पनिक है। इस युक्ति के स्वीकार कर लेने पर योगशक्ति का कहीं प्रसङ्ग ही नहीं आ पाता। फलत: अखण्ड पद की अखण्ड पदार्थ में व अखण्ड वाक्य की अखण्ड वाक्यार्थ में केवल रूढि ही शक्ति है।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १३७-१४०।

'अखण्डा एव हि शब्दाः। तत्र समासेषु पदानाम् 'कृत्तद्धिततिङन्तेषु च प्रकृतिप्रत्ययानां विभागः काल्पनिक एवेति कुत्रास्ति योगशक्तिः? 'विशिष्टस्य विशिष्टार्थे रूढेरेवाभ्युपगमात्' इत्यपि वदन्ति'[१]।

यह सिद्धान्त वैयाकरणसम्मत है। उनका पक्ष है—

'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्ये पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन[२]॥'

आशय यह है कि वैयाकरण शब्द को स्फोट रूप मानते हैं एवं वह स्फोट शब्दब्रह्म है, उसमें विभाग नहीं। फलतः अखण्डपद एवं अखण्डवाक्य की मान्यता स्फोटसिद्धान्त का ही प्रतिफलन है।

शङ्का एवं समाधान–

अभिधा का केवल एक रूढि मात्र प्रभेद माने जाने विषयक मान्यता के विवेचन-क्रम में पण्डितराज ने एक श्लोक उद्धृत कर प्रश्न उठाया है। श्लोक इस प्रकार है—

गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न।
इन्द्रः सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेत्तुम्॥

अर्थात् 'गीष्पति' वाणी के अधिपति होने पर भी 'आङ्गिरस' अर्थात् बृहस्पति आपके पराक्रम, औदार्यादि गुणों का वर्णन करने में गर्व नहीं कर सकते एवं सहस्रनयन इन्द्र भी आपके अद्भुत रूप की इयत्ता (मापकता) को बतलाने का सामर्थ्य नहीं रखते। आशय यह है कि आपके गुण सर्वथा अवर्णनीय हैं और रूप इयत्तारहित।

यहाँ 'गीष्पति' एवं 'सहस्रनयन' दोनों पद योगरूढ़ हैं। यौगिकशक्ति से जहाँ इनका अर्थ 'वाणी का अधिपति' व 'हजार नेत्रों वाला' निकलता है, वहीं रूढ़ि शक्ति से ये 'बृहस्पति' व 'इन्द्र' के अर्थ के द्योतक हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि जब 'गीष्पति' व 'सहस्रनयन' पद बृहस्पति व इन्द्र के अर्थ को प्रकाशित कर देते हैं, तो उन्हीं के लिए 'आङ्गिरसः' व 'इन्द्रः' शब्द का पुनः प्रयोग पुनरुक्ति दोषकारक होगा। कारण, 'आङ्गिरसः' का भी अर्थ होगा, अङ्गिरा के पुत्र बृहस्पति व इन्द्र का अर्थ होगा, हजार नेत्र वाले इन्द्र। यदि यह कहा जाय कि ऐसे स्थलों में जहाँ योगरूढ़ पदों का प्रयोग हुआ है, वहाँ इन पदों के केवल अवयवार्थ मात्र का बोध होता है, रूढ्यर्थ का नहीं, क्योंकि ऐसे प्रसङ्गों

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १४१; २. वाक्यपदीयम्, १।७३।

में अवयवार्थ ही प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशेष प्रकार के अर्थ को व्यक्त करने वाला होता है, रूढ्यर्थ नहीं। वर्णनीय राजा के रूप व गुणों का वर्णन करने में 'गीष्पति' व 'सहस्रनयन' पद के योगार्थ ही अधिक उपयोगी हैं, रूढ्यर्थ नहीं। पुनः 'गीष्पति' का केवल यौगिक अर्थ 'वाणी का पति' विवक्षित है, बृहस्पति नहीं व 'सहस्रनयन' का 'केवल हजार नेत्रवाला' अर्थ विवक्षित है, इन्द्र नहीं, फलतः पुनरुक्ति दोष नहीं[१]।

परन्तु आपत्ति का यह समुचित समाधान नहीं। कारण यहाँ रूढ़िशक्ति को नियन्त्रित करने वाला प्रकरण आदि कोई नियामक विद्यमान नहीं। फलतः रूढ्यर्थ नियन्त्रित होकर योगार्थमात्र का बोध न हो सकेगा। योगरूढ़ पद यौगिक व रूढ्यर्थ दोनों अर्थों का बोध कराएगा, फलतः पुनरुक्ति दोष दूर न होकर यथावत् बना रहेगा। यदि किसी प्रकार प्रकरणादि खोजकर रूढ्यर्थ को नियन्त्रित भी कर दिया जाय एवं इस प्रकार के योगरूढ़ पदों को ऐसे स्थलों में योगार्थ मात्र का बोधक मान भी लें, तो भी यह प्रश्न तो सतत बना रहता है कि योगरूढ़ पदों से जब योगार्थ व रूढ्यर्थ दोनों बोधित हो सकते हैं, तब पृथक् रूढ़पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता?

'एवमपि योगरूढपदस्य रूढिशक्तेरनियन्त्रणेन योगार्थमात्रप्रतिपादकताया अनुपादानादुक्तदोषस्यानुवृत्तेः। एकेनैव पदेन योगार्थरूढ्यर्थयोरुभयोरप्यावश्यक-योरर्थयोरुपस्थितिसम्भवेन द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापत्तेश्च इति चेत्'[२]।

योगरूढ़ शब्दों के ऐसे प्रयोगस्थल में पुनरुक्ति दोष विषयक शङ्का को स्वतः उठाकर पण्डितराज ने विषय के स्पष्टीकरणार्थ स्वतः समाधान भी प्रस्तुत किया है। इस समाधान का आकलन यह है कि यद्यपि यह सिद्धान्त है कि 'योगार्थ' व 'रूढ्यर्थ' दोनों का परस्पर अन्वय करने से जो विशिष्ट अर्थ होता है, उसी का पदार्थान्तर के साथ सम्बन्ध होता है। पृथक्-पृथक् अर्थों का सम्बन्ध नहीं होता। फलतः यहाँ 'आङ्गिरस' बृहस्पति 'गीष्पति' अर्थात् 'वाणी के अधिपति' बृहस्पति से अभिन्न हैं व 'हजार नेत्रों वाले इन्द्र' 'इन्द्र' हैं। इन प्रयोगों में पुनरुक्ति दोष का निवारण हो गया; क्योंकि बृहस्पति-बृहस्पति व इन्द्र-इन्द्र इन प्रयोगों में पुनरुक्ति दोष था, 'गीष्पति बृहस्पति' व 'सहस्रनयन इन्द्र' में नहीं।

---

१. न चैवंविधपदद्वयसमभिव्यवहारस्थले योगरूढपदस्यावयवार्थमात्रबोधकत्वम्, तावन्मात्रस्यैव प्रकृतोपयोग्यातिशयविशेषसमर्पकत्वात् इति वाच्यम्। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १४३)

२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १४३।

इस प्रकार का पुनरुक्ति दोष एवं उसका निवारण उसी स्थिति में होगा जब 'गीष्पतिः' व 'आङ्गिरसः' इन दोनों पदों को वाचक ही माना जाय एवं दोनों पदों के मुख्यार्थ का ही पारस्परिक सम्बन्ध अभीष्ट हो—

'एकपदोपात्तत्वादन्तरङ्गाकाङ्क्षावशेन प्रथमं योगार्थरूढ्यर्थयोरन्वये सति समुल्लसितस्य विशिष्टार्थस्यैव पदान्तरार्थेनान्वयः, न तु तयोरेव विशकलितयोरिति यद्यपि न्यायसिद्धोऽर्थः, तथापि शक्त्यार्थस्य प्रतिपादने स्यादेवम्'[१]।

यदि 'गीष्पति' एवं 'सहस्रनयनः' पदों को लाक्षणिक मानकर उनके रूढ्यर्थ को छोड़कर यौगिकार्थ मात्र को लिया जाय, तो वाणी के अधिपति का 'आङ्गिरसः' अर्थात् बृहस्पति के साथ व 'सहस्रनयनः' अर्थात् हजार नेत्र वाले का इन्द्र के साथ अन्वय होने में कोई बाधा नहीं रह जाती, पुनरुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

जहाँ तक इस शङ्का का प्रश्न है कि 'गीष्पति' आदि योगरूढ़ पदों से योगार्थ (वाणी के अधिपति) व रूढ्यर्थ बृहस्पति दोनों का बोध हो जाएगा, तब फिर इनके लिए 'आङ्गिरसः' पद का प्रयोग व्यर्थ है। परन्तु यह शङ्का उचित नहीं, कारण यदि योगरूढ़ पद से पृथक् केवल रूढ़ पद का प्रयोग नहीं किया जाएगा, तो योगरूढ़ पद केवल रूढ्यर्थ का बोध कराकर कृतकार्य हो जाएगा, उससे योगार्थ का प्रतिपादन होने पर भी वह योगार्थ 'नान्तरीयक' समझा जाएगा। 'नान्तरीयक' अर्थात् वक्ता का जिसमें प्रयोजन न हो। यह नियम भी नहीं है कि योगरूढ़ पद सर्वत्र यौगिक शक्ति से अभिव्यक्त हो अपना अर्थ व्यक्त ही करे। यदि ऐसा न मानें तो 'पङ्कजाक्षी' पद में 'पङ्कजे इव अक्षिणी यस्याः सा' इस यौगिक अर्थ से 'कमलनयना' अर्थ व्यक्त हो जाने पर पुनः 'पङ्कज' में जो 'पङ्क' से उत्पन्न होने वाला यौगिक अर्थ है, उसका भान नहीं होता। अतः जैसे यहाँ प्रतीयमान होने पर भी 'कीचड़ से उत्पन्न' यह यौगिकार्थ 'नान्तरीयक' माना जाता है, वैसे ही 'गीष्पतिः' व 'सहस्रनयनः' आदि स्थलों में भी माना जाएगा।

यदि यह कहा जाय कि 'गीष्पति' आदि योगरूढ़ स्थलों में नान्तरीयक रूप से ही सही, योगार्थ का बोध श्रोताओं को होगा, इस पर पण्डितराज का वक्तव्य है कि ऐसी स्थिति का ज्ञान श्रोताओं को होते ही उस 'योगार्थ' में 'कुर्वद्रूपता' नष्ट हो जाएगी, वह अर्थ कार्यकारी नहीं समझा जाएगा एवं उस योगार्थ के कार्यकारी न समझे जाने की स्थिति में राजा की विशेष गुणग्राहिता

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १४४।

प्रकट करने हेतु जो उसका प्रयोग हुआ था, उस प्रयोग का ही वैयर्थ्य हो जाएगा[१]।

पुनः यदि किसी को 'योगार्थ' के नान्तरीयक न होने की अनुमिति होगी, तो उससे प्रतिपादित विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति उसे होगी। वहाँ यह अभिव्यक्ति पाक्षिक अवश्य हो जाएगी। एक योगार्थ के नान्तरीयक न मानने पर व द्वितीय उसके नान्तरीयक मान लेने पर।

इस प्रसङ्ग में यह तथ्य भी समीक्षणीय है कि जब एक ही अर्थ के बोधक योगरूढ़ एवं रूढ़ दो पदों का साथ-साथ प्रयोग हो, तो योगार्थ को 'नान्तरीयक' नहीं माना जा सकता। वहाँ तो यही माना जाएगा कि वक्ता ने विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए ही इस पद का प्रयोग किया है। फलतः योगार्थ की कुर्वद्रूपता बनी रहेगी—

'द्वितीयपदयोगे तु तेनैव रूढ्यर्थप्रतिपादने सिद्धे योगरूढपदप्रतिपाद्यस्य योगार्थस्य नान्तरीयकत्वशङ्काया अयोगात् कुर्वद्रूपत्वेन व्यङ्ग्यविशेषव्यञ्जकत्वं नियमेन सिद्ध्यति'[२]।

यह स्थिति तो वहाँ की है, जहाँ योगरूढ़ एवं रूढ़ दोनों प्रकार के दो पदों का प्रयोग हो; परन्तु जहाँ एक ही योगरूढ़ पद का प्रयोग हो और इस एक प्रयोग से योगार्थ व रूढ्यर्थ दोनों प्रकार के अर्थ अभिव्यक्त हों, वहाँ योगार्थ हमेशा नान्तरीयक रहे, ऐसा नहीं होता। वहाँ भी अनेकत्र दिखाई पड़ता है कि वक्ता योगार्थ के द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करना चाहता है। उदाहरणार्थ 'पुष्पधन्वा विजयते जगत्त्वत्करुणावशात्' इस प्रयोग में 'पुष्पधन्वा' इस एक पद से रूढ्यर्थ कामदेव व योगार्थ 'पुष्पं धनुः यस्याऽसौ पुष्पधन्वा' 'फूलों के धनुष वाला' की प्रतीति होती है। यहाँ कामदेव के द्योतक अनेक नाम हैं; परन्तु प्रयोग 'पुष्पधन्वा' का है। इस प्रयोग का विशेष अभिप्राय है, वह है कामदेव की दुर्बलता व निस्सारता को सिद्ध करना, जो अन्य नामों से अभिव्यक्त नहीं हो सकती। फलतः 'पुष्पधन्वा' पद का यौगिकार्थ न तो नान्तरीयक है, न कुर्वद्रूपता से रहित[३]।

---

१. नापि द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यम्। तथा सति रूढ्यर्थबोधनेन गतार्थेन योगरूढशब्देन प्रतिपाद्यमानस्य योगार्थस्य पङ्कजाक्षीत्यादाविव नान्तरीयकत्वशङ्कया कुर्वद्रूपताया अपहृतौ प्रकृतोपयोग्यातिशय विशेषव्यञ्जनस्य पाक्षिकत्वापत्तेः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १४४।)

२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १४०।

३. यत्र तु 'पुष्पधन्वाविजयते जगत्त्वत्करुणावशात्' इत्यादावेकेनैव पदेन रूढ्यर्थोपस्थितिर्योगार्थ-द्वारा निःसारत्वाद्यवगमश्च भवति तत्र कविकृतमन्मथरूढपदान्तरानुपादानपूर्वकपुष्पधन्व-पदोपादानप्रतिसंधानेन तदीययोगार्थे कुर्वद्रूपताधानं बोध्यम्। (तत्रैव, पृ. १४७)

इस समग्र विश्लेषण का निष्कर्ष उपस्थापित करते हुए पण्डितराज का वक्तव्य है कि योगरूढ़ एवं रूढ़ दोनों प्रकार के पदों का प्रयोग किया जाय या फिर मात्र योगरूढ़ का, इससे कोई अन्तर नहीं होता, योगार्थ की प्रयोजन रूपता बनी रहती है—'तदित्थं द्वितीयपदस्योपादानेऽनुपादाने वा न क्षतिः'[१]।

इसी क्रम में पण्डितराज ऐसे स्थलों पर भी विचार करते हैं, जहाँ योगरूढ़ पद का प्रयोग हो, पर उस योगरूढ़ पद के रूढ्यर्थ से भिन्न जातीय अर्थ का वाचक दूसरा पद भी प्रयुक्त हो, तो ऐसे स्थलों पर योगरूढ़ पद की क्या स्थिति रहेगी? उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है कि—'दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि'। यहाँ 'जलज' पद योगरूढ़ है। इसका रूढ्यर्थ है 'कमल' व योगार्थ है, जल में उत्पन्न। 'जलज' पद के समीप भिन्न जातीय 'कुमुद' पद का प्रयोग है। यद्यपि 'जलज' पद कमल अर्थ में रूढ़ है, तथापि कमलत्व जाति से भिन्न कुमुदत्वजाति से विशिष्ट 'कुमुद' पद के साथ प्रयुक्त होने पर यह पद लाक्षणिक माना जाएगा। तब जल से उत्पन्न होने वाला इस लक्ष्यार्थ में इसका प्रयोग करना पड़ेगा अन्यथा इसका 'कुमुद' पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा।

'एवं जात्यन्तरविशिष्टवाचकपदसमभिव्यवहारेऽपि। 'दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि' इत्यत्रापि जलजादिपदानां लक्षणया योगार्थमात्रबोधकत्वम्। योगशक्त्युल्लासितस्य तु तादृशार्थस्य रूढ्यर्थोपश्लिष्टत्वेन स्वातन्त्र्येण कुमुदादावन्वयायोगात्'[२]।

अभिधेय अर्थ के प्रकार–

मम्मट के समान पण्डितराज ने भी अभिधेय अर्थ के प्रकार निरूपण में वैयाकरण मान्यताओं को अपनाते हुए शब्द चतुष्टयवाद को अपनाया। फलतः उन्होंने अभिधेय अर्थ के जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा ये चार भेद किए और इन सबका विशद विवेचन रसगङ्गाधर में प्रस्तुत किया।

लक्षणा–

शब्द की अभिधावृत्ति से बोध्य या प्रतीत होने वाले अर्थ को अभिधेय या शक्यार्थ कहते हैं, यही मुख्यार्थ भी है। यह अर्थ वक्ता के समक्ष प्रथमतः

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १४८।

२. तत्रैव, पृ. १४८-४९।

उपस्थित होता है, परन्तु जहाँ कहीं इस वाच्यार्थ या शक्यार्थ से वक्ता का तात्पर्य सिद्ध नहीं होता या वाच्यार्थ का वाक्यार्थ से सम्बन्ध नहीं बन पाता, तो मुख्यार्थ के सम्बन्ध से जो द्वितीय अर्थ लिया जाता है, उस अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति का नाम लक्षणा है। अभिप्राय यह है कि वक्ता का तात्पर्यविषयीभूत यह अर्थ शब्द और उसके अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध द्वारा ज्ञात नहीं होता, अपितु शब्द के वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने से स्पष्ट हो पाता है। इस वाच्यार्थ से सम्बद्ध दूसरे अर्थ की बोधक-शक्ति को लक्षणा कहते हैं।

पण्डितराज ने अपना लक्षणाविषयक लक्षण बड़े संक्षिप्त रूप में 'शक्य सम्बन्धो लक्षणा'[१] कहते हुए निर्धारित किया। अर्थात् शक्य (शक्ति) या अभिधा से प्रतिपाद्य मुख्यार्थ का द्वितीय अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है, उसे लक्षणा कहते हैं।

लक्षणा के कारण–

अब प्रश्न यह है कि लक्षणावृत्ति से अर्थ करने का हेतु क्या है? लक्षणा के कारणों का विवेचन करते हुए पण्डितराज ने नैयायिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। साहित्यसिद्धान्तमर्मज्ञ मम्मट ने मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग, रूढ़ि अथवा प्रयोजन ये तीन लक्षणा के हेतु बताए थे[२], परन्तु पण्डितराज ने इस प्रसंग को भी नैयायिकचेतना से अनुप्राणित कर दिया। प्राचीन एवं नव्य नैयायिकों ने 'अन्वयानुपपत्ति' व 'तात्पर्यानुपपत्ति' के रूप में लक्षणा के हेतुवों पर विचार किया था। जहाँ प्राचीन आचार्य इन दोनों में से किसी एक को लक्षणा का हेतु मान लेते हैं, वहीं नव्य नैयायिकों का कथन है कि 'अन्वयानुपपत्ति' अर्थात् मुख्य अर्थ का अन्वय वाक्य में आने वाले अन्य पदों के साथ न हो सकने के मूल में भी वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति ही काम करती है। फलतः नव्य नैयायिकों के मत में 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही लक्षणा का मुख्य कारण है[३]। पण्डितराज ने भी नव्य नैयायिक मान्यता अपनाते हुए 'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १६२।

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।। काव्यप्रकाश २/१

३. प्राञ्चः अन्वयानुपपत्तिः तात्पर्यानुपपत्तिश्च लक्षणाबीजे यत्र परस्पर पदार्थयोरन्वयो नोपपद्यते, तत्रैकतरस्य पदस्य लक्षणा उद्भाव्यते इति वदन्ति। नव्यास्तु तात्पर्यानुपपत्तिमेव सर्वत्रानुगतं बीजं वदन्तीत्यभिप्रायेणाह तात्पर्यानुपपत्तितः इति।
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, किरणावली पृ. ३१९

'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज माना[1]। इसके प्रमाण रूप में उन्होंने 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य को प्रस्तुत किया है। उनका वक्तव्य है कि यदि 'अन्वयानुपपत्ति' अर्थात् पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध न होना, को कारण माना जाय, तो इस वाक्य में लक्षणा हो ही नहीं सकेगी; क्योंकि यहाँ पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध अनुपपन्न नहीं। कारण, काक भी दधि का उपघातक है और उससे दधि की रक्षा करने को कहा गया है। लेकिन यहाँ एक समस्या है। यद्यपि वक्ता कौओं से दही की रक्षा करने को कहता है, किन्तु कुत्ते, बिल्ली व अन्य जीव-जन्तु भी दधि के उपघातक हैं। वक्ता का तात्पर्य केवल कौओं से दही की रक्षा करने से नहीं; बल्कि सभी दधि उपघातकों से है। दधि की कौओं से रक्षा करने पर भी यदि बिल्ली, कुत्ते आदि से रक्षा न की जाय, तो फिर रक्षा का अर्थ ही क्या? अत: स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' वाक्य में पदार्थों का जो परस्पर सम्बन्ध है, वह बाधित नहीं अपितु वक्ता का तात्पर्य बाधित है। यदि केवल 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज माना जाएगा, तो यहाँ लक्षणा न हो सकेगी। अत: पण्डितराजीय समीक्षा का निष्कर्ष है कि तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। जहाँ वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न हो, वहाँ लक्षणा की जाती है।

पण्डितराज ने नैयायिकों की 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का हेतु मानते हुए भी उसका आलंकारिक परिष्कार किया। नैयायिक केवल 'अन्वयानुपपत्ति' या 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानते हैं, लेकिन पण्डितराज की तलस्पर्शिणी तीक्ष्ण मेधा से यह तथ्य ओझल न हो सका कि यदि 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप लक्षणा का एक ही कारण माना जाएगा, तो वक्ता कुछ भी कहे, उसका कुछ भी अर्थ लगाया जाय, उसे रोका नहीं जा सकेगा। ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किस अर्थविशेष में है, यह भी नहीं समझा जा सकेगा। इस आपत्ति को ध्यान में रखकर ही उन्होंने लक्षणा के दो नियामक कारण बतलाए—रूढ़ि एवं प्रयोजन। अर्थात् मुख्यार्थ के वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल न होने से जिस अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है, वह रूढ़ि अथवा प्रयोजनप्रतीति की दृष्टि से मुख्यार्थ से सम्बद्ध ही प्रतीत होना चाहिए। इन दोनों में से किसी एक के रहने पर ही वक्ता के तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर लक्षणा होती है। इस प्रकार आलङ्कारिक पण्डितराज ने नैयायिकों के दृष्टिकोण को

---

१. मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेःतन्त्रत्वे तु काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्, इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्।
रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १६२

परिष्कृत करते हुए रूढ़ि या प्रयोजनमिश्रित तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु माना। इसे पण्डितराज ने इस रूप में अभिव्यक्त किया—

'तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात्। किं तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोन्यतरच्च तन्त्रम्। मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्[१]'।

काव्यशास्त्रीय विवेचनों के प्रसङ्ग में सम्पूर्णता की आकाङ्क्षी पण्डितराजीय मेधा ने इस 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप लक्षणा के हेतु का भी किञ्चित् संशोधित रूप स्वीकृत किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने दो पक्ष प्रस्तुत किए कि 'तात्पर्यानुपपत्ति' का क्या आशय लिया जाय? प्रथम पक्ष के अनुसार 'मुख्यार्थतावच्छेदक' अर्थात् मुख्य अर्थ में रहने वाले धर्म में 'तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकता' अर्थात् तात्पर्य का विषयभूत जो सम्बन्ध (अन्वय) है, उस सम्बन्ध के अन्वयी (सम्बन्धी), उसमें रहने वाली अन्वयिता, उस अन्वयिता का अवच्छेदक अर्थात् अन्वयीगत या सम्बन्धीगत धर्म का अभाव कारण है? अर्थात् मुख्यार्थतावच्छेदक व तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदक धर्मों का पृथक्-पृथक् होना आशय है? अथवा द्वितीय पक्ष के अनुसार वक्ता के अभीष्ट तात्पर्यार्थ में मुख्यार्थतावच्छेदक रूप से मुख्यार्थ प्रतियोगिकता का अभाव और रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से कोई एक कारण है?

तात्पर्यानुपपत्ति विषयक इन दोनों ही पक्षों पर विचार करते हुए पण्डितराज ने प्रथम पक्ष को स्वीकृति नहीं दी—

'तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात्'[२]।

न्यायदर्शन की बोझिल शब्दावली से भाराक्रान्त इस पक्ष को जिज्ञासु पाठकों को सरलतया हृदयङ्गम कराने हेतु उदाहरण द्वारा सुस्पष्ट करना आवश्यक है। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण वाक्य को लें। यहाँ 'गङ्गायाम्' में सप्तमी विभक्ति अधिकरण कारक में है। 'आधारोऽधिकरणम्'[३] सूत्र के अनुसार आधार को अधिकरण कहते हैं। फलतः 'गङ्गा' आधार है व 'घोष' आधेय। यह गङ्गा

१-२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १६२।

३. अष्टाध्यायी, १।४।४५।

व घोष का सम्बन्ध आधाराधेयभाव सम्बन्ध हुआ। परन्तु यह सम्बन्ध बाधित है। 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ जलप्रवाह 'घोष' का आधार नहीं हो सकता। कारण बहते जल में घोष (आभीरपल्ली) हो नहीं सकती। इसे ही पण्डितराज के शब्दों में इस प्रकार समझें। मुख्यार्थ है, गङ्गा, जो जलप्रवाह विशेष है। मुख्यार्थता रहेगी 'गङ्गा' में। मुख्यार्थता का अवच्छेदक होगा, गङ्गावृत्ति धर्म 'गङ्गात्व'। इस प्रकार 'मुख्यार्थतावच्छेदके' का अर्थ हुआ 'गङ्गात्वे' अर्थात् गङ्गात्व में तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकता का अभाव है। यहाँ वक्ता का तात्पर्यविषयीभूत अन्वय अर्थात् सम्बन्ध है, आधाराधेयभाव। इस सम्बन्ध का सम्बन्धी अर्थात् अन्वयी है, 'तट', अतः अन्वयिता रहेगी 'तट' में । इस अन्वयिता का अवच्छेदक तटत्व होगा, गङ्गात्व नहीं। इस कारण से अर्थात् मुख्यार्थतावच्छेदक गङ्गात्व में तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकता अर्थात् तटत्व का अभाव लक्षणा का कारण है? किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता। कारण शक्यतावच्छेदक अर्थात् गङ्गात्व रूप से ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति मानी जाती है। वक्ता को गङ्गात्वरूपेण तट का अन्वय अभीष्ट है, अन्यथा शैत्य व पावनत्व की अभिव्यक्ति नहीं हो पाएगी। फलतः पण्डितराज तात्पर्यानुपपत्ति के कारण रूप में द्वितीय पक्ष को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं। इसके अनुसार तात्पर्यविषयीभूत अन्वय में मुख्यार्थतावच्छेदक रूप से मुख्यार्थप्रतियोगिकता का अभाव व रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से एक लक्षणा का कारण है—

'किन्तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम्'[१]।

अर्थात् तात्पर्यविषयीभूत अन्वय में (आधाराधेयभाव में) 'मुख्यार्थतावच्छेदक' रूप से (गङ्गात्व) मुख्यार्थ अर्थात् गङ्गा की प्रतियोगिकता (विशेषणता) का अभाव व रूढ़ि अथवा प्रयोजन। चूँकि यहाँ गङ्गात्वरूपेण भान तट का हो रहा है, अतः तात्पर्याविषयीभूत आधाराधेयभाव में, तट होगा प्रतियोगी व घोष होगा अनुयोगी। गङ्गा में प्रतियोगिकता का अभाव रहेगा। ये ही लक्षणा के कारण रूप में मान्य होंगें।

लक्षणा के भेद–

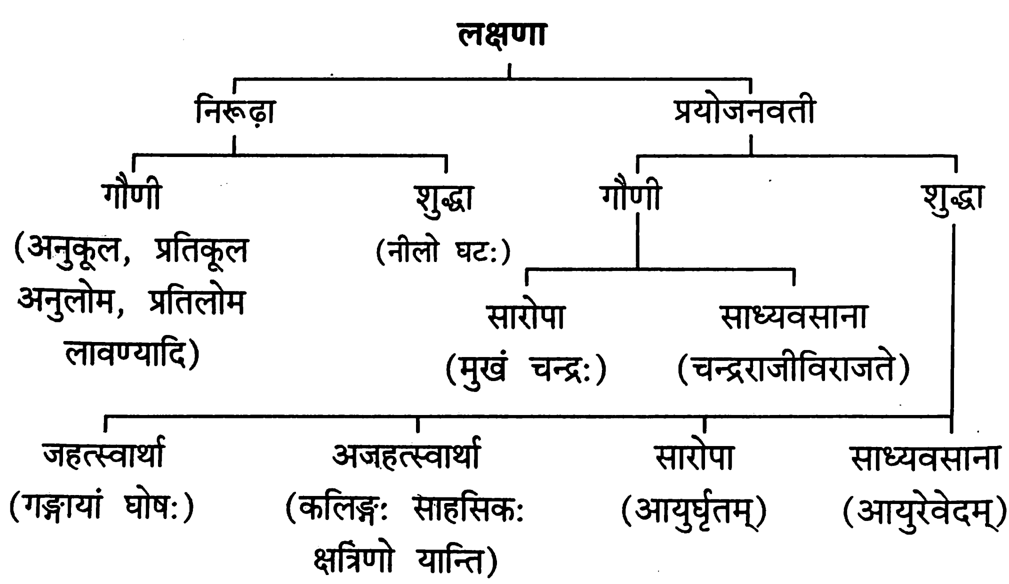
लक्षणा के हेतु विषयक अपनी उपर्युक्त मान्यता को ही गति देते हुए उन्होंने रूढ़ि व प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के विविध भेदों का सविस्तार

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १६२।

निरूपण किया है। उनके अनुसार रूढ़ि तथा प्रयोजन रूप कारणों के भेद से प्रथमत: लक्षणा के दो भेद होते हैं—निरूढ़ा और प्रयोजनवती। इनमें रूढ़ि के कारण होने वाली लक्षणा निरूढा व प्रयोजन के कारण होने वाली प्रयोजनवती। इनमें से प्रयोजनवती लक्षणा के पुन: दो भेद होते हैं—गौणी तथा शुद्धा। इनमें गौणी के भी दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। द्वितीय शुद्धा के चार भेद होते हैं—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेद होते हैं[१]।

प्रयोजनवती लक्षणा के इन भेदों के निरूपण के पश्चात् उन्होंने रूढ़ा लक्षणा के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए हैं; जिनमें कहीं सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर तो कहीं सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा है। 'सादृश्यात् सम्बन्धान्तरस्तथा गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ' इस सिद्धान्त के अनुसार सादृश्य सम्बन्ध मूलक रूढ़ा लक्षणा गौणी और सादृश्येतरसम्बन्धमूलक रूढ़ालक्षणा शुद्धा कही जाती है[२]। पण्डितराज के इस वर्गीकरण को हम इस रूप में तालिकाबद्ध कर सकते हैं—



लक्षणा षट्प्रकारिका क्यों?

रसगङ्गाधर का अध्ययन करते समय एक जिज्ञासा सहज उठती है कि समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों के विवेचन-प्रसङ्ग में मत-मतान्तरों का गम्भीर आलोडन करने में प्रवीण पण्डितराज ने लक्षणानिरूपण प्रसङ्ग में लक्षणा के

१,२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १६५,१६७।

छह प्रकारों पर ही अपनी स्वीकृति की विशेष मुहर क्यों लगाई? अपने से पूर्ववर्ती विश्वनाथ के लक्षणाविषयक अस्सी प्रभेद उनकी चिन्तनचातुरी को प्रभावित क्यों न कर सके? उन्होंने लक्षणा के अन्य अवान्तर प्रभेद प्रस्तुत करने में अपनी प्रतिभा के प्रावीण्य को प्रकट क्यों नहीं किया? स्थिरमति से विचार करने पर इन प्रश्नों का समाधान इस रूप में प्राप्त होता है कि लक्षणा के इन्हीं छहों भेदों का काव्यशास्त्र में विशेष उपयोग है। इनमें शुद्धा उपादानलक्षणा का पर्यवसान 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि' में व 'शुद्धालक्षणलक्षणा' का पर्यवसान 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' में होता है। इन दोनों भेदों से ही ध्वनि के द्विविध भेद सिद्ध होते हैं। 'गौणीसारोपा लक्षणा' रूपकालङ्कार का ही बीज है। यही स्थिति 'गौणीसाध्यवसाना' की अतिशयोक्ति अलङ्कार के सन्दर्भ में है। शुद्धासारोपा लक्षणा हेत्वलङ्कार का बीज है, 'शुद्धा साध्यवसाना' अतिशयोक्ति के चतुर्थ भेद, जहाँ कार्य पहले व कारण बाद में होता है, का बीज है। इस प्रकार लक्षणा के दो भेद ध्वनि के व चार भेद अलङ्कार के कारण हैं। अत: काव्योपयोगी मुख्यत: यही छह भेद हैं। इसी दृष्टि से वाग्देवतावतार मम्मट ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' कहते हुए लक्षणा के छह ही प्रकारों को मान्यता दी। विश्वनाथ द्वारा साहित्यदर्पण में प्रदर्शित अस्सी प्रभेद वस्तुत: छात्रबुद्धि वैशद्यार्थ हैं।

लक्षणाविषयक पण्डितराजीय मौलिक उद्भावनाएँ–

लक्षणाविवेचन के इस प्रसङ्ग में पण्डितराज की कतिपय मौलिक उद्भावनाएँ समीक्षणीय हैं। उन्होंने 'गौणीसारोपा लक्षणा' का उदाहरण 'मुखं चन्द्र:' प्रस्तुत करके एक प्रश्न उठाया है? प्रश्न है, 'मुखं चन्द्र:' में रूपकालङ्कार है और 'चन्द्रसदृशं मुखम्' में उपमालङ्कार। दोनों वाक्यों का अर्थ समान ही है; क्योंकि 'मुखं चन्द्र:' में मुखम् और चन्द्र: दोनों नामार्थ हैं और निपात से अतिरिक्त नामार्थों का अभेद सम्बन्ध होता है। फलत: अर्थ होगा—'चन्द्राभिन्नं मुखम्' लेकिन इस अभेद सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष बाधा है, कारण मुख जमीन पर है व चन्द्रमा आकाश में। अत: मुख चन्द्रमा से अभिन्न कैसे हो सकता है? यह प्रत्यक्षतया मुख्यार्थबाध है। इस बाधानिवारण के लिए सादृश्यसम्बन्ध से चन्द्र की चन्द्रसदृश में लक्षणा की जाती है। फलत: अर्थ होगा 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्।' इस प्रकार 'मुखं चन्द्र:' का भी अर्थ होता है— 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्' और 'चन्द्रसदृशं मुखम्' का भी अर्थ होगा— 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्'। दोनों का यदि एक ही अर्थ है तो एक प्रकार के अर्थ

ज्ञान से एक ही प्रकार का चमत्कारबोध भी होगा, फिर अलङ्कारभेद क्यों? एक को उपमा व दूसरे को रूपक क्यों कहा जाता है? जबकि अलङ्कारभेद में चमत्कारभेद कारण है[१]?

यदि यह कहा जाय कि उपमा में चन्द्रपदार्थ सदृश का विशेषण है— 'चन्द्रसदृशं मुखम्' और 'मुखं चन्द्रः' इस रूपक में सदृश के विशेषण में चन्द्र नहीं है; अतः इन स्थलों में भी शाब्दबोध में अन्तर हो जाएगा। कारण शाब्दबोध में दो पदार्थों का परस्पर में अन्वय होता है। 'चन्द्रसदृशं मुखम्' में तीन पद हैं, अतः यहाँ प्रथमतः चन्द्रपदार्थ का सदृश पदार्थ के साथ अन्वय होगा— 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यवद्'; पुनः मुख के साथ अभेदसम्बन्ध होगा तो 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यवदभिन्नं मुखम्' इस प्रकार शाब्दबोध होगा, जबकि 'मुखं चन्द्रः' में लक्षणावृत्ति से चन्द्रपद का ही चन्द्रसदृश अर्थ होता है। अतः यहाँ चन्द्रसदृश एक पदार्थ हुआ, उसका मुख के साथ अन्वय होगा। चन्द्र व सदृश के बीच सम्बन्ध नहीं होगा[२]। नियम भी यही है कि एक ही पद के दो अर्थ हों तो उनमें परस्पर में अन्वय नहीं होता, भिन्न-भिन्न पदार्थों का परस्पर में अन्वय होता है—'शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते'[३]। फलतः उपमा व रूपक के स्थलों में शाब्दबोध में अन्तर होने से अलङ्कार भेद में अन्तर आ जाएगा।

इस प्रत्युत्तर का खण्डन इस रूप में किया जाता है कि यदि इतने सम्बन्ध भेद मात्र से अलङ्कार में भेद होने लग जाय, तो 'मुखं चन्द्र इव' व 'चन्द्र-सदृशं मुखम्' इन उपमा के स्थलद्वय में भी अलङ्कार भेद होने लगेगा। कारण 'इव' निपात है और यह सदृश अर्थ का द्योतक है, वाचक नहीं। अतः चन्द्र पद का ही चन्द्रसदृश अर्थ है, इसका द्योतन 'इव' पद करता है। इस प्रकार 'मुखं चन्द्र इव' व 'चन्द्रसदृशं मुखम्' में भी भिन्न-भिन्न अलङ्कार मानने पड़ेंगें, जो उचित नहीं।

प्राचीनाचार्यों का मत–

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने इस गम्भीर शास्त्रीय विचिकित्सा को उठाकर जहाँ एक ओर अपने विशद विवेचन नैपुण्य का प्रदर्शन किया है, वहीं इसके

१,२. नन्वेवं सति बोधावैलक्षण्याच्चन्द्रसदृशं मुखमित्युपमातो मुखं चन्द्र इति रूपकस्य कथं भेदः। न च सदृशविशेषणचन्द्रसंबन्धासम्बन्धाभ्यामिति वाच्यम्। बोधस्य वैलक्षण्यमात्रेण पृथगलङ्कारताया असिद्धेः। अन्यथा मुखं चन्द्र इवेत्यत्र चन्द्रसदृशमित्येतद्गतात् पृथगलङ्कारतापत्तिरिति चेत्?

रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १७०

३. व्युत्पत्तिवाद, प्रथमपङ्क्ति

समाधान में प्राचीनाचार्यों की ओर से प्रस्तुत त्रिविध मतों का सविस्तार निरूपण कर अपनी शास्त्रावगाहिनी प्रतिभा का परिचय भी दिया है।

प्रथममत—प्रथम मत के पक्षधर आचार्यों की दृष्टि में रूपक 'मुखं चन्द्रः' एवं उपमा 'चन्द्रसदृशं मुखम्' में शाब्दबोधजन्य स्वरूप भेद नहीं होता, तथापि रूपक में 'मुखं चन्द्रः' में 'चन्द्र' की 'चन्द्रसदृश' में लक्षणा करने का प्रयोजन है, तादात्म्यप्रतीति, इस अंश को लेकर तो भेद सुस्पष्ट ही है। आशय यह है कि उपमा में उपमानोपमेय में भेद होता है, जबकि रूपक में ताद्रूप्यप्रतीति और ताद्रूप्यप्रतीति का अर्थ ही है, उपमेय मुख में उपमानतावच्छेदक चन्द्रत्व की प्रतीति—'ताद्रूप्यसंवेदनं च विषये मुखादौ विषयितावच्छेदकस्य चन्द्रत्वादेः सम्प्रत्ययः'[१]।

अब प्रश्न उठता है कि उपमा में सदृश शब्द का प्रयोग रहता है तो भी ताद्रूप्यप्रतीति नहीं होती, जब कि रूपक में लक्षणा से सदृश अर्थ की प्रतीति होने पर भी ताद्रूप्यप्रतीति कैसे होती है? जब कि ताद्रूप्यप्रतीति का कोई उपाय तो दीखता नहीं। मुख चन्द्र से भिन्न होता है, इस भेदज्ञान से ताद्रूप्यप्रतीति प्रतिबन्धित भी हो जाएगी। यदि इस बात को स्वीकार न करें, तो 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इस उपमांश में भी ताद्रूप्यप्रतीति होने लगेगी—

'ननु लक्षणाप्रयोज्यादपि तत्सदृशबोधात् कथं नाम ताद्रूप्यप्रत्ययः स्यात्, उपायस्याभावाद् भेदज्ञानेन प्रतिबन्धाच्च। अन्यथा चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्रापि ताद्रूप्यप्रत्ययप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्'[२]।

प्राचीनाचार्य इस शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं कि जैसे श्लेष-स्थल में एक शब्द से बोधित दो अर्थों में व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभेदबोध कराया जाता है, वैसे ही यहाँ भी 'चन्द्र' इस एक पद से बोध्य चन्द्र व चन्द्रसदृश में व्यञ्जना के द्वारा अभेदबोध हो जाता है। यह व्यञ्जना ही तादात्म्यप्रतीति का उपाय है। जहाँ तक बाधबुद्धि का प्रश्न है, तो इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि बाधबुद्धि व्यञ्जनाजन्य प्रतीति में प्रतिबन्धक नहीं होती। पुनः पूर्वपक्षियों की इस शङ्का पर कि 'मुखं चन्द्रः' में एक ही 'चन्द्र' पद से चन्द्र व 'चन्द्रसदृश' दोनों अर्थ उपस्थित होते हैं, तो चन्द्रसदृश में चन्द्रताद्रूप्य की प्रतीति व्यञ्जना से कथञ्चित् हो जाय, लेकिन मुखत्वविशिष्ट मुख में तो चन्द्रताद्रूप्य की प्रतीति होगी नहीं और सर्वानुभवसिद्ध है कि मुखत्वविशिष्ट मुख

१, २. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १७२।

में ही चन्द्रताद्रूप्य की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशुरुज्जृम्भते' इस पद्य में 'वक्त्रे चन्द्रमसि' इस अंश में उपमेय मुख में उपमान चन्द्र के ताद्रूप्य की प्रतीति सुस्पष्ट होती है, लेकिन 'मुखं चन्द्रः' में चन्द्र व चन्द्रसदृश में ताद्रूप्यप्रतीति होने पर भी मुखत्वविशिष्ट मुख में ताद्रूप्यप्रतीति नहीं है[1]।

प्राचीनाचार्य इस शङ्का का भी समाधान करते हैं कि जब चन्द्र का चन्द्रसदृश में ताद्रूप्य सिद्ध हो जाएगा, तो चन्द्रसदृश तो मुख ही है, मुख में भी ताद्रूप्य स्वयं सिद्ध हो गया। पुनः अभेदसम्बन्ध से मुख के साथ जब शाब्दबोध होगा, तो अर्थ होगा—'चन्द्रसादृश्यवदभिन्नं मुखम्'। इस प्रकार प्रथम मत के पक्षधर आचार्यों की दृष्टि में जब 'चन्द्र' का 'चन्द्रसादृश्यवत्' में अभेद है, तो उससे अभिन्न मुख में तो अभेद स्वतः सिद्ध हो गया[2]।

द्वितीय मत—द्वितीय मत के अनुसार 'मुखचन्द्रः' इस प्रयोग में 'चन्द्र' आदि पद की 'चन्द्रसदृश' रूप अर्थ में गौणीसारोपा लक्षणा हुई रहती है। फलतः 'चन्द्रसदृश' रूप से उपस्थित जो 'मुख' है, उसका चन्द्रत्व रूप से ही मुखादि पद से उपस्थित मुख के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वयबोध होगा। आशय यह है कि 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि स्थलों में अर्थोपस्थिति तो होगी 'चन्द्रमा के समान मुख' इस रूप में; परन्तु शाब्दबोध होगा 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इस रूप में[3]।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि नियम है, यत्प्रकारक यद्विशेष्यक शक्तिग्रह होता है, तत्प्रकारक तद्विशेष्यक उपस्थिति व तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोध भी होता है। अर्थात् अर्थोपस्थिति व शाब्दबोध में समानाकारत्व का नियम है। यहाँ 'चन्द्रपद से चन्द्रसदृशत्वप्रकारक उपस्थिति और चन्द्रत्वप्रकारक शाब्दबोध माना गया है, ऐसा क्यों? इसका समाधान करते आचार्यों का कथन है कि

१,२. श्लेषस्थल इवात्राप्येकशब्दोपादानोत्थस्य व्यञ्जनस्योपायत्वाद्वैयञ्जनिकबोधस्य बाध बुद्ध्यप्रतिबध्यत्वाच्च। अथ चन्द्रतत्सदृशयोरेवैकपदोपात्तत्वाच्चन्द्रसदृशे चन्द्रताद्रूप्यस्य प्रत्ययो यथाकथञ्चिदस्तु, न तु मुखत्वविशिष्टे मुखे। अनुभवसिद्धश्च सर्वेषां 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशुरुज्जृम्भते' इत्यादौ विषये विषयिताद्रूप्यस्य प्रत्यय इति सत्यम्। 'स्वताद्रूप्यवदभेदबुद्ध्या स्वताद्रूप्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नपि तस्य सिद्धेः' इत्याहुः।

रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १७२

३. अन्ये तु चन्द्रादिपदेभ्यो लक्षणया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थितानां मुखादीनां चन्द्रत्वेन रूपेणैव मुखादिपदोपस्थापितैः सहाभेदान्वयबोधो जायते।

तत्रैव, पृ. १७४

लक्षणा से जहाँ अर्थ होता है, वहाँ जिस शब्द की लक्षणा की जाती है, उस शब्द का जो शक्यार्थ (मुख्यार्थ) है, उसका जो धर्म है; वही लक्ष्यार्थ में विशेषण होता है। अर्थात् 'चन्द्र' पद की लक्षणा होती है, चन्द्रसदृश में, तो 'चन्द्र' पद का शक्य अर्थ हुआ चन्द्र व उसका धर्म हुआ चन्द्रत्व। अत: चन्द्रत्वप्रकारक (शक्यतावच्छेदक) मुखविशेष्यक शाब्दबोध होने का ही लक्षणास्थल में नियम है। इसका कारण है, शक्यतावच्छेदकप्रकारक लक्ष्यविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति लक्षणाज्ञान। अत: चन्द्रत्वप्रकारक मुखविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति चन्द्र पद का लक्षणाज्ञान कारण माना जाता है; अत: 'मुखं चन्द्र:' का शाब्दबोध होगा 'चन्द्र से अभिन्न मुख'।

'तत्तत्पदलक्षणाज्ञानस्य तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुताया: पदार्थोपस्थितिशाब्दबोधयो: समानाकारत्वस्यानुभवसाक्षिकवैलक्षण्यकलाक्षणिकबोधातिरिक्तविषयतायाश्च कल्पनात्'[१]।

इसीलिए 'गङ्गायां घोष:' में यद्यपि 'गङ्गा' पद की लक्षणा तट अर्थ में करने पर तटत्वविशिष्ट तट अर्थ की उपस्थिति होती है; परन्तु बोध गङ्गात्व विशिष्ट तट का होता है। इसी बोध के कारण तट में शैत्य व पावनत्वादि गुणों की प्रतीति होती है। 'मुखं चन्द्र:' में उपमान चन्द्र में रहने वाला जो असाधारण गुण है, उसकी मुख में प्रतीति होना ही लक्षणा का फल है और यह प्रतीति चन्द्रत्वप्रतीति के बिना सम्भव नहीं। कारण, ताद्रूप्यप्रतीति का अर्थ है, असाधारण धर्म का समावेश। उपमान में रहने वाला असाधारण धर्म ही जब उपमेय में समाहित हो जाता है, तब ताद्रूप्यप्रतीति होती है। इस प्रकार स्वरूप, संवेदन अर्थात् शाब्दबोध व प्रयोजन दोनों ही दृष्टियों से उपमा की अपेक्षा रूपक का भेद स्पष्ट है[२]।

तृतीय मत—तृतीय मत के पक्षधर आचार्यों के अनुसार सादृश्य दो प्रकार का होता है—१. भेदघटित एवं भेदरहित। भेदघटितसादृश्य उपमा का प्राण है व भेदरहित सादृश्य गौणीसारोपा लक्षणा का प्राण है, जो रूपक का बीज है।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १७४।

२. प्रकृते तु विषयिचन्द्रादिनिष्ठासाधारणगुणवत्त्वप्रत्यय: फलम्। न हि चन्द्रत्वप्रतीतिं विना मुखे चन्द्रत्वनियतगुणवत्त्वधी: शक्योपपादयितुम्। ताद्रूप्यपदेन तदसाधारणगुणवत्त्वमेव प्राचीनैरुक्तम्। इत्थं च स्वरूपसंवित्तिकृत: फलीभूतसंवित्तिकृतश्चोपमातो रूपकस्य भेद: स्फुट एव, इति वदन्ति।

तत्रैव, पृ. १७४

इस प्रकार उपमा व रूपक का भेद स्पष्ट है। 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इस उपमास्थल में चन्द्र से भिन्न होकर भी मुख चन्द्रवृत्तिधर्म से युक्त होता है एवं 'मुखं चन्द्रः' इस रूपक में केवल चन्द्रवृत्तिधर्म से अभिन्न मुख होता है। इस प्रकार स्वरूपसंवेदन की दृष्टि से ही दोनों में अन्तर है। पुनः भेद दिखलाने के लिए फलपर्यन्त दौड़ना व्यर्थ है—

'अपरे तु—भेदकरम्बितं सादृश्यमुपमाजीवातुभूतम्। भेदाकरम्बितं च गौणी-सारोपलक्षणाया इति स्फुटे भेदे कृतं फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनेन'।

इस पक्ष में भेदघटित सादृश्यप्रतीति का ताद्रूप्यप्रतीति फल होने विषयक शङ्का व उसके परिहार के प्रयास की चेष्टा का भी कोई प्रसङ्ग नहीं उठेगा।

नव्य-मत–

१. 'मुखं चन्द्रः' इस गौणीसारोपा लक्षणा के स्थल में प्राचीन आचार्यों के मतों के अतिरिक्त पण्डितराज ने नव्य आचार्यों के मत को भी सविस्तार निरूपित किया है। इस मत का आधार अप्पय दीक्षित का वृत्तिवार्तिक में प्रस्तुत विवेचन है। इस प्रकरण में नव्य आचार्यों का पक्ष है कि 'मुखं चन्द्रः' में लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं। कारण यहाँ अभेदसम्बन्ध से शाब्दबोध हो जाएगा। यदि यह कहा जाय कि यहाँ अभेदसम्बन्ध करने में बाधबुद्धि प्रतिबन्धक होगी; क्योंकि नियम है—'तदवत्ताज्ञानं प्रति तदभाववत्तानिश्चयः प्रतिबन्धकः' अर्थात् जिसमें जिस धर्म से युक्त अर्थ का बोध करना हो, उसमें उस धर्म के अभाव का निश्चय होना प्रतिबन्धक होता है। जैसे यह निश्चित है कि मुख में चन्द्रत्व धर्म नहीं है, फलतः मुख में चन्द्रत्वप्रकारक ज्ञान करना बाधित हो जाएगा।

इस पर नव्यों का उत्तर है कि बाधनिश्चय शाब्दज्ञान से भिन्न स्थल में प्रतिबन्धक होता है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जो अर्थ (वस्तु) संसार में नहीं है, उसका भी ज्ञान शब्द करा देता है। जैसे संसार में वन्ध्या का पुत्र नहीं होता, पर 'वन्ध्यापुत्रो याति' यह वाक्यप्रयोग उसका भी बोध करा देता है—

'अत्यन्ताऽसत्यपि ह्यर्थे शब्दः ज्ञानं करोति हि'[१]।

---

१. नव्यास्तु 'मुखं चन्द्रः, वाहीको गौः' इत्यादौ चन्द्रादीनां मुखादिभिः सह सम्भवति लक्षणां विनैवाभेदेन संसर्गेणान्वयबोधः। बाधनिश्चय प्रतिबध्यतावच्छेदककोटावनाहार्यत्वस्यैव शाब्दान्यत्वस्यापि निवेश्यत्वात्। अतएव अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि इति प्राचां प्रवादोऽपि संगच्छते। रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १७८

नव्यों के इस समाधान पर यह आपत्ति दृष्टिगत होती है कि शाब्दबोध में बाधबुद्धि को यदि प्रतिबन्धक नहीं मानेगें, तो 'वह्निना सिञ्चति' में भी शाब्दबोध होने लगेगा। जब कि वह्निसिञ्चन देखा नहीं जाता, सर्वथा बाधित है। इस आपत्ति का प्रत्युत्तर नव्य आचार्यों की ओर से यह कहकर दिया जाता है कि 'वह्निना सिञ्चति' में वह्निकरणकसेक अर्थ इसलिए बाधित होता है कि इस स्थल में वह्नि में सिञ्चन की योग्यता नहीं है। 'मुखं चन्द्रः' में अगर मुख व चन्द्र में अभेदबोध हो जाता है, तो इष्ट चमत्कार की प्रतीति होती है; फलतः आहार्य योग्यताज्ञान की स्थिति यहाँ है। आशय यह है कि 'मुखं न चन्द्रः' इत्याकारक बाध के समय मुख में मुझे चन्द्रत्वप्रकारक ज्ञान की अनुभूति हो रही है, यह आहार्य योग्यताज्ञान 'मुखं चन्द्रः' में है, फलतः शाब्दबोध होने में यहाँ कोई आपत्ति नहीं होगी'[१]।

२. नव्यों का अग्रिम तर्क यह है कि शाब्दबोध में योग्यता को कारण ही नहीं मानेगें, तो यह आपत्ति ही नहीं उठेगी। अनुभव भी यही कहता है कि योग्यताज्ञान शाब्दबोध का प्रतिबन्धक नहीं होता। इसीलिए 'वह्निना सिञ्चति' वाक्य सुनकर वैयाकरण उपहास करते हैं कि 'अद्रवेण वह्निना कथं सेकं वदसि'? अतः यह अनुभूत सत्य है कि शाब्दबोध तो होता ही है, हाँ प्रामाणिक शाब्दबोध नहीं होता—

'आहार्य एव वाऽभेदान्वयबोधोऽस्तु। मास्तु बाधबुद्धि-प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वम्। मा चास्तु शाब्दबुद्धौ योग्यताज्ञानस्य कारणत्वम्। आहार्य प्रात्यक्षिकमेवेति नियमश्च'[२]।

अपने पक्ष को दृढ़ करते हुए नव्यों का वक्तव्य है कि 'मुखचन्द्रः' इस समास स्थल में वाच्यार्थों का ही अभेदान्वय अवश्य करना पड़ेगा, वाच्य और लक्ष्य अर्थों का नहीं। इसके विवेचनार्थ उन्होंने 'राजनारायण लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्' एवं 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जित-मनोहरमम्बिकायाः' इन पद्यों को प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम प्रथमस्थल लें। यहाँ 'राजनारायण', पद में समास है। यह समास दो प्रकार से सिद्ध हो सकता है।

---

१. 'न च वह्निना सिञ्चति' इत्यतो वाक्यादपि शाब्दबोधापत्तिः। योग्यताज्ञानविरहात्। 'मुखं चन्द्रः, गौर्वाहीकः' इत्यादौत्विष्टचमत्कारप्रयोजकताज्ञानाधीनाया इच्छायाः सत्त्वादाहार्य योग्यता ज्ञानसाम्राज्यम्। अतएव शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य कारणत्वोक्तिः प्राचां संगच्छते।

रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १७८

२. तत्रैव, पृ. १८१।

राजा नारायण इव = राजनारायण: (उपमित समास) और राजा नारायण एव रूपक समास। प्रश्न है, यहाँ कौन समास मानें? 'लक्ष्मी आलिङ्गति' देखकर रूपक समास ही किया जाता है; क्योंकि उपमा मानने में 'नारायण' शब्द का नारायण सदृश अर्थ होगा, और इस स्थिति में बाधा आएगी कि कोई कुलाङ्गना पति के सदृश किसी दूसरे का आलिङ्गन कैसे कर सकती है? फलत: लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन अनुपपन्न हो जाएगा। अत: यहाँ रूपक अलङ्कार माना जाता है। यदि रूपक में भी उपमान की उपमान सदृश में लक्षणा करें, तो जो उपमा का अर्थ होता है, वही रूपक का भी अर्थ होगा, अर्थात् लक्ष्मी नारायण के सदृश राजा का आलिङ्गन करती है। ऐसी स्थिति में निर्णय नहीं किया जा सकेगा। अत: यहाँ वाच्यार्थों राजा व नारायण में ही अभेद होगा— 'नारायणाभिन्नो राजा'[१]।

इसी प्रकार 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु। मञ्जीरशिञ्जित-मनोहरमम्बिकाया:' इस पद्य में 'पादाम्बुजम्' में दो प्रकार से समास सम्भव है, उपमा तथा रूपक। उपमा मानने पर विग्रह होगा, 'पादौ अम्बुजे इव'। समास-निर्धारक सूत्र होगा—'उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे'। रूपक मानने पर विग्रह होगा—'पादौ अम्बुजे एव'। इसकी सिद्धि 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से होगी। यहाँ प्रश्न उठता है कि रूपक मानें कि उपमा? विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्लोक में पादाम्बुज का विशेषण, 'मञ्जीरशिञ्जितमनोहरम्' है। यह 'मञ्जीरशिञ्जन' चरण में ही सम्भव है, अम्बुज में नहीं। अत: यहाँ पाद की ही प्रधानता माननी पड़ेगी, जो कि उपमा में ही सम्भव है? अत: यहाँ उपमालङ्कार ही निश्चित होता है। रूपकस्थल में 'मञ्जीरशिञ्जित मनोहर चरण रूपी कमल में प्रधानता कमल की होगी, चरण की नहीं, जिसमें मञ्जीरशिञ्जन हो नहीं सकता। फलत: रूपक नहीं माना जा सकता। यदि रूपकस्थल में उपमान पद की उपमानसदृश में लक्षणा करें, तो उपमा व रूपक दोनों स्थलों में अम्बुज के सदृश पाद यही अर्थ होगा। फलत: दोनों स्थलों में पाद की प्रधानता हो जाएगी व पाद में मञ्जीरशिञ्जन सम्भव ही है। अत: यहाँ उपमा मानें कि रूपक, यह निश्चित नहीं हो सकेगा। नव्यों ने अपने तर्क को पुष्ट करने हेतु प्राचीन आचार्यों के मत को व्यक्त किया है कि उन्होंने यहाँ व्यवस्था दी है कि मञ्जीर-शिञ्जन उपमा का निर्णायक है। ऐसा न मानने पर प्राचीनों का यह मत असंगत

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १८२।

हो जाएगा। फलतः नव्यों का निष्कर्ष है कि इन स्थलों को देखते हुए रूपकस्थल में लक्षणा नहीं करनी चाहिए[१]।

३. इसके प्रत्युत्तर में यदि यह कहा जाए कि समासस्थल में कहीं लक्षणा के बिना शाब्धबोध हो सकता है, लेकिन व्यासस्थल अर्थात् समासाभाव स्थल में जहाँ रूपकालङ्कार हो, वहाँ लक्षणा मानने में कोई आपत्ति नहीं; लेकिन यह मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—'कृपया सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम्' इस वाक्य में समासराहित्य है, परन्तु रूपक है। लक्षणा मान लेने पर वाक्यार्थ ही अनुपपन्न हो जाएगा। यहाँ 'कृपा' है, उपमेय व 'सुधा' है, उपमान। यदि इन दोनों के वाच्यार्थों का अभेदसम्बन्ध से अन्वय कर दिया जाय, तो अर्थ होगा, सुधा से अभिन्न कृपा। जब 'सुधा' व 'कृपा' अभिन्न हैं, तो सुधारूपी कृपा से सिञ्चन हो जाएगा। यदि सदृश अर्थ में 'सुधा' की लक्षणा करेंगें, तो अर्थ होगा, सुधासदृश कृपा से सिञ्चन करो। इस स्थिति में सुधा के सदृश कृपा से सिञ्चन नहीं हो सकेगा। सिञ्चन तो सुधा से अभिन्न कृपा से ही हो सकेगा। अतः रूपकस्थल में वाच्यार्थों का ही अभेदसम्बन्ध से अन्वय करना होगा[२]। निष्कर्ष हुआ कि उत्प्रेक्षा, परिणाम आदि अलङ्कारों से अतिरिक्त अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि स्थल में आहार्यज्ञान से ही शाब्दबोध हो जाएगा, लक्षणा की आवश्यकता ही न रहेगी—

'उत्प्रेक्षाद्यतिरिक्तातिशयोक्त्यपह्नवादिष्वाहार्यज्ञानेनैवोपपत्तौ लक्षणायां बीजा-भावादनुभवविरोधाच्च'[३]।

४. इस सम्बन्ध में नव्यों का अग्रिम वक्तव्य है कि रूपकस्थल में उपमानवाचक शब्द की उपमानसदृश में लक्षणा होती है, यह जो प्राचीनों का

१. अवश्यं मुखचन्द्र इत्यादौ पराभिमतसारोपलक्षणोदाहरणे वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयोऽभ्यु-पगन्तव्यः, न तु वाच्य-लक्ष्ययोः। अन्यथा 'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्', 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः' इत्यादौ क्रमेणोपमारूपकयोरुपमितविशेषणसमासाधीनयोर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जुमञ्जीरशिञ्जित-मनोहरत्वयोरनुपपत्तिर्निर्णायिका रूपकोपमयोः प्राचीनैस्तत्र तत्र निबद्धा विरुद्धा स्यात्। आद्यपद्ये उपमाया इव रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकस्य तुल्यतया तन्निर्णायकतायां असंगतेः। द्वितीयपद्ये रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकाभावेन तन्निवर्तकताया अयोगात्।

रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १८२

२. न च मुखचन्द्रादौ समासे क्वचिदस्तु नाम प्रागुक्तरीत्या लक्षणां विनापि बोधोपपत्तिः, व्यासे तु लक्षणाया नास्ति बाधकमिति वाच्यम्। (तत्रैव, पृ. १८४।)

३. तत्रैव, पृ. १८५।

सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त में लक्ष्यतावच्छेदक होगा सादृश्य व यह सादृश्य होगा, समानधर्मरूप। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह लक्ष्यतावच्छेदक रूप सादृश्य लक्ष्यांश में विशेष रूप से प्रतीत होगा या सामान्य रूप से? विशेष रूप से लक्ष्यतावच्छेदक रूप सादृश्य की प्रतीति लक्ष्यांश में मान नहीं सकते। कारण, 'सुन्दरं मुखं चन्द्रः' इस रूपकालङ्कार के स्थल में सुन्दर पदार्थ की पुनरुक्ति हो जाएगी। अर्थात् जब हम 'चन्द्र' पद की 'चन्द्रसदृश' में लक्षणा करेंगें, तो 'चन्द्रसदृश' लक्ष्य अर्थ होगा, चन्द्रसदृश में लक्ष्यता रहेगी व लक्ष्यतावच्छेदक होगा 'चन्द्रसादृश्य'। यदि इस सादृश्य की विशेष रूप से प्रतीति स्वीकार करेंगें, तो यहाँ वैशिष्ट्य होगा, सुन्दरत्व। फलतः लक्ष्यार्थ की सुन्दरत्व धर्म युक्त प्रतीति होगी अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर। यहाँ 'सुन्दरं मुखं चन्द्रः' इस वाक्य में 'सुन्दरम्' पद का प्रयोग भी किया गया है, अतः सुन्दर पदार्थ की पुनरुक्ति हो जाएगी।

यदि यह कहा जाय कि जिस रूपक में साधारण धर्म के वाचक पद का भी प्रयोग होता है, वहाँ जिस पद का प्रयोग रहता है, उससे अतिरिक्त धर्म का ही हम लक्ष्यतावच्छेदक रूप से प्रयोग करेंगें। जैसे यहाँ 'सुन्दरं मुखं चन्द्रः' में सुन्दर पद प्रयुक्त है, तो सुन्दर पदार्थ से भिन्न वर्तुलत्व, आह्लादकत्व, गौरत्व आदि को हम लक्ष्यतावच्छेदक धर्म स्वीकार करेंगें[१]।

इन समस्त तर्कों के प्रत्युत्तर में नव्यों का अग्रिम वक्तव्य है कि यह बात अनुभवविरुद्ध है। उनका प्रश्न है कि जहाँ पर प्रयुक्त धर्म से अतिरिक्त दूसरा धर्म सम्भव ही नहीं, वहाँ पर प्रयुक्त धर्म से अतिरिक्त दूसरा कौन-सा धर्म ग्रहण करेंगे? उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक को लें—

अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥

अर्थात् शरीरधारियों के शरीर कमल हैं, इसमें संशय नहीं। यहाँ यह जिज्ञासा है कि यह कैसे सम्भव होगा? उत्तर होगा—'अक्षसङ्घात' से अङ्कित हैं व 'सरोग' हैं। यहाँ श्लेष से 'अक्षसङ्घात' व 'सरोग' पद के दो-दो अर्थ होंगें। शरीरपक्ष में 'अक्षाणां इन्द्रियाणां सङ्घातः समूहः तैरङ्कितानि शरीराणि' अर्थात् इन्द्रियसमूह से अङ्कित शरीर तथा कमलपक्ष में—'अक्षाणां सङ्घातैः अङ्कितानि' अर्थात् कमलाक्ष (कमलगट्टों) के समूह से अङ्कित। इसी प्रकार 'सरोगाणि' का शरीरपक्ष में 'रोगेण सहितानि' रोगयुक्त व कमलपक्ष में 'सरो गच्छन्ति सरोगाणि', जलाशय में होने वाले।

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १८६।

यहाँ शरीर व कमलपक्ष में इन पदों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी एक पद से दोनों अर्थ निष्पन्न हुए हैं। इन दोनों अर्थों में नियमानुसार श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान होता है। अतः इन दोनों अर्थों में साधारणधर्मता हो जाती है। यहाँ इन दोनों पदों के अर्थों या धर्मों से अतिरिक्त तीसरा कोई ऐसा धर्म है ही नहीं, जो कमल व शरीर में विद्यमान हो। फलतः इस रूपकालङ्कार के स्थल में प्रयुक्त धर्म से अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म लिया ही नहीं जा सकता, अतः पुनरुक्ति का वारण कैसे होगा[१]?

५. नव्यों का वक्तव्य है कि यदि प्राचीनाचार्य ऐसे स्थलों में सामान्य रूप से लक्ष्यतावच्छेदक रूप सादृश्य की प्रतीति मानें, तो यह तर्क भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण सादृश्य यदि शब्द से उपात्त हो जाएगा, तो रूपक रह ही नहीं जाएगा। यदि पूर्वपक्षी आचार्य यह कहें कि सादृश्य जहाँ वाच्य होता है, वहाँ उपमा होती है, रूपकस्थल में वाच्यसादृश्य नहीं, अतः उपमा नहीं होगी, तो यह तर्क भी ठीक नहीं। कारण एक स्थल है— 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' अर्थात् मुख कमल का प्रतिपक्ष है। अर्थात् मुख कमल के सदृश है। यहाँ प्रतिपक्ष का वाच्यार्थ तो सदृश है नहीं, लक्ष्यार्थ है, लेकिन उपमा में। फलतः प्रश्न है कि सादृश्य वाच्य होगा, तभी उपमा होगी, यह कैसे कहा जा सकता है[२]?

यदि यह कहा जाय कि सादृश्य के लक्ष्य होने पर भी यहाँ उपमा मान्य होती है, तब तो सभी रूपकालङ्कार के स्थलों में सादृश्य की लक्ष्यता मानकर उपमा हो जाएगी, रूपक की स्थिति ही नहीं रहेगी। अतः रूपकस्थल में लक्षणा होती ही नहीं, वाच्यार्थों का ही अभेदान्वय होता है, यही मत उचित है[३]।

६. अपने मत की पुष्टि हेतु नव्य आचार्य एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहितसमित्स्वीकारवैश्वानर।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीमप्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरञ्चमुच्चैः क्रियाः[४]॥

१,२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १८६-८८।

३. नान्त्यः सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमात्वापत्तेः। न च सादृश्यस्य वाच्यतायामेवोपमाव्यपदेशः। 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ तदभावापत्तेः। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १८८।)

४. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १८९।

यहाँ राजा को 'विद्वन्मानसहंस' कहा गया है। प्रश्न उठता है, राजा को हंस कहने में सादृश्य क्या है? विचार करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ 'मानस' शब्द प्रयुक्त है, जिसके श्लेष से दो अर्थ निकलते हैं, मन व मानसरोवर। फलतः मानसवासित्व रूप सादृश्य से राजा में हंसत्वारोप की सिद्धि होती है और राजा में हंसत्वारोप सिद्ध हो जाने पर मानस में मानसरोवरत्वारोप की सिद्धि होगी। इस प्रकार यहाँ दोंनों आरोप अन्योन्याश्रित हैं व श्लिष्ट परम्परित रूपक का स्थल है।

इस प्रसङ्ग में नव्याचार्यों का तर्क है कि प्राचीनों के मतानुसार सारोपा लक्षणा के स्थल में उपमान चन्द्रादि की चन्द्रसदृश अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है, सादृश्यप्रतीति के बिना रूपकालङ्कार की सिद्धि ही नहीं हो सकती; तो यह मान्यता इस श्लोक के सन्दर्भ में विप्रतिषिद्ध हो जाएगी। यहाँ सादृश्य की प्रतीति श्लेषप्रतीति के बाद ही सम्भव है। 'मानस' पद से श्लेष से 'मन' व 'मानसरोवर' इन दोनों अर्थों की प्रतीति होने के बाद ही हंस की हंससदृश में लक्षणा करने पर श्लेषमूलक अभेदारोप से हंस व उपमेयभूत राजा इन दोनों में रहने वाले मानसवासित्व रूप साधारणधर्म की प्रतीति होती है। फलतः रूपक की सिद्धि 'श्लेष' की सहायता के बिना हो नहीं पाती। यही स्थिति श्लेष की है। श्लेषोत्पत्ति भी रूपक के बिना सम्भव नहीं; क्योंकि राजा में हंस आरोप के सिद्ध होने पर ही मानस में मानसरोवर का आरोप रूप अर्थसिद्धि की ओर ध्यान जाता है। जबतक रूपक की सिद्धि नहीं हो जाती, राजा को हंस नहीं मान लिया जाता, तब तक 'मानस' पद से वक्ता का सरोवर में भी तात्पर्यार्थ है, इसका बोधक, कोई प्रमाण नहीं रहता। रूपक के सिद्ध होने पर ही 'मानस' पद के श्लेष की ओर ध्यान जाता है। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है। राजा तथा हंस में साधारण धर्म रूप सादृश्य का अन्वेषण करने पर ज्ञात होता है कि 'मानस' पद में श्लेष है, फलतः मानसवासित्व रूप साधारण धर्म यहाँ है।

इस स्थिति को देखते हुए नव्यों का निष्कर्ष है कि प्राचीनाचार्यों का यह मत कि रूपकस्थल में लक्षणा रहती है, कथमपि उचित नहीं। वस्तुतः रूपक प्रसङ्ग में वाच्यार्थों का ही आहार्य अभेदान्वय होता है, यही रमणीय स्थिति है—

'अतो नामार्थयोरभेदान्वयसरणिरेव रूपकस्थले रमणीया'[१]।

---

१. तत्रैव, पृ. १९१।

७. नव्याचार्यों का अग्रिम तर्क है कि प्राचीन आचार्यों की यह मान्यता कि रूपकस्थल में उपमान की उपमानसदृश में लक्षणा होती है व ऐसा करने पर लक्षणा के मूल प्रयोजन उपमेय में उपमान की ताद्रूप्य की सिद्धि हो जाती है, भी उचित नहीं। कारण, ऐसा मानने पर 'तत्सदृश:' इस पद से भी सादृश्य प्रतीति होने पर 'ताद्रूप्य' की प्रतीति होने लगेगी। अत: रूपकस्थल में लक्षणा नहीं स्वीकार की जा सकती[१]।

पण्डितराजीय मत–

पण्डितराज ने गौणीसारोपा-लक्षणास्थल में प्राचीनों एवं नव्याचार्यों के मत को सविस्तार उपस्थित करने के अनन्तर इस प्रसङ्ग में निष्पक्ष समीक्षापूर्वक स्वकीय सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया है—

१. इस सम्बन्ध में पण्डितराज का वक्तव्य है कि नव्याचार्यों का यह मत कि रूपकस्थल में नामार्थों का अभेदान्वय करने से ही शाब्दबोध की सिद्धि हो जाएगी, लक्षणा की आवश्यकता नहीं; उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुत: चमत्कारी साधारण धर्म की प्रतीति हुए बिना जैसे उपमालङ्कार सिद्ध नहीं होता, वैसे ही रूपक की भी सिद्धि नहीं होती, यह सकलसहृदयानुभवसम्मत तथ्य है। अगर ऐसा न माना जाय तो 'भारतं नाकमण्डलम्' (महाभारत ग्रन्थ अथवा भारतवर्ष) स्वर्गप्रदेश है एवं 'नगरं विधुमण्डलम्' अर्थात् नगर चन्द्रबिम्ब है, इन वाक्यांशों को सुन लेने पर सहृदयों को रूपकालङ्कार का अनुभव होना चाहिए, लेकिन होता नहीं। फलत: इन दोनों वाक्यांशों के साथ 'सुपर्वालङ्कृतं भारतं नाकमण्डलम्' एवं 'सकलकलं नगरं विधुमण्डलम्' ये दो विशेषण जोड़े जाते हैं। अर्थात् भारतवर्ष देवों (सुपर्वों) से अलङ्कृत नाकमण्डल (स्वर्गमण्डल) है व सुन्दरपर्वों से सुशोभित भारत (महाभारत) नाकमण्डल (स्वर्गमण्डल) है और 'सकलकलं विधुमण्डलम्' चन्द्रमण्डल समस्त कलाओं से विभूषित है तथा नगर 'सकलकल' कोलाहलयुक्त है। इन दोनों विशेषणों को सुन लेने पर साधारण धर्म का ज्ञान हो जाता है। फलत: रूपक की प्रतीति उदित हो जाती है। अत: निश्चित है कि रूपक, उपमादि की अनुभूति हेतु साधारणधर्मता का ज्ञान आवश्यक है।

२. इसके प्रत्युत्तर में यदि यह कहा जाय कि यह स्थिति रूपक के अप्रसिद्ध उदाहरणों में ही होती है, तो पण्डितराज का मत है कि ऐसा कहना

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन पृ. १९१।

उचित नहीं। 'मुखचन्द्रः' इत्यादि रूपक के प्रसिद्ध स्थलों में भी जबतक सादृश्य की प्रतीति नहीं होगी, रूपक की सिद्धि नहीं होगी। हाँ इतनी विशेषता अवश्य है कि प्रसिद्धस्थलों में साधारण धर्म का नियमतः प्रयोग अपेक्षित नहीं होता एवं अप्रसिद्ध स्थलों में नियमतः अपेक्षित होता है। 'मुखचन्द्रः' में सादृश्य प्रसिद्ध है व 'भारतं नाकमण्डलम्' में अप्रसिद्ध। सारांश यह है कि साधारणधर्मत्वरूप सादृश्य की प्रतीति होने पर ही रूपकालङ्कार की प्रतीति व चमत्कार की अनुभूति होती है। ऐसी स्थिति में नव्यो का यह तर्क स्वयं खण्डित हो जाता है कि रूपक का नियामक आहार्यभेदबुद्धि है, क्योंकि दो वाच्यार्थों में आहार्यभेदान्वय करने में अन्य किसी बात की अपेक्षा नहीं होती—

'एवं स्थिते साधारणधर्मवत्त्वरूपं सादृश्यं यदि रूपकमध्यं न प्रविशेत्तदा कथमिव धर्मविशेषानुपस्थितिदशायां रूपकं न पर्यवस्येत्। चमत्कारं वा न जनयेत्। उपमानोपमेययोराहार्यभेदबुद्धेरनन्यापेक्षपर्यवसानायाः साम्राज्यात्'[१]।

३. पण्डितराज का अग्रिम तर्क है कि पदार्थद्वय में आहार्यभेदबुद्धि में या तज्जन्य चमत्कार में साधारणधर्म का ज्ञान प्रयोजक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण, जहाँ पर साधारणधर्म की प्रतीति नहीं होती, वहाँ पर भी आहार्यभेद प्रतीति होती है; लेकिन रूपकालङ्कार नहीं होता। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत है—

यद्यनुष्णो भवेद्वह्निर्यद्यशीतं भवेज्जलम्।
मन्ये दृढव्रतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक्॥

यदि अग्नि उष्णतारहित व जल शीतलतारहित हो जाय, तो मैं मान सकता हूँ कि दृढ़व्रत राम भी असत्य वक्ता हो जाएँ।

यहाँ साधारण धर्म की प्रतीति हुए बिना भी अभेदप्रतीति होती है[२]। यदि यह कहा जाए कि उपमानोपमेय भावस्थल में ही साधारण धर्म का ज्ञान अपेक्षित है, अन्यत्र नहीं, तो इस कल्पना का भी कोई प्रमाण नहीं है। साधारण धर्म की अनुपस्थिति दशा में भी 'मुखं यदि चन्द्रः स्यात् तदा भूम्यवस्थितं न स्यात्' अर्थात् मुख यदि चन्द्रमा होता, तो भूमि पर स्थित नहीं होता, इस स्थल में भी मुख व चन्द्र में उपमानोपमेयभाव है। फलतः आहार्यभेद प्रतीति होती है।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १९१।

२. यदि वह्निरनुष्णः स्यात् तदा रामोऽपि असत्यवक्ता स्यात् इत्याकारक प्रतीति में अनुष्णवह्निरभिन्नो असत्यवक्ता रामः, यह आहार्यभेदप्रतीति है, पर रूपक नहीं।

४. यदि यह कहा जाए कि रूपकप्रतीति उपमान के अभेद का विषय न होने पर भी होती है, वहाँ उपमानवाचक पद की स्वसदृश अर्थ में लक्षणा होती है; तो 'सिंहेन सदृशो नाऽयं किन्तु सिंहो नराधिपः' इस वाक्य में निषेध्य व विधेय की असङ्गति हो जाएगी। निषेध्य है, यह राजा सिंह के सदृश नहीं है व विधेय है, किन्तु सिंह ही है। यहाँ राजा में सिंह का आरोप है, फलतः अभेदप्रतीति है व रूपक है। अब शङ्का है कि प्राचीनों के मतानुसार जब सिंह की सिंहसदृश में लक्षणा की जाएगी, तो अर्थ होगा, यह राजा सिंह के सदृश नहीं है; किन्तु सिंहसदृश है। यहाँ सिंहसादृश्य का प्रथमपाद में निषेध व द्वितीय पाद में विधेय करना असङ्गत हो जाएगा। पण्डितराज इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि सदृश अर्थ की लक्षणा में ताद्रूप्यप्रतीति लक्षणा का फल होता है। 'सिंहेन सदृशो नाऽयं किन्तु सिंहो नराधिपः' इस उदाहरण में भेदघटित सादृश्य का निषेध व भेदाघटित सादृश्य का प्रतिपादन है, जिससे राजा में सिंहत्व की प्रतीति हो जाती है। इस पर यदि यह आक्षेप किया जाय कि सिंह पद की 'सिंहसदृश' अर्थ में लक्षणा करने पर विधेय कोटि में भी सादृश्य प्रविष्ट हो गया। अतः पहले सादृश्य का निषेध करना अनुपपन्न हो गया, तो पण्डितराज इसका यह कहकर उत्तर देते हैं कि यहाँ भेदघटित सादृश्य वाली उपमा का निषेध व भेदाघटित सादृश्य वाले रूपक का विधान किया गया है; अतः कोई अनुपपत्ति नहीं—

'अथ विधेयकोटौ प्राचां मते सादृश्यापि प्रविष्टतया तन्निषेधानुपपत्तिस्तथापि स्थितैवेति चेत् भेदघटितसादृश्यरूपाया उपमाया एव निषेध्यत्वात्, तिरोभूतभेद-सादृश्यलक्षणस्य रूपकस्य विधेयत्वाच्च नानुपपत्तिः'[१]।

५. जहाँ तक प्राचीनाचार्यों के मत में नवीनों द्वारा 'राजनारायणः लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गतिनिर्भरम्' एवं 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु। मञ्जीर-शिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः' इत्यादि उदाहरणद्वय में दिखलाई गई आपत्ति का प्रश्न है कि प्राचीनों के मत में 'लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन उपमा का बाधक है व 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जन रूपक में बाधक हैं, तो पण्डितराज इस आपत्ति का भी सयुक्तिक खण्डन करते हैं। उनके अनुसार रूपक में नारायण की नारायणसदृश अर्थ में प्राचीनमतानुसार लक्षणा करने पर नारायण के सदृश राजा यही अर्थ निकलेगा, जो उपमा में भी होता है। फलतः लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन रूपक का निर्णय कैसे करेगा?

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १९६।

तीव्रमेधा के धनी पण्डितराज इस शङ्का का समाधान जिस रूप में करते हैं, उससे उनके विलक्षण कौशल व शास्त्रोदध्यवगाहनत्व पर प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में उनकी युक्ति है कि रूपक में उपमानतावच्छेदक रूप से (उपमान है नारायण, अत: नारायण में रहेगी उपमानता, उसका अवच्छेदक होगा नारायणत्व) अर्थात् नारायणत्वेन रूपेण नारायण के सादृश्य की प्रतीति होती है, कारण यहाँ 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से समास करने पर विशेषण रूप उत्तर-पदार्थ प्रधान होने से नारायणसदृश की भी प्रतीति नारायण रूप से होगी। फलत: लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन अनुपपन्न नहीं होगा।

इसी प्रकार 'उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे' सूत्र से उपमित समास मान कर उपमा मानने में प्रधानीभूत जो पूर्वपदार्थ राजा है, उसकी राजत्वेन रूपेण प्रतीति होगी। नारायणसदृश रूप उत्तरपदार्थ विशेषण रूप में यथावत् रहेगा, प्रधानता राजा की रहेगी। फलत: 'राजा' राजा रहेगा, नारायण से अभिन्न नहीं, तो लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन अनुपपन्न होगा।

इस प्रकार 'राजनारायण:' इस उदाहरण में उपमा व रूपक की स्वीकृति को लेकर प्राचीन व नवीन आचार्यों में जो मतभेद था, उसका सुन्दर समाधान पण्डितराज की विलक्षण शेमुषी के चलते सम्भव हो सका। दूसरा स्थल भी दर्शनीय है। 'पादाम्बुजम्' में रूपक मानने पर उत्तर पद 'अम्बुज' की प्रधानता हो जाएगी; अत: 'अम्बुज' पद की 'अम्बुजसदृश' में लक्षणा करने पर 'अम्बुजत्वरूपेण' प्रतीति होगी तो 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जन' बाधित हो जाएगा। उपमा मानने पर 'पाद' की प्रधानता होगी, तो उसकी प्रतीति पादत्वरूपेण होगी एवं पाद में मञ्जुमञ्जीरशिञ्जन अनुपपन्न नहीं होगा[१]।

इस समाधान पर विषय के स्पष्टीकरणार्थ नवीनाचार्यों की ओर से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते पण्डितराज का तर्क है कि उपमित समास में पूर्व पदार्थ उपमेय की उपमेयतावच्छेदक रूप से प्रतीति होती है, यह कहना उचित नहीं।

---

१. रूपके उपमानतावच्छेदकरूपेण तत्सदृशप्रत्ययस्योपपादितत्वेन 'राजनारायणम्' इत्यादौ विशेषणसमासायत्तस्य रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदार्थस्य नारायणसदृशस्यापि नारायणत्वेनैव प्रतीतेर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनकर्मताया अनुपपत्तेरभावात्। उपमाया उपमिति-समासायत्ताया: स्वीकारे तु प्रधानीभूतपूर्वपदार्थस्य राज्ञो राजत्वेनैव प्रत्ययात्तादृशकर्मताया अनुपपत्ते:। 'पादाम्बुजम्' इत्यादावपि रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदस्यास्याम्बुज-सदृशस्याम्बुजत्वेनैव प्रतीतेर्मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया अनुपपत्ते:। उपमिति समासा-यत्तोपमायां तु प्रधानस्य पादस्य पादत्वेनैव प्रतीतस्य नास्ति तस्या अनुपपत्तिरिति न कोऽपि दोष:। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १९७।)

उदाहरणार्थ 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशुरुज्जृम्भते' यहाँ इस रूपक में 'चन्द्र' पद की चन्द्रसदृश में लक्षणा करने पर ताद्रूप्यप्रतीति होती है। अर्थात् मुख व चन्द्रमा में अभेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार अम्बुज की अम्बुजसदृश में लक्षणा करने पर 'अम्बुज' के ताद्रूप्य की प्रतीति पाद में भी होनी चाहिए; कारण लक्षणा तो दोनों स्थलों में है?

'न चोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकतयैव प्रतीतिरिति न युक्तम्'। 'वक्त्रे चन्द्रमसि' इति प्रागुक्तरूपक इवोपमानताद्रूप्यवदभेदबुद्ध्या तत्ताद्रूप्यस्यात्रापि प्रतिपत्तुं शक्यत्वाल्लक्षणायास्तुल्यत्वादिति वाच्यम्'[1]।

स्वतः उपस्थापित इस शङ्का का समाधान भी पण्डितराज इस प्रकार करते हैं कि उपमित समास में भेदघटित सादृश्य है, अतः अम्बुज के ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होगी, उपमेय पाद की ही प्रधानता होगी; अतः 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जन' में कोई बाधा नहीं—

'उपमितिसमासे भेदघटितसादृश्यस्य लक्ष्यकोटिप्रविष्टतया वैलक्षण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्'[2]।

६. पूर्वपक्षी नवीनाचार्यों द्वारा प्राचीनाचार्यों के मत में प्रदर्शित इस आपत्ति पर कि यदि उपमान की उपमानसदृश में लक्षणा करेंगें, तो शब्दतः सादृश्य का प्रयोग होने के कारण उपमालङ्कार होने लगेगा, पण्डितराज खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह आक्षेप भी उचित नहीं। रूपक में लक्षणा से भेदाघटित सादृश्य प्रतीत होता है और उपमा भेदघटित सादृश्य में होती है। आचार्यों का निर्देश भी है कि—'साधर्म्यमुपमा भेदे'। अतः उपमा का व्यवहार यहाँ मानना उचित नहीं—

'भेदाकरम्बितसादृश्यविशिष्टस्य रूपके लक्ष्यत्वादुपमाव्यपदेशस्याप्रसक्तेः सादृश्यमुपमा भेदे इति तत्सिद्धान्तात्'[3]।

७. पूर्वपक्षियों द्वारा दिखलाई गई इस आपत्ति पर कि समासयुक्त उपमा के स्थल में भेदयुक्त व रूपकस्थल में भेदरहित सादृश्य लक्षणा द्वारा ज्ञात होता है, यह जो प्राचीनाचार्यों का सिद्धान्त है, वहाँ इन दोनों प्रकारों में किस प्रकार का प्रयोग कहाँ किया जाय? यह बात वक्ता के अधीन रहेगी। उदाहरणार्थ वक्ता जहाँ पर भेदघटित सादृश्य के प्रतिपादन के लिए लक्षणा से 'मुखं चन्द्रः' का

१,२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. १९८।

३. तत्रैव, पृ. १९९।

प्रयोग करता है, तो 'चन्द्र' की चन्द्रसदृश में लक्षणा करने पर भी उपमालङ्कार ही होना चाहिए; क्योंकि वक्ता ने भेदघटित सादृश्य के बोध के लिए ही ऐसा प्रयोग किया है।

पूर्वपक्षियों की इस आपत्ति पर पण्डितराज का प्रत्युत्तर है कि भेदघटित सादृश्य के प्रतिपादन की इच्छा से 'मुखं चन्द्रः' यह प्रयोग विरुद्ध होगा। लक्षणा तो ताद्रूप्यप्रतिपादन के लिए ही की जाती है। मात्र रूढ़ि को छोड़कर आर्यजन प्रयोजन के बिना लक्षणा का प्रयोग नहीं करते। भेद व ताद्रूप्य दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, एक काल में श्रोता की बुद्धि में आ भी नहीं सकते[१]।

८. इस समाधान पर नव्याचार्यों की ओर से पुनः प्रश्न उठाया गया है कि 'पुरुषव्याघ्रः' में उपमित समास है और यहाँ 'व्याघ्र' शब्द की व्याघ्रसदृश में लक्षणा ही है। कारण लक्षणा न मानने पर समास में इनके सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी। यदि यह कहा जाय कि इस प्रयोग में 'पुरुषः व्याघ्र इव' इस विग्रहवाक्य में 'इव' शब्द का प्रयोग किया ही जाता है, जो सादृश्य का बोधक ही है; तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि समास में उसका प्रयोग नहीं होता। यदि होता तो 'इव' शब्द समास करने के पश्चात् भी सुनाई देता। (जैसे वागर्थाविव प्रयोग में) यहाँ तो 'पुरुषव्याघ्रः' इतना ही सुनाई देता है। 'इव' का लोप करने वाला कोई सूत्र भी नहीं। अतः 'इव' शब्द का समास से सम्बन्ध नहीं। जहाँ तक विग्रहवाक्य में 'इव' शब्द के प्रयोग की बात है, तो यह प्रयोग उसी विग्रहवाक्य की उपमा का प्रतिपादक हो सकता है, वाक्यान्तर अर्थात् 'पुरुषव्याघ्रः' इस समस्त पद का नहीं।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि समास में सादृश्य का बोध होता नहीं, अन्यथा 'पुरुष व्याघ्र इव' इस विग्रहवाक्य द्वारा विवरण करना ही असङ्गत हो जाएगा। नव्यों का वक्तव्य है कि विग्रह चूँकि 'पुरुष व्याघ्र इव' होता है; अगर विवरणीय वाक्यगत जो शब्द हैं, उनके द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता, तो उस अर्थ से विवरण अर्थात् विग्रह करना उचित नहीं। अतः सिद्ध है कि व्याघ्र की व्याघ्रसदृश में लक्षणा ही करनी होगी और लक्षणा का

---

१. ननु यत्र भेदघटितसादृश्यवति वक्त्रा लक्षणया 'मुखं चन्द्र' इति प्रयुक्तम्, तत्र तथाप्युपमालङ्कारापत्तिः स्थितैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यप्रतिपिपादयिषा काले लक्षणया तद्वति शब्दप्रयोगस्य विरुद्धत्वात्। लक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतिपिपादयिषाधीनत्वात्। न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य रूढिव्यतिरिक्तया लक्षणयाऽर्थं प्रतिपादयन्त्यार्याः, भेदताद्रूप्ययोर्विप्रतिषिद्धत्वेन। युगपत् प्रतिपत्तृबुद्ध्युपारोहासंभवाच्च। (रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २००।)

प्रयोजन है, ताद्रूप्यप्रतीति अर्थात् अभेदप्रतीति। उपमा तो भेदघटित सादृश्य में ही होती है, अत: उपमा कैसे स्वीकार की जा सकती है? जबकि प्राचीनों ने यहाँ 'द्विलुप्ता' उपमा बतलाई है[१]।

पण्डितराज नव्यों की इस आपत्ति का समाधान इस रूप में करते हैं कि उपमित समास में भेदघटित उपमान के सादृश्य से विशिष्ट उपमेय में शक्ति हुआ करती है। अर्थात् 'पुरुषव्याघ्र:' में भेदघटित उपमान व्याघ्र की व्याघ्र-सादृश्यविशिंष्ट उपमेय पुरुष में शक्ति है, अत: भेद की प्रतीति होगी। इसी तरह की शक्ति को 'वैयाकरण' समासशक्ति कहते हैं। कहा भी गया है कि—'समासे खलु भिन्नैव शक्ति: पङ्कजशब्दवत्' अर्थात् समास में एक भिन्न ही शक्ति रहती है। जैसे 'पङ्कज' पद से यौगिक शक्ति से कुमुद, सेवारादि अनेक अर्थ प्राप्त थे, फिर भी समुदायशक्ति से कमल अर्थ ही बोधित होता है। इस प्रकार सभी समस्त पदों में एक भिन्न शक्ति रहती है। अथवा उपमानवाचक पद की भेदघटित सादृश्यविशिष्ट में निरूढा लक्षणा मान लेने में कोई दोष नहीं। अर्थात् उपमान 'व्याघ्र' शब्द में भेदघटित सादृश्यविशिष्ट में रूढ़ि लक्षणा है। चूँकि अनादिकाल से ऐसे प्रयोग होते आए हैं, अत: अभेद का बोध नहीं होगा, भेदघटित सादृश्य की ही प्रतीति होगी—

'उपमित समासस्य भेदघटितोपमानसादृश्यविशिष्टोपमेये शक्तेस्तद्घटकीभूतोपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरूढ़लक्षणाया वा स्वीकाराददोष:'[२]।

९. यही स्थिति निपातों के द्योतक होने व वाचकलुप्तोपमा में भी स्वीकार करनी पड़ेगी। कारण जो निपातों को द्योतक मानते हैं, वाचक नहीं, उनके अनुसार 'मुखं चन्द्र इव' इत्यादि स्थलों में चन्द्र पद की सादृश्यविशिष्ट अर्थ में निरूढा लक्षणा माननी पड़ती है, कारण 'इव' निपात के द्योतक माने जाने पर वाचक शब्द के अभाव में सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी, अत: उपमा नहीं होगी। फलत: वहाँ निरूढा लक्षणा का मान आवश्यक है। यहीं स्थिति वाचकलुप्तोपमा की है। 'तडिद्गौरी' इत्यादि वाचकलुप्तोपमा के स्थलों में उपमानवाचक पद की स्वसदृश अर्थ में निरूढालक्षणा करनी होगी[३]।

१०. 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि श्लिष्टपरम्परित रूपकस्थल में जिस अन्योन्याश्रय रूप दोष का उद्भावन नवीनाचार्यों ने किया था, उसका समाधान

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २०१। २. तत्रैव, पृ. २०२।

३. तत्रैव, पृ. २०३-४।

करते पण्डितराज का वक्तव्य है कि काव्यजगत् की सारी सिद्धियाँ कल्पनाजगत् की वस्तुएँ होती हैं। मानस में मानसरोवरत्व, राजा में हंसत्व कल्पनाजन्य ही है व कल्पना स्वकीया प्रतिभा के अधीन है। अन्योन्याश्रय दोष वास्तविक जगत् में होता है, काल्पनिक कविसंसार में नहीं। वास्तविक संसार में भी कई कार्य ऐसे होते हैं, जिनमें अन्योन्यावश्यकता अनुभव की जाती है व अपेक्षित भी होती है। उदाहरणार्थ शिल्पी एक ईंट के आधार पर दूसरी ईंट को जोड़कर ही ईंटों व शिलाखण्डों से विशाल भवन का निर्माण कर लेते हैं, वृक्ष तथा बीज के अन्योन्याश्रयत्व की बात बाधक नहीं। अत: काव्य-संसार में अन्योन्याश्रय दोष का उद्भावन उचित नहीं[१]।

११. नवीनाचार्यों द्वारा समुत्थापित दोष कि रूपकस्थल में सदृश लक्षणा का फल ताद्रूप्यप्रतीति को मानना उचित नहीं, कारण ऐसा मानने पर सदृश अर्थ की प्रतीति 'तत्सदृश:' शब्द से कराने पर भी ताद्रूप्यप्रतीति होने लगेगी, का भी पण्डितराज सयुक्तिक खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि 'तत्सदृश:' इस प्रयोग में लक्षणा तो है ही नहीं। अत: ताद्रूप्यप्रतीति का प्रश्न नहीं और ताद्रूप्यप्रतीति लक्षणा का फल है; यह प्राचीनाचार्यों का सिद्धान्त है। यहाँ 'तत्सदृश:' से सादृश्यज्ञान हो रहा है, न कि ताद्रूप्यप्रतीति। रूपकस्थल में लक्षणा होती है; इस प्राचीन सिद्धान्त को महाभाष्यादिग्रन्थकारों का भी समर्थन प्राप्त है। 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्र के भाष्य पर महाभाष्यकार ने सन्देह उपस्थित किया कि जो भिन्न हैं, उनमें अभेद नहीं हो सकता। तद्भिन्न में तद्व्यवहार नहीं हो सकता—'कथं पुनरतस्मिन् स इत्येतद् भवति'? इस शङ्का का स्वत: समाधान भी उन्होंने उपस्थित किया है—'चतुर्भिश्च प्रकारै: ताद्रूप्यमारोप्यते, न तु मुख्यम्' अर्थात् ताद्रूप्य का आरोप चार प्रकार से होता है, वह मुख्य आरोप नहीं। ये चार प्रकार हैं—तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात्। स्पष्ट है, 'मुखचन्द्र:' इत्यादि रूपकस्थल में मुख में चन्द्रताद्रूप्य आरोपित होता है एवं वहाँ 'सदृशलक्षणा' ही हुआ करती है।

नव्याचार्य जो लक्षणास्थल में सीधे वाच्यार्थों का ही अभेदान्वय करते हैं, तो महाभाष्यकार की 'ताद्रूप्यमारोप्यते' यह पङ्क्ति ही बाधित हो जाएगी। अत: पण्डितराज का वक्तव्य है कि रूपकस्थल में लक्षणा माननी ही चाहिए—

'यदप्युक्तम्, रूपके सदृशलक्षणाया: फलं ताद्रूप्यप्रत्ययो न युज्यते। तत्सदृश इति शब्दबोधानन्तरमपि तथा प्रत्ययापत्तेरिति, तन्न। तत्सदृश इत्यत्र

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २०३-४।

लक्षणाया अभावेन ताद्रूप्यप्रत्ययस्यापादनायोगात्। ताद्रूप्यप्रत्ययो लक्षणायाः फलमिति प्राचां समयः। महाभाष्यादिग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वाच्च। नव्यनये तु तेषामाकुलीभावः स्यादिति दिक्[१]।

गौणीसारोपा लक्षणा से सम्बन्धित शास्त्रार्थ के अनन्तर रसगङ्गाधर में गौणी साध्यवसाना लक्षणा से होने वाले शाब्दबोध के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। साध्यवसाना लक्षणा जहाँ उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण कर लिया जाता है, वहाँ शाब्दबोध कैसे होगा, इसका विचार करते पण्डितराज 'पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते' उदाहरण देते हैं। अर्थात् 'इस नगर में प्रासादों की छत पर चन्द्रों की श्रेणियाँ सुशोभित हो रही हैं। यहाँ 'चन्द्रराजी' इस उपमानपद से उपमेय 'मुखराजी' निगीर्ण है। अतिशयोक्ति अलङ्कार का प्रसङ्ग है। 'चन्द्र' पद की 'मुख' में साध्यवसाना लक्षणा है; जिससे मुखत्व धर्म से विशिष्ट मुख की उपस्थिति होगी; परन्तु शाब्दबोध 'चन्द्रत्वप्रकारक मुखविशेष्यक ही होगा, अर्थात् चन्द्रत्वधर्म से युक्त मुखपङ्क्ति।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि शाब्दबोध स्थल में यत्प्रकारक यद्विशेष्यक उपस्थिति होती है, तत्प्रकारक तद्विशेष्यक ही शाब्दबोध होता है। यहाँ अर्थोपस्थिति तो मुखत्वप्रकारक मुखविशेष्यक ही है, पर शाब्दबोध चन्द्रत्वप्रकारक मुखविशेष्यक है। अर्थात् मुख को चन्द्ररूप ही समझा जाता है, मुखरूप नहीं। ऐसी स्थिति में शङ्का होती है कि उपस्थिति व शाब्दबोध में समानाकार होने का नियम भङ्ग हो जाएगा। पण्डितराज इस स्थिति का समाधान कई प्रकार से करते हैं। प्रथमतः उनका कथन है कि कतिपय प्रधानाचार्यों के मतानुसार यह नियम लक्षणा से अतिरिक्त स्थल के लिए हैं, लक्षणास्थल में लक्षणा माहात्म्य से ही यह विलक्षणता मानी जाएगी—'लक्षणाज्ञानस्यैव माहात्म्यात् इत्येके'[२]।

अन्य आचार्यों के मतानुसार लक्षणा से मुखत्वप्रकारक मुखविशेष्यक शाब्दबोध होने पर भी व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा एक शब्द से उपस्थापित अर्थद्वय में अभेद कर देने से चन्द्रत्वेन रूपेण अर्थात् चन्द्रत्वप्रकारक मुखविशेष्यक शाब्दबोध होगा—'लक्षणया मुखत्वेन मुखादेः शाब्दबोधे वृत्ते व्यञ्जनयैकशब्दोपात्तत्वप्रादुर्भूतया चन्द्रत्वेन बोधः' इत्यपरे[३]।

---

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन २०५।

२,३. तत्रैव, पृ. २०६।

इन दोनों आचार्यों के मत के परिप्रेक्ष्य में पण्डितराज का वक्तव्य है कि इन दोनों मतों में मुखादि में चन्द्रत्वप्रतीति मुखत्वप्रतीति के भान का निवारण नहीं करती। चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों से युक्त मुख पदार्थ, इस प्रकार इन दोनों धर्मों का मुख में भान होता है एवं एक ही धर्मी मुख में दोनों धर्मों का साक्षात् भान कराना ही सारोपा लक्षणा से साध्यवसाना लक्षणा को भिन्न बनाता है—

'इत्थं चैकस्मिन् धर्मिणि चन्द्रत्वादीनां मुखत्वादीनां च साक्षाद् भानमेव सारोपातोऽस्या व्यवच्छेदकम्'[१]।

सारोपालक्षणा में भी मुख में चन्द्रत्व एवं मुखत्व दोनों धर्मों का भान होता है; तथापि साक्षात् नहीं, परम्परा से। अर्थात् वहाँ प्रथमत: चन्द्रसदृश में लक्षणा होती है, फिर सदृश का भान मुख में होता है, तब परम्परया चन्द्रत्व का भी मुख में भान सिद्ध होता है; ऐसा कतिपय आचार्यों का मत है।

अन्य आचार्यों के मतानुसार साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में दो विरुद्ध धर्मों का एक ही धर्मी में ज्ञान होना अनुभव से सिद्ध नहीं। जैसे दूरत्व, चाकचिक्य आदि दोषों से शुक्ति में रजत का भ्रम होता है, वहाँ जैसे रजत को भासित करने वाली सामग्री शुक्तिज्ञान का निवारण कर देती है, वैसे ही मुख में चन्द्रत्व को भासित करने वाली सामग्री मुखत्व के भान को रोक देती है। साध्यवसाना लक्षणा में चन्द्रत्व से युक्त मुख पदार्थ इस एक ही धर्म चन्द्रत्व का भान होगा, मुखत्व का नहीं। इस मत के अनुसार धर्मी मुख में केवल चन्द्रत्व का भान होना, यह वैशिष्ट्य ही साध्यवसाना को सारोपा लक्षणा से पृथक् करता है, जब कि सारोपा में चन्द्रत्व के साथ-साथ मुखत्व का भी भान होता है—

'अपरे तु 'निवार्यत एव विरुद्धभानसामग्र्या स्वधर्मस्य भानम्। रजतत्वभानसामग्र्या शुक्तित्वस्याभानात्' इति वदन्ति। मतेऽस्मिन् विषयतावच्छेदकास्फूर्तिस्तथा'[२]।

इन समस्त मतों के निरूपण के अनन्तर पण्डितराज स्वकीय निर्णय देते हैं कि यदि सहृदयों को साध्यवसाना लक्षणा के स्थल 'चन्द्रराजी विराजते' में मुख में उपमेयतावच्छेदक अर्थात् मुखत्व धर्म की स्फूर्ति भी होती हो व चन्द्रत्व की भी, तब अनुभवप्रमाण से उसकी स्फूर्ति मानी ही जाएगी, उसके लिए

१,२. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २०७।

प्रतिबन्धक की कल्पना व उसके निवारण की बात अनुचित है। शुक्तिका में रजतप्रतीति के भ्रान्तिस्थल में शुक्तिका व रजत अत्यन्त विरुद्ध हैं, वहाँ रजतभासक सामग्री शुक्तिका ज्ञान का निवारण कर देती है, जो आवश्यक भी है। साध्यवसाना स्थल में भ्रान्ति तो है नहीं, वहाँ तो आहार्यारोप है। यहाँ यदि सहृदयों को मुख में उभय धर्मप्रकारक बोध की अनुभूति होती है, तो यहाँ विरुद्ध धर्मवारण की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत सहृदयों को यदि विरुद्ध धर्म की प्रतीति अनुभवपथ में नहीं होती, मात्र चन्द्रत्व धर्म से युक्त मुख का बोध होता हो, तो वहाँ मुखत्व धर्म का वारण करना उचित ही है—

'वस्तुतस्तु साध्यवसानायां विषयतावच्छेदकधर्मभानं यदि सहृदयहृदय-प्रमाणकम्, तदा तद्वारणाय कारणकल्पनाऽनुचितैव। शुक्तिरजतभानस्थले तु शुक्तित्वेन भाने पुरोवर्तिनि रजतत्वभानं सर्वथैव विरुद्धत्वाद्रजतत्वभानसमये शुक्तित्वभाननिवारणमावश्यकम्। न चेहापि तथा अनुभवविरुद्धत्वात्। यदि तु तत्र प्रामाणिकं तदा सोचितैव'[1]।

लक्षणा के स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद एवं इन प्रभेदों से ही सम्बद्ध गौणी सारोपा एवं गौणी साध्यवसाना लक्षणाविषयक प्राचीन एवं नव्याचार्यों के गम्भीर शास्त्रार्थ से संवलित यह समग्र विवेचन पण्डितराज के विलक्षण शास्त्रपाटव का सूचक है। इस प्रसङ्ग में जहाँ प्रभेद-विषयिणी अतिवादिनी मान्यता का परित्याग कर षड्विधा लक्षणा का ही समर्थन किया गया है, वहीं गौणीसारोपा लक्षणा के प्रकरण में प्राचीन आचार्यों की मान्यता को पक्षत्रय के रूप में तर्कयुक्त शैली में प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर वृत्तिवार्तिक में प्रतिपादित अप्पय दीक्षित के मत को प्रकारान्तर से नव्यमत नाम से प्रबलतर्कों सहित व्यवस्थित रूप में निरूपित किया गया है। पुनः इन तर्कों का प्रबलतर तर्कों द्वारा सयुक्तिक खण्डन करने के समग्र क्रम में पण्डितराजीया शेमुषी का विलक्षण रूप दिखलाई देता है। रसगङ्गाधर में विवेचित यह लक्षणाविषयक समग्र शास्त्रार्थ पण्डितराज की काव्यशास्त्र को एक महत्त्वपूर्ण देन है। इसके माध्यम से उन्होंने न केवल अप्पय दीक्षित द्वारा वृत्तिवार्तिक में प्रतिपादित तर्कों का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया; अपितु प्राचीनाचार्यों की मान्यता की रक्षा कर भावी पीढ़ी को उभयविध पक्षों को समझने व सम्यक् मान्यता को ही चुनने का प्रकारान्तर से सन्देश भी दिया। यदि ऐसा न होता, तो अप्पय के विवेचनों से प्रभावित हो अग्रिम पीढ़ी के काव्यशास्त्र जिज्ञासुजन उसे ही सही समझकर रूपकस्थल में लक्षणा स्वीकृति

१. रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ. २०९।

की मान्यता को ही असङ्गत मानने लगते। इस प्रकार रसगङ्गाधर में प्रतिपादित शब्दशक्तिविषयक यह सम्पूर्ण प्रकरण अत्यन्त सारगर्भित, व्यवस्थित, यथावसर मौलिक समीक्षादृष्टि से समन्वित एवं विषय का सुष्ठुतया प्रतिपादन करने वाला है।

अलङ्कार–

शब्दशक्तिविवेचन के अनन्तर रसगङ्गाधर में सत्तर अर्थालङ्कारों का बड़ा प्रौढ़, व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। विभिन्न अलङ्कारों से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति की सम्भावनामात्र का क्षरण करते हुए नव्यन्याय की भाषाशैली में इन अलङ्कारों का भेद-प्रभेदसहित सोदाहरण निरूपण पण्डितराजीया मेधा की विलक्षणता का सूचक है। काव्यशास्त्र के उत्तरवर्ती युग की विभूति होने के कारण पण्डितराज को पूर्ववर्ती आचार्यों की एक सुदीर्घ सरणि से अलङ्कारों के स्वरूपविवेचन, लक्षणोदाहरणादि से सम्बन्धित अजस्र ज्ञानराशि भी दायरूप में प्राप्त हुई थी। इसका उपयोग भी उनकी शास्त्रावगाहन में सुतरां प्रवीणा प्रतिभा ने भरपूर किया; जिसका परिणाम रहा संस्कृत काव्यशास्त्र को रसगङ्गाधर के सार्द्धैक आनन में समाहित सत्तर अर्थालङ्कारों के गम्भीर एवं विशद विवेचन की प्राप्ति। रसगङ्गाधर में जिन सत्तर अर्थालङ्कारों का निरूपण है, वे इस प्रकार हैं—

१. उपमा २. उपमेयोपमा ३. अनन्वय ४. असम ५. उदाहरण ६. स्मरण ७. रूपक ८. परिणाम ९. ससन्देह १०. भ्रान्तिमान् ११. उल्लेख १२. अपह्नुति १३. उत्प्रेक्षा १४. अतिशयोक्ति १५. तुल्ययोगिता १६. दीपक १७. प्रतिवस्तूपमा १८. दृष्टान्त १९. निदर्शना २०. व्यतिरेक २१. सहोक्ति २२. विनोक्ति २३. समासोक्ति २४. परिकर २५. श्लेष २६. अप्रस्तुतप्रशंसा २७. पर्यायोक्ति २८. व्याजस्तुति २९. आक्षेप ३०. विरोध ३१. विभावना ३२. विशेषोक्ति ३३. असङ्गति ३४. विषम ३५. सम ३६. विचित्र ३७. अधिक ३८. अन्योन्य ३९. विशेष ४०. व्याघात ४१. कारणमाला ४२. एकावली ४३. सार ४४. काव्यलिङ्ग ४५. अर्थान्तरन्यास ४६. अनुमान ४७. यथासंख्य ४८. पर्याय ४९. परिवृत्ति ५०. परिसंख्या ५१. अर्थापत्ति ५२. विकल्प ५३. समुच्चय ५४. समाधि ५५. प्रत्यनीक ५६. प्रतीप ५७. प्रौढोक्ति ५८. ललित ५९. प्रहर्षण ६०. विषादन ६१. उल्लास ६२. अवज्ञा ६३. अनुज्ञा ६४. तिरस्कार ६५. लेश ६६. तद्गुण ६७. अतद्गुण ६८. मीलित ६९. सामान्य एवं ७०. उत्तर।

अन्तिम उत्तरालङ्कार-निरूपणप्रकरण में ही पण्डितराज की लेखनी अकस्मात् अवरूद्ध दिखाई देती है। इस अवरोध के दो कारण सम्भावित हैं— १. प्रथमतः या तो ग्रन्थ लिखते समय ही पण्डितराज विधिवशात् कालकवलित हो गए एवं रसगङ्गाधर पञ्चानन शिव के समान पञ्चाननत्व प्राप्त न कर सका, अथवा २. कालक्रम से दुर्दैववशात् ग्रन्थ का शेष भाग हस्तगत नहीं हो सका।

इस प्रकरण में पण्डितराज ने अपनी विषयप्रतिपादन शैली की स्वाभाविकता के अनुरूप विभिन्न अलङ्कारों के स्वरूप विश्लेषण में अपने मत की प्रस्तुति के अतिरिक्त यथावसर अन्य आचार्यों के मतों की भी समीक्षा प्रस्तुत की है। जहाँ अनेकत्र आचार्यों के नामोल्लेख के बिना अपरे तु, अन्ये तु, परे तु कहकर मतान्तरों को प्रस्तुत किया गया है, वहीं कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित, अलङ्कारसारसङ्ग्रहकार भट्टोद्भट, अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक, विमर्शिनी टीकाकार जयरथ, ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन, काव्यप्रकाशकार मम्मट, साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ, अलङ्काररत्नाकरकार आदि का नामतः उल्लेख कर उनकी मान्यताओं की विधिवत् परीक्षा व उनका सयुक्तिक खण्डन किया गया है। यह समस्त प्रकरण इतना विस्तृत है कि इसके लेखन हेतु पृथक् प्रयास अपेक्षित है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में पण्डितराज कृत रसगङ्गाधरीय अलङ्कारलक्षणों एवं उनके कतिपय उदाहरणश्लोकों का तो समावेश अलङ्कारनिरूपण नामक अध्याय में किया गया है, परन्तु लक्षणों के पदकृत्य, अन्यान्य अलङ्कारों में अतिव्याप्ति-निवारण, अव्याप्ति-दोषोद्धार, उनके विभिन्न प्रभेदों का विस्तृत निरूपण, अन्यान्य ग्रन्थकारों के मतों की समीक्षा आदि प्रसङ्गों को इसमें समाहित नहीं किया गया है।

निष्कर्ष–

रसगङ्गाधर में विवेचित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के संक्षिप्त समवलोकन के आधार पर निष्कर्षरूपेण यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज निस्सन्दिग्ध रूप से काव्यशास्त्र के पारगामी आचार्य हैं। रसगङ्गाधर उनके शास्त्रीय ज्ञानार्णवत्व, चिन्तनवैदुष्य, प्रबल तार्किकक्षमता एवं परिशुद्ध समीक्षादृष्टि का परिचायक है। काव्यशास्त्र के इतिहास में वे ध्वनिवाद के प्रबल समर्थक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं, तथापि उनकी समीक्षादृष्टि अन्धानुकरण की अभ्यस्त नहीं। भरत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट के प्रति पर्याप्त आस्था रखते हुए भी वे इनके गतानुगतिक नहीं हैं। उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त के मूलप्रासाद को यथावत् बनाए रखते हुए जहाँ आवश्यक समझा है, वहाँ उसे अधिक

अलङ्कृत, परिष्कृत व सुरम्य बनाने का कार्य किया है। रसगङ्गाधर में उन्होंने उन्हीं स्थलों का सविस्तार निरूपण किया है, जहाँ कोई मौलिक पक्ष प्रस्तुत करना हो, शास्त्र की किसी गूढ़ ग्रन्थि को सुलझाना हो, आचार्यों की विविध मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर कसना हो अथवा उनमें दृष्टिगत हो रही शास्त्र की किसी गूढ़ समस्या को सुलझाना हो। काव्यशास्त्रविषयक वे सिद्धान्त जो सर्वमान्य हो चुके हैं, उनके विषय में वे संक्षेप में परिचय भर दे देते हैं। उदाहरणार्थ काव्यप्रयोजन के सम्बन्ध में उन्हें कोई नवीन बात कहनी नहीं थी, इसलिए उसका उल्लेख मात्र करते हुए—'तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवता-प्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य.......०'; कहकर आगे बढ़ चले हैं।

काव्यलक्षण प्रसङ्ग में वे आचार्यों की शब्दार्थोभयवादिनी मान्यता से सहमत नहीं हो सके, फलत: उसका खण्डन समीक्षानिकष पर अपनी समस्त तर्कोद्भाविनी बुद्धि से करने हेतु सन्नद्ध हो उठे। विषय के गाम्भीर्य को बनाए रखने एवं हर बात को राई-रत्ती तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत करने की अपनी नैयायिक चेतना के चलते उन्होंने भाषा-शैली भी नव्यन्याय की अपनाई तथा काव्य का लक्षण सामान्य, परिष्कृत व फलित इन तीन रूपों में प्रस्तुत किया। लक्षण भी ऐसा बनाया, जिसकी सीमाएँ व्यापक हैं, जिसके रमणीयार्थ में रसात्मक, बौद्धिक एवं कल्पनात्मक सभी आनन्द सिमट आते हैं।

काव्यहेतुवों के निरूपण में उन्होंने केवल प्रतिभावादी मान्यता अपनाई तथा व्युत्पत्ति, अभ्यास एवं अदृष्ट को उसका उन्मीलक बतलाया। प्रतिभा की व्याख्या भी न्याय व वेदान्त के दृष्टिकोण से करते हुए उन्होंने एक ओर जहाँ विषय को शास्त्रीयगाम्भीर्य प्रदान किया, वहीं बड़े सीमित शब्दों में प्रतिभा के व्यक्त, अव्यक्त, कारण, कार्य एवं कार्यवैविध्य आदि सभी पक्षों को समाहित कर लिया।

काव्य-प्रभेदों के सम्बन्ध में व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार की उच्चावचता को आधार बनाकर किया गया काव्य का चतुर्धा विभाजन निस्सन्देह उस आवश्यकता की पूर्ति करता है, जिससे सहृदयजन कमी अनुभव किया करते थे।

ध्वनि का व्यवस्थित निरूपण, रसादिध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के केवल स्वत:सम्भवी व कविप्रौढोक्तिसिद्ध नामक दो ही प्रभेदों को स्वीकृति, शाब्दीव्यञ्जना के प्रकरण में नानार्थस्थलीय चिन्तन, गुणों की रसमात्रधर्मता-विषयक मान्यता का निषेध कर उन्हें शब्द, अर्थ, रस-रचना

सभी के साथ सम्बद्ध करते हुए 'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व' के रूप में उनकी व्याख्या, गुणाभिव्यञ्जक सामग्रियों का सविस्तार निरूपण एवं वर्जनीय वर्णों का भी सोदाहरण वर्णन, भावों की चित्तवृत्तिरूपता की व्याख्या करते हुए उनके स्वरूप का विस्तृत निरूपण, रस की अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से की गई व्याख्या, रसविषयक ग्यारह मतों का विस्तृत विवरण, अभिधा एवं लक्षणा-विषयक विद्वतापूर्ण चिन्तन आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं, जो लिखे तो गए हैं, ध्वनिवादी मान्यताओं की मसि से ही; परन्तु पण्डितराज की विद्वतापूर्ण लेखनी का संस्पर्श पाकर मौलिक विभा से विभासित हो उठे हैं। परिणाम यह रहा कि समग्र रसगङ्गाधर काव्यशास्त्र के उत्तरवर्ती युग की उपलब्धि होने पर भी पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का संकलन मात्र नहीं है; वरन् नव्यन्याय की भाषा-शैली में लिखित विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की मौलिक चिन्तन के साथ ऐसी प्रौढ़ एवं गम्भीर प्रस्तुति है; जो कोमलमति पाठकों के लिए निश्चित ही दुरूह एवं गम्भीरमना जिज्ञासुजनों के लिए काव्यशास्त्रोदधित्व का परिचय कराने वाली है। इसकी महत्ता निर्विवाद है। वस्तुतः इसके अध्ययन के बिना काव्यशास्त्र का अध्ययन ही अपूर्ण है। इसके विषय में पण्डितराज का यह कथन निस्सन्देह सत्य है—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं,
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥

●

दशम अध्याय

पूर्वापर प्रभाव

मानवीय प्रकृति में आदान-प्रदान का नियम सनातन एवं स्वाभाविक है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु चाहे जड़ हो या चेतन, चर हो अथवा अचर दूसरे से कुछ तत्त्व ग्रहण करती है और बदले में उसे कुछ देती है। आदान-प्रदान के इस स्वाभाविक नियम से 'नियतिकृतनियमरहिता, अनन्यपरतन्त्रा' सृष्टि की रचना करने वाला कवि भी अपवाद नहीं है। वेद के तत्त्वद्रष्टाओं के अतिरिक्त ऐसा कोई भी मनीषी नहीं, जिसने अपने पूर्ववर्ती स्रष्टाओं से कोई भाव, विचार अथवा तत्त्व ग्रहण न किया हो। इसे ही परम्परागत ऋषि-ऋण कहते हैं। पण्डितराज भी इसके अपवाद नहीं है। '**किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण**' कहकर वे अपनी मौलिकता का कितना ही दावा क्यों न करें, परन्तु वे भी अपने पूर्ववर्ती कवियों से भाव व रचनाशैली से प्रभावित होने के ऋणी हैं। बात भी कुछ ऐसी ही है। कारण, जो यह दावा करता है कि मैं बिल्कुल नई व सार्थक बात कह रहा हूँ, वह, समालोचक श्यामसुन्दर दास के शब्दों में 'या तो मूर्ख है, या पाखण्डी। हाँ, निरर्थक नई बात कदाचित् कही जा सकती है, किन्तु उस दशा में कहने वाला व्यक्ति कवि न होगा, पागल होगा।'[१] वस्तुतः भाव वही रहते हैं, उन्हें सुन्दर भावात्मक तथा कलात्मक कौशल से प्रतिपादित करने का ढ़ंग कवि का नया होता है।

पण्डितराज की कृतियों में वर्णित भावों पर भी पूर्ववर्ती व समकालीन कवियों का प्रभाव पड़ा है तथा परवर्ती कवि उनसे प्रभावित हुए हैं। उनकी कृतियों के इस भावसाम्य तथा पूर्वापर प्रभाव का विवेचन इन चार वर्गों में विभक्त कर विवेचित है—१. पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव, २. अन्य सुभाषित श्लोकों से भाव साम्य, ३. परवर्ती कवियों पर प्रभाव और ४. पण्डितराज तथा हिन्दी कवि एवं काव्यशास्त्री।

१. पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव-

पण्डितराज की काव्यकृतियों यथा पञ्च लहरियों, अन्योक्तियों, शृङ्गारिक श्लोकों व राजप्रशस्तिपरक पद्यों के कुछ श्लोकों में वर्णित भावों का साम्य उनके

१. भारतीय नीतिकाव्य परम्परा और रहीम, डॉ. अकिंचन, पृ. ४९४

पूर्ववर्ती कुछ कवियों की कृतियों में आगत श्लोकों से मिलता है। उनकी लहरियों में गङ्गालहरी व लक्ष्मीलहरी का भावसाम्य क्रमशः शङ्कराचार्य तथा वाल्मीकि के गङ्गास्तोत्र व गङ्गाष्टक तथा सौन्दर्यलहरी से है। सुधालहरी मयूर के सूर्यशतक का सुन्दर भावानुकरण है एवं करुणालहरी के अनेक भाव यामुनाचार्य के 'स्तोत्ररत्न' तथा वेदान्तदेशिक के 'देवनायकपञ्चाशत्' से मिलते हैं। इसी प्रकार उनकी कई अन्योक्तियाँ शम्भु महाकवि की 'अन्योक्तिमुक्तालता' एवं रुद्र न्याय वाचस्पति के 'भावविलास' की अन्योक्तियों से प्रभावित हैं। भर्तृहरि के श्लोकों व कुछ अन्य कवियों के सुभाषित श्लोकों से भी उनके श्लोकों का भावसाम्य है। उनकी कृतियों में प्राप्त पूर्ववर्ती कवियों के इस प्रभाव का विवेचन निम्नलिखित रूप में विवेचित है—

(क) गङ्गास्तोत्र, गङ्गाष्टक तथा गङ्गालहरी–

पण्डितराज की गङ्गालहरी में गङ्गा के माहात्म्यगान के प्रसङ्ग में आगत भाववर्णना में वाल्मीकि व शङ्कराचार्य के 'गङ्गाष्टक' तथा 'गङ्गास्तोत्र' के भावों की झलक मिलती है। उदाहरणार्थ वाल्मीकि ने गङ्गातट पर निवास करते हुए, गङ्गाजल का पान, उनका नामस्मरण व दर्शन करते हुए अपने शरीर का त्याग करने की कामना की है—

त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिमुत्प्रेङ्खतः।
त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः।।[१]

पण्डितराज ने इसी भाव को विदग्धतापूर्वक इस भांति प्रस्तुत किया है—

इदं तद् गङ्गेति श्रवणरमणीयं खलु पदं,
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्तर्विलसतु।।[२]

शङ्कराचार्य ने गंगाजल का पान करने वालों को यमराज के द्वारा न देखे जाने का वर्णन यह कह कर किया है—

'मातर्गंगे त्वयि यो भक्तः किल तं द्रष्टुं न यमः शक्तः'[३]

---

१. गङ्गाष्टक—वाल्मीकि, श्लो. १

२. गङ्गालहरी, श्लो. ८

३. गङ्गास्तोत्र, श्लो. ४

पण्डितराज ने भी इसी भाव को निम्नोद्धृत श्लोक में व्यक्त किया है—

विलीनो वै वैवस्वतनगरकोलाहलभरो
गता दूता दूरं क्वचिदपि परेतान् मृगयितुम्।
विमानानां व्रातो विदलयति वीथीर्दिविषदां
कथा ते कल्याणी यदवधि महीमण्डलमगात्।।[१]

शङ्कराचार्य ने गङ्गातट के निवास को वैकुण्ठोपभोग के समान बताया है—

'तव तटनिकटे यस्य निवासः खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः'[२]

पण्डितराज ने इसी भाव को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

विलोलद्वानीरं तव जननि तीरं श्रितवतां
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम्।।[३]

पुनः आचार्यपाद ने गङ्गा को निराकार ब्रह्ममयी कहा है—

निराकारागाधा भगवति! सदा त्वं विहरसि।
क्षितौ नीराकारा हरसि जनतापान् स्वकृपया।।[४]

पण्डितराज ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमो
विशुद्धं यत् तत्त्वं सुरतटिनि तत् त्वं न विषयः।।[५]

आचार्य श्रेष्ठ ने **'रोगं शोकं तापं पापं हर मे भगवति कुमतिकलापम्। त्रिभुवनसारे वसुधाद्वारे त्वमसि गतिर्मम खलु संसारे'** कहकर गङ्गा को ही एकमात्र अपनी आन्तरिक गति माना है। पण्डितराज की समस्त गङ्गालहरी में यही भावना प्रतिपादित हुई है।

(ख) आलबन्दारस्तोत्र एवं करुणालहरी–

इसी प्रकार पण्डितराज की करुणालहरी के कुछ श्लोकों में प्रतिपादित भावों का यामुनाचार्य विरचित 'आलबन्दारस्तोत्र' के कुछ श्लोकों में आगत भावों से अत्यधिक साम्य है, जिसका तुलनात्मक विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

१. गङ्गालहरी, श्लो. २५; २. गङ्गास्तोत्र, श्लो. १०
३. गङ्गालहरी, श्लो. ६; ४. गंगाष्टक; ५. गङ्गालहरी, श्लो. १०।

यामुनाचार्य ने भगवान् के प्रति अपना आत्मनिवेदन इस प्रकार वर्णित किया है—

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे! कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥[1]
तदहं त्वदृते न नाथवान्मदृते त्वं दयनीयवान्न च।
विधिनिर्मितमेतदन्वयं भगवन् पालय मा स्म जीहपः॥[2]

पण्डितराज के आत्मनिवेदन का ढंग भी इसी प्रकार का है—

विषीदता नाथ विषानलोपमे विषादभूमौ भवसागरे विभो।
परं प्रतीकारमपश्यताधुना मयायमात्मा भवते निवेदितः॥[3]
पतितोऽप्यतिदुर्गतोऽपि सन्नकृतज्ञो निखिलागसां पदम्।
भवदीय इतीरयंस्त्वया दयनीयस्त्रपयैव केवलम्॥[4]

यामुनाचार्य ने आत्मनिवेदन के क्रम में शिशु व माता का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए सम्पूर्ण संसार के जनक भगवान् से स्वोद्धार की कामना इस रूप में की है—

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तव पादपङ्कजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति॥[5]

पण्डितराज ने भी इसी भाव को लेकर स्वोद्धार हेतु तर्क प्रस्तुत किया है—

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो॥[6]
अयि शैशवलालितः शिशुः प्रतिबुद्धो जनकेन ताड्यते।
न कदापि च लालितस्त्वया किमु ताड्यो भगवन् कुकर्मभिः॥[7]

यामुनाचार्य ने भगवद्भक्तों के गृह में कीट-योनि में जन्म लेकर भी जीना श्रेष्ठ समझा है, किन्तु उनकी भक्ति से विरहित ब्रह्मत्व पद की प्राप्ति को भी ठीक नहीं माना है—

---

१. आलबन्दारस्तोत्र, श्लो. ५१; २. तत्रैव, श्लो. ५४
३. करुणालहरी, श्लो. १; ४. तत्रैव, श्लो. ३०
५. आलबन्दारस्तोत्र, श्लो. २९; ६. करुणालहरी, श्लो. २६; ७. तत्रैव, श्लो. ३२

तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे।
इतरावसथेषु मा स्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना॥[1]

पण्डितराज ने भी कृषकों के कुल में जन्म लेना श्रेष्ठ समझा है, किन्तु गोविन्दपदारविन्द के भक्त बने रहने की उनकी कामना है—

प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिबद्धाञ्जलिरेकमेव याचे।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम्॥[2]

यामुनाचार्य के उपर्युक्त श्लोकों से भावसाम्य होने के अतिरिक्त वेदान्तदेशिक के 'देवनायकपञ्चाशत्' स्तोत्र में आगत विष्णुस्वरूप के वर्णन का करुणालहरी में प्रतिपादित विष्णु के नख-शिख वर्णन से सुन्दर भाव साम्य है।

(ग) सौन्दर्यलहरी एवं लक्ष्मीलहरी–

शङ्कराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में जगज्जननी त्रिपुरसुन्दरी का नख-शिख पर्यन्त सुन्दर स्तवन किया है। पण्डितराज की लक्ष्मीलहरी में यद्यपि सौन्दर्यलहरी के समान तत्त्वार्थ, योगार्थ व मन्त्रार्थ की गूढ़ता नहीं है, तथापि उसमें भी सौन्दर्य-लहरी की विषय-वर्णना के समान भगवती लक्ष्मी के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का चित्रण करते हुए इनमें प्रत्येक अङ्ग से स्वोद्धार व स्वमुक्ति की कामना की गई है। अतः यह कहा जा सकता है कि देवी के विविधाङ्गों को आदिशक्ति का रूप मानकर उनका स्तवन करने की सौन्दर्यलहरी की इस स्तुति शैली का आश्रय लेकर लक्ष्मीलहरी की रचना करने में वे शङ्कराचार्य से प्रभावित हैं।

स्तुति-शैली में साम्य होने के अतिरिक्त सौन्दर्यलहरी के कुछ श्लोकों से लक्ष्मीलहरी का अत्यल्प भावसाम्य भी है। जैसे शङ्कराचार्य ने भगवती के नेत्रों के उन्मेष-निमेष को सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय का कारण बतलाया है—

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती।
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये॥[3]

पण्डितराज ने भी देवी के कटाक्ष को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय का कारण बताते हुए उसका यशोगान इस रूप में किया है—

जगज्जन्मस्थानप्रलयरचनाशिल्पनिपुणः।
दृगन्तस्ते मन्दं मम कलुषवृन्दं दलयतु॥[4]

---

१. आलबन्दारस्तोत्र, श्लो. ५८; २. करुणालहरी, श्लो. ५५
३. सौन्दर्यलहरी, श्लो. ५५; ४. लक्ष्मीलहरी, श्लो. ५

शङ्कराचार्य ने भगवती के ताटङ्क (सधवा स्त्री के कानों में पहनने का भूषण) की महिमा का गान करते हुए कहा है कि ब्रह्मा और शतमुख अर्थात् इन्द्रादि देवगण अमृत का पान करने पर भी इस विश्व में काल का शिकार होते हैं, लेकिन हालाहल विष का पान करने वाले शम्भु पर काल की कलना भगवती के ताटङ्कों के प्रभाव से ही नहीं चलती—

करालं यत्क्ष्वेलं (डं) कवलितवतः कालकलना।
न शम्भोस्तन्मूलं तव जननि ताटङ्कमहिमा।।[१]

पण्डितराज ने ताटङ्क को अखण्ड सौभाग्य का प्रतीक मानने के इसी भाव को लेकर प्रलय काल में भी भगवान् के अमर होने की कल्पना को इस भाँति प्रस्तुत किया है—

प्रभाजालैः प्राभातिकदिनकराभापनयनं
तवेदं खेदं मे विघटयतु ताटङ्कयुगलम्।
महिम्ना यस्यायं प्रलयसमयेऽपि क्रतुभुजां
जगत् पायं पायं स्वपिति निरपायं तव पतिः।।[२]

शङ्कराचार्य ने '**कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसम्। पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्**'।।[३] कहकर उस काल की प्रतीक्षा की है, जब वे देवी के चरणोदक का पान करेंगें। पण्डितराज ने भी इसी भाव को प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अये मातर्लक्ष्मि त्वदरुणपदाम्भोजनिकटे
लुठन्तं बालं मामविरलगलद्बाष्पजटिलम्।
सुधासेकस्निग्धैरतिमसृणमुग्धैः करतलैः
स्पृशन्ती मा रोदीरिति वद समाश्वास्यसि कदा।।[४]

अन्त में इन दोनों लहरियों के अन्तिम समर्पणात्मक श्लोकों से इस तुलना का समापन प्रस्तुत है। सौन्दर्यलहरी का समर्पण कवि ने निम्नांकित रूप में किया है—

नियत्यानिर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे।
निरातङ्के नित्ये निगमय ममापि स्तुतिमिमाम्।।[५]

---

१. सौन्दर्यलहरी, श्लो. २८; २. लक्ष्मीलहरी, श्लो. ३७
३. सौन्दर्यलहरी, श्लो. १००; ४. लक्ष्मीलहरी, श्लो. ४०; ५. सौन्दर्यलहरी, श्लो. १०२

पण्डितराज ने भी इस प्रकार के सम्बोधनात्मक विशेषणों द्वारा देवी से अपनी स्तुति सुनने की प्रार्थना करते हुए लहरी का समापन किया—

परे नित्यं मातर्गुणमयि परब्रह्ममहिले।
जगन्नाथस्याकर्णय मृदुवर्णावलिमिमाम्।।[१]

(घ) सूर्यशतक एवं सुधालहरी–

इसी प्रकार सूर्य की आराधना में रचित सुधालहरी का मयूर के प्रसिद्ध स्तोत्र सूर्यशतक से भाव, शैली व छन्द में अति साम्य है। मयूर कवि ने गौडी रीति व स्रग्धरा छन्द में निबद्ध १०० श्लोकों में सूर्य की आराधना की है। पण्डितराज ने भी गौडी रीति युक्त ३० स्रग्धरा श्लोकों में सूर्य के प्रति स्तवन किया। इसके अतिरिक्त इन दोनों ही स्तोत्रों में आगत भावों में अत्यधिक साम्य है। दोनों के अधिकांश पद्य मंगलकामना व आशीष रूप में हैं। दोनों में ही सूर्य के लिये कई समान विशेषणों का प्रयोग किया गया है। लेकिन मयूर का वर्णन जहाँ पौराणिक आख्यानों पर आधारित है व समासबहुल तथा दुरूह पदों के प्रयोग के कारण अति क्लिष्ट हो गया है, वहीं पण्डितराज का स्तवन प्रसाद गुणयुक्त गौडी में निबद्ध होने व उनकी सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता पर आधारित होने के कारण अति सुन्दर बन पड़ा है। इस समस्त वर्णनसाम्य को देखकर यह कहा जा सकता है कि सुधालहरी मयूर के सूर्यशतक की सुन्दर, संक्षिप्त व परिष्कृत अनुकृति है।

(ङ) अन्योक्तिमुक्तालता एवं पण्डितराज की अन्योक्तियाँ–

प्रास्ताविक विलास में आगत पण्डितराज की कई अन्योक्तियों का शम्भु महाकवि की अन्योक्तिमुक्तालता में संगृहीत अन्योक्तियों से अतिशय भाव साम्य है। शम्भु महाकवि कश्मीर के राजा हर्ष के राज्यकाल (१०८८-११००ई.सन्) में थे।[२] पण्डितराज और उनकी अन्योक्तियों के भाव-साम्य का तुलनात्मक विवेचन इस रूप में प्रस्तुत है—

प्रास्ताविक विलास की एक अन्योक्ति में पूर्वकाल में मानसरोवर में जीवन बिताने वाले राजहंस के अब मेढ़कों से व्याप्त तलैया में रहने पर यह कहकर क्षोभ व्यक्त किया गया है—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्।।[३]

१. लक्ष्मीलहरी, श्लो. ४१।
२. भामि.वि., भूमिका, पृ. १४, सम्पा. हरदत्त शर्मा;
३. प्रास्ता.वि., श्लो. २

बिल्कुल यही भाव शम्भु कवि की उक्ति में देखिये—

आस्ते रोहत्कनककमले केलिपात्रे मृडान्याः
खेलन्हेलोन्मदमधुकरी मानसे मानसे यः।
भेकोद्रेकप्रणयिनी वलद्वालजम्बालजाले
स स्यादुत्कः परिमितजले पल्वले किं मरालः॥[१]

इन श्लोकों में न केवल भावसाम्य है, अपितु शब्दसाम्य भी है।

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में चन्दन वृक्ष को समस्त गुणों से युक्त होने पर भी सर्प लपेटे रहने के कारण फटकारा है—

यैस्त्वं गुणगणवानपि सतां द्विजिह्वैरसेव्यतां नीतः।
तानपि वहसि पटीरज किं कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम्॥[२]

बिल्कुल यही भाव शम्भु कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

कांतिर्लोचनवर्तिरद्भुतमयी भूतिर्महत्सौरभं
निष्यन्दोऽथ सुधाकरादपि सुधास्यंदादपि ह्लादकः।
सर्वोऽयं विरलो जगत्यपि गुणग्रामोऽभिरामो हहा
पश्योतंस भुजङ्गसङ्गमजुषः श्रीखंड ते खंडितः॥[३]

एक श्लोक में सुरतरु पर निवास करने पर भी दूसरे पुष्पों की स्पृहा करने वाले भँवरे की व्याजस्तुति रूप निन्दा उन्होंने इस रूप में की है—

अपनीतपरिमलान्तरकथे पदं न्यस्य देवतरकुसुमे
पुष्पान्तरेऽपि गन्तुं वाञ्छसि चेद् भ्रमरं धन्योऽसि॥[४]

यही भाव शम्भु कवि की उक्ति में देखिये—

येनाप्तः कमलाविलासकमले किंजल्कपानोत्सवो
यो लीलां वितनोति नाभिनलिनोत्संगे तथा शार्ङ्गिणः।
तस्य स्यात् कुसुमान्तरे मधुलिहः कुत्राप्यहो न स्थिति
र्न प्रीतिर्न रतिर्न केलिसमयो नो विस्मयो न स्मयः॥[५]

---

१. अन्योक्तिमुक्तालता., श्लो. १४
२. प्रास्ता.वि., श्लो. १९;
३. अन्योक्तिमुक्तालता ७२
४. प्रास्ता.वि., श्लो. २०;
५. अन्योक्तिमुक्तालता, श्लो. २६

प्रास्ताविकविलास की एक अन्योक्ति में कृष्णसार मृग को सिंह की विहारभूमि में खेलने से यह कहकर मना किया गया है—

एणीगणेषु गुरुगर्वनिमीलिताक्षः
किं कृष्णसार खलु खेलसि काननेऽस्मिन्।
सीमामिमां कलय भिन्नकरीन्द्रकुम्भ-
मुक्तामयीं हरिविहारवसुंधरायाः॥[१]

यही भाव शम्भुकवि की निम्नोदधृत अन्योक्ति में देखिए—

अद्रिद्रोण्यां निवस दिवसं जातलीलानुषङ्गै-
रङ्गैर्मा स्म स्मयतरलितैरङ्ग सारङ्गरङ्गः।
दर्पद्वारं द्विरदकदनोदग्रपाणिर्यदग्रे
प्रत्यासन्नो वनविहरणक्रीडया कुञ्जरारिः॥[२]

(च) भावविलास एवं पण्डितराज की अन्योक्तियाँ–

अन्योक्तिमुक्तालता की अन्योक्तियों से भावसाम्य होने के अतिरिक्त पण्डितराज की कई अन्योक्तियों का भावसाम्य रुद्र न्यायवाचस्पति के काव्यग्रन्थ 'भावविलास' में आगत अन्योक्तियों से भी है। रुद्र कवि जयपुर के राजा भावसिंह के राज्यकाल में थे, जो कि अकबर के समकालीन थे। इन दोनों कवियों की अन्योक्तियों के भावसाम्य का तुलनात्मक विवेचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

भावविलास की एक अन्योक्ति में रुद्र कवि ने उस सिंह के अपराजेय पौरुष का वर्णन किया है, जो अपने पराक्रम के समक्ष किसी को कुछ नहीं समझता—

येन शैशवपदे मदेभराङ्गण्डसीम नखरैर्विखंडितम्
यौवनोत्सवमवाप्य केसरी केषु दर्शयतु सोऽद्य पौरुषम्॥[३]

बिल्कुल यही भाव जरा परिष्कृत रूप में पण्डितराज की लेखनी में देखिये—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीला खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः॥[४]

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ४७; २. अन्योक्तिमुक्तालता, श्लो. १२।
३. भावविलास, श्लो. १०४; ४. प्रास्ता.वि., श्लो. १

रुद्र कवि ने कमलों का सेवन कर भी कुटज पुष्परस का पान करने वाले भौंरे को यह कह कर फटकारा है—

नीरजान्यपि निषेव्य निर्भरं नीरसानि कुटजानि वाञ्छसि।
चञ्चलस्त्वमिह चञ्चरीक ते साहजं कथमिदं विमोक्ष्यसि॥[१]

पण्डितराज ने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है—

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम्॥[२]

रुद्र कवि ने सज्जनों की परोपकार परायणता का विवेचन इस भाँति किया है—

कस्मादिन्दुरसौ धिनोति जगतीं पीयूषगर्भैः करैः
कस्माद्वा जलधारयैष धरणिं धाराधरः सिञ्चति।
भ्रामं भ्राममयं च नन्दयति वा कस्मात् त्रिलोकीं कविः
साधूनां हि परोपकारकरणे नोपाध्यपेक्षं मनः॥[३]

इसी भाव को पण्डितराज के शब्दों में सुनिए—

नापेक्षा न च दाक्षिण्यं न प्रीतिर्न च सङ्गतिः।
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो घनः॥[४]

स्पष्ट है, हमारे कवि की अन्योक्तियों का अन्योक्तिमुक्तालताकार व भावविलासकार इन दोनों कवियों की अन्योक्तियों से अतिशय भावसाम्य है।

(छ) भर्तृहरि एवं पण्डितराज–

भर्तृहरि शृङ्गार व नीतिशतक के प्रणेता हैं तथा पण्डितराज ने भी कई शृङ्गारिक व नीतिपरक श्लोकों तथा अन्योक्तियों की रचना की है। अतः इन कवियों के भी कुछ श्लोकों में भावसाम्य मिलता है।

भर्तृहरि ने सज्जनों द्वारा बिना याचना किए ही परोपकार करने की नीति का निरूपण यह कह कर किया है—

पद्मांकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः॥[५]

---

१. भावविलास, श्लो. ४१; २. प्रास्ता.वि., श्लो. ९
३. भावविलास, श्लो. २६; ४. प्रास्ता.वि., श्लो. ३७; ५. नीतिशतक., श्लो. ७४

इसी भाव को पण्डितराज ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

सत्पुरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यऽखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि।।[1]

भर्तृहरि ने दुर्जनों की स्वभावगत दुर्निर्वारता का वर्णन निम्नरूप में किया—

व्यालं बालमृणालतंतुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहिते
नेतुं वाञ्छसि यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।।[2]

पण्डितराज ने इसी भाव को इस रूप में व्यक्त किया—

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन
कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम्।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा
यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम्।।[3]

भर्तृहरि ने सत्सङ्गति की महत्ता का बखान निम्नलिखित श्लोक में इस भाँति किया है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।[4]

बिल्कुल यही भाव पण्डितराज की लेखनी से निम्नोद्धृत श्लोक के रूप में बद्ध हुआ है—

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति।
भूतेषु किं च करुणां बहुली करोति सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति।।[5]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ७३; २. नीतिशतक, श्लो. ६

३. प्रास्ता.वि., श्लो. ९०, ४. नीतिशतक, श्लो. २३; ५. प्रास्ता.वि., श्लो. ११६

भर्तृहरि ने सज्जनों के साथ दुर्जनों की अकारण शत्रुता का विवेचन इस भाँति किया है—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥[१]

यही भाव प्रकारान्तर से पण्डितराज के शब्दों में देखिए—

द्रुमपङ्कजविद्वांसः सर्वसंतोषपोषकाः।
मुधैव हन्त हन्यन्ते कुठारहिमदुर्जनैः॥[२]

नीतिश्लोकों से भावसाम्य होने के अतिरिक्त भर्तृहरि के शृङ्गारिक श्लोकों का सादृश्य भी द्रष्टव्य है—

भर्तृहरि ने अलंकृत प्रिया के समीप शयन को स्वर्ग का सुखभोग माना है—

मालतिशिरसि गृम्भणोन्मुखी चन्दनं वपुषि कुंकुमान्विताम्
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः॥[३]

पण्डितराज ने इस भाव को निम्नांकित रूप में चित्रित किया—

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना।
तन्वी तदानीमतुलां बलारेः साम्राज्यलक्ष्मीमधरीचकार॥[४]

भर्तृहरि ने विवेकियों के हृदय में विवेकरूपी दीपक के निर्मल प्रकाश का होना तभी तक माना है, जब तक वे मृगनयनी स्त्रियों के नेत्रकटाक्ष का पात्र नहीं बनते—

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेकदीपकः।
यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाञ्चलैः॥[५]

पण्डितराज ने इसी भाव को इस भाँति चित्रित किया—

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः।
यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः॥[६]

---

१. नीतिशतक, श्लो. ६१;
२. रसगङ्गा.उदा.श्लो. १०९, पं.का.सं., पृ. ९८
३. शृङ्गारशतक, श्लो. २४;
४. शृङ्गा.वि., श्लो. ३१
५. शृङ्गारशतक, श्लो. ५५;
६. शृङ्गार वि., श्लो. १३

भर्तृहरि ने स्त्री-सौन्दर्य की तुलना तरङ्गिणी नदी से की है—

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयममितः क्रूराशया नेष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण सन्त्यज्यताम्।।[१]

पण्डितराज ने इसी नदी के रूपक को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है—

रूपजला चलनयना नाभ्यावर्ता कचावलीभुजगा।
मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणी तरङ्गिणी विषमा।।[२]

२. अन्य सुभाषित श्लोकों से भावसाम्य-

पण्डितराज के श्लोकों का कुछ अन्य कवियों के सुभाषित श्लोकों से भी भावसाम्य है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में तोते के मनोरथ भङ्ग द्वारा दैव के प्रबल होने के भाव को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया है—

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटिताररपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः संप्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः।।[३]

शिवराजविजय में इसी भाव को भँवरे के मनोरथभङ्ग द्वारा इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा! हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार।।[४]

पण्डितराज ने दुष्टों की स्वभावगत दुष्टता का निरूपण इस रूप में किया है—

निष्णातोऽपि च वेदान्ते साधुत्वं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम्।।[५]

---

१. शृङ्गारशतक, श्लो. ८०; २. शृङ्गा.वि., श्लो. ११८; ३. प्रास्ता.वि., श्लो. ५६।
४. उद्धृत भामि.वि.हि.टी.मिश्र, पृ. ७४; ५. प्रास्ता.वि., श्लो. ८२

इस भाव का साम्य इस श्लोक में देखिये—

न यत्नकोटिशतकैरपि दुष्टः सुधीर्भवेत्।
किं मर्दितोऽपि कस्तूर्यो लशुनो याति सौरभम्।।[1]

एक अन्योक्ति में पण्डितराज ने समुद्र के रत्नगर्भित विशाल स्वरूप की भर्त्सना यह कह कर की है कि उसका जल प्यासे पथिकों के मुँह तक नहीं पहुँच पाता—

किं खलु रत्नैरेतैः किं पुनरभ्रायितेन वपुषा ते।
सलिलमपि यन् न तावकमर्णव वदनं प्रयाति तृषितानाम्।।[2]

इसी भाव की प्रस्तुति इस श्लोक में द्रष्टव्य है—

हेलोल्लासितकल्लोल धिक् ते सागर गर्जितम्।
तव तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छन्ति कूपिकाम्।।[3]

पण्डितराज ने एक श्लोक में महान् पुरुषों की स्वभावगत. लोकोत्तरता का प्रतिपादन निम्नोद्धृत रूप में किया है—

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवात्।
अन्तःसाक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः।।[4]

इसी तरह का भाव भवभूति के शब्दों में सुनिए—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।[5]

महान् व्यक्ति विपत्तियों में पड़ने पर भी अलौकिक गुरुता का प्रसार करते हैं, इस भाव की अभिव्यक्ति पण्डितराज ने इस रूप में की है—

आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ताल्-
लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति।।[6]

---

१. उद्धृत भामि.वि., दादपे एवं आप्टे, परिशिष्ट, पृ. ४२
२. प्रास्ता.वि., श्लो. ४०
३. संस्कृत कवियों की अनोखी सूझ, पृ. १६१-२५०;
४. प्रास्ता.वि., श्लो. १३
५. उत्तर रामचरित, २।७;
६. प्रास्ता.वि., श्लो. ६८

इसी भाव को इस श्लोक में देखिए—

मज्जन्तोऽपि विपत्पयोधिगहने निःशंकधैर्यावृताः
कुर्वन्त्येव परोपकारमनिशं सन्तो यथाशक्ति वै।
राहोरुग्रकरालवक्त्रकुहरग्रासाभिभूतोऽप्यलं
चन्द्रः किं न जनं करोति सुखिनं ग्रासावशेषैः करैः॥[1]

पण्डितराज ने एक श्लोक में अन्य वृक्षों के खड़े रहने व चन्दनद्रुमों के काट डाले जाने के वृत्तान्त को वर्णित कर गुण के गौरव को धिक्कार कर निर्गुणता को श्रेयस्कर बतलाया है—

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम्।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः॥[2]

इसी भाव को निम्नलिखित श्लोक में देखिए—

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः॥

एक श्लोक में परोपकारी वृक्ष का नमन पण्डितराज ने इस रूप में किया है—

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां
धर्मव्यथां वहति शीतभवां रुजं च।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतो-
स्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु॥[3]

इसी भाव को इस श्लोक में देखिए—

छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे।
फलान्यपि परार्थाय वृक्षाः सत्पुरुषा इव॥

प्रास्ताविकविलास के एक सुभाषित श्लोक में महात्माओं की गुरुता का बखान इस रूप में किया गया है—

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम्।
तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः॥[4]

---

१. उद्धृत, भामि.वि., सम्पा. हरदत्त शर्मा;
२. प्रास्ता.वि., श्लो. ८३।
३. तत्रैव, श्लो. ८९;
४. तत्रैव, श्लो. ९२।

इसी भाव को इस श्लोक में देखिए—

युगान्ते चलते मेरुः कल्पान्ते सप्तसागराः।
साधवः प्रतिपन्नार्थान्न चलन्ति कदाचन॥

याचना करने वाले व्यक्ति की मुखमलिनता का वर्णन पण्डितराज ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन् मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्॥[१]

इस भाव का साम्य इस श्लोक में देखिए—

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयेदिति॥

एक श्लोक में पण्डितराज ने पल्लवग्राही पाण्डित्य के विद्वानों के समक्ष न टिकने के वृत्तान्त का वर्णन इस रूप में किया है—

लीलालुण्ठितशारदापुरमहासंपद्भराणां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत् पामराः।
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां शशाः
सिंहानां च सुखेन मूर्धसु पदं धास्यन्ति शालावृकाः॥[२]

इसी भाव को इस रूप में देखिए—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्द्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निमार्तुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः॥[३]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ९६

२. वही, श्लो. ७०

३. उद्धृत, प्रास्ताविकविलास, जनार्दनशास्त्री पाण्डे, पृ. १२१

इसी प्रकार पण्डितराज की सज्जनों की अकारण परोपकार-परायणता के सम्बन्ध में मेघ को लक्ष्य कर कही गई एक अन्योक्ति द्रष्टव्य है—

नापेक्षा न च दाक्षिण्यं न प्रीतिर्न च सङ्गतिः।
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो घनः॥[१]

इसी भाव की झलक इन श्लोकों में देखिए—

अपेक्षन्ते न च स्नेहं न पात्रं न दशान्तरम्।
सदा लोकहिते युक्ता रत्नदीपा इवोत्तमा॥
किं चन्द्रमा प्रत्युपकारलिप्सया करोति गोभिः कुसुमावबोधनम्।
स्वभाव एवोन्नतचेतसां सतां परोपकारव्यसनं हि जीवितम्॥

इसी प्रकार अवशिष्ट अन्योक्तियों के संकलन के एक श्लोक का भावसाम्य प्रस्तुत है—

पद्मिनी किमिति क्रीडसि मधुपैर्लज्जालवोऽपि न हि किं ते।
हर हर विस्मृत्योक्तं क्व नु लज्जा सवितृरक्तायाः॥[२]

यही श्लोक प्रकारान्तर से इस रूप में तुलनीय है—

मिथिला वदत्ययोध्यां त्वं सखि परपूरुषां रक्तासि।
मिथिला वदत्ययोध्यां त्वं सखि जनकानुरक्तासि॥

अन्योक्तियों व नीतिश्लोकों से भावसाम्य होने के अतिरिक्त भोजप्रबन्ध के निम्न श्लोक की छाया आसफविलास के एक श्लोक में पूर्णतया दिखाई पड़ती है—

निजानपिगजान्भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः॥[३]

इसी भाव को पण्डितराज के शब्दों में सुनिए—

रुदतो निशि शैशवेन दूरीकृतनिद्रस्य गजाननस्य गौरी।
उपगायति भीतये यदुद्यन्मदयूथाधिपयूथदानकीर्तिम्॥[४]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ३७; २. अव.अन्यो., श्लो. ६७
३. भोजप्रबन्ध, श्लो. १६७; ४. आसफ वि., श्लो. ४

३. परवर्ती कवियों पर प्रभाव–

यद्यपि पण्डितराज को अपने जीवनकाल में कई साहित्यिक विरोधियों व प्रतिद्वन्द्वियों की आलोचना का शिकार होना पड़ा, फिर भी उनका यश:पाण्डित्य उस समय भी सर्वत्र प्रसृत था, आज भी प्रसृत है, और उस समय तक प्रसृत रहेगा, जबतक संस्कृतसाहित्य विद्यमान है। उनके इसी कवित्व व पाण्डित्य से परवर्ती कवि भी प्रभावित हुए हैं। डॉ. गोडे ने परवर्ती कवियों पर पड़े पण्डितराज के इस प्रभाव का विवेचन अपने एक शोधपत्र[1] में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। उनकी विवेचना के अनुसार जगन्नाथ पण्डितराज का सर्वप्रथम उल्लेख एक पद्यसंकलन 'पद्यामृततरङ्गिणी' में प्राप्त होता है, जिसकी रचना १२ जून सन् १६७३ में भास्कर कवि (हरि कवि) द्वारा काशी में हुई। इस रचना में पण्डितराज विरचित यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

दिङ्नागाः प्रतिपेदिरे प्रथमतो जात्यैव जेतव्यतां
सम्भाव्यस्फुटविक्रमोऽथ वृषभो गौरेव गौरीपतेः।
विक्रान्ते निकषं करोषु कतमं नाम त्रिलोकीतले
कण्ठेकालकुटुम्बिनीकरुणया सिक्तः स कण्ठीरवः॥[2]

इस रचना के संग्रहकर्ता भास्कर कवि व उनके पिता आपाजी भट्ट दोनों बनारस में निवास करते थे। आपाजी का जीवनकाल सन् १६१०-१६५०ई. के मध्य था व उनके पुत्र भास्कर कवि की साहित्यिक गतिविधियाँ सन् १६५०-१६९०ई. के मध्य थीं। पण्डितराज का जीवन व साहित्य रचनाकाल सन् (१५९०-१६७०ई.) के मध्य अनुमानित है। अत: इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि आपाजी व भास्कर कवि दोनों पण्डितराज से परिचित रहे होंगे और उन्होंने उनकी रचनाएँ भी अवश्य पढ़ी होंगी। इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह कहा जा सकता है कि भास्कर कवि पण्डितराज के रचना-श्लोक को अपनी पद्यसंकलनात्मक कृति में संगृहीत करने वाले सबसे पहले कवि रहे हैं।

इस उल्लेख के अतिरिक्त भास्कर कवि के एक पुत्र जयराम द्वारा 'पद्यामृततरङ्गिणी' पर लिखी गई टीका की एक पाण्डुलिपि में पण्डितराज की सुधालहरी के दो और श्लोकों[3] का संकलन है।

---

१. द इन्फ्लुएन्स ऑफ जगन्नाथ पण्डितराज ऑन सम दक्षिणी आथर्स ऑफ द सेवेन्टीन्थ सेन्चुरी, पी.के.गोडे, संकलित—स्टडीज इन इण्डियन लिट्ररी हिस्ट्री, वाल्यूम सेकन्ड, पृ. ४६०-६७

२. पं.का.सं., पृ. १८४, श्लो. ५२७; ३. सुधा.लहरी, श्लो. ४, ८

डॉ. गोडे के उपर्युक्त शोधपत्र की विवेचना के अनुसार पण्डितराज की कृतियों से प्रभावित होने वाले दूसरे कवि, हरि कवि थे, जिनका उपनाम भानु भट्ट था। वे मराठी राजा शम्भा जी के राज्याश्रित थे, जो सन् १६८०-८९ के मध्य थे। उन्होंने अपने सुभाषित श्लोकों के संकलन 'सुभाषितहारावली' में पण्डितराज के पाँच पद्यों को उद्धृत किया है।[१] इनमें एक पद्य पण्डितराजकाव्य-संग्रह में संगृहीत नहीं है।[२]

हरि कवि पर पण्डितराज का प्रभाव केवल उनके द्वारा पण्डितराज के पद्यों को उद्धृत करने मात्र में नहीं है, बल्कि उनके काव्य 'हैहयेन्द्रचरित' की रचना शैली पर भी पण्डितराज की रचनाशैली का बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस काव्य में ही उन्होंने पण्डितराज की काव्यरचना की भरपूर प्रशंसा भी इस प्रकार से की है—

कमलपटलस्फारस्फूर्जन्मनोहरसौरभो-
न्मदमधुकरश्रेणीसिंजातसमुद्गतमाधुरी।
न हि सुभगतां लोके विंदत्यनेकगुणाद्भुतां
कविवर जगन्नाथोदंचद्वचो रचनावलेः।।

इस काव्य की 'शम्भुविलासिका' नामक टीका की रचना में उन्होंने पण्डितराज की प्रशस्ति में रचित उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हुए पुनः पण्डितराज का प्रकारान्तर से गुणगान किया है।[३]

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि हरि कवि (सन् १६५०-१७००) पण्डितराज की रचनाओं व रचना शैली से प्रभावित थे।

पण्डितराज की कृतियों से प्रभावित तीसरे कवि वामन पण्डित थे, जो कि सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध (१६३६-१६९५ई.) के मध्य विद्यमान थे। इन्होंने पण्डितराज की गङ्गालहरी का शिखरिणी छन्द में 'समश्लोकी' नाम से सुन्दर मराठी अनुवाद किया है। वामन पण्डित का यह अनुवाद महाराष्ट्र में अत्यधिक लोकप्रिय है। यदि उनको सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में मानने की धारणा सत्य

---

१. लक्ष्मी.लहरी, श्लो. ३,४; शान्त वि., श्लो. २६, २७।

२. वितण्डाहेत्वाद्यैरतिविनतवाक्यैरपि नृभि-
र्न जेयोऽसौ विद्वज्जनसदसि गङ्गाधरवुधः
पुरारि प्रोचश्चज्जटिलो (?) द्रनितरिरस्तत्तटि-
न्यम्भः पूरोपमवचनवाचालि (त) रवसुः।।

३. देखिये, स्टडीज इन इण्डियन लिट्ररी हिस्ट्री, वाल्यूम सेकन्ड, गोडे, पृ. ४६५

है, तो इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वामन पण्डित पण्डितराज की रचना से प्रभावित होने वाले सबसे पहले कवि थे। वामन कवि ने बनारस में शिक्षा प्राप्त की थी, अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वे पण्डितराज के जीवनकाल के अन्तिम वर्षों में उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आए होंगे, तथा उनसे प्रभावित हुए होंगें।

४. पण्डितराज तथा हिन्दी कवि एवं काव्यशास्त्री–

पण्डितराज जगन्नाथ का साहित्य-रचनाकाल वह काल था, जबकि संस्कृत-साहित्य के ललित और सुमधुर अंशों को लेकर ब्रजभाषा पूर्ण समृद्धि व उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी तथा सूर, तुलसी और बिहारी जैसे उच्चकोटि के कवियों की मधुर रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। मुगल दरबार से सम्बद्ध होने के कारण और युग के सामयिक प्रभाव से उनका हिन्दी कवियों से सम्पर्क बहुत स्वाभाविक था। इन कवियों में भी मुगल दरबार से सम्बद्ध रहीम व बिहारी से उनका व्यक्तिगत सम्पर्क अवश्य रहा होगा। रहीम जहाँगीर के राज्यकाल में थे और पण्डितराज को भी कुछ अवसरों पर जहाँगीर के दरबार में काव्य-पाठ का अवसर मिला था। अतः रहीम से उनका परिचय होना स्वाभाविक है।

इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती भी प्रचलित है।[१] पुनः बिहारी का जन्म अकबर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में हुआ था और मृत्यु औरंगजेब के राज्यारोहण के कुछ वर्षों पश्चात्।[२] वृन्दावन में शाहजहाँ के साथ स्वामी चित्सुखानन्द के दर्शनों के समय बिहारी की शाहजहाँ से प्रथम भेंट सं. १६५७ में हुई थी। उसके पश्चात् शाहजहाँ ने बिहारी को आगरा बुलाया था।[३] अतः यह सम्भावना की जा सकती है कि दरबार में ही बिहारी से पण्डितराज का व्यक्तिगत सम्पर्क हुआ होगा। बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र पण्डितराज के प्रिय शिष्य भी थे। उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर भी पण्डितराज का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य हिन्दी कवियों की कविताओं के साथ भी उनके रचना श्लोकों का भावसाम्य है। इन सभी कवियों की रचनाओं के साथ उनके श्लोकों का भावसाम्य निम्नलिखित रूप में विवेचित है—

१. देखिये प्रथम अध्याय,

२. बिहारी मीमांसा, डॉ. रामसागर त्रिपाठी, पृ. २

३. सतसई सप्तक, डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. २३

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में उत्ताल तरंगों वाले सागर को प्यासे पथिकों के लिये अनुपयोगी होने के कारण यह कह कर फटकारा है—

किं खलु रत्नैरेतैः किं पुनरभ्रायितेन वपुषा ते।
सलिलमपि यन् न तावकमर्णव वदनं प्रयाति तृषितानाम्।।[१]

इसी भाव को रहीम के शब्दों में सुनिए—

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय।।[२]

यही भाव वृन्द कवि के दोहे में भी द्रष्टव्य है—

अमित कथा है ही भरे, जदपि समुद्र अभिराम।
कौन काम के जो न तुम, आये प्यासन काम।।

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में चन्दन वृक्ष द्वारा विषैले सर्पों को भी अपनी मनोहर सुगन्ध से सुगन्धित करने का वृत्तान्त इस रूप में वर्णित किया है—

अयि मलयज महिमायं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते।
उद्गिरतो यद् गरलं फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः।।[३]

इसी भाव को प्रकारान्तर से क्रमशः रहीम व वृन्द के शब्दों में सुनिए—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।।[४]
सुजन कुसंगति संगते, सज्जनता न तजंत।
ज्यौं भुंजग-गन संग तऊ, चन्दन विष न धरंत।।[५]

इसी प्रकार बिहारी के कुछ दोहों के साथ पण्डितराज के श्लोकों का भावसाम्य द्रष्टव्य है। पण्डितराज ने एक श्लोक में नीले आँचल से ढके मृगनैनी के मुख की यमुना के अगाध जल के भीतर प्रतिबिम्बित होते चन्द्रमा से उपमा दी है—

नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः।।[६]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. ४०; २. रहीमरत्नावली, ११-१०५
३. प्रास्ता.वि., श्लो. १०; ४. रहीमरत्नावली, ८-७४
५. सतसई सप्तक, २९९-१६०; ६. शृङ्गा.वि., श्लो. १२७

बिल्कुल यही भाव बिहारी के शब्दों में द्रष्टव्य है—

छिप्यो छबीलौ मुँह लसै नीलै अंचर-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिन्दी कै नीर।।[१]

पण्डितराज ने नायिका की वय:सन्धि की अवस्था का वर्णन इस रूप में किया है—

कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-
वागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्याज्ञया।
आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमम्भोरुहां
किं चासीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विकः।।[२]

इसी अवस्था का चित्रण बिहारी के दोहों में देखिए—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफ्ता रंग।।[३]

अपने अंग के जानि कै जोबन नृपति प्रबीन।
स्तन मन नैन नितंब कौ बड़ौ इजाफा कीन।।[४]

नव नागरि तन मुलुक लहि जोबन आमिर जोर।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करीं और की और।।[५]

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में कमल के सर्वविध महत्त्व का वर्णन कर उसे नीचों से संगति रखने के कारण यह कह कर फटकारा है—

नीरान् निर्मलतो जनिर्मधुरता रामामुखस्पर्धिनी
वासः किञ्च हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः।
सर्वस्वं तदहो महाकविगिरां कामस्य चाम्भोरुह
त्वं चेत् प्रीतिमुरीकरोषि मधुपे तत् त्वां किमाचक्ष्महे।।[६]

बिहारी ने इसी भाव को मोती के दृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त किया है—

जनमु जलधि पानिप विमलु भौ जग आघु अपारु।
रहै गुनी ह्वै गर पर्‌यौ भलैं न मुकुता हारु।।[७]

---

१. बिहारीसतसई, दो. ११९; २. शृङ्गा.वि., श्लो. ६५
३. बिहारी सतसई, दो. २४; ४. वही, दो. २९
५. बिहारी सतसई, दो. ३१; ६. प्रास्ता.वि., श्लो. ६१; ७. बिहारी सतसई, दो. ७१७

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में कस्तूरी के मूल्य के मुखिया के लड़के के द्वारा न आँके जाने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। इसके माध्यम से उन्होंने इस भाव को प्रस्तुत किया है कि गुणी वस्तु की कीमत गुणी ही आँक सकते हैं—

दुर्लीलपल्लीपतिपुत्रहस्ते कस्तूरि कस्ते वद दुर्विपाकः।
आरभ्यसौरभ्यकथासु मौनं मालिन्यमात्रे वचसोऽवकाशः।।[१]

इसी भाव को बिहारी ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

करि फुलेल कौ आचमन मीठौ कहत सराहि।
रे गन्धी मति अन्ध तू अतर दिखावत काहि।।[२]

उपर्युक्त भाव को एक अन्य अन्योक्ति में मुक्ता के माध्यम से वर्णित किया गया है—

गुञ्जारञ्जितकबरीशबरीततिभिर्गरीयसी नगरी
इह न हि मुक्तावणिजः कोऽपि न मुक्तागुणज्ञोऽपि।।[३]

इसी भाव को बिहारी ने पुनः गुलाब के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

कर ले सूँघि सराहिहूँ रहैं सबै गहि मौनु
गंधी अन्ध गुलाब कौ गँवई गाहकु कौनु।।[४]

इसी प्रकार पण्डितराज के एक श्लोक का रसलीन के एक दोहे के साथ बड़ा सुन्दर भावसाम्य है। पण्डितराज ने मृगनयनियों के नेत्रों में विद्यमान श्यामता व श्वेतता की विष और अमृत के रूप में कल्पना कर उक्त श्लोक की रचना की है—

श्यामं सितं च सुदृशोर्न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः।।[५]

अर्थात् मृगनयनी के नेत्रों में विद्यमान श्यामता, श्वेतता उसकी आँखों का स्वरूप नहीं है, बल्कि स्पष्ट रूप से विष और अमृत है। नहीं तो युवकगण इनके दृष्टिपात मात्र से एक साथ मतवाले और आनन्द विभोर कैसे हो उठते हैं?

---

१. अव.अन्यो., श्लो. ८३; २. बिहारी सतसई, दो. ६७६
३. अव.अन्यो., श्लो. ३६५; ४. बिहारी सतसई, दो. ६६३; ५. शृङ्गा.वि., श्लो. ७६

इस भाव को रसलीन के शब्दों में सुनिए—

अमिय हलाहल मदभरे श्वेत-श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।[१]

रहीम, वृन्द, बिहारी और रसलीन की रचनाओं से भावसाम्य होने के अतिरिक्त पण्डितराज की कुछ अन्योक्तियों का साम्य मतिराम, दीनदयाल गिरि एवं गिरधर कविराय की कुण्डलियों एवं दोहों से भी है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पण्डितराज ने एक अन्योक्ति में हंस के प्रतीक में पहले उच्च एवं समृद्ध जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष के लिये बाद में निम्नस्तरीय जीवन बिताना कितना कठिन होता है, इस तथ्य को स्पष्ट किया है—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्।।[२]

इसी भाव को लेकर रचित रीतियुगीन मतिराम कवि की हिन्दी अन्योक्ति भी देखिए—

अब तेरौ बसिबौ इहाँ, नाहिन उचित मराल।
सकल सूखि पानिप गयौ, भयौ पंकमय ताल।।[३]

इसी तरह समृद्धि की अवस्था में सदा घेरे रहने वाले स्वार्थी मित्रों की मधुर-मधुर चाटूक्तियों में आत्मविभोर हुआ व्यक्ति किस तरह अपने असली मित्रों को भी भूल जाता है, इस अर्थ की व्यञ्जना में पण्डितराज की निम्नलिखित अन्योक्ति देखिए—

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः।।[४]

---

१. तुलनीय, मजा बर्सात् का चाहो तो आ बैठो इन आँखो में।
सफेदी है, सियाही है, शफक है, अब्रे बारां है।।

२. प्रास्ता.वि., श्लो. २।

३. मतिराम सतसई, सतसई सप्तक, १२९;

४. प्रास्ता.वि., श्लो. ४

तुलना के लिये अन्योक्ति में वर्णित अरविन्द, भृङ्ग और समीरण के मध्य उपर्युक्त परस्पर सम्बन्ध के विपरीत हिन्दी के रीतियुगीन प्रसिद्ध अन्योक्तिकार दीनदयाल गिरि की एक अन्योक्ति द्रष्टव्य है—

दीने ही चोरत अहो इन सम चोर न और।
इन समीर ते कंज तुम सजग रहो या ठौर॥

सजग रहो या ठौर भौंर रखिए रखवारे।
नातो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारो॥

बरनै दीनदयाल रहो हो मित्र अधीने।
भली करत हो रैन कपाट रहत हो दीने॥[१]

इसी प्रकार पण्डितराज की एक अन्योक्ति का गिरधर कविराय की एक कुण्डलिया से साम्य भी द्रष्टव्य है। पण्डितराज ने तोते को प्रतीक बनाकर कही गई इस अन्योक्ति में इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि लालसा में अन्धा बना हुआ मानव कभी गलती से सुख-साधन समझकर दुख-साधन को अपना लेता है, जिसका अन्तिम परिणाम दुख होना स्वाभाविक है—

उच्चैरेष तरुः फलं च पृथुलं दृष्ट्वा प्रहृष्टः शुकः
शालिं चास्यगतं विहाय निभृतं तन् नारिकेलं गतः।
तत्रारुह्य बुभुक्षितेन मनसा यत्नः कृतो भेदनेऽ-
प्याशा तस्य न केवलं विगलिता चञ्चुश्च चूर्णीकृता॥[२]

बिल्कुल यही भाव गिरधर कविराय के शब्दों में देखिए—

दाड़िम के धोखे गयो सुवा नारियल खान।
खान न पायो नैक कछु फिर लागो पछितान॥

फिर लागो पछितान बुद्धि अपनी को रोया।
निर्गुनियन के साथ बैठि अपनो गुण खोया॥

कह गिरिधर कविराय सुनो हो मोरे नोखे।
गयो झटाका टूटि चोंच दाड़िम के धोखे॥[३]

इसी क्रम में महाकवि गुमानी जी की समस्यापूर्ति के साथ पण्डितराज की एक अन्योक्ति का साम्य द्रष्टव्य है। कोयल को लक्ष्यकर कही गई इस

१. अन्योक्तिकल्पद्रुम, १।४७; उद्धृत, हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ. १०२
२. अव.अन्यो., श्लो. १०१
३. गिरधर की कुण्डलियाँ, २४; उद्धृत, हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ. १२६

अन्योक्ति में उन्होंने उसे (कोयल) कौवों के समुदाय में कूजने से यह कहकर मना किया है—

एकस्त्वं गहनेऽस्मिन् कोकिल न कलं कदाचिदपि कुर्याः।
साजात्यशङ्कयामी न त्वां निघ्नन्ति निर्दयाः काकाः॥[1]

इसी भाव को गुमानी जी की इस समस्यापूर्ति में देखिए—

यस्मिन् देशे निर्गुणे निर्विवेके न क्वापि स्याद्वेदशास्त्रस्य चर्या।
प्राज्ञः प्रज्ञाहीनवत्तत्र तिष्ठेत् कीजै काणे देश में आँख कानी॥[2]

इसी भाँति पण्डितराज की 'गङ्गालहरी' के एक श्लोक का भावसाम्य गोस्वामी तुलसीदास विरचित निम्न सवैये में द्रष्टव्य है—

ब्रह्म को व्यापक वेद कहैं, गम नाहिं गिरा गुन ज्ञान गुनी को।
जो करता भरता हरता सुर-साहिब, साहिब दीन दुनी को॥
सोइ भयो द्रव-रूप सही जु है नाथ विरंचि महेस मुनी को।
मानि प्रतीति सदा 'तुलसी' जल काहे न सेवत देव-धुनी को॥[3]

इसी भाव को पण्डितराज के शब्दों में सुनिए—

न यत् साक्षाद् वेदैरपि गलितभेदैरवसितं
न यस्मिन् जीवानां प्रसरति मनोवागवसरः।
निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमो
विशुद्धं यत् तत्त्वं सुरतटिनि तत् त्वं न विषयः॥[4]

पुनः गङ्गालहरी के एक अन्य श्लोक का आचार्य द्विवेदी विरचित (अनुदित) एक सवैये से छायासाम्य द्रष्टव्य है।

इस श्लोक में पण्डितराज ने गङ्गा का माहात्म्य गान करते हुए कहा है—

कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि संतप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे॥[5]

---

१. प्रास्ता.वि., श्लो. २३; २. उद्धृत, प्रास्ताविकविलास, जनार्दन शास्त्री पाण्डे, पृ. ३८।
३. उद्धृत, पुराणों में गंगा, भूमिका, पृ. ग।
४. गङ्गालहरी, श्लो. १०; ५. तत्रैव, श्लो. १७

इसे द्विवेदी जी के शब्दों में देखिए—

कै लघु पाप तुरन्त जे त्यागत जागत मानस में पछिताई
तारन को तिन आजु त्रिलोक में आहि हजारन तीरथराई।
हे जननी पै करै नित जे उठि पातक घोर कठोर अघाई
ताप निवारन को तिनको जग तेरी समान तुही सुनि पाई।।[१]

स्पष्ट है, पण्डितराज के मूल श्लोक का पूरा भाव कितनी सुन्दरता से द्विवेदी जी ने उपर्युक्त सवैये में अंकित कर दिया है।

काव्य रचनाओं से भावसाम्य होने के अतिरिक्त पण्डितराज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन से भी परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्री प्रभावित हुए हैं। उनके इस चिन्तन से सर्वाधिक प्रभावित होने वाले आचार्य हैं, स्वयं उनके शिष्य कुलपति मिश्र। उनके काव्यलक्षण, हेतु, काव्यात्मा रस आदि विवेचनों पर पण्डितराज की रसगङ्गाधरीय समीक्षा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। कुलपति मिश्र के अतिरिक्त पण्डितराज के इस शास्त्रीय चिन्तन से प्रभावित अन्य आचार्य हैं—नानूराम कविसागर, कुमार मणिभट्ट, आचार्य प्रताप सिंह साहि, सुरति मिश्र एवं महाकवि ग्वाल। हिन्दी काव्याचार्यों पर पड़े पण्डितराज के इस प्रभाव का विवेचन निम्नलिखित रूप में विवेचित है—

(क) पण्डितराज की काव्यलक्षण विषयक मान्यता एवं हिन्दी काव्याचार्य–

पण्डितराज के सुप्रसिद्ध शब्दवादी काव्यलक्षण के शास्त्रीय चिन्तन से कुछ अंशों तक कई परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्री प्रभावित हुए हैं। पण्डितराज का काव्य लक्षण है—'**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**'[२] अर्थात् रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। इस रमणीयता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—'**रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता**'।[३] अर्थात् 'रमणीयता लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान का विषय बनने वाला एक धर्म है। पुनः लोकोत्तर आह्लाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे अनुभवसाक्षिक जाति विशेष कहा है— '**लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः**'।[४]

पण्डितराज के इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर कुलपति मिश्र ने रस-रहस्य में अपना काव्य-लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

---

१. उद्धृत, पुराणों में गंगा, भूमिका, पृ. ठ; २. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. १०।
३. वही, पृ. ११; ४. वही, पृ. ११।

जग में अद्भुत सुखसदन शब्दरु अर्थ कवित्त
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहुचित्त ॥[१]

टीका—जग में अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कार यह लक्षण काव्य को मुख्य कह्यो।

इस लक्षण में पण्डितराज की परम्परा में रमणीयार्थ अथवा चमत्कार को काव्य का मुख्य तत्त्व घोषित किया गया है। पण्डितराज की पूर्वदृष्टि जिस तरह पहले काव्य के शरीरपक्ष शब्द पर जमी उसी प्रकार इस परिभाषा में कुलपति ने पहले शब्द का उल्लेख किया। सुखसदन अर्थात् चमत्कार शब्द और उससे प्रतिपादित चमत्कार अर्थ तथा चमत्कृत अर्थविषयक भावना की चमत्कारजनन विषयंक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति काव्य है, यह कुलपति मिश्र का तात्पर्य है। 'जग में अद्भुत पद भी 'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः' जैसी पण्डितराज की उक्ति को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करता है।

कुलपति मिश्र के अतिरिक्त नानूराम कविसागर के काव्यलक्षण पर भी कुछ अंशों में पण्डितराज के इस लक्षण का प्रभाव पड़ा है। नानूराम ज़ी का काव्यलक्षण है—

पिंगल आदिक मत मिल्यौ चमत्कार कृत होय।
शब्द अर्थ सहृदय सुखद काव्य कहावै सोय॥[२]

इस लक्षण में 'चमत्कार कृत होय' इतना अंश चमत्कार को काव्य का निर्णायक आधार मानकर चलने वाले पण्डितराज की मान्यता के अनुसार ही प्रस्तुत हुआ है। 'सुखद' शब्द कुलपति के सुखसदन के अनुरूप है, जो कि प्रकारान्तर से पण्डितराज के लोकोत्तर आह्लाद का सूचक है।

कविसागर के बाद आचार्य कुमारमणि ने रसिकरसाल के प्रथम उल्लास में स्वकीय काव्यलक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया—

उपजत अद्भुत वाक जो शब्द अर्थ रमनीय,
सोई कहियतु कवित्त है सुकवि कर्म कमनीय ॥[३]

इस लक्षण में 'शब्द अर्थ रमनीय' यह अंश पण्डितराज कृत रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द के रूप में आया है। रमणीय चमत्कृत काव्यार्थ का सूचक है।

१. रसरहस्य, १।१६, उद्धृत, रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन, राकेश, पृ. ५५
२. कविताकल्पतरु, १।३९, उद्धृत, वही, पृ. ६९
३. रसिकरसाल, १।८, उद्धृत, वही, पृ. ७०

उपर्युक्त काव्याचार्यों के अतिरिक्त आचार्य प्रताप साहि ने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के चार प्रसिद्ध ग्रन्थों काव्यप्रकाश, काव्यप्रदीप, साहित्यदर्पण तथा रसगंगाधर के काव्यलक्षणों का उल्लेख करते हुए अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है।[१]

इसके अतिरिक्त महाकवि ग्वाल के काव्यलक्षण पर भी पण्डितराज के काव्यलक्षण का कुछ अंश तक प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनका काव्य-लक्षण है—

शब्द अर्थ सुन्दर सुमिलि, नैमिक वर्न विचार
छन्दबन्ध बहुचमत्कृत ताकों काव्य उचार।।[२]

इस लक्षण में 'बहुचमत्कृत' पद पण्डितराज की 'चमत्कारत्वा-परपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेष:' की चमत्कारवादी धारणा के अनुसार गठित हुआ है।

(ख) पण्डितराज की काव्यहेतु विषयक धारणा एवं हिन्दी काव्याचार्य–

काव्यहेतुवों के विवेचन-प्रसङ्ग में पण्डितराज केवल प्रतिभावादी हैं।[३] प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानने की उनकी इस मान्यता का प्रभाव भी कुछ परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्रियों पर पड़ा है। सर्वप्रथम कुलपति मिश्र को ही लीजिए। उन्होंने काव्यहेतुवों का निरूपण करते हुए कहा है—

शब्द अर्थ जिन तें बनैं नीकी भाँति कवित्त
सुधि द्यावन समरथ्थ तिन कारण कवि को चित्त ।।[४]

इस लक्षण के कारिकाभाग में उन्होंने रसगङ्गाधरकार का समर्थन करते हुए अपना मत दिया है। 'सुधि द्यावन् समरथ्थ चित्त' का तात्पर्य कवि के चित्त में अनेकविध वाक्यार्थों की स्फूर्ति की क्षमता होना है, जिसे रुद्रट ने शक्ति कहा है। कुलपति का यह लक्षण वस्तुत: रसगङ्गाधर की निम्नलिखित पंक्तियों का ही द्वितीय रूप है—'सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति:'।[५]

---

१. देखिये, रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन, राकेश, पृ. ७५-७६

२. साहित्यानन्द, १२।३, उद्धृत, वही, पृ. ८३

३. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। (रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ. २७)

४. रसरहस्य, १।२९, उद्धृत, री.हि.तु.अ., राकेश, पृ. ८८

५. रसगङ्गाधर प्र.आ., पृ. २७

अर्थात् काव्यनिर्माण के लिए जे: शब्द तथा अर्थ अनुकूल एवं उपयुक्त हों तथा काव्यसर्जना में आवश्यकतानुरूप यथास्थान उनका चित्त में तत्काल स्मरण हो जाता हो, उस बुद्धि-विशेष को प्रतिभा कहते हैं। सुधि शब्द कुलपति ने इसी बुद्धिविशेष के लिये प्रयुक्त किया है। पुन: सुधि शब्द स्मृतिवाचक होने के कारण काव्य घटनानुकूल शब्दार्थ की स्मृति के लिये भी आया है। इस प्रकार यह कारिका पण्डितराज की मान्यता को ही दूसरे रूप में प्रस्तुत करती है।

कुलपति मिश्र के बाद सुरति मिश्र ने देवप्रसाद अथवा शक्ति, व्युत्पत्ति, और अभ्यास को काव्य हेतु माना है—

कारन देवप्रसाद जहँ सक्ति कहत सब कोइ
वितपित अरु अभ्यास मिल त्रय विनु काय न होइ।[1]

यह कारिका कुछ अंश तक पण्डितराज की प्रतिभा को 'तस्याश्च हेतु: क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्'[2] कहने की मान्यता के अनुरूप प्रस्तुत की गई है।

सोमनाथ ने भी काव्यहेतुवों का विवेचन करते हुए गुरु और देवप्रसाद के रूप में शक्ति का संकेत पण्डितराज की मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत किया है—

बिना सुनें अभ्यास बिनु कविता होति अनन्त
सो प्रसाद गुरु, देव को बरनत सब गुनवन्त॥[3]

महाकवि ग्वाल ने कुलपति मिश्र के आधार पर काव्य का प्रमुख हेतु शक्ति से संस्कारित कवि के चित्त को माना है, जो प्रकारान्तर से पण्डितराज की मान्यता के आधार को ग्रहण किए हुए है—

काव्यकरन कारन सुचित, चित को कारन सक्ति
विधि जाके मस्तक लिखी सक्ति, त्रिधा सो व्यक्ति।[4]

(ग) पण्डितराज की काव्यात्मा विषयक मान्यता एवं हिन्दी काव्याचार्य–

पण्डितराज ने ध्वनिवाद की मान्यता के अनुरूप ही रसगङ्गाधर में काव्यात्मा की चर्चा अलंकार प्रकरण में इस प्रकार की है—

---

१. काव्यसिद्धान्त, ४, उद्धृत, रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन, राकेश, पृ. ९०

२. रसगङ्गा.प्र.आ., पृ. २९। ३. रसपीयूषनिधि, ६।५, उद्धृत, री.हि.तु.अ., पृ. ९२

४. साहित्यानन्द १२।५, उद्धृत, वही, पृ. ९६।

अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः निरूप्यन्ते ।।[१]

यह मान्यता पारिभाषिक भेद से आनन्दवर्धन की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की मान्यता से मेल नहीं खाती, क्योंकि यहाँ प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहा गया है, व्यङ्ग्य सामान्य को नहीं। पण्डितराज ने व्यङ्ग्य की गुणीभूत स्थितियों में भी काव्यत्व स्वीकार किया है, अतः उन्होंने ध्वनि शब्द के बहुमुखी प्रयोग से उत्पन्न होने वाली अस्पष्टता से बचने के लिए व्यङ्ग्यार्थ को काव्यात्मा कहा है।

इसी मान्यता के अनुसार कुलपति मिश्र ने काव्यपुरुष का रूपक प्रस्तुत करते हुए व्यङ्ग्य को ही काव्यात्मा के रूप में प्रस्तुत किया—

व्यंग्य जीव जासों कहत शब्द अर्थ है देह।
गुन गुन भूषन भूषनैं दूषन दूषन एह ।।[२]

इसी परम्परा में नानूराम कविसागर ने भी कुलपति के साथ अपनी सहमति इस प्रकार की है—

सब्द अर्थ तन कवित कौं बिंगि जीव पहचानि
भूषन भूषन गुन सगुन दूषन दूषन मानि ।।[३]

सोमनाथ ने भी व्यङ्ग्य को काव्य का प्राण मानने की धारणा अपनाई—

व्यंग्य प्रान अरु अंग सब, शब्द अर्थ पहचान[४]

इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी, जिनमें प्रताप साहि व ग्वाल प्रमुख हैं, व्यंग्य और ध्वनि के अन्तर को स्पष्ट करते हुए सामान्य रूप से व्यंग्य तथा विशेष रूप से ध्वनि को काव्यात्मा घोषित किया,[५] जो कि पण्डितराज की मान्यता के ही अनुरूप है।

(घ) पण्डितराज की रसास्वाद विषयक मान्यता एवं पण्डितराज–

पण्डितराज की रसास्वाद विषयक मान्यता का प्रभाव भी कई परवर्ती हिन्दी-काव्यशास्त्रियों पर पड़ा है। पण्डितराज ने रस का स्वरूप निर्धारित करते

---

१. रसगङ्गाधर, द्वि.आ., पृ. २१०
२. रसरहस्य, १।३०, उद्धृत, रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन, राकेश, पृ. १०८
३. कविताकल्पतरु, १।४५, उद्धृत, वही, पृ. १०८
४. रसपीयूषनिधि, ६।६, उद्धृत, वही, पृ. १०९
५. देखिये, वही, पृ. १०९-१०

हुए कहा है—'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः'[१] अर्थात् रत्यादि से युक्त आवरणसहित चैतन्य ही रस है। पण्डितराज की इसी मान्यता के आधार पर कुलपति मिश्र ने रसास्वादन का विवेचन इस भाँति किया है—

नृत्य कवित देखत सुनत भये आवरन भंग,
आनन्द रूप प्रकाश है, चेत नहीं रस अंग,
जैसौ सुख है ब्रह्म को मिलै जगत सुध जाति,
सोई गति रस में मगन भये सुरस नौ भाँति ॥[२]

दार्शनिक दृष्टि से चैतन्य आनन्द स्वरूप है, आवरण भंग होने पर इसका प्रकाश होता है। यह आवरण-भङ्ग रसावयवों की संश्लिष्ट चेतना से सम्भव होता है। चेतना का यह अनुभव अनिवार्य रूप से आनन्दात्मक होता है। यही आनन्द रूप चित्तवृत्ति रस है। अतः कुलपति मिश्र ने रत्यादि को विशेषण बनाकर चित्त को विशेष्य बनाया है। रस अथवा आनन्द आत्मा का स्वरूप है, अतः चिदंश के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं हो सकता। पण्डितराज का तात्पर्य भी 'रत्यादिविशिष्टा भग्नावरणा चिदेव रसः' से है।

सुरति मिश्र ने भी पण्डितराज के समान काव्यास्वाद को आनन्दमयी अनुभूति बताते हुए उसे सहृदय के चित्त की भग्नावरण स्थिति में हुई स्वप्रकाश चैतन्यरूप आनन्द की प्रतीति कहा है—

'भग्नावरन सरूप रस आनन्दमय चितिजान।'[३]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पण्डितराज के श्लोकों का ही केवल हिन्दी-कवियों की रचनाओं से भावसाम्य नहीं है; अपितु उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन से भी परवर्ती हिन्दी काव्याचार्य प्रभावित हुए हैं।

निष्कर्ष–

पूर्वापर प्रभाव की दृष्टि से पण्डितराज की कृतियों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण' कहकर अपनी मौलिकता का दावा करने वाले पण्डितराज भी अपने पूर्ववर्ती कवियों से भाव, भाषा तथा शैली से

१. रसगङ्गाधर, प्र.आ., पृ. ९७
२. रसरहस्य, ३।३७-३८, उद्धृत, रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन, राकेश, पृ. १४७
३. काव्यसिद्धान्त, ८०, उद्धृत, वही, पृ. १४८

प्रभावित होने के ऋणी हैं। इनमें स्तुतिपरक रचनाओं (पञ्चलहरियों) के प्रणयन में वे शङ्कराचार्य, यामुनाचार्य तथा मयूर कवि से कुछ सीमा तक प्रभावित हैं। उनके कई सुभाषितों का भर्तृहरि तथा अन्य कवियों के सुभाषित श्लोकों से भाव-साम्य है। इसी प्रकार उनकी कुछ अन्योक्तियों का शम्भु महाकवि तथा रुद्र कवि की अन्योक्तिमुक्तालता और भावविलास की अन्योक्तियों से छायासाम्य है। परवर्ती कवियों में उनसे प्रभावित होने वाले कवि हैं—भास्कर कवि, हरि कवि तथा वामन पण्डित। इस सम्बन्ध में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि पण्डितराज संस्कृत-साहित्य के उत्तरवर्ती काल के अन्तिम प्रौढ़ आचार्य एवं कवि हैं। उनके समय तक एक ओर संस्कृतभारती का साहित्यशास्त्रीय प्रवाह चूडान्त प्रतिपादन की अन्तिम सीमा का स्पर्श करने लगा था तो दूसरी तरफ हिन्दी साहित्य का भी पूर्ण उत्कर्ष हो चुका था। अत: उनसे संस्कृत-कवियों के समान हिन्दी कवि एवं काव्यशास्त्री भी प्रभावित हुए हैं। हिन्दी कवियों में रहीम, बिहारी, वृन्द, मतिराम, दीनदयाल गिरि तथा गिरिधर कविराय की रचनाओं से उनके कुछ श्लोकों का छाया साम्य है। उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन से प्रभावित होने वाले हिन्दी काव्यशास्त्री हैं—कुलपति मिश्र, नानूराम कविसागर, कुमारमणि भट्ट, आचार्य प्रताप साहि, सुरति मिश्र एवं महाकवि ग्वाल। इस प्रकार साहित्य के इतिहास की दृष्टि से हिन्दी व संस्कृत उभयविध साहित्य-परम्पराओं के चरम विकास के काल में विद्यमान पण्डितराज ने परवर्ती संस्कृत-कवियों के साथ हिन्दी-कवियों और काव्याचार्यों को भी प्रभावित किया।

●

उपसंहार

पण्डितराज जगन्नाथ अपने विलक्षण व्यक्तित्व, प्रखर पाण्डित्य तथा सरस सुन्दर एवं वैदुष्यपूर्ण कर्तृत्व की दृष्टि से संस्कृत-वाङ्मय की अनुपम निधि हैं। वे सत्रहवीं शती के उद्‌भट काव्यशास्त्री तथा प्रतिभाशाली कवि हैं। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तेष्टिकाओं का स्वयं निर्माण कर उन्हें सप्रयत्न यथास्थान सन्निविष्ट कर ध्वनिप्रासाद को अत्यन्त सुदृढ़, परिष्कृत एवं सालङ्कृत रूप प्रदान करने वाले पण्डितराज उन कतिपय आचार्यों की श्रेणी में परिगण्य हैं; जिन्हें साभिमान यह कहने का अधिकार है कि—**'किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण'**।

गम्भीर शास्त्र-साधना के धनी पण्डितराज ऐसे विलक्षण मनीषी हैं, सरस भावोर्मियों को शब्दबद्ध करने वाले ऐसे सहृदय कवि हैं, युगीन आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रशस्ति-गुच्छकों को चुनने वाले ऐसे मालाकार हैं, कर्तव्याकर्तव्य को निर्देशित करने वाले नीति-मौक्तिकों के ऐसे गुम्फनकार हैं, इष्ट के चरणों में अपना समग्र भावोद्‌गार समर्पित कर स्वोद्धार की कामना करने वाले ऐसे भावुक भक्त हैं; जिनकी अप्रतिहत मेधा, अपरिमित ज्ञानराशि, विलक्षण शास्त्रचर्या, गम्भीर शास्त्र-साधना, उत्कट तर्कोन्मीलनक्षमता, शास्त्रीय शङ्काओं के अद्‌भुत विनिवारणसामर्थ्य, श्रुतिपेशल पदसंयोजन एवं सरस भावधारा के समक्ष सिर स्वतः श्रद्धावनत हो उठता है, बुद्धि चमत्कृत हो उठती है, अधर स्फुरित होने लगते हैं एवं लेखनी गतिमती हो उठती है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में पण्डितराज उस काल-खण्ड से सम्बद्ध हैं, जहाँ नवीन सिद्धान्तों के निर्माण के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं रह गया था। पूर्वाचार्यों की मान्यताओं के ही परीक्षण, परिष्करण व परिवर्धन का कार्य प्रभावी था। पूर्वपक्षियों व उत्तरपक्षियों की मान्यताओं के खण्डन-प्रतिखण्डन का क्रम सतत चल रहा था, स्थापित प्रासादों के ऊपर ही भित्तिका-निर्माण के प्रयास हो रहे थे; ऐसे कालखण्ड से सम्बद्ध होने पर भी पण्डितराज ने जो मौलिक चिन्तन-राशि उपस्थित की, आलोचनानिकष पर कस कर निकाले गये जिस सिद्धान्तसुवर्ण को प्रस्तुत किया, उसने काव्यशास्त्र के सहस्रवर्षाधिक सुदीर्घ इतिहास में उन्हें एक ऐसे प्रौढ़ एवं महनीय आचार्य के रूप में स्थापित कर दिया, जिनके ग्रन्थ को पढ़े बिना, जिनकी वैचारिक ऊष्मा से अनुतप्त हुए बिना,

जिनकी अद्भुत प्रतिभा से चमत्कृत हुए बिना काव्यशास्त्र का कोई भी गम्भीर जिज्ञासु अपूर्णता का अनुभव करेगा।

तैलङ्गब्राह्मण-कुलावतंस, पेरमभट्ट एवं लक्ष्मी की सन्तति, पण्डितराज काशीवासी थे। यहीं रहकर अपने 'सर्वविद्याधर' विद्वत्कुलशिरोमणि पिता से उन्होंने ज्ञानार्जन किया; जिनकी शिक्षणकला अनुपमेय थी—'पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया' अपनी कला को प्रतिष्ठा दिलाने हेतु उन्होंने राज्याश्रय ग्रहण किया। प्राचीन, मध्यकालीन एवं एक सीमा तक आधुनिक इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कवि व कलाकार उदरपूर्ति, मानोपलब्धि एवं यश:प्रसार हेतु राजाओं, राज्याधिकारियों, सामन्तों, श्रेष्ठियों एवं पदप्रतिष्ठित राजकीय पुरुषों का आश्रय लिया करते थे। इन राजाओं को भी कवि-कलाकारादि को संरक्षण देने का चाव रहा करता था। सम्भवत: अन्तर्मन में स्वकीय गुणगान के श्रवण की लालसा निहित रहा करती थी, अपनी कीर्ति के प्रसारित होने का भाव विद्यमान रहता था। कहा भी गया है—

महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्॥

जिस राजा के पास कविगण नहीं, उसके यशोगान का अंकन ही कैसा? पृथ्वी पर राजा तो अनेक हुए, पर उनका नाम भी कोई नहीं जानता। वस्तुत: लङ्कापति के यश का सीमित होना व राघवेन्द्र का अक्षय कीर्ति का पात्र होना आदिकवि वाल्मीकि की लेखनी का ही चमत्कार था[१]।

स्पष्ट है, कविवाक्यामृतरूप तीर्थस्नान से पवित्र यशोरूप देह वाले कविगण ही कालजयी रह पाते हैं, अन्य तो मृतवत् होते हैं—

कविवाक्यामृततीर्थस्नानैः पूता भृशं यशोदेहाः।
येषां त एव भूपा जीवन्ति मृता वृथैवान्ये॥

पण्डितराज भी इस अन्योन्य अपेक्षा के क्रम में इतस्तत: परिभ्रमण करते हुए मुगलसत्ता के सम्पर्क में आए व मुगल सम्राट शाहजहाँ के मुख्य हिन्दू संस्कृतज्ञ दरबारी कवि बन बैठे तथा उससे उन्हें पण्डितराज जैसी प्रतिष्ठित उपाधि भी प्राप्त हुई।

---

१. लङ्कापते: सङ्कुचितं यशो यद् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्र:।
स सर्व एवादि कवे: प्रभावो न कोपनीया: कवय: क्षितीन्द्रै:।।

इसके अतिरिक्त उन्हें ज्येष्ठ शहजादे 'दाराशिकोह' तथा सर्वोच्च मुगल पदाधिकारी 'आसफ खाँ' से भी सम्मान एवं आश्रय प्राप्त था। जहाँगीर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में भी कुछ अवसरों पर उन्हें दरबार में काव्यपाठ का अवसर मिला था। कुछ समय के लिये उन्हें उदयपुर के राणा जगतसिंह तथा कूचबिहार के राजा प्राणनारायण का भी आश्रय प्राप्त रहा। उनका अनुमानित जीवनकाल सन् १५९० से १६७०ई. के मध्य है।

इतिहास की दृष्टि से यह समय मध्ययुग के नाम से जाना जाता है। यह युग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग होते हुए भी दो विरोधी गुणधर्म से समन्वित संस्कृतियों के परस्पर टकराव के कारण विचित्र अन्तर्विरोधों का युग रहा है और इसका मूल केन्द्र मुगल दरबार था, जहाँ से हिन्दू-संस्कृति विरोधी आज्ञाएँ प्रसारित होती थीं। काशी के धर्मनिष्ठ, संस्कृतज्ञ, विद्वान् ब्राह्मण पण्डितराज ने ऐसे युग में भी अद्वितीय प्रतापी सम्राट् शाहजहाँ तथा ज्येष्ठ शहजादे दारा व आसफ खाँ जैसे महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों का आश्रय और अनुग्रह प्राप्त किया था, यह बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इससे उनके पाण्डित्यातिशय और महत्ता का स्वयमेव प्रतिपादन हो जाता है।

पण्डितराज को शास्त्रज्ञानोपलब्धि पैतृक सम्पत्ति के रूप में हस्तगत हुई थी। परिष्कृति व प्रौढ़ता स्वार्जित थी। उपनिषद्, भागवत, वेदान्त, न्याय, मीमांसा, बौद्ध आदि दर्शनों तथा व्याकरण, नीति, काव्यकला, काव्यशास्त्र आदि अन्य विविध क्षेत्रों में उनकी अबाध गति थी। इन विषयों से सम्बन्धित उनके पाण्डित्य की झलक उनके अनेक पद्यों तथा रसगङ्गाधर के काव्यशास्त्रीय विवेचनों में सहज ही देखी जा सकती है। अपनी इस विद्वत्ता पर उन्हें गर्व भी बहुत था, जिसकी अभिव्यक्ति उनके कई श्लोकों में भी हुई है।

पण्डितराज का व्यक्तित्व भी विलक्षण है। वे एक ओर अत्युद्धत, गर्वीले तथा आत्मश्लाघासम्पन्न व्यक्ति के रूप में समक्ष आते हैं, तो दूसरी ओर दैन्यपूर्ण आत्मनिवेदन करते गलदश्रु वैष्णवभक्त के रूप में। आलोचना के क्षेत्र में वे जितने मुखर हैं, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उतने ही गम्भीर। उनका कवि रूप जितना सरल व सीधा है, शास्त्रीयसमीक्षक रूप उतना ही दुरूह एवं दार्शनिक गम्भीरता में लिपटा। एक ओर उन्होंने '**दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा**' जैसी प्रशस्तियों द्वारा दिल्लीश्वर का चाटुकारितापूर्ण प्रशस्तिगान किया है, तो दूसरी ओर इन लालसाओं से सर्वथा दूर '**परं प्रतीकारमपश्यताधुनामयायमात्मा भवते निवेदितः**' कहते हुए एकमात्र भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया

है। एक ओर वे अद्वैतवेदान्ती दर्शन में आस्थावान् हैं, तो दूसरी ओर लौकिक सफलता हेतु साम, दाम, दण्ड, भेदादि पर आधारित नीतिश्लोकों व अन्योक्तियों को वर्णित करने के कारण नीति-महारथी। मद से मलिन गण्डस्थल वाले कविकुञ्जरों के गर्वभार को उतारने वाले दर्पोद्धत विद्वान् के रूप में भी वे दृष्टिगत होते हैं, तो कुरङ्गी के दृग्विलास में मग्न होने वाले भावुक प्रणयी के रूप में भी। दैवपराग्वदन हो अपनी मनोव्यथा को उन्होंने दीन-हीन शब्दों में भी प्रकट किया है, तो अपनी रचना को सुनकर प्रसन्न न होने वालों को 'जीवित मृतक' की संज्ञा भी दी है। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विभिन्न रूप हैं।

बहुरङ्गी व्यक्तित्व वाले पण्डितराज का कर्तृत्व भी बहुविषयी है। उन्होंने रचना के लिये गद्य, पद्य, व्याकरण एवं अलङ्कारशास्त्र का विस्तृत क्षेत्र चुना है। उनकी शीर्षकबद्ध रचनाएँ संख्या में १४ हैं। इसके अतिरिक्त रसगङ्गाधर के उदाहरण पद्य, अवशिष्ट अन्योक्तियाँ तथा कई ऐसे श्लोक हैं, जिनका किसी शीर्षक के अन्तर्गत संकलन नहीं हुआ है। ये सभी कृतियाँ एवं श्लोक तीन रूपों में प्राप्त होते हैं—१. काव्यकृतियाँ, २. काव्यशास्त्रविषयक कृतियाँ एवं ३. व्याकरणशास्त्रविषयक कृतियाँ। इनमें शीर्षकबद्ध काव्यकृतियाँ संख्या में १० हैं—१. गंगालहरी, २. अमृतलहरी, ३. करुणालहरी, ४. लक्ष्मीलहरी, ५. सुधालहरी, ६. प्राणाभरण, ७. जगदाभरण, ८. आसफविलास, ९. भामिनीविलास एवं १०. यमुनावर्णन। इनके अतिरिक्त रसगङ्गाधर के उदाहरण श्लोक, अवशिष्ट अन्योक्तियाँ तथा अन्य मुक्तक पद्य भी इसी कोटि में परिगण्य हैं। इन काव्यकृतियों में यमुनावर्णन अनुपलब्ध है। इसके दो उद्धरण रसगङ्गाधर में उद्धृत हैं, जिससे इस कृति के पण्डितराज विरचित होने का पता चलता है।

उनकी काव्यशास्त्रविषयक कृतियाँ हैं—१. रसगङ्गाधर एवं २. चित्रमीमांसाखण्डन। व्याकरणशास्त्र विषयक कृतियाँ हैं—१. मनोरमाकुचमर्दन एवं २. शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन।

प्रस्तुत प्रबन्ध उनकी काव्य एवं काव्यशास्त्रीय कृति रसगङ्गाधर से अभिव्यक्त शेमुषी के समुल्लास से सम्बद्ध है। इसमें उनकी काव्य-कृतियों की समीक्षा काव्यस्वरूप एवं विषयवर्णन की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त कर की गई है—१. स्तुतिपरक रचनाएँ २. प्रशस्तिपरक रचनाएँ और ३. मुक्तक रचनाएँ।

स्तुतिपरक रचनाएँ हैं—गङ्गालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, लक्ष्मीलहरी, एवं सुधालहरी। ये पाँचों लहरियाँ काव्यस्वरूप की दृष्टि से लहरी

शीर्षक से विरचित होने वाले धार्मिक गीतिकाव्य का ही एक प्रभेद हैं। अत: गीतिकाव्य की सभी विशेषताएँ इन लहरियों में भी प्राप्त होती हैं। इनमें स्तुति, प्रार्थना और भक्तितत्त्व के अतिरिक्त गीतिकाव्य में प्राप्य अन्य विशेषताएँ १. भावमयता, २. भावान्विति, ३. संक्षिप्तता, ४. सहज अन्त:प्रेरणा, ५. सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति, ६. माधुर्य तथा ७. कोमलता विद्यमान हैं।

इनमें गङ्गालहरी में ५२ पद्यों में भगवती गङ्गा की सरस, सुबोध और कमनीय स्तुति की गई है। अन्तिम ५३वाँ पद्य फलश्रुति के रूप में है। इसमें गङ्गा को मातृस्वरूपा मानकर उनकी अपूर्व महत्ता का गुणगान तथा स्वोद्धार के निमित्त सुन्दर आत्मनिवेदन वर्णित है। भक्तितत्त्व के अतिरिक्त काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से भी यह लहरी सुन्दर कृति है।

अमृतलहरी में स्तुति की तथ्यकथनात्मक शैली का आश्रय लेकर यमुना की स्तुति शार्दूलविक्रीडित छन्द में निबद्ध दस पद्यों में की गई है। अन्तिम ११वाँ पद्य परिचयात्मक है। इसमें यमुना नदी के असाधारण गुणों का संकीर्तन करते हुए उनसे मुक्ति की कामना की गई है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह लहरी कवि की सीधी सरल भावाभिव्यक्ति है, जिसमें कवि को आत्मनिवेदन, उक्ति व अलङ्कारचातुर्य के अधिक प्रयोगस्थल नहीं मिल सके हैं।

करुणा-लहरी भगवान् विष्णु की स्तुति में विरचित कवि की नितान्त विनीत प्रार्थना है, जिसमें भगवत्करुणा प्राप्ति की उत्कट कामना वर्णित हुई है। यह लहरी आत्मनिवेदन की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। इसमें स्वोद्धार के निमित्त प्रस्तुत किये गये तर्क अत्यधिक हृदयस्पर्शी हैं। इस लहरी का कलापक्ष भी स्वाभाविक भाव-सौन्दर्य को निखारने में सहज प्रसाधन रूप है।

लक्ष्मीलहरी ४१ शिखरिणी छन्दों से संवलित देवी लक्ष्मी की स्तुति है, जिसमें भगवती लक्ष्मी के चरण से लेकर केशपर्यन्त विविध अङ्गों का मनोहर चित्रण करते हुए उद्धार की कामना तथा कृपा-कटाक्ष प्राप्ति की आकांक्षा की गई है। इस स्तुत्यात्मक चित्रण में भाव एवं कलापक्ष का सुन्दर समन्वय है, भाषा एवं शैली की सरस योजना है तथा अलंकार एवं छन्द का सुन्दर सम्मिलन है।

सुधालहरी ३० स्रग्धरा छन्दों में निबद्ध भगवान् भास्कर की प्रौढ़ स्तुति है, जिसके प्राय: सभी पद्य आशीष एवं मङ्गलकामना रूप हैं। इसमें सूर्य एवं उनकी रश्मियों को देवरूप में मानकर उनका गुणगान करते हुए रक्षा, मङ्गल, कल्याण की कामना तथा अज्ञान, क्लेश, क्लान्ति आदि के विनाश की मङ्गल-

प्रार्थना की गई है। इस लहरी में पदों की प्रौढ़ि, समासों का बाहुल्य, घटाटोप शब्दों का प्रयोग तथा कला एवं भावपक्ष का सुन्दर समन्वय नितान्त आवर्जक है।

पण्डितराज की प्रशस्तिपरक रचनाएँ हैं—प्राणाभरण, जगदाभरण एवं आसफविलास। इनमें प्राणाभरण कूचबिहार के राजा प्राणनारायण तथा जगदाभरण उदयपुर के राणा जगतसिंह की प्रशस्ति में रचित है। ये दोनों काव्य एक समान हैं। इनमें केवल शीर्षकभेद तथा कुछ श्लोकों में राजाओं की नामोपाधियों में अन्तर है। काव्यरूप की दृष्टि से ये प्रशस्तिपरक खण्डकाव्य हैं। इनमें प्रशस्तिकाव्य की प्रचलित परम्परा के अनुसार राजा प्राणनारायण तथा राणा जगतसिंह की शूरता, विद्वत्ता, यश, प्रताप, कीर्ति, दानशीलता आदि गुणों का चमत्कारिक ढंग से गान किया गया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी ये काव्य सुन्दर हैं। इनमें कवि की भावाभिव्यक्ति, शब्दार्थसंयोजना, अलङ्कारनिवेश अत्यन्त सुन्दर हैं, जो कवि की रचना-चातुरी के प्रमाण हैं।

आसफविलास सम्राट् शाहजहाँ के अतिप्रिय व घनिष्ठ सम्बन्धी तथा मुगलशासन के सर्वोच्च पदाधिकारी आसफ खाँ की प्रशस्ति में विरचित है। यह आख्यायिका गद्यकाव्य है। इसका मात्र सवा पृष्ठ का अत्यन्त संक्षिप्त अंश ही प्राप्त होता है। इस उपलब्ध अंश में सम्राट् शाहजहाँ के विशाल वैभव, उनकी कश्मीर प्रदेश की यात्रा, इस प्रदेश की अलौकिक प्राकृतिक सुषमा तथा नवाब आसफ खाँ के विविध गुणों का निरूपण सुन्दर आलङ्कारिक शैली में किया गया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह काव्य पर्याप्त सुन्दर है, जिसमें वर्ण्यविषय के अनुरूप दीर्घ समास संवलित, अलङ्कारमण्डित पदावली का प्रयोग किया गया है।

पण्डितराज की मुक्तक रचनाएँ हैं—भामिनीविलास, अवशिष्ट अन्योक्तियाँ, अन्य पद्य एवं रसगङ्गाधर के उदाहरणश्लोक। इनमें भामिनीविलास उनके मुक्तक श्लोकों का संकलन है, जिसके अन्तर्गत चार विभाग हैं—१. प्रास्ताविक, २. शृङ्गार, ३. करुण और ४. शान्त। इनमें प्रास्ताविकविलास में नीतिपरक अन्योक्तियों और सुभाषितों का संकलन है। शृङ्गारविलास में रसगङ्गाधर के शृङ्गारिक मनोभावनाओं के चित्रण से सम्बद्ध उदाहरणश्लोक संगृहीत हैं। करुणविलास कवि के व्यक्तिगत शोकानुभव से सम्बद्ध है तथा शान्तविलास में भगवद्भक्तिपरक, आत्मप्रशंसामूलक एवं रसगङ्गाधर के उदाहरणश्लोक संकलित है।

अन्योक्तियों में विभिन्न प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से विविध प्रसङ्गों व नीतियों की अभिव्यक्ति हुई है। अन्य मुक्तक पद्यों में विविधप्रसङ्ग विषयक पद्य हैं तथा रसगङ्गाधर के उदाहरण श्लोक आचार्यत्व की आवश्यकता की पूर्ति हेतु निर्मित हुए हैं।

पण्डितराज की काव्यरचनाओं का भावपक्ष भी कम मनोहर नहीं है। उनकी अन्योक्तियों में सामान्य प्राकृतिक उपादानों का आश्रय कर विविध नीतियों, भावों तथा प्रसंगों की बड़ी कलापूर्ण अभिव्यक्ति हुई है, तो स्तुतियों में भक्तहृदय की विकल पुकार बड़े स्वाभाविक ढंग से वर्णित हुई है। इनमें आत्मोद्धार के निमित्त प्रस्तुत किये गये उनके तर्क बड़े आवर्जक हैं। इसी प्रकार उदाहरणबाध्यता से विनिर्मुक्त होकर रचे गये अन्य इतर प्रसङ्ग विषयक श्लोकों में भी भावप्रवाह का यही रूप दिखाई पड़ता है। प्राणाभरण, जगदाभरण तथा आसफविलास में भी सुन्दर कल्पना के सहारे वर्ण्यविषय राजवैभव की प्रस्तुति मनोहर ढंग से वर्णित हुई है।

उदाहरणों की प्रस्तुति में भी परिमार्जित रुचि की श्लीलता सराहनीय है। कई आलंकारिकों ने उदाहरणों के चुनाव में कभी-कभी अपरिमार्जित रुचि का भी प्रदर्शन किया है, लेकिन विलासिता के आगारभूत मुगलदरबार में रहने पर भी पण्डितराज के पद्यों ने नैतिकता का बन्धन नहीं लाँघा है। उनके उदाहरणों में नैतिकता की छाया है। किन्तु इस नैतिकता से आह्लादात्मकता व रमणीयता का हनन नहीं हुआ है; पुनः ये उदाहरण उनकी अपनी शास्त्रीय समीक्षा के मानदण्डों व आदर्शों के सर्वथा अनुरूप हैं। जिन काव्यदोषों को वे निवारणीय समझते हैं, उनसे वे दूर हैं। रचना के जिन आदर्शों तथा भाषा के जिन वर्णों के प्रयोग का विवेचन उन्होनें रसगङ्गाधर में किया है, इनमें उनका उचित रूप में परिपालन है। महाकाव्यकार न होने के कारण उनकी रचनाओं में नवरसान्तर्गत रसाभिव्यक्ति का विस्तृत क्षेत्र नहीं मिलता है। उनमें 'रस' की अपेक्षा 'भाव' ध्वनि का ही प्राधान्य है। प्रयुक्त रसों में भी शृङ्गार, करुण व शान्त की ही अभिव्यञ्जना अधिक हुई है। हास्य, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक व अद्‌भुत रसों के चित्रण में वे रमे नहीं हैं। उनकी कृतियों में इन रसों के उदाहरणपरक श्लोकों का नाममात्र को ही प्रयोग हुआ है। भावों में भी देवविषयक व नृपविषयक रति के अभिव्यञ्जनापरक श्लोक अधिक हैं। अन्य सञ्चारी भावों में मति, हर्ष, असूया, अमर्ष, वितर्क व गर्व भावों की ध्वनि के उदाहरण अधिक हैं।

अलंकारप्रयोग की दृष्टि से भी पण्डितराज की ये रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। उनकी कृतियों में आगत अनेक पद्य रसगङ्गाधर में विभिन्न अलंकारों के उदाहरणरूप में विवेचित हैं। वे एक ओर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से बचाकर बनाये गये रसगङ्गाधर के नैयायिक भाषाशैली के लक्षणों की कसौटी पर बिल्कुल खरे उतरते हैं, वहीं दूसरी ओर काव्य के स्वाभाविक प्रवाह में भी सङ्गत बैठते हैं। उनके पाण्डित्य से अपरिचित सहृदय को वे यत्नपूर्वक रचे गये लग सकते हैं, किन्तु उनकी विद्वत्ता से परिचित सहृदय को वे अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य ही प्रतीत होंगें।

पण्डितराज की ये सभी काव्यकृतियाँ अभिव्यक्ति कौशल की दृष्टि से भी सुन्दर हैं। इन काव्यों की भाषा सानुप्रासिक है, जिसमें समान ध्वनि, स्वर, व व्यञ्जन वाले वर्णों की सुखद संयोजना है। यह काव्यभाषा वर्ण्यभावानुसारिणी भी है। वह परुष भावों के प्रसंग में जितनी सरलता से ओजगुणयुक्त पदावली का बाना धारण कर लेती है, उतनी ही सरलता से कोमल प्रसङ्गों में असमस्त और सरल पदावली में परिवर्तित हो जाती है। वर्ण्यभावानुसारिणी इस सानुप्रासिक काव्यभाषा में सुन्दर शब्दचयन, मीलित वर्णयोजना, गतिमान प्रवाह, ध्वन्यात्मकता, चित्रांकनक्षमता, अलंकरणसज्जा, संगीतात्मकता आदि अन्य गुणों का सुन्दर समन्वय भी विद्यमान है।

इन रचनाओं में वर्ण्यविषय की आवश्यकतानुरूप विविध शैलियों का प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इसमें वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली तीनों रीतियाँ प्रयुक्त हैं। इनमें वैदर्भी और पाञ्चाली का अधिक तथा गौडी का प्रयोग कम है। काव्यस्वरूप की दृष्टि से ये रचनाएँ गीतिशैली, मुक्तकशैली, खण्डकाव्य शैली तथा आख्यायिका शैली में विरचित हैं। विषयप्रतिपादन की दृष्टि से भी इनमें अन्योक्ति, दृष्टान्त, सूक्ति, तथ्यकथनात्मक, प्रश्न, प्रश्नोत्तर, संवाद, सम्बोधनात्मक, प्रबोधनात्मक, निर्णयात्मक तथा पुनरावृत्त्यात्मक शैलियों का आश्रय लिया गया है। अलङ्कृति की दृष्टि से इन रचनाओं में प्रायः स्वाभाविक अलङ्करण की शैली अपनाई गई है; किन्तु वर्ण्यविषय के अनुरूप कुछ स्थलों पर प्रयत्नसाध्य अलंकरण के भी दर्शन होते हैं। छन्दोबन्धन की दृष्टि से भी यहाँ विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है।

पूर्वप्रभाव की दृष्टि से इन रचनाओं का भावसाम्य शङ्कराचार्य, यामुनाचार्य, मयूरकवि, शम्भु महाकवि, रुद्रकवि, भर्तृहरि तथा कुछ अन्य कवियों के श्लोकों से है। इन रचनाओं से प्रभावित होने वाले परवर्ती संस्कृत विद्वान्

हैं—भास्कर कवि, हरि कवि एवं वामनपण्डित। पण्डितराज के कुछ रचनाश्लोकों का हिन्दी कवियों से भी बहुत अधिक भावसाम्य है। इनमें रहीम, वृन्द, बिहारी, रसलीन, मतिराम, दीनदयालगिरि, गिरिधर कविराय आदि प्रमुख हैं। उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन से भी कुलपति मिश्र, नानूराम कविसागर, सुरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, आचार्य प्रतापसाहि, आचार्य सोमनाथ एवं महाकवि ग्वाल आदि कई परवर्ती हिन्दी काव्यशास्त्री प्रभावित हुए हैं।

पण्डितराज की काव्य एवं काव्यशास्त्र विषयक कृतियों के इस अनुशीलन से सिद्ध होता है कि उद्भट काव्यशास्त्री होने के अतिरिक्त पण्डितराज कारयित्री प्रतिभासम्पन्न श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने रचना के लिये काव्य की विविध विधाओं को चुना है। यशःकथा का निबन्धन करने के लिये खण्डकाव्य की रचना की है, तो लघु भावोच्छ्वासों को मुक्तकों में बाँधा है। स्तुतिलहरियों को शब्दबद्ध करने के लिये गीतिकाव्य की रचना की है, तो राजपुरुष की कथा का गान करने के लिये आख्यायिका का प्रणयन किया है। इन रचनाओं में भी एक ओर नीति का प्रदीप्त प्रकाश है, तो दूसरी ओर शृङ्गार की मधुभीनी रंगीनी। एक ओर देवाराधन का दैन्यविगलित आत्मनिवेदन वर्णित है, तो दूसरी तरफ राजप्रशस्ति की कल्पनात्मक उड़ान। एक ओर सीमा में बंधे रहकर उन्होंने आचार्यत्व की आवश्यकता हेतु उदाहरणपद्यों का निर्माण किया है, तो दूसरी ओर अपनी व्यक्तिगत शोकानुभूतियों के स्वच्छन्द प्रलाप को श्लोकबद्ध किया है। ये सभी भावानुभूतियाँ भाषा, शैली, रस, अलंकार, छन्दादि सभी दृष्टियों से सुन्दर हैं। उनकी ये सभी रचनाएँ उन्हें एक ऐसे उत्कृष्ट एवं सहृदय कवि के रूप में प्रस्थापित करती हैं; जिसकी कविता का गुणगान हरि कवि ने इस रूप में किया है—

कमलपटलस्फारत्स्फूर्जन्मनोहरसौरभो-
न्मदमधुकरश्रेणीसिंजातसमुद्गतमाधुरी।
न हि सुभगतां लोकेविंदत्यनेकगुणाद्भुतां
कविवर जगन्नाथोदंचद्वचो रचनावलेः॥

जहाँ तक पण्डितराज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रश्न है, उनकी भावयित्री शेमुषी के समुल्लासन का प्रसङ्ग है, तो इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह तथ्य ध्यातव्य है कि पण्डितराज मूलतः ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उनका मूल्याङ्कन करते हुए डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त ने बिल्कुल सटीक कहा है कि 'मूल सिद्धान्तों का खनिज स्वर्ण आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के द्वारा निकाला

गया था, मम्मट ने उसे सामान्यतः साफ करके व्यवहारोपयोगी बनाकर सामने रख दिया था; किन्तु अभी उसका पूर्ण शोधन करके, तर्क एवं प्रतिभा की अग्नि में तपाकर पूर्ण परिशुद्ध करके 'बारहबानी' बनाने का कार्य शेष था। यह कार्य पण्डितराज के द्वारा सम्पन्न हुआ।

अपने दायित्व की पूर्ति के क्रम में उन्होंने विषय का राई रत्ती विवेचन करने वाली नव्यन्याय की भाषा-शैली अपनाई, दार्शनिक चेतनापट को पूर्णतया कसा, गम्भीरता का कञ्चुक धारण किया, मौलिक चिन्तन एवं प्रौढ़ अध्ययन के रङ्ग लिए व ध्वनिप्रासाद के अलङ्करण में जुट गए। इस अलङ्करण कार्य में पूर्वाचार्यों के प्रति वे आलोचक बुद्धि नहीं रखते। आचार्य भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के प्रति उनके मन में श्रद्धा है, सम्मान है। मम्मट के प्रति भी वे पर्याप्त सहिष्णु हैं, उन्हें अग्रज मानकर यथोचित सम्मान देते हैं, तथापि जहाँ सैद्धान्तिक टकराव दृष्टिगत होता है, वे अपने समस्त शरप्रहारों के साथ सन्नद्ध हो उठते हैं। उनका पाण्डित्य उन्हें मौन नहीं रहने देता। वैचारिक ताप से पिघल कर पूर्वपक्ष का कालुष्य समाप्त होकर सिद्धान्त पक्ष आकार ले ही लेता है। काव्यलक्षण एवं काव्यप्रभेद प्रसङ्ग इसके साक्षी हैं। यही नहीं, जहाँ वैचारिक मतवैभिन्य दिखलाई देता है, उन्हें अपने ही सम्प्रदाय के बड़े से बड़े आचार्य का व्यक्तित्व भी दबा नहीं पाता। वे पूरी निष्ठा के साथ अपने सम्प्रदाय की भित्तिका के भीतर बने रह कर अपनी मौलिक चिन्तनशक्ति से उन्हीं सिद्धान्तों को, जो आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के काल से ही उसी रूप में स्वीकृत थे, चमकाकर नई विभा, नई विच्छित्ति, नया आकर्षण व नया वैभव प्रदान कर देते हैं। काव्यप्रभेद-प्रसङ्ग इसका सर्वोत्तम उदाहरण है, जहाँ उन्होंने वाच्यातिशायी व्यङ्ग्यार्थ की ध्वनिवाद की परम्परागत कसौटी को और अधिक परिमार्जित करते हुए व्यङ्ग्यार्थ की उच्चावच स्थिति का निर्णायक चमत्कार को माना। इसी आधार पर उन्होंने काव्य का चतुर्धा विभाजन किया एवं पञ्चम प्रभेद माने जाने की आवश्यकता की ओर भी संकेत किया। पण्डितराज का यह विभाजन निश्चय ही अधिक व्यवस्थित, सूक्ष्म एवं काव्य की सभी कोटियों के साथ समुचित न्याय करने वाला है।

शैवाद्वैत की दार्शनिक पीठिका पर अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित रस-निष्पत्ति प्रक्रिया को भी उन्होंने बहुप्रचारित, बहुजन की आस्था के केन्द्र अद्वैत वेदान्त का आवरण प्रदान कर अपनी परिपूर्ण मौलिक चिन्तनशक्ति का परिचय दिया है।

यही स्थिति गुणनिरूपण के प्रसङ्ग में हैं। यहाँ उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त सम्मत गुणत्रयवादिनी मान्यता को ही स्वकीय समर्थन दिया; लेकिन गुणों को रस का ही धर्म मानने की बात उन्हें स्वीकार्य नहीं। द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व के रूप में गुणों का स्वरूप निरूपण कर उनका सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रस व रचना सबके साथ स्वीकार करने की मान्यता उनकी स्वतन्त्र दृष्टि की परिचायक हैं। गुणाभिव्यञ्जक सामग्रियों, विभिन्न गुणों में ग्राह्य वर्णों एवं वर्जनीय संयोगों का भी पूर्ण विवेचन उनकी स्पष्ट एवं गम्भीर चिन्तन-शक्ति का फल है। रसादि ध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता एवं नानार्थस्थलीय चिन्तन भी पण्डितराज की गम्भीर समीक्षा दृष्टि का सूचक है। अलङ्कार—निरूपण-प्रसङ्ग में तो स्थान-स्थान पर वे अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखते हैं। गौणी सारोपा लक्षणा विषयक शास्त्रार्थ उनके अप्रतिम वैदुष्य का सूचक है।

समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र में पण्डितराज जैसा व्यवस्थित एवं सूक्ष्म भाव विवेचन रसगङ्गाधर के अतिरिक्त अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। भावों की चित्तवृत्तिरूपता की व्याख्या कर उन्होंने न केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि का प्रशंसनीय पक्ष प्रस्तुत किया है; वरन् उन्हें दार्शनिक चेतना से भी संवलित कर दिया, जिसके अनुसार चित्त की सभी अवस्थाएँ सुखात्मक, दुःखात्मक अथवा ज्ञानात्मक वृत्तिरूप ही हैं। दशरूपककार धनञ्जय एवं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के लक्षणों में शरीरपक्ष ही अधिक प्रभावी था, पण्डितराज की सूक्ष्म दृष्टि ने इस दुर्बलता को दृष्टिगत कर भावों की अनुभूतिरूपता को प्रमुखता प्रदान की। भाव-ध्वनियों की व्यञ्जक सामग्रियाँ, विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभावों, गुणीभूतसञ्चारियों आदि का सोदाहरण सूक्ष्मनिरूपण, भावध्वनि के विविध प्रकारों भावसन्धि, भावोदय, भावशबलतादि का चित्रण, भावध्वनियों की स्वतन्त्र सत्ता आदि प्रसङ्ग ऐसे हैं, जहाँ पण्डितराज की तलस्पर्शिणी, प्रौढ़ प्रज्ञा के दर्शन सहज ही होते हैं।

स्पष्ट है, पण्डितराज अपने सम्प्रदाय के आचार्यों का अन्धानुकरण करने के अभ्यस्त नहीं। जहाँ उचित समझते हैं; वहाँ वे अपनी स्वतन्त्र दृष्टि का, मौलिक सूझ-बूझ का स्पष्ट परिचय देते हैं।

यह तो हुई अपने सिद्धान्तपक्ष की बात। प्रतिपक्षी विद्वान् भी उनकी प्रखर आलोचना के पात्र बने हैं। अप्पय दीक्षित इनमें प्रमुख हैं। गौणी सारोपा लक्षणा के प्रसङ्ग में उन्होंने अप्पय के पक्ष एवं प्राचीनाचार्यों की मान्यता को जिस प्रकार व्यवस्थित तरीके से प्रस्तुत कर अप्पय के तर्कजालों से प्राचीनाचार्यों की मान्यता

की रक्षा की, वह उनकी विलक्षण मनीषा का सुपरिणाम है। इसके अतिरिक्त काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रहकार भट्टोद्भट, अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक, विमर्शिनीकार जयरथ, अलङ्काररत्नाकरकार आदि उनकी पैनी दृष्टि एवं तीक्ष्ण समीक्षाशक्ति से बच नहीं सके हैं।

इस प्रकार रसगङ्गाधर का अनुशीलन जहाँ उनके गम्भीर शास्त्रपाटव का सूचक है, वहीं इस तथ्य का दिग्दर्शक भी है कि उनमें काव्यशास्त्र के द्विसहस्रवर्षाधिक दीर्घ अध्ययन-परम्पराओं का नवनीत संजोया हुआ है, जिन्हें वे कहीं नामत: तो कहीं परमत, अपरमत, अन्याचार्य, प्राचीनाचार्य नव्याचार्य इत्यादि नामों से अभिहित करते हैं। उनके पास परमत के ध्वंसन व स्वकीय मत के उपस्थापन हेतु सबल युक्तियाँ हैं, विपक्षियों को धूलिसात् करने हेतु अकाट्य तर्क हैं, अपने सिद्धान्तों के सुदृढ़ीकरण हेतु पर्याप्त नैतिक सामर्थ्य हैं एवं किसी प्रकार के आग्रह से मुक्त हो स्वतन्त्र रूप से विचार करने की मौलिक चिन्तन शक्ति है। काव्यलक्षण, काव्यप्रभेद, रसभावादि विश्लेषण, रसादि ध्वनियों की संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता, नानार्थस्थलीय चिन्तन, गुणनिरूपण, गौणी सारोपा एवं साध्यवसानालक्षणा विषयक शास्त्रार्थ, अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन इत्यादि प्रसङ्गों में वे जिस कुशलता, जिस शास्त्रावगाहनसामर्थ्य व मनन-तरितीर्णविद्यार्णवत्व का परिचय देते हैं; उससे उनके इस कथन का औचित्य सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि सहृदयों में मूर्धन्य पण्डितगण साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ बनाकर अर्थों का कितना ही परिष्कार क्यों न करें; परन्तु उनके इन विवेचनों से रसगङ्गाधर के निर्माण में होने वाला मेरा श्रम कथमपि निष्फल नहीं हो सकता। बड़े-बड़े मत्स्य समुद्र का कितना ही आलोडन क्यों न करते रहें; परन्तु इससे क्या मन्दराचल के मथन का प्रयास विफल हो जाता है?

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता।
तिमीन्द्राः सङ्क्षोभं विदधतु पयोधे पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥

नव्यन्याय की भाषा-शैली अपनाने के कारण रसगङ्गाधर सामान्य पाठकों के लिए दुरूह अवश्य हो गया है। उसकी क्लिष्टता भयाक्रान्त करती है, सहज प्रविष्ट होने का साहस क्षीण कर देती है। उसे समझने के लिए नैयायिक पदावली व विषय का ज्ञान अपेक्षित हो जाता है। स्थिरमति, दृढ़सङ्कल्प एवं शास्त्रज्ञानार्जन

की उत्कट इच्छा लेकर पढ़ने का धैर्य बटोरना पड़ता है, न्याय के आवरण में लिपटी वेदान्त की मूल चेतना को समझने हेतु उसकी मान्यताओं से सुपरिचित होना पड़ता है, पूर्वपक्षियों के खण्डन को समझने हेतु पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों के मत-मतान्तरों का ज्ञान अपेक्षित हो जाता है और तब होता है, रसगङ्गाधर हृदयङ्गम। हाँ, एक बार हृदयङ्गम होने पर पण्डितराजीया शेमुषी की विलक्षणता, उनके अध्ययन की गम्भीरता, उनकी ज्ञानराशि की पारगामिता, उनके वैदुष्य की विभा हमें चमत्कृत कर देती है, आश्चर्यविजड़ित कर देती है, रसगङ्गा के जटिल भँवर से निकल हम उस अवगाहन का आनन्द लेने लगते हैं, रसकणिकाओं का पान कर उस आनन्दास्वाद में विभोर हो जाते हैं और हमारे मुँह से पण्डितराज की यह उक्ति बरबस निकल पड़ती है—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु॥

●

परिशिष्ट-१

पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त छन्दःसूची

पण्डितराज छन्द:प्रयोग के भी कुशल आचार्य हैं। इस दृष्टि से भी उनकी अभिव्यक्तिक्षमता में वैविध्य है। उन्होंने वर्ण्यविषय की आवश्यकतानुसार प्राय: सभी प्रमुख मात्रिक एवं वार्णिक छन्दों का प्रयोग किया है। इनमें मात्रिक छन्दों में आर्या, गीति, उपगीति, उद्गीति तथा वैतालीय व औपच्छन्दसिक छन्दों का , व वार्णिक छन्दों में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, रथोद्धता, स्वागता, वंशस्थबिल, भुजङ्गप्रयात, तोटक, स्रग्विणी, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, मञ्जुभाषिणी, मृगेन्द्रमुख, वसन्ततिलक, मालिनी, पञ्चचामर, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, सुन्दरी व कालभारिणी आदि छन्दों का प्रयोग किया है; किन्तु उनके सर्वाधिक प्रिय छन्द हैं—शिखरिणी, पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलक, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, सुन्दरी व कालभारिणी। मात्रिक छन्दों में उन्हें आर्या व गीति अधिक प्रिय हैं। पण्डितराज के काव्यों में प्रयुक्त इन छन्दों के प्रयोगस्थल निम्नलिखित हैं—

(क) मात्रिक छन्द

१. आर्या—प्रास्ता.वि.श्लो. ६, ९, १२, २०, २२, २३, २४, २६, २७, ४८, ७६, ८५, ८७, ९२, ९३, ९७, १०३; शृंगा.वि. ३८, ४३, ५०, ५१, ६६, ८७, १०२, ११३, १२४, १२७, १३३, १४१, १६०, १६६, १६९; शान्तवि. १७, २०, ३१, ३९, ४२; प्राणा.जगदा. ३८, ३९, ४०, ४१; रसगंगा.उप.प. ७, ८; रसगंगा.उदा.श्लो. ४, १४, २६, ३१, ३३, ३५, ४०, ४२, ५४, ५८, ७०, ७७, ८४, ९३, १००, ११२, १४८, १५६-५८, १६१, ६२, ६४, ६६, ७२, ७८, ९५, २०७, १६, २१, २२, २७; रसगंगा.अव.श्लो. ४, १०, ५६, ६५, ८८, ९२; आ.वि.श्लो. ४; अव.अन्यो.श्लो. १६, १७, २१, ३९, ६०, ६७, ८५, ९०, ९४, १२२, ३०, ३२, ३७, ४२, ४७, ७४, ७८, ८७, ८८, २१३, २१, ४१, ४८, ७०, ९३, ९९, ३०१, ९, १७, २०, ३६,

४७, ५५, ५९, ६५, ४०१, ४, ४०, ४७, ५१, ५७, ६८, ९१, ५०५, ३१-३३, ३९, ६६.

२. गीति—प्रास्ता.वि.श्लो. ५, ७, ११, १३, १७, १८, १९, २५, ४०, ६६, ७५, ९५, १०१, ११७; शृंगा.वि. ३७, ३९, ४०, ४१, ४२, ४४, ४५, ४७, ४९, ६८, ७०, ८१, ८५, ९९, ११४, १७, १८, ६४, ६५, ७०, ७१; शान्त.वि. १६, १९, ४४; प्राणा.जगदा. ३७; रसगङ्गा.उदा.श्लो. २३, २८, ३९, ४१, ७४, ८१, १२०, १७१, २२३; रसगङ्गा.अव.श्लो. ९, १७, ५९, ७४, ७९, ९०, १०२; अव.अन्यो.श्लो. ८, ४३, ६२, १५०, १६३, २२७, ३३०, ३५७, ६२, ८३, ४९४, ५१४, ५७४.

३. उपगीति—प्रास्ता.वि.श्लो. २१, ५९, ६२, ७७; शृंगा.वि. ८०, १०१; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ८८, ८९, ९४, १७४, १७७, १८०, १८४, २०८; अव.अन्यो.श्लो. ३१५, ३९०.

४. उद्गीति—प्रास्ता.वि.श्लो. १०; शृंगा.वि. ४८, ६७, ७२, ११६, १४९; प्राणा.जगदा.श्लो. ४२; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ६०, ११९; रसगङ्गा.अव.श्लो. ५, २५, ४१; अव.अन्यो.श्लो. ५२, १६१, ३२७, ३७८, ४२१, ५७६.

५. वैतालीय—शृंगा.वि.श्लो. ६८, १०९, १२२, १३८; रसगङ्गा. उदा. श्लो. ५.

६. औपच्छन्दसिक—शृंगा.वि.श्लो. १०३, १०४.

(ख) वार्णिक छन्द

१. अनुष्टुप्—प्रास्ता.वि.श्लो. ३७, ६०, ६३, ८२-८४, ८६, ८८, ९४, १०४, ५, ७, ९-१४, २०-२२; शृङ्गा.वि.श्लो. ४६, ७१, ७७, ९२, १०५, १०, १२, १९, २०, २३, २५, २६, २८, ३४, ३७, ३९, ४०, ४६, ४८, ५२-५४, ५६, ७४, ७६, ७९, ८०; शान्त.वि.श्लो. ३३, ३८; रसगङ्गा.उप.प. ३; उदा.श्लो. १, २, ६, १०, १२, १८, १९, २०, २४, २५, २७, २९, ३६, ३७, ४५-४८, ५३, ५६, ५७, ६१-६३, ६६, ६७, ७२, ७३, ७५, ७६, ७९, ८०, ८३, ८५-८७, ९१, ९२, ९७-९९, १०१, ३-११, १४, १७, २३-२६, २८, २९, ३१, ३२, ३४, ३६, ४०, ४१, ४३-४७, ४९, ५१, ५३-५५, ६०, ६५,

६७, ६८, ७०, ७६, ७९, ८३, ८६, ८८-९२, ९९, २०२, ३, ४, ९, ११, १३, १४, १५, २०, २४-२६; रसगङ्गा.अव.श्लो. १, ६, ११, १२, १४, १५, २०, २१, २४, २६-२९, ३२, ३४, ३६-४०, ४२, ४९-५१, ५८, ६०-६२, ६४, ६६-७०, ७३, ७५, ७८, ८०-८७, ९१, ९३, ९६, ९७, १०१, १०३; प्राणा.जगदा.श्लो. ४३, ४४-५१; अव.अन्यो.श्लो. १२, २६, ३०, ३२, ३७, ४८, ५२, ५७, ६६, ६८, ६९, ७४, ८६, ९३, ९५, ९७, ११०, १३, १४, १६, १७, ३९, ४४, ४६, ५३, ६०, ६२, ६६, ७६, ८४, ८५, ८६, २०८, २३, ३२, ३९, ४४, ४७, ७३, ७८, ७९, ८८, ९५, ९८, ३०५, २२, २६, ३१, ३२, ४०, ४१, ४३, ५४, ६४, ७६, ७७, ८८, ९३, ९५, ९९, ४०६, १०, १४, २८, २९, ३०, ६४, ६७, ७५, ७७, ७८, ८३, ९२, ९३, ९८, ५१३, १६, १७, २५, ३६, ४२, ४४, ४९, ५४, ६२, ६५, ७८.

२. इन्द्रवज्रा—श्रृंगा.वि.श्लो. १३५; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ११, २१८, २२८; रसगङ्गा.अव.श्लो. १६, ४५; अव.अन्यो.श्लो. ७, ८३, १९२, २३४, ५१२, ५५५.

३. उपेन्द्रवज्रा—श्रृंगा.वि.श्लो. १२, २३, १३०, १५५, १५९; प्राणा.जगदा.श्लो. ३१, ३५; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ८२, ९०, १३८; रसगङ्गा.अव.श्लो. ३, ३३, १००; अव.अन्यो.श्लो. ५९, ३७५, ५३०.

४. उपजाति—प्रास्ता.वि.श्लो. ४३, ७१, ८०, ११९; श्रृंगा.वि.श्लो. ९, ११, २१, २८, ३१, ३४, ८६, ९४, ९६, ९७, १११, १२९, १४२, १४५, १५१, १६३, १६७; प्राणा.जगदा. २८, ३०; रसगंगा.उदा.श्लो. ४४, ११६, १२७, १४२, १६३, १९४, १९८, २०५, २१०; रस.गंगा.अव.श्लो. २, ७, १३, १८, २२, २३, ३१, ३५, ५४, ५५; गंगा.ल.श्लो. ५२; अव.अन्यो. २५, ६५, ७३, ८७, १११, २६, ४०, २०२, ९, ११, १६, १९, ३३, ४३, ५२, ५६, ८९, ९७, ३१३, २४, ३४, ५६, ६१, ६६, ६७, ९६, ४००, १३, ३६, ३८, ६२, ८१, ५३५, ७९.

५. शालिनी—श्रृंगा.वि.श्लो. १६, २४; रसगंगा.अव.श्लो. ४४.

६. रथोद्धता—प्रास्ता.वि.श्लो. ४९; श्रृंगा.वि.श्लो. १४, २२, ३५;

रसगंगा.उदा.श्लो. ६८, १९३; रसगंगा.अव.श्लो. ८९; अव.अन्यो.श्लो. १०२, २६४, ३९७, ४४२, ५५१.

७. **स्वागता**—शृंगा.वि.श्लो. १३१; शान्त.वि.श्लो. ३५; रसगंगा.उदा.श्लो. २१७; अव.अन्यो. २७, ५३, २२९, २३८, २५१, ३७२, ४८६, ५५८.

८. **वंशस्थविल**—करुणा लहरी प्रथम १२ श्लोक; शृंगा.वि.श्लो. १३६, १४३, १७५; रसगंगा.अव.श्लो. ८, ७६; अव.अन्यो.श्लो. १, ३१०, ४३७.

९. **भुजङ्गप्रयात**—अव.अन्यो.श्लो. १५९, ५४३, ५७१, ८०, ८२, ८३, ८४, ८७.

१०. **तोटक**—अव.अन्यो.श्लो. ३५८, ३६०, ५८६.

११. **स्रग्विणी**—अव.अन्यो.श्लो. ५७२, ५८८.

१२. **प्रमिताक्षरा**—प्रास्ता.वि.श्लो. १०२; अव.अन्यो.श्लो. २८३.

१३. **द्रुतविलम्बित**—प्रास्ता.वि.श्लो. १०८; शृंगा.वि., १५०, १७२; प्राणा.जगदा.श्लो. ३३; अव.जन्यो.श्लो. ३, ४, ३५, १२०, १२१, १८९, ३८५, ४०३, ४१६, ४७२, ५६४, ५६९.

१४. **प्रहर्षिणी**—प्रास्ता.वि. १४, ९१, ११८; शृंगा.वि.श्लो. ९१; अव.अन्यो.श्लो. ६, १९, ६१, ३०२, ४७४.

१५. **मन्जुभाषिणी**—प्रास्ता.वि.श्लो. ५१; शृंगा.वि.श्लो. २९, १३२; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ७; अव.अन्यो.श्लो. ४९७.

१६. **मृगेन्द्रमुख**—अव.अन्यो.श्लो. १०९.

१७. **वसन्ततिलक**—प्रास्ता.वि.श्लो. १६, ३५, ४५, ४७, ६७-६९, ७३, ८९, ९०, ९६, ९९, १००, ११६; शृंगा.वि.श्लो. ३-६, १०, ७३, ७६, ८४, १२१, १५७, १७७, १७८; करुण वि. प्रथम १८ श्लो., शान्त वि. श्लो. २१, २८, ३७; प्राणा.जगदा. २७, २९; रसगङ्गा.उप.श्लो. ६; रसगङ्गा.उदा.श्लो. २२, ३०, ३४, ५०, ६४, ९५, १०२, १३३, १५२, १६९, १८७, २२९; अव.श्लो. ३०; अव.अन्यो.श्लो. ५, १०, २९, ३३, ४१, ४४, ५०, ५४, ५५, ५८, ६३, ७०, ७१, ७५, ७६, ८८, ८९, ९१, १०४, १२, २९, ३१, ४१, ४३, ४८, ५४, ५६,

६४, ८०, ९०, ९४, ९८, २०४, ७, १५, २५, २८, ३५, ५३, ६२, ६७, ६९, ७२, ७७, ८५, ८७, ३०४, ६, ११, १२, १६, १८, २३, २९, ३७-३९, ४५, ४९, ६३, ६८, ७९, ८९, ४०२, ५, ३२, ३५, ४४, ४९, ५५, ५६, ५९, ७६, ८७, ९०, ५००, ९, ११, १५, १८, २८, ४६, ५६, ५९, ६१, ६३, ६७.

१८. मालिनी—प्रास्ता.वि.श्लो. ४, ३४, ११५; शृंगा.वि.श्लो. २७, ३०, ३३; रसगङ्गा.उदा.श्लो. १३, ४३, ५२, २००; अव.अन्यो.श्लो. ३१, ८१, १०६, १५८, २२४, २३०, २५५, ३६९.

१९. पञ्चचामर—अव.अन्यो.श्लो. ९.

२०. शिखरिणी—गङ्गालहरी के प्रथम ४८ श्लोक एवं सम्पूर्ण लक्ष्मी लहरी इसी छन्द में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त यह छन्द अधोलिखित पद्यों में प्रयुक्त हुआ है—प्रास्ता.वि.श्लो. १, ३०, ३१, ३८, ४१, ५०, ५२, ५८, ७४, ७८, ७९; शृंगा.वि.श्लो. ५३, ६०, ६१, ६४, ७४, १४७, १५८, १७३; शान्त.वि.श्लो. १४, १८, २७, २९, ३४, ३६; रसगङ्गा.उदा.श्लो. १५, १६, १७, ५५, ७१, १७५, १९७, २१२; रसगङ्गा.अव.श्लो. ६३, ७७; रसगङ्गा.उप.प. ४, ५; अव.अन्यो.श्लो. ३८, ४०, ४२, ४७, ९८, ९९, १००, १२७, १३६, ६९, ७०, ७७, ९६, २४६, ५८, ६०, ६६, ९०, ९१, ९४, ३०७, ३५०, ८४, ८६, ९८, ४०८, ४२३, ६०, ७१, ८४, ९९, ५२२, २४, ६८, ७७.

२१. पृथ्वी—प्रास्ता.वि.श्लो. २; शृंगा.वि.श्लो. ५९, १६१; शान्त.वि.श्लो.१, २, ३, ४; प्राणा.जगदा.श्लो. १९-२३; रसगङ्गा.उप.प.१; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ११८, १३९, १८५; रसगंगा.अव.श्लो. ४३, ५२; अव.अन्यो.श्लो. १८, २३, १३५, १४९, १५१, १६७, ३००, ४३९ एवं गंगालहरी का ४९वाँ श्लोक।

२२. मन्दाक्रान्ता—प्रास्ता.वि.श्लो. २८; शृंगा.वि. ६३; शान्त.वि. १०, ११, १२, १५; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ९६, २०१; अव.अन्यो.श्लो. १३, १५, १२८, १८२, २०२, २८१, २९२, ३४२, ३५१, ५२, ७३, ७४, ८१, ४२५, ३४, ४३, ८२.

२३. हरिणी—शृङ्गा.वि.श्लो. २०; शान्त.वि. २३; अव.अन्यो.श्लो. १०५, ११९, ५४७; प्राणा.जगदा.श्लो. ५२.

२५. शार्दूलविक्रीडित—सम्पूर्ण अमृतलहरी एवं गंगालहरी का ५०वाँ श्लोक, प्रास्ता.वि.श्लो. ३, १५, २९, ३२, ३३, ३६, ३९, ४४, ४६, ५३-५७, ६१, ६४, ६५, ७०, ८१, ९८; शृंगा.वि. ५२, ५४-५८, ६२, ६५, ६९, ७५, ८३, १०८; शान्त.वि. ५-९, १३, २५, ३०, ३२; प्राणा.जगदा.श्लो. १, २, ४-१८, ५३; आ.वि.श्लो. ३; रसगंगा.उदा.श्लो. ३२, ६५, १३५, ५०, ५९, ८१, २०६; रसगङ्गा.अव.श्लो. ९८, ९९; अव.अन्यो.श्लो. २, ११, २०, २२, २४, ३४, ४५, ४६, ५६, ६४, ७२, ७७-७९, ८२, ९२, १०१, ७, १८, २३, २४, २५, ३३, ३८, ४५, ५७, ६५, ६८, ७२, ७३, ७५, ८१, ८३, ९१, ९३, ९५, ९९, २००, २०१, ५, ६, १०, १२, १४, १७, १८, २२, २६, ३१, ३६, ४०, ४२, ४९, ५०, ५४, ५७, ६१, ६५, ६८, ७१, ७४, ७६, ८०, ८२, ८४, ९६, ३०३, ८, १९, ३३, ३५, ४४, ४६, ४८, ८२, ८७, ९१, ९४, ४०७, ९, ११, १२, १५, १७, २०, २२, २४, २६, ३१, ३३, ४१, ४६, ४८, ५०, ५२, ५३, ५८, ६१, ६३ ६५, ६६, ७०, ७९, ८०, ८८, ८९, ९५, ९६, ५०२, ५०३, ४, ६, ७, ८, १०, २०, २१, २३, २७, ३४, ३७, ३८, ४०, ४१, ४५, ४८, ५०, ५२, ५३, ५७, ६०

२५. स्रग्धरा—सम्पूर्ण सुधालहरी, गङ्गालहरी का ५१वाँ श्लोक, शान्तविलास श्लो. २६; प्राणा.जगदा.श्लो. ३, २४-२६; आ.वि.श्लो. १, २; रसगङ्गा.उप.प.श्लो. २; रसगङ्गा.उदा.श्लो. १३०; अव.श्लो. १९, ९५; अव.अन्यो.श्लो. ९६, १०३, ७१, २५९, ३१४, ४५४, ६९, ५०१, ५१९, ५२६.

२६. पुष्पिताग्रा—प्रास्ता.वि.श्लो. ८, ७२; शृंगा.वि. ७, १३; शान्त.वि. २२, ४३; रसगङ्गा.अव.श्लो. ४८, ५७; अव.अन्यो.श्लो. ३२५, ४७३, ८५, ५२९.

२७. सुन्दरी—करुणालहरी १३ से ५४ श्लोकपर्यन्त, शृंगा.वि.श्लो. ७८, ७९, ८९, ९५, १००, १०६, १६२; शान्त.वि.श्लो. ४०, ४१; प्राणा.जगदा.श्लो. ३२, ३४, ३६; रसगङ्गा.उदा.श्लो. ३, ८, ५१, १२१, १९६, २१९; रसगङ्गा.अव.श्लो. ४६, ४७, ५३, ७१, ७२, ९४; अव.अन्यो.श्लो. १४, २६३, ३५३, ३८०.

२८. कालभारिणी—प्रास्ता.वि.श्लो. ४२, १०६; शृंगा.वि. १, २, ८, १५, १७, १८, १९, २५, २६, ३२, ३६, ८२, ८८, ९०, ९३, ९८, १०७, ११५, १४४, १६८; करुण.वि. १९; शान्त.वि. २४; रसगङ्गा.उदा.श्लो. २१, ३८, ५९, ११३, ११५, १२२, १७३; अव.अन्यो.श्लो. ४९, ८०, १३४, १९७, २४५, २८६, ३७०, ३७१, ४२७, ५८५; करुणालहरी का अंतिम ५५वाँ श्लोक।

परिशिष्ट-२

सुभाषितसंकलन

१. असदृशपुरुषेषु कः कोपः। (अव.अन्यो.श्लो. ५३२)

२. उत्तमानां विकारेऽपि नापैति रमणीयता। (रसगङ्गा.उदा.श्लो. ६६)

३. गुणैरुत्तुङ्गतां याति न तु जातिप्रभेदतः। (अव.अन्यो.श्लो. १८४)

४. तद्वेधा बहुधा विपद्विरचने बीजानि नापेक्षते। (अव.अन्यो.श्लो. १२५)

५. दातुराश्रितजनाः परुषोक्तीरप्यनन्यगतिका हि सहन्ते। (अव.अन्यो.श्लो. ४१८)

६. न गुणः श्रेयसे निर्गुणेषु। (अव.अन्यो.श्लो. १२८)

७. नहि क्षेमं सूते गुरुमहिमभूतेष्वविनयः। (लक्ष्मीलहरी, श्लो. २०)

८. नान्तस्तत्त्वविचारणप्रणयिनो लोका बहिर्बुद्धयः। (अव.अन्यो.श्लो. ७७)

९. नीचाश्रयो हि महतामवमानहेतुः। (अव.अन्यो.श्लो. ५६१)

१०. नैवाश्रितेषु गुणदोषविचारणा स्यात्। (अव.अन्यो.श्लो. २०४)

११. प्रभुरपि याचितुकामो भजते वामोरु लाघवं सहसा। (शृङ्गार वि.श्लो. १६४)

१२. प्रभूतसंतापकरी पिपासा। (अव.अन्यो.श्लो. ३७५)

१३. प्रसिद्धिहेतुर्भूतानां प्रायः प्रभुपरिग्रहः। (अव.अन्यो.श्लो. ३३२)

१४. प्रायः प्राय इदं तदत्र परमं दृष्टाददृष्टं फलम्। (अव.अन्यो.श्लो. ७२)

१५. प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः। (अव.अन्यो.श्लो. २१४)

१६. प्रायो मूर्खः परिभवविधौ नाभिमानं विधत्ते। (अव.अन्यो.श्लो. ३७३)

१७. व्याप्तायां भुवि सन्ति केऽपि विरलाः सन्तो गुणग्राहिणः। (अव.अन्यो.श्लो. १८१)

१८. विभवे गते सकलमेव गतं ध्रुवमेकमञ्चति यशः सरसः। (अव.अन्यो.श्लो. २८३)

१९. वक्रे विधातरि कथं विपदां निवृत्तिः। (अव.अन्यो.श्लो. ३४५)

२०. स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानं। (अव.अन्यो.श्लो. ५१२)

२१. स्वभावोऽयं सर्वैरपि खलु यतो दुष्परिहरः। (गङ्गा.लहरी श्लो. ३७)

२२. स्त्रीणां कः प्रत्ययो भुवि। (रसगङ्गा.अव.श्लो. १०१)

२३. सुजनोऽपि हि कुप्यति भृशमनवसरज्ञेन याचितः सुहृदा। (अव.अन्यो., श्लो. ५१)

श्लोक

१. **अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति।**
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवल्पितः कुसुमायुधो यथा॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ३

२. **अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।**
निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण लशुन इव॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ७६

३. **अमृतस्य चन्द्रिकाया ललितायाश्चापि कविताया:।**
सुजनस्य च निर्माणं जनयति नहि कस्य सन्तोषम्॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ९

४. **अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति।**
सर्वस्वं चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम्॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १२१

५. **अविरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।**
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ११७

६. **आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः।**
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १०४

७. आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ताल्
लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ६८

८. उत्तमानामपि स्त्रीणां विश्वासो नैव विद्यते।
राजप्रियाः कैरविण्यो रमन्ते मधुपैः सह॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १२०

९. उपकारमेव तनुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ७७

१०. उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवात्।
अन्तःसाक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १३

११. एकभूरुहयोरेकदलयोरेककाण्डयोः।
शालिश्यामाकयोर्भेदः फलेन परिचीयते॥

अव.अन्यो.श्लो.४८३

१२. एकेन राजहंसेन या शोभा सरसो भवेत्।
न सा बकसहस्रेण परितस्तीरवासिना॥

अव.अन्यो.श्लो. ५४९

१३. कस्तृप्येन् मार्मिकस्तन्वि रमणीयेषु वस्तुषू।
हित्वान्तिकं सरोजिन्याः पश्य याति न षट्पदः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ४५

१४. कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः।
अर्थेष्वलोभा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ४६

१५. कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः।
यशः सौरभ्यलशुनः पिशुनः साधुदुःखदः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ४८

१६. काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा।
धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा॥

रसगङ्गा.अव.श्लो. २४

१७. किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां चयः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ८१

१८. कोटिद्वयस्य लाभेऽपि नतं सद्वंशजं धनुः।
असद्वंश्यः शरः स्तब्धो लक्षलाभाभिकांक्षया॥

अव.अन्यो.श्लो. ४७५

१९. खलः करोति दौरात्म्यं मलः पतति साधुषु।
रावणेन हृता सीता बन्धनं तु महोदधेः॥

अव.अन्यो.श्लो. ३०५

२०. खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते।
अपायशङ्किभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ७५

२१. खलः सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः।
परदुःखाग्निशमनो मारुतः केन वर्ण्यताम्॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ८६

२२. खलानामुक्तयो हन्त कोमलाः शीतला अपि।
हृदयानीह साधूनां छिन्दन्त्यथ दहन्ति च॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ७६

२३. खलास्तु कुशलाः साधुहितप्रत्यूहकर्मणि।
निपुणाः फणिनः प्राणानपहर्त्तुं निरागसाम्॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १०५

२४. गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम्।
तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ९२

२५. गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि-
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां
न जातु मौलो मणयो वसन्ति॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ७१

२६. छिद्रिणां निकटे वासः कर्तव्ये नैव धीमता।
वारिहारि घटीपात्रं ताड्यते तत्र झल्लरी॥

अव.अन्यो.श्लो. ४९२

२७. छिन्नः सुनिशितैः शस्त्रैर्विद्धश्च नव सप्तधा।
तथापि हि सुवंशेन विरसं नापजल्पितम्॥

अव.अन्यो.श्लो. ३९९

२८. जनयन्ति परप्रीतिं नराः सत्कुलसम्भवाः।
नहि कारस्करः क्वापि तापनिर्वापणक्षमः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ९१

२९. जीवितं मृत्युना लीढं सम्पदः श्वासविभ्रमाः।
रामाः क्षणप्रभारामाः शल्यान्येतानि देहिनाम्॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. ९२

३०. तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम्॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १११

३१. तावद् गर्जन्ति मण्डूकाः कूपमाश्रित्य निर्भया।
यावत् करिकराकारः कृष्णसर्पो न दृश्यते॥

अव.अन्यो.श्लो. ५१३

३२. त्रासैर्विना विराजन्ते शूराः सन्मणयो यथा।
न दानेन विना भान्ति नृपा लोके द्विपा इव॥

रसगङ्गा.अव.श्लो. ३७

३३. दीनद्रुमान् वचोभिः खलनिकरैरनुदिनं दलितान्।
पल्लवयन्त्युल्लसिता नित्यं तैरेव सज्जनधुरीणाः॥

रसगङ्गा.अव.श्लो. ४१

३४. दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति।
भूतेषु किं च करुणां बहुलीकरोति सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ११६

३५. द्राक्षेव मधुरं वाक्यं चरितं कौमुदी यथा।
सदैवार्द्राणि चेतांसि सुधेव सुमहात्मनाम्॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १०८

३६. द्रुमपङ्कजविद्वांसः सर्वसंतोषपोषकाः।
मुधैव हन्त हन्यन्ते कुठारहिमदुर्जनैः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १०९

३७. निर्गुणः शोभते नैव विपुलाऽम्बरोऽपि ना।
आपातरम्यपुष्पश्रीशोभितः शाल्मलिर्यथा॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १०९

३८. निष्णातोऽपि च वेदान्ते साधुत्वं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम्॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ८२

३९. नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे।
येषां गुणमयं जन्म सर्वेषां गुह्यगुप्तये॥

अव.अन्यो.श्लो. ९५

४०. नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम्।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ८३

४१. पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ११०

४२. परगुह्यगुप्तिनिपुणं गुणमयमखिलैः समीहितं नितराम्।
ललिताम्बरमिव सज्जनमाखव इव दूषयन्ति खलाः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ८७

४३. परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः।
अचुम्बितान्तःकरणाः साधु जीवन्ति पादपाः॥

प्रास्ता.वि.श्लोः ८४

४४. पाण्डित्येन प्रचण्डेन येन माद्यन्ति दुर्जनाः।
तेनैव सज्जना रूढा यान्ति शान्तिमनुत्तमाम्॥

रसगङ्गा.अव.श्लो. ५८

४५. बन्धनान्यपि हि सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणो हि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजबद्धः॥

अव.अन्यो.श्लो. २७

४६. बहवः फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः।
एक एव हि शेषोऽयं भूभारवहनक्षमः॥

अव.अन्यो.श्लो. ४८

४७. बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किंचिन् न भासते॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १४६

४८. मनस्वी म्रियते वापि स्वोत्कर्षं नैव मुञ्चति।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम्॥

अव.अन्यो.श्लो. ३५४

४९. मलयाचलसंसर्गान् न वेणुश्चन्दनायते।
अन्तःसारविहीनानां रसः केनोपजायते॥

अव.अन्यो.श्लो. ४९३

५०. मुक्ताहार गुणीभूय नोपसर्प्यः स्तनस्त्वया।
विभवे यस्य काठिन्यं व्यर्थं तदुपसर्पणम् ॥

अव.अन्यो.श्लो. ५६५

५१. मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकान्ते।
सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ११९

५२. यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ११३

५३. यशः सौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।
कारुण्यकुसुमाकाशः खलः सज्जनदुःखदः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ८८

५४. रागं विना विराजन्ते मुनयो मणयस्तु न।
कौटिल्येन विना भाति नरो न कबरीभरः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १६७

५५. रूपवत्यपि च क्रूरा कामिनी दुःखदायिनी।
अन्तःकाटवसम्पूर्णा सुपक्वेवेन्द्रवारुणी॥

रसगङ्गा.अव.श्लो. ८७

५६. लता कुसुमभारेण शीलभारेण सुन्दरी।
कविता चार्थभारेण श्रयते कामपि श्रियम्॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १७०

५७. लभ्येत पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा तया सुपुत्राः परितः पवित्राः।
स्फीतं यशस्तैः समुदेति नित्यं तेनास्य नित्यः खलु नाकलोकः॥

शृङ्गा.वि.श्लो. १६३

५८. वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
न हि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम्॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ७५

५९. वदनं विना सुकवितां सदनं साध्वीं विना वनिताम्।
राज्यं च विना धनितां न नितान्तं भवति कमनीयम्॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १७४

६०. वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथावलीढा न हि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः॥

प्रास्ता.वि.श्लो. १०६

६१. विदुषां वदनाद् वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन् न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ६३

६२. विद्धा मर्मणि वाग्बाणैर्घूर्णन्ते साधवः खलैः।
सद्भिर्वचोऽमृतैः सिक्ताः पुनः स्वस्था भवन्ति ते॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १८२

६३. विद्वत्सु विमलज्ञाना विरक्ता यतिषु स्थिताः।
स्वीयेषु तु गरोद्गारा नानाकाराः क्षितौ खलाः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १८३

६४. विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानां
रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव।
लोकंपृणैः परिमलैः परिपूरितस्य
काश्मीरजस्य कटुतापि नितान्तरम्या॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ६९

६५. विषभारसहस्रेण गर्वं नायाति वासुकिः।
वृश्चिको बिन्दुमात्रेणाप्यूर्ध्वं वहति कण्टकम्॥

अव.अन्यो.श्लो. ४६७

६६. व्योम्नि बीजाकुरुते चित्रं निर्माति सुन्दरं पवने।
रचयति रेखाः सलिले यस्तु खले चरति सत्कारम्।।

प्रास्ता.वि.श्लो. ९३

६७. शरीरं ज्ञानजननं रोगो विष्णुस्मृतिप्रदः।
विपद् वैराग्यजननी त्रयं सुखकरं सताम्।।

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १८९

६८. शारिका मधुरालापा न रञ्जयति कं जनम्।
वाक्येनैवाधिको लाभः शरीरे नैल्यमेव हि।।

अव.अन्यो.श्लो. ४७८

६९. शीलभारवती कान्ता पुष्पभारवती लता।
अर्थभारवती वाणी भजते कामपि श्रियम्।।

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १९१

७०. शैत्यं विना न चन्द्रश्रीर्न दीपः प्रभया विना।
न सौगन्ध्यं विना भाति मालतीकुसुमोत्करः।।

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १९२

७१. संसारे चेतनास्तत्र विद्वांसस्तत्र साधवः।
साधुष्वपि स्पृहाहीनास्तेषु धन्या निराशयाः।।

रसगङ्गा.उदा.श्लो. २०४

७२. सत्पुरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि।।

प्रास्ता.वि.श्लो. ७३

७३. सत्सङ्गो यदि लभ्यः पुण्यफलैः पोषणीय एवासौ।
पथि पथि सुलभा वृक्षा न लभ्यते कुत्रचिदपि कल्पतरुः।।

अव.अन्यो.श्लो. ४९४

७४. सन्तः स्वतः प्रकाशन्ते गुणा न परतो नृणाम्।
आमोदो न हि कस्तूर्याः शपथेन विभाव्यते॥

प्रास्ता.वि.श्लो. ११४

७५. स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी हितं च तद् यत्र परानपक्रियाः।
परे च ते ये श्रितसाधुभावा सा साधुता यत्र चकास्ति केशवः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १९८

७६. संपदा संपरिष्वक्तो विद्यया चानवद्यया।
नरो न शोभते लोके हरिभक्तिरसं विना॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. १९९

७७. सुजनानामपि हृदयं पिशुनपरिष्वङ्गमलिनमिह भवति।
पवनः परागवाही रथ्यासङ्गे रजस्वलो भवति॥

अव.अन्यो.श्लो. ५१४

७८. स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः।
समृद्धिमल्पेतरभागधेयं भाग्यं च शम्भो तव पादभक्तिः॥

रसगङ्गा.उदा.श्लो. २१८

७९. स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन् मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्॥

प्राता.वि.श्लो. ९६

८०. हंसः श्वेतो बकः श्वेतः को भेदो बकहंसयोः।
क्षीरनीरविभागेन हंसो हंसो बको बकः॥

अव.अन्यो.श्लो. ५६२

८१. हंसाः सर्वाङ्गधवलाः पद्मेभ्यो बहिरासते।
अन्तर्विशन्ति मधुपाः श्रीमतामीदृशी गतिः॥

अव.अन्यो.श्लो. ७४

८२. हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन
कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम्।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा
यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम्।।

प्रास्ता.वि.श्लो. ९०

परिशिष्ट-३

सहायक ग्रन्थ-सूची

अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, हिं.व्या. डॉ. दयाशंकर शास्त्री, प्र.सं. २०२८, साहित्यभण्डार, मेरठ।

अन्योक्तिमुक्तालता, शम्भुमहाकवि, काव्यमाला, द्वि.गु., निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

अभिनवगुप्त, डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा १९३५।

अभिनवगुप्त के साहित्यसिद्धान्त, डॉ आभा श्रीवास्तव, नारायणप्रकाशन मंदिर १९८७।

अभिनवरससिद्धान्त, सम्पादक—दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७३।

अमृतलहरी, पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित—पण्डितराजकाव्यसंग्रह।

अष्टाध्यायीसूत्रपाठ, पाणिनि, हिं.व्या. श्रीनारायण मिश्र, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९८१।

अग्निपुराण, सम्पा. बलदेव उपाध्याय, प्र.सं. १९६६, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, हिं.टी. श्री रामतेज पाण्डेय, सप्तम सं. १९७२, चौखम्बा संस्कृतसीरीज, वाराणसी।

आचार्य कुलपति मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, विष्णुदत्त शर्मा राकेश, प्र.सं. १९७०, साहित्यसदन, देहरादून।

आलवन्दारस्तोत्र : यामुनाचार्य, हिं.टी. विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी, तृ.सं. महालक्ष्मी यज्ञसमिति, सोहगी (रोहतास)। एवं क्षेमराज श्रीकृष्ण दास बम्बई संवत् १९६६।

आसफविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित—पण्डितराज काव्यसंग्रह।

उत्तररामचरित : भवभूति, हि.व्या. शुक्लबन्धु, चतुर्थ सं. १९७५, साहित्यभण्डार, मेरठ।

उदयपुर राज्य का इतिहास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, प्र.सं., दूसरी जिल्द।

ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्यसहिता, वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना।

ए हिस्ट्री ऑफ मुगल नार्थ ईस्ट फ्रन्टियर पॉलिसी, एस.एन. भट्टाचार्य, चक्रवर्ती चटर्जी एण्ड कम्पनी लिमि., १९२९, कलकत्ता।

करुणा लहरी : पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित-पण्डितराजकाव्यसंग्रह।

काव्यप्रकाश : मम्मट, हिं.व्या.आ. विश्वेश्वर, पञ्चम सं. ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

काव्यादर्श : दण्डी, सम्पा. आर.एन. दांडेकर, प्र.सं. १९७०, भंडारकर ओरियन्टल रि.ई., पूना।

काव्यालङ्कार : भामह, हिं.टी. पं. बटुकनाथ शर्मा, द्विसं. २०३८, चौखम्बा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी।

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः वामन, टीका० केदारनाथ शर्मा, वि.सं.२०३६, चौखम्भा, अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

काशी की सारस्वत साधना, डॉ. गोपीनाथ कविराज, प्र.सं. १९६५, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

किरातार्जुनीयम्,व्या. बदरीनारायण मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

कैटेलॉगस कैटेलॉगरम—आफ्रेक्ट, भाग १, १९६२।

गङ्गालहरी : पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित-पण्डितराजकाव्यसंग्रह।

गङ्गाष्टक, गङ्गास्तोत्र, संकलित-पुराणों में गंगा।

चन्द्रालोकः जयदेव, टीको, नन्दकिशोरशर्मा, वि.सं. १९९३, चौखम्भा संस्कृतसीरीज, वाराणसी।

चित्रमीमांसा : अप्पय दीक्षित, हिं.व्या. जगदीशचन्द्र मिश्र, प्र.सं. २०२८, चौखम्बा संस्कृतसीरीज, वाराणसी।

चित्रमीमांसाखण्डन : पण्डितराज जगन्नाथ, काव्यमाला, १९२६, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

छन्दोमञ्जरी : श्री गङ्गादास, टी.पं. हरिदत्त शास्त्री, षष्ठ सं. २०२६, चौखम्भा संस्कृतसीरीज, वाराणसी।

छान्दोग्योपनिषद् : सम्पा. श्रीराम शर्मा आचार्य, द्वि.सं. १९७७, संस्कृति संस्थान, बरेली एवं गीताप्रेस, गोरखपुर।

जगदाभरण—पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित-पण्डितराजकाव्यसंग्रह।

जगन्नाथपण्डित, वी.ए. रामास्वामी शास्त्री, अन्नामलाई यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज नं. ८, १९४२।

तर्कभाषा : केशव मिश्र, हिं.व्या.आ. विश्वेश्वर, तृ.सं. २०२४, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

तर्कसङ्ग्रह, सम्पा. डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य युक्त, सम्पा. चुन्नीलाल शुक्ल, द्वि.सं. १९७९, साहित्यभण्डार, मेरठ एवं गीताप्रेस, गोरखपुर।

दाराशिकोह—लाइफ एण्ड वर्क्स, विक्रमजीत हसरत, प्र.सं. १९५३, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, हिं.व्या.आ. विश्वेश्वर, द्वि.सं. २०२८, ज्ञानमण्डल लिमि. वाराणसी।

ध्वन्यालोक : लोचन सहित, चौखम्बा, काशी १९४०।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, किरणावली युक्ता : विश्वनाथ, व्या. पं. श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य, चौखम्भा संस्कृतसंस्थान, पञ्चम संस्करण २०५२।

नाट्यशास्त्र : भरत, हिं.टी. बाबूलाल शुक्ल, प्र.सं. २०२९, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

नीतिशतक : भर्तृहरि, हिं.अनु. हरिदास वैद्य, अष्टम सं. १९६८, हरिदास एण्ड कम्पनी प्रा.लिमि., मथुरा।

पण्डित जगन्नाथराय यांचेचरित्र आणि संगीत गंगालहरी, सम्पा. रामराव मार्तण्ड भांबुरकर, श्री सयाजी साहित्यमाला पुष्प १२७, शक सं. १८५०।

पण्डितराज काव्यसंग्रह, सम्पा. डॉ. आर्येन्द्र शर्मा, प्र.सं. १९५८, संस्कृत अकादमी सीरीज नं० २, उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद।

पुराणों में गंगा, संक.आ.पी. त्रिपाठी शास्त्री, सं. २००९, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

प्राणाभरण—पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित-पण्डितराजकाव्यसंग्रह।

प्रास्ताविकविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, हिं.व्या. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, द्वि.सं. १९६८, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

बिब्लियोग्रॉफी ऑफ मुगल इण्डिया, श्रीराम शर्मा, कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, १९३९, बम्बई।

बिहारीमीमांसा : डॉ. रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९६०।

बिहारीसतसई : बिहारी, टी. रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तकभण्डार, पटना।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य : सम्पा. जगदीश शास्त्री, प्र.सं. १९८०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

बृहदारण्यकोपनिषद्, छठा संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

भारतीय आलोचनाशास्त्र : डॉ. राजवंश सहाय हीरा, प्र.सं. १९७६, बिहार हिन्दीग्रन्थ अकादमी, पटना।

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त : डॉ. कृष्णदेव झारी, प्र.सं., अशोक प्रकाशन, दिल्ली।

भारतीय नीतिकाव्य परम्परा और रहीम, डॉ. बालकृष्ण अकिंचन, दिल्ली, १९७२।

भावविलास : रुद्र कवि, काव्यमाला द्वि.गु. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा.एल.आर. वैद्य, बम्बई, १८८७।

भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा. प्रो. तारानाथ, कलकत्ता, १८७२।

भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा. दादपे एवं आप्टे, बड़ौदा, १९३५।

भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा.वी.जी. बाल, बम्बई, १८९५।

भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा. हरदत्त शर्मा, पूना ओरियन्टल बुक एजेन्सी, १९३५।

भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा. राधेश्याम मिश्र, प्र.सं. १९६६, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

भोजप्रबन्ध : बल्लालकवि, हि.टी. केदारनाथ शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, तृ.सं. १९८८, वाराणसी।

मआसिरूल उमरा : शाहनवाज खाँ, हि.अनु. ब्रजरत्न दास, १९९५ वि., खण्ड २, ना.प्र.स., काशी।

मध्यमकशास्त्रम्, नागार्जुन, बौद्धसंस्कृतग्रन्थावली, १० सं., २०१६, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा।

मनोरमाकुचमर्दन, संकलित—प्रौढमनोरमा तृ.भा., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९३४, वाराणसी।

मुगलसम्राट शाहजहाँ : बनारसी प्रसाद सक्सेना, प्र.सं. १९७४, राजस्थान हिन्दीग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

मुगल शासकों की धार्मिक नीति, श्रीराम शर्मा, एस. चंद एण्ड कम्पनी, १९६७।

मुस्लिम पैट्रोनेज टू संस्कृत लर्निंग, जे.बी. चौधरी, द्वि सं. १९५४, प्राच्यवाणी, कलकत्ता।

मेवाड़ का इतिहास : हनुमन्त सिंह रघुवंशी, द्वि.सं., १९२४।

रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन, डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त, प्रथम संस्करण १९६२, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।

रसगङ्गाधर, भा. १, २, ३ टी. मधुसूदन शास्त्री, संस्कृत साहित्य अनुसंधान समिति, का.हि.वि.वि. वाराणसी।

रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, टी.बद्रीनाथ झा, मदनमोहन झा, चतुर्थ सं. १९७८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

रसगङ्गाधर, टी॰ भट्टमथुरानाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९८३।

रससिद्धान्त स्वरूपविश्लेषण, डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित, प्र.सं. १९६०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

रससिद्धान्त, डॉ. नगेन्द्र, तृतीय सं., नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

रहीमरत्नावली : पं० मायाशंकर याज्ञिक (तृ.सं.)।

राजस्थान का इतिहास, गोपीनाथ शर्मा, प्र.भा. द्वि.सं. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा।

राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास, सुखबीर सिंह गहलौत, मार्च १९६९, हिन्दीसाहित्य मन्दिर, जोधपुर।

रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ. विष्णुदत्त राकेश, प्र.सं. १९७७, साहित्यभवन, इलाहाबाद।

रीतिकाव्य के स्रोत : डॉ. रामजी मिश्र, प्र.सं. आदर्शसाहित्य प्रकाशन, दिल्ली।

लक्ष्मीलहरी : पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित-पण्डितराज काव्यसंग्रह।

व्याकरणमहाभाष्यम् : प्रदीपोद्योत संवलित, प्रथम सं., मोतीलाल बनारसीदास, १९६७।

व्युत्पत्तिवाद, गदाधर भट्ट, सम्पा. उमेश मिश्र, वि.सं. १९९७, जयनिवास, इलाहाबाद।

वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, हिं.व्या. राधेश्याम मिश्र, तृ.सं. चौखम्बा संस्कृत-संस्थान, वाराणसी।

वाक्यपदीयम्, सम्पा. रघुनाथ शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९८८।

वेदान्तपरिभाषा : हिं.व्या. गजाननशास्त्री, मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

वेदान्तसार : सदानन्द योगीन्द्र, हिं.व्या. डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, तृ.सं. १९७८, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी।

शाहजहाँनामा : देवी प्रेसाद, रघुबीर सिंह, मनोहर सिंह राणावत, प्र.सं. १९७५, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमि.।

शार्ङ्गधरपद्धतिः सम्पा. डॉ. पीटरपीटर्सन, चौखम्भा संस्कृतप्रतिष्ठान, १९८७।

श्री अप्पय्य दीक्षित, डॉ. एन. रमेशन्, श्रीमद् अप्पय्यदीक्षितेन्द्र ग्रन्थावली प्रकाशन समिति, हैदराबाद, १९७२।

श्रीमद्भागवत, प्रथम खण्ड, सं. २०३३, गीताप्रेस, गोरखपुर।

शुक्लयजुर्वेदसंहिता: उवटमहीधरभाष्यसहिता, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१।

शृङ्गारशतक : भर्तृहरि, हिं.टी. हरिदास वैद्य, नवम सं. १९७८, हरिदास एण्ड कम्पनी प्रा.लि., मथुरा।

संस्कृत कवियों की अनोखी सूझ, जनार्दन भट्ट, दिल्ली, १९६३।

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : पी.वी. काणे. अनु. इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प्र.सं. १९६६, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

संस्कृत लिट्रेचर : वी. राघवन्, सूचनाविभाग, १९६१।

संस्कृत सूक्तिरत्नाकर : हिं.अनु. डॉ. रामजी उपाध्याय, तृ.सं. १९६८, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

सतसईसप्तक : डॉ. श्यामसुन्दर दास, प्रयाग, १९६१।

समीक्षाशास्त्र : डॉ. कृष्णलाल हंस, प्र.सं. १९७५, ग्रन्थम्, कानपुर।

समुद्रसंगम : भोलाशंकर व्यास, प्र.सं. १९७५, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

सर्वे ऑफ संस्कृत लिट्रेचर : सी. कुन्हनराजा, प्र.सं. १९६२, भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, व्या. सत्यव्रत सिंह, चतुर्थ सं. १९७६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

सुधालहरी : पण्डितराज जगन्नाथ, संकलित—पण्डितराज काव्यसंग्रह।

सुभाषितावली, वल्लभदेव, अनु. रामचन्द्र मालवीय, १९७४ आनन्दबन्धु, वाराणसी।

सूर्यशतक : मयूर हिं.टी., रमाकान्त त्रिपाठी, प्र.सं. २०२१, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

सौन्दर्यलहरी : शंकराचार्य, हिं.टी. विष्णुतीर्थ जी महाराज, चतु.सं. १९७७, योगश्री पीठ, गढ़वाल।

स्टडीज इन इण्डियन लिट्ररी हिस्ट्री, वाल्यूम सेकण्ड, डॉ. पी.के. गोडे, प्र.सं. १९५४, भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

●

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय